दासबोध ।



श्रीसमर्थ रामदासस्वामी-कृत

मराठी का अनुवाद !



प्रकाशक और मुद्रक ।

श्रीयुत शंकर नरहर जोशी ।

१०२६ सदाशिव पेठ,

चित्रशाला स्टीम प्रेस, पूना सिटी ।

पुनर्मुद्रण ।

(तीसरी बार)

सम्वत् १९७९ विक्रमी ।

मूल्य २ रुपया ।

अनुक्रमणिका.



समास पृष्ठ

पहला दशक।

१ ग्रन्थारम्भ-निरूपण १
२ गणेशस्तुति ३
३ शारदास्तुति ५
४ सद्गुरु स्तुति ७
५ सन्तस्तुति ९
६ श्रोताओं की स्तुति १०
७ कवीश्वर-स्तुति १२
८ सभा-स्तुति १४
९ परमार्थ-स्तुति १५
१० नरदेह की स्तुति १७

दूसरा दशक।

१ मूर्ख-लक्षण २१
२ उत्तम लक्षण २५
३ कुविद्या-लक्षण २७
४ भक्ति निरूपण ३०
५ रजोगुण-निरूपण ३१
६ तमोगुण-निरूपण ३४
७ सतोगुण-निरूपण ३६
८ सद्विद्या-निरूपण ४१
९ विरक्त-लक्षण ४३
१० पढ़तमूर्ख के लक्षण ४६

तीसरा दशक।

१ जन्म-दुःख-निरूपण ४९
२ स्वगुण-परीक्षा (बालपन और युवावस्था) ५२
३ स्वगुण-परीक्षा (दुसरे विवाह से दुर्दशा और सन्तानोत्पत्ति) ५६
४ स्वगुण परीक्षा (गृहस्थी के संकटों के कारण परदेश जाना) ५९
५ स्वगुण-परीक्षा (तीसरे विवाह से संकट और बुढ़ापे के दुःख) ६२
६ आध्यात्मिक ताप (शारीरिक और मानसिक रोग) ६५
७ आधिभौतिक ताप (चराचर भूतों से दुःख मिलना) ६८
८ आधिदैविक ताप (यम-यातनाएं) ७३
९ मृत्यु निरूपण (मृत्यु से कोई नहीं बचता) ७५
१० वैराग्य निरूपण ७८

चौथा दशक।

१ श्रवणभक्ति ८३
२ कीर्तनभक्ति ८५
३ स्मरणभक्ति ८७
४ पादसेवनभक्ति ८९
५ अर्चनभक्ति ९०
६ वन्दनभक्ति ९३
७ दास्यभक्ति ९४
८ सख्यभक्ति ९६
९ आत्मनिवेदनभक्ति ९८
१० सृष्टिवर्णन और मुक्तिचतुष्टय १००

पाँचवाँ दशक।

१ गुरुनिश्चय (सद्गुरु सेवा के बिना मोक्ष नहीं) १०३
२ सद्गुरु-लक्षण १०६
३ शिष्य-लक्षण ११०
४ मंत्र-लक्षण ११६
५ बहुधा ज्ञान ११९
६ शुद्ध ज्ञान का निरूपण १२१
७ बद्ध-लक्षण १२५
८ मुमुक्षु-लक्षण १२८
९ साधक लक्षण १३०
१० सिद्ध-लक्षण १३४

छठवाँ दशक।

१ परमात्मा की पहचान १३७
२ परमात्मा की प्राप्ति १३९
३ माया की उत्पत्ति १४२
४ माया का विस्तार १४४

समास	पृष्ठ
५ माया और ब्रह्म	१४६
६ सत्य देव का निरूपण	१४८
७ सगुण-भजन	१५२
८ दृश्य का मिथ्याभास	१५४
९ गुप्त परमात्मा की खोज	१५७
१० अनुभव अकथनीय है	१६०

सातवाँ दशक।

समास	पृष्ठ
१ माया की खोज	१६४
२ ब्रह्म निरूपण	१६८
३ चौदह मायिक ब्रह्म	१७१
४ केवल ब्रह्म	१७४
५ द्वैतकल्पना का निरसन	१७७
६ मुक्त कौन है ?	१८०
७ साधन का निश्चय	१८४
८ श्रवण-महिमा	१८९
९ श्रवण का निश्चय	१९१
१० जीवन्मुक्त का देहान्त	१९५

आठवाँ दशक।

समास	पृष्ठ
१ परमात्मा का निश्चय	१९९
२ माया के अस्तित्व में शंका	२०२
३ निर्गुण में माया कैसे हुई ?	२०६
४ सूक्ष्म पंचमहाभूत	२१०
५ स्थूल पंचमहाभूत	२१४
६ सत्संग और मोक्ष	२१७
७ मोक्ष-लक्षण	२२०
८ परमात्मा का दर्शन	२२४
९ साधु लक्षण	२२८
१० बहुधा अनुभव	२३१

नववाँ दशक।

समास	पृष्ठ
१ ब्रह्म-निरूपण	२३७
२ आत्मज्ञान	२३८
३ ज्ञानी का जन्म-मरण नहीं	२४१
४ अजान और सुजान	२४४
५ पिण्ड और ब्रह्माण्ड	२४६
६ पंचभूत और त्रिगुण	२४९
७ विकल्प-निरसन	२५२
८ बद्ध का पुनर्जन्म	२५५
९ ब्रह्म में ब्रह्माण्ड	२५८
१० आत्म-स्थिति	२६०

दशवाँ दशक।

समास	पृष्ठ
१ अन्तःकरण एक है	२६३
२ उत्पत्ति के विषय में शंका	२६५
३ सृष्टि की उत्पत्ति	२६६
४ उत्पत्ति का विस्तार	२६७
५ पंचप्रलय	२७०
६ भ्रम-निरूपण	२७२
७ साधु चमत्कार नहीं करते	२७४
८ प्रतीति-निरूपण	२७६
९ पुरुष और प्रकृति	२७८
१० निश्चल और चंचल	२८०

ग्यारहवाँ दशक।

समास	पृष्ठ
१ सिद्धान्त-निरूपण	२८५
२ सृष्टिक्रम	२८८
३ सांसारिक उपदेश	२९०
४ सद्विचार	२९२
५ राजनैतिक दाँवपेंच	२९३
६ महन्त के लक्षण	२९५
७ मायारूपी चंचल नदी	२९७
८ अन्तरात्मा का निरूपण	२९८
९ ज्ञानोपदेश	३००
१० निस्पृह का बर्ताव	३०२

बारहवाँ दशक।

समास	पृष्ठ
१ विमल लक्षण	३०४
२ संसार का अनुभव	३०५
३ ईश्वर और भक्त	३०७
४ विवेक-वैराग्य	३०९
५ त्रिविध आत्मानिवेदन	३११
६ उत्पत्ति का क्रम	३१२
७ विषय-त्याग	३१४
८ काल का रूप	३१६
९ प्रयत्न का उपदेश	३१८
१० उत्तम पुरुष	३१९

तेरहवाँ दशक।

समास	पृष्ठ
१ आत्मानात्म-विवेक	३२३

समास	पृष्ठ
२ सारासारविचार	३२५
३ उत्पत्ति-निरूपण	३२६
४ प्रलय-निरूपण	३२८
५ सृष्टि की कहानी	३२९
६ लघुबोध	३३१
७ अनुभव का विचार	३३३
८ कर्ता कौन है ?	३३४
९ आत्मा का सुख-दुःख-भोग	३३७
१० उपदेश-निरूपण	३३९

चौदहवाँ दशक ।

१ निस्पृह-लक्षण	३४१
२ भिक्षा-निरूपण	३४५
३ काव्य-कला	३४७
४ कीर्तन लक्षण	३५०
५ हरिकथा की रीति	३५२
६ चातुर्य-लक्षण	३५४
७ कलियुग का धर्म	३५६
८ अखण्ड ध्यान	३५९
९ शाश्वत निरूपण	३६२
१० माया मिथ्या है	३६४

पन्द्रहवाँ दशक ।

१ चतुर का बर्ताव	३६६
२ निस्पृह का काम	३६८
३ ज्ञान की श्रेष्ठता	३७०
४ ब्रह्म निरूपण	३७२
५ चंचल के लक्षण	३७४
६ विशिष्ट चातुर्य	३७७
७ अधोर्ध्व-लक्षण	३७९
८ सूक्ष्म-जीव-निरूपण	३८१
९ पिंड की उत्पत्ति	३८४
१० सिद्धान्त-निरूपण	३८६

सोलहवाँ दशक ।

१ वाल्मीकि-स्तुति	३८९
२ सूर्य-स्तुति	३९०
३ पृथ्वी-स्तुति	३९१
४ जल-स्तुति	३९३
५ अग्नि-स्तुति	३९५
६ वायु स्तुति	३९७
७ महद्भूत-निरूपण	३९८
८ आत्माराम-निरूपण	४०१
९ उपासना-निरूपण	४०३
१० त्रिगुण और पंचभूत	४०४

सत्रहवाँ दशक ।

१ अन्तरात्मा की सेवा	४०७
२ शिव-शक्ति-निरूपण	४०८
३ अध्यात्म-श्रवण	४१०
४ संशय मिटाओ	४१२
५ अजपा-निरूपण	४१४
६ देही और देह	४१६
७ संसार की गति	४१८
८ पंचीकरण और देह-चतुष्टय	४२०
९ तनु-चतुष्टय	४२२
१० साधु और मूर्ख	४२३

अठारहवाँ दशक ।

१ विविध देवता	४२५
२ ज्ञाता का समागम	४२६
३ सदुपदेश	४२८
४ नरदेह का महत्त्व	४२९
५ समाधान की युक्ति	४३२
६ दिव्य गुणों का उपदेश	४३४
७ लोगों का स्वभाव	४३५
८ अन्तर्देव-निरूपण	४३६
९ निद्रा-निरूपण	४३८
१० श्रवण-विक्षेप	४३९

उन्नीसवाँ दशक ।

१ लेखन-कौशल	४४३
२ चतुरता का बर्ताव	४४४
३ अभागी के लक्षण	४४६
४ भाग्यवान् के लक्षण	४४८
५ देह की उपयोगिता	४५०
६ बुद्धिवाद	४५१
७ प्रयत्नवाद	४५३
८ उपाधि निरूपण	४५५
९ राजनीति का व्यवहार	४५७

समास	पृष्ठ	समास	पृष्ठ
१० विवेक का वर्णन	४५९	५ पदार्थ—चतुष्टय	४६९
बीसवाँ दशक ।		६ आत्मा के गुण	४७०
१ पूर्ण और अपूर्ण	४६२	७ आत्मविवेक	४७२
२ त्रिविधा सृष्टि	४६३	८ शरीररूपी क्षेत्र	४७४
३ सूक्ष्म विचार	४६५	९ सूक्ष्म-निरूपण	४७५
४ आत्मा का निरूपण	४६७	१० पूर्णब्रह्म-निरूपण	४७७

भूमिका।



यह ग्रंथ **श्रीसमर्थ रामदासस्वामी** के मराठी "**दासबोध**" का अनुवाद है। इस स्थान पर यह लिखने की आवश्यकता नहीं है कि **श्रीरामदासस्वामी** कौन थे और उनके "**दासबोध**" में किन किन विषयों की चर्चा की गई है तथा उसके हिन्दी-अनुवाद से क्या लाभ होगा। इनमें से पहली बात पाठकों को श्रीसमर्थ के जीवनचरित से मालूम हो जायगी जो इस ग्रंथ के साथ संक्षेप में प्रकाशित किया गया है; और दूसरी बात के लिये उनको "**दासबोध**" की तात्विक आलोचना की ओर ध्यान देना चाहिये जो उक्त चरित के बाद दी गई है। यहां मैं केवल यही प्रकट करना चाहता हूं कि, '**दासबोध**' जैसे परम कल्याण-कारक ग्रंथ का अनुवाद करने का सौभाग्य मुझे कैसे प्राप्त हुआ; अनुवाद करने में किन किन लोगों से मुझे सहायता मिली; हिन्दी के ग्रंथप्रकाशकों की रुचि-भिन्नता, अदूर-दृष्टि, उदासीनता आदि के कारण इस पुस्तक के प्रकाशित होने में विलंब कैसे हो गया, इत्यादि।

हिन्दी-केसरी के पढ़नेवालों को स्मरण होगा कि सन् १९०८ ई० के अगस्त महीने की २२ वीं तारीख से नवम्बर तक नागपुर की सेंट्रल जेल में मेरे सार्वजनिक जीवन का कुछ भाग व्यतीत हुआ था। मैंने सरकार से क्षमा मांगकर अपनी मुक्तता प्राप्त कर ली—इस बात पर लोगों ने कुछ अनुकूल और बहुत प्रतिकूल टीका की; परंतु उस समय मैंने अपनी ओर से कुछ उत्तर नहीं दिया। उस विषय पर मैं अब भी किसी प्रकार की चर्चा करना नहीं चाहता। इसमें संदेह नहीं कि, कारागृह से मुक्त होने के बाद, मेरे अंतःकरण की दशा बहुत चंचल, क्षुब्ध और क्लेशदायक हो गई थी; इस लिये शांतिसुख का अनुभव करने के हेतु मुझे कुछ समय तक रायपुर में आकर अज्ञातवास का स्वीकार करना पड़ा। वहां एक ओर जनसमाज ने मुझे स्वदेशद्रोही, विश्वासघाती और डरपोंक कह कर मेरा त्याग कर दिया और दूसरी ओर सरकार ने मुझे बलवाई, अराजनिष्ठ और विद्रोहकारी जानकर अपने जासुस-गुप्त दूत-डिटेक्टिव-मेरे पीछे लगा दिये! ऐसी अवस्था में मेरी जो आंतरिक दुर्दशा हो रही थी उसका हाल मैं ही जानता हूं!

उसी दशामें मैंने अनुवाद करनेकी इच्छासे **दासबोध** का पढ़ना आरम्भ कर दिया। तब मुझे मालूम हुआ कि इसका अनुवाद करना कोई सहज काम नहीं है। परंतु अंतःकरण में यह विश्वास था कि सत्यसंकल्प के दाता भगवान् स्वरूप श्रीसद्गुरु **समर्थ रामदासस्वामी** कृपा करके मेरा मनोरथ अवश्य पूर्ण करेंगे। ऐसा ही हुआ। जब मैं नागपुर से यहां चला आया तब मेरे 'अनुज" **पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयीजी** ने कुछ समय तक **हिन्दी-केसरी** का काम बड़ी योग्यता से सम्हाला; परंतु जब, कई अपरिहार्य कारणों के संयोग से, वह काम बंद हो गया तब वे भी यहीं मेरे पास आ गये। उनके आते ही मई १९०९ से **दासबोध** के अनुवाद का काम नियम पूर्वक होने लगा। वस्तुतः यह हिन्दी-**दासबोध** आप ही की सहायता, परिश्रम और बुद्धि का फल है।

अनुवाद को दुहराने और मराठी **दासबोध** के अर्थ से मिलाकर ठीक ठीक जांचने के लिये नवम्बर १९०९ में पांच छै विद्वान् मित्रों की एक कमेटी नियत की गई । उन लोगों ने इस कार्य में जो निष्काम प्रेम और उत्साह प्रकट किया तथा जो तन-मन-सहित मिहनत की, उसका यथोचित वर्णन लेखनी द्वारा किया नहीं जा सकता । यद्यपि मैं इस स्थान में उन सब लोगों के नाम प्रकाशित करने में असमर्थ हूं, तथापि अत्यंत कृतज्ञभाव से अपने हृदय में उनका स्मरण करके मैं उनको धन्यवाद दिये बिना रह नहीं सकता । उक्त कमेटी के कार्य में हमारे प्रिय बंधु **श्रीरामानुज** ने विशेष सहायता दी । जिन जिन स्थानों में मूल ग्रंथ का यथार्थ भाव समझने में या किसी शब्द का अर्थ जाननें में कठिनाई आ पड़ती थी वहां आपकी सहायता बहुत लाभदायक होती थी । इस ग्रंथ के लिखने के समय श्रीयुत **त्रिम्बकराव बेहनकर** बी० ए० एलएल० बी० वकील बिलासपुर और श्रीयुत **यशवन्तराव राजीमवाले** बी० एल्एल्० बी० वकील रायपुर से अधिक सहायता मिली, अतएव इन दोनों सज्जनों को मैं यहीं पर धन्यवाद देना अपना कर्तव्य समझता हूं । धूलिया की सत्कार्योत्तेजक सभा ने बड़े खोज के साथ **दासबोध** की जो—मूल ग्रंथ—पुस्तक प्रकाशित की है उसी पर से यह अनुवाद किया गया है । अतएव इसकी प्रामाणिकता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है । इन सब बातों से पाठकों को मालूम हो सकता है कि मराठी **दासबोध** का यह हिन्दी-अनुवाद कितना निर्भ्रान्त, शुद्ध और यथार्थ है । गुजराती भाषा में भी दासबोध का अनुवाद प्रकाशित हो गया है; परंतु वह इस अनुवाद के समान पूर्णार्थ बोधक और शुद्ध नहीं है । जो महाशय उक्त सब बातों पर ध्यान देंगे वे स्वयं इस ग्रंथ की योग्यता के विषय में निर्णय कर सकेंगे । इस अनुवाद की भाषा को, जहां तक हो सका, सरल, सुगम और सुबोध करने का यत्न किया गया है । संभव है कि, विषय की गंभीरता और मूल ग्रन्थ की भाषा प्राचीन शैली की तथा पद्यात्मक होने के कारण कहीं कहीं भाषा की रचना भी कठिन प्रतीत हो; परंतु यह अनुवाद-क्रिया ही का स्वाभाविक तथा अटल परिणाम है—मार्मिकजन इसको दोष नहीं मानते । अस्तु ।

अस्तु: एक वर्ष में मई १९१० ई० में अनुवाद तथा उसको दुहराने का काम पूरा हो गया । तब ग्रंथ प्रकाशन की चिंता की गई । हिन्दी के बड़े बड़े प्रकाशकों से पूछा गया । मेरे पास इतना धन न था कि मैं स्वयं इस ग्रंथ को छपवाकर प्रकाशित कर सकता । इस लिये किसी अन्य प्रकाशक की आवश्यकता थी; यद्यपि मैं ग्रंथ के बदले में कुछ द्रव्य लिये बिना ही प्रकाशित कराने को राजी था, तथापि मेरे दुर्भाग्य से किसी हिन्दी—ग्रंथ—प्रकाशक ने मेरी प्रार्थना को स्वीकार करने की कृपा न की । एक ने उत्तर दिया " इस समय हमारे छापखाने में काम बहुत है । आपकी पुस्तक को छापने का हमें अवकाश नहीं है । " दूसरे ने लिखा " आप राजनीतिक मामलों में सरकार के संशयास्पद हैं, इस लिये आपकी लिखी पुस्तक हमारे छापखाने में छापी नहीं जा सकती । हमने मराठी **दासबोध** का अनुवाद किसी और से कराया है । वही हमारे यहां प्रकाशित किया जायगा । "—खेद की बात है कि वह अनुवाद भी अब तक प्रकाशित न हुआ ! तीसरे ने कहा, " यदि आप कोई

किस्सा-कहानी, उपन्यास या नाटक लिखें तो हम आपकी पुस्तकें प्रसन्नतापूर्वक प्रकाशित करेंगे और आपको भी उनके बदले में कुछ द्रव्य मिल जाया करेगा, क्योंकि आजकल हिन्दी में ऐसी ही पुस्तकों की चाह और बिक्री अधिक है।" इस तरह किसीने कुछ और किसीने कुछ उत्तर दिया। किसी हिन्दी-ग्रंथ-प्रकाशक को दोष देने की मेरी इच्छा नहीं है। मेरा उद्देश सिर्फ यह बतलाने का है कि वर्तमान ग्रंथप्रकाशकों की रुचि-भिन्नता, अदूरदर्शिता और उदासीनता के कारण प्रस्तुत ग्रंथ के प्रकाशित होने में बहुत विलंब हो गया। प्रायः दो वर्ष तक कोई प्रकाशक नहीं मिला। अंत में पूना के सुप्रसिद्ध **चित्रशाला प्रेस** ने अपनी स्वाभाविक उदारता तथा साहित्य-सेवा के कर्तव्य से प्रेरित होकर साहस-प्रियता प्रकट की। सन् १९११ ई. के आरंभ से चि. शा. प्रेस के द्वारा "**चित्रमय जगत्**" नामक एक मासिक पत्र हिन्दी में प्रकाशित होने लगा। पहले पहले मेरे अनुज वाजपेयीजी यहीं (रायपूर) से उस मासिक पत्र का कुछ काम किया करते थे। परन्तु कुछ दिनो के बाद उन्हें पूने ही में रह कर पत्र सम्पादन का कार्य करना पडा। आपकी स्वार्थ-रहित हिन्दी-सेवा से प्रेस के स्वामी **श्रीयुत वासुदेवरावजी जोशी** बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने छापेखाने में हिन्दी-ग्रंथ प्रकाशन का एक नया विभाग खोल दिया और यह आश्वासन दिया कि हिंदी के उत्तमोत्तम ग्रंथ प्रकाशित करने का प्रबंध किया जायगा। उस आश्वासन का प्रथम फल यही है कि, हमारा "**हिन्दी दासबोध**" दो वर्ष से कुछ अधिक समय तक अंधेरे में पडा रहने के बाद, आज हिन्दी-पाठकों के सन्मुख प्रकटरूप से उपस्थित हुआ है। छापने का काम गत अगस्त महिने में आरंभ किया गया और इस महिने में पूरा हो गया। इससे प्रेस के मैनेजर **श्रीयुत शंकर नरहर जोशी** महाशय की कार्यतत्परता और सुव्यवस्था प्रकट होती है। अतएव मैं अपने कर्तव्य की ओर ध्यान देकर उक्त दोनों (**श्रीयुत वासुदेवराव जोशी और श्रीयुत शं० न० जोशी**) महानुभावों को अनेक हार्दिक धन्यवाद देता हूं। इस ग्रंथ के बाद "**भारतीय युद्ध**" "**श्रीरामचरित्र**" "**आत्मविद्या**" इत्यादि और भी ग्रंथ प्रकाशित होंगे, जो सब लिखे तैयार हैं।

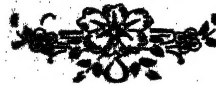
अब पढ़नेवालों से यह निवेदन है कि, आप इस बात को न भूलिये कि यह ग्रंथ कोई जासूसी किस्सा या अद्भुत उपन्यास नहीं है जो एक बार पढकर किसी कोने में फेंक दिया जाय। इसमें ऐसी अनेक बातें बताई गई हैं जो आत्मा, व्यक्ति, समाज और देश के हित की दृष्टि से विचार करने तथा कार्य में परिणत करने योग्य हैं। इस लिये परमार्थ की इच्छा रखनेवाले पुरुष को विशेषकर इस ग्रंथ का पूर्वार्ध और सांसारिक अभ्युदय चाहनेवाले मनुष्य को इसका उत्तरार्ध बारबार मननपूर्वक पढ़ना चाहिए। इन सब गंभीर बातों का उल्लेख आलोचना में किया गया है। यदि आप उन पर उचित ध्यान देंगे तो इसमें संदेह नहीं कि आपका कल्याण अवश्य होगा।

जिस ईश्वर की कृपायुक्त प्रेरणा से **श्रीरामदासस्वामी** के सामर्थ्यशाली **दासबोध** का अनुवाद-क्रिया-रूप से दृढ़ परिचय प्राप्त हुआ उसकी दयालुता को स्मरण करके और

उसके चरण-कमलों का बारंबार वंदन करके मैं इस भूमिका को समाप्त करता हूं। मैं आशा करता हूं कि, श्रीसमर्थ ने सोलहवें दशक के, दसवें समास के २०-३० पद्यों में वैदिक धर्म के सर्वोत्तम तत्त्व का उल्लेख करके जो हितदायक उपदेश किया है उसकी ओर मेरा और इस ग्रंथ के पढ़नेवाले मेरे सर्व मित्रों का ध्यान सदा बना रहेगा। देखिये, समर्थ क्या कहते हैं:—उपासना का बड़ा भारी आश्रय है, उपासना बिना काम नहीं चल सकता—चाहे जितना उपाय किया जाय, परन्तु सफलता नहीं हो सकती ॥ २९ ॥ जिसे समर्थ का आश्रय नहीं होता उसे चाहे जो कूट डालता है! इस लिये सदा भजन करते रहना चाहिए ॥ ३० ॥

इस पुस्तक में प्रथित 'बोध' के अनुसार आचरण करने की सद्बुद्धि परमात्मा की कृपा से सब लोगों को प्राप्त हो, यही अंतिम प्रार्थना है।

तात्यापारा
रायपुर सी० पी० } माधवराव सप्रे.

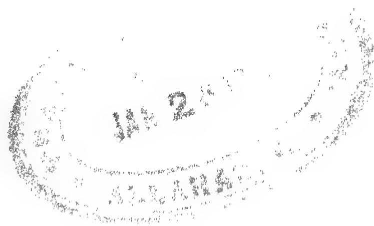


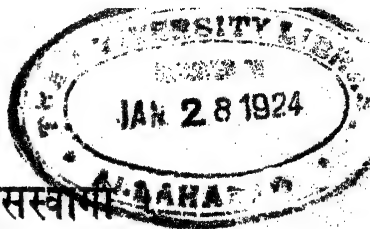
श्रीसमर्थ रामदासस्वामी।



अवतार-आरम्भ—चैत्र शुक्ल नवमी शाके १५३० रविवार।

अवतार-समाप्ति—माघ कृष्ण नवमी शाके १६०३ शनिवार।





श्रीसमर्थ रामदासस्वामी



प्रस्तावना ।

भारत के सनातन-धर्मावलम्बियों का इस सिद्धान्त पर पूर्ण विश्वास है कि जब जब धर्म की ग्लानि होती है तब तब साधुजनों की रक्षा और दुष्टजनों का नाश करके, धर्म की स्थापना करने के लिए, ईश्वर का अवतार होता है। इसी विश्वास के अनुसार हमारे धर्म में रामकृष्णादि विष्णु के मुख्य दस अवतार माने गये हैं। महाराष्ट्र प्रान्त में श्रीरामदासस्वामी को हनुमान्‌जी का अवतार मानते हैं। इसके लिए भविष्यपुराण में का प्रमाणभूत एक श्लोक भी कहा जाता है:—

> कृते तु मारुताख्यश्च त्रेतायां पवनात्मजः ।
> द्वापरे भीमसंज्ञश्च रामदासः कलौयुगे ॥

इस श्लोक में यह बताया गया है कि, हनुमान्‌जी के कौन कौन अवतार किस किस युग में होंगे। कृतयुग या सतयुग में हनुमान् का जो अवतार होगा उसको "मारुत" कहेंगे, त्रेतायुग में "पवनात्मज," द्वापर में "भीम" और कलियुग में "रामदास" कहेंगे। श्रीरामदासस्वामी ने भी अपने विषय में जो थोड़ा बहुत लिखा है उससे भी कुछ ऐसी ही ध्वनि निकलती है। अस्तु। इसमें तो सन्देह ही नहीं कि, श्रीरामदासस्वामी महान् भगवद्भक्त, साधु, कवि और राजनीतिज्ञ थे। उनका चरित और उनकी लीला अनुपम है। जिन्होंने यवन-पद-दलित महाराष्ट्रभूमि में, अपनी अप्रतिम निस्पृहता और पारमार्थिक शिक्षा से, स्वधर्म और स्वराज्य की स्थापना में सहायता करके "समर्थ" पदवी प्राप्त की। उनका पूरा परिचय, इस अल्प सारांशरूप लेख में देना असम्भव है। तथापि यथाशक्ति इस चरित्र के विशद करने का प्रयत्न किया जायगा।

वंशपरंपरा और जन्म।

दक्षिण देश में जिस समय हिन्दू राजाओं ने अपना राज्य स्थापित किया उस समय वे अन्य प्रान्त के लोगों को, अपने राज्य में बसने के लिए, जमीन और द्रव्य देकर लाते थे। बेदर प्रान्त (निजामशाही) से बहुत लोग गोदावरी नदी के किनारे जाकर बसे। उन लोगों में कृष्णाजीपन्त ठोसर नामक एक देशस्थ (महाराष्ट्र ब्राह्मणों की एक श्रेणी) ब्राह्मण थे। वे शाके ८८४ (सन् ९६२ ई.) में उत्तर गोदावरी के तीर, बीड प्रान्त में, हिवँरा नामक ग्राम में, आकर कुटुम्ब-सहित रहने लगे। उन्होंने बीड प्रान्त में बहुत से गांव बसाये। उनके चार पुत्र थे। ज्येष्ठ पुत्र का नाम दशरथपन्त था। उन्होंने अपने पिता की कमाई हुई जायदाद का हिस्सा लेना उचित नहीं समझा, इस लिए वे हिवँरा से कुछ दूर बडगाँव को चले गये। उस गाँव की बस्ती उजाड़ हो गई थी और वहाँ ग्वाल जाति के कुछ

लोग गायें चराने के लिए जंगल में रहते थे । उन ग्वालों के मुखिया लखमाजी को जमींदार बना कर दशरथपन्त वहाँ पटवारी और पुरोहित का काम करने लगे । उस गाँव का नाम उन्होंने जाँब रक्खा । यह गाँव इस समय श्रीरामदासस्वामी की जन्मभूमि होने के कारण अत्यन्त पवित्र क्षेत्र माना जाता है । कुछ दिनों के बाद जाँब के आस-पास कई गाँव बस गये। उस इलाके के पटवारी और पुरोहित का काम दशरथपन्त ही को मिला । वे बड़े भगवद्भक्त थे । उनके मुख्य उपास्य देव श्रीरामचन्द्र ही थे । उनके छै पुत्र हुए । ज्येष्ठ पुत्र का नाम रामाजीपन्त था । पिता के मरने के बाद रामाजीपंत को जाँब इलाके की वृत्ति मिली । उपर्युक्त कृष्णाजीपंत, दशरथपन्त और रामाजीपन्त श्रीसमर्थ रामदासस्वामी के वंश की पहली, दूसरी और तीसरी पीढ़ी के मूल पुरुष थे । रामाजीपन्त के बाद उन्नीसवीं पीढ़ी में सूर्याजीपन्त नाम के प्रसिद्ध भगवद्भक्त और ब्रह्मज्ञानी पुरुष हो गये । इनकी स्त्री का नाम राणूबाई था । यही सूर्याजीपन्त और राणूबाई रामदासस्वामी के पिता-माता हैं ।

हमारे यहाँ भगवद्भक्तों के वंश में एक विशेष प्रकार का चमत्कार पाया जाता है । ऐसे वंशों में, चार ही पाँच वर्ष के बालकों मे, विरक्ति और भक्ति के लक्षण प्रकट होने लगते हैं । इस लोक के चारपांच वर्षों के संस्कार से ही इतना प्रभाव बालक पर होना असम्भव है । जान पड़ता है कि, यह संस्कार पूर्वजन्मों का होता है । अस्तु । सूर्याजीपन्त का भी यही हाल था । बालपन ही से उनमें भगवद्भक्ति और विरक्ति तथा सद्गुणों के चिन्ह प्रकट होने लगे थे । बारह वर्ष की उम्र से उनकी भक्ति सूर्यनारायण पर हो गई थी । वे पटवारी का सरकारी काम तो करते ही थे; पर उनका शेष सारा समय सूर्यनारायण की उपासना में ही व्यतीत होता था । इस प्रकार ३६ वर्ष की अवस्था तक उन्होंने सूर्यदेव का अनुष्ठान किया । कहते हैं कि, अन्त में सूर्यनारायण ने, प्रसन्न होकर, स्वयं अपनी इच्छा से, उन्हें दो पुत्र होने का वरदान दिया । शाके १५२७ (सन् १६०५) में सूर्याजीपन्त के प्रथम पुत्र का जन्म हुआ । उसका नाम गंगाधर रक्खा गया । यही आगे चलकर "श्रेष्ठ" और "रामीरामदास" के नामों से प्रसिद्ध हुए । उनके जन्म के दो ढाई वर्ष के बाद, शाके १५३० (सन् १६०८ ई. के अप्रेल में) कील नामक संवत्सर में, चैत्र शुक्ल ९ के दिन, दोपहर के समय, अर्थात् ठीक रामजन्म के समय, साध्वी राणूबाई और सूर्याजीपन्त के दूसरे पुत्र का अवतार हुआ । उसका नाम नारायण रक्खा गया । यही नारायण श्रीसमर्थ रामदासस्वामी के नाम से प्रसिद्ध हैं और यही हमारे प्रस्तुत चरितनायक हैं । जब से सूर्याजीपन्त के यहाँ उनका जन्म हुआ तब से उनके घर में सुख, समृद्धि और शान्ति की बढ़ती होने लगी । उस समय महाराष्ट्र-प्रान्त में एकनाथ महाराज बड़े प्रसिद्ध और ब्रह्मज्ञानी साधु थे । सूर्याजीपन्त अपनी स्त्री राणूबाईसहित प्रति वर्ष उनके दर्शनों के लिए जाते थे । सूर्याजीपन्त जब उनके यहाँ से दर्शन करके विदा होने लगते तब एकनाथस्वामी राणूबाई को यही आशीर्वाद देते कि, तुम्हारी कुक्षि से दो महात्मा पुत्र उत्पन्न होंगे । इस वर्ष, समर्थ रामदासस्वामी का जन्म होने पर, सूर्याजीपन्त कुटुम्ब-सहित फिर उनके दर्शन को गये । एकनाथ महाराज ने अपने यहाँ कई दिन तक रखकर

उनका अतिथि-सत्कार किया और उनके बि । होते समय वे यह भविष्यद्वाणी, सूर्याजीपन्त और राणूबाई को सम्बोधन करके, बोले, " तुम धन्य हो; तुम्हारी कुक्षि धन्य है; और तुम्हारा वंश भी धन्य है ! तुम्हारी उपासना और भक्ति अनुपम है, इसी लिए हनुमानजी के अंश से यह बालक तुम्हारे यहाँ उत्पन्न हुआ है । शिव के अंश से एक प्रसिद्ध छत्रपति राजा महाराष्ट्र में अवतीर्ण होने वाला है । उसके द्वारा तुम्हारा यह पुत्र भूभार हरण करेगा और जनोद्धार करेगा । हमारे प्रारम्भ किये हुए धर्मकार्य की सम्पूर्णता इसीके हाथ में है । अब हम अपना अवतार समाप्त करने वाले हैं । " यह भविष्यद्वाणी कहने के कुछ ही दिन बाद एकनाथ महाराज का निर्वाण हुआ ।

बाल्यावस्था, विद्याभ्यास और मंत्रोपदेश ।

समर्थ बालपन में सदा प्रसन्नचित्त और हास्यवदन रहते थे । रोना तो वे कभी जानते ही न थे । वे बहुत शीघ्र बोलने और चलने लगे थे । शरीर सुदृढ़ और तेजस्वी था । वे बड़े नटखट और उपद्रवी थे । सदा खेलकूद में निमग्न रहते और क्षणभर भी एक स्थान में न रहते थे । चपलता उनके रोम रोम में भरी हुई थी । वानर की तरह यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ फिरते रहना और अपने साथ के लड़कों को, मुँह बिगाड़ कर बिराना और चिढ़ाना भी उनका एक खेल था । उनके माता पिता ने जब देखा कि, ये बहुत उपद्रव करते हैं तब उन्होंने बाल समर्थ को भैयाजू के यहाँ पढ़ने को बैठा दिया; पर भैयाजू के यहाँ उस समय जितनी शिक्षा दी जाती थी उतनी शिक्षा का ज्ञान उन्होंने थोडे ही दिनों में कर लिया और फिर इधर उधर खेलने कूदने लगे । गाँव के लड़कों को साथ लेकर गोदावरी के किनारे जाते और वहाँ वृक्षों पर, बन्दर की तरह चढ़ जाते । एक डाल पर से दूसरी डाल पर आना तो उन्हें बहुत सहज था । कभी कभी वे किसी बड़े वृक्ष की चोटी पर चढ़ कर उसे हिलाते थे । वृक्षों के फल स्वयं तोड़ कर खाते और अपने साथियों को खिलाते थे । कभी कभी वे वृक्ष के ऊपर ही से, नीचेवाले लड़कों को फलों की गुठलियाँ फेंक फेंक कर मारते थे । वृक्ष पर चढ़ने का उनका साहस देख कर सब लोग आश्चर्य करते । उनके साथी तो, उनको, वृक्ष पर चढ़ कर डाल हिलाते हुए देख कर, बहुधा चिल्लाया करते कि, " अरे ! अब यह गिरा-गिरा-गिरा ! " पानी में ऊँचे पर से कूदना और तैरना भी उन्हें बहुत पसन्द था । इस प्रकार वे गाँव के बाहर खेला करते थे । इसके सिवा, जितनी देर वे गाँव में रहते उतनी देर भी उनका यही हाल रहता था । कभी छप्पर पर से दीवार पर कूदते और कभी किसी वृक्ष पर से किसी के घर में कूद पड़ते ! सारांश, उनकी बाललीला देख कर यदि लोग उन्हें हनुमान्जी का अवतार समझते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं । बहुत लोग समझते हैं कि जो लड़के बहुत खिलाड़ी और चपल होते हैं वे आगे, अवस्था के कुछ प्रौढ़ होने पर, बड़े प्रतिभाशाली निकलते हैं । समर्थ के विषय में भी यह अनुमान बहुत ठीक जान पड़ता है । पाँचवें वर्ष में सूर्याजीपन्त ने उनका यज्ञोपवीत बड़ी धूमधाम के साथ किया ।

यज्ञोपवीत के बाद उनके पिता ने उनकी शिक्षा के लिए एक वैदिक ब्राह्मण नियत किया । समर्थ ने उसी ब्राह्मण के पास, अपने घर पर रह कर, उत्तम अक्षर लिखना, नित्य नैमित्तिक

कर्म और कुछ संस्कृत का अभ्यास किया। उन्हीं दिनों में उनके पिता सूर्याजीपन्त का स्वर्गवास हो गया। दोनों भाइयों ने पिता का उत्तरकार्य किया। उसी समय से समर्थ के ज्येष्ठ बन्धु गंगाधर उपनाम "श्रेष्ठ" उनके विद्याभ्यास मे दृष्टि रखने लगे। समर्थ के ग्रन्थों को देख कर यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि वे संस्कृत के पूर्ण पंडित थे; तथापि "उपनिषद और भागवत" के समान कठिन ग्रन्थों से वे अच्छी तरह परिचित थे। इस बात का उल्लेख उन्होंने अपने "दासबोध" नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में, पहले दशक के पहले ही समास में, किया है। उनके अध्ययन के सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि, उन्हें संस्कृत समझने भर का ज्ञान अवश्य था। इसके सिवा, उनका बहुश्रुतपन अगाध था।

समर्थ रामदासस्वामी यों तो बालपन ही से भगवद्भक्त थे; पर पिता के देहान्त होने पर उनमें और भी अधिक विरक्ति आ गई। समर्थ के ज्येष्ठ बन्धु श्रेष्ठ का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। महाराष्ट्र के लोग जिस प्रकार समर्थ को हनुमान् का अवतार मानते हैं उसी प्रकार उनके ज्येष्ठ बन्धु को वे सूर्य का अवतार समझते हैं। श्रेष्ठ भी, अपनी वंश-परम्परा के अनुसार, श्रीराम के भक्त और उपासक थे। वे भी अनेक लोगों को मंत्रोपदेश देकर भक्तिमार्ग में प्रवृत्त करते थे। एक बार एक मनुष्य उनके पास मंत्र लेने के लिए आया। श्रेष्ठ ने अनुग्रहपूर्वक उसे मंत्रदीक्षा देकर भक्तिमार्ग का उपदेश दिया। यह देख कर समर्थ अपने बन्धु से कहने लगे कि, हमें भी आप मंत्र दीजिए। उनके बन्धु ने उत्तर दिया कि, आपका वय अभी छोटा है। मंत्रोपदेश के लिए जो पात्रता चाहिए वह अभी आप में नहीं है। इस प्रकार का उत्तर सुन कर समर्थ अपने ग्राम के बाहर, गोदावरी के किनारे, हनुमान के मन्दिर में जाकर उनकी प्रार्थना करने लगे। कहते हैं कि, उनकी भक्ति और निष्ठा देख कर हनुमान्‌जी ने, उनके ऊपर कृपा करके, दर्शन दिये और कहा कि, आप अभी मंत्र पाने के लिए इतनी शीघ्रता क्यों करते हैं। परन्तु जब समर्थ ने उपदेश देने के लिए बहुत आग्रह किया तब हनुमानजी ने उन्हें वहीं रामचन्द्रजी का दर्शन कराया। रामचन्द्रजी ने उन्हें "श्रीराम जय राम जय जय राम" इस त्रयोदशाक्षरी मंत्र का उपदेश दिया और आज्ञा दी कि, "सारी पृथ्वी में यवन छाये हुए हैं, अनीति का राज्य है, दुष्ट लोक अधिकारमद से मतवाले होकर साधुओं को सता रहे हैं। धर्म का ह्रास हो रहा है, इस लिए आप वैराग्य वृत्ति से कृष्णा-तीर रह कर उपासना और ज्ञान की वृद्धि करके, लोकोद्धार करें।" इस प्रकार श्रीराम से मंत्रोपदेश और आज्ञा पाकर बाल-समर्थ को परम सन्तोष हुआ। उनकी माता और बन्धु को जब यह हाल मालूम हुआ तब वे अत्यन्त हर्षित हुए।

विवाह-प्रसंग।

जिस प्रकार माता अपने पुत्र के लिए अनेक उत्साह की इच्छायें रखती है उसी प्रकार वह एक यह भी प्रबल इच्छा रखती है कि लड़के का विवाह शीघ्र हो जाना चाहिए। इसी नियम के अनुसार समर्थ की माता राणूबाई भी अपने पुत्र नारायण (बालसमर्थ) के विवाह की चिन्ता करने लगी। विवाह की बातें सुन कर नारायणजी बहुत चिढ़ते और नाना प्रकार से विरक्ति व्यक्त करते थे। एक बार विवाह की चर्चा छिड़ने पर वे घर से भाग कर

जंगल में चले गये। उनके ज्येष्ठ बन्धु बहुत समझा-बुझाकर उन्हें घर ले आये। उनकी यह चाल देख कर माता राणूबाई को बड़ी चिन्ता हुई। श्रेष्ठ अपने कनिष्ठ बन्धु नारायण की विरक्ति देख कर पहले ही समझ गये थे कि यह विवाह नहीं करना चाहता। उन्होंने अपनी माता को बहुत प्रकार से समझाया; पर वे बार बार यह कहतीं कि नारायण का विवाह अवश्य होना चाहिए। अवसर पाकर एक दिन माता राणूबाई अपने नारायण को एकान्त स्थान में ले गईं और मुख पर हाथ फेर कर, बड़े लाड़-प्यार से बोलीं, "बेटा, तू मेरा कहना मानता है या नहीं ?" बालक समर्थ ने उत्तर दिया, "मातुश्री, इसके लिये क्या पूछना है ? आपका कहना न मानेंगे तो मानेंगे किसका ? कहा भी है, "न मातुः पर दैवतम्," यह सुन कर माता राणूबाई बोलीं, "अच्छा तो विवाह की बात चलने पर तू ऐसा पागलपन क्यों करता है ? तुझे मेरी शपथ है; "अन्तरपट" पकड़ने तक तू विवाह के लिए इन्कार न करना।" माता की यह बात सुन कर समर्थ बड़े विचार में पड़े। कुछ देर तक सोच-विचार कर उन्होंने उत्तर दिया, "अच्छा, अन्तरपट पकड़ने तक मैं इन्कार न करूँगा।" भोली भाली बिचारी माता! समर्थ के दाँव पेंच उसे कैसे मालूम होते! राणूबाई ने समझ लिया कि लड़का विवाह करने के लिए तैयार होगया। उन्होंने जब यह बात अपने बड़े पुत्र श्रेष्ठ से बतलाई तब वे कुछ हँसे और प्रकट में सिर्फ इतना ही कहा, "क्यों न हो!"

जब देखा गया कि लड़का विवाह करने के लिए राजी है तब सब की सम्मति से एक कुलीन और प्राचीन सम्बन्धी कुल की कन्या से विवाह निश्चित किया गया। लग्नतिथि के दिन श्रेष्ठ सारी बरात लेकर, बड़ी धूमधाम के साथ कन्या के पिता के यहाँ पहुँचे। सब के साथ समर्थ भी आनन्दपूर्वक गये। सीमान्तपूजन, पुण्याहवाचन आदि लग्नविधि होते समय श्रेष्ठ और समर्थ, दोनों भाई, आपस में एक दूसरे की ओर देख कर, मन्द मन्द हँसते जाते थे। कुछ समय के बाद अन्तरपट पकड़ने का अवसर आया। ब्राह्मणों ने मंगलाष्टक पढ़ना प्रारम्भ किया। सब ब्राह्मण एक साथ ही 'सावधान" बोले। समर्थ ने सोचा कि मैं सदा सर्वदा सावधान रहता हूँ; फिर भी ये लोग "सावधान, सावधान" कहते ही हैं; इस लिए इस शब्द में अवश्य कुछ न कुछ भेद होना चाहिए। मातुश्री की आज्ञा भी अन्तरपट पकड़ने तक की ही थी। वह भी पूर्ण हो गई। मैं अपना वचन पूरा कर चुका। अब मैं यहाँ क्यों बैठा हूँ ? मुझे सचमुच सावधान होना चाहिए—इस प्रकार मन में विचार करके समर्थ एकदम लग्नमण्डप से उठ कर भागे! कई लोग उनके पीछे दौड़े; पर वे हाथ नहीं आये। इधर लग्नमण्डप में बड़ा शोर-गुल मचा। कुछ शान्ति होने पर, ब्राह्मणों ने लड़की का दूसरा विवाह कर देने के लिए शास्त्राधार दिखलाकर सम्मति दी। समर्थ के भगने का हाल जब उनकी माता को मालूम हुआ तब वे बहुत दुःखित हुईं। श्रेष्ठ ने उनका समाधान किया और कहा कि, "आप कोई चिन्ता न करें। नारायण कहीं न कहीं आनन्द से रहेगा। मैं पहले ही कहता था कि उसके विवाह के प्रयत्न में न पड़ो। अस्तु; जो हुआ सो हुआ!"

टाकली में तपश्चर्या ।

विवाह समय से सावधान होकर समर्थ पहले दो चार दिन अपने गाँव जाँब की पंचवटी

में छिपे रहे; वहाँ से वे नासिक पंचवटी को चले गये। आज कल रेलगाडी से यात्रा करने वालों को उस समय के प्रवास-संकटों का अनुमान नहीं हो सकता। सोचना चाहिए कि बारह वर्ष के बालक को, शाके १५४२ में (सन् १६२०) में, जाँब से नासिक-पंचवटी तक सैकड़ों मील की यात्रा करने में, कौन कौन और किस किस प्रकार के संकटों का सामान करना पड़ा होगा। भर्तृहरिजी ने ठीक कहा है:—

मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम्।

कार्य करनेवाला पुरुषार्थी और साहसी महात्मा सुख-दुःख की परवा नहीं करता। इस प्रकार के महात्माओं के सुलक्षण बालकपन से ही झकलने लगते हैं। नासिक पहुँच कर पंचवटी में श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन करके समर्थ वहाँ से पूर्व की ओर दो तीन मील पर टाकली नामक गाँव में गये। वहाँ गाँव के बाहर एक पुराने और विस्तृत वृक्ष की घनी छाया में कुटी बनाकर रहने लगे।

टाकली में रह कर समर्थ ने तप करना प्रारम्भ किया। प्रातःकाल उठ कर गोदावरी स्नान करने जाते और वहाँ दोपहर तक कटिपर्यन्त जल में खड़े होकर जप करते थे। दोपहर के बाद पंचवटी में मधुकरी–भिक्षा–माँगने जाते और श्रीरामचन्द्रजी को नैवेद्य लगाकर भोजन करते थे। इसके बाद कुछ समय तक भजन करते और फिर सायंकाल होते ही जप और ध्यान में निमग्न हो जाते थे। उनका सब समय मंत्र, पुरश्चरण और भजन, अर्थात् ईश्वराराधन, में व्यतीत होता था। वे किसीसे बात भी न करते थे और न किसीके घर जाते थे। पानी में खड़े रहने के कारण, कमर के नीचे की सब देह गल कर सफेद होगई थी, पैरों और घुटनों की खाल और मांस मछलियाँ नोच नोच कर खा जाया करती थीं। समर्थ का मन उस समय जप और ध्यान में इतना एकाग्र हो जाता था कि मछलियों के नोचने पर उन्हे कुछ मालूम ही न होता था। सच है, महात्मा लोग यदि देह के सुखःदुःख की ओर ध्यान देने लगें तो उन्हें ईश्वर-प्राप्ति कैसे हो? और वे जनोद्धार कैसे कर सकें?

इस प्रकार समर्थ ने बारह वर्ष तक नाना प्रकार की कठिन तपस्या की। अन्तःकरण की शुद्धि कठिन तपश्चर्या ही से हो सकती है। "मन ही बन्ध और मोक्ष का कारण है"। इस चंचल मन को, बिना तप किये, कोई अपने अधीन नहीं कर सकता। जो मन को जीत लेता है उसमें अद्भुत सामर्थ्य अवश्य आ जाती है। काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि मन के प्रमुख विकारों के अधीन होकर मनुष्य नाना प्रकार के दुष्कर्म करते हैं। तपश्चर्या करके शरीर को बलात् क्लेशित करने से ही मन ढ़ीला पड़ता है और अन्त में मनोजय प्राप्त होता है। जब तक मनुष्य मन का जय नहीं कर पाता तब तक, ईश्वर प्राप्ति करने के मार्ग में अनेक संकट आकर विघ्न ड़ालते हैं। अतएव सिद्ध है कि बिना तप किये—बिना कष्ट उठाये—परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता, मोक्ष नहीं मिल सकता अथवा स्वतंत्रता के दर्शन नहीं हो सकते। समर्थ स्वयं अपने अनुभव से 'दासबोध' में इसी कष्ट या तप की महिमा गाते हैं:—

कष्टेंविण फळ नाहीं। कष्टेंविण राज्य नाहीं॥
आधीं कष्टाचें दुःख सोसिती। ते पुढें सुखाचें फळ भोगिती॥

कष्ट किये बिना फल नहीं मिलता, कष्ट किये बिना राज्य नहीं मिलता, जो पहले कष्ट (तप) के दुःख सहते हैं वे आगे सुख के फल भोगते हैं । अस्तु ।

श्रीसमर्थ ने बारह वर्ष तक, बड़ी दृढ़ता के साथ, तप किया । इतने समय में उन्हें पुराने ऋषिमुनियों की तरह, अनेक बार बड़े बड़े मायावी संकटों से सामना करना पड़ा; पर उन्होंने विघ्नों की कुछ भी परवा न की । तप करते समय श्रीराम ने, कई बार दर्शन देकर, उन्हें यह आज्ञा दी कि, तुम अब तपश्चर्या मत करो, कृष्णा-तीर जाकर जनोद्धार का काम प्रारम्भ करो । " परन्तु समर्थ ने यही दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली कि, जब तक पूर्ण रीति से मनोजय प्राप्त न हो जायगा—जब तक शरीर में जनोद्धार करने के लिए सामर्थ्य न आ जायगी—तब तक मैं उस कार्य में हाथ न डालूँगा । अन्त में जब उन्होंने देखा कि, अब मनोविकारों के लिए हमारे शरीर में स्थान नहीं है तब उन्होंने तपस्या बन्द कर दी । और टाकली में जिस कुटी में रह कर वे तपस्या करते थे उसमें हनुमानजी की मूर्ति स्थापित करके, उसकी पूजा करने के लिए, उद्धव गोस्वामी को नियत कर दिया । इसके बाद वे पैरो में पादुका, हाथ में माला, काँख में कूबड़ी और तुम्बा, मस्तक पर टोपी और शरीर में कफनी पहन कर, तीर्थयात्रा तथा देशपर्यटन करने के लिए निकले ।

तीर्थयात्रा और देशपर्यटन ।

जिस प्रकार तीव्र तपस्या करके मनोजय प्राप्त करने की आवश्यकता है उसी प्रकार, लोकोद्धार या धर्मस्थापना करने के लिए, देशपर्यटन करके स्वदेशस्थिति और तीर्थयात्रा करके धर्म की दशा, जानने की भी जरूरत है । सारा देश घूम कर उद्धारकों को यह जानना पड़ता है कि, जनसमाज की क्या दशा है और तीर्थों में जाकर इस बात की जाँच करनी पड़ती है कि, स्वधर्म का ह्रास करनेवाले कौन कौन कारण धर्मप्रचार में विघ्न डालते हैं । समर्थ ने सारे भरतखण्ड का प्रवास , उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक, पैदल ही किया । उनके पास एक फूटी कौड़ी भी न थी । उदरनिर्वाह के हेतु उन्होंने भिक्षावृत्ति स्वीकार की । स्मरण रखना चाहिए कि भिक्षावृत्ति स्वीकार करने में केवल उदरनिर्वाह ही करना उनका मुख्य हेतु न था । भिक्षा की महिमा गाते हुए वे अपने " दासबोध " में कहते हैं:—

भिक्षा म्हणजे निर्भयस्थिती । भिक्षेनें प्रगटे महंती ॥
स्वतंत्रता ईश्वरप्राप्ती । भिक्षागुणें ॥

भिक्षा निर्भय स्थिति है, भिक्षा से महंती प्रकट होती है और भिक्षा ही से ईश्वर मिलता है । इतना ही नहीं; उससे ' स्वतंत्रता ' भी मिल सकती है । भिक्षा माँगने का हेतु यदि केवल पेट भरना ही न हो; उसका यह हेतु हो कि, स्वदेशदशा का ज्ञान प्राप्त किया जाय, तो इसके लिए निस्सन्देह भिक्षावृत्ति से बढ़ कर अन्य कोई अच्छा साधन नहीं है । रामदासस्वामी, अपने अनुभव से, इस विषय पर, दासबोध में एक जगह और कहते हैं । इस पद्य में वे माँगने का उद्देश बिलकुल स्पष्ट किये देते हैं:—

कुग्रामें अथवा नगरें । पहावीं घरांचीं घरें ॥
भिक्षामिसें लहान थोरें । परीक्षून सोडावीं ॥

कुग्राम हों, चाहे नगर (शहर) हों; घर घर छान डालना चाहिए और भिक्षा के 'मिस' से छोटे बड़े, सब प्रकार के लोगों की, परीक्षा कर डालना चाहिए । ऐसा करने से लोगों के सुख-दुःख मालूम होते हैं । उनके ज्ञान का लाभ अपने को मिलता है और अपने विचार उन पर प्रगट करने का मौका मिलता है । आज कल हमारे देश में भिखारियों की कुछ कमी नहीं है; पर खेद है कि, समर्थ के मत के अनुसार, एक भी भिखारी देश में निकलना कठिन है । अस्तु ।

नाना प्रकार के ग्रामों, नगरों, बनों और पर्वतों में घूमते हुए श्रीरामदासस्वामी पहले काशीजी में पहुँचे । वहाँ गंगास्नान करके, विश्वनाथजी के दर्शन करने के लिए, वे मन्दिर में गये । वहाँ कुछ ब्राह्मण रुद्राभिषेक कर रहे थे । समर्थ का वेष, गेरुए रंग की कफनी और सिर पर जटा, आदि देखकर उन ब्राह्मणों ने समझा कि यह कोई ब्राह्मणेतर जाति का वैरागी है । उन्होंने समर्थ को लिंग के पास जाने नहीं दिया । समर्थ ने कहा, :" अच्छा है, श्रीरामचन्द्रजी की इच्छा ! " इतना कहकर वे जहाँ खड़े थे वहीं से, श्रीविश्वेश्वर जी को और सब ब्राह्मणों को, साष्टांग प्रणाम कर वहाँ से लौट पड़े । उनके लौटते ही रुद्राभिषेक करनेवाले ब्राह्मणों को, जिन्होंने समर्थ को मन्दिर में जाने नहीं दिया था, विश्वनाथजी का लिंग न देख पड़ने लगा ! इस कारण सब ब्राह्मण बहुत घबराये । परन्तु अन्त में वे समझ गये कि, हो न हो; यह उसी वैरागी का चमत्कार है जिसका हमने अपमान किया है । उनमें से कुछ ब्राह्मण दौड़ते हुए बाहर गये और समर्थ से प्रार्थना करके उन्हें मन्दिर में ले आये । इसके बाद सब ब्राह्मणों ने पश्चात्ताप-युक्त श्रीविश्वनाथ की प्रार्थना की और रामदासस्वामी से क्षमा माँगी । थोड़ी देर के बाद फिर उन्हें लिंग यथावत् देख पड़ने लगा । समर्थ ने कुछ दिन तक काशी में निवास करके नाना प्रकार का अनुभव प्राप्त किया । वहीं से उन्होंने प्रयाग और गया की भी यात्रा की । काशीजी में एक घाट का नाम हनुमानघाट होने पर भी उसमें हनुमानजी की मूर्ति न थी; इस लिए उन्होंने वहाँ हनुमानजी की मूर्ति स्थापित की ।

काशी से चलकर समर्थ अपने परम प्रिय इष्टदेव श्रीराम की जन्मभूमि अयोध्याजी में गये । वहाँ सरयू नदी में स्नान करके श्रीराम और हनुमान आदि देवताओं के दर्शन किये । कुछ दिन वहाँ रह कर अयोध्या-महात्म्य का श्रवण किया । इसके बाद मथुरा, वृन्दावन, गोकुल आदि तीर्थक्षेत्रों में स्नान, देवदर्शन और कुछ दिन रह कर संतसमागम, आदि करते हुए वे द्वारकाजी की ओर पधारे । द्वारका में पहुँच कर श्रीनाथजी के दर्शन किये, तीर्थ का विधि-विधान किया । पिंडार्क, प्रभास आदि क्षेत्रों में गये और वहाँ भी तीर्थ विधि की । समर्थ ने अपने दासबोध में लिखा है कि चाहे जैसा महंत हो, उसे आचार की रक्षा अवश्य करनी चाहिये । यदि वह स्वयं आचार-भ्रष्ट है और दूसरों को आचार की शिक्षा देता है तो वह महन्त कैसा ? वे कहते हैं कि तीर्थों में जाकर मुख्य देव को पहचानना चाहिए । जो लोग तीर्थ करते हैं; पर अन्तरात्मा को नहीं पहचानते—उसमें श्रद्धा नहीं रखते—उनके लिए तीर्थों में क्या रक्खा है ? वही पानी और पत्थर की भेंट है । ऐसे लोग व्यर्थ के लिए तीर्थ करके कष्ट उठाते हैं । द्वारकाजी में समर्थ ने श्रीराम

की मूर्ति स्थापित की और प्रभास क्षेत्र में, रामदासी सम्प्रदाय का मठ स्थापन करके, अनेक लोगों को भक्तिमार्ग में प्रवृत्त किया।

प्रभास क्षेत्र से चलकर, पंजाब के ग्राम-नगरों में घूमते हुए, श्रीरामदासस्वामी श्रीनगर पहुँचे। वहाँ नानकपंथी साधुओं से भेंट हुई। वे साधु अध्यात्मज्ञान में परम निपुण थे। जब कोई साधु उनके यहाँ आता तब वे वेदान्त-विषयक प्रश्न उससे अवश्य पूछते थे। परन्तु जो साधु उनकी शंकाओं का समाधान न कर पाता था उसका वे उपहास कभी न करते थे। समर्थ का आगमन सुनकर वे उनके दर्शन के लिए गये और भक्तिपूर्वक कुछ अध्यात्म-प्रश्न उनसे पूछे। जिन शंकाओं का उत्तर बड़े बड़े अनुभवी साधु न दे सकते थे उनको श्रीसमर्थ ने, बात की बात में, हल कर दिया। नानकपंथी साधुओं को उनका अध्यात्मनिरूपण सुनकर बड़ा आनन्द हुआ। उन्होंने रामदासस्वामी को, बड़े आदर के साथ, एक मास तक अपने यहाँ रख लिया। जब समर्थ वहाँ से बिदा होने लगे तब उन सिक्ख-गुरुओं ने समर्थ से मंत्रदान के लिए प्रार्थना की। समर्थ ने कहा, "आप लोगों के गुरु वही नानकजी हैं जिन्होंने मुसल्मानों से भी राम, राम कह-लाया है! वह उपदेश क्या तुम्हारे लिए कम है? नानकपंथ की सार्थकता करो!" इतना कहकर समर्थ हिमालय की ओर चले। हिमालय में उन्होंने बदरीनाथ, केदारनाथ और उत्तरमानस की यात्रा की। हिमालय के एक अति उच्च शिखर पर 'श्वेतमारुती' का स्थान है। वहाँ, शीत या हिम की अधिकता के कारण, कोई पुरुष नहीं जा सकता। स्वामी शंकराचार्यजी वहाँ तक गये थे। श्रीसमर्थ भी वहाँ तक गये और हनुमान्‌जी के दर्शन करके, कुछ दिन में, लौट आये। इस प्रकार उत्तर और पश्चिम की यात्रा पूर्ण करके, अनेक मनोरम तथा बिकट स्थानों में घूमते हुए, वे एकदम पूर्व की ओर जग-न्नाथजी को चले।

जगन्नाथपुरी में पहुँचने पर पद्मनाभ नामक एक ब्राह्मण समर्थ की शरण में आया। उसे मंत्र देकर समर्थ ने रामदासी सम्प्रदाय का उपदेश दिया और पुरी में श्रीराम की मूर्ति स्थापित करके, मठ की व्यवस्था उसी ब्राह्मण को सौंप दी। जगन्नाथजी के दर्शन करके पूर्वी समुद्र के किनारे प्रवास करते हुए, वे दक्षिण में रामेश्वर को गये। वहाँ देवदर्शन और पूजन-अर्चन करके समर्थजी लंका तक गये। लंका में पहुँचकर उन्हें रामायणकालीन विभी-षण और हनुमान् आदि रामसेवकों का स्मरण हो आया। वहाँ कई दिन रह कर उन्होंने विभी-षण आदि की प्रार्थना विषयक कुछ कविता रची। लंका से लौट कर वे आदिरंग, मध्यरंग, अंतरंग, श्रीजनार्दन और दर्शसेन आदि क्षेत्रों में जाकर देवदर्शन करते हुए, गोकर्ण-महाबले-श्वर में पहुँचे। वहाँ कुछ दिन रहकर शेषाद्रि पर्वत पर गये और फिर श्रीवेंकटेश, श्रीशैल्य-मल्लिकार्जुन, बाल नरसिंह, पालक नरसिंह, शचोटी, वीरभद्र और पुराण-प्रसिद्ध पंचलिंगों के दर्शन करके किष्किन्धा नगरी में आये। वहाँ पम्पासर, ऋष्यमूक पर्वत आदि रामायण-प्रसिद्ध स्थान देखकर, श्रीकार्तिकस्वामी के दर्शन को देवगिरी पर गये। वहाँ से दक्षिणकाशी (कर-वीर क्षेत्र) को लौट आये। इसके बाद कोंकण के रास्ते से, पश्चिमी समुद्र के किनारे होते हुए

महाबलेश्वर में आकर उन्होंने श्रीपंढ़रीनाथ भीमाशंकर के दर्शन किये और श्रीत्र्यम्बकेश्वरको जाकर वे नासिक-पंचवटी में लौट आये ।

इस प्रकार बारह वर्ष पैदल प्रवास करके श्रीसमर्थ ने विविध प्रकार के आधिभौतिक तापो का अनुभव प्राप्त किया, अनेक प्रकार के लोगो से मिले, भिन्न भिन्न जनस्वभावों की परीक्षा की, भाँति भाँति के सामाजिक, धार्मिक और राजकीय आचार-व्यवहार देखे, भिन्न भिन्न प्रान्तों के राज्य-प्रबन्ध का अवलोकन किया, नाना प्रकार से सन्तसमागम करके अध्यात्मज्ञान का रहस्य जाना और प्रकृति के अनेक चमत्कारिक और रमणीय दृश्यो का निरीक्षण किया । सारांश, स्वदेश-सम्बन्धी सारी आवश्यक बातों का ज्ञान, देश-पर्यटन और तीर्थयात्रा करके, उन्होने प्राप्त किया । इस सम्पूर्ण ज्ञान का परिपाक उनके ग्रन्थों में हुआ है । विशेष कर उनका " दासबोध " तो इसी प्रकार के अनुभव-जन्य ज्ञान का समुद्र है । ऐसी कोई भी बात नहीं है जो उसमें न हो । स्थान स्थान पर प्रकृति के मनोहर और अनूठे दृश्यो का प्रतिबिम्ब इस ग्रन्थ में मिलता है । उन दृश्यो के उदाहरण देने के लिए यहाँ स्थान नहीं है ।

पंचवटी मे आकर समर्थ ने पंचगंगा का स्नान किया और श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन करके प्रार्थना की कि, " बारह वर्ष की तीर्थयात्रा करके मैंने. आपकी कृपा से अनेक स्थानों में देवताओं के दर्शन किये, तीर्थ--सलिल से स्नान किये और नाना प्रकार के विधि--विधान किये—इन कर्मों का फलस्वरूप पुण्य मैं आज आपके चरणों मे अर्पण करता हूँ । " विचार करने की बात है कि, समर्थ कितने निस्पृह महन्त थे, वे कैसे कर्मयोगी थे । निष्काम-कर्म करने का इससे अच्छा और कौन उदाहरण मिल सकता है ? समर्थ अपने लिए कुछ भी नहीं चाहते थे । वे जानते थे कि हम जो कुछ बुरा या भला काम करते हैं वह अपने लिए नहीं—उस ईश्वर के लिए करते हैं—उस आत्माराम के लिए करते हैं और इसी लिए उन्होंने अपने सम्पूर्ण धर्म--कर्मों का पुण्य आज राम के पवित्र चरणों मे अर्पण कर दिया । श्रीकृष्ण भगवान अर्जुन से कहते हैं:—

यत्करोषि यदश्नासी यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यासि कौंतेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

भ० गी० अ० ९ ।

हे कौंतेय ! तुम जो भोजन करो, जो हवन करो, जो दान करो, जो तप करो; (कहाँ तक कहें) जो कुछ करो, सब मुझे अर्पण करो । ठीक यही बात समर्थ के आचरण में पाई जाती है ।

पंचवटी से निकल कर समर्थ, पैठण ग्राम में एकनाथ महाराज की समाधि के दर्शन करते हुए, गोदावरी की प्रदक्षिणा के लिये चले । मार्ग में जब वे गोदावरी नदी के किनारे अपनी जन्मभूमि जाँब के निकट पहुँचे तब उन्हें अपनी माता और श्रेष्ठ बन्धु का स्मरण हो आया । इधर उनकी माता अपने प्रिय पुत्र नारायण के वियोग से बिलकुल व्याकुल हो गई थी । शोक के कारण रोते २ उनके नेत्र भी

चल बसे थे । ऐसी दशा में उन्हें अपने नारायण का निजध्यास सा लग गया था । चौबीस वर्षों के बाद, समर्थ, भ्रमण करते हुए, अपने गाँव में पहुँचे और हनुमान् जी के दर्शन करके, अपने घर के प्रथम बड़े दरवाजे से आगे बढ़ कर उन्होंने " जय जय श्रीरघुवीर समर्थ " कह कर भिक्षा माँगी । उनकी माता ने, जो सामने दालान में बैठी हुई थीं, अपनी बहू (श्रेष्ठ की पत्नी) को आज्ञा दी कि वैरागी को भिक्षा दे आओ । यह सुन कर समर्थ, आगे बढ़ कर, अपनी माता से बोले " अन्य वैरागियों की तरह भिक्षा लेकर लौट जानेवाला आज का वैरागी नहीं है " । दूसरी बार समर्थ के बोलने पर माता ने उनका शब्द पहचान लिया और शीघ्र ही उठ कर कहने लगीं, " क्या नारायण आया है ? " इतना सुनते ही रामदास स्वामी माता के चरणों में लिपट गये । माता और पुत्र दोनों के नेत्रों में प्रेमाश्रु की धारा उमड़ आई । माता राणूबाई जब अपने पुत्र के मस्तक और मुख पर प्यार का हाथ फेरने लगीं तब उनके हाथ में समर्थ के बढ़े हुए जटाजूट और दाढ़ी का स्पर्श हुआ और वे बड़े आश्चर्य से बोलीं, अरे नारायण ! तू कितना बड़ा होगया ! मेरी आँखों से तो कुछ सूझ नहीं पड़ता; अपने नारायण को कैसे देखूँ ? " अपनी मा के ये दीन वचन सुन कर समर्थ का हृदय भर आया। उन्होंने ज्योंही अपना पवित्र हाथ माता के नेत्रों पर फिराया त्योंही उन्हें फिर पूर्ववत् सब कुछ देख पड़ने लगा । उस समय राणूबाई के सामने आनन्द की लहरें उठने लगीं । उन्होंने आश्चर्यित होकर पूछा, " बेटा ! यह भूत-विद्या तूने कहां से सीखी ? " समर्थ ने तत्काल एक पद बनाकर इस प्रश्न का उत्तर दिया । उस पद का सारांश इस प्रकार है:—

" जो भूत अयोध्या के महलों में संचार करता था, जो भूत कौशल्या के स्तनों में लगा था, जिस भूत के चरण का स्पर्श होने से पत्थर की स्त्री हो गई और जिस भूत ने और भी इसी प्रकार के अनेक चमत्कारपूर्ण कार्य किये वही सर्व महाभूतों का प्राणभूत मुझमें संचार करता है । यह विद्या उसीकी कृपा का फल है । " माता और पुत्र में इसी प्रकार का वार्त्तालाप हो रहा था; कि इतने में समर्थ के ज्येष्ठ बन्धु श्रेष्ठ भी बाहर से आ गये । समर्थ उन्हें देखते ही चरणों पर गिर पड़े । दोनों भाइयों ने आपस में प्रेम-पूर्वक आलिंगन किया । श्रीरामदासस्वामी कई दिन तक अपने घर में आनन्द-पूर्वक रहे । प्रति दिन भोजन करके दोनों भाई एक साथ बैठते और अध्यात्मज्ञान-विषयक वार्त्तालाप किया करते थे । समर्थ की बुद्धि का चमत्कार देख कर श्रेष्ठ को परम हर्ष हुआ । समर्थ जब अपनी माता से बिदा होने लगे तब माता ने बहुत शोक प्रकट किया । यह देख कर उन्होंने अपनी माता को वही आत्मबोध बतलाया जो भागवत में कपिलमुनि ने अपनी माता को दिया है । उस बोध से माता राणूबाई को बहुत शान्ति मिली । इसके बाद रामदास स्वामी, अपने बन्धु से आज्ञा लेकर गोदावरी-प्रदक्षिणा के लिए आगे बढ़े । समुद्रसंगम पर गोदावरी के सात प्रवाह हो गये हैं । प्रत्येक प्रवाह की दाहिनी ओर से परिक्रमा करते हुए वे दक्षिण किनारे पर गये । वहाँ से

त्र्यम्बकेश्वर में गोदावरी के उद्गमस्थान पर जाकर, पंचवटी के दक्षिण ओर पहुँचे और वहाँ श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन करके गोदावरी-प्रदक्षिणा पूर्ण की। इस प्रकार बारह वर्ष तप और बारह वर्ष तीर्थयात्रा तथा देश-पर्यटन करके उन्होंने जनोद्धार करने का सामर्थ्य प्राप्त किया। इस समय उनका वय छत्तीस वर्ष का था।

धर्मप्रचार और जनोद्धार का कार्य।

श्रीसमर्थ पहले पंचवटी से अपने तपस्थान टाकली को आये और वहाँ उद्धव स्वामी से भेंट करके श्रीरामचन्द्रजी के आदेशानुसार, कृष्णा के तीर धर्मप्रचार और लोकोद्धार का कार्य प्रारम्भ करने के लिए, वे दक्षिण देश को चले। पहले पहल वे महाबलेश्वर को गये और वर्षा-ऋतु के चार महीने वे वहीं रहे। वहाँ उन्होंने हनुमान्जी का मठ स्थापन करके अपना सम्प्रदाय बढ़ाया और अनेक लोगों को भजनमार्ग में लगाया। अनन्त भट्ट, दिवाकर भट्ट आदि कई विद्वान् वहाँ उनके शिष्य बने। महाबलेश्वर से चल कर, सातारा जिले में रामदासी सम्प्रदाय का प्रचार करते हुए, वे वाई क्षेत्र में पहुँचे और वहाँ कृष्णा नदी के तट पर, एक अश्वत्थ-वृक्ष के नीचे रहने लगे। वाई क्षेत्र के पण्डित और शास्त्री उनका अध्यात्मज्ञान देख कर उनकी शरण [illegible] और दीक्षा लेकर भजनमार्ग में लगे। वहाँ भी समर्थ ने हनुमानजी की मूर्ति स्थापित की और मठ का प्रबन्ध एक शिष्य के आधिकार में कर दिया। वाई क्षेत्र से चल कर वे माहुली में पहुँचे। वहाँ गांव के बाहर, एक पहाड़ी के ऊपर, हनुमानजी के मन्दिर में रहने लगे। प्रातःकाल उठ कर वे कृष्णा नदी में स्नान करके संध्या आदि नित्यकर्म करते और दोपहर होने पर बस्ती में मधुकरी माँग कर भोजन करते थे। इसके बाद, फिर उसी पर्वत पर आकर भजन, जप और ध्यान में मग्न रहते थे। वहाँ कभी कभी उनके समकालीन संतजन एकत्र होकर धर्म-चर्चा किया करते थे। प्रत्येक साधु अपने अपने अनुभव की बातें बतलाता और सब मिल कर हरिभजन और कीर्तन करते थे। श्रीरामदासस्वामी की अनुपम साम[illegible] देख कर उसी समय संत लोग उन्हें "समर्थ" कहने लगे। कुछ दिन माहुली में रह [illegible] क्रहाड को चले गये। कऱ्हाड-प्रान्त में उनके अलौकिक चमत्कारों को देख कर अनेक लोग उनकी शरण में आए। उस प्रान्त के शाहपुर नामक ग्राम में उन्होंने हनुमान् का मन्दिर बनवाया और उसमें "प्रताप-मारुति" की स्थापना करके उसका प्रबन्ध बाजीपन्त नामक एक मुखिया को सौंप दिया। बाजीपन्त* ने सकुटुम्ब मंत्रोपदेश लिया। उनकी स्त्री सतीबाई समर्थ पर बहुत भक्ति रखतीं थी। समर्थ ने कई प्रकार के भयानक चमत्कार दिखला कर सतीबाई की परीक्षा ली; पर वे बराबर अपनी भक्ति पर दृढ़ही रहीं। यह देख कर समर्थ बहुत प्रसन्न हुए और कहते हैं कि उन्हें साक्षात् हनुमान् का दर्शन कराया।

इस प्रकार धर्म का प्रसार करते हुए समर्थ चाफल नामक ग्राम के समीप पहुँचे। वहाँ वे

---

* इनके पुत्र भिकाजी गोस्वामी समर्थ के एक मुख्य महंत थे। वे तंजौर के मठ में रहते थे। समर्थ के निर्वाण के बाद शाके १६०४ में उन्होंने समर्थ का मूल मराठी चरित्र-ग्रंथ ओवी नामक छन्द में लिखा।

पहले कई वर्षों तक वन–पर्वतों की दरी, खोरी और कन्दराओं में घूमते रहे । उस समय बस्ती में वे बहुत कम आते जाते थे । जब कभी वे लागों के सामने निकलते तब अवधुत दशा में रहने के कारण लोग उन्हें पागल समझते थे । परन्तु वास्तव में वे पागल नहीं थे; उनका चित्त अखंड़रूप से भगवान् में लगा हुआ था । श्रीसमर्थ के दासबोध में उनके आत्म-चरित का आभास कई स्थानों में पाया जाता है । एक समास में उन्होंने निस्पृह महन्त लोगों के बर्ताव का वर्णन किया है । उसी समास में वे कहते हैं कि मैंने यह सब पहले किया है; फिर लोगों को बतलाया है । यह समास बड़े महत्त्व का है । चाफल में रह कर, पहले वे बहुत दिनों तक किस प्रकार धर्मप्रचार और लोकोद्धार का कार्य करते रहे—यह बात उक्त समास के पढ़ने से प्रकट होती है । इस समास के दो पद्य हम यहाँ पर उद्धृत करते हैं । उनसे पाठकगण यह अनुमान कर सकेंगे कि लोकोद्धार का प्रयत्न वे किस चतुराई के साथ करते थे ।

उत्तम गुण तितुके घ्यावे । घेऊन जनास शिकवावे ।
उदंड समुदाय करावे । परी गुप्तरूपें ॥ १८ ॥
अखंड कामाची लगबग । उपासनेस लावावें जग ।
लोक समजोन मग । आज्ञा इच्छिती ॥ १९ ॥

दा० बो० द० ११ स० १०

उत्तम उत्तम गुण पहले स्वयं सीख कर फिर लोगों को सिखलाना चाहिए । प्रचण्ड समुदाय इकट्ठा करना चाहिए; पर गुप्त रूप से । काम कभी बन्द न करना चाहिए । सारे जगत् को, सारे देश को, उपासना में—आत्माराम के भजन में—लगाना चाहिए । लोगों को अपने कर्तृत्व का परिचय करा देना चाहिए; क्योंकि लोग जब जान लेते हैं कि यह सच्चा महंत है तभी आज्ञा पाने की इच्छा करते हैं । इस प्रकार चाफल में रह कर समर्थ ने हजारों शिष्य और सैकड़ों निस्पृह महन्त तैयार किये और महाराष्ट्र के अनेक स्थानों में स्थापित किये हुए मठों में उन्हें नियत किया—इस प्रकार भजन और उपासनाम[illegible]की खूब वृ[illegible] करके समर्थ ने लोगों को स्वधर्म में प्रवृत्त किया । स्वधर्म की जागृति [illegible] लोगों में स्वा[illegible] मान और ऐक्य का अंकुर उठा । यवन लोगों से, जिनका उस समय महाराष्ट्र में (या भारत भर में) अधिकार था, अपनी स्वतंत्रता और अपना धर्म बचाने की प्रचण्ड या तीव्र इच्छा लोगों के मन में जागृत हुई । इस प्रकार समर्थ रामदासस्वामी ने धर्म और स्वतंत्रता के विषय में उस समय विचारक्रान्ति पैदा कर दी । यह सब हाल जिस दिन छत्रपति शिवाजी महाराज के कानों तक पहुँचा उसी दिन उनके मन में समर्थ के समान महात्मा का दर्शन करने के लिए, तीव्र उत्कंठा हुइ । पर वह दर्शन हो कैसे ? समर्थ स्वयं पहले पहल उनको यहाँ जाने वाले न थे; और न वे एक स्थान में रहते ही थे, जो छत्रपति महाराज सहज में दर्शन कर सकते । अन्त में जब शिवाजी को समर्थ-दर्शन-लालसा अनिवार्य होगई तब वे स्वयं एक दिन अपने महल से निकल कर, जंगल पहाड़ों में समर्थ की खोज करते हुए, निकले । बड़ी कठिनाई से वन में एक औदुम्बर वृक्ष के नीचे शिवाजी

को समर्थ के दर्शन हुए । वही शिवाजी महाराज ने मंत्रोपदेश लिया । उसी दिन से सद्गुरु और मुमुक्षु--शुद्ध स्वातंत्र्येछुक--शिष्य, दोनों मिलकर धर्मप्रचार और लोकोद्धार के कार्य करने लगे । समर्थ और शिवाजी का सम्बन्ध नैसर्गिक, बड़ा गहन, विस्तृत और विचार करने योग्य है । इस विषय का भली भाँति विचार करने के लिए एक स्वतंत्र ग्रन्थ या अनेक निबन्धों की आवश्यकता है । उसका कुछ विवेचन हम आगे चल कर करेंगे ।

इस प्रकार चाफल स्थान मे रह कर समर्थ ने प्रचण्ड शिष्य-समुदाय एकत्र किया और वहाँ शाके १५७० (सन १६४८) मे उन्होंने शिवाजी की सहायता से एक मान्दिर बनवा कर, श्रीरामचन्द्रजी की स्थापना की । समर्थ के अनेक शिष्य और महन्त उसी मठ में रहते थे । वे नाना प्रकार से श्रीराम का उत्सव करके धर्म की धुम मचाये रहते थे । समर्थ अपनी इच्छा के अनुसार, कभी मठ मे रहते, कभी वनपर्वतों की गुफाओ में रहते और कभी मुख्य मुख्य शिष्यों को साथ लेकर महाराष्ट्र-प्रान्त मे धर्म-प्रचार करते फिरते थे । सारे काम करते हुए भी उनका मन अखंड़रूप से आत्माराम में लगा रहता था । एक जगह वे स्वयं कहते हैं:—

दास डोंगरीं राहातो । यात्रा देवाची पाहातो ॥
देवभक्तासवें जातो । ध्यानरूपें ॥

" दास (रामदासस्वामी) पर्वतों में रहता है; और वहीं से बैठे बैठे, श्रीराम का, बस्ती में निकला हुआ, जूलूस देखा करता है । इतना ही नहीं, वह ध्यानरूप से देवभक्तों के साथ उस जुलूस में शामिल भी होता है ! " एक बार समर्थ कुछ शिष्यों को साथ लेकर करवीर प्रान्त में धर्मप्रचार करने को गये । वहाँ अनेक स्थानों में उनके भजन कीर्तन को सुनकर लोग शरण आये । उस प्रान्त के मुखिया और शिवाजी के सूबेदार पाराजीपन्त ने दीक्षा ली । उनकी बहन समर्थ के भक्तिभाव को देखकर, अपने दो लड़कों के साथ, समर्थ की सेवा में रहने लगीं । उसके ज्येष्ठ पुत्र का नाम अम्बादास था । वह लिखने पढ़ने में बहुत तीव्र था, इसालिए समर्थ ने उसे अपना लेखक बनाया । येही अम्बादास समर्थ के मुख्य शिष्य और महन्त बनकर, कल्याणस्वामी के नाम से प्रासिद्ध हुए । समर्थ ने जितने ग्रन्थ रचे वे सब कल्याणस्वामी ही के लिखे हुए हैं । समर्थ पद्य बोलते जाते थे और कल्याणस्वामी लिखते जाते थे । चाफल के आस-पास वन-पर्वतों मे बैठ कर वे ग्रन्थ-रचना किया करते थे।

चाफल के लोगो ने जब एक बार बहुत आग्रह किया तब वे पंढ़रपुर की यात्रा को गये । वहाँ विठ्ठलजी के दर्शन किये । समर्थ के उपास्य देव श्रीराम थे, इसालिए पंढ़रपुर में उन्हें अयोध्या की भावना होने लगी और विठ्ठलजी की मूर्ति उन्हें राममूर्ति सी देख पड़ने लगी । यात्रा से लौटने पर कुछ दिनो के बाद, श्रीशिवाजी के बहुत आग्रह करने पर समर्थ सितारे के समीप सज्जनगड़ पर रहने लगे । वहाँ शिवाजी महाराज नित्य उनके दर्शन को आते थे । एक दिन समर्थ की माता और बन्धु का यह पत्र आया कि, बहुत दिन से भेंट नहीं हुई, इसालिए एक बार फिर मिल जाओ । शाके १५७४ (सन १६५२) में रामनवमी के

उत्सव पर वे फिर अपनी जन्मभूमि को गये और अपनी माता तथा बन्धु के साथ कुछ दिन रह कर फिर सज्जनगढ़ को लौट आये।

शाके १५७५ (सन् १६५३) में वे सज्जनगढ़ से कुछ शिष्यमण्डली साथ लेकर तैलंग प्रान्त में भ्रमण करते हुए रामेश्वर तक गये। तैलंग-प्रान्त में कई मास रह कर, उन्होंने अपने सम्प्रदाय की बहुत वृद्धि की। तैलंगी भाषा सीख कर, उन्होंने उस भाषा में भी अनेक कवितायें रचीं और उनका वहाँ प्रचार किया। अनेक प्रकार के अनोखे चमत्कार दिखला कर बड़े बड़े मानी पंडितों का गर्वगलित किया। अनेक पण्डित उनके शरण में आये और भजन मार्ग में लग गये। तंजौर में राजा व्यंकोजी (शिवाजी के सौतेले भाई) ने समर्थ को अपने यहाँ एक मास तक बड़े आदर से रक्खा और मंत्रदीक्षा ली। वहाँ भी समर्थ ने एक मठ स्थापित किया और उसमें सतीबाई के पुत्र भिकाजी बाबा को नियत किया। तंजौर से आगे चलकर वे रामेश्वर को गये। मंचल-क्षेत्र में राघवेंद्रस्वामी से मिले। इस प्रकार तीर्थ-यात्रा और भ्रमण करते हुए मठ स्थापन करके अपने अपूर्व चमत्कारों से लोगों को स्वधर्म की ओर लगाते हुए, समर्थ कुछ दिनों के बाद अपने पूर्वस्थान चाफल में लौट आये। उनका आगमन सुनते ही शिवाजी महाराज वहाँ उनसे मिलने आये और अपने साथ सज्जनगढ़ पर ले गये।

फुटकर बातें।

कुछ दिन के बाद उनकी माता का अन्तकाल आया। यह बात समर्थ ने अपने अन्तर्ज्ञान से पन्द्रह दिन पहले ही समझ ली। जिस समय उनकी माता ने अपने ज्येष्ठपुत्र से कहा, "मेरा नारायण अन्तकाल में यहाँ नहीं है" उसी समय वहाँ पहुँच कर समर्थ ने अपनी माता के चरणों पर सिर रक्खा। उन्होंने कहा कि, मैं अब आपके समीप आ गया; आप सुख और शान्ति से प्राणत्याग कीजिए। शाके १५७७ (सन् १६५५) में उनकी माता का स्वर्गवास हुआ। उनका उत्तर-कार्य हो जाने पर समर्थ फिर सज्जनगढ़ को लौट आये।

शाके १५८० (सन् १६५८) में श्रीसमर्थ निजानन्दस्वामी के उत्सव में कह्राड़ को गये। उत्सव समाप्त होने पर वे लौट कर सज्जनगढ़ को आ रहे थे। उनके साथ पच्चीस तीस शिष्य भी थे। दोहपर के समय में भूख लगने पर समर्थ की आज्ञा लेकर शिष्यों ने कुछ जुआर के भुट्टे तोड़े और भून कर खाने लगे। समर्थ भी शिष्यों के पास ही एक आसन पर बैठे थे। इतने ही में खेतों का मालिक दौड़ता हुआ आया और समर्थ को, सबका प्रधान समझ कर जुआर के डंठल से पीटने लगा। यह देख कर सब शिष्यों ने मिल कर उसे पकड़ा और मारने लगे। समर्थ ने कहा, उसे मारना उचित नहीं है, छोड़ दो। इसके बाद वह मालगुजार अपने घर चला गया और समर्थ, सब शिष्यों के साथ सितारे में शिवाजी के यहाँ चले आये। दूसरे दिन शिवाजी महाराज जब समर्थ को मंगलस्नान करा रहे थे तब उनकी पीठ पर मार की बद्धतें शिवाजी को देख पड़ीं। उन्होंने समर्थ से इस विषय में पूंछा; पर कुछ उत्तर नहीं मिला। भोजन के बाद जब श्रीसमर्थ शयनागार में विश्राम कर रहे थे तब, बहुत प्रयत्न करने

पर, एक शिष्य से शिवाजी महाराज को मार्ग का सब समाचार मिला। उस मालगुजार की मूर्खता पर शिवाजी महाराज को बहुत क्रोध आया। उन्होने अपने नौकरों को आज्ञा दी कि, उस मालगुजार को, मुसकें बाँध कर, अभी ले आओ। समर्थ शयनागार में पड़े हुए ये सब बातें सुन रहे थे। उन्होंने शिवाजी महाराज को अपने पास बुला कर कहा कि, उस मालगुजार को बँधवा कर मत बुलाओ और मारपीट मत करो। इसके अतिरिक्त जो दण्ड हम कहें वही उसे दो। शिवाजी ने समर्थ की आज्ञा शिरोधार्य की। दरबार लगने पर वह मालगुजार उपस्थित किया गया। वहाँ आने के पहले ही उसे मालूम हो गया था कि, जिसे उसने साधारण वैरागी समझ कर पीटा था वे छत्रपति शिवाजी महाराज के मान्य गुरु समर्थ श्रीरामदासस्वामी थे। दरबार में आते ही उसने समर्थ को दिव्य और उच्च सिंहासन पर बैठा देखा! वह बेचारा भय के कारण काँपने लगा और समर्थ के चरणों पर गिर कर रोने लगा। समर्थ ने आशीर्वाद दिया कि, तेरा खेत तेरे लिए अच्छा फलेगा। इसके बाद वह उठ कर शिवाजी के पैरों में लिपट गया और क्षमा माँगने लगा। समर्थ की आज्ञानुसार उन्होंने उसके अपराध को क्षमा किया और वह खेत, उस मालगुजार को वंश-परम्परा के लिए दे दिया। यह देख कर दरबारी लोग आश्चर्य करने लगे। सच है; क्यों न आश्चर्य करें? उपकार का बदला, उपकार के द्वारा देनेवाले बहुत लोग हैं; पर अपकार करनेवाले पर भी उपकार करनेवाले केवल संत हैं। महात्मा तुलसीदासजी कहते हैं:—

> तुलसी संत सुअम्बतरु, फूल फलहि परहेत।
> इतते जन पाहन हनें, उतते वे फल देत ॥

वह समर्थ के नाम पर पाया हुआ खेत, उस मालगुजार के वंश में, अब भी कायम है। धन्य है यह क्षमा और उदारवृत्ति!

समर्थ रामदासस्वामी के बन्धु श्रेष्ठ ने भी गृहस्थाश्रम में रह कर, भक्तिमार्ग का बहुत प्रचार किया। उन्होने "भक्तिरहस्य," "सुगमउपाय" और कुछ फुटकर कवितायें लिखीं। जब उन्हें मालूम हुआ कि अब उनका अन्त समय समीप है तब उन्होंने एक पत्र लिख कर समर्थ के पास भेजा और अपनी अन्तिम भेट के लिए बुलाया। रामनवमी के उत्सव के कुछ दिन पहले ही इस बार समर्थ अपनी जन्म-भूमि जाँब को गये और एक मास तक अपने बन्धु के निकट रह कर लौट आये। उनके लौट आने पर कुछ दिनों के बाद शाके १५९९ (सन् १६७७ ई०) में श्रेष्ठ का स्वर्गवास हो गया और उनकी पत्नी अपने पति को गोद में लेकर सती हो गई। यह समाचार सुन कर समर्थ ने, एक शिष्य को भेज कर, श्रेष्ठ के दोनों पुत्रों को अपने पास बुला लिया। यह हाल जब शिवाजी महाराज ने सुना तब, वे समर्थ के समीप आये और इच्छा प्रकट की कि, जाँब रियासत में और बहुत से गाँव लगाकर उसका स्थायी प्रबन्ध कर देना चाहिए। समर्थ ने कहा कि, अभी कोई जरूरत नहीं है; फिर देखा जायगा। इस पर शिवाजी बहुत दुःखित होकर बोले, जान पड़ता है, श्रीराम की सेवा करना मेरे भाग्य में नहीं लिखा। यह सुन कर समर्थ ने कहा, अच्छा, अभी कुछ थोड़ा प्रबन्ध कर दो जिससे सम्प्रदाय का खर्च और श्रीराम के उत्सव प्रति वर्ष उचित रीति से

होते रहें। आज्ञा पाने पर शिवाजी ने ३३ गाँव और प्रति वर्ष के लिए १२१ खंडी गल्ला लगा दिया। यह रियासत अभी तक श्रेष्ठ के वंशजों के अधिकार में है। हर साल कई उत्सव और सदा-सर्वदा सन्त-समागम उसी रियासत के खर्च से होता है। धन्य है शिवाजी महाराज के समान राजाओं की उदारता! अस्तु। एक साल तक श्रेष्ठ के पुत्रा को अपने पास रख कर समर्थ ने उन्हें अनेक प्रकार की शिक्षा दी और फिर घर भेज दिया।

शाके १६०२ (सन् १६८०) चै० शु० १५ रविवार को शिवाजी महाराज स्वर्ग को पधारे। यह समाचार सुनकर समर्थ को अत्यन्त शोक हुआ। शोक क्यों न हो? शिवाजी ही के लिए रामदासस्वामी का अवतार हुआ। शिवाजी स्वयं रुद्र या शिव के अवतार माने जाते हैं। शिवाजी और समर्थ का सम्बन्ध नैसर्गिक था। परस्पर एक दूसरे की सहायता से, धर्मप्रचार और लोकोद्धार का कार्य पूर्ण करके स्वधर्म और स्वराज्य की स्थापना की। शिवाजी के वियोग के कारण समर्थ ने बाहर निकलना बिलकुल छोड़ दिया। वे अपने कमरे में ही रह कर भगवत्चिन्तन में मग्न रहते थे। सम्भाजी के राज्याभिषेक-उत्सव में श्रीसमर्थ स्वयं न जाकर अपने एक महन्त को भेज दिया। कुछ दिनों के बाद सम्भाजी के घोर साहसिक कर्मों का हाल सुन कर उन्होंने एक उपदेशपूर्ण पत्र लिखा; यह पत्र बड़े महत्त्व का है। उसे देखने से समर्थ के राजनीति-सम्बन्धी ज्ञान का अच्छा परिचय मिलता है। परन्तु सम्भाजी महाराज उस समय कुसंगति में इस प्रकार फँस गये थे कि, उन्होंने समर्थ के उपदेश से कोई लाभ नहीं उठाया।

समर्थ का निर्याण।

शाके १६०३ (सन् १६८१) के रामनवमी-उत्सव पर समर्थ चाफल को गये और वहाँ मन्दिर में अपने प्रिय उपास्य देव श्रीराम के दर्शन किये और हनुमान्‌जी की आज्ञा लेकर, शिबिकारूढ़ हो, सज्जनगढ़ को लौट आये। अन्तकाल समीप जान कर कई दिन पहले से उन्होंने अन्न का त्याग कर दिया, केवल दूध पीकर रहने लगे। उस समय यद्यपि उनका तेज बढ़ता जाता था; तथापि शरीर-क्षीणता बढ़ती ही जाती थी। इस प्रकार कुछ दिनों के बाद माघ-कृष्ण-अष्टमी का दिन आ पहुँचा। उस दिन समर्थ की इच्छा हुई कि, अब इस बात की परीक्षा करना चाहिए कि, हमारे शिष्यों में से किसीको हमारा अन्तिम दिन मालूम है या नहीं। इसी विचार से उन्होंने अपने सब शिष्यों के सामने यह अर्धश्लोक पढ़ा:—

रघुकुलतिलकाचा वेळ सन्नीध आला।
तदुपरि भजनान पाहिजे सांग केला॥

रघुकुल-तिलक का समय निकट आ गया है, इस लिए अब सांगोपांग भजन करना चाहिए। यह सुन कर उद्धवस्वामी ने तुरंत ही उस श्लोक की पूर्ति इस प्रकार की:—

अनुदिन नवमी हे मानसी आठवावी।
बहुत लगबगीनें कार्यसिद्धी करावी॥

अन्तिम दिन नवमी का स्मरण रखना चाहिए और बड़ी शीघ्रता से कार्य-सिद्धि करनी चाहिए। यह श्लोकार्द्ध सुन कर समर्थ बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने सब को भजन (भक्ति-पद-गान) करने की आज्ञा दी। अष्टमी के दिन रात भर भजन की धूम मची रही। सब शिष्य जमा हुए। नवमी का दिन आया। उस दिन समर्थ स्वयं पलँग से नीचे उतर कर बैठ गये। उस समय उन्होंने, शिष्यों के बहुत आग्रह करने पर, कुछ मिश्री और दाख खाकर, थोड़ा सा निर्मल जल पान किया। थोड़ी देर के बाद शिष्यों न पलँग पर बैठने के लिए उनसे प्रार्थना की। समर्थ ने कहा, " मुझे, पलँग पर उठा कर रक्खो। " यह आज्ञा पाकर उद्धवस्वामी उन्हें उठाने लगे; पर वे उनसे नहीं उठ सके। यह देख कर आकाबाई नामक समर्थ की शिष्या भी उद्धवस्वामी के साथ उन्हें उठाने लगीं; पर तब भी वे नहीं उठाये जा सके। अन्त में करीब दस मनुष्य मिल कर उन्हें उठाने का प्रयत्न करने लगे पर विफल हुए। इसके बाद समर्थ ने सब के अलग होने की आज्ञा दी। लोगों के हटने पर जब वे वायु आकर्षण करने लगे तब सब शिष्य चिल्ला चिल्ला कर रोने लगे। समर्थ ने उन सब से कहा, " आज तक हमारे पास रह कर क्या रोना ही सीखे हो? " शिष्यों ने कहा, " सगुण मूर्ति जाती है; अब भजन किसके साथ करेंगे और बोलने की इच्छा होने पर किससे बोलेंगे? " समर्थ ने आन्तिम उत्तर दिया, " जो मेरे पीछे मुझसे बोलना चाहे वह " दासबोध " आदि हमारे ग्रन्थ पढ़े। उन्हें पढ़ना मानो प्रत्यक्ष मुझ से बातचीत करना है। इतना कह कर ग्यारह बार " हर हर " शब्द का उच्चारण किया और अन्त में " राम " शब्द का उच्चारण करते ही समर्थ के मुख से तेज निकल कर, समीप स्थापित की हुई राममूर्ति के मुख में, प्रविष्ट हो गया। भजन बराबर हो रहा था। उस समय भजन की ध्वनि और बढ़ गई। इस प्रकार शाके १६०३ (सन् १६८२ ई० के फरवरी में) माघ कृष्ण ९ के दिन (संवत् १७३८ फाल्गुन मास के कृष्णपक्ष की नवमी को) महाराष्ट्र-प्रान्त का एकमात्र सिद्धरत्न, साधुराज, चातुर्य-सागर, राजनीतिज्ञ-शिरोमणी, भक्ति-ज्ञान-वैराग्य का प्रत्यक्ष स्वरूप और निस्पृह महात्मा 'राम' में लीन हो गया! और 'दासबोध' में अनेक स्थानों में कहे हुए अपने इस वाक्य को अक्षरशः सत्य कर गया कि:—

................। हरिभक्तीस सादर व्हावें।
मरोन कीर्तीस उरवावें। ....॥ १३॥

द० १२ स० २०

" सदा हरिभक्ति में तत्पर रहना चाहिए और मरने के बाद कीर्तिरूप से सदा जगत् में जीवित रहना चाहिए। " हे सद्गुरु समर्थ! आप अपने इसी वचन के अनुसार कीर्ति-रूप से—और आत्मस्वरूप से भी—अमर हैं। केवल आप ही अमर नहीं हैं; किन्तु असंख्य लोगों को आप अपने आदर्श से अमर कर चुके हैं, अमर कर रहे हैं और अमर करेंगे। जब तक इस आर्यावर्त में धर्म का नाम है—जब तक हिन्दुओं को ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास है; और जब तक इस पवित्र भूमि में " महाराष्ट्र " के नाम पर भारतवासियों को

अभिमान है तब तक आप और आपका उपदेश, इस पृथ्वी पर, अटल, अचल और अमर है।

समर्थ और शिवाजी।

पीछे इस बात का उल्लेख किया गया है कि इनका परस्पर सम्बन्ध बहुत गहन और महत्त्व का है। कुछ आधुनिक लेखकों में, इन दो व्यक्तियों के ऐतिहासिक सम्बन्ध में कुछ मतभेद है। यद्यपि यह बात सर्वमान्य है कि रामदासस्वामी शिवाजी के गुरु थे, उनकी आज्ञा पालन करना शिवाजी अपना धर्म समझते थे, तथापि दोनों की भेंट कब और किस स्थान में हुई, शिवाजी ने उपदेशमंत्र किस समय लिया, गुरु और शिष्य का परस्पर बर्ताव कैसा था, शिवाजी किन किन बातों में अपने गुरु से सलाह किया करते थे, स्वधर्म और स्वराज्यस्थापन के महत्कार्य में समर्थ की कितनी और किस प्रकार की सहायता थी, इत्यादि कुछ प्रश्नों के विषय में कुछ थोड़ा मतभेद पाया जाता है। अधिकांश विद्वानों की राय देखने से जान पड़ता है कि ये प्रश्न बहुत शीघ्र हल हो जायँगे। महाराष्ट्र की ऐतिहासिक सामग्री की खोज और जाँच करनेवाले विख्यात प्रोफेसर राजवाड़े इस विषय में कहते हैं—"सिद्ध बात को सिद्ध करने का यत्न करने से कोई लाभ नहीं होता। जब तक "दासबोध" ग्रन्थ विद्यमान रहेगा और जब तक इतिहास में यह बात लिखी रहेगी कि मरहटों ने सत्रहवीं शताब्दि में स्वतंत्र राज्य स्थापित किया था, तब तक श्रीरामदास और शिव छत्रपति का सम्बन्ध फिर से सिद्ध करने की आवश्यकता, उन लोगों के सिवा, जिनका चित्त अव्यवस्थित है (दिमाग़ बिगड़ गया है), और किसी को भी मालूम न होगी।" धुलिया की सत्कार्योत्तेजक सभा ने श्रीरामदास और शिवाजी के सम्बन्ध में बहुत सी ऐतिहासिक बातें प्रकाशित की हैं और वह इस विषय की खोज कर रही है। वह श्रीरामदासस्वामी का वृहत् चरित्र ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर और आधुनिक विवेचनपद्धति के अनुसार थोड़े ही दिनों में प्रकाशित करनेवाली है। आशा है कि हिन्दीवालों को भी उक्त चरित्र से कुछ लाभ अवश्य होगा।

जिस समय श्रीरामदासस्वामी लोकोद्धार करने के लिए कृष्णा नदी के किनारे पहुँच कर चाफल में निवास करने लगे उस समय वहाँ नरसोमलनाथ नाम के तहसीलदार रहते थे। उन्होंने समर्थ की योग्यता जान कर उनसे मंत्रोपदेश लिया। कुछ ही दिनों में वहाँ रामदासी संप्रदाय की बहुत वृद्धि होने लगी। धीरे धीरे यह समाचार शिवाजी को मालूम हुआ। उस समय शिवाजी की राजसत्ता महाराष्ट्र में खूब बढ़ रही थी। उन्होंने रायगढ़ का किला ले लिया था। प्रतापगढ़ में एक नया किला बनवा कर वहाँ भवानी देवी की मूर्ति स्थापित की थी। उन्होंने पूना को मुख्य स्थान बना कर, नासिक से करवीर तक का सारा प्रान्त, कोंकण का कुछ भाग, जीत लिया था। यद्यपि इस प्रकार वे राज्यसम्पादन के कार्य में लगे थे तोभी संत-समागम की उन्हें विशेष रुचि थी। बालपन ही से साधु और संतजनों के विषय में पूज्यभाव होने के कारण वे साधु-समागम के लिए सदा उत्कण्ठित रहते थे। वे अपना राजकाज करते हुए भी चिंच-

वड़, देहू, आलंदी आदि प्रसिद्ध स्थानों में साधुजनों के दर्शन को बार-बार जाया करते थे और उनका उपदेश श्रद्धायुक्त अन्तःकरण से सुनते थे। जहाँ जहाँ हरिभजन या कीर्तन होता था वहाँ वहा वे अवश्य जाते थे। उनकी माता जिजाबाई ने उन्हें छोटेपन ही में अपने सनातनधर्म, शास्त्र, वेद, पुराण और वेदान्त आदि के गम्भीर तत्त्व और सिद्धान्त, तथा शिक्षादायक कथाओं की शिक्षा दिलाई थी। इसलिए अपनी माता की शिक्षा और साधु समागम के कारण, उनके मन में, अपने जीवन की सार्थकता के विषय में, अनेक उच्च विचार भर गये थे। वे सदा इसी बात का चिन्तन करते रहते थे कि, जीवन की सार्थकता उत्तम रीति से कैसे की जाय। उन्होंने एक बार सुप्रसिद्ध साधु तुकाराम बाबा से मंत्रोपदेश माँगा था; पर उन्होंने शिवाजी को श्रीरामदासस्वामी के शरण मे जाने की आज्ञा दी। इस प्रकार मन की मुमुक्षावस्था में जब शिवाजी ने श्रीसमर्थ की साधुकीर्ति सुनी तब उन्हें उनके दर्शन की बहुत अभिलाषा हुई। इसलिए उन्होंने श्रीसमर्थ को एक पत्र भेज कर अपनी राजधानी में बुलाया। परन्तु समर्थ वहाँ नहीं गये। उन्होंने शिवाजी के पत्र का उत्तर भेज दिया।

जिस पत्रका ऊपर उल्लेख किया है वह इतिहास-दृष्टि से बहुत महत्त्व का है। उसमें शिवाजी को समर्थ ने जो उपदेश किया है वह ध्यान मे रखने योग्य है। इसलिए उस पत्र के कुछ अंश का भावार्थ यहाँ देना आवश्यक है। समर्थ शिवाजी को लिखते हैं—"इस समय भूमंडल में ऐसा कोई नहीं है जो धर्म की रक्षा करे। महाराष्ट्र धर्म तुम्हारे ही शरण बचा है। यहाँ जो कुछ थोड़ा बहुत धर्म देख पड़ता है और साधुजनों की रक्षा हो रही है वह सब तुम्हारे ही कारण है। तुम धन्य हो। तुमने दुष्टजनों का संहार किया है। वे लोग तुमसे डरते हैं। बहुतेरे जन तुम्हारे आश्रय में रहने लगे हैं। अब तुमको धर्मस्थापन का काम सम्हालना चाहिए। यह बात सच है कि तुमको राजकाज बहुत करना पड़ता है, जिससे चित्तवृत्ति व्यग्र हो जाती है। ऐसी दशा में राजा और मंत्री का विचार एक होना चाहिए। यदि एकता न होगी तो कार्य-नाश होगा। सब लोगों को राजी रखना; भले बुरे की खूब जाँच करना; न्याय और नीति का कदापि त्याग न करना, लालच मे कभी न फँसना, सदा सावधान रहना। हमारा बोलना स्पष्ट है, इसलिए क्रोध न आने देना। जो कुछ हमने कहा है उसे उचित रीति से श्रवण करना। यदि सचमुच अंतःकरणपूर्वक काम करना हो तो हमारे बतलाये हुए मार्ग का स्वीकार करो, श्रीरामचन्द्रजी कृपा करेंगे; तुम्हारा कार्य सिद्ध होगा; तुम्हारे सारे मनोरथ पूर्ण होंगे, इस विषय में सन्देह बिलकुल मत करना।" यह पत्र पढ़ कर शिवाजी के धार्मिक और निष्ठायुक्त अन्तःकरण मे श्रीरामदासस्वामी के दर्शन की उत्कंठा और भी तीव्र होगई। तब वे अपने संग कुछ आदमी लेकर समर्थ के दर्शन को चाफल गये। परन्तु समर्थ का दर्शन न हुआ; क्योंकि वे एक स्थान मे न रह कर चाफल के आस-पास कृष्णा नदी के किनारे जंगल, दरी और खोरियों में विचरते रहते थे। महीपति ने अपने "संतविजय" में लिखा है कि इस प्रकार शिवाजी महाराज को कई बार निराश होना पड़ा। तोभी उन्होंने यत्न करना न छोड़ा। अन्त में एक दिन वे यह निश्चय करके घर से निकले कि

जब तक समर्थ का दर्शन न होगा और उनका प्रसाद न मिलेगा तब तक भोजन न करूँगा। इस तरह दृढ़ निश्चय करके, समर्थ का पता लगाते हुए, चाफल के जंगल में भटकते-भटकते जब वे बहुत विह्वल और आर्त होगए तब समर्थ के एक शिष्य-द्वारा उन्हें पता लगा कि समर्थ खड़ीक बाग में हैं। शिवाजी ने वहाँ जाकर दर्शन किया। दोनों में प्रेमपूर्ण वार्ता हुई। शाके १५७१, वैशाख शु० ९ गुरुवार के दिन समर्थ ने शिवाजी को उपदेश-मंत्र दिया और 'दासबोध' के तेरहवें दशक का 'लघुबन्ध' नामक छठवाँ समास अद्वैतज्ञान बताने के लिए सुनाया।

यह बात ऊपर कही गई है कि समर्थ एक स्थान में बहुत समय तक न रहते थे। कभी चाफल के मठ में रहते थे, कभी कृष्णा नदी के किनारे वन, पर्वतों की झाड़ियों में रहते थे और कभी देशपर्यटन या तीर्थयात्रा करने को चले जाते थे। इस कारण शिवाजी अपने गुरु का दर्शन नित्य नियमपूर्वक नहीं कर सकते थे। उनकी यही इच्छा थी कि समर्थ अपने समीप किसी स्थान में रहें तो नित्य समागमका लाभ हो। उन्होंने कई बार प्रार्थना भी की पर समर्थ ने विशेष ध्यान न दिया। तब शिवाजी ने एक पत्र भेजा जिसमें भिन्न भिन्न अनेक प्रसंगों का उल्लेख है। यह पत्र समर्थ और शिवाजी के पारस्परिक सम्बन्ध का ऐतिहासिक प्रमाण है। इस पत्र से जो बातें प्रकट होती हैं उनका कुछ सारांश नीचे दिया जाता है। इस पत्र से, पढ़नेवाले स्वयं निश्चय कर लेंगे कि समर्थ और शिवाजीमें का कैसा घना सम्बन्ध था:—

श्रीसमर्थ ने शिवाजी को उपदेशमंत्र देकर यह आज्ञा दी थी कि "तुम्हारा मुख्य धर्म राज्यसम्पादन करके धर्मस्थापना करना, देव और ब्राह्मणों की सेवा करना, प्रजा की पीड़ा दूर करके उसका पालन और रक्षा करना है।" उसी समय समर्थ ने यह आशीर्वाद भी दिया था कि "तुम्हारे मन में जो इच्छा होगी वह सब पूर्ण होगी।" इस आज्ञा के अनुसार शिवाजी ने राज्य सम्पादन का जो उद्योग किया वह सफल हुआ और उनका मनोरथ "स्वामी" के "आशीर्वाद के प्रताप" से पूर्ण हुआ। शिवाजी का यह विश्वास दृढ़ था कि "दुष्ट दुरात्मा जनों का नाश और विपुल द्रव्य प्राप्ति" श्रीगुरुचरणों के प्रताप ही का फल है। ऐसे समर्थ सद्गुरु रामदासस्वामी के चरण-कमलों में अपना सारा राज्य अर्पण करके शिवाजी ने यह इच्छा की थी कि, नित्य गुरुचरणों की सेवा करने का अवसर मिलना चाहिए। उस समय समर्थ ने यही कहा कि, "हमारे पहले बताये हुए धर्म के अनुसार बर्ताव ही सेवकाई है।" इसके बाद शिवाजी ने यह प्रार्थना की कि स्वामी किसी निकट के स्थान में रहें तो बार बार दर्शन का लाभ होगा और किसी स्थान में श्रीराम की मूर्ति स्थापित करके मठ का प्रबन्ध किया जाय तो सम्प्रदाय की वृद्धि होगी। इसके अनुसार समर्थ ने चाफल में श्रीराम की स्थापना तो की; परन्तु "स्वयं आस-पास के गिरिगह्वरों में ही रहा करते थे।" इसके बाद शिवाजी ने यह प्रार्थना की:—"श्रीराम की पूजा महोत्सव आदि धर्मकृत्य सांगोपांग करने के लिए कितने गांव

नियत किये जावें, सो आज्ञा दीजिए । ” इस पर समर्थ ने कहा, “ किसी विशेष उपाधि की आवश्यकता नहीं है । यदि श्रीराम की सेवा करने का तुम्हारा निश्चय ही है तो यथावकाश जो कुछ नियत करने की इच्छा हो सो करो । ” तब शिवाजी ने श्रीसमर्थसंप्रदाय की सेवा करने के हेतु गाँव और भूमि-दान की सनद लिख कर समर्थ को भेज दी और यह निवेदन किया कि, “ श्रीराम का उत्सव सदा करते रहने की मुझे आज्ञा दीजिए । ” शिवाजी का बहुत आग्रह देख कर समर्थ सितारा के पास सज्जनगढ़ के किले में रहने लगे । शिवाजी ने वहाँ एक मठ बनवा दिया ।

शिवाजी और समर्थ के सम्बन्ध मे जितनी बातें लिखी जायँ, सब थोड़ी ही होंगी । अब सिर्फ तीन और बातो का उल्लेख करके यह विषय समाप्त करेंगे ।

एक दिन समर्थ माहुली संगम पर स्नान, संध्या करके भिक्षा माँगते हुए सितारे में शिवाजी के महल में गये और “ जय जय श्रीरघुवीर समर्थ ” की गर्जना [illegible] माँगी । समर्थ की वाणी सुनते ही शिवाजी का हृदय गद्गद हो गया । वे विचार [illegible] कि ऐसे सत्पात्र सद्गुरु की झोली में क्या भिक्षा डाली जाय । तु[illegible] कागज पर यह लिखा कि, “ श्रीसमर्थ के चरणो में सब राज्य अर्पण कर [illegible] ।” [illegible] पर मोहर करके वे बाहर आये और वह पत्र समर्थ की झोली में डाल कर [illegible] दंडवत् किया । यह देख कर समर्थ ने पूछा, “ क्यो शिवबा यह कैसी भिक्षा डाली ? मुट्ठी भर चावल झोली में डाले होते तो दोपहर का समय कटता ! आज क्या कागज का टुकड़ा ही समर्पण करके हमारा आतिथ्य करते हो ? ” इतना कह कर जब उन्होंने वह कागज निकाल कर पढ़ा तब मालूम हुआ कि शिवाजी ने अपना सब राज्य अर्पण कर दिया है । समर्थ ने शिवाजी से पूछा, “ क्यों शिवबा, राज्य तो तुमने हमको दे दिया, अब तुम क्या करोगे ? शिवाजी ने हाथ जोड़ कर विनती की, “ आपकी चरण-सेवा में रह कर समय व्यतीत करूंगा । ” यह सुन कर समर्थ हँसे और कहा, “ बाबा ! जो जिसका काम है वह उसीको करना उचित है । ब्राह्मणों को जप-तप करके ज्ञान सम्पादन करना चाहिए और क्षत्रियों को क्षात्रधर्म ही का पालन करना चाहिए । इस प्रकार अपना अपना कर्तव्य करते रहने से ही मोक्ष-प्राप्ति होती है । अपना अपना कर्म यथोचित रीति से पूर्ण करने ही मे जन्म की सार्थकता है । पूर्व समय में रामचन्द्र ने भी अपने कुलगुरु वसिष्ठ को आधा राज्य अर्पण कर दिया था । उस समय वसिष्ठजी ने श्रीराम को योगवासिष्ठरूप से नीति, न्याय और धर्म का उपदेश किया और उनका राज्य उन्हें लौटा दिया । राजा जनक ने भी याज्ञवल्क्य को राज्य अर्पण किया था । उस समय उन्होंने जनक को राजधर्म का उपदेश किया । शिवबा ! हम वैरागियों को राज्य की क्या जरूरत है ? कदाचित् हमने अंगीकार भी कर लिया तो उसके सँभालने के लिए प्रधान की जरूरत है । प्रधान तू ही बन और राज्य हमारा समझ कर उसका प्रबन्ध कर । ” यह उपदेश सुनते ही शिवाजी का अन्तःकरण गद्गद हो गया । जब उन्होंनें समझा कि, अब बिना राज्य लौटा लिये और कोई उपाय नहीं

है तब उन्होनें समर्थ से प्रार्थना कीः—“ अब कृपापूर्वक आप अपनी पादुका मुझे दीजिए। उन्होंको स्थापन करके मैं आपके प्रधान की तरह राजकाज करूँगा। ” समर्थ ने यह प्रार्थना स्वीकार की। उसी समय से शिवाजी महाराज ने अपने राज्य की निशानी, अर्थात् झंडा, भी भगवे रंग का कर दिया। मराठों का “ भगवा झंडा ” इतिहास में प्रसिद्ध ही है।

शिवाजी महाराज जब सामनगढ़ का किला बनवा रहे थे तब एक दिन किले के काम में लगे हुए सैंकड़ों आदमियों को देख कर उनके मन में यह विचार आया कि मैं इतने मनुष्यों का पालन कर सकता हूँ, इसलिए मुझे धन्य है। इस विचार के साथ ही साथ शिवाजी के मन में एक प्रकार का अभिमान भी आगया। इतने ही में अकस्मात् समर्थ वहाँ जा पहुँचे। उन्हें देख कर शिवाजी ने दण्डवत्–प्रणाम किया और अकस्मात् पधारने का कारण पूछा। समर्थ ने कहा कि, “ तू श्रीमान् है। हजारों मनुष्यों का पालनकर्ता है; इसीलिए मैं तेरा कारखाना देखने आया हूँ। ” शिवाजी ने कहा कि यह सब आप ही की कृपा का फल है। इस प्रकार वातालाप करते हुए समर्थ की दृष्टि, समीप पड़े हुए एक पत्थार की ओर गई। पत्थर को देख कर समर्थ ने कहा कि, इस पत्थर को एक बेलदार से अभी तुड़वा डालो। शिवाजी की आज्ञा पाकर एक बेलदार उस पत्थर को तोड़ने लगा। समर्थ ने कहा इसमें बहुत धक्का न लगन पावे और दो टुकड़े बराबर करो। पत्थर के दो टुकड़े होते ही भीतर के पोले भाग से कुछ पानी और एक जीवित मेंढ़की निकल पड़ी। यह चमत्कार देख कर सब को परम आश्चर्य मालूम हुआ। समर्थ ने कहा, “ शिवाबा! तुम्हारी योग्यता बहुत बड़ी है और तुम्हारी लीला अगाध है। देखो, ऐसी आश्चर्यकारक बात किससे हो सकती है? ” शिवाजी ने कहा, “इसमें मेरा क्या है?” समर्थ ने कहा, “ क्यों नहीं? तुम्हारे सिवा और कर्ता कौन है? तुम्हारे बिना जीवों का पालन और कौन कर सकता है?” शिवाजी महाराज अपने मन में समझ गये और बोले, “ मुझ पामर से कुछ नहीं हो सकता। इस दास को क्षमा कीजिए। ” समर्थ ने कहा, “ मैं क्षमा करने ही के लिए यहाँ इस समय आया हूँ। परन्तु इतना बतला देना आवश्यक है कि भैया, तुम उस सरकार (राम) के बड़े नौकर हो। तुम्हारे हाथ से वह औरों को देता है। इतनी बात से तुम्हें इस प्रकार का अभिमान कभी न करना चाहिए। ” यह सुन कर शिवाजी महाराज को बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने समर्थ के चरणों पर गिर कर, बार बार क्षमा माँगी।

एक दिन सज्जनगढ़ में भोजन के बाद समर्थ शिष्य–मंडली के प्रश्नों का उत्तर देते हुए आसन पर बैठे थे। इतने में उन्हें अपने शरीर पर एक चट्टा उठा हुआ देख पड़ा। उसे देख कर समर्थ को स्मरण हुआ कि हमारी माता ने, हमारे लिए, देवीजी को सोने के पुष्प अर्पण करने का संकल्प किया था। वह सकल्प पूरा नहीं हुआ। अतएव प्रतापगढ़ पर, जहाँ शिवाजीने देवी की स्थापना की थी, समर्थ देवीजी को स्वर्ण–पुष्प अर्पण करने को गये, वहाँ समर्थ ने देवीजी की जो स्तुति की है उसमें उनके आत्मचरित का भी कुछ उल्लेख है। अन्तिम चार

पद्यों में शिवाजी के सम्बध मे जो प्रार्थना उन्होंने की है वह ध्यान मे रखने योग्य है । उसका भावार्थ यह है, " हे माता, मेरी सिर्फ एक प्रार्थना है, यदि वरदान देना है तो यही वरदान दे कि, जिसका तू अभिमान रखती है, और जो सर्वथैव तेरा है, उस शिवाजी की रक्षा कर। उसको हमारे देखते ही देखते वैभव के शिखर पर चढ़ा दे । मैंने सुना है कि आज तक तूने अनेक दुष्टों का संहार किया है; परन्तु, अब इस समय उस बात की प्रतीति मुझे करा दे । सब देवगण हम लोगों को भूल से गये हैं । तू अब हम लोगों के सत्व की कितनी परीक्षा लेगी ! हे देवि ! अपने भक्तों का मनोरथ शीघ्र पूर्ण कर; मैं अत्यन्त आर्त हो गया हूँ; इसलिए क्षमा कर और मेरी इच्छा सफल कर । " धन्य है शिवाजी महाराज को ! जिनकी ऐश्वर्यवृद्धि के लिए उनके सद्गुरु समर्थ देवी की इस तरह प्रार्थना करते हैं ! इससे अधिक और कौन बात समर्थ और शिवाजी के पारस्परिक सम्बन्ध मे लिखी जाय ? जिस महत्कार्य के लिए श्रीरामदासस्वामी ने अपना सारा पुण्य खर्च किया—अपना सारा सामर्थ्य लगाया—वह उनकी इच्छानुसार श्रीरामचन्द्रजी महाराज ने पूरा भी किया। यह बात आगे दिये [illegible] सिंहावलोकन से प्रकट हो जायगी ।

समकालीन उपदेशक ।

श्रीरामदासस्वामी ने अपने जीवन-काल में स्वधर्म स्थापना और समाजहित का [illegible] अलौकिक कार्य महाराष्ट्र मे किया उसमें उनके समय के अनेक उपदेशकगण, अर्थात् साधुसंत और कवि लोग, भी सहायक थे । उस समय महाराष्ट्र-समाज को अपनी उन्नति करने के लिए सनातनधर्म की व्यापकता, जातिबन्धन की अनिष्टता, कर्तव्यपरायणता, एकता आदि जिन गुणों की आवश्यकता थी उनकी शिक्षा अनेक साधु संत और कविजन अपने बर्ताव और उपदेश-द्वारा दे रहे थे । पहले पहल सब धार्मिक ग्रन्थ संस्कृत-भाषा मे थे इससे विद्वान् और पण्डित लोगों के सिवा और कोई लाभ नहीं उठा सकते थे । परन्तु समर्थ-कालीन सब साधु-संत और कविजनों ने अपना उपदेश मराठी भाषा ही में करना आरम्भ किया । इस कारण यद्यपि उन लोगों को कुछ अहंकारी पुरुषों-द्वारा कष्ट सहना पड़ा, तथापि उनके मातृ-भाषा-प्रेम से बहुजन समाज का असाधारण हित हुआ । यूरप में जिस प्रकार लूथर ने बाइबल का अँगरेजी भाषा में अनुवाद करके धर्मक्रान्ति का बीज बोया, उसी प्रकार महाराष्ट्रीय उपदेशकों ने (विशेषतः रामदासस्वामी के समय के और उनके बाद के उपदेशकों ने) संस्कृत में छिपा हुआ सारा ज्ञान भाण्डार मराठी-द्वारा सर्वसाधारण लोगों को सुगम और सुलभ बना दिया । सन् १८९५ की पूना सार्वजनिक सभा की त्रैमासिक पत्रिका में इस विषय में यह लिखा है:—

The Saints and Prophets addressed the people both in speech and writing in their own vernacular and boldly opened the hitherto hidden unknown treasures to all and sundry men and women, Brahmans and Shudras alike. These early Marathi writers knew

that modern India, after Budhistic revolution was less influenced by the Vedas and Shastras, then by the Ramayana and Mahabharat the Bhagawat, Pnran and the Gita, and these latter works were translated and made accessible to all.

इस उपाय से महाराष्ट्र में धर्मजागृति होकर लोग अपने समाज और देश का हित सम्पादन करने में समर्थ हुए। इस प्रकार, समर्थ के समय में, जिन महात्माओं ने स्वधर्म, स्वजन और स्वभाषा की सेवा की है उनमें से कुछ लोगों का संक्षिप्त वृत्तांत देना आवश्यक है। जयरामस्वामी, रंगनाथस्वामी, आनन्दमूर्ति, केशवस्वामी, मोरयादेव, तुकाराम बाबा, वामनपण्डित, देवीदास, कूर्मदास, दामाजी, बोधले बाबा, नृसिंहसरस्वति: मुक्तेश्वर, विट्ठल कवि, अनंतकवि, आनन्दतनय, निरंजनस्वामी, शेख महम्मद, शिवदीन इत्यादि अनेक साधु कवि, समर्थ के समकालीन थे। इन सब लोगों के विषय में यदि थोड़ थोड़ा भी लिखा जाय तो प्रस्तुत लेख बहुत बढ़ जायगा। इसलिए इनमें से प्रथम चार साधु पुरुषों के विषय में कुछ लिख कर यह भाग समाप्त करेंगे।

महाराष्ट्र में " रामदास-पंचायतन " बहुत प्रसिद्ध है। इस पंचायतन में श्रीरामदासस्वामी के साथ जयरामस्वामी, रंगनाथस्वामी, आनन्दमूर्ति और केशवस्वामी शामिल हैं। जयरामस्वामी के पिता भिकाजीपन्त देशपांडे कासराबाद में माँडवगण नामक गाँव के निवासी थे। उनकी माता का नाम कृष्णाबाई था। जयरामस्वामी बहुत दिनों तक अपनी माता के साथ पंढ़रपुर में रहते थे। वहाँ भजन-भाव करने पर भगवद्दर्शन होने के बाद वे बड़गांव में कृष्णाजी आपा अभयंकर के पास गये। उनके उपदेश से वे रामदासस्वामी के शिष्य हुए। उन्होंने शान्तिपंचीकरण, सीतास्वयंवर, रुक्मिणीस्वयंवर नाम के ग्रन्थ लिखे हैं। सन् १६७२ में इनकी मृत्यु हुई। रंगनाथस्वामी के पिता का नाम गोपालपन्त और माता का नाम बया-बाई था। रंगनाथस्वामी के ज्येष्ठबन्धु ब्रह्मानन्दस्वामी भी प्रसिद्ध साधु पुरुष थे। उनके पुत्र सुप्रसिद्ध श्रीधर कवि ने रामविजय, हरिविजय, पांडवप्रताप, भगवद्गीता, शिवलीलामृत आदि अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, जो महाराष्ट्र में स्त्री-पुरुष, छोटे-बड़े सब लोग प्रति दिन पढ़ा करते हैं। श्रीरामदासस्वामी के नित्यदर्शन की अभिलाषा करके रंगनाथस्वामी सज्जनगढ के समीप ही निगड़ी गाँव में मठ बना कर रहते थे। ये स्वामी बड़े राजयोगी और विलासी थे। हमेशां सरदारी ठाट से रहते थे। सिर पर रेशमी जरीदार शाफा; कानों में बहुमूल्य मोतियों की बाला, बदन में जरीदार अँगरखा, हाथ में भाला, पीठ पर ढ़ाल और तीर-कमान, बायें पैर में चाँदी का कड़ा धारण किये रहते थे। आप एक कीमती घोड़े पर आरूढ़ होकर बाहर निकलते और साथ में पचीस तीस लँगोटिये ब्रह्मचारी शिष्य रहते थे। स्वयं रंगनाथस्वामी भी बालब्रह्मचारी थे। वे पायजामे के भीतर एक लंगोट भी लगाते थे। वृहद्वाक्यवृत्ति वि-सदानन्दलहरी और वसिष्ठसार आदि कई उत्तम उत्तम ग्रन्थ उन्होंने लिखे

हैं । सन् १६८४ मे उन्होंने समाधि ली । आनन्दमूर्ति - रंगनाथस्वामी के शिष्य थे । समर्थ उनको ' चिरंजीव ' कहते थे । सन् १६९६ में वे समाधिस्थ हुए । ब्रह्मनाल में उनकी समाधि है । उन्होंने बहुत से फुटकर पद्य रचे हैं । केशवस्वामी हैदराबाद के भागानगर में रहते थे । उनके गुरु का नाम काशिराजस्वामी था एकादशीचरित्र और कुछ स्फुट अभंग, पद आदि कविता उन्होंने रची है । सन् १६२८ मे उनका स्वर्गवास हुआ ।

रामदास–पंचायतन के उपर्युक्त चारों साधु और उनके समय के अन्य साधु तथा कवि-जन श्रीरामदासस्वामी का बहुत सन्मान करते थे । सुप्रसिद्ध महाराष्ट्र–कवि वामनपण्डित संस्कृत के बड़े विद्वान् शास्त्री थे । काशी से रामेश्वर तक अपनी अपूर्व विद्वत्ता स्थापित करके उन्होंने तत्कालीन पंड़ितो से अनेक जयपत्र प्राप्त किये थे । उन्होंने मराठी भाषा में तो अनेक उत्तम उत्तम ग्रन्थ लिखे ही हैं, पर कई ग्रन्थ उन्होंने संस्कृत में भी [illegible] से " निगमसार " बहुत प्रसिद्ध है । पहले वे मराठी की निन्दा करते थे [illegible] सम्बन्ध में विशेष पूज्यभाव न रखते थे जब उनकी रामदासस्वामी [illegible] तब से उनका सारा गर्व चला गया । रामदासस्वामी ने उनकी सब [illegible] अपने अनोखे चमत्कारो से उन्हे चमत्कृत करके साधुओ के विषय में [illegible] उत्पन्न की । उन्होंने वामनपंड़ित को अपना शिष्य बनाया और मराठी [illegible] का उपदेश दिया । उस समय से वामन पंड़ित ने मराठी में पचास साठ ग्रन्थ लिखे । उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता पर जो टीकात्मक ओवीबद्ध ग्रन्थ लिखा है वह अद्वितीय है । कहते हैं कि इनके सारे ग्रन्थों के पद्य बारह लाख के करीब हैं । इस प्रकार रामदासस्वामी ने अपने समय के पंड़ितों के मन में मराठी के विषय में प्रेम उत्पन्न किया ।

समर्थ के शिष्यगण और साम्प्रदायिक मठ ।

यह बात निश्चित रूप से नहीं बतलाई जा सकती कि श्रीसमर्थ रामदासस्वामी के शिष्य कितने, कहाँ और कौन कौन थे; उन्होंने कितने और कौन कौन स्थानों में अपने सम्प्रदाय के मठ स्थापित किये: और किन किन लोगों को मठाधिपति या ' महंत ' बनाया । वर्तमान समय में जो विद्वान् लोग महाराष्ट्र के ऐतिहासिक और प्राचीन काव्यसाहित्य की खोज में लगे हैं उनका यह कथन है कि श्रीरामदासस्वामी ने हजारों शिष्य और सैंकड़ों महन्त बनाए थे और अनेक स्थानों में अपने मठ स्थापित किये थे । उनके शिष्य और महन्त गण सारे हिन्दुस्थान में, विशेष करके महाराष्ट्र में भ्रमण करके स्वधर्म और सुनीति का उपदेश करके लोगों मे जागृति उत्पन्न करते थे । इन सब लोगो की ठीक ठीक गिनती करना अब कठिन है । स्वयं समर्थ ने दा० बो० दशक १९, समास १० में लिखा है, " कितने लोग हैं सो मालूम नही; यह नही मालूम कि कितना समुदाय है; सब लोगो को श्रवण और मनन में लगानेवाले इस समुदाय की गणना नहीं हो सकती । " उनके प्रसिद्ध महन्त कल्याण-स्वामी एक स्थान में लिखते हैं, " इस भूमंडल में समर्थ की भक्तमंडली की गणना कोई नहीं कर सका । " गिरिधरस्वामी तो यह लिखते हैं कि, " समर्थ ने कितने ही महन्त और शिष्य

गुप्त रीती से रक्खे थे; उन्हें समर्थ के सिवा और कोई नहीं जानता।" तात्पर्य यह है कि श्रीसमर्थ ने अपने जीवनकाल में जो अनेक शिष्य और महन्त बनाये थे और अनेक स्थानों में मठस्थापना की थी उन सबका इस समय पता लगाना, केवल कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव सा जान पड़ता है।

यद्यपि समर्थ के सब शिष्यगणों की गणना करना असम्भव है, तथापि उनके चरित का जिन जिन महानुभावों ने वर्णन किया है उन्होंने कुछ महन्तों, शिष्यों और मठों के नाम भी दिये हैं। धुलिया (खानदेश) की सत्कार्योत्तेजक सभा ने श्रीरामदासस्वामी की कविता का प्रथम खण्ड गत वर्ष में प्रकाशित किया है। उसकी प्रस्तावना में श्रीरामदास-सम्प्रदाय के महन्तों, शिष्यों और मठों का कुछ वर्णन दिया है। उसी के आधार पर हम कुछ बातें यहाँ पर लिखते हैं।

(अ) श्रीसमर्थ के महन्त। अभी तक कुल ८९ महन्तों का पता लगा है। उनमें से कुछ के नाम ये हैं:—१ कल्याणस्वामी, डोमगाँव के मठ में। २ दत्तात्रेयस्वामी, शिरगाँव के मठ में। ३ वासुदेवस्वामी, कण्हेरी के मठ में। ४ देवदास, दादेगाँव के मठ में। ५ उद्धवस्वामी, टाकली और इन्दूरबोधन के मठों में। ६ दिवाकरस्वामी, चाफल के मठ में। ७ अनन्त मौनी, कर्नाटक के मठ में। ८ विश्वनाथ पण्डित को समर्थ ने उत्तर हिन्दुस्थान में भेजा था। ९ बालकृष्ण, बरार में रहते थे। १० माधव, यादव और वेणीमाधव प्रयाग में रहते थे। ११ जनार्दन, सूरत में रहते थे। १२ श्रीधर, रामकोट में। १३ गोविन्द, गोवा में। १४ शिवराम, तैलंग-प्रान्त में। १५ शंकर, श्रीरंगपट्टन में। १६ हरिश्चन्द्र, अन्तर्वेदी में। १७ रामकृष्ण, अयोध्या में। १८ हरिकृष्ण, मथुरा में। १९ जयकृष्ण, मायापुरी में। २० रामचन्द्र, काशी में। २१ भगवन्त, कांची में। २२ हरि, द्वारिका में। २३ दयाल, बदरीकेदार में। २४ ब्रह्मदास, ओंकारेश्वर में। २५ बल्लाल, जगन्नाथ में। २६ हनुमान, रामेश्वर में।.

ये नाम इन लोगों के मूल नाम नहीं हैं। बहुतेरे नाम समर्थ के रक्खे हुए हैं। इस देश के प्रायः सब प्रधान स्थानों में उनके महन्त रहते थे। ऐसा एक भी तीर्थक्षेत्र नहीं था जहाँ उन्होंने अपना महन्त न भेजा हो। ये महन्त पहले बहुत दिनों तक, शिष्य की तरह पर, समर्थ के पास ही रह कर सम्प्रदाय की शिक्षा पाते थे। वे परमार्थमार्ग का रहस्य भली भाँति समझ लेते; समर्थ के ग्रन्थों की नकल करके श्रद्धापूर्वक पारायण करते; उनके गूढ़ तत्त्वों का स्वयं अनुभव प्राप्त करते; शास्त्रवचन, गुरुवचन और आत्मानुभव का निश्चय करते थे। इसके बाद—

> आतां होणार तें होये ना का। जाणार तें जाये ना का॥
> तुटली मनांतील आशंका। जन्ममृत्यूची॥ ४४॥
>
> द० ६ स० २।

"अब जो कुछ होना सो क्यों न हो और जो कुछ जाना हो सो क्यों न जाय! अब मरने-जीने का कोई डर नहीं रहा।" इस प्रकार की निश्शंक और निर्भय वृत्ति से जगत् के उद्धार का कठिन कार्य करने के लिए, श्रीसमर्थ की आज्ञानुसार, सारे हिंदुस्थान में या

किसी एक विशिष्ट प्रान्त मे भ्रमण करते थे । महन्त का मुख्य कर्तव्य उन्होंने यही रक्खा था:--

महन्तें महन्त करावें । युक्ति बुद्धीनें भरावें ॥
जाणतें करून विखरावें । नाना देशीं ॥ २५ ॥
दा० बो० द० ११ स० १० ।

" महन्त को चाहिए कि वह और अनेक महन्त बनावे तथा उनमे युक्ति और बुद्धि अच्छी तरह भर दे--इस प्रकार अनेक ज्ञाता महन्त बनाकर, उसे चाहिए कि, नाना देशों मे--देश के नाना प्रान्तो मे--फैला दे । " इस कर्तव्य का यथोचित पालन करने के लिए परिभ्रमण, विवेक, कष्ट-सहन-शक्ति, मृत्यु के विषय मे निर्भयता, यश की लालसा, वैराग्य, [illegible] चातुर्य या विचक्षणता, मृदुवचन, क्षमा, शान्ति, सहिष्णुता, परोपकार-बुद्धि, [illegible] इच्छा या उत्कंठा आदि अनेक विशिष्ट गुणों की आवश्यकता है । इन सब गुणों का वर्णन समर्थ ने अपने ग्रन्थों मे (विशेष कर दासबोध मे) किया है । खेद की बात है कि अब तक प्रमाण सहित इस बात का पूरा पूरा पता नही लग सका है कि समर्थ के ये सब महन्त भ्रमण करते, या मठ मे रहते हुए, क्या क्या काम, किस प्रकार, किया करते थे; उनके काम करने की रीति या प्रणाली कैसी थी; वे स्वयं किस प्रकार रहते थे—उनका बर्ताव कैसा था ; इन महन्तो के कार्यों का सप्रमाण इतिहास मिल जाने से श्रीरामदासस्वामी के जीवनचरित के मुख्य भाग पर अप्रतिम प्रकाश पड़ेगा ।

(आ) श्रीसमर्थ के शिष्य । इसमें सन्देह नही कि उनके, हजारों स्त्री और पुरुष, शिष्य थे । पुरुषों मे सिर्फ एक छत्रपति शिवाजी महाराज का नाम लिख देना, इस लेख के लिए, बस होगा । स्त्री-वर्ग में सीताबाई, चिमणाबाई, अम्बिका, द्वारकाबाई, भवाबाई, कृष्णाबाई, वेणूबाई, मनाबाई, अन्नपूर्णा, गंगाबाई, गोदाबाई आदि प्रसिद्ध हैं । वेणूबाई ने सीतास्वयंवर, मंगलरामायण, छन्दोरामायण, संकेतरामायण, लवकुशरामायण, सुन्दररामायण, अब्दनारायण और भाषारामायण आदि कई ग्रन्थ रचे हैं ।

समर्थ के ग्रंथ ।

प्राचीन कवि और साधुओं का ग्रन्थ-समुदाय ही ऐतिहासिक दृष्टि से राष्ट्रिय साहित्य है । उसका जितना सूक्ष्म और मार्मिक रीति से अभ्यास किया जायगा उतना ही उस समय का राष्ट्रीय ज्ञान अधिक होगा । प्राय: देखा जाता है कि भारत के किसी भी प्रान्त की प्राकृत भाषा मे पहले गद्य-ग्रन्थ लिखने की प्रणाली न थी । यद्यपि बोलचाल की भाषा गद्य ही थी और दरबारी कागजपत्र भी गद्य ही की भाषा मे लिखे जाते थे; पर कवि और साधु लोग प्राय: पद्य में ही ग्रन्थरचना करते थे । हाँ, इन साधु और कवियों की रचना-शैली में और भिन्न छन्दो के चुनने में अवश्य भेद पाया जाता है । प्राय: प्राचीन साधुओं की कविता पौराणिक विषयों के आधार पर रची हुई पाई जाती है । उनकी कविता में स्वतंत्र रचना बहुत कम देख पड़ती है । श्रीरामदासस्वामी ने किसी एक पौराणिक

विषय पर बहुत कम रचना की है । उनकी प्रायः सब रचना स्वतंत्र है। उन्होंने योंही मनोरंजन के लिए कोई कविता नहीं लिखी; उनकी सारी कविता में कोई न कोई मुख्य हेतु है। प्राचीन प्रथा के अनुसार समर्थ ने भी अपने सब ग्रन्थ पद्यात्मक लिखे हैं । बात केवल इतनी ही है कि काव्यरस की प्रधानता को अपना हेतु समझ कर उन्होंने ग्रन्थों का रचना पद्यात्मक नहीं की; किन्तु उन्होंने अपने सब ग्रन्थ उपदेश के लिए रचे हैं; अर्थात् जनसमाज का सुधार ही उनके ग्रन्थों का प्रधान हेतु है। इससे यह अनुमान निकल सकता है कि यदि उस समय गद्य लिखने की प्रथा होती तो वे भी अपने ग्रन्थ गद्य ही में लिखते।

अब यह देखना चाहिए कि समर्थ कवि थे या नहीं; यदि वे कवि थे तो किस श्रेणी के कवि थे ? उनकी पद्य रचना को देखकर ही बहुतेरे लोग उन्हें ' कवि ' कहते हैं । इसका कारण यही है कि सर्वसाधारण लोग पद्य-रचना ही को काव्य समझने लगे हैं । परन्तु साहित्य-शास्त्र की परिभाषा के अनुसार समर्थ कवि नहीं थे। हाँ, समर्थ ने ' कवि ' और ' कविता ' के जो लक्षण अपने " दासबोध " में बताये हैं, और जिनका उल्लेख हम आगे चल कर करेंगे, उनके अनुसार वे ' कवि ' —अर्थात् आधुनिक भाषा में प्रतिभाशाली और-प्रासादिक उपदेशक- अवश्य थे। उनकी कविता में प्रसाद गुण भरा हुआ है और मनोहर दृष्टान्तों की भी विपुलता है। परन्तु उन्होंने अपने ग्रन्थों में दृष्टान्तों की योजना, किसी काव्य-ग्रन्थ की तरह, केवल रमणीयता या चमत्कार उत्पन्न करने के लिए, नहीं की है। जहाँ जहाँ दृष्टान्त दिये गए हैं वहाँ वहाँ प्रतिपादित विषय का परिपोषण ही प्रधान हेतु है। उनके ग्रन्थों में अद्भुत वक्तृत्व-शक्ति पाई जाती है । विषय-निरूपण का प्रवाह ऐसा अप्रतिबद्ध है; शब्दों की योजना ऐसी समुचित है और विचार-पद्धति ऐसी चित्ताकर्षक है कि पढ़नेवाले को यही भास होता है कि मानो कोई साक्षात् ब्रहस्पति या वाचस्‌ व्याख्यान दे रहा है। यही कारण है कि उनके दासबोध में प्रतिपादित सिद्धान्त- तात्विक, गहन और शास्त्रीय होने पर भी, ऐसा मालूम होता है कि मानो हम कोई आह्‌ जनक काव्य ही पढ़ रहें-हैं।

उपर्युक्त विवेचन से पाठकों को यह मालूम हो जायगा कि उनके ग्रन्थों का स्वरूप है और श्रीरामदासस्वामी कैसे उत्तम उपदेशक कवि थे। आधुनिक कवियों की दृष्टि उनके ग्रन्थों में अनेक काव्यगुण पाए जाते हैं। उनके रामायण के युद्धकाण्ड में रस का अच्छा परिपाक हुआ है, उनके पद और अभंगों में करुणा-रस का उ आविर्भाव हुआ है। ' दासबोध ' में निद्रा का निरूपण करते हुए उन्होंने हास्य-रस बीभत्स रस का अच्छा चित्र खींचा है । काव्य-चमत्कृति के भी दो एक उदाहरण ग्रन्थों में मिलते हैं। दासबोध के चौदहवें दशक के चौथे समास में ' एकाखड़ी ' अक्षरालंकार है।

अब यह देखना चाहिए कि समर्थ के विचार कवि और कविता के सम्बन्ध में थे। इससे पाठकों को यह बात, समर्थ ही के मुख से, भलीभाँति मालूम हो जायगी

कैसे कवि थे। समर्थ के मतानुसार गद्य पद्य ग्रन्थ लिखनेवाले और नाना शास्त्रों की ऊहा-पोह—विवेचनपूर्वक चर्चा—करनेवाले पुरुष कवि हैं। इतना ही नहीं; किन्तु वे प्रासादिक कवि हैं। समर्थ की दृष्टि से प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति ही कवि है। नवरसात्मक कविता रचनेवाला कवि, गणितशास्त्री, वेदान्ती, योद्धा, चित्रकार, साधु, व्याख्याता, शिल्पी, कोई भी हो, यदि उसमें प्रतिभा के लक्षण हैं तो वह 'कवि' है। समर्थ के मत से कविता केवल ग्रन्थ-रूप ही से नहीं होती; किन्तु वह आचाररूप भी हो सकती है। साधन पुरश्चरण, तप, तीर्थाटन, धैर्य, शौर्य और धृति आदि की क्रियाएं भी कवित्व मे शामिल हैं। तात्पर्य यह है कि विचार और आचार दोनों मे, ईश्वरीय दिव्य अंश या प्रतिभा का होना ही कवित्त्व का लक्षण है। महात्मा तुलसीदासजी की तरह समर्थ ने भी नरस्तुति-विषयक कविता का निषेध किया है। उनकी राय है कि "उदरशान्ति के लिए की हुई नरस्तुति की कविता में अपनी व्युत्पत्ति—बुद्धिमानी या चमत्कार—दिखलाना अधमता का लक्षण है।" समर्थ अपने दासबोध में भक्तकवि का वर्णन करते हुए प्रासादिक कविता का लक्षण बतलाते हैं:—

नाना ध्यानें नाना मूर्ती। नाना प्रताप नाना कीर्ती।
तयापुढें नरस्तुती। तृणतुल्य वाटे॥ २२॥
त्याचें भक्तीचें कौतुक। तथा नाव प्रासादिक।
सहज बोलतां विवेक। प्रगट होये॥ ३४॥

"ऐसे कवि की वाणी से सहज ही–स्वाभाविक या स्वयं—जो हरिभक्ति का कौतुक प्रकट होता है—ईश्वर के नाना प्रकार के ध्यानों का, नाना प्रकार की मूर्तियों का और नाना प्रकार के प्रताप और कीर्ति का आविर्भाव होता है—उसीका नाम प्रासादिक कविता है। उस कविता के सामने नरस्तुति तृणतुल्य है।" अब देखिए, समर्थ के इसी विचार को महात्मा तुलसीदास, प्रासादिक कवि होने के कारण, किस काव्यचमत्कृति के साथ, अपने अद्वितीय ग्रन्थ "रामचरितमानस" में बतलाते हैं:—

भगति-हेतु बिधि-भवन बिहाई।
सुमिरत शारद आवति धाई॥
कवि कोविद अस हृदय बिचारी।
गावहिँ हरि जस कलि-मल-हारी॥
कीन्हे प्राकृत-जल-गुन-गाना।
सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥

प्र० सो०, चौ० ११।

भक्ति का वर्णन करने लिए शारदा, (वाणीरूप से), सुखमय विधि-भवन छोड़ कर, कवियों के हृदय में दौड़ आती है और यही समझ कर कोविद कवि, कलिमल को हरण करनेवाला हरियश गाते हैं, अपने पेट के लिए बलात् वाणी को कष्ट देकर, प्राकृतजनों के गुणगान करने से गिरा (सरस्वती या वाणी) सिर धुन कर पछताती है।

ऊपर के विवेचन से पाठक-गण यह बात समझ गये होंगे कि समर्थ किस श्रेणी के कवि हैं और कवि तथा काव्य के सम्बन्ध में उनके विचार कैसे हैं । अब हम उनके ग्रन्थ-समुदाय का कुछ परिचय पाठकों को दिलाते हैं । समर्थ के उपदेश-ग्रन्थों का भाण्डार अपरिमित है । समर्थ के शिष्य अनन्त कवि ने समर्थ के ग्रन्थों को समुद्र की उपमा दी है । इसमें सन्देह नहीं कि उनका ग्रन्थ-समुदाय समुद्र की तरह व्यापक और अथाह है; गंभीर है; और उसमें अनेक रत्न भरे पड़े हैं । श्रीरामदासस्वामी के ग्रन्थों की खोज महाराष्ट्रीय विद्वज्जन बहुत दिनों से कर रहे हैं । कई प्रकाशकों ने उनके "समग्र ग्रन्थ" प्रकाशित भी किये हैं । पर विद्वानों की राय में वे 'समग्र' नहीं कहे जा सकते; क्योंकि उनके ग्रन्थसागर के बहुत थोड़े ग्रन्थ-रत्न अभी तक मिले हैं । धुलिया (खानदेश) की सत्कार्योत्तेजक सभा ने स्वयं समर्थ के और उनके (रामदासी) सम्प्रदाय के सब ग्रन्थ प्रकाशित करने का बीड़ा उठाया है । इस सभा ने अब तक श्रीसमर्थ के ग्रन्थों में से "दासबोध" (रायल अठपेजी आकार के करीब ५०० पृष्ठ) और "रामायण" आदि कुछ ग्रन्थ (करीब १००० पृष्ठ) प्रकाशित किये हैं । इनके सिवा और बहुत से ग्रन्थ सभा के पास, प्रकाशित होने के लिए रक्खे हैं । खोज करने से प्रतिवर्ष कुछ न कुछ नवीन कविता प्राप्त हो जाती है । इससे जान पड़ता है कि श्रीरामदासस्वामी के "समग्र ग्रन्थ" इस समय न तो उपलब्ध हैं और न प्रकाशित हैं । उपलब्ध ग्रन्थों के नाम नीचे दिये जाते हैं; इनमें कुछ अप्रकाशित ग्रन्थों के नाम भी हैं ।

१ दासबोध २ रामायण ३ मन के श्लोक ४ चौदा शतक ५ जनस्वभाव गोसावी ६ पंचसमासी ७ जुनाट पुरुष ८ मानसपूजा ९ जुना दासबोध १० पंचीकरणयोग ११ चतुर्थ योगमान १२ मानपंचक १३ पंचमान १४ रामगीता १५ कृतानिर्वाह १६ चतुःसमासी १७ अक्षरपदसंग्रह १८ सप्तसमासी १९ रामकृष्णस्तव २० दासबोध, आदि, आदि । उपर्युक्त ग्रन्थों के सिवा स्फुट अभंग, स्फुट श्लोक, आरती, भूपाली, विविध पद, आदि अनेक स्फुट प्रकरण भी उपलब्ध हैं ।

सिंहावलोकन ।

श्रीसमर्थ रामदासस्वामी ने अपने अवतार की समाप्ति के पहले, अपने संकल्पित कार्यों की सिद्धि के विषय में स्वयं ही अपनी कविता के अनेक "स्फुटप्रकरणों" में उल्लेख किया है, उसीको श्रीसमर्थचरित का सिंहावलोकन समझना चाहिए । हमको अपनी स्वतंत्र कल्पना के अनुसार चरित्र का सिंहावलोकन करने की आवश्यकता नहीं है । चाफल के जंगल में घूमते हुए, या कभी एकान्त में बैठे हुए, शिष्यों के प्रश्न उठाने पर, जब समर्थ को अपने जीवन की पिछली बातों का स्मरण हो आता था तब वे अपने उपास्य देव श्रीराम की स्तुति करने लगते और भगवान् की महिमा कविता में गाते गाते अपने जीवन-चरित्र की अनेक बातों का सहज उल्लेख कर जाते थे । समर्थ के जिन "स्फुट प्रकरणों" में उनके आत्मचरित्र का कुछ परिचय मिलता है वे सब इसी सहज और आनन्दावस्था के

प्रमोद्गार हैं । इन पद्यों में समर्थ ने यह कहीं नहीं लिखा कि ये सब काम मैंने किये; सब जगह " राम कर्ता, राम भोक्ता " ही कहा है । समर्थ जैसे निरहंकारी और निस्पृह साधु पुरुष को यही उचित भी था । हमारे समान साधारण जन, जो अहंकार मे फँसे पड़े हैं, वेही " मैंने " और ' मेरा " कहा करते हैं । दासबोध के दशक ६ समास ७ में समर्थ कहते हैं:—

मी कर्ता ऐसें म्हणसी । तेणें तूं कष्टी होसी ।
राम कर्ता म्हणतां पावसी । यश कीर्ति प्रताप ॥ ३३ ॥

यदि तू कहेगा कि मैं कर्ता हूँ तो तुझे कष्ट होगा और यदि कहेगा कि राम कर्ता है तो तू यश, कीर्ति और प्रताप पावेगा । अस्तु ।

" आनन्दवन-भुवन " नामक ५९ पद्यों के एक स्फुट प्रकरण मे समर्थ ने इस बात का वर्णन किया है कि उन्होंने श्रीरामचंद्रजी की आज्ञा से जनोद्धार का जो काम आरम्भ किया था वह कहाँ तक सफल हुआ । इस कविता के सारांश पर ध्यान देने से समर्थ-चरित्र का सिंहावलोकन आप ही आप हो जाता है । प्रथम पद्य में समर्थ आनन्दवन-भुवन (अर्थात् नासिक-पंचवटी प्रदेश) को जाने का अपना हेतु इस प्रकार बतलाते हैं:—"जन्म-दुःख, जरादुःख, बार बार के नित्य दुःख और संसार का त्याग करने के लिए ।" इससे यह सिद्ध होता है कि समर्थ जिस समय घर से भागे थे उसी समय उन्होंनें अपने मन में परमार्थ-विषयक हेतु निश्चित कर लिया था । दुसरे पद्य में समर्थ कहते हैं कि आनन्दवन-भुवन में पहुँचते ही मेरा चित्त श्रीरामचरणानुराग में लीन हो गया । इसके बाद वे कहते हैं कि इस संसार मे मैंने कैसे कैसे बडेबडे दुःख सहे, स्वधर्माचरण में कैसे अनेक विघ्न उपस्थित हुए, उन विघ्नों को दमन करने के लिए ' विघ्नघ्न ' भीम की प्रार्थना की । फिर इसके बाद इस बात का आदेशयुक्त वर्णन किया है कि हनुमानजी नें सब विघ्नों का नाश कैसे किया । यह वर्णन पढ़ने से जान पड़ता है कि स्वधर्माचरण में अर्थात् जप, तप, अनुष्ठान, पुरश्चरण और तीर्थयात्रा आदि भगवत्प्राप्ति के साधनों का अभ्यास करते समय, श्रीसमर्थ को कैसी आपदाओं का सामना करना पड़ा । इसके बाद ' आनन्दवन-भुवन ' तीर्थ की महिमा गाकर फिर उस " मुहिम " का पौराणिक रीति से वर्णन किया है जो " बंधविमोचन " था लोकोद्धार के लिए भगवान् रामचन्द्र ने देवगण सहित की और समर्थ के कार्यों मे सहायता दी । इस मुहिम-वर्णन के अन्त में, इस मुहिम का उद्देश भी उन्होंने स्पष्ट बतला दिया है:—

कल्पांत मांडला मोठा, म्लेंच दैत्य बुडावया ।
कैपक्ष घेतला देवीं, आनन्दवनभूवनीं ॥ २७ ॥

अर्थात् "म्लेच्छ दैत्यों" का संहार करने के लिए भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने हमारा पक्ष स्वीकार किया और आनन्दवन भुवन में घनघोर युद्ध किया । जब साक्षात् भगवान् भक्त-

कल्पद्रुम श्रीरामचन्द्रजी को समर्थ ने अपना सहायक बना लिया, तब इसमें आश्चर्य ही क्या है कि, उनके सारे मनोरथ सफल हुए। भगवान् की सहायता का जो परिणाम हुआ, अर्थात् धर्मस्थापना और लोकोद्धार का जो कार्य किया गया, उसका उत्साह-जनक वर्णन शेष पद्यों में किया गया है।

जो लोग महाराष्ट्र के, सत्रहवीं सदी के, इतिहास से परिचित हैं वे श्रीरामदास्वामी के उपर्युक्त आत्मचरित-सम्बन्धी सिंहावलोकन की यथार्थता भलीभाँति जान सकते हैं। उसके विषय में और अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। एक और "स्फुट प्रकरण" में श्रीराम-महिमा गाते हुए "मुख-भुवन" अर्थात् महाराष्ट्र की जागृति के सम्बन्ध में वे कहते हैं:—'आज कल चारों ओर धर्म की अवनति और अवहेलना देख कर देव कुपित हुआ है। इसलिए अब देवद्रोहियों को—अत्याचारियों को—अपना सब कारोबार (अनीति, अधर्म, अत्याचार) समेटना चाहिए। लोगों में जागृति होने लगी है—वही देव का चैतन्य-रूप है—उसीसे लोगों की इच्छा सफल होगी। क्या क्या होगा, सो महाराष्ट्र में रह कर देखना चाहिए।"

"स्फुटग्रन्थ, समास प्रथम" में भी श्रीराम-गुण वर्णन करते हुए समर्थ के मुख से जो स्वाभाविक वचन निकल पड़े हैं उनमें उन्होंने अपने चारित्र के सिंहावलोकन का कुछ आभास दिया है। इन पद्यों का सारांश यह है:—"दीनानाथ श्रीराम वैभव में समर्थों के भी समर्थ हैं; जिन्होंने मेरे मनोरथ पूर्ण किये हैं। मेरी सारी अभिलाषायें उन्होंने पूरी कीं और मुझ दीन को मर्यादा से अधिक बढ़ा दिया। + + + श्रीराम ने विभीषण को लंका दी, इन्द्र की आशंका मेटी और रंक रामदास की प्रतिष्ठा बढ़ा दी। उन्होंने यह स्थान सुन्दर देख कर यहाँ वास किया; 'दास' को पास ही रक्खा और सारा प्रान्त पावन किया। जिन दरी, खोरी और गिरिकन्दराओं को देखते ही डर लगता है, उन्हें भी वैभवसम्पन्न किया। राम का देना ऐसा ही है।" "अध्यात्मसार" नामक स्फुट प्रकरण, समर्थचरित्र के सिंहावलोकन की दृष्टि में, बहुत महत्त्व का है। परन्तु, वह बहुत बड़ा होने के कारण उसका विस्तृत सारांश यहाँ नहीं दिया जा सकता। सिर्फ निम्न दो पद्य उद्धृत कर देना ही आवश्यक है:—

> जीवीचा पुरला हेतू, कामना मन काम ना।
> घमेंड जाहलें मोठें, घवाड साधलें बळें॥
>
> *   *   *
>
> बोळतां भवानी माता, महीन्द्र दास्य इच्छिती।
> बोलणें हें प्रचीतीचें, अन्यथा वाउगें नव्हे॥

अर्थात् "जी का हेतु पूर्ण हो गया; अब कामना का मन में काम नहीं है। बहुत कीर्ति हुई और अप्रतिम लाभ मिल चुका। भवानी माता के प्रसन्न होने पर बड़े बड़े राजा

सेवा करने की इच्छा करते हैं। यह अपने अनुभव की बात हम कह रहे हैं--इसे मिथ्या कभी न समझना।"

तात्पर्य यह है कि, श्रीरामदासस्वामी के ग्रन्थो से ही उनके चरित्र की बहुतेरी बातें मालूम होती हैं; क्योंकि उन्होंने जब कोई सिखावन की बात बतलाई है तब बार बार यही कहा है कि यह हमारे अनुभव की बात है। इसलिए पाठकों को समर्थ के जीवनोद्देश की सफलता के विषय में, हमने अपनी ओर से कुछ न लिख कर, उन्हींके वचनों का कुछ सारांश देने का यत्न किया है। आशा है कि पाठकों को उपर्युक्त विवेचन से, समर्थचरित्र का सिंहावलोकन करने मे सहायता मिलेगी। हम समझते हैं और इसमें सन्देह नहीं कि, हमारे पाठक भी यही समझेंगे कि जब श्रीसमर्थ रामदासस्वामी अपने सारे संकल्पित कामों की सफलता का पुनरालोचन करते होंगे, तब उनके अन्तःकरण में प्रेम, आनन्द, धन्यता और हर्ष आदि सात्विक मनोवृत्तियों की लहरें अवश्य उमड़ती होंगी।

दासबोध की आलोचना।



१—प्रस्तावना।

श्रीसमर्थ रामदासस्वामी भारतवर्ष के कैसे महान तत्त्ववेत्ता हो गये सो उनके संक्षिप्त जीवन-चरित से पाठकों को मालूम हुआ होगा। उन्होंने अपने इस ग्रन्थ का नाम "दासबोध" रक्खा है। "दास" अर्थात रामदास——राम के सेवक, और "बोध" अर्थात् शिक्षा अथवा उपदेश। यह अर्थ स्पष्ट है। समर्थ ने अपने इस ग्रन्थ के पहले ही समास में "ग्रन्थारम्भ-निरूपण" नामक विषय लिखा है। इस समास में उन्होंने स्वयं ही साधारण तौर पर अपने उस ग्रन्थ की आलोचना की है। उसमें उन्होंने पाठकों को यह सूचना दे दी है कि इस ग्रन्थ को आदि से लेकर अन्त तक पढ़ कर फिर अपना मत उसके विषय में प्रकट करना चाहिए। अन्यथा, एक ही दो समास पढ़ कर, उसके विषय में अपना मत स्थिर कर लेना उचित न होगा। उनके इस कथन पर पूर्ण ध्यान रख कर ही हम उस ग्रन्थ की यह आलोचना लिखने बैठे हैं। अर्थात यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि इस आलोचना मे प्रकट किये हुए मतों का विचार पाठकों को समस्त ग्रन्थ पढ़ कर ही करना चाहिए। अस्तु। प्रसिद्ध महाराष्ट्र—इतिहास–अन्वेषक प्रोफेसर राजवाड़े के लिखे हुए एक निबन्ध से इस आलोचना के लिखने में हमें बड़ी मदद मिली है; अतएव उक्त महाशय को यहाँ पर धन्यवाद देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं।

२—ग्रन्थ की रचना।

श्रीसमर्थ रामदासस्वामी के सारे उपदेश-ग्रन्थों में दासबोध ही सब से बड़ा ग्रन्थ है। इसमें २० दशक और प्रत्येक दशक में १० समास (अध्याय) हैं——अर्थात् कुल ग्रन्थ में २०० समास हैं। पद्य संख्या ७७८९ है। समालोचकों का मत है कि धीरे धीरे इस ग्रन्थ के बनने मे दस बारह वर्ष लगे होंगे। इस ग्रन्थ के छठवें दशक के चौथे समास में गत कलियुग का मान ४७६० लिखा है। इससे जाना जाता है कि यह शाके १५८१ अर्थात् सन् १६६० मे बनाया गया होगा। शाके १५५६ मे श्रीरामदासस्वामी तीर्थयात्रा से लौटे और कृष्णानदी के तीर जाकर रहने लगे। उसी समय उन्होंने ग्रन्थ-लेखन का काम आरम्भ किया होगा। कोई कहते हैं कि शाके १५८०—१५८१ के दो वर्ष ही मे यह ग्रन्थ पूरा हुआ। महीपति का कथन है कि एक ही दिन मे यह ग्रन्थ पूरा हो गया! तात्पर्य यह कि इस समय इस बात का निश्चय नहीं किया जा सकता कि दासबोध के बनने में कितना समय लगा होगा। इस ग्रन्थ की सब रचना किसी निश्चित प्रकार के क्रम से नहीं है। प्रथम आठ दशक तक ठीक बँधा हुआ क्रम पाया जाता है। इसके बाद विषयों का क्रम ठीक ठीक नहीं मिलता।

पहले यदि कुछ आध्यात्मविषयक समास हैं तो उसके बाद फिर कुछ समास उपदेश–विषयक आ गये हैं या बीच ही में कुछ वर्णनात्मक समास हो गये हैं। इसका कारण एक प्रचलित दन्त–कथा से मालूम हो सकता है। उस कथा का सारांश यह है कि श्रीरामदासस्वामी अपनी कूबड़ी में स्याही, कलम और कागज़ रखते थे। वे जहाँ जहाँ वन में घूमते थे वहीं किसी वृक्ष के नीचे बैठ कर लिखा करते थे। यह बात सच है कि समर्थ बहुत समय तक एक ही स्थान में न रहते थे। वे सदा भ्रमण ही करते रहते थे। दासबोध के समान बड़ा ग्रन्थ लिखने के लिए बहुत समय तक एक स्थान में रहना आवश्यक था। परन्तु वे कई स्थानों में रहते थे और जब उनकी इच्छा होती तभी कुछ लिखा करते थे। इस प्रकार जो कुछ लिखा जाता था उसके समास बना कर और दस दस समासों का एक एक दशक बनाकर यह ग्रन्थ बहुत समय में तैयार हुआ। पहले समासो में क्या लिखा गया उसका, कुछ समय के बाद, दूसरा समास लिखते समय, स्मरण न रहता होगा और कदाचित् लिखी हुई कापी भी किसी दूसरे स्थान में रह जाती होगी। इसी कारण विषय–क्रम में विसंगति देख पड़ती है। यह बात स्वाभाविक है। पहले आठ दशकों का विषय–क्रम ठीक होने का कारण यह जान पड़ता है कि श्रीसमर्थ ने आठवें दशक तक के सब विषयों की मर्यादा पहले ही से निश्चित कर ली थी। यह बात ग्रन्थ के अन्तःप्रमाण से सिद्ध है। इन आठ दशकों की विषय–मर्यादा निश्चित कर लेने के कारण ही उनमें पुनरुक्ति नहीं है। परन्तु इसके बादके बारह समासो में पुनरुक्ति बहुत है। उदाहरणार्थ पंच महाभुतो की उत्पत्ति का तात्विक विषय कई दशकों में बार बार पाया जाता है। कई समासो के नाम भी एक ही हैं। इस पुनरुक्ति का भी कारण यही कालान्तर और स्थानान्तर है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। दासबोध की रचना के सम्बन्ध में एक और बात ध्यान में रखने योग्य है। महाराष्ट्रीय साधुसन्तों के चरित्रकार कवि महीपति जी अपने सन्तविजय में कहते हैं:––

> स्वामी प्रसाद–वचनें बोलत। कल्याण लिहीत निजहस्ते॥
> पाठान्तराप्रमाणें सुरस। ओव्या बोलती रामदास॥
> ते तो सत्वर लिहीतसे। उत्तर न पुसे परतोनि॥

अर्थात् स्वामी रामदास अपने प्रासादिक वचन सुरस 'ओवी' के रूप में बोलते जाते थे, मानो, सब ओवीयाँ उन्हे कण्ठाग्र हों और कल्याणस्वामी (उनके प्रिय शिष्य) अपने हाथ से शीघ्रता के साथ लिखते जाते थे। कल्याणस्वामी के लिखने की यह तारीफ थी कि वे दुबारा नहीं पूछते थे।

३–ग्रन्थ का महत्त्व और उसकी सर्व–प्रियता।

जो समाज सब प्रकार से निकृष्ट दशा को पहुँच चुका है उसे ऐहिक और पारमार्थिक मार्ग बताकर शाश्वत सुख की प्राप्ति करा देना ही इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश है। ऐहिक और पारमार्थिक कर्तव्यों को संगति जैसी इस ग्रन्थ में मिलाई गई है वैसी शायद ही और किसी ग्रन्थ में होगी। इस ग्रन्थ में यह स्पष्ट रीति से बताया है कि केवल किसी एक व्यक्ति का अपने घर––द्वार, कामधन्धा, लड़केबालों के सम्बन्ध का

कर्तव्य ही ऐहिक कर्तव्य नहीं है; किन्तु सारे जनसमाज के ऐहिक सुख—अपने देश-भाइयों के सांसारिक सुख—के लिए यत्न करने में ही, अर्थात् परोपकार करने में ही, मनुष्यजन्म की सार्थकता है। ग्रन्थ-निर्माण होते समय अनेक भावुक स्त्री-पुरुषों ने इसे सुना । इसके सम्पूर्ण होते ही अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ सारे महाराष्ट्र में फैल गईं । उसी समय, लोगों की दृष्टि के सामने इस ग्रन्थ के पहुँचते ही, अनेक लोग इसके विषय में नाना प्रकार के तर्क करने लगे । कोई कहने लगे कि इसमें त्रिकाण्ड धर्म का निरूपण है; कोई कहने लगे कि यह केवल व्यवहार-नीति का ग्रन्थ है । यद्यपि यह कथन पृथक् पृथक् रूप से सत्य नहीं है; तथापि सचमुच समष्टिरूप से—सब मिलाकर—सत्य अवश्य है । इस ग्रन्थ में ज्ञान, कर्म, भक्ति और व्यवहार का निरूपण है । उस समय जो वेदान्ती थे उन्हें इसमें केवल ज्ञान-विवेक ही देख पड़ा; जो कर्ममार्गी थे उन्हें केवल कर्ममार्ग का प्रतिपादन मिला; जो भक्त थे उन्हें भक्ति का निरूपण प्राप्त हुआ और जिनकी दृष्टि केवल व्यवहार ही की ओर लगी हुई थी उन्होंने सिर्फ व्यवहार-नीति ही पाई । इस प्रकार जैसी जिसकी दृष्टि थी—जैसा जिसका भाव था—वैसा ही उसको यह ग्रन्थ प्रतीत हुआ । ठीक यही हाल इस समय भी श्रीसमर्थ रामदासस्वामी और उनके ग्रन्थों के विषय में हो रहा है । जिस प्रकार प्राचीन पद्धति के भावुक जनों को श्रीसमर्थ पूजनीय हैं, और उनका दासबोध प्रिय है, उसी तरह आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में भी श्रीरामदासस्वामी एक अलौकिक पुरुष हैं और उनके ग्रन्थ बहुत आदरणीय हैं । परन्तु आजकल कुछ लोग अपने अपने स्वभाव और विचारों के अनुसार श्रीसमर्थ और उनके ग्रन्थ को केवल व्यावहारिक—राजनैतिक—सिद्ध करने का यत्न कर रहे हैं । यह उनकी भूल है । दासबोध एकदेशीय ग्रन्थ नहीं है । यह ग्रन्थ किसी विशिष्ट काल या देश ही के लिए नहीं बनाया गया है । इसके तात्त्विक सिद्धान्त सदा, सब काल, सब स्थानों में, एक समान ही उपयुक्त हैं । हाँ, यह बात सच है कि, जिस समय यह ग्रन्थ बना उस समय महाराष्ट्रीय समाज विपन्नावस्था में था । इसलिए उस देश की स्थिति को लक्ष्य करके महाराष्ट्रियों को उपदेश दिया गया है । परन्तु यथार्थ में यह ग्रन्थ सर्वदेशीय और सर्वकालिक महत्त्व का है । जो काम इस ग्रन्थ ने प्रथम कर दिखाया है वही काम वह भविष्य में भी कर दिखा सकता है । जिस प्रकार धर्म की ग्लानि होने पर ईश्वर का अवतार होता ही है उसी प्रकार समाज की निकृष्ट दशा आने पर समाज को उबारने का काम इस ग्रन्थ में ग्रथित सिद्धान्तों ही का है । यह ग्रन्थ उस समय मार्गदर्शक हो सकता है । इस ग्रन्थ की महिमा कहाँ तक लिखें ? यह ग्रन्थ मराठी भाषा में एक अपूर्व रत्न है । मोरोपन्त और वामन पण्डित के समान बड़े बड़े कवि इसकी प्रशंसा करते करते थक गये । हम किस गिनती में हैं ?

४ संक्षिप्त विषय-वर्णन ।

श्रीरामदासस्वामी ने इसी ग्रन्थ के ७ वें दशक के ९ वें समास में ग्रन्थ के लक्षण

बताये है। इन लक्षणो के देखने से स्पष्ट मालूम हो सकता है कि ग्रन्थ में क्या होना चाहिए, सच्चा ग्रन्थ कौन है; या उसमें कौन कौन विषय होते हैं। नमूने के लिए दो एक पद्य देखिए:—

> जेणें परमार्थ वाढे। आंगीं अनुताप चढे।
> भक्ती साधन आवडे। त्या नाव ग्रन्थ॥ ३०॥
> जेणें होय उपरती। अवगुण पालटती।
> जेणें चुके अधोगती। त्या नाव ग्रन्थ॥ ३२॥

अर्थात्—ग्रन्थ उसको कहना चाहिए कि जिससे परमार्थ बढ़े, मन मे अनुताप उत्पन्न होवे, भक्ति प्रिय लगे, अवगुण बदल जावे और अधोगति से मुक्त हो। ठीक इन्हीं लक्षणो से युक्त समर्थ का यह दासबोध ग्रन्थ है। इस संसार मे मनुष्यमात्र जन्म से मृत्यु तक अपने सुख ही के लिए यत्न करते हैं। कोई अपने स्वार्थ अर्थात् गृहस्थी ही मे सुख मानते हैं और कोई परमार्थ मे। दोनो यद्यपि 'सुख-प्राप्ति' ही को अपना उद्देश मानते हैं, तथापि दोनो के प्रयत्नो मे और फलो मे भेद है। हर एक अपने ही मार्ग को सत्य और अन्य मार्ग को मिथ्या कहता है। परमार्थ-प्राप्ति के मार्ग से जानेवालो की संख्या बहुत कम होती है; क्योंकि यह मार्ग कठिन है और इसमें विघ्न बहुत हैं। धैर्यशाली पुरुष ही इसको पार कर सकते हैं। अधिकांश जन स्वार्थ ही मे फँसे रहते हैं। इसी लिए इन लोगों को परमार्थ-मार्ग मे लगाने के लिए, साधु और संतों के बोध की परम आवश्यकता है। इस प्रकार के स्वार्थी—संसारी—जनो के हित का बोध इस "दासबोध" ग्रन्थ में किया गया है। श्रीरामदासस्वामी जैसे परमार्थ मे पारंगत थे वैसे ही व्यवहार में भी कुशल और दक्ष थे। स्वार्थ का काम यथोचित रीति से करते हुए परमार्थ-साधन करने का ही उपदेश उन्होंने इस ग्रन्थ मे किया है। घर-गृहस्थी में रह कर, सांसारिक सब काम नीतिपूर्वक करते हुए, शुद्ध अन्तःकरण से यदि ईश्वर की भक्ति की जाय तो निःसन्देह पारमार्थिक सुख की प्राप्ति होगी, यही उचित और यथार्थ उपदेश इस ग्रन्थ में दिया गया है। जिस प्रकार शूरता की परीक्षा के लिए रण-भूमि होती है वैसे ही सच्चे ज्ञान की कसौटी का स्थान यही 'असार' संसार है। जन-समुदाय से अलग होकर जो परमार्थ-प्राप्ति का यत्न करता है उससे संसार में रह कर परमार्थ-प्राप्ति करनेवाला पुरुष अधिक श्रेष्ठ और धन्य है। जो इस भवसागर से डर कर दूर भागना चाहता है वह डरपोक है। समर्थ अपने "मनोबोध" में कहते हैं:—

> भवाच्या भयें काय भीतोसि लंडी।
> धरीं रे मना धीर धाकासि सोडी॥

अर्थात्—ऐ डरपोक, तू इस भवभय से क्यों डरता है! अरे मन, धीरज धर और भय का त्याग कर। अस्तु।

यह ग्रन्थ गुरु और शिष्य के संवाद रूप मे लिखा गया है। पहले दशक के आरंभ में

ग्रन्थ का नाम बता कर, उसमें कौन कौन विषय हैं, उन विषयों का प्रतिपादन किन किन प्राचीन ग्रन्थों के प्रमाण पर किया गया है, इसके अधिकारी पाठक कौन हैं, इसके पढ़ने से क्या लाभ है, इत्यादि बातें बतलायी गयीं हैं। इसके बाद शिष्ट और प्राचीन पद्धति के अनुसार मंगलाचरण कह कर सद्गुरु और संतसज्जनों को वन्दना की है। श्रोताओं की प्रार्थना करके कवियों की प्रशंसा की है; सभा का वर्णन करके परमार्थ की श्रेष्ठता बताई है । इस दशक के अंत में नरदेह की योग्यता बता कर उसकी बड़ाई की गई है। यहीं से " बोध " का आरम्भ हुआ है । दूसरे दशक में, यह सोचकर कि मूर्ख जन नरदेह की बड़ाई ही में भूल कर उसका दुरुपयोग करने लगेंगे, उसकी न्यूनता बताई है और देहाभिमान के त्याग का उपदेश दिया है। ' मैं, ' ' मेरा '--इस संसार—की नश्वरता बतलाकर कुविद्या त्याग करने के लिए मूर्ख के लक्षण बतलाये हैं। इसके बाद भक्ति का कुछ वर्णन करके सत्व, रज और तम का वर्णन क्रमशः न करते हुए पहले रज, फिर तम और अंत में सत्त्व गुण का वर्णन किया है। पहले रजोगुण के वर्णन करने का कारण यह जान पड़ता है कि रजोगुण ही सांसारिक सुखादि भोगों का मुख्य प्रवर्तक है। फल की आशा रख कर कर्म करना या पूर्वकर्म के फल का उपभोग करना, रजोगुण ही का धर्म है। सांसारी लोगों के अधिकांश व्यवहार इसी गुण से होते हैं। अतएव पहले इसीका वर्णन किया गया और बताया गया कि, यदि यही रजोगुण पारमार्थिक कार्य में लगाया जाय तो सत्त्वगुण की वृद्धि और तमोगुण का नाश आप ही हो जायगा । इतना बतलाकर आगे सुविद्या का वर्णन किया गया है। यह सब व्यावहारिक उपदेश है । तीसरे दशक में एक व्यक्ति के गर्भवास से मृत्युपर्यन्त उसका जीवनचरित बताकर ' स्वगुण-परीक्षा ' का उपदेश दिया है । इसमें मनुष्य की संसार-यात्रा का अति उत्तम चित्र है! इसके पढ़ने या सुनने से मन पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है। चौथे दशक में श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन, इन नव प्रकार की भक्तियों का पृथक् पृथक् वर्णन करके चारों प्रकार की मुक्तियों का वर्णन किया है। श्रीसमर्थ का यह सिद्धान्त सर्वमान्य है कि आत्मनिवेदन ही सायुज्य-मुक्ति-दायक मुख्य भक्ति है।

नवमी भक्ति आत्मनिवेदन ।
न होतां न चुके जन्ममरण ॥
हें वचन सत्य प्रमाण ।
अन्यथा नव्हे ॥ ४—२५

पाँचवे दशक में पहले सद्गुरु और सत् शिष्य के लक्षण बतला कर सत्य उपदेश का निरूपण किया है। आर्यधर्म के इस सनातन सिद्धान्त पर--कि " सद्गुरुविण ज्ञान कांहीं—सर्वथा होणार नाहीं । " सद्गुरु के बिना ज्ञान की प्राप्ति कदापि न होगी—श्रीसमर्थ ने बहुत जोर दिया है । परन्तु इसीके साथ यह भी बताया है कि गुरु ऐसा चाहिए जो शिष्य को परमार्थ के साधनों की शिक्षा दे और इन्द्रियदमन करा कर विषयों से निवृत्त करे

जो इस प्रकार शिक्षा न दे सकें वे गुरु यदि कौड़ी के तीन तीन भी मिलें तो भी त्याज्य हैं:- " अभ्यास न लाविती साधन । न करविती इन्द्रिये दमन । ऐसे गुरु अडक्याचे तीन । मिळाले तरी त्यजावे ॥ " ऐसा कह कर अनेक प्रकार के असद् गुरुओं का वर्णन किया है जो समाज मे गुरु बन कर लोगों को ठगते और भ्रष्ट करते हैं । इसके बाद ' बहुधा ज्ञान ' का निरूपण करके शुद्ध ज्ञान का वर्णन किया है । तदनन्तर क्रमशः बद्ध, मुमुक्षु, साधक और सिद्ध के लक्षण और उनके कर्तव्यों का प्रभावशाली वर्णन किया है । बद्ध और मुमुक्षु के लक्षण पढ़ने समय, कैसा ही पाषाणहृदयी मनुष्य हो, तो भी उसका अन्तःकरण पश्चात्ताप से विदीर्ण हो जाता है । इन दो समासों के प्रत्येक पद्य का एक एक शब्द, पढ़नेवाले को अपने कृत कर्मों की याद दिलाकर और कुछ समय तक चित्त की वृत्तियों को अनुताप से शिथिल करके, ईश्वर के स्मरण में लीन कर देता है । छठवें दशक से आध्यात्म-निरूपण का प्रारम्भ हुआ है । इसके प्रथम पॉच समासो मे माया और ब्रह्म का अच्छी तरह विवरण करके सगुण भजन का प्रतिपादन किया है । इसके बाद यह उपदेश किया है कि सब में जो सार है उसको ढूंढ़ लेना चाहिए और असार वस्तु का त्याग करना चाहिए । सातवे दशक में चौदह ब्रह्मों का शास्त्रों के प्रमाण देकर वर्णन किया है और यह बतलाया है कि जितने नाम हैं--जितना कुछ बतलाया जा सकता है--वे अशाश्वत ब्रह्म हैं । शाश्वत ब्रह्म वाचा से परे है--वह अनिर्वचनीय है । आठवाँ दशक आध्यात्मज्ञान का सार है । इसको " ज्ञानदशक " भी कहते हैं । इसमें पहले ईश्वर की महिमा वर्णन करके दो समासों में अनेक सूक्ष्म आशंकायें उठाई हैं; फिर सूक्ष्म और स्थूल पंचमहाभूतों का विस्तारपूर्वक विवरण करके मोक्ष, आत्मा, सिद्ध पुरुष और शून्यत्व का निरूपण किया है । आठवे दशक के बाद विषयों का कोई क्रम ठीक ठीक नहीं मिलता, पर इसमें सन्देह नहीं कि ग्रन्थ के इसी भाग में संसारी लोगों के लिए अनेक व्यावहारिक उपदेश-रत्न भरे पड़े हैं । नववें दशक में ब्रह्म-निरूपण करके अनेक शंकाओं का समाधान करते हुए निस्सन्देहता स्थापन की गई है । दसवें दशक में पहले इस बात का युक्तिपूर्वक प्रतिपादन किया है कि अन्तरात्मा सब में एक ही है । इसके बाद बीजलक्षण, पंचप्रलय और प्रकृति-पुरुष आदि कई महत्त्वपूर्ण विषयों का दिग्दर्शन करके भीमदशक--ग्यारहवें दशक--का प्रारम्भ हुआ है । यह दशक बड़े महत्त्व का है । इसके नाम ही से इसका महत्त्व समझ लेना चाहिए । श्रीहनुमानजी को शास्त्र में ग्यारहवाँ भीम (रुद्र) माना है; इसी लिए इस दशक का नाम ' भीम ' रक्खा गया है । इसमें पहले आध्यात्मविद्या का सिद्धान्त बतलाकर सांसारिकों के लिए अच्छी शिक्षा दी है । इसीमें राजकारण, अर्थात् राजनीति-सम्बन्धी तत्त्वों का निरूपण है । इसके बाद महन्त के लक्षण बतलाये हैं । महन्त को कौन कौन बातें जाननी चाहिएँ, किस प्रकार चतुराई के साथ लोगों के अन्त.करण का हाल जान कर उनको अपने समुदाय में मिलाना चाहिए और कठिन प्रसंग आ पड़ने पर किस प्रकार उसका निर्वाह करना चाहिए, इत्यादि अनेक महत्त्व की बातें बतलाई हैं । इसी दशक के अन्त में साधारण उपदेश बतलाकर विशेषता के साथ यह बतलाया है कि निस्पृह लोगों का

बर्ताव जन-समाज के साथ कैसा होना चाहिए। इस शिक्षा का सार नीचे लिखे हुए दो पद्यों में भरा है:—

उत्तम गुण तितुके घ्यावे। घेऊन जनास शिकवावे।
महन्तें महन्त करावे। युक्ति बुद्धीनें भरावे।
जाणते करून विखरावे। नाना देशीं॥ २५॥

तात्पर्य, सारे उत्तम गुण पहले स्वयं ग्रहण करके तब लोगों को सिखाना चाहिए। महन्तों को चाहिए कि वे अपने समान अनेक महन्त (निस्पृह पुरुष) तैयार करें, उन्हें युक्ति और बुद्धि का निधान बनावें। इस प्रकार अनेक ज्ञाता तैयार करके नाना देशों में—नाना प्रान्तों में—उन्हें भेजना चाहिए। क्यों भेजना चाहिए? वे भी यही काम करें। इस प्रकार क्रमशः जगदुद्धार हो जावेगा। एक दृष्टि से यह समास और भी बड़े महत्त्व का है। इसमें श्रीसमर्थ ने जो कुछ कहा है वह स्वयं पहले उन्होंने किया है और फिर उसका अनुकरण करने के लिए लोगों को उपदेश दिया है। इस लिए उनके सिद्धान्त बिलकुल पक्के हैं। अस्तु। बारहवें दशक में विवेक और वैराग्य का बहुत ही उत्तम विवेचन किया गया है। श्रीसमर्थ ने विवेक का महत्त्व बहुत कुछ बतलाया है। क्या ऐहिक और क्या पारमार्थिक, किसी भी प्रकार के सुख की प्राप्ति के लिए विवेक के बिना सब उपाय निष्फल होते हैं। "विवेक पाहिल्यावीण। जो जो उपाव तो तो सीण।" यह बात सच है कि जब तक विषयों के सम्बन्ध में वैराग्य उत्पन्न न होगा तब तक ज्ञान का लाभ नहीं हो सकता। परन्तु यह वैराग्य विवेकयुक्त होना चाहिए। यदि वैराग्य के साथ विवेक न हो तो अनर्थ के सिवा कोई लाभ नहीं—न तो प्रापंचिक (स्वार्थ सम्बधी) सुख होगा और न पारमार्थिक।

विवेकेंवीण वैराग्य केलें।
तरी अविवेकें अनर्थी घातलें।
अवघें व्यर्थचि गेलें।
दोहींकडे। १२-४-६

तेरहवें दशक में आत्मानात्म-विवेक, सारासारनिरूपण, उत्पत्ति और प्रलय का वर्णन किया है। इसी दशक के छठवें समास मे लघुबोध है। इसमें समर्थ की शिक्षा का सारांश है। इतिहासज्ञों का अनुमान है कि श्रीरामदासस्वामी ने यही लघुबोध शिवाजी को बतलाया था। चौदहवें दशक में फिर 'निस्पृह' के लक्षण बतला कर भिक्षा, कवित्व-कला, कीर्तन-लक्षण, हरिकथा-निरूपण और चातुर्य-लक्षण बतलाये हैं। इसके बाद युग-धर्म नाम के समास में तत्कालीन धार्मिक और सामाजिक दशा का अच्छा परिचय मिलता है। पन्द्रहवें दशक में फिर चातुर्य के लक्षण और निस्पृह-व्याप लक्षण बतलाये हैं। यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि श्रीसमर्थ ने महन्तों और निस्पृहों का वर्णन इस ग्रन्थ में बार बार किया है। निस्पृह महन्ती ही उनकी व्यावहारिक शिक्षा का सार है; क्योंकि बिना निस्पृह महन्तों के जगदुद्धार या लोककल्याण कदापि नहीं हो सकता। सोलहवें दशक में पहले वाल्मीकि, सूर्यनारायण, भूमाता और पवन-

देव का स्तवन करके जल, अग्नि, आदि महाभूतों का वर्णन किया है । इन सारे व्याख्यानों से आधुनिक वैज्ञानिक या शास्त्रीय सिद्धान्तो का भी परिचय मिलता है । इसके बाद उपासना की व्यापकता बतलाते हुए यह सिन्द्धात स्थापित किया है कि " उपासनेचा मोठा आश्रयो । उपासनेवीण निराश्रयो । उदण्ड केलें तरी तो जयो। प्राप्त नाहीं ॥ " अर्थात् मनुष्य को ईश्वर की उपासना का बहुत बड़ा आश्रय है; बिना उपासना के निराश्रित रहना होता है; निराश्रित अवस्था में चाहे जैसा प्रयत्न किया जाय, जय-लाभ नहीं होता । सत्रहवे दशक मे शिव-शक्ति, अजपामंत्र, जगर्ज्जीवन आदि नाना विषयो का वर्णन किया है । अठारहवे दशक मे चौथी बार सर्वज्ञसंग और ' निस्पृह ' के सिखापन का वर्णन किया है । इसके बाद अभागी पुरुष और उत्तम पुरुष के लक्षण तथा जन्मस्वभाव बतला कर निद्रा का हास्यकारक वर्णन किया है । उन्नीसवें दशक के प्रारम्भ मे लेखन क्रिया, भाग्यवान् और अभागी के लक्षण, बुद्धि-वाद और यत्न का निरुपण किया है अन्त मे उपाधि के लक्षण बतला कर ' राजकारण ' का दुबारा निरूपण किया है । बीसवें दशक मे आत्मा, देह क्षेत्र, सूक्ष्मनाम, पूर्णापूर्ण आदि आध्यात्मिक विषयो की ही चर्चा की है । अन्त मे विमल ब्रह्म का निरूपण करके अद्वैत सिद्धान्त स्थापित किया है । ग्रन्थसमाप्ति के समय श्रीसमर्थ कहते हैं:--

भक्ताचेनि साभिमानें । कृपा केली दाशरथीनें ।
समर्थकृपेचीं वचनें । तो हा दासबोध ॥

अर्थात् भक्तो का अभिमान रख कर श्रीदाशरथी रामचन्द्रजी ने मुझ पर कृपा की, यह ग्रन्थ कुछ मैंने नहीं बनाया है, इसमें समर्थ श्रीरामचन्द्रजी की कृपा के वचन हैं—वेही वचन एकत्र होकर इस (दासबोध) ग्रन्थ के रूप मे देख पड़ते हैं ।

यहाँ तक इस ग्रन्थ में वर्णित सब विषयों का संक्षेप में उल्लेख किया गया । अब इस ग्रन्थ के मुख्य मुख्य सिद्धान्तों की कुछ विस्तृत आलोचना की जायगी, जिससे पाठकों को यह बात भलीभाँति मालूम हो जायगी कि श्रीसमर्थ रामदासस्वामी ने लोकोद्धार के लिए किस प्रकार की शिक्षा दी है ।

५—ज्ञान, विज्ञान और बहुधा ज्ञान ।

मोक्ष के लिए ज्ञान चाहिए । अब यह देखना चाहिए कि ज्ञान क्या है । इस अखिल संसार मे ' नित्य ' और ' शाश्वत ' वस्तु एक है । वह शुद्ध या विमल ज्ञान है । इस ग्रन्थ के दशक ५ समास ६ में इसी ज्ञान का विवरण किया गया है । शुद्ध, विमल ज्ञान को ही स्वरूपज्ञान—अनुभव या विज्ञान --कहते हैं । यह ज्ञान ' पदार्थ--विज्ञान ' से भिन्न है । पदार्थ- विज्ञान को समर्थ ने ' बहुधा ज्ञान ' कहा है । उसका वर्णन द० ५ स० ६ में किया गया है । जिसे हम लोक आजकल शास्त्र या विज्ञान (Science) कहते हैं । उसका समावेश इसी बहुधा ज्ञान में होता है । पशुज्ञान, रोगज्ञान, औषधिज्ञान, मंत्रज्ञान, धातुज्ञान, शास्त्रज्ञान, गतिज्ञान, तर्कज्ञान, शब्दज्ञान, और अन्तर्ज्ञान आदि सब प्रकार के पदार्थज्ञान का इसी बहुधा ज्ञान में समावेश होता है । यह सारा ज्ञान मायोत्पादित दृश्य (जड़ और

अशाश्वत) पदार्थों का वर्गीकरण है । यह शुद्ध विमल ज्ञान नहीं है—यह तत्वज्ञान नहीं है । यह अविद्या है—माया है—अज्ञान है । समर्थ इसी बहुधा ज्ञान का वर्णन करते हुए कहते हैं:—

वहुत प्रकाराचीं ज्ञानें । सांगों जातां असाधारणें ।
सायोज्य प्राप्ति होय जेणें । तें ज्ञान वेगळें ॥ ३७ ॥

ये बहुत प्रकार के ज्ञान, कहां तक बतलाये जायँ, पर जिस ज्ञान से सायुज्य मुक्ति मिलती है—पूर्ण स्वतन्त्रता मिलती है—वह ज्ञान अलग है । इस अनित्य दृश्य के परे जो ज्ञान है, उसीको आत्मज्ञान कहते हैं । आत्मा—ब्रह्मांश—नित्य और एक है । उसके विषय का जो ज्ञान है, वही 'ज्ञान' है । दृश्य पदार्थ (माया का प्रपञ्च) अनित्य और अनेक है । उसके सम्बन्ध का जो ज्ञान है, वही "बहुधा ज्ञान" है । क्षेत्री और क्षेत्र, द्रष्टा और दृश्य, नित्य और अनित्य—इन सब के सम्बन्ध का जो विवेक है, वही सब ज्ञान का सार है ।

६—आत्मा और देह ।

क्षेत्री, द्रष्टा अथवा आत्मा, सत्, शाश्वत, निरुपाधि और निर्विकार है । क्षेत्र, दृश्य अथवा देह, असत्, अशाश्वत, सोपाधि और सविकार है । आत्मा सूक्ष्म और देह स्थूल है । आत्मा स्वयम्भू और देह परभू है । आत्मा ब्रह्म का अंश है और देह माया का अंश है । जिस तरह माया का नाश होता है और ब्रह्म अविनाशी है, उसी तरह देह नश्वर और आत्मा अमर है । इस प्रकार आत्मा-देह—ब्रह्म-माया—नित्य और अनित्य का अखंड़ भेद है । सारांश, आत्मा या ब्रह्म स्वतन्त्र और स्वाधीन है, माया अथवा देह परतन्त्र और पराधीन है । यही एक मुख्य भेद है । जब इस स्वतन्त्रता आत्मा का परतन्त्र माया से संयोग होता है—जब आत्मा पर माया का लेप चढ़ता है, अथवा जब आत्मा का इस देह से सम्बन्ध होता है तब वही 'देही' या 'जीव' भी कहलाने लगता है । 'जीव' होकर आत्मा सुख, दुःख, लाभ और हानि आदि द्वन्द्वों का भोक्ता बन जाता है । तात्पर्य, स्वतन्त्र आत्मा, देह या माया के संसर्ग से, परतन्त्र या बद्ध हो जाता है । श्रीसमर्थ ने दशक १३ स० ९ में इसीका विवेचन किया है । वे कहते हैं:—

आत्मायासि शरीरयोगें । उद्वेग चिन्ता करणें लागे ।
शरीरयोगें आत्मा जगे । हें तों प्रकटाचि आहे ॥ १ ॥
देहीं सुख दुख भोक्ता । तो येक आत्माचि पाहातां ।
आत्म्याविण देहे वृथा । मडें होये ॥ २६ ॥

अर्थात्, आत्मा को शरीर के योग से उद्वेग और चिन्ता आदि करनी पड़ती है ! यह तो प्रकट ही है कि शरीर के योग से आत्मा है—शरीर न रहे, तो आत्मा भी चला जाय । देह में सुख-दुःख भोगनेवाला आत्मा ही है । आत्मा न रहे तो शरीर भी मुर्दा है । इस प्रकार दोनों एक दूसरे के सहारे हैं, दोनों एक दूसरे से बद्ध हैं ।

७—नर-देही जीव या बद्ध प्राणी।

आत्मा को माया का बन्धन होना ही नर-देह का जन्म है। ज्यों ही स्वतन्त्र आत्मा नर-देह को प्राप्त होता है त्योंही उसके सांसारिक सुख-दुःख और तापत्रय का आरम्भ हो जाता है। तापत्रय का मूल कारण त्रिगुणात्मक माया ही है। स्वतन्त्र आत्मा नर-देह में आकर सत्त्व, रज, तम के न्यूनाधिक मिश्रण से भ्रान्त होकर अहंकार-वश हो जाता है। मैं ऐसा हूँ, मैं वैसा हूँ, मैंने यह किया, मैं चतुर, पण्डित, कार्यकर्ता हूँ, मेरा घर, मेरा कुटुम्ब, मेरा धन--इस प्रकार की अहंकारी कल्पनाओ मे फँस कर संसार के सुख-दुःख मे प्राणी मग्न हो जाता है। माया के मोह मे बँधा रहने के कारण उसकी ज्ञान-दृष्टि धुँधली हो जाती है। वह अपने आपको भूल जाता है! अज्ञानवश कहने लगता है कि मैं कौन हूँ? इस प्रकार नरजन्म पाकर जब स्वतन्त्र आत्मा अपने तईं आप ही भूल जाता है--अपने निज-स्वरूप को भूल जाता है—तब वह संसार में मूर्ख, पठितमूर्ख और कुलक्षणी बन जाता है। जब एक बार अज्ञान और मूर्खता रोम रोम में समा जाती है तब उसके दुःखों की गिनती कौन कर सकता है? वह दूसरों को सताता है, तंग करता है, दुःख देता है और आप भी उसी प्रकार पीड़ित होता है। दूसरों पर अत्याचार करता है; दूसरों का धन छीन लेता है; लोगों की स्वतन्त्रता हरण कर लेता है और स्वयं भी दरिद्र तथा परतन्त्र होता है। इतना होते हुए भी उसकी समझ में यह नहीं आता कि ऐसा क्यों होता है—दुःख का कारण क्या है—दुःखविमोचन क्यों नहीं होता—दुःख ही सुख क्यों मालूम होता है। माया के कठिन फन्दे में पड़ कर बेचारा प्राणी घबरा जाता है। उसके छक्के छूट जाते हैं। ऐसी दशा में कोई कोइ तो इस नर-देह की ही निन्दा और तिरस्कार करने लगते हैं। कहते हैं कि नर देह खोटी है--इसीके कारण हमको दुःखित होना पड़ा। वे यह भूल जाते हैं कि सत्त्व-रज-तम, तीनो गुणो में से केवल रज और तम के अतिशय संसर्ग से ही ऐसी दुर्दशा होती है। नर-देह एक विलक्षण शक्ति है। उसका उपयोग चाहे भला करो चाहे बुरा। दुरुपयोग करनेवाले की दुर्गति और सदुपयोग करनेवाले की सद्गति होती है। "जो नर करनी करे, तो नर का नारायण होय" यह जो कहावत है, वह बिलकुल सच है पर वे इस सिद्धान्त को सर्वथा भूल जाते हैं और व्यर्थ नरदेह की निन्दा करते हैं। 'नाच न आवे आँगन टेढ़ा!' ऐसे लोगों की उन्नति के बदले अवनति होती है।

८—मुमुक्षु और सद्गुरु।

ऐसे बद्ध प्राणी को जब सांसारिक तापत्रय से खेद और पश्चात्ताप होता है, तब उस दुःख से छूटने का प्रश्न उसके सन्मुख आता है, तब वह बद्धावस्था से मुक्त होने का उपाय खोजता है। इनका निरूपण दासबोध में वैसा ही है, जैसा अन्यान्य ग्रन्थो में है; पर दासबोध में इतनी विशेषता है कि महाराष्ट्र की तत्कालीन अवस्था में जो कुछ उचित था, वही इस ग्रन्थ में निरूपण किया गया है। अस्तु। पूर्व-पुण्य के कारण उस बद्ध-प्राणी की जब सद्गुरु से भेंट होती है-जब वह सद्गुरु की शरण में जाता है तब गुरु के उपदेश से तामसवृत्ति का वह त्याग

करता है। इसके बाद उसे मालूम होता है कि मैं बद्ध नहीं हूँ--स्वतन्त्र हूँ। भ्रम के कारण मैं अपने को बद्ध समझता था:--

> कोणासीच नाहीं बन्धन। भ्रान्तिस्तव भुलले जन।
> दृढ घेतला देहाभिमान। म्हणोनियाँ ॥ ७७ ॥
>
> द० ५ स० ६

वास्तव में बन्धन किसीको नहीं है—कोई भी बद्ध नहीं है--सारे प्राणी भ्रान्ति से भूले हुए हैं। क्योंकि वे देहाभिमान—अहन्ता के गर्व—को दृढ़ता से पकड़े हुए हैं। इस भ्रम का निरसन होते ही मुमुक्षा—मोक्ष या स्वतन्त्रता की इच्छा—का उदय होता है। जब यह इच्छा प्रबल होती है, तब प्राणी सात्त्विक वृत्ति का अभ्यास करने लगता है और जिसकी कृपा से यह इच्छा उत्पन्न हुई है उस सद्गुरु के चरणों की सेवा करने लगता है। सद्गुरु का उपदेश' सहवास और कृपा से बड़ा लाभ होता है। जो नरदेह पहले निन्द्य और तिरस्करणीय जान पड़ती थी; वही अब वन्दनीय और उपयोगी प्रतीत होने लगती है। गुरु के उपदेश से मनुष्य की विवेक-दृष्टि शुद्ध और निर्मल हो जाती है। उसे इस बात का विश्वास हो जाता है कि इस संसार में मेरा कुछ कर्तव्य है—कोई उद्देश है—ध्येय है—साध्य है; उस साध्य को प्राप्त करने के लिए यह नरदेह अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी है। यदि नरदेह न मिलती, कोई अन्य देह (पशु, पक्षी, कीटादि की) मिलती तो इस साध्य का प्राप्त कर लेना असम्भव था। श्रीसमर्थ कहते हैं:—

> पशु देहीं नाहीं गती। ऐसें सर्वत्र बोलती।
> म्हणोन नरदेहींच प्राप्ती। परलोकाची ॥ २१ ॥
> नरदेह हा स्वाधीन। सहसा नव्हे पराधीन।
> परन्तु हा परोपकारी झिजवून। कीर्तिरूपें उरवावा ॥ २५ ॥
>
> द० १ स० १०

"सब लोग यही कहते हैं कि पशु-देह में गति नहीं है। परलोक नरदेह में ही मिलता है। नरदेह स्वाधीन है; यह सहसा पराधीन नहीं होती। इसे परोपकार में लगा कर कीर्ति-रूप से अमर कर देना चाहिए।" परन्तु स्मरण रहे कि यह शुद्ध और विमल विवेक-दृष्टि, गुरु कृपा का अंजन पाये बिना कदापि नहीं हो सकती। इस लाभ को क्षुद्र लाभ न समझना चाहिए। नरदेह की मिट्टी खराब करनेवाले गुरुओं के लिए समर्थ कहते हैं कि यदि ऐसे गुरु कौड़ी के तीन तीन मिलें, तो भी न पूछना चाहिए। जो अविद्या, माया का मूल छेदन करें, अन्तर्बाह्य इन्द्रियों के दमन और निग्रह की शिक्षा दें और भवसागर से पार लगावें; वेही सद्गुरु हैं। ऐसे गुरु विरले मिलते हैं। ऐसे गुरु द्रव्य से नहीं मिलते। पूर्वपुण्य से ही मिलते हैं। इस पूर्वपुण्य को सफल करने का काम गुरु का है। समर्थ कहते हैं कि समाज में जो असत् विद्या का प्रचार दीख पड़ता है, उसका दोष केवल शिष्यों को ही न देना चाहिए। इसका दोष गुरु को भी लगता ह। अर्थात् असत् गुरु के कारण समाज में अनीति, अधर्म

और अनाचार का प्रचार होता है। शिष्य, अर्थात् समाज के सर्वसाधारण लोग तो जान-बूझ कर अज्ञान और मूढ़ हैं ही। अब उनके माथे केवल दोष मढ़ देने से ही और क्या लाभ होगा? समाज को सुमार्ग पर चलाने की सब जिम्मेदारी और जबाबदेही, समर्थ के मतानुसार, सद्गुरु के ही ऊपर है:—

येथें शब्द नाहीं शिष्यासी।
हें अवघ सद्गुरुपाशीं।
सद्गुरु पालटी अवगुणासी।
नाना यत्नें करुनी॥ १५॥

दा० ५ स० ३

"इसमें शिष्य का कोई दोष नहीं, यह सब सद्गुरु का काम है। सद्गुरु अनेक प्रकार के यत्न करके शिष्य के अवगुणों को पलट सकता है।" जो सद्गुरु सर्वज्ञ हैं; आत्मज्ञानी हैं, अनुभवी हैं, विरक्त हैं, निस्पृह हैं, वे यदि समाज के नायक बन कर लोगों को उचित मार्ग की शिक्षा न दें; तो यह काम दूसरा और कौन करेगा? जब इस प्रकार के सद्गुरु हिमालय की कन्दराओं में बैठ कर एकान्त स्वानुभव से प्राप्त होनेवाले ब्रह्मानन्द का क्षण भर त्याग करके समाज का हित करने के लिए, परोपकार करने के लिए (जिसके लिए उनकी विभूति है) समाज मे जाते हैं और समाज का नायकत्व स्वीकार करते हैं, तब उनके तेज, प्रभाव और प्रतिभा के कारण उन्हें मुमुक्षु सत्शिष्य भी मिल जाते हैं। जहाँ सद्गुरु और मुमुक्षु का मिलाप हुआ वहाँ मानों मेघ और चातक का मिलाप हुआ, अथवा कृष्ण और अर्जुन की भेंट हुई या रामदास और शिवाजी की जोड़ी मिल गई! ऐसा होते ही मुमुक्षु शिष्य परमार्थ या जनोद्धार के साधन में लग जाते हैं।

६—परमार्थ-मार्ग में साधक और सिद्ध।

परमार्थ-मार्ग के साधन में लगते ही वह परोपकार या जनोद्धार की इच्छा रखनेवाला निरहङ्कारी मुमुक्षु साधक की अवस्था को प्राप्त हो जाता है। उस अवस्था में वह देखता है कि परमार्थ क्या है। समर्थ कहते हैं कि:—

"परमार्थ तपस्वियों और साधकों का आधार है। परमार्थ भवसागर से पार करता है। जब अनन्त जन्मों का फल इकट्ठा हो रहता है, तब परमार्थ हो सकता है। परमार्थ से मुख्य परमात्मा अनुभव में आ जाता है"। और आत्मानुभव होना ही माया के बन्धन से छूटना है। इसीका नाम मोक्ष और स्वतन्त्रता है" और यही परमार्थ है। इसके प्राप्त करने का मार्ग या साधन क्या है? ज्ञानमार्ग, योगमार्ग, कर्ममार्ग, या भक्तिमार्ग? इस प्रकार अनेक प्रश्नों का विवेचन समर्थ ने पाँचवें दशक के सातवें समास से लेकर बीसवें दशक तक किया है। अस्तु; इन्हीं अनेक मार्गों से साधक परमार्थ के लिए दृढ़तापूर्वक साधन करता है; सन्त समागम करता है, अद्वैत-निरूपण का श्रवण-मनन करता है, सारासार-विचार से सन्देहों,

सांसारिक विकल्पों का नाश करके आत्मज्ञान का विवेक करते हैं। विवेक से देहबुद्धि—मैं-तू-पन—को रोकता है।

माया की उपाधि छोड़ कर असाध्य वस्तु (आत्मा-परब्रह्म) को साधन से साधता है और सत्स्वरूप में अपनी बुद्धि दृढ़ता के साथ रखता है। इस प्रकार साधन करते करते, गुरु के उपदेश से, नरदेह की सार्थकता करके, वह इस भवसागर के पार हो जाता है। माया के पटल को छेद डालता है—अज्ञान का नाश करता है—अपने आपको (आत्मा को) पहचानता है—सत्स्वरूप में लीन हो जाता है। ऐसी दशा आने पर वही साधक, जो बद्ध से मुमुक्षु और मुमुक्षु से साधक हुआ था, सिद्ध कहलाता है। समर्थ के मतानुसार साधक की अन्तिम या निस्सन्देही अवस्था को ही सिद्धावस्था कहते हैं। सिद्ध पुरुष ' सिद्ध ' होकर भी ' साधक ' बना ही रहता है, वह साधन कभी नहीं छोड़ता। देखिए, समर्थ सिद्ध का लक्षण बतलाते हुए कहते हैं:—

" सिद्ध के लक्षण साधक बिना बतलाये ही नहीं जा सकते—सिद्ध-लक्षणों में साधकता आनी ही चाहिए। जो बाहर से साधक सा मालूम होता हो—साधन की कृति करता हो—और अन्तर में स्वरूपाकार हो, उसीको चतुर पुरुष सिद्ध जानें। " कोई कहेगा कि जब वह साधन करता है, तब सिद्ध कैसा? समर्थ उत्तर देते हैं—सन्देह-रहित साधन करना ही सिद्ध का लक्षण है, उसके साधनों में भीतर-बाहर अचल समाधान रहता है। अस्तु; यह ध्यान में रखना चाहिए कि समर्थ ने इसी ' सिद्ध ' को अपने ' दासबोध ' में ' महन्त, ' ' साधु, ' ' विरक्त ' और ' निस्पृह ' आदि नाम दिये हैं।

१०—मुमुक्षु की सहायता से साधक और सिद्ध का कर्तव्य।

सिद्ध तो स्वतन्त्र हो गये—मुक्त हो गये। साधक उस स्थिति के पहुँचने के मार्ग में हैं। मुमुक्षु स्वतन्त्र स्थिति या मुक्तावस्था को पहुँचने की इच्छा करता है—अर्थात् ये तीन प्रकार के लोग मुक्ति, मोक्ष या स्वतन्त्रता की स्थिति में रहते हैं; या उस स्थिति में पहुँचने की इच्छा करते हैं! अब रहे बद्ध लोग। समर्थ कहते हैं कि बद्ध लोगों को मुक्ति के मार्ग में लगाने का काम सिद्ध और साधकों को, मुमुक्षु जनों की सहायता से करना चाहिए:—

> विरक्तें निन्दक वन्दावे। विरक्तें साधक बोधावे।
> विरक्तें बद्ध चेववावे। मुमुक्षु निरुपणें॥ ३८॥
>
> द० २ स० ९

विरक्त अथवा सिद्ध पुरुषों को निन्दकों की वन्दना करना चाहिए। साधकों का बोध करना चाहिए और मुमुक्षु की सहायता से निरूपण द्वारा बद्ध जनों को मुक्त करना चाहिए—परतन्त्र पुरुषों को स्वतन्त्र करना चाहिए। जब यह कार्य सफल होगा, तभी सब को परमार्थ-लाभ होगा और नरदेह की सार्थकता होगी। अर्थात् जब सब लोगों को परमार्थ की प्राप्ति हो जायगी—सब लोगों को मोक्ष या पूर्ण स्वतन्त्रता मिल जायगी—तब अखिल मनुष्यजाति

का उद्धार होगा--यही मनुष्य-जाति का उद्धार समर्थ का सर्वोत्तम ध्येय है। समर्थ कहते हैं कि जब तक यह सार्वजनिक उद्धार न हो, तब तक प्रयत्न करते ही रहना चाहिए। यही मनुष्य-जाति का—नरदेह-प्राप्ति का—यत्न का सर्वोत्तम ध्येय है। जब इस ध्येय को प्राप्त करने में—मनुष्य-जाति का उद्धार करने में—यत्न होने लगता है तब मनुष्य-जाति के इतिहास का आरम्भ होता है। यह यत्न न जाने कब से हो रहा है—मनुष्य जाति के इतिहास का न जाने कब से आरम्भ हुआ, पर इसमें सन्देह नहीं कि जब तक अखिल प्राणिमात्र (मनुष्य-जाति) को परमार्थ की प्राप्ति न होगी—पूर्ण स्वतन्त्रता या मुक्ति न मिलेगी—तब तक यह यत्न होता ही रहेगा और मनुष्य-जाति का इतिहास बनता ही चला जायगा। अब देखना चाहिए कि इस सर्वोत्तम ध्येय को पूर्ण करने के लिए--जनोद्धार करने के लिए--सिद्धों को किन किन उपायों का अवलम्बन करने के लिए समर्थ ने इस ग्रन्थ में उपदेश दिया है।

११—लोकोद्धार के तीन उपाय।

समर्थ ने अपने दासबोध में इस बात का विस्तृत विवेचन किया है कि सिद्ध और साधकों को मुमुक्षुजनों की सहायता से, बद्ध लोगों का उद्धार किस तरह करना चाहिए—परतन्त्र लोगों के मन में स्वतन्त्रता की इच्छा उत्पन्न करके, उनका बन्धन किस प्रकार तोड़ना चाहिए। यही इस ग्रन्थ की विशेषता है। इस विषय का निरूपण करते हुए समर्थ ने समाज के उद्धार के—लोकोद्धार के--तीन उपाय बताये हैं। (१) नीतिस्थापना (२) धर्म्मस्थापना और (३) राजस्थापना।

हरि-कथा निरूपण। नेमस्तपणें राजकारण।
वर्तायाचें लक्षण। तेंही असावें ॥ ४ ॥

द० ११ स० ५

समर्थ ने अपनी भाषा में इनके ये नाम रक्खे हैं—बर्ताव का लक्षण या चारित्र्य; (२) हरिकथा निरूपण और (३) राजकारण। इन तीन उपायों से ही समाज स्वतन्त्र रहता है। अथवा परतन्त्र समाज का उद्धार करन के लिए—उसको स्वतन्त्र करने के लिए--सिद्धों को इन्हीं तीन उपायों का अवलम्बन करना चाहिए। यदि यह अभिलाषा और आवश्यकता है कि समाज मुक्त होवे, स्वतन्त्र होवे, परमार्थ का उपभोग करे, तो सिद्ध और साधकों को, मुमुक्षु—स्वातंत्र्येच्छुक—लोगों की सहायता से, इन्हीं तीन उपायों की योजना—स्थापना—करनी चाहिए। ऐसा न समझिए कि इस काम में सिद्ध और साधकों को कोई लाभ नहीं है। इस कार्य से समाज का हित तो होगा ही; पर सिद्ध और साधकों का भी हित होगा। समाज को दुःखित, पीड़ित, त्रस्त, विपन्न और बद्ध देख कर, सिद्धों का अन्तःकरण भी दुःखित होता है। तात्पर्य समाज के दुःख से सिद्धों को भी खेद होता है। अतएव समाज के दुःख विमोचन करने से--समाज को बन्धमुक्त करने से—सिद्ध पुरुषों को भी सुख होता है। इसलिए समाज का उद्धार करना सिद्धों का स्वतः सिद्ध कर्तव्य है। अब इन तीन उपायों का पृथक् पृथक् विवेचन करेंगे।

१—नीति-स्थापना। उपर्युक्त उपायों में से प्रथम नीति की स्थापना होनी चाहिए। बद्धजन-समुदाय में नीति का अत्यन्त लोप हो जाता है। स्वधर्म, भूतदया और आत्मज्ञान को तो वे भूले रहते ही हैं; परन्तु निंदा, द्वेष, अनीति, अनाचार, आलस, कपट, कलह, क्रूरता, कातरता, पाखण्ड, पाप, दुराशा, आदि दुर्गुणों का बड़ा विकट आवरण उन लोगों पर छाया रहता है। इस आवरण को निकालना—इन दुर्गुणों को दूर करना—नीति का काम है। नीति की स्थापना से मलिन वृत्तियाँ विमल हो जाती हैं और मनुष्य अपने सुधार के—अपने उद्धार के—मार्ग में लग जाता है। जब सिद्ध पुरुषों के उपदेश--सद्गुरु के उपदेश—से यह मालूम हो जाता है कि माया के सत्व, रज, तम, तीन गुणों में से कौन ग्राह्य और कौन त्याज्य है; तब ऐसा समझिए कि उद्धार का बहुत बड़ा काम हो चुका। मनुष्य को जिधर झुकाओ उधर झुक सकता है। उसे नीति की ओर लगाओ, तो उधर लग जायगा; अनीति की ओर लगाओ तो वह उसीमें फँस जायगा। इस प्रकार नरदेह के विषय में प्रस्तावना करके समर्थ ने चतुर और मूर्ख, कुविद्या और सुविद्या, सत्त्वगुण और तमोगुण का निरूपण द० २, स० २ में किया है। जो अज्ञ हैं, वे नीति जानते ही नहीं; इसलिए यदि वे कुलक्षणी हों तो कोई आश्चर्य नहीं। ऐसे लोग उपदेश-द्वारा सुधर सकते हैं। परन्तु "ज्ञान-लवदुर्विदग्धम्" अहम्मन्य पण्डितों का एक वर्ग होता है, जिसे समर्थ श्रीरामदासस्वामी 'पठितमूर्ख' कहते हैं, उनकी नीति कैसे सुधारी जाय? भर्तृहरि ने कहा है:—

ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तन्नरं न रञ्जयति।

अर्थः—अर्द्ध-दग्ध जड़ जीव कहँ विधिहु न रिझवन जोग।

प्रतापसिंह।

सचमुच इन पठितमूर्खों को सुधारना बड़ी टेढ़ी खीर है। ये लोग बहुश्रुत और व्युत्पन्न होते हैं; ब्रह्मज्ञान की बड़ी बड़ी बातें बतलाते हैं; परन्तु काम, क्रोध, मद, मोह, मत्सर, दम्भ, दुराशा और अहंकार के चक्कर में ऐसे पड़े रहते हैं कि वे अपने ही धर्म की निन्दा करते हैं; भक्ति-मार्ग का उच्छेद करते हैं; भूतदया को भूल जाते हैं। वे स्वयं ऐसा करते हैं और अज्ञ जनों से भी करवाते हैं। ऐसे पठितमूर्खों को भी नीति की शिक्षा देना, सब समाज के उद्धार की दृष्टि से, अत्यन्त आवश्यक है। समर्थ कहते हैं कि इस प्रकार मूर्ख और पठितमूर्ख दोनों को नीति की शिक्षा देना और उस शिक्षा के लिए संस्था स्थापित करना परमार्थ प्राप्ति या समाज के उद्धार का पहला उपाय है।

२—धर्मस्थापना। धर्म्म से तात्पर्य, यहाँ परमेश्वर की उपासना या भक्ति से है। भक्ति नव प्रकार की है। इनमें नवीं भक्ति आत्म-निवेदन श्रेष्ठ है; अर्थात् यही श्रेष्ठ धर्म्म है। अन्य आठ प्रकार की भक्तियों से, जीवात्मा और परमात्मा में भेद-भाव रह जाने की सम्भावना है—अर्थात् भक्त और ईश्वर में द्वैत की कल्पना कदाचित् रह सकती है; पर आत्मनिवेदन के द्वारा भक्त के मन में विभक्तता का भाव नहीं रहता। इससे अभिन्नता, अनन्यता या ऐक्यवृत्ति होती

है। यह उपासना प्रत्यक्ष आत्मज्ञान ही है । समर्थ के मतानुसार उपासना और ज्ञान भिन्न नहीं हैं । उपासना ज्ञानस्वरूप है—उपासना ही ज्ञान है । समर्थ ने अपने इस ग्रन्थ के अनेक स्थलों में उपासना का महात्म्य गाया है । समर्थ अभिमान और विश्वासपूर्वक कहते हैं कि:—

" उपासना सर्वव्यापक है; आत्माराम कहाँ नहीं है ? ठौर ठौर में राम भरा हुआ है । ऐसी मेरी उपासना है--वह कल्पनातीत है । वह निरंजन (परब्रह्म) के पास पहुँचा देती है "। अध्यात्मविद्या का श्रवण, देवपूजन, भजन, कीर्तन, सन्ध्यादि ब्रह्मकर्म, इन सब का समावेश उपासना में होता है । सारांश, कर्म और ज्ञान का समावेश उपासनामार्ग अर्थात् भक्ति-मार्ग में हो सकता है । भक्ति-मार्ग में प्रतिमापूजन--मूर्तिपूजा--कही है । परन्तु, स्मरण रहे कि प्रतिमा या मूर्ति, परमेश्वर का प्रतिनिधि-रूप है—स्वयं उस (प्रतिमा) का रूप या नाम परमेश्वर नहीं है । इस बात की चर्चा समर्थ ने ठौर ठौर में की है । जिस परमेश्वर की प्रतिमा हम पूजते हैं, उसको पहचानना चाहिए:—

" नाना देवों की नाना प्रतिमायें लोग प्रेमपूर्वक पूजते हैं; पर वास्तव में यह पहचानना चाहिए कि जिसकी प्रतिमा है वह परमात्मा कैसा है—पहचान कर भजन करना चाहिए । जैसे पहचान लेने पर साहब को बन्दगी या नमस्कार करते हैं, वैसे ही मूल परमात्मा को पहचान कर मूर्ति की पूजा करनी चाहिए । " अपनी कल्पना के अनुसार बनाई हुई परमेश्वर की प्रतिमा में परमेश्वर का ध्यान करना ही उपासना है । प्रतिमा का आकार—रूप—चाहे जैसा हो, और उसका नाम चाहे जो रक्खा गया हो; पर मुख्य बात यह है कि वह एक ही परब्रह्म (वस्तु) की भिन्न भिन्न प्रतिमायें ओर नाम हैं । खंडोबा, विठोबा, नारायण, राम, कृष्ण, लक्ष्मी, शिव, विष्णु, सरस्वती इत्यादि अनेक प्रकार के नाम उसी एक अनिर्वाच्य वस्तु को दिये गये हैं । इस अनिर्वाच्य वस्तु—परब्रह्म—परमात्मा की एकता को उपासना करते समय, कदापि भूल न जाना चाहिए । स्वधर्म, कुलधर्म, वर्णाश्रम-धर्म, सब एक उपासना-धर्म, अर्थात् भक्तिमार्ग में आ जाते हैं । लोगों को इस उपासना धर्म में--भक्तिमार्ग में—प्रवृत्त करना ही, उनको परमार्थ मार्ग में लगाना है । अतएव भक्ति-मार्ग की स्थापना, स्वधर्म की स्थापना, समाज के उद्धार का--मुक्ति या स्वतन्त्रता का—दुसरा बड़ा उपाय है । धर्म स्थापना करनेवाले सिद्ध पुरुष साक्षात् ईश्वर के अवतार हैं—

धर्मस्थापनेचे नर । ते ईश्वराचे अवतार ।
जाले आहेत पुढें होणार । देणे ईश्वराचें ॥ २० ॥

द० १० स० ६

धर्मस्थापन करनेवाले नर ईश्वर के अवतार हैं--वे हो गये हैं और आगे होनेवाले हैं देना ईश्वर के हाथ में है ।

३--राज्यस्थापना । नीति और धर्म की स्थापना से परमार्थ-मोक्ष मुक्ति स्वतन्त्रता-

की अंशतः प्राप्ति होती है--समाज का अंशतः उद्धार होता है। परन्तु उसकी पूर्णता के लिए--उस लाभ को अप्रतिबद्ध और चिरस्थायी करने के लिए—स्वराज्यस्थापन की आवश्यकता है। समाज में सभी लोग मुमुक्षु--मोक्ष या स्वतन्त्रता की इच्छा करनेवाले--अर्थात् नीतिमान् और धार्मिक नहीं होते। अधिकांश जन बद्ध होते हैं—परतन्त्र और अनीतिमान् होते हैं—अतएव अधर्मी होते हैं। नीतिमानों और धार्मिकों की प्रवृत्ति, नीति और धर्म की ओर होती है; अनीतिमानों और अधार्मिकों की प्रवृत्ति, अनीति और अधर्म की ओर होती है। इस लिए जब सिद्ध या साधक, मुमुक्षु जनों की सहायता से, समाज के उद्धार के लिए, नीति और धर्म की स्थापना का यत्न करने लगते हैं, तब बद्ध जन, अर्थात् अनीतिमान् और अधर्मी लोग, विरोध करते हैं—विघ्न उपस्थित करते हैं। इस विरोध का फल यह होता है कि नीति और धर्म की स्थापना पूरी तरह नहीं हो पाती; और यदि हुई भी तो वह बहुत समय तक टिक नहीं सकती; और अन्त में सारा समाज परमार्थ से परावृत्त हो जाता है। यह स्थिति मुमुक्षु जनों के लिए अत्यन्त हानिकारक होती है। मुमुक्षु जनों की संख्या स्वभावतः कम होती है; इसलिए वे केवल नीति और धर्म के बल पर बद्धजनों (अनीतिमान् और अधर्मी लोगों) को अपने दबाव में रखकर अनीति और अधर्म का पराभव नहीं कर सकते। सारांश, नीति और धर्म की रक्षा करने तथा अनीति और अधर्म का उन्मूलन करने के लिए किसी एक शासक संस्था की आवश्यकता होती है। उसीका नाम राज्यसंस्था है। स्वधर्म का विरोध करनेवाले हजारों बद्ध जन प्रत्येक समाज में होते हैं। नास्तिक और पाखण्डी लोग तो देव और धर्म के विरुद्ध झगड़ा मचाने का बीड़ा ही उठाये रहते हैं। सिद्ध और साधक जन तीव्र तप करके महा भाग्य से परमार्थ प्राप्त करते हैं, ज्ञान का अनुभव करते हैं; परन्तु तामसवृत्ति में डूबे हुए, बद्धावस्था में रह कर मिथ्या पदार्थ-सुख में ही आनन्द माननेवाले, मूढ़ लोगों को पूर्वोक्त सज्जनों की पारमार्थिक संस्था का रहस्य समझ नहीं पड़ता—इस लिए वे द्वेष करते हैं, उनकी निन्दा करते हैं। इतना ही नहीं, वे हमारी संस्था भंग करने का भी प्रयत्न करते हैं। ऐसे दुष्ट और अधम लोगों से धर्म की रक्षा करने के लिए एक शासक संस्था अवश्य चाहिए। जहाँ न्याय और धर्म का प्रसार होता है—जहाँ मुमुक्षु वर्ग का उदय होता है—जहाँ स्वतन्त्रता की इच्छा रखनेवाले लोग बढ़ने लगते हैं—वहाँ समाज का नियमन, प्रबन्ध और शासन करने के लिए, राज्यसंस्था निर्माण करने की आवश्यकता प्रतीत होती ही है। सच पूछो तो परमार्थ-प्राप्ति के लिए यत्न करनेवाले समाज में नीति और धर्म के बल पर स्थापित की हुई राज्यसंस्था आप ही आप दीखने लगती है।

इस राज्यसंस्था का तत्त्व दासबोध में अति मार्मिकता से प्रतिपादित किया गया है। व्यक्तीभूत नर-देह का आश्रय करके रहनेवाली आत्मा ही ' जाणीव ' या ज्ञानरूप है। मायोत्पादित देह का आवरण होने के कारण उस आत्मा का ज्ञान अपूर्ण रहता है। पूर्ण ज्ञान का अखण्ड निधि जो परात्पर परमात्मा है, उसके साथ सायुज्यता प्राप्त होने के लिए, इस अपूर्ण ज्ञानरूप आत्मा को, अपने से अधिक ज्ञान के अधिष्ठान का, आश्रय करना पड़ता है।

रायाचे सत्तेनें चालतें, परन्तु अवघीं पंचभूतें।
मूळीं आधिक जाणीवेचें तें, आधिष्ठान आहे ॥ ४ ॥

द० १५ स० ४

राजा अथवा राज्यसंस्था अधिक ज्ञान का अधिष्ठान है—यह सिद्धान्त प्रतिपादन करने के लिए दृष्टान्तः—

दुरस्ता दाटल्या फौजा, उंच सिंहासनीं राजा।
याचा विचार समजा, अन्तर्यामीं ॥ २ ॥

१५–३

हजारों सैनिकों का समूह सामने खड़ा रहता है; पर राजा ऊँचे सिंहासन पर विराजमान होकर अपने विशेष अधिकार से सब को आज्ञा देता है—इसी तरह लाखों करोड़ो लोगों के समाज पर, विशेष ज्ञान के कारण, परमेश्वररूपी राज्यसंस्था शासन करती है।

विवेकें बहुत पैसावले। म्हणोन अवतारी बोलिले।
मनु चक्रवर्ती जाले। येणेंचि न्यायें ॥ ५ ॥

१५–३

आज तक जिन जिन अवतारी राजाओं ने राज्य स्थापित किया, वे सब ' विवेक, अर्थात् ' ज्ञान ' के विशेष ' अधिष्ठान ' थे। भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि " नराणां च नराधिपम् "—मनुष्य–समाज में राजा मैं हूँ। इस प्रकार राजा परमेश्वर–रूप है और राज्यसंस्था परमेश्वर का आधिष्ठान है। इस राज्यसंस्था का मुख्य कार्य यही है कि वह धर्म और नीति की सहायता करे और स्वयं भी धर्म–नीति की सहायता से चले। यह पहले कह आये हैं कि धर्म और नीति का उद्देश परमार्थ–प्राप्ति है। इस लिए राज्य-संस्था का भी मुख्य हेतु परमार्थ–प्राप्ति ही होना चाहिए। यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि परमार्थ, मुक्ति, मोक्ष, या स्वतन्त्रता मनुष्य–जाति के उद्धार को कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जब मानवी समाज, परमार्थ–लाभ के लिए यत्न करने लगता है, जब ह परतन्त्रता के जाल से छूटने का उपाय करने लगता है—तब उसको नीति, धर्म और राज्य इन तीन संस्थाओं का आश्रय लेना पड़ता है। इन्हीं संस्थाओं के आधार पर मनुष्यसमाज नैतिक, धार्मिक और राजकीय स्वतन्त्रता—अतएव पूर्ण स्वातन्त्र्य या मोक्ष-प्राप्त करता है।

१२–उक्त संस्थायें कैसे स्थापित करना चाहिए।

समर्थ सिर्फ इतना ही बतला कर नहीं रह गये कि परमार्थ प्राप्ति के लिए नीति, धर्म और राज्य की संस्थाएँ आवश्यक हैं; किन्तु उन्होंने विस्तार–पूर्वक यह भी बतलाया है कि परो-पकार-बुद्धि से समाज का उद्धार करने के लिए इन संस्थाओं को किस तरह स्थापित करना चाहिए (१) नीति-संस्थाः—सिद्धों को एकान्तवासपूर्वक लोक-समुदाय इकट्ठा करके, उसके अनुभव मे अपने समय की वास्तविक नैतिक दशा का विचार करना चाहिए। उत्तम गुण

का सम्पादन करके लोगों को सिखाना चाहिए और अपना समुदाय उत्तरोत्तर बढ़ाना चाहिए। समुदाय के लोगों की योग्यता के अनुसार उन्हें काम सौंपना चाहिए और उनमें जो पुरुष पास रखने योग्य हों उन्हें पास रखना चाहिए, जो दूर रखने योग्य हों उन्हें दूर काम पर भेजना चाहिए। लोगों की मण्डलियाँ--सभा-समाज--बना कर उनमें भूतदया का बीजारोपण करने से नीति की स्थापना होगी। कारण यह है कि ज्ञानरूप से सब के अन्तःकरण समान होते हैं।

यह ज्ञान सब भूतों में--जीवों में--एकरूप होने के कारण सब लोगों को आत्मतुल्य मानना मनुष्य का सहज धर्म है। यह नीति-स्थापना की अत्यन्त सूक्ष्म विधि यहाँ हमने बतलाई। दासबोध में अत्यन्त विस्तृत वर्णन, विशेषता के साथ, किया गया है। सब बातें मूल ग्रन्थ पढ़ने से ही मालूम हो सकती हैं। (२) धर्म-भजन-संस्थाः—भक्तिमार्ग के लिए ब्राह्मण-मण्डली, सन्त-मण्डली और भक्त-मण्डली स्थापित करना चाहिए।

ब्राह्मणमण्डळ्या मेळवाव्या । भक्तमण्डळ्या मानाव्या ।
सन्तमण्डळ्या शोधाव्या । भूमण्डळीं ॥ १४ ॥

१९—६

परमात्मा के ज्ञानपूर्ण भजन से दशों दिशायें गूँज उठनी चाहिएँ। इस उपाय से कर्ममार्गी कर्मठ ब्राह्मण, ज्ञानमार्गी साधु सन्त और केवल भजनप्रिय, सब जाति और वर्ण के भक्तजन, एक दिल से, प्रेम पूर्वक, एकत्र हो सकते हैं। धर्मस्थापना करना सिद्धों का—साधुओं का—मुख्य कर्तव्य है:—

ऐसा जो महानुभाव । तेणे करावा समुदाव ।
भक्तियोगें देवाधिदेव । आपुला करावा ॥ ३२ ॥

१२—१०

शाहाणे करावे जन । पतित करावे पावन ।
सृष्टीमधें भगवद्भजन । वाढवावें ॥ ३३ ॥

१४—६

ऐसे महानुभावों को समुदाय एकत्र करना चाहिए और भक्तियोग से उस देवाधिदेव परमात्मा को अपनाना चाहिए। लोगों में नाना प्रकार की चतुराई फैलाना चाहिए। पतितों को पावन करना चाहिए और संसार भर में भगवद्भजन बढ़ाना चाहिए। सिद्धों को इस धर्मस्थापना का प्रबन्ध अपने ही जीवन भर के लिए न करना चाहिए, क्योंकि:—

आपण अवचितें मरोन जावें । मग भजन कोणें करावें ।
या कारणें भजनास लावावें । बहुत लोक ॥ ३७ ॥

१२—१०

अचानक एक दिन मृत्यु हो जाने पर फिर भजन कौन करेगा? इसलिये बहुत लोगों का समुदाय एकत्र करके, उसे भजन में लगाना चाहिए। किसी मत का पूर्ण प्रसार करन

के लिए अकेले मनुष्य की अपेक्षा बहु-जनघटित समाज, सभ्य-समुदाय या मण्डल अधिक उपयोगी है । आज-कल के बहुतेरे लोग कहते हैं कि यह प्रथा नई है—यहाँ विदेशियों ने चलाई है; पर देखना चाहिए कि श्रीसमर्थ कितने दिन पहले अपने दासबोध में इसका वर्णन —एक जगह नहीं अनेक स्थलों पर—कर गये हैं । सभा, समाज और मण्डलियों का उपयोग वर्तमान समाज के लोग जानने लगे हैं; पर इस विषय में भी बहुत सी बातें अभी दासबोध से जान कर अमल में लाना बाकी हैं । अस्तु । दो चार व्यक्तियों का मन हाथ में कर लेने से कुछ अधिक लाभ नहीं । महत्कार्य की सिद्धि के हेतु बहुतेरों का मनोगत जानना चाहिए:—

> जेणें बहुतांस घडे भक्ती । ते हे रोकडी प्रबोधशक्ती ।
> बहुतांचे मनोगत हातीं । घेतलें पाहिजे ॥ ३७ ॥
>
> १२—१

सिद्धों में प्रबोध-शक्ति—दूसरों को बोध करने की शक्ति-वक्तृत्वशक्ति का होना अत्यन्त आवश्यक है । जब तक यह शक्ति न होगी तब तक बहुत लोगों का अपने हाथ आ जाना कठिन है, नहीं-नहीं असम्भव है और यदि उनका मनोगत न जान पाया, तो समुदाय में मिला कर उन्हें भक्ति में कैसे लगा सकते हैं ? इस काम में बहुत उतावली भी न करनी चाहिए अन्यथा अनीतिमान्, अधार्मिक, स्वार्थी, बद्ध लोगों से विघ्न आ पड़ने की अधिक सम्भावना है । यह बात हम ऊपर भी कह चुके हैं । दासबोध में इस विषय का सब से अधिक विवेचन किया गया है—धर्म ही इस-ग्रन्थ का आलोच्य विषय है । हमने यहाँ संक्षेप में बतलाया है । अधिक जानने की उत्कण्ठा रखनेवालों को मूलग्रन्थ का ही मनन करना चाहिए । (३) राज्यसंस्था—इस संस्था का स्थापित करना भी सिद्ध लोगों का—साधु और निस्पृह लोगों का—महन्त पुरुषों का—उतना ही जिम्मेदारी का कर्तव्य है, जितना नीति और धर्म की संस्थाओं के विषय में है । इस काम के लिए साधुओं को बहुत बड़ा समुदाय करना पड़ता है और उसको दृढ़तापूर्वक अपने अधीन रख कर सदा कर्तव्य में तत्पर रखना पड़ता है । श्रीसमर्थ इस विषय में कहते हैं:—

> समुदाव पाहिजे मोठा । तरी तनावा असाव्या बळकटा ।
> मठ करून ताठा । धरूँच नये ॥ २२ ॥

भारी समुदाय को दृढ़तापूर्वक अपने अधिकार में तो रखना ही चाहिए, पर बड़े दमदिलासे के साथ समुदाय से काम लेना चाहिए; क्योंकि समुदाय बना कर उसके साथ अकड़-बाजी नहीं कर सकते । अकड़बाजी करने से फूट पैदा हो जाती है । अस्तु, जब ऐसा समुदाय हो जाता है, तब सब लोगों में परमार्थबुद्धि—मोक्ष की बुद्धि—धड़ाके के साथ जागृत होने लगती है:—

> ठाई ठाई उदण्ड तांबे । मनुष्यमात्र तितुके झोंबे ।
> चहूंकडे उदण्ड लोंबे । परमार्थबुद्धी ॥ २७ ॥
>
> १५—०

"आत्मवत्सर्वभूतेषु" के अनुसार सब लोगों को, सब समाज को, सब राष्ट्र को, आत्मवत् मानना ही राजकीय दृष्टि से 'परमार्थबुद्धि' है। जब यह बुद्धि समुदाय में—बद्ध-जन-समाज में—सम्पूर्ण राष्ट्र में—प्रकाशित होकर दृढ़ हो जाती है, तब नीति और धर्म की संस्थाओं की रक्षा होती है। इस प्रकार जो समुदाय 'व्याप'—विस्तृत प्रयत्न—करता है और धक्का-धक्की सहता है वह देखते देखते भाग्य शिखर पर चढ़ जाता है—परमार्थ को पहुँच जाता है:—

> व्याप आटोप करिती। धके चपेटे सोसिती।
> तेणें प्राणी सदेव होती। देखत देखताँ॥ ७॥
>
> १५–३

कहावत भी है कि, "टाँकी के घाव सहे सो देवता होय"। टाँकी से गढ़–गढ़ कर मूर्ति तैयार की जाती है, तब उसमें देवपन आता है।

बिना कष्ट फल नहीं है; बिना किये कुछ नहीं है। राज्य–संस्था प्रस्थापित. हुए बिना नीति और धर्म की रक्षा कैसे हो सकती है? सिद्ध और साधकों को, स्वातन्त्र्येच्छुक लोगों की सहायता से, राजकीय समुदाय बनाने का उपदेश करके समर्थ व्यक्तिमात्र को शिक्षा देते हैं कि देश में जो राजा हो, या राज्य का प्रतिनिधि हो, उसके समुदाय में जाकर, उसके आश्रय से, रहना चाहिए। आश्रयरहित या अलग रहने से अच्छी गति न होगी।

> समर्थांची नाहीं पाठी। तयास भलताच कुटी॥ ३०॥
>
> १६–१०

जो समर्थ पुरुष के आश्रय से नहीं रहता, उसे मामूली आदमी भी कूट डालता है। इस प्रकार राज्यसंस्था प्रस्थापित करना नीतिमान् और धार्मिक नेताओं तथा अनुयायियों को हितदायक है। इस संस्था की सहायता से जीवात्मा को परमात्मा से सायुज्यता, अर्थात् परमार्थ, मोक्ष, मुक्ति या स्वतन्त्रता मिलती है:—

> परमार्थी तो राज्यधारी। परमार्थ नाहीं तो भिकारी।
> या परमार्थाची सरी। कोणास द्यावी॥ २३॥
>
> १–९

जो परमार्थी है, वही राजा है और जिसके पास परमार्थ नहीं वही भिखारी है—इस परमार्थ की उपमा किससे दें?

१३—दासबोध की विशेषता।

हम पहले कह चुके हैं कि दासबोध में एक विशेषता है। इस ग्रन्थ में वेदान्त के सिद्धान्तों का निरूपण, समर्थ के समय के महाराष्ट्र की परिस्थिति के अनुकूल, किया गया है। महाराष्ट्र की उस समय की अवस्था में जिस प्रकार का निरूपण उचित, आवश्यक और उपयोगी था,

वैसा ही इस ग्रन्थ में समर्थ ने, स्वतन्त्र रीति से, किया है । भगवद्गीता मे वेदान्तविषय का जो निरूपण है, उसके सिद्धान्त यद्यपि सर्वदा एक समान उपयुक्त हो सकते हैं; फिर भी वे गीता कालीन समाज-अवस्था के अनुकूल अधिक लगते है । वैसा निरूपण १७ वीं सदा में समर्थ को अनावश्यक जान पडा । इसलिए, यद्यपि इस ग्रन्थ में वेदान्त के उन्हीं सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है जो उपनिषद्, गीता और भागवत आदि ग्रन्थो मे है; तथापि प्रबन्ध-रचना, निरूपण शैली और दृष्टान्त आदि बिलकुल नये ढंग के हैं--ऐसे हैं जो तत्कालीन महाराष्ट्र के लिए विशेष उपयुक्त थे । दासबोध किसी अन्य ग्रन्थ का अनुवाद, टीका या " आधार पर " लिखा हुआ ग्रन्थ नहीं है । अपने समय के समाज (देश) की नैतिक, धार्मिक और राजकीय दशा पूरी तौर से ध्यान में लाकर, समर्थ ने यह ग्रन्थ स्वतन्त्र बुद्धि से बनाया है । उपनिषद्, गीता और भागवत आदि संस्कृत ग्रन्थों के वेदान्त-विषयक सिद्धान्तों को समर्थ ने प्रमाणभूत अवश्य माना है; परन्तु प्राचीन सिद्धान्तों का जो विपरीत अर्थ समाज के मन मे भर गया था, उसको इस ग्रन्थ मे दूर किया है । दुसरी विशेषता इस ग्रन्थ में यह है कि इसमे यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि, हमारा वेदान्त निराशावादी या आलस्यवादी नहीं है । तिस पर भी ऐसे बहुतेरे लोग समाज में देख पड़ते हैं, जो संन्यासी, बैरागी और साधु का वेष बनाकर, सब लौकिक कार्यों का त्याग करके, दूसरों के भरोसे पेट भरते हैं । यद्यपि ये लोग लोकोद्धार का कोई महत्कार्य करते हुए देख नहीं पडते, तथापि बहु-जन समाज मे बड़े ज्ञानी परमार्थी और सिद्ध पुरुष माने जाते हैं । हमारे वेदान्त ग्रन्थ जोर से पुकार कर यही शिक्षा देते हैं कि, अरे भाई, कर्म-त्याग को संन्यास, विरक्ति या ज्ञान नहीं कहते और लोगों की भाँति, किंबहुना अन्य जनों से अच्छी तरह, संसार के सब काम करते हुए, उन कर्मों के फल की आशा--भोग में आसक्ति--न रखना ही सच्चा संन्यास है--सच्चा वैराग्य है ।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

भ० गी० अ० ६.

जो कर्म-फल का आसरा न रखकर स्ववर्णाश्रमोचित कर्म करता है—वही संन्यासी है और वही योगी है । जिसने अग्निहोत्रादि सत्कर्मों का त्याग किया है, या जिसने कर्तव्य कर्मों का त्याग किया है, वह संन्यासी अथवा योगी नहीं है । परन्तु इस सिद्धान्त का त्याग करके लोग परोपजीवी आलसी और स्थाणुवत्--जड़ या अचल की भाँति--हो गये । यह जीवनक्रम सिद्ध और संन्यासी के स्वभाव के विरुद्ध है--यह बात समर्थ ने भिक्षा निरूपण नामक समास में कही है । परमार्थज्ञानी सिद्ध लोगों को चाहिए कि वे लोगों को परमार्थ का रास्ता दिखावें । यह सिद्धान्त दासबोध में जगह जगह पर प्रतिपादन किया गया है । 'महन्त-लक्षण,' 'निस्पृह का बर्ताव,' 'निस्पृह-लक्षण,' 'निस्पृह-व्याप-लक्षण' और 'निस्पृह-सिखापन' आदि कई पूरे पूरे समासों में भी यही वर्णन है । दासबोध की यह

विशेषता सदा ध्यान में रखने योग्य है। सिद्ध और ज्ञानी पुरुषों के लौकिक कर्तव्य जितनी स्पष्टता और विस्तारपूर्वक इस ग्रन्थ में बताये गये हैं, वैसे और कहीं देखने में नहीं आते। तीसरी विशेषता यह है कि दासबोध में समुदाय के द्वारा परमार्थ-प्राप्ति का मार्ग बतलाया है; परन्तु प्राचीन वेदान्त-ग्रन्थों में सिर्फ यही बतलाया गया है कि व्यक्तिमात्र को नीति और धर्म या भक्ति की प्राप्ति किस प्रकार कर लेनी चाहिए। उनमें इस बात का विचार नहीं किया गया कि समुदाय बनाकर समाज को नीति और धर्म के मार्ग में कैसे लगाना चाहिए। इस विषय का निरूपण ही दासबोध का मुख्य रहस्य है।

१४—तत्कालीन परिस्थिति।

इस विशेषता का कारण माहाराष्ट्र की उस समय की परिस्थिति है। यदि परमार्थ का और उसकी प्राप्ति के साधनों का इस प्रकार स्पष्ट और विस्तृत विवेचन न किया जाता, तो उस समय बद्ध या परतन्त्र-समाज को कोई लाभ न होता। उस समय की सामाजिक दशा का वर्णन स्वयं समर्थ ने दासबोध में किया ही है। राज्यसंस्था परकीय और विधर्मी लोगों के अधीन थी। नीति और धर्म का उच्छेद हो रहा था। परकीय लोग हिन्दू प्रजा की हर तरह से दुर्दशा कर रहे थे। हिन्दू-समाज बिलकुल फूट गया था। दासबोध के कलि धर्म-निरूपण में प्रायः इस परिस्थिति का वर्णन है—मुसल्मानों का वैभव देख कर लोग अपने आचार, विचार, शास्त्रसिद्धान्त, रीति-रवाज, देव-धर्म और परिपाटी आदि छोड़ने लगे। अपने देवस्थानों का त्याग करके दाऊद-उल्-मुल्क नाम के मुसलमान पीर को भजने लगे। कितने ही लोग तुर्क या मुसल्मान हो गये। ब्राह्मणों की बुद्धि मारी गई। शूद्र ब्राह्मणों के गुरु बन बैठे। मानसिक दुर्बलता के कारण ब्राह्मण भी शूद्रों का उपदेश सुनने लगे। शूद्र ब्राह्मणों का आचार करने लगे और ब्राह्मण व्यभिचार में फँस कर आपस में कलह करने लगे। वर्णव्यवस्था भ्रष्ट हो गई। कोई किसीकी सुनता समझता न था। इस प्रकार नीति और धर्म का दबाव जाता रहा। तीर्थक्षेत्र भ्रष्ट किये गये। मूर्तियाँ खण्डित की गईं। स्त्रियों का सतीत्व हरण किया गया—ऐसी अवस्था देख कर ही समर्थ ने शके १५५४ में अर्थात् सन् १६३२ ईसवी में, लोकोद्धार का संकल्प किया—नीति, धर्म और राज्य की स्थापना करके समाज को परमार्थ-मार्ग में लगाने का निश्चय किया। उसी निश्चय का मूर्तिमान् फल यह दासबोध ग्रन्थ है।

१५—साधारण तौर पर चार प्रकार की विवेचन पद्धति।

यह मानवी समाज आज हजारों वर्षों से जो लगातार प्रयत्न कर रहा है, उसका विचार अनेक दृष्टियों से किया जा सकता है। (१) कितने ही शास्त्रज्ञ इस समाज का आदि से लेकर अब तक का इतिहास देख कर, उस यत्न के तात्पर्य का विचार करते हैं। वे इस विचार से इतना ही मालूम कर सकते हैं कि यह समाज अमुक अमुक चरित्र आज तक कर चुका है। यह बात उसके अगले चरित्र से जानी जा सकती है कि अब आगे यह समाज क्या क्या लीला करेगा। उसके सम्बन्ध में पहले ही कुछ कहना इतिहास का

काम नहीं है । इस पद्धति को समाज के यत्न का विचार करने की " ऐतिहासिक पद्धति " कहते हैं । (२) बहुत से शास्त्रज्ञ इस बात का विचार करते हैं कि यत्न करते समय यह समाज कौन कौन रूप और शरीर धारण करता है ये शास्त्रज्ञ बड़ी उत्सुकता के साथ इस बात का विचार करते हैं कि यत्न करते समय समाज एकसत्ताक रहता है या बहु-जन-सत्ताक रहता है; चातुर्वर्ण्य नियमों के अनुसार चलता है या एक जाति में ही रहता है । इस पद्धति को, समाज के यत्न का विचार करने की " शारीरिक पद्धति " नाम दिया गया है । (३) कोई कोई तत्त्वज्ञ समाज के रूपों अथवा चरित्रों के लक्षणों का ही निश्चय करते हैं; फिर समाज चाहे कोई भी रूप ले या चाहे जो काम करे । इस प्रकार की पद्धति को " लाक्षणिक पद्धति " कह सकते हैं । (४) इन तीन पद्धतियों के सिवा एक और भी चौथी पद्धति है । इसमें समाज के चरित्र, शरीर अथवा लक्षणों की ओर पूरी तौर से ध्यान देने का नियम नहीं है, किन्तु इस पद्धति में यह विचार किया जाता है कि जिस समाज के ये चरित्र, शरीर अथवा लक्षण हैं उसके चालक की दृष्टि किस ओर है । इस पद्धति को " आत्मिक " अथवा " तात्विक " किंवा " वैवेकिक " —विवेक की— पद्धति कहते हैं । इस पद्धति में समाज के मुख्य चालक आत्मा के यत्न का विचार किया जाता है । इस पद्धति में पहले आत्मा का स्वभाव, रूप, कार्य और अन्तिम हेतु आदि प्रश्नों की चर्चा करके, फिर उससे इस बात का विवेचन किया जाता है कि समाज किस ओर जा रहा है । इन चार पद्धतियों को योरप के विद्वान् क्रमशः (1) Historical (2) Morphological (3) Physiological (4) Psychological किंवा Philosophical अथवा Rational कहते हैं । अब हम इस बात का विचार करेंगे कि इन चारों पद्धतियों में से समर्थ ने किस पद्धति का स्वीकार किया है ।

१६-दासबोध में स्वीकार की गई विवेचन-पद्धति ।

इन पद्धतियों में से चौथी आत्मिक या तात्विक अथवा वैवेकिक, पद्धति का अवलम्बन श्रीसमर्थ ने अपने इस ग्रन्थ में किया है । योरप में भी श्लेगल, हेगल आदि कई तत्त्ववेत्ताओं ने इसी पद्धति का अनुसरण किया है । यह बात प्रकट ही है कि जो जो पुरुष तत्त्वज्ञान, अर्थात् आत्मज्ञान, के पीछे लगे हैं, वे इस पद्धति का अवलम्बन करेंगे ही । जब मनुष्य जाति सब प्रकार से आत्मा ही पर निर्भर है, तब फिर उसकी चाहे जिस हलचल पर विचार किया जाय, वह आत्मा की ही दृष्टि से करना उचित भी है । यदि वह विचार किसी अन्य दृष्टि से किया जायगा, तो अवश्य एकदेशीय होगा । अन्य दृष्टि से विचार करना भी कई प्रकार से उपयोगी है; परन्तु यदि मानवी जाति के इस विस्तृत यत्न के अन्तिम हेतु का विचार करना है, तो उस आत्मिक अथवा तात्त्विक पद्धति का ही स्वीकार करना पड़ेगा । पहली तीन पद्धतियों का अवलम्बन करनेवाले शास्त्रज्ञों के मत से सुख-वृद्धि और राज-पुरुषों का सुख-साधन आदि हेतु समाज अथवा राज्य के यत्न के अन्तिम हेतु हैं । इनके सिवा ब्लण्श्ली के समान इति

हासज्ञ और राजनीतिज्ञ यह भी प्रतिपादन करते हैं कि राष्ट्रीय गुणों की पूर्ण वृद्धि करना समाज अथवा राज्यस्थापन का अन्तिम और मुख्य उद्देश है। परन्तु इस बात की परीक्षा नहीं कर सके हैं कि इतना बड़ा और अव्याहत प्रयत्न करने में सम्पूर्ण मानवजाति का अन्तिम हेतु क्या है। इसका कारण यही है कि वे समाज की बाहरी और भीतरी उपाधियों की ही ओर ध्यान देते हैं पर विमल और निरुपाधि आत्म-स्वरूप की ओर ध्यान नहीं देते। उसकी ओर ध्यान रख कर मानव--समाज के यत्न का, जिन युरोपीय तत्त्ववेत्ताओं ने विचार किया है, उनमें से हेगल के विचार श्रीसमर्थ के विचारों से बहुत कुछ मिलते हैं। यह तत्त्वज्ञ वेदान्ती था। इसने अपने Philosophy of History नामक ग्रन्थ में, अध्यात्म दृष्टि से, मानवसमाज के अन्तिम हेतु का विवरण किया है। इसका सारांश नीचे दिया जाता है; जिससे पाठकों को मालूम हो जायगा कि दासबोध का मत हेगल के मत से कितना मिलता है।

१७—हेगल और समर्थ के मत में समानता।

यह जगत् आत्मा और माया इन दोन घटकों से बना हुआ दिखलाई देता है। जितना कुछ चित्स्वरूप है वह वह आत्मा है और जो कुछ पंचभूतात्मक है, वही माया है। मानव-समाज के इतिहास में पंचभूत अर्थात् नदी, पहाड़, हवा पानी आदि का बड़ा महत्त्व है। परन्तु इन मायावी पंचभूतों से हजारगुना अधिक महत्व, मानव जाति के इतिहास में आत्मा का है, इसलिए इस प्रधान घटक आत्मा की प्रगति और उसके मूर्त अवतार के ही इतिहास को मानव जाति का इतिहास कहना चाहिए। माया का मुख्य लक्षण जड़ता, परतन्त्रता किंवा बद्धता है; और आत्मा का मुख्य लक्षण सूक्ष्मता, स्वतन्त्रता अथवा मोक्ष है। आत्मा स्वयम्भू, स्वतन्त्र और स्वसंवेद्य है—अर्थात् उसे वही जान सकता है। आत्मा अपने मुख्य रूप को, अर्थात मोक्ष—मुक्ति या स्वतन्त्रता—को ढूँढ़ता रहता है। इसी ढूँढ़ने के प्रयत्न को मानव--इतिहास कहते हैं। इस इतिहास का सूक्ष्म रीति से विचार करने पर जान पड़ता है कि वर्तमान यूरोपियन या जर्मन समाज को यह मालूम हो गया है कि हम सब मनुष्य मुक्त हैं—अथवा मुक्त होने के योग्य हैं। ग्रीक और रोमन लोगों को केवल इतना ही मालूम हुआ था कि कुछ मनुष्य मुक्त होने के योग्य हैं; और हिन्दू, चीनी आदि पूर्वीय लोगों को इतना ही मालूम था और है कि मुक्त केवल एक ही है। आत्मा के मुक्त स्वरूप के विषय में, इन तीन समाजों के ऐसे भिन्न भिन्न विचार होने के कारण ही यूरोपियन लोग पूर्ण स्वतन्त्र हैं; ग्रीक और रोमन लोक अंशतः स्वतन्त्र थे, और हिन्दू तथा चीनी लोग पूर्ण परतन्त्र अथवा बद्ध हैं। इस प्रकार बद्धता, मुमुक्षा और मुक्ति ही आत्मा के इतिहास का, अर्थात् जगत् के इतिहास का, क्रम है। अतएव मानव समाज के इस सारे प्रयत्न का अन्तिम उद्देश मुक्ति—मोक्ष या स्वतन्त्रता है। यही स्वतन्त्रता, यही मोक्ष, यही स्व-संवेद्यता आत्मा की सत्ता या तत्त्व है। इस तत्त्व में जा मिलने की इच्छा करनेवाला, अर्थात् मुमुक्षु आत्मा ही, धर्म, नीति और राज्य ये तीन रूप धारण करता है। इसमें से तीसरे रूप अर्थात् राज्य

के चरित्र का नाम राजकीय इतिहास है। ज्योंही आत्मा राज्यरूप से मूर्त होकर अवतीर्ण हुआ; त्योंही समझ लेना चाहिए कि अब स्वतन्त्र स्थिति प्राप्त कर लेने का मार्ग खुल गया। इस मार्ग को खोलनेवाले सीझर और नेपोलियन के समान वीर पुरुषों में जो राजस, तामस और सात्त्विक गुण होते हैं उन्हींके प्रभाव मे जगदुद्धार और उसकी प्रगति होती है, अर्थात् आत्मा अपनी तत्ता अथवा तत्त्व या पूर्ण स्वतन्त्रता की ओर जाती है। ऐसे ही लोगों को अवतारी या वीर पुरुष कहते हैं। राज्य, यदि उस परमात्मा अथवा जीवात्मा की तत्ता का अधिष्ठान या मूर्त स्वरूप है; तो—वही उत्तम है जिसमे राज्य के हित की दृष्टि, उस राज्य के घटक सारे मनुष्यों के हित की दृष्टि से सब तरह से मिलती हो। इस प्रकार का मेल होने के लिए, प्रत्येक मनुष्य को आत्मा के तत्त्व की, या परमार्थ की. पहचान होनी चाहिए। यह पहचान करा देने का काम, राष्ट्र की शिक्षा सम्बन्धी अथवा और इसी प्रकार की अनेक संस्थाओं का है। इन संस्थाओं से राज्य--घटक व्यक्तिओं में आध्यात्म-ज्ञान की ओर ले जानेवाले सात्त्विक और राजस गुणों का प्रादुर्भाव होता है। ऐसी अनेक संस्थाओं का विचार हेगल ने अपने फिलासफी आफ हिस्ट्री (Philosophy of History) मे नहीं किया है, परन्तु श्रीसमर्थ ने अपने दासबोध में किया है।

१८—हेगल और समर्थ के तत्त्वज्ञान में मतभेद और हेगल का भ्रम।

ऊपर के अत्यन्त संक्षिप्त पृथक्करण से पाठकों को यह मालूम हो गया होगा कि दासबोध और हेगल के तत्त्वज्ञान मे कितनी समता है। हेगल और श्रीसमर्थ स्वामी रामदास के तत्त्वज्ञान में एक जगह ध्यान देने योग्य एक बड़ा मतभेद है। वह यह कि, हेगल ने अपनी यह भ्रममूलक समझ योंही कर ली कि हिन्दू लोगों के मत से एक ही मुक्त है और बाकी सब बद्ध हैं। हेगल ने अपने इतिहासविषयक व्याख्यान सन् ई० १८२० से १८३१ तक के दश वर्षों में रचे। उस समय महाराष्ट्र का इतिहास यूरोपवालों को बिलकुल न मालूम था। सत्रहवीं शताब्दी में आत्मा की सत्ता का खोज करने के लिए मराठों ने जो प्रचण्ड क्रान्ति की वह हेगल को न मालूम थी। उपनिषदों की तरह यदि समर्थ के ग्रन्थ हेगल के देखने में आये होते, तो उसे यह बात अच्छी तरह मालूम हो जाति कि हिन्दू लोगों ने जिस प्रकार आत्मा की तत्ता का खोज किया, उसी प्रकार उस तत्ता को मूर्त स्वरूप देने का प्रयत्न रामदास और शिवाजी ने किया। सच तो यह है कि समर्थ रामदास ने स्पष्ट कहा है कि सब लोग मुक्त हैं:—

कोणासीच नाहीं बन्धन। भ्रान्तिस्तव भुलले जन॥ ५७॥

५—६

इसलिए कहने की आवश्यकता नहीं कि महाराष्ट्र-इतिहास और महाराष्ट्र-साहित्य के अज्ञान के कारण हेगल ने उपर्युक्त असत्य विधान किया है। इसके सिवा हेगल ने जिस समय अपने व्याख्यान दिये उस समय हिन्दुस्तान की राजकीय स्थिति बहुत ही विपरीत हो गई

थी। इसी विपरीत स्थिति का विपरीत वर्णन, मिल आदि ग्रन्थकारों ने किया और हेगल ने भी अपने अनुमान उसी विपरीत वर्णन से स्थिर किये। इस आर्य-भूमि में सात्त्विक गुणों का उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जो ह्रास हुआ; उसके लिए यदि महाराष्ट्र के लोगों को दोष दिया जाय, तो यह एक बार सुन लिया जा सकता है; पर अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के पहले सौ सवा सौ वर्ष में सद्गुणों का जो उदय महाराष्ट्र में हुआ था, उसकी ओर यदि ये लोग (युरोपियन) देखी-अनदेखी करें, तो यह केवल पक्षपात का लक्षण है। पक्षपात के ही कारण हेगल ने यह अवास्तव विधान किया है कि हिन्दु लोगों का मन One is free (एक स्वतन्त्र है) रहता है। जब वेदान्त, गीता और श्रीरामदास बारंबार यह कह रहे हैं कि सद्गुणों से सब लोग मुमुक्षु अर्थात् स्वतन्त्र होने योग्य हैं और जब स्वयं हेगल ने मोक्ष का सिद्धान्त वेदान्त-ग्रन्थों से लिया है; तब यही कहना पड़ता है कि निस्सन्देह उसका उक्त कथन पक्षपात, दुरभिमान, दुराग्रह और महाराष्ट्र-इतिहास का अज्ञान प्रकट करता है। यूरोपियनों के इस दुराग्रह को दूर करने के लिए और यह सिद्ध करने के लिए, कि आज तीन सौ वर्ष से यूरोपियनों का जो परमार्थ की ओर जाने का हेतु देख पड़ता है, वही मराठों का भी था। इधर एक इतिहास-वेत्ता ने एक ग्रन्थ लिखा है। वह ग्रन्थ रानडे का " मराठों का इतिहास " है। रानडे का यह सिद्धान्त सर्वमान्य है कि मराठों का इतिहास जगत् के इतिहास का एक घटक होने के योग्य है। यदि यह ग्रन्थ अपने समय से १०० वर्ष पहले बना होता, तो हेगल के समान लोगों को जगत् के इतिहास के तत्त्वदर्शन में कुछ फेर-फार अवश्य करना पड़ता। अस्तु, यहाँ तक जो पृथक्करण और तुलना की गई उससे पाठकों को यह मालूम हो गया होगा कि दासबोध ग्रन्थ किस स्वरूप का है। यह ग्रन्थ वास्तविक इतिहास के तत्त्वज्ञान से पूर्ण है। हाँ, इतना जरूर है कि इस ग्रन्थ की विवेचन-पद्धति ऐतिहासिक नहीं है; वह आध्यात्मिक किंवा तात्त्विक है।

१६—दासबोध में योगमार्ग क्यों नहीं बतलाया ?

यहाँ तक इस ग्रन्थ में वर्णित मुख्य मुख्य सिद्धान्तों के विषय में जो विवेचन किया गया, उससे किसी किसी को कदाचित् यह सन्देह उठ सकता है कि श्रीसमर्थ ने भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग का जिस प्रकार निरूपण किया है उसी प्रकार योग-मार्ग का क्यों नहीं किया ? इसका उत्तर यही है कि प्रथम तो वेदान्त में योगमार्ग का विशेष महत्त्व ही नहीं है। इसके सिवा समर्थ कट्टर अद्वैतवादी थे; इसी लिए योगमार्ग के घटाटोप का उन्होंने अपने ग्रन्थों में वर्णन नहीं किया। दासबोध और समर्थ के अन्य ग्रन्थों में कहीं कहीं हठयोग के ढोंगियों का कुछ वर्णन अवश्य पाया जाता है; परन्तु योग का पूरा पूरा वर्णन उनके ग्रन्थों में न होने का एक यह भी कारण हो सकता है कि उसका अभ्यास साधारण जन-समूह के लिए अत्यन्त दुष्कर है। योगाभ्यास के लिए निर्वात और शान्त स्थान चाहिए, मित और सात्त्विक भोजन चाहिए तथा मूक और शान्त-

वृत्ति चाहिए, और और भी इसी प्रकार के अनेक कठिन साधनो की योगमार्ग मे आवश्यकता है। इन बातो पर विचार करने से जान पड़ता है कि गृहस्थी या संसारी लोगो के लिए योगमार्ग दु:साध्य ही नही, किन्तु असाध्य है। इसलिए श्रीसमर्थ ने योगमार्ग से जाने का उपदेश नही किया, तो इसमें क्या आश्चर्य है? वास्तव मे उन्हे ऐसा ही करना उचित भी था। उन्होंने अपने दासबोध मे कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग का जो उपदेश दिया है वह अत्यन्त सुलभ और अमूल्य है।

२०—उपसंहार।

दासबोध का रहस्य जान कर उससे शिक्षा ग्रहण करने के लिए इस ग्रन्थ ही को बार बार पढ़ना और उसमे लिखे हुए सिद्धान्तों का मननपूर्वक विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। हमें यह पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रन्थ के सिद्धान्तों के अनुकूल यदि आचरण किया जायगा तो हमारे राष्ट्र का अभ्युदय अवश्य होगा।

हिन्दी-दासबोध।



पहला दशक।

पहला समास—ग्रन्थारम्भ-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

श्रोता पूँछते हैं कि यह कौन ग्रन्थ है। इसमें क्या कहा है। और इसके श्रवण करने से क्या प्राप्त होता है ॥ १ ॥ उत्तरः—इस ग्रन्थ का नाम दास-बोध है। इसमें गुरु और शिष्य का संवाद है और इसमें स्पष्टरूप से भक्ति-मार्ग कहा गया है ॥ २ ॥ इस ग्रन्थ में नवविधा भक्ति, ज्ञान, वैराग्य के लक्षण और बहुत करके अध्यात्मनिरूपण किया गया है ॥ ३ ॥ इस ग्रन्थ का यह अभिप्राय है कि भक्ति के योग से मनुष्य निश्चय करके ईश्वर को प्राप्त करता है ॥ ४ ॥ मुख्य भक्ति, शुद्ध ज्ञान, आत्मस्थिति, शुद्ध उपदेश, सायुज्यमुक्ति, मोक्षप्राप्ति, शुद्ध स्वरूप, विदेहस्थिति, अलिप्तता, मुख्य देव, मुख्य भक्त, जीव तथा शिव, अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा, मुख्य ब्रह्म, नाना मत, आदि बातों का इस ग्रन्थ में निश्चय किया गया है और यह भी बतलाया गया है कि 'मैं' क्या है। मुख्य उपासना, नाना प्रकार का कवित्व, नाना प्रकार का चातुर्य, मायोद्भव अर्थात् माया की उत्पत्ति, पञ्चभूत और कर्त्ता आदि के लक्षण इस ग्रन्थ में कहे गये हैं ॥ ५—११ ॥ इसमें नाना प्रकार के संशय या सन्देह और आशंकाएँ मिटाई गई हैं, तथा बहुत प्रकार के प्रश्न समझाये गये हैं ॥ १२ ॥ इस प्रकार उपर्युक्त विषयों का बहुधा इस ग्रन्थ में निरूपण किया गया है। समस्त ग्रन्थ में जो कुछ कहा गया है उतने सब का खुलासा इस स्थान में बतलाया नहीं जा सकता ॥ १३ ॥

तथापि, पूरा दासबोध बीस दशकों में विभाजित करके स्पष्ट कर दिया है और प्रत्येक दशक का विषय उसी में कह दिया है ॥ १४ ॥ अनेक ग्रन्थों की सम्मति, उपनिषद्, वेदान्त, श्रुति, शास्त्र और मुख्य आत्मप्रतीति, (अर्थात् स्वयं रामदास स्वामी ने परमार्थ-मार्ग में जो अनुभव प्राप्त किया उसके) के आधार पर इस ग्रन्थ की रचना हुई है ॥ १ ॥ बहुत से ग्रन्थों

की सम्मति के योग से यह ग्रन्थ रचा गया है, इस लिये इसे मिथ्या नहीं कह सकते। तथापि यह बात अब प्रत्यक्ष अनुभव से भी मालूम हो जायगी (अर्थात् ग्रन्थ की सचाई-झुटाई अभी की अभी, उसके अध्ययन से प्रत्यक्ष होगी—किसीके कुछ कहने से क्या) ॥ १६ ॥ लोग यदि मत्सर के कारण इसे मिथ्या कहेंगे तो मानो वे सभी ग्रन्थों का (नाना प्रकार के ग्रन्थों की सम्मति का) और भगवद्वाक्यों का उच्छेदन अर्थात् खंडन करेंगे॥१७॥ शिवगीता, रामगीता, गुरुगीता, गर्भगीता, उत्तरगीता, अवधुतगीता, वेद, वेदान्त, भगवद्गीता, ब्रह्मगीता, हंसगीता, पांडवगीता, गणेशगीता, यमगीता उपनिषद् और भागवत इत्यादि नाना ग्रन्थों की सम्मति इसमे कही गई है। इन ग्रन्थों में भगवद्वाक्य हो हैं और वे निश्चय करके यथार्थ हैं ॥ १८–२० ॥ ऐसा कौन पतित है जो भगवद्वचन में अविश्वास करे? इस ग्रन्थ में जो कुछ कहा गया है वह भगवद्ववाक्य से विरहित नहीं है ॥२१॥ पूर्ण ग्रन्थ देखे बिना जो व्यर्थ दोष लगाता है वह दुरात्मा, दुरभिमानी पुरुष मत्सर के कारणही ऐसा करता है। उसके मन में अभिमान से मत्सर और मत्सर से तिरस्कार आता है। और फिर, इसके बाद, क्रोध का विकार वेग से उठता है ॥ २२–२३ ॥ यह बात प्रत्यक्ष है कि वह मनुष्य अहंभाव के कारण ही मनमलीन होकर कामक्रोध से सन्तप्त हुआ है ॥ २४ ॥ जो मनुष्य काम-क्रोध के वश में है उसे भला कैसे कहें? देखो अमृत का सेवन करने पर भी राहु मारा गया !—(अर्थात् राहु की तरह भीतर से सड़े हुए, अर्थात् मन-मलीन लोग इस अमृततुल्य ग्रन्थ से कुछ लाभ न उठा सकेंगे) अच्छा, अब, ये बातें जाने दो। जैसा जिसका अधिकार है वह वैसा लेगा। परन्तु अभिमान छोड़ना सब से अच्छा है ॥ २५–२६ ॥ पहले श्रोताओं ने जो यह पूँछा कि क्यों जी, इस ग्रन्थ में क्या है? सो सब संक्षेप रीति से बतला दिया गया ॥ २७ ॥

अब श्रवण करने का फल कहते हैं। प्रथम तो इस ग्रन्थ के श्रवण से आचरण उसी समय बदल जाता है और संशय का मूल एकदम टूट जाता है ॥ २८ ॥ सुगम मार्ग मिल जाता है। दुर्गम साधन की आवश्य-कता नहीं होती। सायुज्यमुक्ति का मर्म; अर्थात रहस्य, सहजही मालूम हो जाता है ॥ २९ ॥ इस ग्रन्थ के सुनने से अज्ञान, दुःख और भ्रान्ति का नाश होता है, तथा शीघ्रही ज्ञान आ जाता है ॥ ३० ॥ योगियों का परम भाग्य वैराग्य प्राप्त होता है और विवेकसहित, यथायोग्य, चातुर्य का ज्ञान हो जाता है ॥ ३१ ॥ जो लोग भ्रान्त, अवगुणी और कुलक्षणी हैं वे भी इस ग्रन्थ के पढ़ने से सुलक्षणी हो जाते हैं और चतुर, तार्किक तथा विचक्षण लोग अवसर परखने लगते हैं ॥ ३२ ॥ जो आलसी हैं वे उद्योगी

हो जाते हैं। पापी पछताते हैं। भक्तिमार्ग की निन्दा करनेवाले उसीकी प्रशंसा करने लगते हैं ॥ ३३ ॥ बद्ध, अर्थात् संसारी मनुष्य, मुमुक्षु, अर्थात् मोक्ष की इच्छा करनेवाले हो जाते हैं, मूर्ख अति दक्ष हो जाते हैं और अभक्त लोग भी, भक्तिमार्ग पर आकर, मोक्ष पाते हैं ॥ ३४ ॥ इस ग्रन्थ से नाना प्रकार के दोष नाश होते हैं। पतित, अर्थात् पापी, पावन, अर्थात् पवित्र, हो जाते हैं। और इसके श्रवणमात्र से प्राणी उत्तम गति पाते हैं ॥३५॥ देहबुद्धि के अनेक धोखे, बहुत से सन्देहपूर्ण भ्रम और संसार के सब उद्वेग इस ग्रन्थ के सुनने से नाश होते हैं ॥ ३६ ॥ ऐसी इसकी फलश्रुति है। इसके सुनने से अधोगतिका नाश होता है और मन को विश्राम तथा समाधान मिलता है ॥ ३७ ॥ और, फिर, सब से मुख्य बात तो यह है कि, जिसकी जैसी भावना उसको वैसी सिद्धि (यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी)। मनुष्य मत्सर रखेगा उसे वही मिलेगा ॥ ३८ ॥

दूसरा समास—गणेश—स्तुति ।

॥ श्रीराम ॥

हे ओंकाररूप सर्वसिद्धिफलदायक, अज्ञान और भ्रान्ति के छेदक, बोधरूप गणनायक, आपको नमस्कार है ॥१॥ मेरे अन्तःकरण में बिराजिये और सदासर्वदा वास करिये। तथा कृपाकटाक्ष करके मुझ वाक्यशून्य से बुलवाइये ॥ २ ॥ तेरीही कृपा के बल से जन्मजन्मान्तर की भ्रान्ति दूर होती है और विश्वभक्षक काल भी सेवा करता है ॥ ३ ॥ तेरी कृपा के उछलतेही विघ्न बिचारे काँपने लगते हैं। और तेरे नाममात्र ही से वे मारे मारे फिरते हैं ॥ ४ ॥ इसी लिए तो तेरा विघ्नहर नाम पड़ा है। हमारे समान अनाथों का तूही सहारा है। हरि और हर आदि से लेकर जितने देवता हैं सभी तेरी वन्दना करते हैं ॥५॥ मंगलनिधि, अर्थात् शुभ की खान, श्रीगणेशजी को वन्दन करके काम करने से सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और किसी प्रकार की विघ्न-बाधा नहीं आती ॥ ६ ॥ उसका स्मरण करतेही परम समाधान होता है। मन, अन्य सब इन्द्रियों को छोड़कर, केवल नेत्रों में आ बसता है। सब अंग लँगड़े हो जाते हैं (अर्थात् और सब इन्द्रियों का विस्मरण हो जाता है) * ॥ ७ ॥

---

* उपर्युक्त ७ पद्यों में गणेशजी के निराकाररूप का वर्णन है। अब आगे साकार का वर्णन आता है।

गणेशजी का सगुणरूप बहुत सुन्दर और मोहक है। उनके नृत्य करतेही सब देवता स्तब्ध हो जाते हैं ॥ ८ ॥ वे सदा मद से छके रहते हैं, आनन्द से डोलते रहते हैं और हर्ष से सुप्रसन्नवदन होकर अति उल्लसित रहते हैं ॥ ८ ॥ भव्य और स्थूल रूपवाली भीममूर्ति महा प्रचंड है। विस्तीर्ण और उन्नत मस्तक बहुत से सिंदूर से चर्चित है ॥ १० ॥ नाना प्रकार की सुगंधों वाले परिमल गंडस्थलों से टपक रहे हैं। और भ्रमरगण वहां आ आ कर झुंकार शब्द कर रहे हैं ॥ ११ ॥ शुंडादंड, (सूंड़) सरल और कुछ मुड़ी हुई है। नूतन कपोल शोभित हैं। अधर लंबा है। क्षण क्षण में तीक्ष्ण मदसत्व, अर्थात् मदरस, टपक रहा है ॥ १२ ॥ चौदह विद्याओं का स्वामी ह्रस्व-लोचन, अर्थात् छोटी आखें, हिला रहा है। कोमल और लचलचीले कान फड़ फड़ फड़का रहे हैं ॥ १३ ॥ रत्नों से जड़ा हुआ मुकुट झलझलाता है: उसमें कई प्रकार के रंगों का तेज पड़ रहा है। कानों में कुंडल चमक रहे हैं और उन पर जड़े हुए नीलमणि झलक रहे हैं ॥१४॥ मजबूत और सफेद दांत-रत्न और सोने के कड़े से जड़े हुए हैं। उन के नीचे छोटे छोटे सुवर्ण-पत्र चमक रहे हैं ॥ १५ ॥ थलथलीत तोंद हिलती है। उस पर नागबन्द, अर्थात् सर्प का पट्ट, लपेटा हुआ है। क्षुद्रघंटिका, अर्थात् करधनी, मन्द मन्द झुंकार से बज रहे हैं ॥ १६ ॥ चार भुजा हैं। लम्बा पेट है। पीताम्बर काँछे हैं। तोंद पर सर्प का फना फड़क रहा है। वह फुनकारें छोड़ रहा है ॥१७॥ वह फन डुलाता और जिह्वा निकालता है। लिपट कर बैठा है। और नाभिकमल पर फन उठाकर चकमक देखता है ॥ १८ ॥ नाना जाति के फूलों की माला, सर्प तक, अर्थात् नाभि तक, जहां सर्प लिपटा है, गले में पड़ी है। हृदयकमल पर रत्नों से जड़ा हुआ पदक शोभा दे रहा है ॥ १९ ॥ फरश और कमल शोभा दे रहे हैं। तीक्ष्ण और तेजस्वी अंकुश धारण किये हैं। एक हाथ में मोदक है: उस पर बहुत प्रीति है ॥ २० ॥ नट-नाट्य और कला कौशल दिखला कर नाना प्रकार से नृत्य करते हैं। ताल, मृदंग आदि साज बज रहे हैं। उपांग, अर्थात् नृत्य-समय की प्रतिध्वनि, की झुंकार भर रही है ॥ २१ ॥ एक क्षण भर की भी स्थिरता नहीं है। चपलता में अग्र-गण्य, अर्थात् अव्वल नम्बर के समझिये। खूब सजी हुई सुलक्षणा मूर्ति सुन्द-रता की खान है ॥ २२ ॥ नूपुरें रुन-झुन बज रही हैं। पैंजन की आवाज झन-झन हो रही है। घुँघरूओं से दोनों पैर मनोहर देख पड़ते हैं ॥ २३ ॥ गणेशजी के कारण शंकर-सभा में शोभा आ गई है। दिव्य अम्बर की प्रभा छा गई है। साहित्य-विषय में निपुण अष्टनायका भी गणेशजी के साथ सभा में मौजूद हैं ॥ २४ ॥

ऐसा जो गणपति सर्वांग-सुन्दर और सकल विद्याओं का आगर है उसे

मेरा भावयुक्त साष्टांग नमस्कार है। ॥ २५ ॥ गणेश का रूप वर्णन करते ही भ्रान्त लोगों की मति प्रकाशित हो जाती है। और गुणानुवाद श्रवण करते ही उन पर सरस्वती प्रसन्न होती है ॥ २६ ॥ जब ब्रह्मा-आदि देवता उस गणपति को वन्दना करते हैं तब मनुष्य विचारे की क्या गिनती है? अस्तुः जो मन्दमति प्राणी हों, वे गणेश की चिन्तना करें ॥ २७ ॥ जो मूर्ख और बुरे लक्षणों वाले हैं, अथवा जो हीनों से भी हीन हैं, वे भी गणेशजी का चिन्तन करने से सब विषयों में दक्ष और प्रवीण होते हैं ॥ २८ ॥ वह परम समर्थ है। सब मनोरथ पूरे करता है। यह बात अनुभवसिद्ध है कि उसका भजन करने से सब कार्य सिद्ध होते हैं। कलियुग में चंडी और विनायक, मुख्य देव हैं ॥ २९ ॥ यहां पर उस मंगलमूर्ति गणेश की स्तुति, परमार्थ की वांछा मन में रख कर, मैंने यथामति की है ॥ ३० ॥

तीसरा समास–शारदा-स्तुति।

॥ श्रीराम ॥

अब वेदमाता, ब्रह्मसुता, शब्दमूला, वाग्देवता, महामाया श्रीशारदा की वंदना करता हूं ॥ १ ॥ जो शब्द-स्फूर्ति को उठाती है, जो वैखरीद्वारा अपार वचन बुलाती है, जो शब्द का अभ्यन्तर, अर्थात् भीतर का भाव, प्रत्यक्ष कर देती है ॥ २ ॥ जो योगियों की समाधि है, जो निश्चयी लोगों की कृतबुद्धि, अथवा दृढ़ता है, जो स्वयं विद्यारूप होकर अविद्या की उपाधि को तोड़ डालती है ॥ ३ ॥ जो महापुरुष की अति संलग्न भार्या है, जो तुर्या अवस्था है। जिसके योग से साधु लोग महत्कार्य में प्रवृत्त हुए हैं ॥ ४ ॥ जो महन्तों की शान्ति है, जो ईश्वर की स्वयंशक्ति है, जो ज्ञानियों की विरक्ति है और जो निराश-अवस्था की शोभा है ॥ ५ ॥ जो अनंत ब्रह्माण्ड रचती है, और लीलाविनोद ही से बिगाड़ती है तथा जो स्वतः आदिपुरुष में छिपी रहती है ॥ ६ ॥ जो प्रत्यक्ष देखनेही से देख पड़ती है; किन्तु विचार करने से नहीं देख पड़ती। ब्रह्मादिकों को जिसका पार नहीं मिलता ॥ ७ ॥ जो सारे संसार-नाटक की अंतर्कला, अर्थात् मूलसूत्र है। जो चित्शक्ति की निर्मल स्फूर्ति है, और जिसके कारण ही स्वानंद का सुख तथा ज्ञानशक्ति मिलती है ॥ ८ ॥ जो सुन्दरस्वरूप की शोभा है, जो परब्रह्म-सूर्य की प्रभा है और जो शब्दरूप से, बना बनाया दृश्य-संसार नाश कर सकती है ॥ ९ ॥ जो मोक्षश्रिया, अर्थात् मोक्षलक्ष्मी

और महामंगला है, जो सत्रहवीं जीवनकला (अर्थात् ब्रह्मरंध्र से गिरती हुई अमृत की धार, जिसे पान करके योगी जन हजारों वर्ष अमर रहते हैं।) हैं, जो सत्वलीला, सुशीतला है, तथा जो सुन्दरता की खान है ॥ १० ॥ जो अव्यक्त पुरुष (परब्रह्म) की व्यक्तता है। जो विस्तार से बढ़ी हुई (परब्रह्म की) इच्छाशक्ति है, जो कलिकाल की नियन्ता, अर्थात् नियमन करनेवाली, और सद्गुरु की कृपा है ॥ ११ ॥ जो परमार्थमार्ग का विचार है, जो सारासार का निश्चय बतला देती है और जो शब्दबल से भवसिन्धु का पारावार लगा देती है ॥ १२ ॥ इस प्रकार अकेली माया शारदा ने बहुत वेप बनाये हैं। वह स्वयं सिद्ध होकर अंतःकरण में, चतुर्विधा प्रकार से, अर्थात् परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, इन चार रूपों करके प्रकट होती है ॥ १३ ॥ तीनों वाचाओं के द्वारा जो कुछ अंतःकरण में आता है उसे वैखरी, चौथी वाचा, प्रकट करती है। इस लिए कर्तृत्व जो कुछ हुआ वह शारदाही के कारण से हुआ ॥ १४ ॥ जो ब्रह्मादिकों की जननी है, विष्णु और महादेव जिससे हुए हैं, सृष्टि की रचना और तीनों लोक जिसका विस्तार है ॥ १५ ॥ जो परमार्थ का मूल किंवा केवल सद्विद्याही है, जो शांत, निर्मल और निश्चल स्वरूपस्थिति है ॥ १६ ॥ जो योगियों के ध्यान में, जो साधकों के चिंतन में और जो सिद्धों के अन्तःकरण में समाधिरूप से वास करती है ॥ १७ ॥ जो निर्गुण की पहचान है, जो अनुभव की निशानी है और जो घट घट में व्यापक है ॥ १८ ॥ शास्त्र, पुराण, वेद और श्रुति जिसकी अखण्ड स्तुति करते रहते हैं और प्राणिमात्र जिसका नाना रूपों में यश गाते रहते हैं ॥ १९ ॥ जो वेदशास्त्रों की महिमा है, जो निरुपमा की उपमा है और जिसके योग से परमात्मा "परमात्मा" कहा जाता है ॥ २० ॥ जो नाना प्रकार की विद्या, कला, सिद्धि, निश्चयात्मक बुद्धि और सूक्ष्म वस्तु का शुद्ध ज्ञानस्वरूप है ॥ २१ ॥ जो हरिभक्तों की भक्ति है, जो अन्तर्निष्ठों की अन्तर्दशा और जो जीवन्मुक्तों की सायुज्यमुक्ति है ॥ २२ ॥ जो अनन्त वैष्णवी माया है, जिसकी नाटक-मोहकता किसीको मालूम नहीं होती, जो बड़ों बड़ों को ज्ञान के अभिमान से फँसाती है ॥२३॥ जो जो दृष्टि से देखा जाता है, शब्द से पहचाना जाता है और मन को जिसका भास होता है, उतना सब, उसीका रूप है ॥ २४ ॥ स्तवन, भजन, भक्ति और भाव, इनमें किसीमें भी, माया के बिना ठौर नहीं है, इस वचन का अभिप्राय अनुभवी लोग जानते हैं ॥ २५ ॥ जो बड़े से बड़ी है; जो ईश्वर का ईश्वर है उसको, उसकेही अंश में, अर्थात् मायाही के रूप में, अब मेरा नमस्कार है ॥ २६ ॥

चौथा समास—सद्गुरु-स्तुति।

॥ श्रीराम ॥

अब सद्गुरु का वर्णन कैसे करूं? जहां माया स्पर्श नहीं कर सकती वह स्वरूप मुझ अज्ञान को कैसे जान पड़े? ॥ १ ॥ जो (सद्गुरु-परब्रह्म) जाना नहीं जा सकता और जिसके विषय में श्रुति नेति नेति कहती है उसका वर्णन करने के लिये मुझ मूर्ख की मति का कहां ठिकाना? ॥ २ ॥ यह विषय मेरी समझमें नहीं आता; इस लिये इसे दूरही से मेरा नमस्कार है। हे गुरुदेव! मुझे वह शक्ति दो जिससे मैं तुम्हारा पारावार पा जाऊं ॥ ३ ॥ स्तुति करने की दुस्साध्य आशा थी, परन्तु माया का भरोसा टूट गया; अतएव हे सद्गुरु स्वामी! अब जैसे होगे वैसेही रहो! ॥ ४ ॥ मन में इच्छा थी कि माया के बल से स्तुति करूंगा, परन्तु माया लज्जित हो गई; अब क्या करूं? ॥ ५ ॥

मुख्य परमात्मा की कल्पना नहीं की जा सकती, इस लिए उसकी प्रतिमा बनानी पड़ती है। उसी प्रकार माया के योग से सद्गुरु की महिमा वर्णन करूंगा ॥ ६ ॥ जिस प्रकार अपने भाव के अनुसार मन में देवता का ध्यान किया जाता है उसी प्रकार अब मैं इस स्तवन में सद्गुरु की स्तुति करता हूं ॥ ७ ॥

हे सद्गुरुराज, तेरी जय हो, जय हो। हे विश्वम्भर, विश्वबीज, परम-पुरुष, मोक्षध्वज और दीनबन्धु, तेरे ही अभय-रूप कर से यह दुर्निवार माया इस प्रकार मिट जाती है जैसे सूर्यप्रकाश से अन्धकार भग जाता है ॥ ८-९ ॥ सूर्य अन्धकार का निवारण करता है; परन्तु रात होने पर फिर जगत् में अन्धकार छा जाता है ॥ १० ॥ परन्तु हमारा स्वामी सद्गुरु ऐसा नहीं है। वह जन्म-मृत्यु, अर्थात् आवागमन, का नाश करता है और अज्ञानरूप अन्धकार की जड़ ही नाश कर देता है ॥ ११ ॥ सुवर्ण का लोहा कभी नहीं हो सकता, इसी प्रकार गुरु का भक्त कभी सन्देह में पड़ता ही नहीं ॥ १२ ॥ कोई नदी गंगा में मिलने पर वह भी गंगा हो जाती है; फिर यदि वह अलग की जाय तो कदापि नहीं हो सकती ॥ १३ ॥ परन्तु उस नदी को, गंगा नदी में मिलने के पहले, सब लोग नदी ही कहते हैं, कुछ गंगा नहीं कहते, परन्तु शिष्य का हाल ऐसा नहीं है, वह सर्वथा स्वामी ही हो जाता है ॥ १४ ॥ पारस लोहे को अपना सा (अर्थात् पारस) नहीं कर सकता, सुवर्ण लोहे को बदल नहीं सकता, परन्तु, सद्गुरु का भक्त उपदेश-

द्वारा औरों को भी सद्गुरुही बना देता है ॥ १५ ॥ इस प्रकार शिष्य को गुरुत्व प्राप्त हो जाता है, लेकिन पारस के बनाये हुए सुवर्ण से फिर सुवर्ण नहीं बनाया जा सकता, इस लिए सद्गुरु से पारस की उपमा नहीं लगती ॥१६॥ यदि सागर से सद्गुरु की उपमा दी जाय तो यह भी ठीक नहीं: क्योंकि वह अत्यन्त ही खारा है। अथवा क्षीरसागर से यदि उपमा दी जाय तो वह भी ठीक नहीं: क्योंकि क्षीरसागर का भी कल्पान्त में नाश होगा ॥१७॥ यदि मेरु की उपमा दी जाय तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि वह जड़ पाषाण के रूप में है। सद्गुरु वैसा नहीं है–वह दीन जनों के लिये कोमल है॥१८॥ यदि आकाश की उपमा बतलाई जाय तो वह (सद्गुरु का रूप) आकाश से भी अधिक सूक्ष्म है। इस कारण सद्गुरु से आकाश का दृष्टान्त भी हीन पड़ता है ॥ १६ ॥ धीरता में यदि सद्गुरु से धरती की उपमा दी जाय तो यह भी ठीक नहीं है: क्योंकि धरती भी कल्पान्त में नाश होगी। इस लिए धीरता की उपमा में वसुन्धरा भी हीन पड़ती है॥ २० ॥ अब यदि सूर्य की उपमा देते हैं तो उसके प्रकाश की भी शास्त्र मर्यादा बतलाते हैं। परन्तु सद्गुरु अमर्याद है ॥ २१ । इस लिए सूर्य भी उपमा में कम है। सद्गुरु का ज्ञानरूपी प्रकाश बहुत बड़ा है। अब, यदि शेष से उपमा देते हैं तो यह भी नहीं लगती; क्योंकि शेष भारवाही, अर्थात् बोझा उठानेवाला है॥२२ ॥ अब जल की उपमा दी जाय तो वह भी कालान्तर में सूख जायगा। सद्गुरुरूप निश्चल है–वह कभी नहीं जा सकता ॥ २३ ॥ सद्गुरु से अमृत की उपमा दी जाय तो भी नहीं लागती: क्योंकि अमृतपान करनेवाले अमर; अर्थात् देवता, भी मृत्युपथ को प्राप्त होते हैं और सद्गुरुकृपा यथार्थ में, अर्थात् सचमुच, अमर कर देती है ॥ २४ ॥ यदि सद्गुरु को कल्पतरु कहें तो भी ठीक नहीं; क्योंकि सद्गुरु का रूप कल्पनातीत, अर्थात् कल्पना के बाहर, है। इस विचार से कल्पवृक्ष की उपमा कौन स्वीकार करेगा ? ॥ २५ ॥ जहां मन में चिन्ता ही नहीं है वहां चिन्तामणि को कौन पूछता है ? कामधेनु का दूध निष्काम के किस काम का ? अर्थात् जो निष्काम है उसे कामधेनु की क्या जरूरत ? ॥ २६ ॥ सद्गुरु को यदि लक्ष्मीवन्त कहें, तो लक्ष्मी नाशवान् है। जिसके द्वारे मोक्षलक्ष्मी खड़ी रहती है उसे इस नाशवान् लक्ष्मी से क्या काम ? ॥ २७ ॥ स्वर्गलोक और इन्द्रसम्पत्ति को कालान्तर में विटम्बना है जाती है: परन्तु सद्गुरुकृपा अचल है ॥२८॥ हरि, हर और ब्रह्मा आदि सब नाश हो जाते हैं। परन्तु सर्वदा अविनाश, अर्थात् कभी न नाश होनेवाला, केवल एक सद्गुरुपद ही है ॥२६॥ उससे किसकी उपमा दी जाय ? सारी सृष्टि तो नाशवन्त है, परन्तु वहां पञ्चभौतिक धरा-उठाई चलती ही नहीं ॥३०॥ इसी लिए सद्गुरु का वर्णन नहीं हो सकता। यह

लो, बस, " सद्गुरुका वर्णन नहीं हो सकता "-यही कहना मेरा सद्गुरु-वर्णन है। अन्तरस्थिति, अर्थात् भीतरी दशा, की पहचान अन्तर्निष्ठ, अर्थात् अनुभवी ही जानते हैं ॥ ३१ ॥

पाँचवाँ समास—सन्त-स्तुति।

॥ श्रीराम ॥

अब संतसज्जनों की वन्दना करूंगा, जो परमार्थ के अधिष्ठान, अर्थात् आश्रय हैं और जिनके द्वारा गुह्यज्ञान मनुष्यों में प्रगट होता है ॥ १ ॥

जो वस्तु, (अर्थात् ब्रह्म) परम दुर्लभ है, जो अलभ्य, अर्थात् नहीं पाने योग्य है, वही संतसंग से सुलभ हो जाती है ॥ २ ॥ वह वस्तु (ब्रह्म) प्रगट ही रहती है, पर देखने पर किसीको देख नहीं पड़ती। नाना प्रकार के साधनों और परिश्रम करने पर भी नहीं मिलती ॥ ३ ॥ वहां परीक्षावान् धोखा खा चुके, इतनाही नहीं किन्तु आखोंवाले अंधे होगये और निजवस्तु (परब्रह्म) को देखते ही देखते स्वयं भी न रहे ॥ ४ ॥ जो दीपक से भी नहीं देख पड़ती, नाना प्रकार के प्रकाशों में जिसका पता नहीं लगता, नेत्रों में अञ्जन लगाने से भी जो दृष्टि के सन्मुख नहीं आती ॥ ५ ॥ सोलह कला-वाला पूर्णचन्द्र और कलाराशि तीव्र सूर्य भी जिसे नहीं दिखा सकता॥ ६ ॥ जिसे सूर्य के प्रकाश से उन का एक रोवां भी देख पड़ता है, अणुरेणु आदि अनेक सूक्ष्म पदार्थों का भी जिसके द्वारा भास होता है ॥ ७ ॥ चिरी हुई बाल की नोक को भी जो सूर्य-प्रकाश दिखा सकता है; वह भी वस्तु को नहीं दिखा सकता; परन्तु सन्तसज्जनों की कृपा से वही वस्तु साधकों को प्राप्त होती है ॥ ८ ॥ जहां (परब्रह्म के विषय में) सब आक्षेप समाप्त हो जाते हैं; जहां प्रयत्न व्यर्थ हो जाते हैं, जिस निजवस्तु की तर्कना करते करते तर्क मन्द हो जाते हैं ॥ ९ ॥ जहां विवेक का संकोच हो जाता है, शब्द लड़खड़ाता है, और मन की गति काम नहीं देती ॥ १० ॥ सहस्र मुख का शेष बड़ा वाचाल कहलाता है, वह भी जहां बिलकुल थक गया है ॥ ११ ॥ वेद ने सभी कुछ प्रकट किया है; वेदाविरहित कुछ नहीं है; वह वेद भी जो " वस्तु " किसी को नहीं दिखा सकता ॥ १२ ॥ वही वस्तु सन्तसंग से, स्वानुभव, अर्थात् अपने अनुभव, के द्वारा, मालूम होने लगती है। ऐसे सन्तों की महिमा कौन वर्णन कर सकता है ? ॥ १३ ॥ इस माया की कला विचित्र है; परन्तु वह भी ' वस्तु ' की पहचान नहीं बतला सकती। उसी

मायातीत अनन्त की, अर्थात् 'वस्तु' की, राह संत लोग बतला देते हैं॥१॥ जिस वस्तु का वर्णन किया नहीं जा सकता वही "वस्तु" संतों का रूप हैं। इस लिए 'वस्तु' की तरह संत भी अनिर्वचनीय हैं ॥ १५ ॥

सन्त आनन्द के घर हैं, सन्त सच्चे सुख के स्वरूप हैं, और सन्त नाना प्रकार के सन्तोष के मूल हैं ॥ १६ ॥ सन्त विश्रान्ति की भी विश्रान्ति हैं, तृप्ति की भी तृप्ति हैं । किंबहुना सन्त ही भक्ति के परिणाम हैं ॥ १७ ॥ सन्त धर्म के धर्मक्षेत्र, स्वरूप के सत्पात्र और पुण्य की पवित्र पुण्यभूमि हैं ॥ १८ ॥ सन्त लोग समाधि के मन्दिर और विवेक के भाण्डार हैं। वे सायुज्यमुक्ति के अधिष्ठान हैं ॥ १९ ॥ सन्त सत्य के निश्चय, सार्थक के जय, प्राप्ति के समय और सिद्धरूप हैं ॥ २० ॥ सन्त ऐसे श्रीमन्त हैं जो मोक्षश्री से अलंकृत रहते हैं। उन्होंने असंख्य दरिद्री (अज्ञान) जीवों को राजा (मुक्त) बना दिया है ॥ २१ ॥ अन्य लोग, जो समर्थ और उदार हैं, या जो अत्यन्त दानशूर हैं, वे यह ज्ञानरूप धन नहीं दे सकते ॥२२॥ कितने ही चक्रवर्ती महाराजा होगये हैं, और आगे होंगे; परन्तु कोई भी सायुज्यमुक्ति नहीं दे सकते ॥ २३ ॥ तीनों लोक में जो दान नहीं होता वही दान सज्जन सन्त करते हैं । ऐसे सन्तों की महिमा क्या वर्णन की जाय ॥ २४ ॥ जो तीनों लोक से अलग हैं और वेदश्रुतियों से जो नहीं जाना जाता, वही परब्रह्म सन्तों के प्रसन्न होने से अन्तःकरण में प्रकट होता है ॥ २५ ॥ ऐसी सन्तों की महिमा है। उनकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। उनके द्वारा मुख्य परमात्मा प्रगट होता है ॥ २६ ॥

छठवाँ समास–श्रोताओं की स्तुति।

॥ श्रीराम ॥

अब भक्त, ज्ञानी, सन्त, सज्जन, विरक्त, योगी, गुणवान् और सत्यवादी श्रोताजनों की वन्दना करता हूं ॥ १ ॥ ये श्रोता सतोगुण के सागर हैं, कोई बुद्धि के आगर हैं और कोई शब्दरत्नों की खान हैं ॥ २ ॥ ये अनेक प्रकार के अर्थरूपी अमृत के भोगनेवाले हैं, ये मौका आजाने पर वक्ता भी हैं और ये नाना संशयों के छेदनेवाले तथा निश्चयी पुरुष हैं ॥ ३ ॥ इनकी धारणा, अर्थात् स्मरणशक्ति अपार है। ये ईश्वर के अवतार हैं या प्रत्यक्ष देव जैसे बैठे हों ॥ ४ ॥ या तो यह शान्तस्वरूप और सतोगुणविशिष्ट ऋषी-

श्वरों की मण्डली है, जिनके कारण सभामण्डल में परम शोभा छा रही है ॥ ५ ॥ इनके हृदय में परमात्मा विलस रहा है, मुख में सरस्वती विलास कर रही है और साहित्य-वार्ता करने में ये बृहस्पति से जान पड़ते हैं ॥६॥ ये पवित्रता में वैश्वानर अर्थात् अग्निरूप हैं, ये स्फूर्तिकिरणों के सूर्य हैं। ज्ञातापन, अर्थात् जानकारी, में इनकी दृष्टि के सामने ब्रह्माण्ड कोई चीज नहीं है ॥ ७ ॥ ये अखण्ड सावधान हैं, इन्हें तीनों काल का ज्ञान है, ये सदा निराभिमान रहते हैं और आत्मज्ञानी हैं ॥ ८ ॥ ऐसा कुछ भी नहीं बचा जो इनकी दृष्टि के आगे न आया हो। इनके मन ने पदार्थ मात्र को लक्षित कर लिया है ॥ ९ ॥ जो कुछ बतलाना चाहते हैं वह इन्हें पहले ही से मालूम है। अब इनके सामने अपने ज्ञातापन के अभिमान से फिर क्या कहें! ॥ १० ॥ परन्तु ये गुणग्रहण करनेवाले हैं, इसी लिए निश्शंक होकर बतलाता हूं। भाग्यवान् पुरुष क्या सेवन नहीं करते? ॥ ११ ॥ वे (भाग्यवान्) सदा दिव्य अन्नों का सेवन करते हैं; परन्तु मन बदलने के लिए रूखा अन्न भी खा लेते हैं। उसी प्रकार ये मेरे प्राकृत भाषा के वचन (रूखे अन्न की तरह) भी सज्जन श्रोतागण स्वीकार कर लेंगे ॥ १२ ॥ अपनी शक्ति के अनुसार, भावपूर्वक, परमेश्वर की उपासना की जाती है; परन्तु यह कहीं नहीं कहा है कि बिलकुल परमात्मा की पूजा ही न करे ॥ १३ ॥ वैसा ही मैं एक वाग्दुर्बल (अर्थात् बोलने की पूरी शक्ति न रखनेवाला) हूं और श्रोता सचमुच परमेश्वर ही हैं। अब, अपनी बरोती हुई वाचा से इनकी उपासना (पूजा) करना चाहता हूँ ॥ १४ ॥

विद्वत्ता, कला, चतुरता, काव्य-प्रबन्ध की शक्ति, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और वचन-मधुरता आदि कुछ मुझ में नहीं है ॥ १५ ॥ ऐसा मेरे वाग्विलास का हाल है। अस्तु। अब मैं प्रसन्नतापूर्वक बोलता हूं; क्योंकि जगदीश भाव का ही भूखा है ॥ १६ ॥ आप प्रत्यक्ष जगदीश की मूर्ति ही हो। आप के सामने मेरी विद्वता कितनी है? मैं बुद्धिहीन, अल्पमति आप के आगे ढिठाई करता हूं ॥ १७ ॥ इस संसार में समर्थ का पुत्र चाहे मूर्ख ही क्यों न हो; तथापि अपने पिता के आगे धृष्टता करने का सामर्थ्य उसमें भी होता है। यही समझ कर आप सन्त लोगों के आगे मैं ढिठाई करता हूं ॥ १८ ॥ बड़े बड़े बाघ और सिंहों को देख कर लोग डर जाते हैं; परन्तु उनके बच्चे निडर होकर उनके सामने खेलते रहते हैं ॥ १९ ॥ वैसा ही; मैं, संतों का दास, आप सन्त लोगों से बोलता हूं। अतएव आप लोग मुझे क्षमा करेंहीं गे ॥ २० ॥ अपना मनुष्य जब निरर्थक भी कुछ बोलता है तब उसका समर्थन करना ही पड़ता है। परन्तु कुछ कहने की अवश्यकता नहीं है, न्यूनता पूर्ण कर लेनी चाहिए ॥ २१ ॥ यह

तो प्रीति का लक्षण है, मन आपही आप कर लेता है। फिर आप सज्जन सन्त तो विश्व के मातापिता हैं ॥ २२ ॥ मेरा आशय जी में जान कर, अब, जो उचित हो, सो करिये। यह दासानुदास कहता है कि अब आगे कथा में ध्यान दीजिये ॥ २३ ॥

सातवाँ समास—कवीश्वर-स्तुति।

॥ श्रीराम ॥

अब कवीश्वरों की वन्दना करता हूं। ये शब्दसृष्टि के स्वामी हैं, या परमेश्वर हैं जो वेदरूप से उत्पन्न हुए हैं ॥ १ ॥ या ये सरस्वती के प्रत्यक्ष घर हैं, या ये नाना प्रकार की कलाओं के जीवन हैं, अथवा सचमुच ये अनेक प्रकार के शब्दों के भुवन हैं ॥ २ ॥ या तो ये पुरुषार्थ के वैभव हैं, या जगदीश्वर के महत्व और उसकी नाना प्रकार की लीला और सत्कीर्ति का वर्णन करने के लिए निर्माण हुए हैं ॥ ३ ॥ अथवा ये शब्दरत्नों के समुद्र, मोतियों के मुक्त सरोवर (खुले हुए तालाव) और नाना प्रकार की बुद्धि के आगर उत्पन्न हुए हैं ॥ ४ ॥ या तो ये अध्यात्मग्रन्थों की खानि और बोलते हुए चिन्तामणि हैं, अथवा ये श्रोताओं को प्रसन्न करनेवाली कामधेनु की नाना प्रकार की दुग्धधाराएं हैं ॥५॥ या तो ये कल्पना के कल्पतरु हैं, अथवा मोक्ष के मुख्य आधारस्तंभ हैं; अथवा यह सायुज्यमुक्ति ही कवियों के अनेक रूपों में प्रकट हुई है ॥ ६ ॥ या तो यह (कवि) परलोक का मुख्य स्वार्थ है, अथवा योगियों का गुप्तपंथ है, किंवा ज्ञानियों का परमार्थ, रूप धर कर आया है ॥ ७ ॥ या तो यह (कवि) निर्गुण परब्रह्म की पहचान है अथवा यह माया से भिन्न परमात्मा का लक्षण है ॥ ८ ॥ या तो यह (कवि) श्रुति का भीतरी भाव है, या यह परमेश्वर का अलभ्य लाभ है, अथवा यह आत्मबोध, कविरूप से सुलभ हुआ है ॥ ९ ॥

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कवि मुमुक्षु पुरुषों के अंजन, साधकों के साधन और सिद्ध पुरुषों के समाधान हैं ॥ १० ॥ कवि स्वधर्म के आश्रय, मन के मनोजय और धार्मिक पुरुष के विनय और विनय-शिक्षक हैं ॥ ११ ॥ कवि वैराग्य की रक्षा करनेवाले और भक्तों के भूषण हैं। कवि अनेक प्रकार से स्वधर्म की रक्षा करनेवाले हैं ॥ १२ ॥ कवि प्रेमियों की प्रेमस्थिति, ध्यानस्थों की ध्यानमूर्ति और उपासकों की बढ़ती हुई कीर्ति हैं ॥ १३ ॥ कवि लोग अनेक साधनों के मूल और नाना प्रकार के प्रयत्नों के फल हैं। केवल कवियों के ही प्रसाद से बहुत से कार्यों की सिद्धि होती है ॥ १४ ॥ कवि के वाग्विलास के कारण ही मनुष्यों को कविता का आनन्द मिलता

है और उसी कारण कविता बनाने की स्फूर्ति होती है ॥ १५ ॥ कवि, विद्वानों की योग्यता, सामर्थ्यवानों की सत्ता और विचक्षणों की नाना प्रकार की कुशलता हैं ॥ १६ ॥ कवि लोग ही काव्य-प्रबन्ध, नाना प्रकार के छन्द, गद्यपद्य-भेदाभेद, पदप्रास आदि के कर्ता हैं ॥ १७ ॥ कवि सृष्टि के अलंकार; लक्ष्मी के श्रृंगार और सकल सिद्धि के निर्धार हैं ॥ १८ ॥ कवि सभा के मंडन और भाग्य के भूषण हैं, तथा कवि ही नाना प्रकार के सुख का संरक्षण करते हैं ॥ १९ ॥ कवि देवों का रूप, ऋषियों का महत्त्व और अनेक शास्त्रों के सामर्थ्य का बखान करनेवाले हैं ॥ २० ॥ यदि कवि का व्यापार न होता तो जगत् का उद्धार कैसे होता ? इसी लिए तो कवि सकल सृष्टि के आधार हैं ॥ २१ ॥ नाना प्रकार की विद्या और जो कुछ ज्ञान है वह कवियों के बिना नहीं मिलता। कवियों से ही सब सर्वज्ञता प्राप्त होती है ॥ २२ ॥ प्राचीन समय में वाल्मीकि, व्यास आदि अनेक कवीश्वर होगये। उन्हींसे सब लोगों को ज्ञान मिला है ॥ २३ ॥ पहले काव्य किये गये थे, तभी तो विद्वत्ता और योग्यता प्राप्त हुई। काव्यों से ही पंडितों को योग्यता प्राप्त हुई ॥ २४ ॥ अतएव प्राचीनकाल में जो बहुत से बड़े बड़े कवीश्वर हो गये, अब जो हैं और आगे जो होनेवाले हैं, उन सब को मैं नमन करता हूं ॥ २५ ॥ कवि मानो अनेक प्रकार के चातुर्य की मूर्ति हैं—मानों वे साक्षात् बृहस्पति हैं, जिनके मुख से वेद और श्रुतियां बोलना चाहती हैं ॥ २६ ॥ कवि लोग परोपकार की अनेक युक्तियाँ बतलाते हैं और अन्त में सब प्रकार संशय मिटा देते हैं ॥ २७ ॥ मानो ये (कवि) अमृत के मेघ संसार पर प्रसन्न हुए हैं, अथवा ये नवरसों के सोते बह रहे हैं, या नाना प्रकार के सुखों के ये सरोवर उमड़े हैं ॥ २८ ॥ अथवा ये विवेक के भंडार मनुष्य के आकार में प्रगट हुए हैं, जो अनेक विषयों के ज्ञान से भरे हुए हैं ॥ २९ ॥ अथवा यह (कवि), अनेक उत्तम पदार्थों से भी बढ़ कर आदिशक्ति की धरोहर हैं, जो संसारी लोगों को पूर्व-संचित के प्रताप से मिली है ॥ ३० ॥ किंवा ये अक्षय आनन्द से पूर्ण सुख की नौकाएं बह रही हैं, जो अनेक प्रकार के प्रयोगों के लिये जगत् के लोगों को प्राप्त हुई हैं ॥ ३१ ॥ अथवा यह निरंजन, अर्थात् परब्रह्म की संपत्ति है, या तो यह विराट् की योगस्थिति है; नहीं नहीं, यह भक्ति की फलश्रुति फलित हुई है ॥ ३२ ॥ या तो यह ईश्वर का, आकाश से भी अधिक व्यापक पवाँडा है। कवि की प्रबन्धरचना ब्रह्मांडरचना से भी बड़ी होती है ॥ ३३ ॥ अस्तु, अब यह वर्णन बस हुआ। वास्तव में कवीश्वर लोग जगत् के आधार हैं; इस लिए उन्हें मैं साष्टांग नमस्कार करता हूं ॥ ३४ ॥

आठवाँ समास—सभा-स्तुति।

॥ श्रीराम ॥

अब इस सकल सभा को वन्दना करता हूँ, जिस सभा के लिये मुक्ति सुलभ है, और जहां स्वयं सच्चिदानन्द परमात्मा का वास है ॥ १ ॥

नाहं वसामि वैकुंठे योगिनां हृदये रवौ ॥
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥ १ ॥

भगवान् कहते हैं कि, "मैं न तो वैकुंठ में रहता हूं और न योगियों के हृदय में। हे नारद, मेरे भक्त जिस ठौर में गाते हैं वहीं मैं वास करता हूं" ॥ २ ८ अतएव, जहां भक्त गाते हैं वही श्रेष्ठ सभा है और वही वैकुंठ है। जहां नामघोष, अर्थात् ईश्वर-नाम-उच्चारण, की गड़गड़ाहट और जयजयकार की गर्जना हो रही है ॥ ३ ॥ जहां सदा प्रेमी भक्तों के गीत, भगवत्कथा, हरिकीर्तन, वेदाख्यान और पुराणों का श्रवण हुआ करता है ॥ ४ ॥ जहां पर परमेश्वर के गुणानुवाद, अनेक निरूपणों के संवाद और आध्यात्मविद्या तथा भेदाभेद का मथन हुआ करता है ॥ ५ ॥ जहां नाना प्रकार के समाधानों से तृप्ति और अनेक आशंकाओं की निवृत्ति हुआ करते है, जहां वाग्विलास से ध्यानमूर्ति चित्त में बैठती है ॥ ६ ॥ प्रेमी और भावुक भक्त, गंभीर और सतोगुणी सभ्य, रम्य और रसाल गायक निष्ठावन्त, कर्मशील, आचारशील, दानशील, धर्मशील, शुचिमान, पुण्यशील, अन्तर्शुद्ध, कृपालु, योगी, वीतरागी, उदास, नियमकर्ता, निग्रही, तापसी, विरक्त, बहुत निस्पृही, अरण्यवासी, दंड़धारी, जटाधारी, नाथपंथी, मुद्राधारी, बालब्रह्मचारी, योगेश्वर, पुरश्चरणी, तपस्वी, तीर्थवासी, मनस्वी, अर्थात् मन स्वाधीन रखनेवाले, महायोगी, जनस्वी, (अर्थात् जनों के अनुकूल, लोगों के अनुसार चलनेवाले पुरुष) सिद्ध, साधु, साधक, मंत्रयंत्रशोधक, एकनिष्ठ उपासक, गुणग्राही, सन्त, सज्जन, विद्वज्जन, वेदज्ञ, शास्त्रज्ञ, महाजन, बुद्ध, सर्वज्ञ, विमल, समाधानकर्ता, योगी, व्युत्पन्न, ऋषीश्वर, धूर्त, तार्किक, कवीश्वर, मनोजय करनेवाले मुनीश्वर, दिग्वल्की, अर्थात् दिशा ही हैं वलकल जिनके, ब्रह्मज्ञानी, आत्मज्ञानी, तत्त्वज्ञानी, पिंड़ज्ञानी, योगाभ्यासी, योगज्ञानी, उदासीन, पंड़ित, पौराणिक, विद्वान, वैदिक, भट्ट, पाठक, यजुर्वेदी, उत्तम, महाश्रोत्रिय, याज्ञिक, अग्निहोत्री, वैद्य, पंचाक्षरी, परोपकारी, त्रिकालज्ञ, बहुश्रुत, निराभिमानी, निरपेक्ष, शान्तिशील, क्षमाशील, दयाशील, पवित्र, सत्यशील, अन्तर्शुद्ध, ज्ञानशील, इत्यादि, ईश्वरी पुरुष, जिनमें नित्यानित्य का विवेक है—ऐसे जहां सभानायक

हैं; उस सभा की अलौकिक महिमा कैसे वर्णन की जाय? ॥ ७-२० ॥ जहां परमार्थी जन-समुदाय के द्वारा कथा-श्रवण का उपाय होता रहता है वहां लोगों का उद्धार सहज ही होता है ॥ २१ ॥ जहां पर सत्य, धैर्य, आदि उत्तम गुणों से युक्त सतोगुणी लोग रहते हैं वहां सदा सुख ही भरा रहता है ॥ २२ ॥ विद्यासम्पन्न, कलावेत्ता, विशिष्टगुणयुक्त सज्जन और भगवान् के प्रीतिपात्र जहां पर एकत्रित हैं ॥ २३ ॥ प्रवृत्त, निवृत्त, प्रपंची, परमार्थी, गृहस्थाश्रमी, वानप्रस्थ, संन्यासी, आदि, बाल, वृद्ध, तरुण, पुरुष, स्त्री, आदि सब, जहां पर अन्तःकरण में परमात्मा का अखण्ड ध्यान करते हैं ॥२४-२५॥ जो परमेश्वर के भक्त हैं, जिनके द्वारा सब को समाधान प्राप्त होता है, उन्हें मेरा अभिवंदन है ॥ २६ ॥ ऐसी ही सभा को, जहां नित्य निरंतर भगवान् का गुण-कीर्तन हुआ करता है, मैं नमस्कार करता हूं ॥ २७ ॥ जहां देवतुल्य सज्जन रहते हैं वहां रहने से सद्गति मिलती है । यह बात महात्मा लोगों ने अनेक ग्रन्थों में लिखी है ॥ २८ ॥ कलियुग में परमात्मा का गुण-कीर्तन मुख्य है, जहां यह होता है वही सभा श्रेष्ठ है । परमात्मा की कथा सुनने से अनेक बुरे सन्देह दूर होते हैं ॥ २९ ॥

नववाँ समास—परमार्थ-स्तुति ।

॥ श्रीराम ॥

अब इस परमार्थ का स्तवन करता हूं, जो साधकों का मुख्य स्वार्थ है । परमार्थ-योग सब से बड़ा है ॥ १ ॥ यह है तो परम सुगम; पर उन मनुष्यों के लिए दुर्गम हो गया है जिनको सत्समागम का मर्म (रहस्य) नहीं मालूम है ॥ २ ॥ अनेक साधनों का फल उधार है; (कालान्तर से फलप्राप्ति होती है) परन्तु यह परमार्थ प्रत्यक्ष ब्रह्मसाक्षात्कार ही है । इससे वेद-शास्त्र का सार, अनुभव में आता है ॥ ३ ॥ यह (ब्रह्मरूपी परमार्थ) है तो चारों ओर; परन्तु अणुमात्र भी नहीं देख पड़ता । लोग संन्यासी हो जाते हैं; पर एकदेशीयता के कारण परमार्थ नहीं पाते ॥ ४ ॥ आकाशमार्ग में जो गुप्तपन्थ है वह समर्थ योगी ही जानते हैं; औरों को यह गुह्यार्थ सहसा नहीं मालूम होता ॥ ५ ॥ वह (परमार्थ या परब्रह्म) सार का भी मुख्य सार है, वह अखण्ड, अक्षय और अपार है; कुछ भी करें, तो भी चोर उसे नहीं चुरा सकते ॥ ६ ॥ उसे राजभय अथवा अग्निभय नहीं है । श्वापदभय, अर्थात् बनैले जन्तुओं के भय, की तो वहां बात ही न करो ॥ ७ ॥ परब्रह्म हिलता

नहीं. ठौर भी नहीं छोड़ता, कालान्तर में भी नहीं डिगता, जहां का तहां ही रहता है ॥ ८ ॥ ऐसी वह मुख्य धरोहर है, बहुत समय बीत जाने पर भी न कभी वह बदलती है और न कम ज्यादा होती है ॥ ९ ॥ अथवा वह न घिसता है और न अदृश्य होता है । गुरु-अंजन के बिना, देखने से वह देख भी नहीं पड़ता है ॥ १० ॥ पहले जो समर्थ योगी हो गये उनका भी यही मुख्य स्वार्थ है । यह परम गुह्य है; इसी लिए परमार्थ कहलाता है ॥ ११ ॥ जिसने ढूंढ कर देखा है उसीको यह अर्थ (परमार्थ) मिला है । औरों को, मौजूद रहने पर भी, जन्मजन्मान्तर के लिए अलभ्य हो गया है ॥ १२ ॥ इस परमार्थ की अपूर्वता तो देखो, कि जिसके तईं जन्ममृत्यु की बात ही नहीं है और जिसके द्वारा सायुज्यता की पदवी तुरन्तही मिल जाती है ॥ १३ ॥

परमार्थ के विवेक से माया दूर हो जाती है, सारासार-विचार मालूम होता है और अन्तःकरण में परब्रह्म का ज्ञान हो जाता है ॥ १४ ॥ जहां उस सर्वव्यापक परमात्मा का ज्ञान हो गया; और उसीमें इस ब्रह्मांड का भी (ज्ञान से) लय हो गया, वहां पंचभूतों का यह खेल तुच्छ मालूम होने लगता है ॥ १५ ॥ ज्योंही परमात्मा का विवेक अन्तःकरण में आ गया त्योंही प्रपंच मिथ्या मालूम होने लगता है और माया धोखे की टट्टी जान पड़ने लगती है ॥ १६ ॥ अन्तःकरण में ब्रह्मस्थिति के समाते ही सन्देह ब्रह्मांड के बाहर चला जाता है और दृश्य पदार्थ जीर्ण-जर्जर होकर बदरंग देख पड़ते हैं ॥ १७ ॥

ऐसा यह परमार्थ है । जो इसे करता है उसका यह मुख्य स्वार्थ है । यह श्रेष्ठों से भी श्रेष्ठ है, इसका कहां तक वर्णन किया जाय ? ॥ १८ ॥ परमार्थ से ब्रह्मादिकों को विश्राम मिलता है और योगी लोग परब्रह्म में तन्मयता पाते हैं, अर्थात् लीन होजाते हैं ॥ १९ ॥ सिद्ध, साधु और महानुभावों के लिए परमार्थ विश्रामस्थान है और अन्त में सतोगुणी जड़ पुरुषों के लिए भी, सत्संग से, यह सुलभ है ॥ २० ॥ परमार्थ जन्म का सार्थक है; परमार्थ संसार में तारक, अर्थात् पार करनेवाला है; परमार्थ धार्मिकों को श्रेष्ठ लोक में पहुँचा देता है ॥ २१ ॥ परमार्थ तपस्वियों का आश्रय और साधकों का आधार है; परमार्थ भवसागर का पार दिखाता है ॥२२॥ जो परमार्थी है वही राज्यधारी, अर्थात् राजा है; जिसके पास परमार्थ नहीं वही भिखारी है । इस परमार्थ को उपमा किससे दें ? ॥ २३ ॥ जब अनन्त जन्मों का पुण्य इकट्ठा होता है तभी परमार्थ बनता है और परमात्मा का अनुभव प्राप्त होता है ॥ २४ ॥ जिसने परमार्थ पहचान लिया उसने जन्म सार्थक किया; अन्य लोग, जो पापी हैं, कुल को क्षय करने के लिए जन्मे ॥ २५ ॥ अस्तु । भगवान् को प्राप्त किये बिना जो संसार का व्यर्थ परि-

श्रम करता है उस मूर्ख का मुँह भी न देखना चाहिए ॥२६॥ भले आदमी को चाहिए कि वह परमार्थ सेवन करके शरीर सार्थक करे और हरिभक्ति करके पूर्वजों का उद्धार करे ॥ २७ ॥

दसवाँ समास–नरदेह की स्तुति !

॥ श्रीराम ॥

इस नरदेह को धन्य है, धन्य है ! इसकी अपूर्वता तो देखो कि इसके द्वारा जो परमार्थ की इच्छा की जाती है वह सब सिद्ध होती है ॥ १ ॥ इस नरदेह के ही योग से कोई भक्ति में लगे हैं और कोई परम विरक्त हो कर गिरिकंदराओं का सेवन करते हैं ॥ २ ॥ कोई तीर्थाटन करते हैं, कोई पुरश्चरण करते हैं, कोई निष्ठावन्त बनकर अखण्ड नामस्मरण करते हैं ॥ ३ ॥ कोई तपस्या करने लगे, कोई बहुत अच्छे योग–अभ्यासी हुए और कोई अध्ययन करके वेदशास्त्र में व्युत्पन्न हुए ॥ ४ ॥ किसीने हठयोग करके देह को अत्यन्त कष्टित किया और किसीने भाव के बल से परमात्मा की प्राप्ति की ॥ ५ ॥ कोई विख्यात महानुभाव हुए, कोई प्रसिद्ध भक्त कहलाये और कोई सिद्ध बनकर अकस्मात् आकाश में संचार करने लगे ॥६॥ कोई तेज में तेज ही हो गये, कोई जल में मिल गये और कोई देखते ही देखते वायुस्वरूप में अदृश्य हो गये ॥७॥ कोई एक शरीर से अनेक शरीर धारण कर लेते हैं, कोई देखते ही देखते गुप्त हो जाते हैं, कोई एक जगह बैठे बैठे ही, उसी समय में अनेक स्थानों और समुद्रों में भी भ्रमण करते रहते हैं ॥ ८ ॥ कोई बाघ- सिंह, आदि भयानक जीवों पर बैठते हैं, कोई अचेतन को चलाते हैं, कोई तपोबल से मुर्दों को जिलाते हैं ॥ ९ ॥ कोई अग्नि को मन्द करते हैं; कोई जल को सुखाते हैं, और कोई जगत् को प्राण-वायु को रुद्ध कर रखते हैं ॥ १० ॥

ऐसे हठनिग्रही और निश्चयी सिद्ध लाखों हो गये, जिन पर अनेक सिद्धियों की कृपा थी ॥११॥ कोई मनोसिद्ध, कोई वाचासिद्ध, कोई अल्प सिद्ध, कोई सर्वसिद्ध–ऐसे नाना प्रकार के विख्यात सिद्ध हो गये १२ ॥ कोई नवविधा भक्तिरूपी राजपंथ से गये और परलोक का निजस्वार्थ (परमार्थ) प्राप्त कर लिया तथा कोई योगो गुप्त पन्थ पंथसे ब्रह्मभुवन पहुँचे॥१३॥कोई वैकुण्ठ को गये, कोई सत्यलोक में रहे और कोई शिवरूप बन कर कैलाश में बैठे ॥ १४ ॥ कितने ही नर-देहधारी इन्द्रलोक में इन्द्र हुए, कितने ही पितृ-

लोक में जा मिले, कोई तारागणों में बैठ गये और कोई क्षीरसागर में जा बसे ॥ १५ ॥ कोई सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य चार प्रकार की मुक्तियों का, अपनी इच्छा के अनुसार, सेवन कर रहे हैं ॥ १६ ॥

ऐसे अनन्त सिद्ध, साधु और सन्त अपने हित में प्रवृत्त हुए हैं। यह सब नरदेह का प्रताप है। इसका कहां तक वर्णन किया जाय? ॥ १७ ॥ इस नरदेह ही के आधार से, नाना साधनों के द्वार से, और विशेष कर सारासार विचार से, बहुतसे युक्त होगये ॥ १८ इस नरदेह हीके सम्बन्ध से बहुत लोग उत्तम पद पा चुके और अहंता छोडकर स्वानन्द से सुखी हुए ॥ १९ ॥ मनुष्यदेह पाकर ही इन सब का संशय नष्ट हुआ है और वे लोग सद्गति को प्राप्त हुए हैं ॥ २० ॥ सब लोग जानते हैं कि, पशुदेह से गति नहीं है। नरदेह ही से परलोक मिलता है ॥ २१ ॥

सन्त, महन्त, ऋषि, मुनि, सिद्ध, साधु, समाधानी, भक्त, मुक्त, ब्रह्मज्ञानी, विरक्त, योगी, तपस्वी, तत्त्वज्ञानी, योगाभ्यासी, ब्रह्मचारी, दिगम्बर, संन्यासी, षड्दर्शनी, तापसी ये सब, नरदेह ही में हुए हैं ॥ २२–२३ ॥ इसी लिए नरदेह श्रेष्ठ है। यह सब देहों में बड़ी है। इसीके द्वारा यम-यातना मिटती हैं ॥ २४ ॥ नरदेह स्वाधीन है। अन्य देहों की तरह यह कदापि पराधीन नहीं है, परन्तु इसे परोपकार में लगा कर, कीर्तिरूप से जगत् में जीवित रखना चाहिए ॥ २५ ॥ घोड़ा, बैल, गो, भैंस, आदि अनेक पशु तथा स्त्रियां और दासी इत्यादि को, यदि कृपा करके कोई बन्धन से छोड भी देगा तो, कोई न कोई उन्हें पकड़ ही लेगा ॥ २६ ॥ परन्तु यह नरदेह वैसा नहीं है। यह, अपनी इच्छा के अनुसार, चाहे रहे चाहे चला जाय। देखो, इसे कोई बांध नहीं सकता ॥ २७ ॥ नरदेह यदि पंगु है तो वह काम में नहीं आता, अथवा यदि वह लूला होता है तो भी परोपकार में नहीं लग सकता ॥ २८ ॥ वह यदि अंधा हुआ तो बिलकुल ही व्यर्थ गया, अथवा यदि बहरा हुआ तो भी निरूपण श्रवण नहीं कर सकता ॥ २९ ॥ यदि मूक हुआ तो शंका-समाधान नहीं कर सकता और यदि अशक्त, रोगी या सड़ियल हुआ तो भी व्यर्थ ही है ॥ ३० ॥ वह यदि मूर्ख हुआ या उसमें फेफड़े का रोग हुआ तोभी निश्चय करके, उसे निरर्थक ही समझिये ॥ ३१ ॥

सारांश, इस प्रकार की त्रुटियां जिसमें न हों और शरीर सब तरह से ठीक हो उसे शीघ्र ही परमार्थ-मार्ग पर आना चाहिए ॥ ३२ ॥ जो शरीर से सब प्रकार आरोग्य होते हुए भी परमार्थ-बुद्धि भूले हुए हैं वे मूर्ख मायाजाल में कैसे फंसे हैं! ॥ ३३ ॥ मिट्टी के घरों को इन मुर्खों ने अपना

मान रखा है; परन्तु यह उन्हें नहीं मालूम है कि इन घरों पर बहुतों का अधिकार है ॥ ३४ ॥ चूहा छिपकली, मक्खी, मकड़ी, चींटा-चींटी, बिच्छू, सर्प, लखहरी, बर्र, भौंरा, झिल्ली इत्यादि सभी इस घर को अपना समझते हैं ॥ ३५–३८ ॥ इसी प्रकार बिल्ली, कुत्ता, नेवला, पिस्सू, खटमल, झींगर, कनखजूरा इत्यादि अनेक जीव इसे अपना ही घर मानते हैं ॥ ३७–४३ ॥ पशु, दासी और घर के मनुष्य उसे अपना समझते हैं ॥४४॥ मिहमान और मित्र, तथा कभी कभी गावँ के अन्य लोग भी, उसे अपना बतलाते हैं ॥ ४५ ॥ चोर कहते हैं कि हमारा घर है, राजा कहता है कि इस घर पर हमारी सत्ता है और अग्नि कहता है कि हमारा घर है, लाओ भस्म करें ॥ ४६ ॥ इस प्रकार सभी कहते हैं, घर हमारा है और ये मूर्ख मनुष्य भी कहते हैं कि घर हमारा ही है। परन्तु अन्त में कोई आपत्ति आ जाने पर, घर ही नहीं, किन्तु ग्राम और देश को भी छोड़ कर भग जाते हैं ॥ ४७ ॥ अन्त में सारे घर गिर पड़ते हैं, गावँ ऊजड़ हो जाता है; फिर उन घरों में बन के बनैले जन्तु रहने लगते हैं ॥ ४८ ॥ इसमें कोई सन्देह नहीं कि चींटी, नेवला, चूहा आदि कीड़ों का ही यह घर है । ये बिचारे मूर्ख मनुष्य तो उसे छोड़ ही जाते हैं ॥ ४६ ॥ घरों की दशा ऐसी ही मिथ्या है, यह बात अपने अनुभव से जान पड़ी । दो दिन का जीवन है, चाहे जहां रह सकते हैं ॥ ५० ॥

यदि देह को अपना कहें; तो यह भी बहुतेरों के लिये बना है। जुओं ने प्राणियों के मस्तक पर घर बनाये हैं और उसे भक्षण करते हैं ॥ ५१ ॥ प्रत्येक रोमरंध्र में कीड़े लगे रहते हैं, घाव हो जाने पर कीड़े पड़ जाते हैं, प्राणियों के पेट में जन्तु होते हैं, यह सभी जानते हैं ॥ ५२ ॥ दांतों, आखों और कानों में कीड़े लगते हैं तथा बग्घी (कीटकविशेष) मांस में घुस कर काटती है ॥ ५३ ॥ डाँस खून पीते हैं, किलौनी मांस में घुसती है, पिस्सू अकस्मात् कूद कर भागते हैं ॥ ५४ ॥ भौंरा और बर्रें काट खाती हैं । जोंक खून चूसती है । बिच्छू और सांप इत्यादि काट खाते हैं ॥ ५५ ॥ जन्म से देह को पालते हैं और उसे अकस्मात् बाघ ले जाता है अथवा भेड़िया बलात्कार से खा जाता है ॥ ५६ ॥ चूहे या बिल्लियां काट खाती हैं, कुत्ते और घोड़े मांस नोच लेते हैं, तथा रीछ और बन्दर घबड़ा कर मार डालते हैं ॥ ५७ ॥ ऊंट मुहँ से पकड़ कर उठा लेते हैं, हाथी चीर फाड़ डालते हैं और बैल अचानक सींगो से मार डालते हैं ॥ ५८ ॥ चोर तड़ातड़ लाठियां बरसाते हैं, भूत डरवा कर मार डालते हैं। अस्तु। इस देह की ऐसी ही दशा है ॥ ५६ ॥

यह शरीर किसी एक का नहीं है; किन्तु अनेकों का है; तथापि ये मूर्ख कहते हैं, हमारा है। परन्तु तापत्रय में, अर्थात् तापत्रय के समासों (द० ३, स० ६-८) में बतलाया गया है कि यह शरीर जीवों का खाद्य है ॥ ६० ॥ देह यदि परमार्थ में लगाया जाय तभी तो इसका सार्थक है; नहीं तो नाना आघातों और मृत्युपथ के द्वारा इसे व्यर्थ ही गया समझिये ॥ ६१ ॥ अस्तु। जो प्रापंचिक, अर्थात् प्रपंच में पड़े हुए, मूर्ख हैं वे परमार्थ-सुख क्या जानें? ऐसे मूर्खों के कुछ थोड़े लक्षण आगे कहे गये हैं ॥ ६२ ॥

दूसरा दशक ।

पहला समास—मूर्ख-लक्षण ।

॥ श्रीराम ॥

हे एकदन्त, त्रिनयन (?) गजानन, आपको नमस्कार है। भक्तजनों की ओर दयादृष्टि से देखिये ॥ १ ॥ हे वेदमाते, ब्रह्मसुते, श्रीशारदे ! आपको नमस्कार करता हूं। हे कृपावन्ते, आप स्फूर्तिरूप से मेरे अन्तःकरण में वास करिये ॥ २ ॥ अब सद्गुरु-चरणों की वन्दना करके और रघुनाथ का स्मरण करके, त्यागनेके अर्थ मूर्ख के लक्षण कहता हूं ॥ ३ ॥ मूर्ख दो प्रकार के होते हैं: एक साधारण मूर्ख और एक पढ़े हुए मूर्ख । दोनों के लक्षणों में विचित्रता है। इन पर श्रोताओं को अच्छी तरह विचार करना चाहिए ॥ ४ ॥ पढ़े हुए मूर्खों के लक्षणों का अगले समास में विवेचन किया गया है। हे बुद्धिमान् श्रोतागण, यहां पर, सावधान होकर, आगे की कथा सुनो ॥ ५ ॥ अब, यदि मूर्खों के पूरे लक्षण यहां कहे जाँय तो बहुत हैं; परन्तु उनमें से कुछ थोड़े, ध्यानपूर्वक, सुनो ॥ ६ ॥ जो प्रापंचिक जन हैं, जिन्हें आत्मयज्ञ नहीं है और जो बिलकुल अज्ञान हैं उनके ये लक्षण हैं:—

जिनके पेट से जन्मा उन्हींसे जो विरोध करता है, जिसने स्त्री को ही मित्र मान लिया है वह एक प्रकार का मूर्ख है ॥ ८ ॥ सब वंश भर को छोड़ कर जो स्त्री के अधीन होकर जीता है और जो उसे गुप्त बात बतलाता है वह मूर्ख है ॥ ९ ॥ जो परस्त्री से प्रेम करता हो, ससुर के घर में रहता हो और कन्या का कुल देखे बिना ही उससे विवाह करता हो वह भी मूर्ख है ॥ १० ॥ जो समर्थ पुरुष से अहंकार करता हो और मन में उसकी बराबरी करता हो, अथवा जो सामर्थ्य के बिना, सत्ता अर्थात् प्रभाव दिखलाता हो वह मूर्ख है ॥ ११ ॥ जो अपने मुहँ अपनी प्रशंसा करता हो, स्वदेश में ही रहकर विपत्ति भोगता हो और व्यर्थ पूर्वजों की कीर्ति वर्णन करता हो वह भी मूर्ख है ॥ १२ ॥ जो व्यर्थ हँसता हो, उपदेशका ग्रहण छोड़कर दूसरों से मित्रता करता हो, रात में दूसरे की बुराई करता हो वह मूर्ख है ॥ १४ ॥ जहां बहुत आदमी जगते हों वहां उनके बीच में जो सोता हो और दूसरे के घर में जो बहुत भोजन करता हो वह मूर्ख है ॥ १५ ॥

मान अथवा अपमान जो स्वयं प्रगट करता हो और सात* व्यसनों मे जिस का मन लगा रहता हो वह एक मूर्ख है ॥ १६ ॥ जो दूसरे की आशा से निश्चित होकर प्रयत्न छोड़ देता है और आलस ही में सन्तोष मानता है वह एक मूर्ख है ॥ १७ ॥ घर में तो विचार किया करता है; परन्तु सभा में लज्जित होता है अर्थात वहां जिसे एक शब्द बोलने में भी घबड़ाहट आती है वह मूर्ख है ॥१८॥ अपने से जो श्रेष्ठ हैं उनके साथ जो अति निकटता का सम्बन्ध रखता है और उपदेश करने पर बुरा मानता है वह मूर्ख है ॥१६॥ जो अपना नहीं सुनता उसे सिखाता है, बड़ों से आपना ज्ञान प्रगट करता है और जो आर्य, अर्थात् श्रेष्ठ, पुरुषों को धोखा देता है वह मूर्ख है ॥ २० ॥ जो विषयभोग करने में निर्लज्ज बन गया हो और मर्यादा छोड़ निरंकुश होकर वर्ताव करता हो वह एक मूर्ख है ॥ २१ ॥ व्यथा होने पर जो औषधि नहीं लेता, जो कदापि पथ्य से नहीं चलता और अनायास प्राप्त हुए पदार्थ का जो स्वीकार नहीं करता वह एक मूर्ख है ॥ २२ ॥ जो बिना साथी के विदेश करता हो, बिना पहचान के साथ करता हो और जो नदी की बाढ़ में कूदता हो वह एक मूर्ख है ॥ २३ ॥ जहां अपना मान हो वहां बार बार जाता हो और जो अपने मान और अभिमान की रक्षा न करता हो वह मूर्ख है ॥ २४ ॥ जो अपने धनवान् सेवक के आश्रित होकर रहता हो और जो सदा मनमलीन रहता हो वह मूर्ख है ॥ २५ ॥ जो कारण का विचार न करके बिना अपराध दंड देता हो और जो थोड़े के लिए कृपणता करता हो वह मूर्ख है ॥ २६ ॥ जो देव और पितरों को न मानता हो, शक्ति बिना मुँहजोरी करता हो और जो व्यर्थ बड़बड़ करता रहता हो वह भी एक मूर्ख है ॥ २७ ॥ घरवालों पर दाँत पीसता हो और बाहर बिचारा दीन की तरह रहता हो—ऐसा जो मूढ़ और पागल है वह भी मूर्ख है ॥ २८ ॥ जो नीच जाति से संगति और दूसरे की स्त्री से एकान्त में बातचीत करता हो और जो खाते खाते राह चलता हो वह एक मूर्ख है ॥ २९ ॥ जो परोपकार करना नहीं जानता, भलाई के बदले बुराई करता है और करता थोड़ा है, परन्तु बतलाता बहुत है वह एक मूर्ख है ॥ ३० ॥ जो क्रोधी, अधिक खानेवाला और आलसी है, मलीन और मन में कुटिल है, धीरज जिसके पास न हो वह एक मूर्ख है ॥ ३१ ॥ जिसके पास विद्या, वैभव, धन, पुरुषार्थ, सामर्थ्य और मान आदि कुछ नहीं है—कोरा अभिमान ही दिखलाता है वह एक मूर्ख है ॥३२॥ जो क्षुद्र, झूठा, धोखेबाज, कुकर्मी, कुटिल और उर्मट हो, जो बहुत सोता हो वह मूर्ख है ॥ ३३ ॥ जो ऊँचे पर जाकर वस्त्र

* सप्तव्यसनः—जारण, मारण, विध्वंसन, वशीकरण, स्तम्भन, मोहन और उच्चाटन।

पहनता हो, बाहर चौहट्टे पर बैठता हो, सदा नंगे बदन देख पड़ता हो वह एक मूर्ख है ॥ ३४ ॥ जिसके दांत, आंखें, नाक, हाथ, कपड़े और पाँव सदा मैले रहते हों वह एक मूर्ख है ॥ ३५ ॥ वैधृति और व्यतिपात आदि अनेक कुमुहूर्तों में प्रवास के लिए चलता हो और अपशकुनों से अपना घात करता है, वह एक प्रकार का मूर्ख है ॥ ३६ ॥ क्रोध, अपमान और कुबुद्धि से स्वयं अपना वध करता हो और जिसमें दृढ़ बुद्धि न हो वह एक मूर्ख है ॥ ३७ ॥ अपने प्रेमियों को परम खेदित करता हो, उनसे सुख का एक शब्द भी न बोलता हो और नीच जनों की वन्दना करता हो वह मूर्ख है ॥३८॥ जो स्वयं अपनी बहुत प्रकार से रक्षा करता हो; परन्तु शरणागत का अनादर करता हो, तथा जो लक्ष्मी का भरोसा रखता हो वह भी एक मूर्ख है ॥ ३९ ॥ पुत्र और दारा ही को सहारा मान कर जो ईश्वर को भूल गया हो वह एक मूर्ख है ॥ ४० ॥ जैसा किया जाता है वैसाही मिलता है-यह तत्व जिसे नहीं मालूम है वह भी एक मूर्ख है ॥ ४१ ॥ स्त्रियों को पुरुष से अठगुना काम ईश्वर ने दिया है-(स्त्रीणामष्टगुणः कामः ।) अतएव जिसने कई विवाह किये हैं वह एक मूर्ख है ॥ ४२ ॥ दुर्जन के कहने से जो मर्यादा छोड़ कर चलता हो, जो दिन दहाड़े आंखें मूँद लेता हो-अथवा जो अच्छी बात को प्रत्यक्ष देखते हुए भी उस पर ध्यान नहीं देता वह एक मूर्ख है ॥ ४३ ॥ जो देवता, गुरु, माता, पिता, ब्राह्मण और स्वामी से द्रोह करता हो वह भी एक मूर्ख है ॥ ४४ ॥ दूसरे के दुःख में सुख मानता हो, दूसरे के सन्तोष में दुःख मानता हो और गई हुई वस्तु का शोक करता हो वह मूर्ख है ॥ ४५ ॥ बिना आदर बोलना, बिना पूँछे गवाही देना और निन्दनीय वस्तु का स्वीकार करना भी मूर्खता का लक्षण है ॥ ४६ ॥ जो किसीका महत्व घटाकर बोलता हो, सन्मार्ग छोड़ कर चलता हो और जिसने कुकर्मियों से मित्रता की हो वह मूर्ख है ॥ ४७ ॥ सचाई कभी न रखता हो, हँसी सदा करता हो और दूसरे के हँसी करने पर जो लड़ाई के लिए तैयार हो जाता हो वह मूर्ख है ॥ ४८ ॥ जो अवघड़ होड़ लगता हो, बिना काम बड़बड़ करता हो, अथवा बोलही न सकता हो, जैसे मुँह बन्द हो, वह मूर्ख है ॥ ४९ ॥ जो न वस्त्र अच्छे पहने हो और न शास्त्र पढ़े हो और सभा में आगे जाकर बैठता हो और जो वंशवालों का विश्वास करता हो वह मूर्ख है ॥ ५० ॥ जो चोर से पहचान बतलाता हो, एक बार जिस वस्तु को देख लिया हो उसीको मांगता हो, क्रोध से अपना अनहित करता हो वह भी मूर्ख है ॥ ५१ ॥ जो हीन जनों से मित्रता तथा सम्भाषण करता हो और बायें हाथ से खाता पीता हो वह मूर्ख है ॥ ५२ ॥ जो समर्थ पुरुष से मत्सर करता हो, अलभ्य वस्तु के लिए

डाह करता हो, और अपने घर में ही चोरी करता हो वह एक मूर्ख है ॥ ५३ ॥ जगदीश को छोड़ कर मनुष्य का भरोसा करता हो और जो बिना जीवन सार्थक किये अपनी आयु खोता हो वह मूर्ख है ॥ ५४ ॥ संसार में दुःख पाकर जो ईश्वर को गाली देता हो और जो मित्र की हीनता बतलाता हो वह मूर्ख है ॥ ५५ ॥ जो थोड़ा भी अन्याय क्षमा नहीं करता और सदा तेजी दिखलाता है तथा जो विश्वासघात करता है वह मूर्ख है ॥ ५६ ॥ जो समर्थ पुरुष के मन से उतर गया हो, जिसके कारण सभा का रंग बिगड़ जावे और जो क्षण में प्रसन्न हो और क्षणही में बदल जाय वह भी मूर्ख है ॥ ५७ ॥ बहुत दिनों के नौकर निकाल कर जो नये रखता है और जिसकी सभा बिना नायक की हो वह भी मूर्ख है ॥ ५८ ॥ जो अनीति से द्रव्य जोड़ता हो, धर्म, नीति और न्याय छोड़ता हो तथा साथ के मनुष्यों को अलग करता हो वह मूर्ख है ॥५९॥ घर में सुंदरी स्त्री होने पर भी जो सदा परस्त्री-गमन करता हो-बहुतों की जूँठन स्वीकार करता हो वह मूर्ख है ॥ ६० ॥ अपना धन दूसरे के पास रखता हो और दूसरे के धन की अभिलाषा रखता हो, अथवा क्षुद्र पुरुष से लेनदेन का व्यवहार करता हो वह एक मूर्ख है ॥ ६१ ॥ जो अतिथि को कष्ट देता हो, कुग्राम में रहता हो और जो सदा चिन्तित रहता हो वह मूर्ख है ॥ ६२ ॥ दो आदमी जहाँ बातें करते हों वहाँ जो तीसरा जाकर बैठे अथवा जो दोनों हाथों से सिर खुजलावे वह भी मूर्ख है ॥ ६३ ॥ जो पानी में कुल्ला छोड़ता हो, जो पैर से पैर खुजलाता हो अथवा जो हीन कुल की सेवा करता हो वह मूर्ख है ॥ ६४ ॥ स्त्री और बालक को मुहँ लगाना, पागल के पास बैठना और मर्यादा छोड़ कर कुत्ता पालना मूर्खता के लक्षण हैं ॥ ६५ ॥ परस्त्री से कलह करता हो, मूक जानवरों को अचानक, या घात लगा कर मारता हो और जो मूर्ख की संगति करता हो वह भी मूर्ख है ॥ ६६ ॥ खड़े खड़े लड़ाई का तमाशा देखता हो; उसे बन्द न करता हो और सच के सामने झूंठ की कदर करता हो वह मूर्ख है ॥ ६७ ॥ लक्ष्मी पा जाने पर जो पिछली पहचान भूल जाता है और जो देवताओं व ब्राह्मणों पर अपना प्रभाव जमाता है वह भी एक मूर्ख है ॥ ६८ ॥ जब तक अपना काम हो तभी तक बहुत नम्रता धारण करता हो और दूसरों के काम न करता हो वह मूर्ख है ॥ ६९ ॥ पढ़ते समय अक्षर छोड़ देता हो या अपने पास से मिला देता हो; जो पुस्तक पर दृष्टि न रखता हो वह भी एक मूर्ख है ॥ ७० ॥ जो न खुद कभी पढ़ता हो न दूसरों को पढ़ने देता हो, पुस्तक सदा बस्ते में बँधी रखता हो, वह भी एक मूर्ख है ॥ ७१ ॥

ऐसे ये मूर्खों के लक्षण हैं-इनके सुनने से चतुरता आती है। समझदा

आदमी ये लक्षण सदा मन लगाकर सुनते हैं ॥ ७२ ॥ लक्षण तो बहुत से हैं, पर यहां ये कुछ लक्षण, त्याग करने के लिए, अपनी बुद्धि के अनुसार बतला दिये हैं—श्रोता लोग मुझे क्षमा करें ॥ ७३ ॥ उत्तम लक्षण ले लेना चाहिए और मूर्ख लक्षण त्याग देना चाहिये। अगले समास में उत्तम लक्षण बतलाये गये हैं ॥ ७४ ॥

दूसरा समास—उत्तम लक्षण !

॥ श्रीराम ॥

श्रोता लोग सावधान हों: अब उत्तम गुण कहता हूं, इन गुणों से सर्वज्ञता आती है ॥ १ ॥ बिना पूछे रास्ता न चलना चाहिये, बिना पहचाने फल न खाना चाहिए, पड़ी हुई चीज एकाएक न उठाना चाहिए ॥ २ ॥ बहुत वाद न करना चाहिए, पेट में कपट न रखना चाहिए, बिना खोज किये और कुलहीन स्त्री से विवाह न करना चाहिए ॥ ३ ॥ बिना पूछे बोलना न चाहिए, बिना विचारे और मर्यादा छोड़ कर चलना न चाहिये ॥ ४ ॥ प्रीति बिना रूठना न चाहिये, चोर से पहचान न पूछना चाहिये, रात में एकाएक रास्ता न चलना चाहिये ॥ ५ ॥ मनुष्यों से नम्रता न तोड़ना चाहिये, पापद्रव्य न जोड़ना चाहिए, पुण्यमार्ग कभी न छोड़ना चाहिये ॥ ६ ॥ निन्दा और द्वेष न करना चाहिये, बुरा साथ न रखना चाहिए, परधन और परस्त्री बलात् हरण न करना चाहिये ॥ ७ ॥ वक्ता को बीच में टोंकना न चाहिये, एकता को तोड़ना न चाहिए, कुछ भी हो विद्या—अभ्यास छोड़ना न चाहिए ॥ ८ ॥ मुहँजोर से लड़ना न चाहिए, बाचाल से बहुत बातें न करना चाहिए, संत का संग छोड़ना न चाहिए ॥ ९ ॥ बहुत क्रोध न करना चाहिए, प्रेमियों को खेदित न करना चाहिए, सिखावन का मन में बुरा न मानना चाहिए ॥ १० ॥ क्षण क्षण में रूठना न चाहिये, झूठे पुरुषार्थ का बखान न करना चाहिए और बिना किये अपना पराक्रम नहीं बतलाना चाहिए ॥ ११ ॥ की हुई प्रतिज्ञा मत भूलो और प्रसंग आ पड़ने पर सामर्थ्य दिखलाने में मत चुको। व्यर्थ बड़ों का तिरस्कार कभी न करो ॥ १२ ॥ आलस में सुख न मानो। चुगली मत सुनो। बिना सोचे कोई काम मत करो ॥ १३ ॥ शरीर को बहुत सुख न देना चाहिए, पुरुष को प्रयत्न न छोड़ना चाहिए, कष्ट से कभी न घबड़ाना चाहिए ॥ १४ ॥ सभा में लाज न करो, व्यर्थ वाचालता न दिखलाओ,

कुछ भी हो, पैज या ने होड़ मत लगाओ ॥ १५ ॥ बहुत चिन्ता मत करो, आलस्य में मत रहो, परस्त्री को और पापबुद्धि से मत देखो ॥ १६ ॥ किसी का अहसान मत लो, यदि लिया हो तो उसे न रखो—अर्थात् उसका बदला दे दो—दूसरे को दुःख न दो और विश्वासघात न करो ॥ १७ ॥ अशुद्ध न रहो, मैले कपड़े मत पहनो, जानेवाले से यह मत पूछो कि कहां जाते हो ॥ १८ ॥ व्यापकता या सर्वप्रियता मत छोड़ो, पराधीन मत हो, अपना बोझा दूसरे पर मत डालो ॥ १९ ॥ बिना लिखा—पढ़ी के देन—लेन का व्यवहार मत करो, हीन से ऋण मत लो, गवाही बिना राजद्वार मत जाओ ॥ २० ॥ झूंठी बात मत सुनो, सार्वजनिक बात को मिथ्या न बतलाओ। जहां आदर न हो वहां बिलकुल न बोलो ॥ २१ ॥ मत्सर या डाह मत करो, अपराध बिना किसीको पीड़ा मत दो, अपने शारीरिक बल के अभिमान में आकर अनीति का बर्ताव न करो ॥ २२ ॥ बहुत भोजन न करो, बहुत न सोओ, चुगलखोर के पास बहुत दिन न रहो ॥ २३ ॥ अपने की गवाही मत दो, अपनी कीर्ति न वर्णन करो, स्वयं बात कह कर मत हँसो ॥ २४ ॥ धुम्रपान मत करो, मादक द्रव्य मत सेवन करो, वाचाल से मित्रता कभी न करो ॥ २५ ॥ बेकाम मत रहो, नीच बात मत सहो, चाहो बड़ों का भी हो, पर यदि बिना कष्ट मिला हो तो वह अन्न मत खाओ ॥ २६ ॥ मुहँ में गाली मत आने दो; दूसरे को देख कर मत हँसो; अपने मन में कुलवान् के विषय में हीनता न लाओ ॥ २७ ॥ किसी की वस्तु मत चुराओ, बहुत कृपण मत बनो; अपने प्रेमियों से कभी लड़ाई झगड़ा मत करो ॥ २८ । किसीकी घात न करो, झूंठी गवाही मत दो, कभी असत्य बर्ताव मत करो ॥ २९ ॥ चोरी; चुगली न करो; पर-स्त्रीगमन न करो; पीछे किसीकी बुराई मत करो ॥ ३० ॥ समय आ पड़ने पर धैर्य न छोड़ो, सत्वगुण को मत छोड़ो और शरण आये हुए बैरी को दंड न दो ॥ ३१ ॥ अल्प धन पाकर मतवाले न बन जाओ, हरिभक्ति में लाज न करो, पवित्र जनों के बीच में अमर्याद बर्ताव न करो ॥ ३२ ॥ मूर्ख से सम्बन्ध न करो, अंधेरे में हाथ न डालो और असावधानी से अपनी वस्तु कहीं न भूल जाओ ॥ ३३ ॥ स्नान और संध्या न छोड़ो, कुलाचार न तोड़ो, अनाचार न मचाओ ॥ ३४ ॥ हरिकथा न छोड़ो, निरूपण न तोड़ो, और प्रपंचबल से परमार्थ को न मोड़ो ॥ ३५ ॥ देवता का मानगन न छोड़ो, स्वधर्म का त्याग न करो और बिना विचारे हठ से मनमाना काम न करो ॥ ३६ ॥ निठुरता न धरो, जीवहत्या न करो, बादल उमड़ा हुआ देख कर बाहर न जाओ, अथवा बुरे समय में न जाओ ॥ ३७ ॥ सभा देख कर घबड़ाओ मत, समय आ पड़ने पर उत्तर देने में मत चूको, धिक्कारने से

अपने धैर्य को न डिगने दो ॥ ३८ ॥ विना गुरु किये न रहो, नीच जाति का गुरु न करो, वैभव से भूल कर जीवन को शाश्वत, अर्थात् नित्य, न मानो ॥ ३९ ॥ सत्यमार्ग न छोड़ो, असत्य पथ पर न जाओ और असत्य का अभिमान कभी न करो ॥ ४० ॥ अपकीर्ति का त्याग करना चाहिये, सत्कीर्ति बढ़ाना चाहिये, और विवेकपूर्वक, सत्य का मार्ग, दृढ़ता से, पकड़ना चाहिये ॥ ४१ ॥

जो मनुष्य ये उत्तम गुण नहीं लेते वे कुलक्षणी हैं । उनके लक्षण अगले समास में सुनो ॥ ४२ ॥

तीसरा समास—कुविद्या-लक्षण ।

॥ श्रीराम ॥

अब कुविद्या के लक्षण सुनो । त्याग करने के अर्थ जो अतिहीन, कुलक्षण हैं, वे कहे हैं । इनके सुनने से त्याग बनता है ॥ १ ॥ सुनो, आगे के लक्षणों से मालूम हो जायगा कि कुविद्यावान प्राणी ने संसार में जन्म ले कर हानि ही हानि की ॥ २ ॥ कुविद्यावान् प्राणी कठिण निरूपण में घबड़ा जाता है; क्योंकि वह अवगुणों का ढेर है ॥ ३ ॥ महात्मा श्रीकृष्ण गीता में ऐसे राक्षसी गुणों का वर्णन करते हैं:—

दंभो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ॥
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ १ ॥

काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ, दंभ, तिरस्कार, गर्व, अकड़, अहंकार, द्वेष, विषाद, विकल्प, आशा, ममता, तृष्णा, कल्पना, चिन्ता, अहन्ता, कामना, भावना, ईर्ष्या, अविद्या, ईषणा, वासना, अतृप्ति, आसक्ति, इच्छा, वांछा, चिकित्सा, निन्दा, अनीति, कृतघ्नता, सदा मस्ती, ज्ञातापन का अभिमान, अवज्ञा, विपत्ति, आपदा, दुर्वृत्ति, दुर्वासना, स्पर्धा, फटपट, चटपटी, एक प्रकार की झटपट, बकवाद, सदा खटपट मचाये रहना, लटपटपन ये सब कुविद्या की परम व्यथायें हैं ॥ ४-७ ॥ कुविद्यावान् प्राणी कुरूप होकर कुलक्षणी, अशक्त होकर दुर्जन, दरिद्री होकर कृपण होता है ॥ ८ ॥ वह आलसी होकर बहुत खानेवाला, दुर्बल होकर क्रोधी और तुच्छ होकर धोखेबाज होता है ॥ ९ ॥ वह मूर्ख और गरम, पागल तथा बकवादी तथा

झूठा और मुँहजोर होता है ॥ १० ॥ वह न जानता है और न सुनता है, न उसे स्वयं आता है और न सीखता है, वह न तो खुद करता है और न अभ्यास-दृष्टि से देखता ही है ॥ ११ ॥ वह प्राणी अज्ञान और अविश्वासी, छलवादी (शब्दच्छल से वाद करनेवाला) और दोष देनेवाला होता है; वह न स्वतः भक्त होता है और न भक्तों को देख सकता है ॥ १२ ॥ कुविद्यावान मनुष्य पापी और निन्दक, कष्टी और घातक, तथा दुःखी और हिंसक होता है ॥१३॥ हीन और बनावटी, रोगी और कुकर्मी, कृपण और अधर्म में वासना रखनेवाला मनुष्य कुविद्यावान है ॥ १४ ॥ देह से हीन होकर भी अकड़ दिखलानेवाला, अप्रामाणिक होकर बड़ी २ बातें करनेवाला, बेवकूफ और दुष्ट होकर विवेक बतलानेवाला कुविद्यावान् है ॥ १५ ॥ क्षुद्र और मतवाला, बेकाम और फिरनेवाला तथा डरपोक होकर पराक्रम की बातें करनेवाला कुविद्यावान् समझना चाहिये ॥ १६ ॥ जो छोटा होकर अतिशय गर्व करनेवाला हो, विषय में आसक्त और नष्ट हो, द्वेषी और भ्रष्ट हो उसे कुविद्यावान् समझो ॥१७॥ जो अतिशय अभिमानी होकर निर्लज्ज हो या जो कर्जदार और दुष्ट हो अथवा जो दंभ करनेवाला और अन्धाधुन्ध हो, उसे कुविद्यावान् मनुष्य समझो ॥ १८ ॥ जो कटुवचनी और विकारी हो; जो झूठा और कृतघ्न हो अथवा जो स्वतः अवलक्षण होकर सब प्राणियों को धिक्कारता हो उसे कुविद्यावाला प्राणी समझना चाहिये ॥ १९ ॥ जो मन्दमति होकर वाद करनेवाला हो और जो दीनरूप होकर मर्म-भेद करनेवाला हो अथवा जो दुर्बल होकर कुशब्दों से दूसरों को दुःख पहुँचाता हो वह कुविद्यावान् पुरुष है ॥ २० ॥ जो कठिन वचन; कर्कश वचन; कपट के वचन; सन्देह के वचन; दुःख के वचन और तीव्र वचन बोलता हो और जो क्रूर; निष्ठुर तथा दुरात्मा हो उसे कुविद्यावान् समझो ॥२१॥ हीनवचन; पिशुवचन; अर्थात् मिथ्यापवाद; (Bad report or slander) अशुभ वचन; अनित्य वचन; अर्थात् बदल जानेवाले वचन; द्वेष-वचन; झूठे वचन; (Untrue or False report) व्यर्थ वचन कहनेवाला और दुसरों को धिक्कारनेवाला कुविद्यावान् समझना चाहिये ॥ २२ ॥ जो अतिशय कपटी; कुटिल; मन में गांठ रखनेवाला; कुढ़नेवाला; टालमटोल करनेवाला; नष्ट; कोपी; कुधन और स्वच्छंद हो उसे भी कुविद्यावान् समझना चाहिए ॥ २३ ॥ जो क्रोधी; तामसी; अविचारी; पापी; अनर्थी; अपस्मार-रोगी हो और जिसके शरीर में भूत-संचार करता हो उसे कुविद्यावान समजना चाहिए ॥ २४ ॥ जो आत्महत्यारा; स्त्रीहत्यारा; गौ-हत्यारा; ब्राह्मण-हत्यारा; माता-पिता की हत्या करनेवाला और महापापी या पतित हो वह कुविद्यावान है ॥२५॥ जो हीन; कुपात्र; कुतर्की हो; जो मित्रद्रोही और विश्वा-

सघाती हो अथवा जो कृतघ्न, तल्पकी, अर्थात् सौतेली मा या गुरुस्त्री को भ्रष्ट करनेवाला और नारकी हो; आततायी और बकबक करनेवाला हो वह कुविद्यावान् है ॥ २६ ॥ जो विपरीत भावना करके लड़ाई झगड़ा या कलह करता हो, जो अधर्मी, अनाड़ी, शोकसंग्रही, चुगलखोर, व्यसनी, विग्रही और हठी हो वह कुविद्यावान् है ॥२७॥ जो दुष्ट, अपयशी, मलीन, दूसरे की भलाई न देख सकनेवाला, सूम, चीमड़ और स्वैर हो उसे कुविद्यावान् समझना चाहिए ॥ २८ ॥ जो शठ, मूर्ख, कातर, बदमाश, 'लकीर का फकीर,' ठग, फतूरी, पाखंडी, चोर और अपहार करनेवाला हो वह कुविद्यावान् है ॥२९॥ ढीठ, यद्वातद्वा बकनेवाला, अनर्गल बड़बड़ करनेवाला, हँसोड़ा, ओछा, कुमांडी उद्धट, लंपट, भ्रष्ट और कुबुद्धी मनुष्य को भी कुविद्यावान् समझो ॥ ३० ॥ मार डालनेवाला, लुटेरा, डाका डालनेवाला, कलेजा खा जानेवाला, ठग, भोंदू, परस्त्री-गमन करनेवाला, भुलानेवाला, चेटकी, ये सब कुविद्यावान् हैं ॥ ३१ ॥ निःशंक, निर्लज्ज, झगड़ालू, लगठ, नीच, घट-उद्धट, अर्थात् बड़ा घमंडी, निडर, अन्तरशत्रु, नटखट, लड़ाका और विकारवान् को भी कुविद्यावान् समझना चाहिए ॥ ३२ ॥ अधीर, डाह रखनेवाला, अनाचारी, अंधा, लँगड़ा, खांसीबाज, लूला, बहरा, दमेबाज और इतना होने पर भी गर्व न छोड़नेवाला कुविद्यावान् है ॥ ३३ ॥ विद्याहीन, वैभवहीन, कुलहीन, लक्ष्मीहीन, शक्तिहीन, सामर्थ्यहीन, भाग्यहीन और भिकारी होना भी कुविद्या का लक्षण है ॥ ३४ ॥ बलहीन, कलाहीन, मुद्राहीन, दीक्षाहीन, लक्षणहीन, लावण्यहीन, अंगहीन और कुरूप होना भी कुविद्या का फल है ॥ ३५ ॥ युक्तिहीन, बुद्धिहीन, आचारहीन, विचारहीन, क्रियाहीन, सत्त्वहीन, विवेकहीन और संशयी होना भी कुविद्या के लक्षण हैं ॥ ३६ ॥ भक्तिहीन, भावहीन, ज्ञानहीन, वैराग्यहीन, शान्तिहीन, क्षमाहीन और सब से हीन या क्षुद्र होना कुविद्या के लक्षण हैं ॥ ३७ ॥ जो समय, प्रसंग, प्रयत्न, अभ्यास, विनती, मित्रता आदि कुछ नहीं जानता और अभागी है वह कुविद्यावान् है ॥ ३८ ॥

अस्तु । जो मनुष्य इस प्रकार के नाना विकारों और कुलक्षणों का घर है उसीको श्रोतगण कुविद्यावान् समझें ॥ ३९ ॥ ये कुविद्या के लक्षण जान कर त्याग ही देना चाहिए । दुराग्रह में आ कर इन्हें पकड़े रहना अच्छा नहीं ॥ ४० ॥

चौथा समास—भक्ति-निरूपण !

॥ श्रीराम ॥

पहले तो यह नरदेह ही नाना प्रकार के सुकृतों का फल है, फिर उसमें भी जब बड़ी भाग्य होती है तभी यह देह सन्मार्ग में लगता है ॥ १ ॥ नरदेह में ब्राह्मण का जन्म श्रेष्ठ है, उसमें भी संध्या, स्नान, अच्छी वासना और परमात्मा का भजन तभी बनता है जब पूर्वजन्म का पुण्य होता है ॥ २ ॥ पहले तो परमात्मा की भक्ति ही उत्तम है और फिर उसमें भी यदि सत्समागम हो गया तो समय सार्थक हो जाता है। यही परम लाभ है ॥ ३ ॥ प्रेम और प्रीति का सद्भाव, भक्तों का जमाव, हरिकथा का महोत्सव आदि बातों से भक्ति बहुत बढ़ जाती है ॥ ४ ॥ नरदेह पाकर जीवन को थोड़ा बहुत सार्थक जरूर करना चाहिए, जिससे परलोक, जो परम दुर्लभ है, मिले ॥ ५ ॥ विधि-पूर्वक (वेदविहित) ब्राह्मण के कर्म, अथवा दया, दान, धर्म अथवा भगवान् का भजन, जो सुलभ है, करना चाहिए ॥ ६ ॥ संसार-दुःखों से अनुतप्त होकर सर्वसंग-परित्याग करना चाहिए अथवा भक्तियोग का स्वीकार करना चाहिए, नहीं तो साधुओं का संग करना चाहिए ॥ ७ ॥ अनेक शास्त्रों का मथन, तीर्थपर्यटन अथवा पापक्षय के लिए पुरश्चरण करना चाहिए ॥८॥ परोपकार, ज्ञान का विचार और अध्यात्म—निरूपण में सारासार का विवेक करना चाहिए ॥ ९ ॥ वेदों की आज्ञा का पालन करना चाहिए, कर्मकाण्ड और उपासनाकांड का आचरण करना चाहिए। यह करने से मनुष्य ज्ञान का अधिकारी बनता है ॥ १० ॥ तन, मन, वचन, पत्र, पुष्प, फल, जल—जिससे बने उसी से परमात्मा को सन्तुष्ट करके अवश्य अपना जीवन सार्थक करना चाहिए ॥ ११ ॥ जन्म लेने का फल यही है कि यहाँ आ कर कुछ धर्मकर्म करे; यदि कुछ न किया गया तो व्यर्थ के लिए भूमि को भार होता है ॥ १२ ॥ मनुष्य को उचित है कि कुछ आत्महित करे और यथाशक्ति तन-मन-धन ईश्वर के कामों में लगावे ॥ १३ ॥ जो मनुष्य यह कुछ नहीं करता उसे मृतप्राय समझना चाहिए। उसने जन्म लेकर माता को व्यर्थ कष्ट दिया ॥१४॥

जिन मनुष्यों में संध्या, स्नान, भजन, देवता का अर्चन मंत्र, जप, ध्यान और मानसपूजा नहीं है; भक्ति, प्रेम, निष्ठा और नेम नहीं है; जो देवता, धर्म और अतिथि-अभ्यागत को नहीं मानते; जिनमें सद्बुद्धि और गुण नहीं है; जिन्होंने कभी कथा और अध्यात्म-निरूपण का श्रवण नहीं किया है; जिन्होंने मिथ्यामद में आकर कैवल्य की प्राप्ति नहीं की; जिनमें नीति,

न्याय, पुण्य करने की शक्ति; युक्तायुक्त क्रिया और परलोक का साधन नहीं है; जिनमें विद्या, वैभव और चातुर्य नहीं है, कला और सरस्वती का रम्य विलास नहीं है; जिनमें शांति, क्षमा, दीक्षा; मैत्री, शुभ-अशुभ-साधन आदि कुछ नहीं है; जिनमें शुचि, स्वधर्म, आचार, विचार, इह लोक, परलोक की चिन्ता नहीं है और मनमाना बर्ताव है; जिनमें कर्म उपासना, ज्ञान, वैराग्य, योग, धैर्य, कुछ भी नहीं देख पड़ते, जिनमें उपरति, त्याग, समता, सुलक्षण, आदर और परमेश्वर में प्रीति नहीं है; जिनके अंतःकरण में परगुण के विषय में संतोष; पर-उपकार में सुख और हरिभक्ति का लेश नहीं है-ऐसे पुरुष जाने हो मृतक-समान हैं। पवित्र पुरुषों को चाहिये कि उनसे बातचीत भी न करें ॥ १५-२६ ॥ ॥

अस्तु। जिसके पास पूर्वजन्म की पुरी पुण्य-सामग्री है उसीसे भगवद्भक्ति बनती है। और, फिर जो जैसा करते हैं वे वैसा पाते हैं ॥ २७ ॥

पाँचवाँ समास-रजो-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

यह देह सत्त्व, रज, तम, इन तीन गुणों से युक्त है। इनमें सतोगुण उत्तम है ॥ १ ॥ क्योंकि सतोगुण से मनुष्य भगवान् की भक्ति, रजोगुण से पुनरावृत्ति; अर्थात् फिर मनुष्य-जन्म, और तमोगुण से अधोगति पाते हैं ॥ २ ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ॥
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १ ॥

उनमें भी शुद्ध और शबल करके दो भेद हैं। जो निर्मल है वही शुद्ध है और शबल गुण बाधक है ॥ ३ ॥ हे विचक्षण श्रोता लोग, अब शुद्ध और शबल का लक्षण सावधान होकर सुनो। जिन लोगों में शुद्ध गुण हैं वे परमार्थी और जिनमें शबल हैं वे संसारी होते हैं ॥ ४ ॥ अब, उन संसारी लोगों की यह स्थिति है कि उनकी देह में तीनों गुण बर्तते हैं। उनमें एक गुण की जब विशेषता होती है तब दो गुण हीन पड़ जाते हैं ॥ ५ ॥ रज, तम और सत्त्व-इन्हींसे जीवन चलता है। अब रजोगुण का कर्तृत्व, अर्थात् कार्य स्वरूप दिखाता हूं ॥ ६ ॥ रजोगुण शरीर में आने से मनुष्य कैसा बर्ताव करता है सो चतुर श्रोता सावधान होकर सुनो ॥ ७ ॥

जो यह निश्चय करता है, कि घर मेरा है, गृहस्थी मेरी है; ईश्वर कौन चीज है, वह रजोगुणी है ॥ ८ ॥ माता, पिता, स्त्री. लड़का, पतोहू और लड़की-इतने ही लोगों की जो चिन्ता करता हो वह रजोगुणी है ॥ ९ ॥ अच्छा खाना-पीना, अच्छा पहिनना-ओढना और दूसरे की वस्तु की अभिलाषा करना, रजोगुण का लक्षण है ॥ १० ॥ दान-धर्म, जप-ध्यान, पाप-पुण्य, आदि का जो विचार नहीं करता वह रजोगुणी है ॥ ११ ॥ जो तीर्थ, व्रत, अतिथि, अभ्यागत आदि को नहीं जानता और जिसकी इच्छा अनाचार में लगी रहती है वह रजोगुणी है। १२ ॥ धन-धान्य और द्रव्य के जोड़ने में जिसका मन लगा रहता है और जो अत्यन्त कृपण है वह रजोगुणी है ॥ १३ ॥ जो कहता हो कि मैं तरुण हूं, मैं सुन्दर हूं, मैं बलाढ्य हूं, मैं चतुर हूं और मैं सब में बड़ा हूं वह रजोगुणी है ॥ १४ ॥ जो मन में यह भावना रखता हो कि मेरा देश है, मेरा ग्राम है, मेरा महल है और मेरा ठौर है वह रजोगुणी है ॥१५॥ जो यह चाहता हो कि दूसरे का सब चला जाय और मेरा ही बना रहे वह रजोगुणी है ॥१६॥ जिसकी देह में कपट, मत्सर, तिरस्कार अथवा काम का विकार उठता हो वह रजोगुणी है ॥ १७ ॥ अपने बालक पर जिसको बड़ी ममता हो, जिसे स्त्री बहुत प्यारी हो और जिसका अपने सब लोगों पर बहुत प्रेम हो वह रजोगुणी है ॥ १८ ॥ अपने प्यारों की चिन्ता जिस समय चित्त में आ जाय, समझ लेना चाहिये कि उसी समय शीघ्रगति से रजोगुण आ गया है ॥ १९ ॥ संसार के अनेकों संकटों से कैसे निर्वाह होगा, इस बात की जिसे बड़ी चिन्ता रहती हो वह रजोगुणी पुरुष है ॥ २० ॥ अथवा पहले भोगे हुए संकटों को याद कर कर के मन में दुःखित होता हो वह रजोगुणी है ॥ २१ ॥ किसीका वैभव देख कर जिसके पेट में लालसा उठती हो और जो आशा के कारण दुःखित रहता हो वह रजोगुणी है ॥ २२ ॥ जो कुछ देखता हो उसीके पाने की इच्छा करता हो और न मिलने पर जिसे दुःख होता हो वह रजोगुणी है ॥ २३ ॥ हँसी-ठट्टा और विनोद में जिसका मन लगा रहता हो, जो श्रृंगारिक गीत गाता हो और राग-रंग तथा तान-मान में जिसका चित्त रहता हो वह रजोगुणी है ॥ २४ ॥ जो चुगली-चबाव और निन्दा करके विवाद खड़ा करता हो, सर्वदा हास्य और विनोद करता रहता हो वह रजोगुणी है ॥ २५ ॥ जो बड़ा भारी आलसी हो और जो मनोरंजन के अनेक खेलों या उपभोगों का गड़बड़ मचाये रहता हो वह रजोगुणी है ॥ ५६ ॥ कलावंत, बहुरूपी और नटों के खेल देखने में तत्पर हो तथा नाना प्रकार के खेलों में जो दान देता हो वह रजोगुणी है ॥२७॥ मादक द्रव्यों पर जिसकी बहुत प्रीति हो और जो चित्त में मैथुन की याद

करता हो या जिसे नीच की संगति प्यारी हो वह रजोगुणी है ॥ २८ ॥ चोर-विद्या की स्फूर्ति जिसके जी में उठती हो, दूसरे को हीनता बोलना जिसे पसन्द हो और नित्य-नियम से जिसका मन हटता हो वह रजोगुणी है ॥ २९ ॥ परमात्मा के लिए जिसे लज्जा आती हो; परन्तु पेट के लिए जो कष्ट सहता हो और प्रपंच में जो प्रेम रखता हो वह रजोगुणी है ॥३०॥ जिसे मीठा भोजन करने की बहुत लालसा हो, जो बड़े आदर से पिण्ड-पोषण, अर्थात् शरीर का पोषण, करता हो, जिससे कभी उपवास न हो सकता हो वह रजोगुणी है ॥ ३१ ॥ जिसे शृंगारिक बातें अच्छी लगती हों; भक्ति वैराग्य प्यारा न हो और जिसका मन कला-सौंदर्य में लगा हो वह रजोगुणी है ॥ ३२ ॥ परमात्मा को न जान कर जो समस्त सांसारिक पदार्थों से प्रेम रखता हो और जानबूझ कर अपनेको जन्ममृत्यु के चक्कर में डालता हो वह रजोगुणी है ॥ ३३ ॥

अस्तु। यह रजोगुण, मोह के कारण, जन्ममरण दिलाता है। प्रपंची रजोगुण को शबल समझो—यही दारुण दुःख भोगता है ॥ ३४ ॥ अब, यह रजोगुण जब तक नहीं छूटता तब तक सांसारिक विषय भी नहीं छूट सकते—प्रपंच में वासना लगी रहती है; अतएव इसका उपाय क्या है? ॥ ३५ ॥ इसका उपाय केवल भगवद्भक्ति है। यदि विरक्ति न हो सके तो यथाशक्ति परमात्मा का भजन जरूर करना चाहिये ॥ ३६ ॥ तन, मन, वचन, पत्र, पुष्प, फल, जल जो कुछ बने—हृदय से ईश्वर को अर्पण करके जीवन सार्थक करना चाहिए ॥ ३७ ॥ यथाशक्ति दान-पुण्य करना चाहिए, भगवान् में अनन्य भक्ति रखना चाहिए और सुख-दुःख पड़ने पर ईश्वर ही का चिन्तन करना चाहिए ॥ ३८ ॥ आदि और अन्त में एक ईश्वर ही है, माया यह बीच में ही लगी है, अतएव ईश्वर में ही पूर्ण भाव रखना चाहिए ॥ ३९ ॥

ऊपर यह शबल रजोगुण संक्षेप से बतलाया। अब, जिससे परमार्थ हो सकता है वह, शुद्ध रजोगुण है ॥ ४० ॥ उसके लक्षण सत्त्वगुण में जान पड़ेंगे—वह रजोगुण पूर्णतया, भजन का मूल है ॥ ४१ ॥ आशा है कि अब श्रोता लोग रजोगुण का लक्षण समझ गये होंगे; अतएव, अब, आगे तमोगुण का वर्णन सुनना चाहिए ॥ ४२ ॥

छठवाँ समास–तमोगुण-निरूपण !

॥ श्रीराम ॥

पिछले समास में क्रियायुक्त रजोगुण के लक्षण बतलाए; अब तमोगुण का वर्णन सुनो: वह भी बतलाते हैं ॥ १ ॥ संसार में दुःख का सम्बन्ध प्राप्त होने से खेद उठता हो या अद्भुत क्रोध आता हो तो वह तमोगुण का लक्षण है ॥ २ ॥ क्रोध आने पर जो माता, पिता, बन्धु, बहिन और स्त्री आदि का कुछ भी विचार न करके ताड़ना करे तो इसे तमोगुण का लक्षण समझो ॥ ३ ॥ क्रोध से बेहोश होकर दूसरों के प्राण ले ले और स्वयं अपने भी प्राण दे दे तो इसे तमोगुण जानो ॥ ४ ॥ क्रोध का संचार होने पर जो पिशाच के समान घूमता हो और अनेक उपायों से भी न रुकता हो तो इसे तमोगुण जानो ॥ ५ ॥ आपही आप अपने को शस्त्र मार ले और दूसरों का भी घात करे तो यह तमोगुण का लक्षण है ॥ ६ ॥ युद्ध देखने और रणांगण में जाने की इच्छा होना तमोगुण का लक्षण है ॥ ७ ॥ सदा भ्रान्ति में रहना, किया हुआ निश्चय डिग जाना और बहुत सोना तमोगुण है ॥ ८ ॥ मीठे और कड़ुवे का भी विचार छोड़ कर बहुत खाना अथवा अत्यन्त मूढ़ होना तमोगुण का चिन्ह है ॥ ९ ॥ किसीका कोई प्रेमी मर गया हो और उसके लिये यदि वह जीव दे दे या आत्महत्या कर ले, तो यह तमोगुण है ॥ १० ॥ यदि कीड़ा, चींटी और दूसरे बनैले जन्तुओं का वध करने में प्रीति हो और अत्यन्त निर्दयी हो तो यह तमोगुण का लक्षण है ॥ ११ ॥ द्रव्य के लिए स्त्री, बालक, ब्राह्मण और गो आदि की हत्या करता हो तो यह तमोगुण है ॥ १२ ॥ किसी प्रकार की बाधा में आकर विष खा लेने की इच्छा हो या दूसरे की जान लेने की इच्छा हो तो तमोगुण है ॥ १३ ॥ अन्तःकरण में कपट रख कर दूसरे का यदि चौपट (सत्यानाश) करे और सदा मस्त और उद्धत रहे तो तमोगुण है ॥ १४ ॥ लड़ाई-झगड़े की इच्छा होना और मन में द्वेष रखना तमोगुण का लक्षण है ॥ १५ ॥ युद्ध देखने, युद्ध की वार्ता सुनने स्वयं युद्ध करके मरने अथवा मारने, आदि की इच्छा होना तमोगुण है ॥ १६ ॥ मत्सर में आकर भक्ति तोड़ना, मन्दिर गिराना, फले हुए वृक्ष तोड़ना तमोगुण का चिन्ह है ॥ १७ ॥ सत्कर्म न अच्छे लगते हों, नाना प्रकार के दोष अच्छे लगते हों चित्त में पाप का भय न हो तो इसे तमोगुण जानो ॥ १८ ॥ ब्राह्मण की वृत्ति बन्द करना, जीवमात्र को दुःख देना और प्रमाद करना तमोगुण का लक्षण है ॥ १९ ॥ आग लगाकर, शस्त्र चलाकर, जहर देकर, अथवा अन्य भौतिक उपाय से, मत्सर के कारण, जीवों का क्षय करना तमोगुण है ॥ २० ॥ दूसरे के दुःख से संतोष हो,

निष्ठुरता अच्छी लगे और प्रपन्च से घबड़ाता न हो तो यह तमोगुण का लक्षण है ॥ २१ ॥ दूसरों में लड़ाई लगा कर स्वयं तमाशा देखता हो और मन से कुबुद्धि का स्वीकार करता हो, तो यह तमोगुण है ॥ २२ ॥ वैभव पाकर जीवों को कष्ट देता हो और मन में दया न आती हो तो यह तमोगुण का लक्षण है ॥ २३ ॥

जिसे भक्ति, भाव, तीर्थ, देव आदि पर श्रद्धा न हो तथा वेद, शास्त्र, आदि किसी की भी आवश्यकता न हो वह तमोगुणी है ॥ २४ ॥ जो स्नान-संध्या आदि नित्य-नियम न करता हो तथा जो स्वधर्म से भ्रष्ट हो गया हो वह तमोगुणी है ॥ २५ ॥ जो जेठ भाई, बाप और माता की बातें न सहता हो और शीघ्र क्रोधित होकर निकल जाता हो वह तमोगुणी है ॥ २६ ॥ जो आलसी बन कर चुपके बैठे बैठे खाता हो और कोई बात ही उसे न सूझती हो वह तमोगुणी है ॥ २७ ॥ जिसे चेटक विद्या का अभ्यास, शस्त्रविद्या की हौंस और कुस्ती लड़ने का शौक हो उसे भी तमोगुण प्रधान समझो ॥ २८ ॥ पीठ में छेद कर आंकड़ा लगाने, दहकते हुए अंगारों के कुंड में पैठने और काष्ठयंत्र से जीभ छेदने आदि के मानगन, देवताओं के लिए करना, तमोगुण का लक्षण है ॥ २९ ॥ खप्पर में बिनौले जला कर सिर पर रखना, मशाल से अपना शरीर जला लेना या स्वयं शस्त्र मार लेना, आदि ढोंग करके देवता को प्रसन्न करना तमोगुण है ॥ ३० ॥ मस्तक काट कर चढ़ाना, अथवा इसी प्रकार की अन्य रीति से अपना शरीर अर्पण करना या उंचे पर से अपने को डाल कर मर जाना और इस प्रकार देवता को प्रसन्न करना तमोगुण का लक्षण है ॥ ३१ ॥ निग्रह से धरना रख कर बैठना या अपने को टांग रखना या देवता के दरवाजे पर जीव देना तमोगुण है ॥ ३२ ॥ निराहार व्रत करना; पंचाग्नि तापना, धुम्रपान करना, अपने को जमीन में गाड़ लेना तमोगुण के लक्षण हैं ॥ ३३ ॥ अथवा और जो सकाम अनुष्ठान हैं उन्हें करना, वायु का रोक रखना या देवता के नाम पर यों ही पड़े रहना तमोगुण का लक्षण है ॥३४॥ नख और बाल बढ़ाना या हाथ ही ऊपर उठाये रहना या मूक व्रत लेना तमोगुण है ॥ ३५ ॥ अनेक निग्रह करके अपने को पीड़ा देवे, देहसुख से तड़फड़ावे और क्रोध से देवता फोड़ डाले तो तमोगुण समझना चाहिए ॥ ३६ ॥ जो देवता की निन्दा करता है, जो आशाबद्ध या अघोरी है अथवा जो संत का संग नहीं करता वह तमोगुण-प्रधान पुरुष है ॥ ३७ ॥

अस्तु। यदि इस तमोगुण का पूरा पूरा वर्णन किया जाय तो बड़ा विस्तार हो जाय। अतएव त्याग के लिये, यहां कुछ थोड़ा इसका निरूपण किया है ॥ ३८ ॥ यह तमोगुण पतन होने का कारण, अर्थात् अधोगति

देनेवाला है। इससे मोक्ष मिल नहीं सकता ॥ ३९ ॥ तमोगुण के अनुसार किये हुए कर्मों का फल बड़ा बुरा मिलता है। इससे जन्म-मृत्यु का मूल नहीं नाश होता ॥ ४० ॥ जन्म-मरण का चक्र नष्ट होने के लिए तो सत्वगुण ही चाहिए। अगले समास में उसी का निरूपण किया गया है ॥ ४१ ॥

सातवाँ समास-सतोगुण-निरूपण।

॥ श्रीराम ॥

पिछले समास में दारुण-दुःखदायक तमोगुण का वर्णन किया; अब परम दुर्लभ सतोगुण का निरूपण सुनिये ॥ १ ॥ यह (सतोगुण) भजन का आधार है, योगियों का सहारा है और यही दुःखदायक संसार से पार करता है ॥ २ ॥ इससे उत्तम गति मिलती है, भगवान् से मिलने का मार्ग मालूम होता है और इसके द्वारा सायुज्य मुक्ति मिलती है ॥ ३ ॥ सतोगुण भक्तों का आधार है, संसारसागर से पार होने में इसीका भरोसा है और इसी के द्वारा मोक्षलक्ष्मी मिलती है ॥ ४ ॥ यह परमार्थ का मंड़न है, महन्तों का भूषण है और इसी के द्वारा रजोगुण और तमोगुण का निरसन होता है ॥ ५ ॥ यह परम सुखकारी अथवा आनन्द की लहर है। यही जन्म-मृत्यु का निवारण करता है ॥ ६ ॥ सतोगुण से अज्ञान का अन्त होता है, पुण्य का प्रकाश होता है और परलोक का मार्ग मिलता है ॥ ७ ॥ यह गुण जब किसी मनुष्य में प्रकट होता है तब उसकी क्रिया के लक्षण इस प्रकार होते हैं:—॥ ८ ॥

सतोगुण के कारण ईश्वर में प्रेम अधिक रहता है, प्रपंच का सम्पादन लौकिक समझ पड़ता है और विवेक सदा पास रहता है ॥ ९ ॥ सतोगुण संसार-दुःख भुला देता है, विमल भक्तिमार्ग दिखा देता है और भजन भाव उपजाता है ॥ १० ॥ उसके द्वारा परमार्थ में प्रीति, भक्ति में प्रेम और परोपकार में मन लगता है ॥ ११ ॥ सतोगुण से मनुष्य स्नान, सन्ध्या आदि कर्म करके पुण्यशील बनता है और अन्तर्शुद्ध बन कर शरीर और वस्त्र आदि भी सुन्दर-उज्वल रखता है ॥ १२ ॥ वह यज्ञ करता है और लोगों से कराता है; वेदशास्त्र, आदि पढ़ता है और पढ़ाता है तथा दान-पुण्य स्वयं करता और कराता है ॥ १३ ॥ सतोगुणी पुरुष का अध्यात्म निरूपण में मन लगता है, हरिकथा अच्छी लगती है और वह सदाचरण

में प्रवृत्त होता है ॥ १४ ॥ सतोगुण से मनुष्य अश्वदान, गजदान, गोदान भूमिदान और नाना रत्नों का दान करता है ॥ १५ ॥ धनदान, वस्त्रदान, अन्नदान, उदकदान और ब्राह्मणसंतर्पण करता है ॥ १६ ॥ कार्तिकस्नान, माघस्नान, व्रत, उद्यापन, दान, तीर्थ और उपवास, वह निष्काम-कामना-रहित-होकर करता है ॥ १७ ॥ सहस्रभोजन, लक्षभोजन, अनेक प्रकार के दान जो निष्काम करता हो वह तो सत्वगुणी है और जो कामना से करता हो वह रजोगुणी है ॥१८॥ तीर्थों में जो भूमिदान करता हो, बावड़ी और सरोवर (तालाव) बांधता हो; मन्दिर और शिखर बनाता हो वह सत्वगुणी है ॥ १९ ॥ जो देवस्थान में, रहने के लिए स्थान, सीढ़ियां, दीपमाला, तुलसी और पीपल आदि के लिये चबूतरा बनवाता हो वह सत्वगुणी है ॥ २० ॥ वन, उपवन, पुष्पवाटिका, कुएँ, तालाव आदि बनवावे और तपस्वियों के मन संतुष्ट करे वह सत्वगुणी है ॥ २१ ॥ जो संध्यामठ, भुँहरे, नदी के तीर में सीढ़ियां और देवस्थानों में भांड़ारगृह स्थापित करे वह सत्वगुणी है ॥ २२ ॥ अनेक देव-स्थानों में जो नंदादीप लगाता हो, अलंकार आभूषण रखता हो वह सत्वगुणी है ॥ २३ ॥ घड़ियाल, मृदंग, करताल, ताशे, नगाड़े, काहल (एक चर्मवाद्य) आदि सुस्वर वाद्य जो मन्दिरों में रखता हो वह सत्वगुणी है ॥ २४ ॥ इसके सिवा अनेक प्रकार की अन्य सुन्दर सामग्री जो मनुष्य मन्दिरों में रखता हो तथा जो स्वयं हरिभजन में तत्पर रहता हो वह सात्विकी है ॥ २५ ॥ छत्र, सुख-आसन, तम्बूरा, पताका, निशान, चामर, सूर्यपान आदि वस्तुएं जो पुरुष देवालयों में दान करता हो वह सत्वगुणी है ॥२६॥ जो वृन्दावन,* तुलसीवन लगाने, रंगमाला बनाने और सम्मार्जन आदि करने में बहुत प्रीति रखता हो वह सत्वगुणी है ॥ २७ ॥ जो भांति भांति का पूजा का सुन्दर सामान और मण्डप, चान्दनी, आसन आदि देवालय में समर्पण करता हो वह सतोगुणी पुरुष है ॥ २८ ॥ जो देवता के लिए नाना प्रकार के भोजनों का नैवेद्य लगावे और ताजे अपूर्व फल अर्पण करे वह सत्वगुणी है ॥ २९ ॥ जो देवस्थान में भक्तिपूर्वक नीच सेवा भी करता हो-जो स्वयं देवद्वार झाड़ता हो वह सत्वगुणी है ॥ ३० ॥ पर्व-तिथियों और महोत्सवों में जो उत्साह दिखलाता हो और जिसने तन, मन, वचन आदि सब परमात्मा को अर्पण कर दिया हो वह सत्वगुणी है ॥३१॥ जो हरिकथा में तत्पर रहकर चन्दन, माला, धूसर, अर्थात् बुका या सुगन्धित धूल, लिये हुए सदा खड़ा रहता हो वह सत्वगुणी है ॥ ३२ ॥

---

* वृन्दा वृक्ष विशेष ।

इस प्रकार नर अथवा नारी यथाशक्ति सामग्री लेकर देवस्थान में खड़ी हों तो यह सत्वगुण का लक्षण है ॥ ३३ ॥ जो अपना महत्व का काम छोड़ कर देव के निकट शीघ्र ही आवे और अन्तःकरण में भक्ति रखता हो वह सत्वगुणी है ॥ ३४ ॥ बड़प्पन को छोड़ कर और नीच कृत्य अंगीकार करके जो देवता के द्वार पर खड़ा रहता हो वह सत्वगुणी है ॥ ३५ ॥ जो देवता के लिए उपवास करता हो, ताम्बूल आदि न खाता हो; और जो नित्य-नियम, जप, ध्यान आदि करता हो वह सत्वगुणी है ॥ ३६ ॥ कठोर वचन किसी से न बोलता हो, बहुत नियम से चलता हो और जिसने योगियों को संतुष्ट किया हो वह सत्वगुणी है ॥ ३७ ॥ अभिमान छोड़ कर भगवान् का कीर्तन* निष्कामना से करता हो; और कीर्तन करते समय भक्ति-प्रेम के कारण जिसके स्वेद और रोमांच उठ आते हों वही सत्वगुणी है ॥ ३८ ॥ हृदय में ईश्वर का ध्यान करने से जिसके नेत्र अश्रुपूर्ण हो जाते हों और देहभान न रहता हो वह सत्वगुणी है ॥ ३९ ॥ जिसे हरिकथा से बहुत प्रीति हो, उससे कभी घबड़ाता न हो और आदि से अन्त तक प्रेम बढ़ता ही जाता हो वह सत्वगुणी है ॥ ४० ॥ मुख से परमात्मा के नाम लेता हुआ और हाथ से करताल बजाता हुआ जो नाचता हो और बिरुदावली गाता हो तथा साधुजनों के पैरों की धूल लेकर मस्तक में लगाता हो वह सत्वगुणी है ॥ ४१ ॥ जिसका देहाभिमान छूट गया हो, विषयों से प्रबल वैराग्य हो गया हो और जिसे माया मिथ्या जान पड़ती हो वह सत्वगुणी है ॥ ४२ ॥ जिसके मन में यह आता हो कि संसार में फँसने से क्या लाभ है—उससे मुक्त होने का कुछ उपाय करना चाहिए वह सात्विकी है ॥ ४३ ॥ संसार से मन घबड़ाता हो और मन में ऐसा ज्ञान उठता हो कि कुछ भजन करें तो इसे सत्वगुण का लक्षण समझो ॥ ४४ ॥ जो अपने आश्रम में रहते हुए अति आदर से नित्य-नियम करता हो और सदा राम में प्रीति रखता हो वह सत्वगुणी है ॥ ४५ ॥ सम्पूर्ण विषयों से घृणा होगई हो और केवल परमार्थ में जिसका मन लगा हो; संकट आने पर जिसे धैर्य आता हो वह सत्वगुणी है ॥ ४६ ॥ सदा उदासीन रहता हो, नाना प्रकार के भोगों से जिसका मन हटता हो और

---

* महाराष्ट्र प्रान्त में, लोगों को सदुपदेश देन के लिए, 'कीर्तन' करने की प्रणाली बहुत प्राचीन काल से चली आती है। कीर्तनकार धार्मिक और नैतिक पदों का सुस्वर गान करके उन पर व्याख्यान देते हैं। मृदंग, तम्बूरा, करताल आदि साज भी इन लोगों के साथ रहते हैं। कीर्तनकार को उस प्रान्त में 'हरिदास' कहते हैं। बहुत से हरिदास व्यवसाय की दृष्टि से और कोई निष्काम होकर, सारे प्रान्त में कीर्तन द्वारा उपदेश करते रहते हैं। कीर्तन प्रायः देवालयों में होता है।

भगवद्भजन में जिसका मन लगता हो वह सत्वगुणी है ॥ ४७ ॥ सांसारिक पदार्थों में मन लगता हो और दृढ़ भक्ति के साथ भगवान् को याद करता हो—वह सत्वगुणी है ॥ ४८ ॥ चाहे लोग उसे नाना प्रकार का दोष भी लगाते हों, तो भी वह उन पर अधिक प्रेम करता हो और जिसके अन्तःकरण में परमार्थ का निश्चय समा गया हो वह सत्वगुणी है ॥ ४६ ॥ जिसके अंतःकरण में "मैं कौन हूं,"—यह स्फूर्ति उठती हो और जो अपने सत्स्वरूप का चिंतन करता हो तथा बुरे सन्देहों का निवारण करता हो वह सत्वगुणी है ॥ ५० ॥ जिसके अन्तःकरण में यह इच्छा होती हो कि शरीर की कुछ सार्थकता करें वह सत्वगुणी है ॥ ५१ ॥ जिसमें शान्ति, क्षमा, दया और निश्चय उपजे; जान लो कि, उसके अन्तःकरण में सत्वगुण आ गया ॥ ५२ ॥ अतिथि-अभ्यागत आ जाने पर जो उसे भूखा नहीं जाने देता और यथाशक्ति दान देता है वह सत्वगुणी है ॥ ५३ ॥ यदि कोई दीन भिक्षुक आश्रय के लिए अपने पास आवें तो उन्हें स्थान देना सत्वगुण का लक्षण है ॥ ५४ ॥ घर में अन्न की कमी होने पर भी जो दीन-दुःखियों को कभी विमुख नहीं जाने देता और शक्ति के अनुसार सदा देता है वह सत्वगुणी है ॥ ५५ ॥ जिसने रसना जीत ली हो, जिसकी वासना तृप्त हो और जिसे कामना न हो वह सत्वगुणी है ॥ ५६ ॥ जो कुछ होनेवाला है वह होता जाता है और सांसारिक संकट भी आते जाते हैं; तथापि जिसका चित्त ईश्वर की ओर से नहीं हटता वह सत्वगुणी है ॥५७॥ केवल भगवान् के लिए जिसने सब सुख छोड़ दिये हों और देह को कुछ न समझता हो वह सत्वगुणी है ॥ ५८ ॥ विषय की ओर वासना दौड़ती हो, परन्तु वह कभी न डिगता हो और जिसका धीरज अचल हो वह सत्वगुणी है ॥ ५९ ॥ आपदाओं से देह पीड़ित होगया हो और भूख प्यास के मारे कुम्हला गया हो, तौभी जिसका निश्चय अटल रहा हो, वह सत्वगुणी है ॥ ६० ॥ श्रवण, मनन और निदिध्यासन से जिसे समाधान हुआ हो और शुद्ध आत्मज्ञान जिसे हुआ हो वह सत्वगुणी है ॥ ६१ ॥ जिसे अहंकार न हो; जिसमें नैराश्य विलसता हो और जिसमें कृपा वसती हो वह सत्वगुणी है ॥६२॥ सब से नम्रता के साथ बोलता हो; मर्यादा के साथ चलता हो और जिसने सब जनों को संतुष्ट किया हो वह सत्वगुणी है ॥६३॥ जो सब लोगों का मित्र हो, जो विरोध किसीसे न रखता हो; जिसने परोपकार के लिए जीवन अर्पण कर दिया हो वह सत्वगुणी है ॥६४॥ अपने कार्य की अपेक्षा दूसरे का कार्य जो अधिक जी लगा कर सिद्ध करता हो और मरने के पीछे अपनी कीर्ति छोड़ जाता हो वह सत्वगुणी है ॥६५॥ दूसरे के गुणदोष मन में न रखता हो, अर्थात् जैसे समुद्र में कोई वस्तु डालने से वह बाहर फेंक देता है, उसी

प्रकार दूसरे के गुणदोष सुन कर मन में न- रखता हो वह सत्वगुणी है ॥ ६६ ॥ नीच वचन सहना, उनका उत्तर न देना और आये हुए क्रोध को सम्हालना सत्वगुण का लक्षण है ॥ ६७ ॥ यदि कोई अपराध के बिना सताता हो और नाना दुःख देता हो तो वह भी मन ही में रखता हो वह सत्वगुणी है ॥ ६८ ॥ परोपकार के लिए शारीरिक कष्ट सहना, दुर्जनों से भी बुरा बर्ताव न करना और निन्दा करनेवाले का भी उपकार करना सत्व-गुण का लक्षण है ॥ ६९ ॥ यदि इधर उधर मन जाय तो विवेक से उसे रोके और इन्द्रियों को दमन करे तो यह सत्वगुण का लक्षण है ॥ ७० ॥ उत्तम कर्मों का आचरण करे, बुरे कर्मों का त्याग करे और भक्ति-मार्ग पर चले तो यह सत्वगुण का लक्षण है ॥ ७१ ॥ जिसे प्रात-स्नान और पुराण-श्रवण रुचता हो और जो नाना मंत्रों से देवता का अर्चन करता हो वह सत्वगुणी है ॥ ७२ ॥ पर्वकाल आने पर और पूजा के समय जो उत्सव करता हो तथा जयन्तियों से जिसे बहुत प्रीति हो वह सत्वगुणी है ॥ ७३ ॥ विदेश में मरे हुए लोगों का संस्कार करना अथवा स्वयं वहां जाकर उपस्थित होना सत्वगुण का लक्षण है ॥ ७४ ॥ कोई किसी को यदि मारता हो तो उसे जाकर बचावे और जो जीव को बन्धन से छुड़ावे वह सत्वगुणी है ॥७५॥ जो शिवार्चन करता हो, लाखों बेलपत्तियां चढ़ाता हो, अभिषेक करता हो, नामस्मरण में जिसका विश्वास हो, देवता के दर्शन करने के समय जो स्थिर-चित्त (स्वस्थ) हो वह सत्वगुणी है ॥७६॥ संत को देख कर जिसे परम सुख होता हो और आगे बढ़ कर जो उसे सर्वतोभाव से नमस्कार करता हो वह सत्वगुणी पुरुष है ॥ ७७ ॥ जिस पर संतकृपा होती है वह वंश का उद्धार करता है, ऐसा ही सतोगुणी पुरुष ईश्वर का अंश है ॥ ७८ ॥ जो लोगों को सन्मार्ग दिखाता हो, जो उन्हें हरि-भजन में लगाता हो और अज्ञानियों को ज्ञान सिखाता हो वह सतोगुणी है ॥ ७९ ॥ जिसे पुण्य संस्कार, प्रदक्षिणा और नमस्कार प्यारा हो और जिसे बहुत सी उत्तम बातें याद हों वह सत्वगुणी है ॥ ८० ॥ जो भक्ति के विषय में बड़ा उत्साही हो, जो पुस्तकें आदि संग्रह करता हो, और धातु-मूर्तियों की नाना प्रकार से जो पूजा करता हो वह सत्व-गुणी है ॥ ८१ ॥ स्वच्छ पूजा की सामग्री, माला, वेष्टन, आसन, पवित्र और उज्वल वसन आदि एकत्र करना सत्वगुण का लक्षण है ॥ ८२ ॥ दूसरे की पीड़ा से दुःखी होता हो, दूसरे के सन्तोष पर सुख मानता हो और वैराग्य देख कर हर्ष मानता हो वह सत्वगुणी है ॥८३॥ जो दूसरे की शोभा से अपनी शोभा और दूसरे के दूषण से अपना दूषण मानता हो और दूसरे के दुःख में जिसे दुःख होता हो वह सत्वगुणी है ॥८४॥

सारांश, निष्काम होकर परमात्मा का भजन और धर्मकार्य करना सतोगुण का मुख्य लक्षण है ॥ ८५ ॥ सतोगुण ही संसार-सागर से पार करनेवाला है और इसीसे ज्ञानमार्ग का विवेक उपजता है ॥ ८६ ॥ सत्वगुण से भगवान् की भक्ति, ज्ञान की प्राप्ति और सायुज्यमुक्ति होती है ॥ ८७ ॥ यहां तक सतोगुण का संक्षेप वृत्तान्त, अपनी बुद्धि के अनुसार, बतलाया । अब श्रोता लोग कृपापूर्वक आगे का वर्णन ध्यान देकर सुनें ॥ ८८ ॥

आठवाँ समास—सद्विद्या-निरूपण।

॥ श्रीराम ॥

सद्विद्या के लक्षण सुनो । ये लक्षण परम शुद्ध हैं । इनका विचार करने से आपही आप मनुष्य सद्विद्यावान् हो जाता है ॥ १ ॥ सद्विद्यावाले पुरुष में उत्तम लक्षण विशेष होते हैं । ऐसे पुरुष के गुण सुन कर परम संतोष होता है ॥ २ ॥ वह पुरुष भाविक, सात्विक, प्रेमी, शान्तिशील, क्षमाशील, दयाशील, शालीन, सत्कर्मों में तत्पर और अमृतवचनी होता है ॥ ३ ॥ सद्विद्यावान् पुरुष परम सुन्दर होते हुए चतुर, बहुत बलवान् होकर धीर, परम धनवान् होकर उदार होते हैं ॥ ४ ॥ वे परम ज्ञाता और भक्त, महापंडित और विरक्त, महातपस्वी और शान्त होते हैं ॥ ५ ॥ वे वक्ता और नैराश्ययुक्त होते हैं, सर्वज्ञ होकर भी सद्ग्रन्थों का आदरयुक्त श्रवण करते हैं तथा श्रेष्ठ होकर भी सब से नम्रता करते हैं ॥६॥ वे राजा होकर धार्मिक, शूर होकर विवेकी और तरुण होकर भी नियम से चलते हैं ॥ ७ ॥ वे बड़ों के बताये हुए मार्ग पर चलनेवाले, कुलाचार के अनुसार चलनेवाले, युक्त (अर्थात् ठीक) भोजन करनेवाले, विकाररहित; वैद्य होकर भी परोपकारी और पद्महस्ती, अर्थात् यशस्वी, होते हैं ॥ ८ ॥ वे काम करनेवाले होकर भी निराभिमानी होते हैं, गायक और विष्णुभक्त होते हैं, तथा वैभव होने पर भी भगवद्भजन का बहुत आदर करते हैं ॥ ९ ॥ वे तत्ववेत्ता होकर भी उदासीन होते हैं; बहुश्रुत होते हुए भी सज्जन होते हैं; वे मंत्री होकर भी गुणवान् और नीतिवान् होते हैं ॥ १० ॥ सद्विद्यावाले पुरुष साधु, पवित्र और पुण्यवान् होते हैं, अन्तशुद्धि, धर्मात्मा और कृपालु होते हैं—वे कर्म में निष्ठा रखनेवाले, स्वधर्माचरण में निर्मल और निर्लोभ होते हैं; यथा भूल से यदि कोई अनिष्ट काम उनके हाथ से हो जाता है तो उस पर पश्चा-

ताप करते रहते हैं ॥ ११ ॥ परमार्थ-प्रीति, सत्मार्ग, सत्क्रिया, धारणा, धृति, श्रुति, स्मृति, लीला (Grace), युक्ति, स्तुति, मति, परीक्षा आदि उत्तम बातों में सद्विद्यावान् पुरुष की रुचि होती है ॥ १२ ॥ सद्विद्यावान् पुरुष दक्ष, धूर्त अर्थात् सभ्य (Gallant), योग्य, तार्किक, सत्यवान्, साहित्यवान्, नियम करनेवाले, भेद जाननेवाले, कुशल, चपल, चमत्कारिक होते हैं ॥ १३ ॥ जो आदर, सन्मान, तारतम्य, अर्थात् मर्यादा या परम्परा, प्रयोग, समय, प्रसंग और कार्यकारण के चिन्ह जानता हो और विचक्षण बोलनेवाला हो वह सद्विद्यावान् है ॥१४॥ जो सावधान, उद्योगी और साधक हो, वेदों और शास्त्रों पर व्याख्यान करनेवाला हो और निश्चयात्मक ज्ञान-विज्ञान का बोध करानेवाला हो वह सद्विद्यावान् है ॥ १५ ॥ जो पुरश्चरण करनेवाला है, तीर्थवासी, दृढ़व्रती और काया को क्लेश देनेवाला है और जो उपासना करनेवाला और निग्रही है वह सद्विद्यावान् है ॥ १६ ॥ जो सदा सत्य, शुभ, कोमल वचन बोलता हो, निश्चय और सुख के वचन बोलता हो तथा एक बार कह कर बदलता न हो वह सद्विद्यावाला पुरुष है ॥ १७ ॥ जो पुरुष वासना से तृप्त, गंभीर और योगी हैं; जो भक्त, सुप्रसन्न और वीतरागी हैं, जो सौम्य, सात्विक, शुद्धमार्गी, निष्कपट और निर्व्यसनी हैं वे सद्विद्यावान् हैं ॥ १८ ॥ जो चतुर, व्यवस्थित, गुणग्राही, अपेक्षा न रखनेवाला और मनुष्यों का संग्रह करनेवाला है तथा जो सब प्राणियों से विनती और मित्रता करनेवाला है वह सद्विद्यावान है ॥ १९ ॥ जो पुरुष द्रव्य से, स्त्री से, न्याय से, अन्तःकरण से, प्रवृत्ति से, निवृत्ति से और सब से, निःसंग और शुचि हो वह पुरुष सद्विद्यावाला है ॥ २० ॥ जो मित्रता के साथ दूसरे का हित करता है, मधुर वचन कह कर दूसरे का शोक हरता है, जो सामर्थ्य के साथ रक्षा करता है और पुरुषार्थ के साथ जगत् का मित्र है वह सुविद्यावान् है ॥ २१ ॥ जो संशय मिटानेवाला है, विशाल वक्ता है और सब शंकाओं का समाधान करने में चतुर होकर भी श्रोता है, और जो कथा–निरुपण में शब्दार्थ कभी नहीं छोड़ता वह सुविद्यावान है ॥ २२ ॥ जो विवाद न करते हुए संवाद करता है; जो संगरहित, निरुपाधि, है; जो दुराशारहित, अक्रोध, निर्दोष और मत्सर न करनेवाला है वह सुविद्यावान है ॥ २३ जो विमल ज्ञानी है, निश्चयात्मक है, जो समाधान रखनेवाला है, जो भजन करनेवाला है और जो सिद्ध होकर भी साधक है तथा साधन की रक्षा करता है वह सद्विद्यावाला है ॥ २४ ॥ जो सुखरूप है; संतोषरूप है; आनन्दरूप है; हास्यरूप है; और जो ऐक्यरूप है तथा सब को आत्मरूप समझता है वह सद्विद्यावाला पुरुष है ॥२५॥ जो भाग्यवान् है; विजयी है; रूपवान् है; गुणवान् है; आचारवान् है; क्रिया-

वान् है; विचारवान् है, स्थित (स्थिरचित्त) है वही सुविद्यावाला पुरुष है ॥२६॥ जो यशवान्, कीर्तिवान्, शक्तिवान्, सामर्थ्यवान्, वीर्यवान्; वर पाया हुआ, सत्यवान् और सुकृती हो वह सुविद्यावाला है ॥ २७ ॥ जो मनुष्य विद्यावान्, कलावान्, लक्ष्मीवान्, लक्षणवान्, कुलवान्, शुचिवान्, बलवान् और दयावान् हो उसे सुविद्यावाला समझो ॥ २८ ॥ जो युक्तिवान्, गुणवान्, श्रेष्ठ, बुद्धिवान्, बहुत धैर्यवान्, दीक्षावान्, सदा सन्तुष्ट, निस्पृह और वीतरागी हो वह सद्विद्यावाला पुरुष है ॥ २९ ॥

अस्तु । ऐसे उत्तम गुण होना सद्विद्या का लक्षण है । इन गुणों का अभ्यास करना चाहिए । इसी लिए यहां बतलाये हैं ॥ ३० ॥ रूप और सुन्दरता का अभ्यास नहीं किया जा सकता—इस लिए ऐसे प्राकृतिक गुणों के लिए कोई उपाय नहीं चलता । तब आगन्तुक, अर्थात् आ जाने वाले, गुणों को पाने के लिए अवश्य कुछ न कुछ उपाय करना चाहिए ॥ ३१ ॥ यों तो सद्विद्या बहुत अच्छी बात है; यह सब के पास होनी ही चाहिए; परन्तु विरक्त पुरुष के लिए इसके अभ्यास की बड़ी आवश्यकता है ॥ ३२ ॥

नववाँ समास—विरक्त-लक्षण ।

॥ श्रीराम ॥

अब विरक्तों के लक्षण सुनो । विरक्तों में कौन गुण हों कि जिनसे उनके शरीर में योगियों की भी सामर्थ्य आ जाय ? ॥ १ ॥ ऐसे कौन गुण हों कि जिनसे विरक्तों की सत्कीर्ति बढ़े, सार्थकता हो और उनकी महिमा बढ़े ? ॥ २ ॥ ऐसे कौन गुण विरक्त में हों कि जिनसे परमार्थ सिद्ध हो; जिनसे आनन्द की लहरें हिलोड़ें और जिनसे विवेकयुक्त वैराग्य की वृद्धि हो ? ॥ ३ ॥ ऐसे कौन गुण हों, जिनसे सुख उमड़े, जिनसे सद्विद्या प्रसन्न हो और जिनके द्वारा मोक्षसहित भाग्य-लक्ष्मी प्रबल हो ? ॥ ४ ॥ वे ऐसे कौन गुण हैं कि जिनसे विरक्तों के मनोरथ पूर्ण होते हैं, सकल कामनाएं पूर्ण होती हैं और मधुर बोलने के लिए सरस्वती मुख में वास करती है ? ॥ ५ ॥ वे गुण सुनिये और दृढ़ता के साथ जी में धरिये । तब फिर आप भूमंडल में विख्यात होंगे ॥ ६ ॥ विरक्त विवेकी हों, विरक्त लोग अध्यात्मविद्या का प्रचार करें और इंद्रिय-दमन करने में धैर्य अथवा दृढ़ता दिख-

लावें ॥ ७ ॥ विरक्त लोग साधन-मार्ग की रक्षा करें, लोगों को भजन में लगावें और विशेषतः ब्रह्मज्ञान प्रगट करें ॥ ८ ॥ विरक्त पुरुष को भक्ति बढ़ाना चाहिए, शान्ति दिखाना चाहिए और अपनी विरक्ति यत्न से करना चाहिए ॥ ९ ॥ विरक्तों को सत्क्रिया की प्रतिष्ठा करनी चाहिए, निवृत्ति का विस्तार करना चाहिए और जी में नैराश्य, दृढ़ता के साथ, धरना चाहिए ॥ १० ॥ विरक्त को धर्म-स्थापना करनी चाहिए, विरक्त को नीति का अवलम्बन करना चाहिए, विरक्त को अति आदरपूर्वक क्षमा सँभालना चाहिए ॥ ११ ॥ विरक्त को परमार्थ प्रकाशित करना चाहिए, उसे विचार का शोध करना चाहिए और सन्मार्ग तथा तत्वगुण अपने पास रखना चाहिए ॥ १२ ॥ विरक्तों को चाहिए कि भाविकों को सँभाले, प्रेमी पुरुषों को संतुष्ट करें और शरण में आनेवाले भोलेभाले लोगों की उपेक्षा न करें ॥ १३ ॥ विरक्तों को परम दक्ष होना चाहिए, विरक्तों को अन्त-र्साक्ष, (अर्थात् अन्तःकरण की साक्षी देनेवाला) होना चाहिए और विरक्तों को परमार्थ का पक्ष लेना चाहिए ॥ १४ ॥ विरक्त को अभ्यास करना चाहिए, उद्योग करना चाहिए; और वक्तृत्व के द्वारा टूटा हुआ पर-मार्थ फिर से खड़ा करना चाहिए ॥ १५ ॥ विरक्तों को चाहिए कि विमलज्ञान का उपदेश करें; वैराग्य की प्रशंसा करते रहें और निश्चयात्मक समाधान करें ॥ १६ ॥ बहुतसी पर्वतिथियों का उत्सव करना चाहिए, भक्तों के मेले जारी रखना चाहिए और अड़चनों की परवा न करके, बड़े उत्साह के साथ, उपासना-मार्ग का प्रचार करना चाहिए ॥ १७ ॥ हरिकीर्तन करना चाहिए, अध्यात्म-निरूपण का प्रचार करना चाहिए और निन्दा करनेवाले दुष्टों को भक्तिमार्ग से लेजाना चाहिए ॥ १८ ॥ बहुतों का उपकार करना चाहिए, भलेपन का जीर्णोद्धार करना चाहिए और बलपूर्वक पुण्य-मार्ग का विस्तार करना चाहिए ॥ १९ ॥ विरक्तों को स्नान, संध्या; जप; ध्यान, तीर्थयात्रा, भगवद्भजन, नित्य-नियम करना चाहिए और ऊपर से पवित्रता के साथ तथा अन्तःकरण से भी शुद्ध रहना चाहिए ॥२०॥ दृढ़ निश्चय धारण करना चाहिए, संसार को सुखपूर्ण करना चाहिए और अपने सत्संग से लोगों का उद्धार करना चाहिए ॥ २१ ॥ विरक्तों को धीर, उदार और निरूपण में तत्पर रहना चाहिए ॥ २२ ॥ विरक्तों को सावधान रहना चाहिए, शुद्ध मार्ग से जाना चाहिए और अपने जीवन को परोपकार में खर्च करके कीर्ति-रूप से जीवित रहना चाहिए ॥ २३ ॥ विरक्तों को चाहिए कि वे विरक्तों का पता लगावें, साधुओं को पहचानें और सन्त, योगी तथा सज्जनों को अपना मित्र बनावें ॥ २४ ॥ विरक्तों को चाहिए कि पुरश्चरण करें, तीर्थाटन करें और नाना प्रकार के स्थानों को परम रमणीय बनावें ॥ २५ ॥ विरक्तों

को सांसारिक सत्कर्मों में शामिल होना चाहिए; परन्तु उदासवृत्ति न छोड़ना चाहिए-अर्थात् उन कर्मों में लिप्त न होना चाहिए, और किसी विषय में भी दुराशा न जमने देना चाहिए ॥ २६ ॥ विरक्तों को चाहिए कि अन्तर्निष्ठ रहें, क्रियाभ्रष्ट न हों और पराधीनता में पड़कर ओछे न बनें ॥२७॥ विरक्त को समय जानना चाहिए, प्रसंग परखना चाहिए और उसे सब प्रकार चतुर होना चाहिए ॥ २८ ॥ विरक्त को एकदेशीय (परिमित ज्ञानवाला) न होना चाहिए; उसे सब बातों का अभ्यास करना चाहिए और जो कुछ जानना हो पूरा पूरा जानना चाहिए ॥२९॥ हरिकथा, अध्यात्म-निरूपण, सगुण-भजन ब्रह्मज्ञान, पिंडज्ञान, तत्वज्ञान आदि सब कुछ विरक्त को जानना चाहिए।३० कर्ममार्ग, उपासना-मार्ग, ज्ञान-मार्ग, सिद्धान्त-मार्ग, प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्ति-मार्ग आदि सब जानना चाहिए ॥३१॥ प्रेम की स्थिति, उदास-दशा, योगस्थिति ध्यानस्थिति, विदेहदशा, सहजस्थिति आदि सब बातें विरक्त को जानना चाहिए ॥ ३२ ॥ ध्वनि, लक्ष, मुद्रा, आसन, मंत्र, यंत्र, विधि, विधान और अनेक मतों का मर्म विरक्त को जान लेना चाहिए ॥ ३३ ॥ विरक्तों को संसार-भर का मित्र होना चाहिए, उनको स्वतंत्र रहना चाहिए, तथा विचित्र और बहुगुणी होना चाहिए ॥ ३४ ॥ विरक्तों को विरक्त रहना चाहिए; विरक्तों को हरिभक्त होना चाहिए और विरक्तों को, अलिप्त रह कर, नित्य मुक्त बनना चाहिए ॥ ३५ ॥ विरक्तों को शास्त्रों का मथन करना चाहिए; नाना प्रकार के पाखंड-मतों का खंडन करना चाहिए और मुमुक्षुओं, अर्थात् मुक्ति चाहनेवालों, को शुद्धमार्ग में लगाना चाहिए ॥ ३६ ॥ विरक्तों को चाहिए कि शुद्धमार्ग बतलावें, संशय मिटावें और मनुष्यमात्र को अपना बना लेवें ॥ ३७ ॥ विरक्त लोग निन्दा करनेवालों की वन्दना करें, साधकों को प्रबोध करें और बद्ध जनों को मोक्ष-ज्ञान बतलाकर जागृत करें ॥ ३८ ॥ विरक्तों को चाहिए कि गुण ले लें, अवगुण छोड़ दें और विवेक-बल से नाना प्रकार के अपाय या विघ्न दूर करें ॥ ३९ ॥

इन उत्तम लक्षणों को एकाग्र मन से सुनना चाहिए और विरक्त पुरुषों को इनकी अवहेलना न करना चाहिए ॥ ४० ॥ ये उपर्युक्त लक्षण मैंने सहज स्वभाव ही से बतला दिए हैं। इनमें से जितने हो सकें, ग्रहण कर लेना चाहिए। बहुत बतला दिए, इससे श्रोतागणों को उदास न होना चाहिए ॥ ४१ ॥ परन्तु इस प्रकार के सुलक्षण न लेने से कुलक्षणता आ जाती है और पढ़तमूर्खता आने का डर रहता है ॥ ४२ ॥ अतएव, पढ़तमूर्ख के लक्षण भी अगले समास में कहे गये हैं। सावधान होकर सुनिए ॥ ४३ ॥

दसवाँ समास—पढ़तमूर्ख के लक्षण।

॥ श्रीराम ॥

पिछले समास में वे लक्षण बताये गये कि जिनके ग्रहण करने से मूर्खों में भी चतुरता आती है। अब, उनके लक्षण सुनो जो चतुर कहलाते हुए भी मूर्ख हैं ॥ १ ॥ ऐसे लोगों को पढ़तमूर्ख कहते हैं। उनके लक्षण सुन कर श्रोतागण दुःख न मानें; क्यों कि अवगुण छोड़ने से सुख मिलता है! ॥ २ ॥ जो बहुश्रुत और बुद्धिमान् होकर स्पष्ट ब्रह्मज्ञान बतलाता है और फिर भी दुराशा और अभिमान रखता है वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ ३ ॥ मुक्तावस्था की क्रिया का प्रतिपादन करते हुए जो सगुण भक्ति को मेटना चाहता है और स्वधर्म तथा साधनों की निन्दा करता है वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ ४ ॥ अपने ज्ञातापन से जो सब को दोष लगाता है और सब के छिद्र ढूँढ़ता है वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ ५ ॥ शिष्य से यदि कोई अवज्ञा हो जाय या वह संकट में पड़ जाय तो जो पुरुष दुर्वचन कह कर उसका मन और भी दुःखी करता है वह भी एक पढ़तमूर्ख है ॥ ६ ॥ जो रजोगुणी हो, तमोगुणी हो, कपटी हो और अन्तःकरण का कुटिल हो, तथा जो वैभव देख कर बखान करता हो वह पढ़तमूर्ख है ॥ ७ ॥ सम्पूर्ण ग्रन्थ बिना देखे जो व्यर्थ के लिए दूषण लगाता है और गुणों को भी जो अवगुण की दृष्टि से देखता है वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ ८ ॥ सब लक्षणों को सुन कर जो बुरा मानता हो, मत्सर से खटपट करता हो, और जो नीतिन्याय के बर्ताव में उद्धत हो वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ ९ ॥ जो ज्ञातापन के अभिमान का हठ करता है, अपना क्रोध जो नहीं रोकता और जिसकी क्रिया और शब्द में अंतर है (अर्थात् कहना कुछ और है; करता कुछ और है), वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ १० ॥ बिना अधिकार, वक्ता बन कर जो वक्तृता देने का परिश्रम करता है और जो कठोर वचन बोलता है वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ ११ ॥ जो श्रोता अपने बहुश्रुतपन से, और वाचालता के गुण से वक्ता में हीनता बतलावे वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ १२ ॥ दूसरों को तो दोष लगाता है; पर जिसे यह नहीं मालूम है कि वही दोष स्वयं हममें भी है वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ १३ ॥ अभ्यास करके सब विद्याएं तो जान ली हैं; पर लोगों को संतुष्ट करना नहीं जानता, वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ १४ ॥ जिस प्रकार हाथी स्पर्श-सुख के कारण जाल में फँसता है और पुष्परस के लोभ से भौंरा जैसे काँटों में धँस कर मरता है उसी प्रकार जो जानबूझ कर प्रपंच में फँसा हुआ है वह पढ़तमूर्ख है ॥ १५ ॥ जो

स्त्रियों का साथ करता हो, उनसे अध्यात्म-निरूपण या ब्रह्मज्ञान की बातें करता हो (!) और जो निन्दनीय वस्तु का अंगीकार करता हो वह भी पढ़तमूर्ख है ॥ १६ ॥ जिससे शरीर में हीनता आती हो वही बात जो दृढ़ता से मन में धरता हो और जिसके पास देहबुद्धि हो—अर्थात् इस तुच्छ देह ही को जो सर्वस्व समझता हो—वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ १७ ॥ भगवान को छोड़ कर जो मनुष्य की स्तुति करता है या जिसको देखता है उसीकी कीर्ति वर्णन करने लगता है वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ १८ ॥ स्त्रियों के अवयवों का जो वर्णन करता हो; नाना प्रकार के नाटकों और हावभावों का जो वर्णन करता हो और जो मनुष्य ईश्वर को भूल गया हो वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ १९ ॥ वैभव के अभिमान में आकर जो जीवमात्र को तुच्छ गिनता है और पाखंड-मत का प्रतिपादन करता है वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ २० ॥ व्युत्पन्न, वीतरागी, ब्रह्मज्ञानी और महायोगी होकर जो जगत् में भविष्य बतलाने लगे वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ २१ ॥ किसी बात को सुनकर जो मन में उसके दोष ही की चर्चा करता हो और दूसरे की भलाई देख कर मत्सर करता हो वह एक पढ़तमूर्ख ॥ २२ ॥ जो भक्ति का साधन या भजन नहीं करता और न जिसमें वैराग्य ही है; तथा जो क्रिया बिना ब्रह्मज्ञान बतलाता है वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ २३ ॥ जो तीर्थ और क्षेत्र को नहीं मानता है; न वेद मानता है; न शास्त्र मानता है और जो पवित्र कुल में पैदा होकर भी अपवित्र रहता है वह पढ़तमूर्ख है ॥ २४ ॥ जो आदर देख कर प्रीति करता है, जिसकी कीर्ति नहीं है उसकी भी जो प्रशंसा करता है और तुरन्त ही उसका अनादर करके उसीको निन्दा भी करता है वह भी एक पढ़तमूर्ख है ॥ २५ ॥ पीछे कुछ और है; करता कुछ और है ऐसा जिसका नियम है, तथा जो बोलता कुछ और है; करता कुछ और है वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ २६ ॥ प्रपंच-विषयों में जो तत्पर है और परमार्थ में जिसकी भक्ति नहीं है; अर्थात् जानबूझ कर जो अंधकार में पड़ता है, वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ २७ ॥ जो दूसरों को खुश करने के लिए, यथार्थ वचन छोड़ कर, और का और ही बोलता है और पराधीन होकर जीता है वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ २८ ॥ ऊपर ऊपर से सोंग बनाता है और जो न करना चाहिए वही करता है अथवा जो मार्ग भूल कर, फिर भी हठ करता है वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ २९ ॥ रात दिन अच्छे अच्छे ग्रन्थों का श्रवण करता है; परन्तु अपने अवगुण नहीं छोड़ता और जो स्वयं अपना हित नहीं जानता वह एक पढ़तमूर्ख है॥३०॥ निरूपण में भले भले श्रोता लोग आकर बैठे हैं, उनके दोष देख कर जो दोषही बताता है वह एक पढ़तमूर्ख है ॥३१॥ शिष्य अनधिकारी है और वह अवज्ञा भी करता है; फिर भी जो कोई

उसकी आशा रखता है वह पढ़तमूर्ख है ॥ ३२ ॥ ग्रन्थ सुनते समय यदि किसी से कुछ दोष हो जाय और उस पर क्रोध से जो चिढ़ने लगे वह पढ़तमूर्ख है ॥ ३३ ॥ वैभव के अहंकार में आकर जो सद्गुरु की उपेक्षा करता है और गुरु-परम्परा को छिपाता है वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ ३४ ॥ ज्ञानोपदेश करके जो अपना स्वार्थ निकालता हो, कृपण की तरह जो अर्थ-संचय करता हो और जो द्रव्य के लिए परमार्थ का उपयोग करता हो वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ ३५ ॥ बिना स्वयं बर्ताव किए दूसरों को जो सिखाता है, जो ब्रह्मज्ञान ही की बातें करते रहता है और जो गोस्वामी होकर पराधीन है वह एक पढ़तमूर्ख है ॥३६॥ सम्पूर्ण भक्तिमार्ग को तोड़ता है और जो इस प्रकार के काम करता है जिनसे स्वयं उसीको हानि हो वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ ३७ ॥ जिसके हाथ का प्रपंच (गृहस्थी) चला गया हो, और जिसमें परमार्थ का लेश भी न हो और जो देवों और ब्राह्मणों का द्वेषी बन बैठा हो वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ ३८ ॥

अवगुण त्याग करने के लिए ये पढ़तमूर्ख के लक्षण बतला दिये। बुद्धिमान् श्रोता लोग न्यूनाधिक के लिए क्षमा करें ॥ ३९ ॥ जो संसार में सुख मानते हैं वे परम मूर्खों में मूर्ख हैं; क्योंकि इस संसार-दुःख के समान और कोई दुःख नहीं है ॥ ४० ॥ उसी संसार-दुःख का आगे निरूपण किया गया है और यह बतलाया गया है कि गर्भवास में तथा जन्म लेने के बाद कैसे कैसे दारुण दुःख सहने पड़ते हैं ॥ ४१ ॥

जन्म दुख —

तीसरा दशक ।



पहला समास—जन्म-दुःख-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

जन्म दुःख का अंकुर है, जन्म शोक का सागर है; और जन्म भय का अचल पर्वत है ॥ १ ॥ जन्म कर्म की घड़ियां हैं, जन्म पाप की खान है और जन्म ही काल का नित नया दुःख है ॥ २ ॥ जन्म कुविद्या का फल है, जन्म मोह का कमल है और जन्म ही ज्ञानहीन भ्रान्ति का पड़दा है ॥ ३ ॥ जन्म जीव का बन्धन है, जन्म मृत्यु का कारण है और जन्म ही व्यर्थ के लिए फँसाता है ॥ ४ ॥ जन्म सुख का विस्मरण है, जन्म चिन्ता का आगर है और जन्म ही वासना के विस्तार-रूप में फैला हुआ है ॥ ५ ॥ जन्म जीव की कुदशा है, जन्म कल्पना का चिन्ह है और जन्म ही ममतारूप डाकिनी का फेरा है ॥ ६ ॥ जन्म माया का फँदा है, जन्म क्रोध की वीरता है और जन्म ही मोक्ष के बीच में विघ्नरूप है ॥ ७ ॥ जन्म जीव का 'मैं-पन' है; जन्म अहंता का गुण है; और जन्म ही ईश्वर का विस्मरणरूप है ॥ ८ ॥ जन्म ही विषय की प्रीति है, जन्म ही दुराशा की बेड़ी है और जन्म ही काल की ककड़ी है, जिसे वह खा रहा है ॥ ९ ॥ जन्म ही विषम काल है; जन्म ही एक विकट समय है; और जन्म ही अति दुःखद नरक-पतन है ॥ १० ॥ यदि शरीर का मूल देखा जाय तो इसके समान अमंगल और कुछ नहीं है । रजस्वला की छूत से इसका जन्म है! ॥ ११ ॥ अत्यन्त दूषित जो रजस्वला का रज (छूत) है उसका यह पुतला है । वहां निर्मलता की बात कहां है? ॥ १२ ॥ रजस्वला की छूत इकट्ठी होकर जो एक बुल-बुला बनता है, केवल उसी बुलबुले का यह शरीर है ॥ १३ ॥ ऊपर ऊपर से तो यह (शरीर) सुन्दर देख पड़ता है; परन्तु भीतर इसके नरक का गढड़ा रखा है । यह एक प्रकार का चर्मकुंड है, जिसका ढकन दुर्गन्धि के मारे खोला ही नहीं जाता ॥ १४ ॥ भला, कुंड तो धोने से शुद्ध भी हो जाता है; परन्तु इसे (शरीर को) रोज धोते हैं, तो भी इस दुर्गन्धित शरीर की शुद्धता नहीं होती ॥ १५ ॥ अस्थि-पंजर खड़ा किया; उसे नसनाड़ियों से लपेटा और मज्जामांस सांधसूंध कर भर दिया—बस, शरीर बन गया ॥ १६ ॥ अशुद्ध (रक्त), जो नाम से भी शुद्ध नहीं है, सो भी इस देह में भरा है; तिस पर

भी इनके भीतर नाना प्रकार की व्याधियां और दुःख रहते हैं ("शरीरं व्याधिमन्दिरम्")॥१७॥ यह नरक का गोदाम भरा है; जो भीतर लिड़बिड़ा रहा है। दुर्गन्धित मूत का गठड़ा इसमें जमा है ॥१८॥ भीतर नाना प्रकार के जन्तु, कीड़े और आंतें भरी हैं और अनेक प्रकार दुर्गंधियों की पोटरी बँधी है। इसके भीतर घृणा उत्पन्न करनेवाली खोल बेतरह थलथला रही है ॥१९॥ सम्पूर्ण अंगों में सिर श्रेष्ठ समझा जाता है, वहां से भी नाक-द्वारा बलगम बहता है। कान फूटने पर जो दुर्गंधि उठती है वह सही नहीं जाती ॥ २० ॥ आंखों से चीपड़ निकलता है; नाक में गूंजी भर जाती है और प्रातःकाल मुख से मल की सी बास आती है ॥ २१ ॥ जिस मुँह से लार, थूंक, मैल पित्त और खँखार आदि बहुत सी घृणोत्पादक चीजें निकला करती हैं उसे कहते हैं, कि कमल है और चन्द्रमा के समान है! ॥ २२ ॥ मुख की तो यह बुरी हालत है और उधर पेट में भी विष्ठा भरी है। प्रत्यक्ष के लिए भूमंडल में कोई प्रमाण नहीं है! ("प्रत्यक्षं किम् प्रमाणम्") ॥ २३ ॥ चाहे जितने उत्तम उत्तम पदार्थ खाये जायँ; परंतु पेट में वे या तो विष्ठा या वमन हो जाते हैं और चाहे परम पवित्र गंगाजल ही क्यों न पीवे; पर वह भी मूत्र ही हो जाता है! ॥ २४ ॥ अतएव मलमूत्र और वमन ही देह का जीवन है—इन्हीं से देह बढ़ती है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ २५ ॥ पेट में यदि मलमूत्र और ओक (वमन) न होते तो सब लोग मर जाते। चाहे राव हो, चाहे रंक हो, उसके पेट में विष्ठा रहती ही है ॥ २६ ॥ स्वच्छता के लिए यदि ये (विष्ठादि) निकाल डाले जायँ तो यथार्थ में इस देह का पतन हो जायगा॥२७॥ जब यह शरीर नीरोगी रहता है तब तो उसकी ऐसी दशा है; पर जब उसकी दुर्दशा होती है तब उसका क्या वर्णन किया जाय? ॥ २८ ॥ बहुत विपत्तियों के साथ नौ महीने इस प्रकार के कारागृह ही में रहना होता है। नवों द्वार रुके रहते हैं—वहां हवा की गुंजायश कहां? ॥ २९ ॥ माता के पेट में वमन और नरक के रस झिर कर जठराग्नि के द्वारा तपते हैं और बालक का अस्थिमांस आदि सब उसीमें खौला करता है ॥ ३० ॥ जब बिना त्वचा का गर्भ खौलता है तब माता को उकौने (दोहद) आते हैं। कटु और तीक्ष्ण रसों के कारण बालक का सब शरीर तप जाता है ॥ ३१ ॥ जहां चमड़े की गठड़ी बँधी होती है; वहीं विष्ठा की थैली भी रहती है; वहां से वंकनाल-द्वारा बच्चे को रस पहुँचता रहता है ॥ ३२ ॥ विष्ठा, मूत्र, वान्ति, पित्त तथा नाक और मुँह से निकलनेवाले जन्तुओं के कारण बालक का चित्त अतिशय व्याकुल होता है ॥ ३३ ॥

अस्तु। ऐसे कारागृह में प्राणी अत्यन्त बँधा हुआ पड़ा रहता है। तब

घबड़ा कर कहता है कि "हे चक्रपाणि, अर्थात् ईश्वर, अब यहां से छुड़ाओ ॥ ३४ ॥ हे ईश्वर, यदि अब की बार तू यहां से मुझे छुड़ावेगा तो मैं अपना सच्चा हित करूंगा और यह गर्भवास मिटाऊंगा, जिसमें फिर यहां न आना पड़े" ॥ ३५ ॥ दुःख के साथ जब ऐसी प्रतिज्ञा करता है तब फिर जन्म का समय आता है। उस समय माता प्रसूतकाल के कष्ट से रोने लगती है ॥ ३६ ॥ गर्भ में बालक की नाक और मुँह में मांस जम जाता है, इस लिए वह मस्तक से श्वास छोड़ता रहता है, पर पैदा होते समय मस्तक भी बिलकुल बन्द हो जाता है ॥ ३७ ॥ मस्तक-द्वार (तालू) के बन्द होते ही उसका चित्त बहुत घबड़ाता है और वह चारों ओर तड़-फड़ाने लगता है ॥ ३८ ॥ श्वासोच्छ्वास बन्द हो जाने के कारण प्राणी घबड़ाता है और मार्ग न देख पड़ने से वह और भी दुःखी होता है ॥ ३९ ॥ इस घबड़ाहट के कारण बालक कभी कभी माता की योनि में अटक रहता है, तब लोग कहते हैं कि अब इसे काट कर निकालना चाहिए ॥ ४० ॥ अतएव हाथ, पैर, मुँह, नाक, पेट, जो कुछ हाथ में पड़ जाता है वही काट कर बालक को बाहर निकालते हैं ॥ ४१ ॥ टुकड़े टुकड़े कर डालने के कारण बालक मर जाता है और माता भी इसी में अपने प्राण छोड़ देती है ॥ ४२ ॥ इस प्रकार स्वतः मर जाता है और माता का भी प्राण लेता है, तथा गर्भवास में कठिन दुःख भोगता ही है ॥ ४३ ॥ अच्छा, यदि सौभाग्य से, योनि का मार्ग मिल ही गया तो भी पीछे से कंधा या गला कभी कभी अड़ जाता है ॥ ४४ ॥ तब लोग बलपूर्वक, योनि के संकुचित पंथ से, बालक को खींच कर निकालते हैं और इस तरह बालक के प्राण जाते हैं ॥ ४५ ॥ प्राण जाते समय बेहोश हो जाने के कारण बालक पहले की सब बातें भूल जाता है ॥ ४६ ॥

गर्भ में तो "सोऽहं सोऽहं," अर्थात् "मैं वही (ब्रह्म) हूं; मैं वही हूं," कहता है और बाहर आते ही कहता है 'कोऽहं,' अर्थात् "मैं कौन हूं।" अस्तु। गर्भवास में इस प्रकार बहुत कष्ट पाता है ॥ ४७ ॥ गर्भ के दुःख भोग कर बड़े कष्ट के साथ बाहर निकलता है और तुरन्त ही वह सब दुःख भूल जाता है ॥ ४८ ॥ वृत्ति शून्याकार हो जाती है, मन में कुछ नहीं याद आता, अज्ञान से भ्रान्ति में पड़ता है और संसार के सब दुःखों को भी सुख ही मान लेता है ॥ ४९ ॥ अर्थात् देह-विकार पाते ही प्राणी सुख-दुःख में भूल जाता है और इस प्रकार माया-जाल में फँसता है ॥ ५० ॥

गर्भवास में प्राणिमात्र को ऐसा ही दुःख होता है। इसी लिए कहते हैं कि ईश्वर की शरण जाओ ॥ ५१ ॥ जो भगवान् का भक्त है वह जन्म से मुक्त है—ऐसा पुरुष ज्ञानबल से सदा विरक्त रहता है ॥ ५२ ॥ अस्तु। ये

गर्भवास की विपत्तियां मैंने यथामति वर्णन कीं। अब श्रोतागण सावधान होकर आगे की कथा सुनें ॥ ५३ ॥

दूसरा समास—स्वगुण परीक्षा।

(बुढापन और युवावस्था।)

॥ श्रीराम ॥

संसार ही दुःख का मूल है। यहां दुःख के अंगार लगते हैं। पीछे जो गर्भवास की व्याकुलता बतलाई गई—॥ १ ॥ उसे, जन्म पाते ही, बालक भूल जाता है और फिर दिन दिन बढ़ने लगता है ॥ २ ॥ बचपन में त्वचा कोमल होती है, इस लिए बालक थोड़ा दुःख होने से ही व्याकुल हो जाता है। उस समय में सुख-दुःख बतलाने के लिये वाचा भी नहीं होती ॥ ३ ॥ शरीर में कुछ कष्ट होने पर, अथवा भूख से व्याकुल होने पर, वह बहुत रोता है; परन्तु उसके मन की बात कोई जानता नहीं है ॥ ४ ॥ माता ऊपर से तो पुचकारती है; पर भीतर जो पीड़ा हो रही है उसे वह नहीं जानती और बालक को दुःख हो ही रहा है ॥ ५ ॥ बार बार हुसक हुसक कर रोता है। माता गोद में लेकर पुचकार रही है; परन्तु व्यथा नहीं जानती; बालक बिचारा मन ही मन व्याकुल हो रहा है ॥ ६ ॥ अनेक व्याधियां बार बार उठती हैं; उनके दुःख से चिल्लाता है, रोता है, गिरता है, अथवा अग्नि से जलता है ॥ ७ ॥ शरीर की रक्षा करना कठिन हो जाता है, अनेक उपद्रव होते हैं और कभी कभी दुर्घटना हो जाने के कारण बालक अंगहीन हो जाता है ॥ ८ ॥ अथवा यदि दुर्घटनाओं से बच जाता है—पूर्वपुण्य का उदय होता है—तो फिर माता को दिन दिन पहचानने लगता है ॥ ९ ॥ क्षण भर भी यदि माता को नहीं देखता तो दुःख से, फूट फूट कर, रोने लगता है। उस समय माता के समान उसे और कुछ भी प्यारा नहीं लगता ॥ १० ॥ आशा करके बाट देखता है। माता के बिना किसी तरह भी नहीं रहता है और याद आने के बाद पलमात्र भी वियोग नहीं सह सकता है ॥ ११ ॥ चाहे ब्रह्मा आदि देव क्यों न आ जायँ, अथवा चाहे लक्ष्मी ही आकर क्यों न समझावें; तौ भी वह बिना अपनी माता के राजी नहीं होता ॥ १२ ॥ वह चाहे जैसी कुरूप, कुलक्षण और सब से अधिक अभागिनी क्यों न हो, तौ भी बालक के लिए उसके समान

भूमंडल में कोई नहीं है ॥ १३ ॥ माता के बिना वह दीन-हीन देख पड़ता है। चाहे माता उसे झिड़क कर लौटा दे तो भी वह रोकर उसे लिपट जाता है ॥ १४ ॥ माता ही के पास वह सुख पाता है और उसके दूर होते ही व्याकुल हो जाता है। सारांश, उस समय माता पर उसकी बड़ी प्रीति होती है ॥ १५ ॥ इतने ही में वह माता मर जाती है, प्राणी मातृहीन हो जाता है और अम्मा, अम्मा, कह कर दुःख से घबड़ाने लगता है । १६ ॥ जब अम्मा नहीं देख पड़ती तब बालक बेचारा दीनरूप होकर लोगों की ओर देखता है। मन में आशा सी लगी रहती है कि अम्मा फिर आवेगी ॥ १७ ॥ माता के धोखे जब किसी का मुख देखता है और जानता है कि वह अपनी माता नहीं है तब बेचारा दीनता से मुख उदास कर लेता है ॥ १८ ॥ माता के वियोग से दुःखी होकर वह बहुत दुर्बल हो जाता है ॥ १९ ॥ अथवा यदि माता बच जाती है और मा-बच्चे का साथ बना रहता है तो फिर धीरे धीरे वह बालदशा छूटने लगती है ॥ २० ॥ वह दिन पर दिन सयाना होने लगता है और माता की चाह कम होने लगती है ॥ २१ ॥

इसके बाद उसे खेल का चसका लगता है और वह खेलाड़ी लड़कों का गोल जमा करता है तथा आये-गये दावों का आनन्द-शोक मनाने लगता है ॥ २२ ॥ मा-बाप जब आन्तरिक प्रेम से सिखाते हैं तब वह उस सिखावन का बहुत दुःख मानता है और खेलाड़ी लड़कों की संगति की जो चाट लग गई है वह नहीं छोड़ता है ॥ २३ ॥ लड़कों में खेलते समय मा, बाप, किसी की याद नहीं आती। अन्त में वहां भी अचानक उसे दुख मिलता है ॥ २४ ॥ दांत गिर पड़ते हैं; आँख फूट जाती है; पैर टूट जाते हैं; लूला हो जाता है; मस्ती चली जाती है; दुर्दशा हो जाती है; ॥ २५ ॥ चेचक निकलती है, सिर में पीड़ा उठती है, ज्वर आने लगता है, पेटशूल और वायुगोला उठा करता है ॥ २६ ॥ भूत, प्रेत, जखई, घटवार इत्यादि की पीड़ा से बीमार समझ कर मा-बाप व्याकुल होते हैं ॥ २७ ॥ वे कहते हैं कि बैताल, कंकाल लग गये हैं, ब्रह्म-ग्रह का संचार हुआ है या न जाने कोई टटका लाँघ गया है—कुछ मालूम नहीं होता ॥ २८ ॥ कोई कहता है; बीरदेव हैं; तो कोई कहता है, खंडेराव हैं, कोई कहता है सब झूठ है, यह ब्रह्मराक्षस है ! ॥ २९ ॥ कोई कहता है कि किसी ने कुछ कर दिया है. इसके ऊपर देवता छोड़ दिया है; कोई कहता है, कि छठी की पूजा में भूल होगई है ॥ ३० कोई कहता है, कर्म-भोग है । इस प्रकार शरीर में अनेक रोग हो जाते हैं और अन्त में अच्छे अच्छे वैद्य और पंचाक्षरी (झाड़-नेवाले) बुलाये जाते हैं ॥ ३१ ॥ उनमें से कोई कहता है, यह नहीं बचता;

कोई कहता है; यह नहीं मरता—पाप के कारण यातनाएँ भोग रहा है ॥ ३२ ॥ अस्तु; इस प्रकार इधर गर्भ के दुःख भूला ही था कि उधर त्रिविध तापों से तप्त होता है और संसार-दुःख से प्राणी बहुत दुःखित होता है ॥ ३३ ॥ इतना होने के बाद भी यदि बच गया तो मार पीट कर सांसारिक कामों के लिए चतुर बनाया जाता है ॥ ३४ ॥

इसके बाद मा-बाप, प्रेम के कारण, शीघ्र ही विवाह की बात-चीत शुरू करते हैं और सब प्रकार के वैभव दिखा कर कन्या निश्चित करते हैं ॥ ३५ ॥ बरात का वैभव देख कर लड़के को बड़ा सुख होता है और विवाह हो जाने पर उसका मन ससुराल में रँग जाता है ॥ ३५ ॥ मा-बाप चाहे जैसे रहें, परन्तु सुसराल में वह बनठन कर ही जाता है। यदि पास में द्रव्य नहीं होता तो व्याज से ऋण ले लेता है ॥ ३७ ॥ मा-बाप को एक ओर छोड़ कर सुसराल-वालों ही पर अधिक प्रेम रखता है। उसकी समझ के अनुसार मानो मा-बाप कष्ट ही सहने के लिए बनाये गये हैं ॥ ३८ ॥ इसके बाद, दुलहिन के घर में आने पर, उसका हौसला बहुत बढ जाता है—वह बड़ा प्रसन्न होता है और कहता है कि अब मेरे समान दूसरा कोई भी नहीं है ॥ ३९ ॥ स्त्री के न देख पड़ने पर मा-बाप भाई-बहन, सब कुछ उसे सूना मालूम होता है-अविद्या के कारण भूल कर वह केवल स्त्री में ही मोहित हो जाता है ॥ ४० ॥ संभोग न होने पर ही इतना प्रेम बढता है, परन्तु स्त्री के योग्य होने पर वह मर्यादा का उल्लंघन करता है। दोनों परस्पर प्रेम बढाते हैं-प्राणी काम में फँस जाता है ॥ ॥१ ॥ यदि एक क्षणभर भी स्त्री को आंखों से नहीं देखता तो जी उतावला हो जाता है। प्यारी स्त्री ही मन को आकर्षित कर लेती है ॥४२॥ कोमल कोमल मंजुल शब्द, मर्यादा, लज्जा, मुखकमल और तिरछी नजर, ये ग्राम्य मनोवृत्ति की फँसवटें हैं ॥ ४३ ॥ इनके कारण प्रेम का उछाह सम्हालला नहीं जाता, शरीर की व्याकुलता रोकी नहीं रुकती, दूसरे व्यवसाय में मन नहीं लगता, उदास मालूम होता है ॥ ४४ ॥ व्यवसाय तो बाहर हो रहा है और मन घरमें धरा है। क्षण क्षण पर हृदयमें कामिनीका स्मरण हो आता है ॥ ४५ ॥ "तुम तो हमारे प्राणों के प्राण हो," ऐसा कहते हुए स्त्री, अत्यन्त मोह दिखला कर, सारा चित्त चुरा लेती है ॥४६॥ जिस प्रकार ठग लोग पहचान निकाल कर, और फँसी लगा कर प्राण ले लेते हैं वैसे ही स्त्रीपुत्रादि आप्तजन मोह में फँसाते हैं-यह बात आयु व्यतीत हो जाने पर पीछे से उसे मालूम होती है॥४७॥ सब प्रीति कामिनी (काम से भरी हुई स्त्री) में लगा देता है। यदि उससे कोई नाराज होता है तो मन ही मन बहुत बुरा लगता है ॥ ४८ ॥ उस स्त्री का ही पक्ष

लेकर, मा बाप को नीच उत्तर देकर, उनका तिरस्कार करता है और अलग होकर रहता है ॥ ४६ ॥ स्त्री के लिए लाज छोड़ देता है, मित्रता छोड़ देता है और स्त्री ही के कारण अपने सब स्नेहियों से बिगाड़ कर लेता है ॥ ५० ॥ स्त्री के कारण देह बेच देता है, सेवक बन जाता है और विवेक से भ्रष्ट हो जाता है ॥५१॥ स्त्री के लिए अति लंपट, बड़ी नम्रता और पराधीनता स्वीकार करता है ॥ ५२ ॥ स्त्री के लिए लोभी या मोही बनता है, स्त्री के कारण धर्म छोड़ता है और तीर्थयात्रा तथा स्वधर्म का त्याग करता है ॥ ५३ ॥ स्त्री के कारण ही किसी प्रकार का कुछ शुभ-अशुभ का विचार नहीं करता । तन-मन-धन, सब कुछ, उसको अनन्य भाव से अर्पण कर देता है ॥ ५४ ॥ स्त्री के लिए परमार्थ डुबो देता है, अपने सच्चे हित से वंचित रहता है, ईश्वर के सामने बेईमान बनता है और स्त्री के कारण ही कामबुद्धि में फँसता है ॥ ५५ ॥ स्त्री के लिए भक्ति छोड़ देता है, स्त्री के कारण विरक्ति का त्याग करता है और सायुज्यमुक्ति को भी तुच्छ मान लेता है ॥ ५६ ॥ एक स्त्री ही के कारण ब्रह्मांड को कुछ नहीं मानता और स्नेही लोगों को दुष्ट समझने लगता है ॥ ५७ ॥ इस प्रकार केवल स्त्री के प्रेम में फँस कर सर्वस्व का त्याग कर देता है, कि इतने ही में अकस्मात् वह भार्या भी मर जाती है! ॥ ५८ ॥ इससे मन में शोक बढ़ता है और कहता है कि "बड़ा घात हुआ: अब मेरी घर-गृहस्थी डूब गयी" ॥ ५६ ॥ दुःख से घबड़ा कर कहता है कि "प्राणप्यारी मुझसे बिलग हो गई और अकस्मात् मेरा घर बिगड़ गया! अब माया छोड़ता हूं!!" ॥ ६० ॥ स्त्री को जंघों पर पड़ा कर छाती और पेट कूटता है और लोगों के देखते हुए भी लाज छोड़ कर उसकी प्रशंसा करता है ॥ ६१ ॥ कहता है कि "मेरा घर डूब गया: अब इस गृहस्थी में न पडूंगा।" दुःख के कारण खूब जोर जोर से चिल्ला कर रोता है ॥६२॥ पत्नी-वियोग के कारण घबड़ा कर घर-गृहस्थी से जो ऊब जाता है और दुःखी होकर जोगी या महात्मा बन जाता है! ॥ ६३ ॥ अथवा यदि घर गृहस्थी नहीं छोड़ता है तो फिर से दूसरा विवाह करता है और उसी में फिर मग्न हो जाता है ॥ ६४ ॥ दूसरी स्त्री में आनन्द मान कर वह किस प्रकार फँसता है, उसका वर्णन श्रोतागण अगले समास में सुनें ॥ ६५ ॥

तीसरा समास–स्वगुण-परीक्षा।

(दूसरे विवाह से दुर्दशा और सन्तानोत्पत्ति।)

॥ श्रीराम ॥

दूसरा विवाह हो जाने से पिछला दुःख सब भूल जाता है और सुख मान कर फिर गृहस्थी में फँसता है ॥ १ ॥ अत्यन्त कृपण बन जाता है—पेट भर अन्न नहीं खा सकता; पैसे के लिए प्राण तक छोड़ने को तैयार हो जाता है ॥ २ ॥ कभी, कल्पान्त में भी, खर्च नहीं करना चाहता, जोड़े हुए ही को फिर जोड़ता है, हृदय में सद्वासना बिलकुल ही नहीं है ॥ ३ ॥ स्वयं धर्म नहीं करता, धर्म करनेवालों को भी रोकता है, और साधुजनों की सदा निन्दा करता है ॥ ४ ॥ तीर्थ नहीं जानता; व्रत नहीं जानता; अतिथि–अभ्यागत नहीं जानता–चीटियों के मुख के कण भी छीन छीन कर संचित करता है ॥५॥ स्वयं पुण्य कर नहीं सकता, कोई करता भी है तो उसे देख नहीं सकता; दूसरे का पुण्य उसके मन में नहीं भाता है, इस लिए वह प्रशंसा के बदले उलटे उसकी हँसी करता है ॥ ६ ॥ देवों और भक्तों का खंडन करता है, शारीरिक बल से सब को दुःख देता है और निष्ठुर शब्द कह कर प्राणिमात्र के अन्तःकरण को भेदता है ॥ ७ ॥ नीति को छोड़ कर अनीति से बर्ताव करता है और सदा गर्व से फूला रहता है ॥ ८ ॥ पूर्वजों को धोखा देता है, श्राद्ध भी नहीं करता और कुलदेवता को किसी न किसी तरह ठगता है ॥ ९ ॥ अपने को जो भोजन करना है उसकी देवता को नैवेद्य लगा देता है और ब्राह्मणभोजन की जगह पर, मेहमानी में आये हुए, साले को खिला देता है ! ॥ १० ॥ हरिकथा कभी नहीं अच्छी लगती, ईश्वर की उसे कुछ भी परवा नहीं है, स्नान–संध्या को व्यर्थ बतला कर कहता है, क्यों की जाय? ॥ ११ ॥ कामनाओं में पड़ कर वित्त संचय करता है, अनेकों के साथ विश्वासघात करता है और तरुणाई के मद में मतवाला होकर उन्मत्त हो जाता है ॥ १२ ॥

भरी तरुणाई में होने के कारण अब धीरज नहीं धरा जाता और जो न करना चाहिए वही महापाप करता है ॥ १३ ॥ जिस स्त्री के साथ विवाह किया वह छोटी निकल गई और इधर धीर धरा ही नहीं जाता, अतएव विषय–प्रेम में फँस कर परस्त्री–गमन करता है ॥ १४ ॥ मा, बहिन नहीं विचारता; परद्वारी, अर्थात् परस्त्री–गमनी, बन कर पापी होता है। न्यायालय से दण्ड भी पाता है, तो भी अपनी चाल नहीं छोड़ता ॥ १५ ॥

परस्त्री देख कर उसे कामेच्छा हो आती है और अकर्तव्य करके फिर कष्ट भोग करता है ॥ १६ ॥ बड़ा पाप करता है, शुभ-अशुभ कुछ नहीं विचारता है और अकस्मात् महारोगी बन जाता है ॥ १७ ॥ क्षयरोग से पीड़ित होकर अपने पापों का भोग करता है ॥ १८ ॥ रोग के कारण सारा शरीर फूट निकलता है, नाक बैठ जाती है, सारे लक्षण कुलक्षण हो जाते हैं ॥ १९ ॥ देह में क्षीणता आ जाती है, अनेक व्यथाएं पैदा होती हैं, तारुण्य-शक्ति एक ओर रही; प्राणी बिलकुल सूख जाता है ॥ २० ॥ सारे शरीर में पीड़ा उठती है, देह की दुर्दशा हो जाती है, प्राणी थर थर कांपने लगता है, शक्ति नहीं रहती ॥ २१ ॥ हाथ पैर आदि झड़ जाते हैं, सारे शरीर में कीड़े पड़ जाते हैं; उसे देख कर छोटे बड़े सब लोग; थूंकने लगते हैं ॥ २२ ॥ पेट चलने लगता है, चारों ओर दुर्गन्धि उठती है, प्राणी की बिलकुल दुर्दशा हो जाती है; पर तो भी प्राण नहीं जाते ॥ २३ ॥ कहता है कि " हे ईश्वर, अब मौत दे; जीव को बहुत कष्ट हुए ! न जाने कितना पाप किया है ! " ॥ २४ ॥ दुःख से फूट फूट कर रोता है और ज्यों ज्यों शरीर की ओर देखता है त्यों त्यों दीनता से जी में तड़फ-ड़ाता है ॥ २५ ॥ इस प्रकार अनेक कष्ट पाता है-सब दुर्दशाएं हो जाती हैं, बदमाश लोग डाका डाल कर सब धन ले जाते हैं ! ॥ २६ ॥ इहलोक या परलोक कुछ नहीं बनता, विचित्र प्रारब्ध आ उपस्थित होता है, अनेक घृणोत्पादक दुःख भोगता है ॥ २७ ॥

अन्त में, पाप की सामग्री समाप्त होने पर दिनों दिन व्यथा दूर होती जाती है, वैद्य लोग औषधियां देते हैं, आराम होता है ॥ २८ ॥ मरते मरते बचता है, लोग कहते हैं कि " इसका फिर जन्म हुआ और मनुष्यों में मिला " ॥ २९ ॥ इतना होने के बाद, अपनी दूसरी स्त्री को बिदा करा लाता है, अच्छी गृहस्थी जमाता है; परन्तु स्वार्थबुद्धि फिर भी नहीं छोड़ता ॥ ३० ॥ कुछ धन कमाता है, सब वस्तुएं एकत्र करता है, परन्तु सन्तान न होने के कारण घर का वा हुआ समझता है ॥ ३१ ॥ पुत्र-सन्तान न होने के कारण दुःखी होता है, स्त्री, लोगों में बांझ कहलाती है। अब सोचता है कि लड़का न सही; लड़की ही हो-जिससे 'बांझ' नाम तो मिट जाय ! ॥ ३२ ॥ अतएव सन्तान होने के लिए नाना प्रकार के उपाय करता है, बहुत से देवताओं के मानगन करता है-तीर्थ, उपवास और अनेक पाखण्डी व्रत आरम्भ करता है ॥ ३३ ॥ विषयसुख तो एक ओर रहा, अब बाँझपन के दुःख से वह दुःखी होता है-तब कहीं जाकर कुल-देवता प्रसन्न होते हैं और सन्तान होती है ॥ ३४ ॥ अब उस बच्चे पर बड़ी प्रीति होती है; स्त्री पुरुष दोनों एक क्षण भी बच्चे को नहीं भूलते। यदि

कुछ हो जाता है तो दीर्घ स्वर से चिल्लाते हैं॥ ३५ ॥ इस प्रकार वे दुःखिया अनेक देवताओं की पूजा किया करते हैं कि, इतने ही में अकस्मात्, पूर्व-पाप के कारण, वह बालक भी मर जाता है ! ॥ ३६ ॥ इससे बहुत दुःख होता है–घर में पुत्र-शोक छा जाता है। अब कहते हैं कि "ईश्वर ने हमें बांझ बना कर क्यों रखा ? ॥ ३७। हमें द्रव्य क्या करना है ? वह चला जाय; पर सन्तान हो ! सन्तान के लिए सब छोड़ना पड़े, तौभी कुछ परवाह नहीं ! " ॥ ३८ ॥ अभी बांझपन जाते देर नहीं हुई कि इतने ही में *परतबांझ नाम पड़ गया। अब किस उपाय से यह नाम मिटे ? वे दुःखी होकर इस प्रकार रोते हैं:—॥ ३९ ॥ "हमारी बेलि क्यों कट गई ? हाय दई, हाय दई, वंश डूब गया ! अरे कुलस्वामिनी, क्यों नाराज हो गई ! कुलदीपक बुझ गया ! ॥ ४० ॥ अब अगर लड़के का मुँह देखेंगे तो आनन्द से दगदगाते हुए अंगारों की खाई पर चलेंगे और कुलस्वामिनी के पास जाकर अँकड़ी भी छेदेंगे ॥ ४१ ॥ हे माता, तेरी पूजा करेंगे, लड़के का नाम 'कूड़ामल' रखेंगे ! नयनी पहनावेंगे, मेरा मनोरथ पूर्ण करो ! " ॥ ४२ ॥ बहुत से देवताओं के मानगन करते हैं, बहुत से गुसांई ढूँढ़ते हैं और बहुत से बिच्छु गट गट निगल जाते हैं ॥ ४३ ॥ भूतों के उपाय करते हैं, बहुत से देवता शरीर पर लाते हैं; केला, नारियल और आम ब्राह्मणों को देते हैं ! ॥ ४४ ॥ नाना प्रकार के जारण, मारणादिक अघोर काम करते हैं, पुत्र पाने के लिए अनेक टएटघएट करते हैं–इतने पर भी दैव प्रतिकूलता के कारण पुत्र नहीं मिलता ! ॥ ४५ ॥ रजोदर्शन के चौथे दिन वृक्ष के नीचे जाकर स्त्री-पुरुष नहाते हैं, जिससे फले फूले वृक्ष सूख जाते हैं (!) पुत्रलोभ के कारण इसी प्रकार के अनेक दोष करते हैं ॥ ४६ ॥ सब सुख छोड़ कर अनेक उपाय करते करते जब वे घबड़ा जाते हैं तब कहीं वह कुलस्वामिनी देवी प्रसन्न होती है ! ॥ ४७ ॥ अब उनका मनोरथ पूरा होगा–स्त्री पुरुष आनन्दित होंगे, इसकी कथा अगले समास में श्रोता लोग सावधान होकर सुनें ॥ ४८ ॥

---

* जिसके सन्तान होती तो है; पर जीती नहीं, उसे 'मरतबांझ' कह सकते हैं।

चौथा समास—स्वगुण-परीक्षा।

(गृहस्थी के संकटों के कारण परदेश जाना।)

॥ श्रीराम ॥

ज्योंही बहुत से बच्चे पैदा होते हैं त्योंही धन चला जाता है—बेचारे भीख मांगने योग्य हो जाते हैं—कुछ खाने को नहीं मिलता ॥ १ ॥ छोटे छोटे बच्चे खेलते हैं, कोई रेंगते हैं, कोई पेट में है—इस प्रकार कन्या और पुत्रों की भीड़ घर में लग जाती है ॥ २ ॥ दिन दिन खर्च बढ़ने लगता है, आमदनी बन्द हो जाती है, कन्याएँ ब्याह के योग्य होती हैं; परन्तु उनको विवाहने के लिए द्रव्य नहीं है ! ॥ ३ ॥ मा-बाप धन-सम्पन्न थे, इसी कारण लोगों में उनकी प्रतिष्ठा और मान था ॥ ४ ॥ अब लोगों में सिर्फ भरम (दिखाव) रह गया है, घर में पहले की सम्पत्ति नहीं है । दिन पर दिन, भीतर ही भीतर, दरिद्रता आती जाती है ॥ ५ ॥ इधर गृहस्थी बढ़ती है—लड़कों-बच्चों की वृद्धि होती है—अतएव अब वह प्राणी चिन्ता-ग्रस्त होता है ॥ ६ ॥ कन्याएँ ब्याहने योग्य होती हैं, पुत्रों का ब्याह करने के लिये-लोग आने लगते हैं-अब विवाह अवश्य करना चाहिए ! ॥ ७ ॥ यदि लड़के वैसे ही अनब्याहे रह जाते हैं तो लोगों में हँसी होती है और लोग कहते हैं कि इन जन्मदरिद्रियों को किस लिए पैदा किया ? ॥ ८ ॥ लोगों में हँसी तो होगी ही; किन्तु पुरखों का नाम भी डूबेगा ! अब विवाहों के खर्च के लिए ऋण कौन देगा ? ॥ ९ ॥ पहले जिससे ऋण लिया था उसका तो लौटा कर दिया ही नहीं—इस तरह प्राणी चिन्तासागर में डूब जाता है ! ॥ १० ॥ वह अन्न को खाता है और अन्न उसको खाता है तथा मन में सदा चिन्ता से आतुर रहता है ॥ ११ ॥ सारी पत (इज्जत) जाती है, चीज-वस्तु गहने पड़ती है ! हाय दई, अब दिवाले का समय आता है ! ॥ १२ ॥ कुछ तोड़ मोड़ करता है; कुछ घर के गोरू-बछेड़ू बेचता है और कुछ नकद पैसा ब्याज पर लेता है ॥ १३ ॥ इस प्रकार ऋण लेकर लोगों में दम्भ रचता है, इस पर सब कहते हैं कि " भाई, इसने पुरखों का नाम रख लिया ! " ॥ १४ ॥ इस प्रकार ऋण का बोझ बहुत बढ़ जाने के कारण साहूकार लोग आकर घेर लेते हैं; अतएव घबड़ा कर प्राणी परदेश चला जाता है ! ॥ १५ ॥ परदेश में दो वर्ष की छुट्टी लगा देता है, वहां नीच सेवा स्वीकार करता है और अनेक आपदाएँ भोगता है ॥१६॥ परदेश में कुछ धन कमाता है,पर जी घर के लोगों में लगा रहता है, इस लिए मालिक से पूछ कर घर लौटता है ॥ १७ ॥ इधर उसके सब बालबच्चे अत्यन्त दुःखित हो रहे हैं, बैठे

रास्ता देख रहे हैं और कहते हैं कि, " न जाने इतने दिन क्यों लगे! हे ईश्वर, क्या करें! ॥ १८ ॥ अब हम क्या खावें, कहां तक भूखों मरें, ईश्वर ने ऐसे पुरुष की संगति में हमें क्यों डाला! " ॥ १९ ॥ इस प्रकार अपना अपना सुख सभी देखते हैं; पर उसका दुःख कोई नहीं जानता, और बुढापा आने पर अन्त में कोई भी काम नहीं आता ॥ २० ॥ अस्तु। इस प्रकार बाट जोहते जोहते वह अचानक आ जाता है। लड़के दौड़ते हैं और कहते हैं कि दादा थक गया है! ॥ २१ ॥ उसे देख कर स्त्री भी आनन्दित होती है, कहती है कि अब हमारी दरिद्रता गई। इतने में वह गठड़ी हाथ में दे देता है ॥ २२ ॥ सब को आनन्द होता है, लड़के कहते हैं कि हमारा बाप आया और वह तो हमें अंग और टोपियां लाया है! ॥ २३ ॥ इस प्रकार चार दिन आनन्द मना कर फिर सब कुसमुस मचाते हैं। कहते हैं कि, " यह द्रव्य चुक जाने पर हमें फिर दुःख उठाना पड़ेगा! ॥ २४ ॥ इस लिए जो धन कमा लाये हैं वह रहने दें और फिर परदेश को जायँ। हम यह खाने न पावें कि फिर द्रव्य पैदा करके आवें! " ॥ २५ ॥ ऐसी सब की इच्छा होती है, सब सुख के साथी हैं। अत्यन्त प्रीति वाली स्त्री भी सुख ही की साथिनी है ॥ २६ ॥ परदेश में अनेक कष्ट सह कर विश्राम लेने के लिए घर आया था; परन्तु यहां सांस भी नहीं लेने पाया, कि चलो फिर परदेश! ॥ २७ ॥ फिर जोशी की आवश्यकता पड़ती है; प्राणी मुहूर्त की विवेचना में पड़ता है; परन्तु उसका मन घर में फँसा है, अतएव जाना अच्छा नहीं जान पड़ता! ॥ २८ ॥ तथापि, लाचार, तैयारी करके कुछ सामग्री बांधता है और बच्चों को प्रेम से दृष्टि-भर देख कर चल देता है ॥ २९ ॥ स्त्री की ओर देखता जाता है, वियोग से दुःखी होता है; पर क्या करे, दुर्भाग्य से छोड़ना ही पड़ता है ॥ ३० ॥ कंठ भर आता है, वियोग का वेग नहीं सम्हाला जाता, बाप-बेटे का वियोग होता है! ॥ ३१ ॥ " यदि भाग्य में लिखा होगा तो फिर भेट होगी। नहीं तो यही अन्तिम भेट है! " ॥ ३२ ॥ ऐसा कहकर चल देता है, पीछे फिर फिर कर देखता है, वियोग का दुःख सहा नहीं जाता; पर क्या करे, कोई बस नहीं है ॥ ३३ ॥ अब उसका गाँव छूट जाता है, गृहस्थी की चिन्ता से चित्त व्याकुल होता है और मोह के कारण प्रपंच में पड़ कर दुःखित होता है ॥ ३४ ॥ उस समय माता की याद आती है, और कहता है कि, " उस माता को धन्य है, धन्य है! मेरे कारण उसने बहुत कष्ट उठाया! परन्तु मैं मूर्ख जानता ही नहीं हूं ॥ ३५ ॥ आज यदि वह होती तो मुझे कभी न छोड़ती! वियोग होने पर रोती! वह मोह ही दूसरा है!! ॥ ३६ ॥ पुत्र चाहे जैसा दरिद्री और भिखारी हो; माता को वह भी

प्यारा ही है। उसको दुःखित देख कर वह अपने अंतःकरण में व्याकुल होती है ॥ ३७ ॥ गृहस्थी तो फिर जुड़ सकती है; पर वह माता फिर नहीं मिलती जिससे यह शरीर पैदा हुआ है ॥ ३८ ॥ चाहे वह कर्कशा ही क्यों न हो ; तथापि वह माता ही है। हजारों स्त्री लेकर क्या किया जाय? परन्तु कामविकार में पड़ कर व्यर्थ के लिए फँस गया हूं! ॥ ३९ ॥ इस एक 'काम' के कारण ही अपने स्नेहियों से आपस में लड़ाई कर ली और मित्र लोगों को दुष्ट जान लिया! ॥ ४० ॥ अतएव वे गृहस्थ धन्य हैं जो अपने मा-बाप को प्रसन्न रखते हैं और अपने स्नेहियों से मन निष्ठुर नहीं करते ॥ ४१ ॥ स्त्री-बालकों की संगति तो जन्म-भर बनी है; परन्तु मा-बाप फिर कैसे मिलेंगे? ॥४२॥ यद्यपि यह सब मैं पहले सुन चुका था; पर उस समय नहीं जान पड़ा और यह मन रति-सुख के दह में डूब गया! ॥ ४३ ॥ ये स्त्री-पुत्र मित्र जान पड़ते हैं; पर हैं ये सब बड़े छलिया, सिर्फ सुख के कारण ये मिले हैं। इनके सामने रीते हाथ जाने में बहुत लाज आती है ॥ ४४ ॥ अब चाहे जो करें; पर द्रव्य पैदा कर ले जायँ। खाली हाथ जाने से स्वाभाविक ही दुःख है" ॥ ४५ ॥ इस प्रकार विवेचना करते करते उसका हृदय बहुत दुःखित होता है और वह चिन्ता के महासागर में डूब जाता है! ॥ ४६ ॥ यह देह अपनी होने पर भी पराधीन कर देता है और कुटुम्ब-कबाड़ी, (कुटुम्ब के लिए कष्टकबाड़ करनेवाला) बनकर ईश्वर के सामने बेईमान बनता है ॥ ४७ ॥ सिर्फ कामना-वश होकर इतना बड़ा जन्म व्यर्थ खो देता है और उम्र खतम होने पर अन्त में सब छोड़ कर अकेला ही जाता है ॥ ४८ ॥ कुछ देर तक वह प्राणी अपने मन में पछताता है, क्षणभर के लिए उदास होता है और फिर शीघ्र ही मायाजल में फँस जाता है ॥ ४९ ॥ कन्या-पुत्रों की याद आती है, मन में खिन्न होता है और कहने लगता है कि मेरे बच्चे मुझ से बिछुड़ गये! ॥ ५० ॥ पिछले दुःखों की याद कर कर के, जोर जोर से रोना शुरू करता है ॥ ५१ ॥ अरण्यरुदन करता है, समझानेवाला कोई नहीं देख पड़ता, इस कारण फिर अपने मन में ही सोचने लगता है ॥ ५२ ॥ "अब क्यों रोवें? जो प्राप्त हो उसे भोगें!" यह कह कर मन में धीरज धरता है ॥ ५३ ॥ इस प्रकार दुःख से घबड़ाया हुआ फिर परदेश को जाता है। अब आगे जो हाल होता है उसे सावधान होकर सुनिये ॥ ५४ ॥

पाँचवाँ समास–स्वगुण-परीक्षा।

(तीसरे विवाह से सङ्कट और बूढ़ापे के दुःख।)

॥ श्रीराम ॥

अब फिर वह प्राणी परदेश में जाकर अपने व्यवसाय में लगता है और नाना प्रकार के परिश्रम करता है ॥ १ ॥ इस दुस्तर संसार के लिए न जाने कितने कष्ट उठाता है और दो चार वर्ष में फिर कुछ धन कमाता है ॥ २ ॥ तुरंत ही देश को आता है और यहां आकर क्या देखता है कि दुर्भिक्ष पड़ा है, जिसके कारण घर के लोग बहुत दुःखी हैं ॥ ३ ॥ किसीके गाल बैठ गये हैं, किसीकी आंखें निकल आई हैं, कोई दीनता से थर थर कांप रहा है ॥ ४ ॥ कोई दीनरूप बैठे हैं, कोई सूज गये और कोई मर गये हैं–ऐसी दशा में अपने कन्यापुत्रों को अकस्मात् देखता है ! ॥ ५ ॥ इससे बहुत दुखी होता है, कण्ठ भर आता है और अत्यन्त व्याकुल हो कर रोने लगता है ॥ ६ ॥ तब कहीं वे सब सावधान होते हैं और यह कह कर कि, दादा, दादा, खाने को दो," अन्न के लिए आशा लगाये हुए झपटते हैं ॥ ७ ॥ गठड़ी खोल कर देखते हैं, जो हाथ में पड़ता है वही खा लेते हैं। कुछ मुँह में और कुछ हाथ में है–इसी दशा में प्राण निकल जाते हैं! ॥ ८ ॥ जल्दी जल्दी से–उतावली से–खाने को देता है; इतने ही में उनमें से कुछ तो खाते खाते मर जाते हैं और कुछ बच जाते हैं, वेभी अजीर्ण से मरते हैं ! ॥ ९ ॥ इस प्रकार प्रायः सभी घर के लोग मर जाते हैं, सिर्फ एक दो लड़के बच रहते हैं–वे भी अपनी माता के बिना व्याकुल रहते हैं ॥ १० ॥ अस्तु; उस अवर्षण से घर का घर ही डूब जाता है, इसके बाद देश में अच्छा सुकाल आता है ॥ ११ ॥ लड़कों को सम्हालनेवाला कोई नहीं रहता, अपने ही हाथ से खाने को बनाना पड़ता है, अतएव रसोई के काम से चित्त बहुत घबड़ाने लगता है ॥ १२ ॥ लोगों के मढ़ी पर रख देने से, फिर तीसरा विवाह कर लेता है और शेष सारा धन उसमें खर्च कर देता है ॥ १३ ॥ इसके बाद फिर परदेश जाकर कुछ धन कमा लाता है और घर में आकर देखता है तो सावत्र (सौतेले) पुत्रों से कलह मच रही है ! ॥ १४ ॥ स्त्री तरुण होती है, पुत्र उसे देख नहीं सकते, इधर पति अशक्त होकर वृद्ध हो जाता है ! ॥१५॥ पुत्र सदा झगड़े मचाये रहते हैं, कोई किसीकी नहीं सुनता और वह प्राणी स्त्री ही पर अधिक प्रीति रखता है ॥ १६ ॥ मन में सन्देह सवार होता है; कोई एक विचार स्थिर नहीं होता, अतएव पञ्चों को एकत्र करता है ॥१७॥

पञ्च जो बाँट करते हैं उसे पुत्र नहीं मंजूर करते, इस कारण निबटारा होता ही नहीं, और अन्त में झगड़ा शुरू होता है ॥ १८ ॥ बाप-बेटों में झगड़ा होता है, लड़के वृद्ध बाप को मारते हैं तब माता चिल्लाती है ॥ १९ ॥ उसका चिल्लाना सुन कर लोग जमा होते हैं, खड़े खड़े तमाशा देखते हैं और कहते हैं कि "वाह भाई! बाप के लिए बेटे तो खूब काम आये! ॥ १६ ॥ जिनके लिए अनेक मानगन किये गये; जिनके लिए बहुत से उपाय किये; देखो, वही पुत्र पिता को मारते हैं!" ॥ २१ ॥ पापी कलियुग की यह लीला देख कर सब आश्चर्य करते हैं और उस लड़ाई को बन्द करवाते हैं ॥ २२ ॥ फिर पञ्च लोग बैठकर बराबर बराबर बाँट-कर देते हैं तब कहीं बाप-बेटों का झगड़ा मिटता है ॥ २३ ॥ बाप को अलग करके झोंपड़ा बाँध देते हैं! अब स्त्री का मन स्वार्थबुद्धि में फँसता है ॥ २४ ॥ अब तरुण पत्नी और वृद्ध पति का सम्बन्ध आ पड़ता है! दोनों खेद छोड़ कर आनन्द मानते हैं! ॥ २५ ॥ सुन्दर; गुणवान् और चतुर स्त्री पाकर कहता है कि बुढ़ापे में मेरा बड़ा भाग्य हुआ! ॥२६॥ इसी आनन्द में आकर सब दुःख भूल जाता है। इतने में बलवा मचता है और परचक्र (शत्रुसमूह) आ जाता है! ॥ २७ ॥ अकस्मात् धावा होता है, बदमाश लोग आ कर स्त्री को कैद कर ले जाते हैं और प्राणी की चीज-बस्त भी उठा ले जाते हैं! * ॥ २८ ॥ इससे अत्यन्त दुःखित होकर वह जोर जोर से रोने लगता है और मन ही मन सुन्दरी और गुणवान् स्त्री की याद करता है ॥ २९ ॥ इतने ही में कोई आकर यह खबर देता है कि "तुम्हारी स्त्री भ्रष्ट होगई!" यह खबर सुन कर वह पृथ्वी पर गिर पड़ता है! ॥ ३० ॥ मूर्च्छा के कारण लोट-पोट हो जाता है, आखों से आँसू बहने लगते हैं और स्त्री की याद आते ही चित्त दुःखाग्नि से जलने लगता है ३१ ॥

कहता है कि "जो द्रव्य कमाया वह भी विदेश में खर्च होगया! रही स्त्री उसको भी दुराचारी पकड़ ले गये! ॥ ३२ ॥ मुझे भी बुढ़ापा आया, बेटों ने अलग कर दिया! हा ईश्वर! मेरा भाग्य फूट गया!!॥३३॥ द्रव्य नहीं; स्त्री नहीं; ठौर नहीं; शक्ति नहीं—हे ईश्वर, तेरे बिना मेरा कोई भी नहीं है!" ॥ ३४ ॥ देखो, पहले तो परमेश्वर की भक्ति नहीं की, वैभव में भूला रहा और अब बुढ़ापे में कैसा पछता रहा है! ॥ ३५ ॥ शरीर अत्यन्त सूख जाता है, सब अंग मुरझा जाते हैं, वातपित्त और कफ अपना

---

* ऐसी घटनाओं से उस समय की ऐतिहासिक दशा का अच्छा अनुमान किया जा सकता है।

जोर करते हैं, और कंठ घिर आता है ॥ ३६ ॥ जीभ लड़खड़ाती है, कफ से कंठ घड़घड़ाता है; मुँह से दुर्गन्ध निकल रही है और नाक से श्लेष्म बह रहा है ॥३७॥ गर्दन थर थर कांपने लगती है, आखें भल-भल बहने लगती हैं, ऐसी बुढापे की दुर्दशा आ उपस्थित होती है ॥ ३८ ॥ दाँतों की पाँति उखड जाने के कारण पोपला हो जाता है, मुख से दुर्गन्धित लार टपकने लगती है ॥३९॥ आखों से देख नहीं पड़ता है; कानों से सुनाई नहीं पडता है, जोर से बोला नहीं जाता है और दमा घिर आता है ॥ ४० ॥ पैरों की शक्ति चली जाती है बेठा नहीं जाता; घुसमुँड़ा जाता है। गुदा-द्वार से भी मुँह की तरह शब्द निकलने लगता है ! ॥ ४१ ॥ भूख लगने पर सही नहीं जाती, अन्न समय पर मिलता नहीं; मिलता भी है तो चबाया नही जाता; क्योंकि दांत चले गये हैं ॥४२॥ पित्त के मारे अन्न पचता नहीं है, खाते ही वमन हो जाता है, अथवा वैसा ही अपान-द्वार से निकल जाता है ॥४३॥ विष्ठा, मूत्र, खँखार और वमन से चारों ओर की धरती खराब हो जाती है। दूर से जाने पर भी आस-पास के लोगों की सांस रुकती है ! ॥ ४४ ॥ नाना दुःख और व्याधियों ने घेर लिया है ! बुढ़ापे के मारे बुद्धि भी ठिकाने नहीं है ! तो भी आयु की अवधि पूरी नहीं होती !! ॥ ४५ ॥ बिन्नियों और भौंहों के बाल पक कर बिलकुल झड़ जाते है ! सब अंग में चिरकुटों के समान मांस लटकने लगता है ! ॥४६॥ सारी देह परा-धीन हो जाती है; अस्थिपंजर बाकी रह जाता है; तब सब लोक कहते हैं कि अब मरता क्यों नहीं है ! ॥ ४७ ॥ जन्म देकर जिनको पोसा-पाला वही विरुद्ध हो जाते हैं और अंत में प्राणी का विकट समय आ जाता है ! ॥ ४८ ॥ जवानी चली जाती है, बल चला जाता है, गृहस्थी बिगड़ जाती है, शरीर और सम्पत्ति सत्यानाश हो जाती है! ४९ जन्म-भर जितना स्वार्थ करता है उतना सब व्यर्थ जाता है और अन्तकाल में कैसा विषम समय आ उपस्थित होता है ! ॥ ५० ॥ जन्म भर सुख के लिए मरता है, अंत में दुःख से सन्तप्त होता है, इसके बाद यमयातना अलग ही भोगनी पड़ती है ॥ ५१ ॥

अस्तु। सम्पूर्ण जीवन दुःख का मूल ही है, यहां दुःख के अंगार लगते हैं, इसी लिए मनुष्य-शरीर पाकर अपना सच्चा हित कर लेना चाहिए ॥ ५२ ॥ बुढ़ापे में भी सब को ऐसा ही दुःख होता है, इसी लिए भगवान् की शरण जाना चाहिए ॥ ५३ ॥ पहले गर्भ में जो पछतावा था वही फिर वृद्धावस्था में, अंतकाल में, आ उपस्थित होता है ॥ ५४ ॥ परमेश्वर की भक्ति न करने के कारण जन्मान्तर होकर फिर माता का उदर प्राप्त होता है और उसी दुस्तर संसार में फिर फँसना होता है ॥५५॥ भगवान् के

भजन के विना यह जन्ममरण नहीं मिटता और त्रिविध ताप भोगने पड़ते हैं। उनका वर्णन आगे किया जाता है ॥ ५६ ॥

छठवाँ समास–आध्यात्मिक ताप।

(शारीरिक और मानसिक रोग।)

॥ श्रीराम ॥

अब त्रिविध ताप के लक्षण बतलाते हैं, श्रोता लोग एकाग्रचित्त हो कर निरूपण का श्रवण करें ॥ १ ॥ जिस प्रकार आर्त पुरुष इच्छित पदार्थ पाकर सन्तुष्ट होता है उसी प्रकार त्रिविध ताप से सन्तप्त हुआ पुरुष संत-संग से शांत होता है ॥२॥ भूक से दुःखित पुरुष को अन्न मिलने पर, प्यास से दुःखित मनुष्य को जल मिलने पर और कैद में पड़े हुए पुरुष को बन्धन से छूटने पर सुख मिलता है ॥३॥ बड़ी भारी बाढ़ में जो डूब रहा है उसे किनारे पर लाने से, या जो पुरुष स्वप्न में दुःखी है वह जागने पर सुखी होता है ॥४॥ कोई मरता हो तो उसे जीवदान देने से, या संकट में पड़े हुए पुरुष का संकट निवारण करने से उसे सुख मिलता है ॥५॥ रोगी, अनुभवसिद्ध और शुद्ध औषधि पाकर, आरोग्य होने पर, आनन्दित होता है ॥ ६ ॥ इसी प्रकार जो संसार के कष्ट उठा कर त्रिविध ताप से तापित हुआ है वही, एक सन्त-संग पाकर, परमार्थ का अधिकारी बनता है ॥७॥ त्रिविध ताप ये हैंः–॥ ८ ॥ पहला अध्यात्मिक ताप, दूसरा आधिभौतिक और तीसरा आधिदैविक ताप समझो ॥९॥ अध्यात्मिक ताप कौन है? उसकी क्या पहचान है और आधिभौतिक के लक्षण किस प्रकार जाने जायँ? ॥ १० ॥ आधिदैविक कैसा है? उसकी दशा कौन सी है? ऐसे विस्तार से बतलाइए जिससे स्पष्ट मालूम हो जाय ॥ ११ ॥ इस पर वक्ता 'जी हां' कह कर निरूपण करता है। अब पहले सावधान होकर आध्यात्मिक ताप सुनिए ॥१२॥

देह, इंद्रियों और मन के योग से अपनेको जो सुख-दुःख का अनुभव होता है उसको आध्यात्मिक ताप कहते हैं ॥ १३ ॥ जो दुःख देह से उत्पन्न हो अथवा जो दुःख इन्द्रियों के कारण से हो या जो मन से उत्पन्न हो उन्हें आध्यात्मिक कहते हैं ॥१४॥ अब देह से, इन्द्रियों से और मन से जो दुःख होते हैं उनका अलग अलग खुलासा करना चाहिए ॥१५॥ खाज, चाँईचुँई, फुन्सी, नसफोड़, देवी, मोतियादेवी आदि देह में उत्पन्न होनेवाले विकार आध्यात्मिक ताप हैं ॥ १६ ॥ काँखवारी, बालतोड़, चकता, कालाफोड़ा और दुःसह बवासीर की व्यथा–ये आध्यात्मिक ताप हैं ॥ १७ ॥ अंगुली की

गांठ पर का फोड़ा, गलफुल्ला, वाहियात खुजली, मसूड़े का सूजना, दांतों में दर्द होना, आदि रोगों का नाम आध्यात्मिक ताप है ॥ १८॥ यों ही फोड़ा उठना, या शरीर सूज जाना, वात होना और चिलक उठना, आदि आध्यात्मिक ताप हैं ॥ १९ ॥ दाद या गजकर्ण होना, पेट फूलना या बढ़ जाना, ताल बैठना, कान फूटना, आदि तापों का नाम आध्यात्मिक ताप है ॥२०॥ श्वेत कुष्ठ, गलित कुष्ठ, पांडुरोग और क्षयरोगों के कष्ट का नाम आध्यात्मिक ताप है ॥ २१ ॥ गँठिया वात, लड़कों के दूध औंकने का कष्ट, बायगोला, हाथ-पैर को ऐंठन, समय समय पर भौंरैटा आना, आध्यात्मिक ताप है ॥२२॥ मलमूत्र आदि लांघने से जो रोग होता है वह, बर्त; पेटशूल, आधाशीशी का दर्द, आदि रोगों को आध्यात्मिक ताप कहते हैं ॥ २३ ॥ कमर और गर्दन दुखना, पीठ, ग्रीवा, मुख और अस्थिसंधियों का दुखना आध्यात्मिक ताप हैं ॥२४॥ अजीर्ण की मरोड़, अजीर्ण से दस्त और वमन होना, कँवल (नेत्र पीले होना), मुँहासे, नकफोड़, विदेश का पानी लगना, आदि रोगों को आध्यात्मिक तापों में गिनते हैं ॥ २५ ॥ जलशोष, जूड़ी, घूमनी होकर अंधियारा देख पड़ना, ज्वर, रोमांच होना, आदि का नाम आध्यात्मिक ताप है ॥ २६ ॥ जाड़ा, गरमी, प्यास, भूक;नींद और दिशा लगना तथा विषयतृष्णा से दुर्दशा होना आध्यात्मिक ताप है ॥२७॥ आलसी, मूर्ख, अपयशी होना, मन में भय पैदा होना, दिन-रात दुःखित और विस्मरणी होना, आध्यात्मिक ताप हैं ॥२८॥ मूत्रावरोध, प्रमेह, रक्तपित्त, रक्तप्रमेह, पेट में विष्ठा के गोटे पड़ना, आदि आध्यात्मिक ताप हैं ॥२९॥ मरोड़, दस्त, गरमी से पेशाब में दर्द, दिशा रुक जाने से कष्ट अथवा कोई अनजान व्यथा, ये सब आध्यात्मिक ताप हैं ॥३०॥ आंतों के इधर उधर हिल जाने से दर्द होना, पेट में जंतु, आँव और रक्त पड़ जाना, अन्न जैसा का तैसा गिरना, आदि आध्यात्मिक ताप हैं ॥३१॥ पेट फूलना, अफरा लगना, लचक लगना कौर लगना, आदि को आध्यात्मिक ताप कहते हैं ॥३२॥ हुचकी आना, कौर अटक जाना, पित्त उठना, उलाट होना, जीभ में कांटे पड़ना, सर्दी और खांसी आदि आध्यात्मिक ताप हैं ॥३३॥ दमा या स्वास का उठना, टेंटी हटना,-सूखी खांसी या कफ लगना, आदि आध्यात्मिक ताप हैं ॥३४॥ किसीके सेंदुर खिला देने से प्राणी का घबड़ाना या गले में फोड़ा हो जाना आध्यात्मिक ताप है ॥ ३५ ॥ घटसर्प हो जाना, जीभ का झड़ना, मुख से दुर्गन्ध निकलना, दांत गिर जाना या उनमें कीड़ा लगना आध्यात्मिक ताप हैं ॥ ३६ ॥ पथरी, नाक फूटना, गंडमाला, अचानक आंख का फूटना, स्वयं उँगली काट लेना—ये ताप आध्यात्मिक हैं ॥ ३७ ॥ ऐंठन या चिलक उठना, दांत उखड़ना, होंठ और जीभ रगड़ना आध्यात्मिक ताप हैं ॥ कानों के दुःख, आंखों के दुःख,

नाना प्रकार के दुःखों से शोक होना, गर्भांध और नपुंसक होना आध्यात्मिक ताप है ॥ ३६ ॥ आखों में फूली, ठेंठर, मोतियाबिन्द, कीड़ा लगना, आखें अच्छी होने पर भी न दिखना, रतौंध आना, दुश्चित्त रहना, भ्रमिष्ट रहना, पागल होना, आदि आध्यात्मिक ताप हैं ॥ ४० ॥ गूंगा, बहरा, जन्म से होंठ टूटा हुआ, लूला, मस्तक फिरा हुआ, पंगु (दोनों पैर से लँगड़ा), कुबड़ा और लंगड़ा होना आध्यात्मिक ताप हैं ॥ ४१ ॥ कैंचा, टेढ़ा, काना, कैंड़ा, भूरी आखें, ठिंगना, ठेंस लगा कर चलना, छुंगा, घेंघा और कुरूप होना आध्यात्मिक ताप हैं ॥४२॥ बड़दन्ता, पोपला, लम्बी नाक, बिना नाक, बिना कान, बकवादी, बहुत दुबला, बहुत मोटा होना, आध्यात्मिक ताप हैं ॥ ४३ ॥ हकलाना, तुतलाना; निर्बल, रोगी, कुरूप, कुटिल, मत्सरी, खाधुर, क्रोधी होना, आध्यात्मिक ताप हैं ॥४४॥ संतापी, पश्चात्तापी, मत्सरी, कामी, ईर्षालु, तिरस्कारी, पापी, अवगुणी, विकारी होना, आध्यात्मिक ताप हैं ॥४५॥ चिक जाना, अकड़ जाना, लचक लगना, गर्दन अकड़ जाना, सूजन, संधिरोग, आदि आध्यात्मिक ताप हैं ॥ ४६ ॥ गर्भ पेट ही में रह जाना, गर्भ अटक जाना या गर्भपात हो जाना, स्तन पक जाना, सन्निपात, गृहस्थी के संकट, अपमृत्यु, आदि संतापों को आध्यात्मिक कहते हैं ॥४७॥ नाखून का विष, फोड़ा, कुपथ्य से होनेवाला रोग, अचानक दांत की दोनों पंक्तियां सँट जाना—इनका नाम आध्यात्मिक ताप है ॥ ४८ ॥ बिन्नियों का झर जाना, भौंहों का सूजना, आँख में फुन्सियां होना, चश्मा लगना, इनको आध्यात्मिक ताप कहते हैं ॥ ४६ ॥ चमड़े पर काले या नीले दाग, तिल, सफेद चट्टा पड़ना (लिलौसी), लहासुन, बितौरी (मांस का गोला), मसा, मन में भ्रमिष्ट होना, आदि आध्यात्मिक ताप हैं ॥ ५० ॥ नाना प्रकार की सूजन और गुल्मा, शरीर में दुर्गन्ध उठना, लार टपकना—इनका नाम आध्यात्मिक ताप है ॥ ५१ ॥ नाना प्रकार की चिन्ता से काला होना, अनेक प्रकार के दुःखों में चित्त की जलन, बिना व्याधि के घबड़ाहट, आदि आध्यात्मिक ताप हैं ॥ ५२ ॥ बूढ़ापे की आपदाएँ, सदा नाना रोग होना, सदा देह क्षीण रहना आध्यात्मिक ताप है ॥५३॥ अनेक व्याधियां, नाना प्रकार के दुःख, सब प्रकार के भोग, अनेक फोड़ा और प्राणी का शोक में तड़फड़ाना आध्यात्मिक ताप हैं ॥ ५४ ॥

अस्तु। पूर्वपापों के कारण प्राणी को आध्यात्मिक सन्ताप मिलते हैं। संसार में आध्यात्मिक तापों का अथाह सागर ही भरा है; कहां तक इसका वर्णन किया जाय? ॥ ५५ ॥ अतएव श्रोताओं को इतने ही से आध्यात्मिक तापों का स्वरूप समझ लेना चाहिए। अब आगे आधिभौतिक तापों का वर्णन करते हैं ॥ ५६ ॥

सातवाँ समास-आधिभौतिक ताप।

(चराचर भूतों मे दुःख मिलना।)

॥ श्रीराम ॥

पिछले समास में आध्यात्मिक ताप के लक्षण बतलाये जा चुके। अब, आधिभौतिक ताप बतलाते हैं ॥ १ ॥ सारे चराचर भूतों (जीवों) के संयोग से जो सुखदुःख होता है उसे आधिभौतिक ताप कहते हैं ॥ २ ॥ अब इसका खुलासा करने के लिए इसके विस्तृत लक्षण बतलाते हैं:— ॥ ३ ॥ ठोकर लग कर पैर टूटना, कांटा चुभना, शस्त्र से घाव होना, शरीर में फाँस, या कांस चुभ जाना, आधिभौतिक ताप हैं ॥ ४ ॥ किसी दाहक पत्ती या खजहरा का अचानक शरीर में लगना और बर्र का काटना आधिभौतिक ताप है ॥ ५ ॥ मक्खी, गौ-मक्खी, (बग्घी) मधु-मक्खी, चींटी, और डांस का काटना, जोंक लगना आधिभौतिक ताप है ॥ ६ ॥ पिस्सू, बेंबुत, चींटे, खटमल, भौंरा, किलौनी आदि जीवों से जो कष्ट मिलता है वह आधिभौतिक ताप है ॥ ७ ॥ कनसिराई, सांप, बिच्छू, बाघ, भेड़िया, सुअर, स्यार, साँबर आदि जन्तुओं से जो कष्ट मिले वह आधिभौतिक ताप है ॥ ८ ॥ नीलगाय, अरना भैंसा, रीछ, जंगली हाथी और डाकिनी से जो कष्ट हो वह आधिभौतिक है ॥ ९ ॥ पानी में घड़ियाल का खींचना, अचानक डूब जाना अथवा पानी के भीतर चट्टान में गिरना आधिभौतिक ताप हैं ॥ १० ॥ अजगर आदि सर्प, मगर आदि जलचर प्राणी और अनेक प्रकार के वनचरों से जो दुःख मिले उसे आधिभौतिक ताप कहते हैं ॥ ११ ॥ घोड़ा, बैल, गधा, कुत्ता, सुअर, स्यार, बिलार आदि बहुत प्रकार के जो दुष्ट जन्तु हैं उनसे जो कष्ट मिले उसे आधिभौतिक ताप कहेंगे ॥ १२ ॥ इस प्रकार के कर्कश, भयानक और बहुत तरह २ के दुःखदायक जीवों से जो अनेक प्रकार के कठिन दुःख हों उन्हें आधिभौतिक ताप कहते हैं ॥ १३ ॥ दीवालों और छतों का ऊपर टूट पड़ना, पहाड़ियों और भुँहरों के नीचे दब जाना और वृक्षों का टूट पड़ना आधि-भौतिक ताप है ॥ १४ ॥ किसीका शाप लगना, किसीका टटका लगना, अथवा योंही पागल हो जाना आधिभौतिक तापों में है ॥ १५ ॥ यदि किसीने हैरान किया, किसीने भ्रष्ट कर दिया या किसीने पकड़ लिया तो यह आधिभौतिक ताप है ॥ १६ ॥ कोई विष दे दे, कलंक लगावे अथवा जाल में फाँसे तो यह आधिभौतिक ताप है ॥ १७ ॥ किसी

विषैले वृक्ष के स्पर्श से दुःख पाना, भिलावा पर जाना अथवा धुएं से व्याकुल होना आधिभौतिक ताप है ॥ १८ ॥ अंगार पर पैर पड़ जाना, शिला के तले हाथ दब जाना अथवा दौड़ते में ठोकर लग कर गिर पड़ना, आधिभौतिक ताप है ॥ १९ ॥ बावड़ी, कुंआ, तालाब और गढ़े में गिरना अथवा नदी की कगार पर से अचानक गिरना आधिभौतिक ताप है ॥२०॥ किले से अथवा वृक्ष पर से गिर कर कष्ट पाना आधिभौतिक ताप है ॥ २१ ॥ शीत के कारण होंठ, हाथ, पैर, एड़ी आदि फट जाना और बरसात के कीचड़ में चलने से पैरों आदि में अनेक रोग हो जाना आधिभौतिक ताप है ॥ २२ ॥ खाने पीने के समय गरम रस से जीभ का जल जाना, दाँत करकराना आधिभौतिक ताप है ॥ २३ ॥

बचपन में पराधीनता होने के कारण कुबातों की और मारपीट की तकलीफ पाना, अन्न, आदि के लिए तरसना आधिभौतिक ताप है ॥ २४ ॥ ससुराल में स्त्रियों के गुच्चे, ठोंसे और चिमोटे लगाये जाते हैं, आग से वे दाग दी जाती हैं, यह आधिभौतिक ताप है ॥ २५ ॥ भूलने पर कान उमेंठते हैं, या आखों में हींग डालते हैं, हमेशा डांट-माल दिखाते हैं, यह आधिभौतिक ताप है ॥ २६ । दुष्ट लोग नाना प्रकार की मारें स्त्रियों को मारते हैं और उन बिचारी स्त्रियों का नैहर दूर होता है, यह आधिभौतिक ताप है ॥२७॥ कान-नाक-छेद डालना, जबरदस्ती पकड़ कर गुदना गोदना, काम बिगड़ जाने पर दागना आधिभौतिक ताप है ॥२८॥ किसी स्त्री को बदमाश लोग पकड़ कर नीच जाति को दे डालते हैं और दुर्दशा होकर उसका प्राण जाता है, यह आधिभौतिक ताप है ॥ २९ ॥ रोग होने पर वैद्य लोग अनेक कटु औषधियां जबरदस्ती पिलाते हैं और झाड़-फूँक करनेवाले अनेक दुःख देते हैं—ये आधिभौतिक ताप हैं ॥ ३०–३१ ॥ अनेक बेलों के कटु रस, कर्कश और असह्य काढ़ा, और गाढ़ा रस पीने से जो घबड़ाहट आती है वह आधिभौतिक ताप है ॥ ३२ ॥ जुलाब और वमन कराते हैं, कठिन पथ्य बतलाते हैं, और अनुपान भूल जाने पर विपत्ति होती है—यह आधिभौतिक ताप है ॥ ३३ ॥ शस्त्र से चीरकर रक्त निकालने से और दहकते हुए लोहे से दागने पर जो कष्ट होता है उसे आधिभौतिक ताप कहते हैं ॥ ३४ ॥ आकड़ा और भिलावा लगाते हैं; नाना दुःखों से घबड़ा देते हैं, नसें तोड़ते हैं, जोंक लगाते हैं—इनका नाम आधिभौतिक ताप है ॥ ३५ ॥ बहुत से रोग हैं और उनकी औषधियां भी बहुत हैं-बतलाई जाय तो अपार और अगाध हैं। उनके खेद से प्राणी को जो दुःख होता है उसका नाम आधिभौतिक ताप है ॥ ३६ ॥ पञ्चाक्षरी (झाड़ने-फूंकनेवाला, मांत्रिक) धुएँ का मार देता है और नाना

प्रकार की यातनाएं देता है, यह आधिभौतिक ताप है ॥ ३७ ॥ चोर लोग डाके डाल कर लोगों को यातना देते हैं, यह आधिभौतिक ताप है ॥३८ ॥ अग्नि लगने के कारण सुन्दर मन्दिर, रत्नों के भाण्डार और दिव्य तथा मनोहर वस्त्र, नाना प्रकार के धान्य-धान्य, पदार्थ, पशु, पात्र, और मनुष्यों के भस्म होने से जो कष्ट होता है वह आधिभौतिक ताप है ॥३६-४१॥ आग लग जाने के कारण धान्य, ईख, आदि की खड़ी फसल जल जाने से जो सन्ताप होता है वह भी आधिभौतिक ताप है ॥ ४२ ॥ स्वयं लगी हुई या किसी दूसरे के द्वारा लगाई हुई अग्नि की अनेक दुर्घटनाएं हो जाती हैं। उनसे प्राणी को जो दुःख और चिन्ता होती है उसे आधिभौतिक ताप कहते हैं ॥ ४३-४४ ॥ कोई पदार्थ खो जाय, भूल जाय, गिर जाय, नाश हो जाय, लापता हो जाय, फूट जाय, छूट जाय या किसी तरह से भी अलभ्य हो जाय और उससे जो कष्ट हो वह आधिभौतिक ताप है ॥४५॥ प्राणी स्थानभ्रष्ट हो गये हों, नाना प्रकार के पशु कहीं रह गये हों, कन्या-पुत्र बेपता हो गये हों—इन कारणों से जो सन्ताप हो वह आधिभौतिक है ॥ ४५ ॥ चोर अथवा दावीदार मनुष्य अचानक मार डालते हैं, घर लूंट लेते हैं और गोरू-बछेड़ू ले जाते हैं, यह आधिभौतिक ताप है ॥ ४७ ॥ नाना प्रकार के धान्य और फल-वृक्ष काट लेते हैं, भीट में नमक डाल कर फसल खराब कर देते हैं, इस प्रकार की अनेक हानियों से जो सन्ताप होता है उसका नाम है आधिभौतिक ॥ ४८ ॥ छली (दगाबाज), उठाईगीर, सर्वभक्षक, कीमियागर, जादूगर, ठग, फँसानेवाला (कपटी), डाकू आदि, द्रव्य-हरण करते हैं, इससे जो संकट होता है वह आधिभौतिक ताप है ॥ ५६ ॥ गँठकटे लोग द्रव्य छोड़ लेते हैं, नाना प्रकार के अलंकार निकाल लेते हैं, अनेक वस्तु चूहे उठा ले जाते हैं, इससे जो दुःख होता है वह आधिभौतिक ताप है ॥ ५० ॥ बिजली गिरे; पाला पड़े या प्राणी बरसात में पड़ जाय या वह महापूर में डूब जाय तो इसे आधिभौतिक ताप कहते हैं ॥ ५१ ॥ पानी के भँवर, मोड़ और धार में बहते हुए कूडे कचरे में, अपार लहरों में या बहते हुए, बिच्छु, कनखजूर, अजगर आदि जन्तुओं में यदि प्राणी पड़ जाय और किसी चट्टान या टापू में जा कर अटके और डूबते डूबते बच जाय तो इसे आधिभौतिक ताप समझो ॥ ५२-५३ ॥ मने के अनुसार गृहस्थी न हो, कुरूप; कर्कश और क्रूर स्त्री हो; कन्या विधवा और पुत्र मूर्ख हो तो इसे आधिभौतिक ताप समझना चाहिए ॥ ६४ ॥ भूत, पिशाच, लगे हों, शरीर पर से खराब वायु निकल गई हो; या मन्त्र-भ्रष्टता के कारण प्राणी पागल होगया हो तो यह आधिभौतिक ताप है ॥ ५५ ॥ शरीर में कोई ब्रह्म-भूत लगा हो, और वह

बहुत पीड़ा करता हो अथवा शनिश्चर का भय लगा हो—तो इसे आधिभौतिक ताप कहेंगे ॥ ५६ ॥ अनेक क्रूर ग्रह, घातप्रतिकुल, कालातिथि, घातचन्द्र, काल-समय, घातनक्षत्र आदि के कारण जो कष्ट मिलता है वह आधिभौतिक ताप है ॥ ५७ ॥ छींक, * पिंगला और छिपकली, अशुभ * होला, कांक, * कलालो आदि के अपशकुनों के कारण जो चिन्ता और कष्ट हो वह आधिभौतिक ताप है ॥ ५८ ॥ ठग, दुष्टपुछिया जोशी और भड्डरी लोगों के भविष्य बतला जाने पर मन में जो सन्देह लग जाता है अथवा बुरे स्वप्नों से जो घबड़ाहट होती है उसे आधिभौतिक ताप कहते हैं ॥ ५९ ॥ सियार और कुत्ता रोते हो, छिपकली शरीर पर गिरे अथवा नाना प्रकार के अपशकुनों की चिन्ता लगी हो तो यह आधिभौतिक ताप के लक्षण हैं ॥ ६० ॥ कहीं के लिए चलने पर अपशकुन हों या नाना प्रकार के विघ्न आवें, जिनसे मनोभंग हो तो यह आधिभौतिक ताप का लक्षण है ॥ ६१ ॥ प्राणी कैद में पड कर जो अनेक यातनाएँ और दुःख भोगता है वह आधिभौतिक ताप है ॥ ६२ ॥ राजदण्ड पाने के कारण प्राणी की कमर में रस्सी बाँध कर चाबुक और बेत से मारते हैं; दर्रों में डाल कर या तपे हुए तवे पर खड़ा करके मारते हैं, ये आधिभौतिक ताप हैं ॥ ६३ ॥ कोड़ों, बड़ की जटाओं और गोजों की मार अथवा बहुत प्रकार से जो अनेक ताड़ना देते हैं उन्हें आधिभौतिक ताप कहते हैं ॥ ६४ ॥ अपानद्वार में मेख मारना, बारूद भरे हुए पीपा या कुप्पा में बाँधकर आग लगा देना, चारों ओर से तान कर डंडों की मार देना, मुक्के की मार, घेंचा लगा कर मारना, घुटनों की मार आदि आधिभौतिक ताप हैं ॥ ६५ ॥ लात, थप्पड़ और गोबर की मार देना, कानों में कंकड़ ठूंस कर मारना और पत्थर की मार देना, आदि आधिभौतिक ताप हैं ॥ ६६ ॥ टांगना, चिमटा लगाकर मारना, पीछे को हाथ खींच कर बाँधना, बेड़ी डालना, ताल के समान टेढ़ा करके वृक्ष की पेड़ी में बाँधना, गोलालाठी डालना, चारों ओर पहरा बैठाकर बन्दी रखना, इन्हें आधिभौतिक ताप कहते हैं ॥ ६७ ॥ नाक में तीक्ष्ण पानी भर कर दुःख देना, चूना का पानी, नमक का पानी, राई का पानी और गुड़ का पानी भर कर दुःख देना आधिभौतिक ताप हैं ॥ ६८ ॥ जल में डुबकी देना, हाथी के सामने बाँध देना, निकाल देना, कष्ट देना और नाना प्रकार के दुःख देना आधिभौतिक ताप है ॥ ६९ ॥ कान, नाक, हाथ, पैर, जीभ, होंठ आदि काट लेना आधिभौतिक ताप हैं ॥ ७० ॥ तीर से मारते हैं, सूली देते हैं, नेत्र और वृषण (पोते) निकाल लेते हैं और

---

* अशुभ-पक्षी-विशेष।

कुल नखों में सुइयां भर देते हैं, यह आधिभौतिक ताप है ॥ ७१ ॥ इस प्रकार दुःख देना कि जिससे रोज तौलने पर कुछ न कुछ वजन कम होते जाय या पहाड़ी पर से ढकेल देना या तोप के मुँह से बांधकर उड़ा देना-इसका नाम आधिभौतिक ताप है ॥ ७२ ॥ कानों में खूंटे ठोंकते हैं, अपान में मेख मारते हैं, खाल खींच डालते हैं, यह आधिभौतिक ताप है ॥ ७३ ॥ नख से शिख तक शरीर की खाल निकाल डालना, टोंच टोंच कर मारना अथवा गले में आँकड़ी लगाना, या संगसी (संड़सी) लगा कर दुःख देना, यह आधिभौतिक ताप है ॥७४॥ सीसा पिलाना, विष देना अथवा सिर काट लेना या नींव में गाड़ देना, इसे आधिभौतिक ताप कहते हैं ॥७५॥ पैजामा चारों तरफ से बन्द करके भीतर गिर्गिदान भर देना* या बिगड़ा हुआ बिलार और मनुष्य को एक कोठरी में बन्द करके उस बिलार के द्वारा कष्टपूर्वक मनुष्य को मरवा डालना, अथवा फाँसी लगा देना या और नाना प्रकार के कष्ट देना आधिभौतिक ताप है ॥ ७६ ॥ कुत्ते के द्वारा नाश होना, बाघ से नाश होना, भूत से नाश होना, घड़ियाल के द्वारा मारा जाना, शस्त्र से मारा जाना अथवा बिजली गिरने से मरना आधिभौतिक ताप है ॥ ७७ ॥ नसें खीच लेना, पलीता लगा कर जलाना आदि अनेक विपत्तियां आधिभौतिक ताप हैं ॥ ७८ ॥ मनुष्य की हानि, धन की हानि, वैभव की हानि, महत्व की हानि, पशु की हानि और पदार्थ की हानि को आधिभौतिक ताप कहते हैं ॥ ७९ ॥ बचपन में मा मर जाय, जवानी में स्त्री मर जाय और बुढ़ापे में लड़के-लड़की मर जायँ तो यह आधिभौतिक ताप है ॥ ८० ॥ दुःख, दरिद्र, ऋण, विदेश भगना, लुट जाना, आपदा आना और कुत्सित अन्न का भोजन, आधिभौतिक ताप हैं ॥ ८१ ॥ महामारी-हैज़ा-होना, युद्ध में हारना और अपने प्यारे जनों का क्षय होना आधिभौतिक ताप है ॥ ८२ ॥ कठिन समय और अकाल पड़ना, शंकित होना और बुरा समय आना; उद्वेग और चिन्ता में पड़ना आधिभौतिक ताप है ॥ ८३ ॥ कोल्हू और चरखी में पड़ जाना, चाक के नीचे दब जाना या नाना प्रकार की आग में गिर जाना आधिभौतिक ताप है ॥ ८४ ॥ अनेक शस्त्रों से विद्ध हो जाना, नाना प्रकार के बनैले जन्तुओं के द्वारा खाया जाना और नाना बन्धनों में पड़ना आधिभौतिक ताप हैं ॥ ८५ ॥ अनेक कुवासों से घबड़ाना, अनेक अपमानों से लजाना और शोकों से प्राणी का कष्टित होना आधिभौतिक ताप हैं ॥ ८६ ॥

---

* इस प्रकार के उदाहरणों से यह कल्पना की जा सकती है, कि रामदास स्वामी के ज़माने में कैसे राजदण्ड प्रचलित थे।

इस तरह, अगर बतलाये जायँ तो आधिभौतिक ताप के भी अनन्त पहाड़ हैं। परन्तु श्रोता लोगों को इतने ही से समझ लेना चाहिए ॥ ८७ ॥

आठवाँ समास—आधिदैविक ताप ।

(यम-यातनाएँ)

॥ श्रीराम ॥

पहले आध्यात्मिक ताप बतलाया गया, उसके बाद आधिभौतिक; अब आधिदैविक बतलाते हैं, सो सावधान होकर सुनिये ॥ १ ॥ मनुष्य शुभ-अशुभ कर्म से देहान्त होने पर, जो यमयातना तथा स्वर्ग या नरक आदि, नाना प्रकार से, भोग करता है उसका नाम आधिदैविक ताप है ॥ २ ॥ मदांध होकर अविवेक से मनुष्य अनेक दोष और नाना प्रकार के पातक करता है, परन्तु वे अन्त में दुःखदायक बन कर यमयातना का भोग कराते हैं ॥ ३ ॥ शारीरिक बल, द्रव्य-बल, मनुष्य-बल, राज-बल आदि अनेक प्रकार के सामर्थ्य से लोग जो अकृत्य अर्थात्, न करने योग्य काम, करते हैं और जो नीति के अनुसार नहीं चलते तथा पापाचरण करते हैं उन्हें यमयातना भोगनी पड़ती है ॥ ४-५ ॥ स्वार्थ-बुद्धि से आँखें मूंद कर, अनेक अभिलाषाएं और कुबुद्धि धर कर लोग किसी की वृत्ति (जीविका), जमीन, द्रव्य, स्त्री अन्य और पदार्थों को हर लेते हैं तथा मतवालेपन से, उन्मत्त होकर, लोग जीवघात, कुटुम्बघात और मिथ्याचार करते रहते हैं—इसी लिए यमयातना भोगनी पड़ती है ॥ ६—७ ॥ मर्यादा छोड़ कर चलने से ग्राम को ग्रामाधिपति दंड देता है; नीतिन्याय छोड़ने पर देश को देशाधिपति दंड देता है; देशाधिपति को राजा दंड देता है; राजा को ईश्वर दंड देता है। राजा नीति-न्याय से नहीं चलता तभी तो उसे यमयातना भुगतनी पड़ती है ॥ ८—९ ॥ अनीति से जो राजा अपना ही स्वार्थ देखता है; वह पापी होता है। इसी लिए कहते हैं कि, राज्य के बाद नरक मिलता है। कहावत भी है:—"तप से राज्य, राज्य से नरक!" ॥१०॥ राजा जब राजनीति के अनुसार बर्ताव नहीं करता तब अंत में उसे यम भयंकर पीड़ा देते हैं और यम जब नीति छोड़ देता है तब देवगण उस पर धावा करते हैं ॥ ११ ॥ इस प्रकार ईश्वर ने मर्यादा बाँध रखी है। इसी लिए कहते हैं, नीति से बर्ताव करो, और अगर नीति-न्याय छोड़ दोगे तो वही यमयातना तैयार है ॥ १२ ॥

यम को "देव," अर्थात् ईश्वर, ने दण्ड देने के लिए प्रेरित किया है, इसी लिए इस ताप का "आधिदैविक" नाम पड़ा है—यह यमयातना, अर्थात् तीसरा ताप, बहुत कठिन है ॥ १३ ॥ यमदंड या यमयातना के शास्त्र में कई भेद बतलाये गये हैं। पापियों को यमदण्ड अवश्य ही भोगना पड़ता है॥ १४-१५ ॥ पापपुण्य के बहुत से कलेवर परलोक में तैयार रहते हैं। जीव को उन्हीं कलेवरों में डाल कर देवदूत नाना प्रकार से पापपुण्य का भोग कराते हैं ॥ १६ ॥ नाना प्रकार के पुण्य करने पर वहां अनेक भोग-विलास मिलते हैं और तरह तरह के पाप करने से कठोर यातनाएं भोगनी पड़ती हैं। यह सब शास्त्र में कहा है; इस लिए अविश्वास मानना ही न चाहिए ॥ १७ ॥ जो वेद की आज्ञा से नहीं चलता; परमात्मा की भक्ति नहीं करता—उसे यम, यातना देता है और इसी का नाम आधिदैविक ताप है। इसका वर्णनः—॥ १८ ॥

खलबलाते हुए नरक में बहुत से जीव तथा पुराने कीड़े 'रव रव' शब्द करते हैं—उसीमें हाथ-पाँव बाँध कर यम पापी मनुष्य को डाल देता है—इसको आधिदैविक ताप कहते हैं ॥१९॥ घड़े की सूरत का एक ऐसा कुंड बना है जिसकी चौड़ाई तो बहुत बड़ी है और मुँह छोटा है-उसमें दुर्गन्धि और वमन भरा है उसको कुंभिपाक कहते हैं-इसमें जो संकट मनुष्य को मिलता है वह आधिदैविक ताप है ॥ २० ॥ तप्तभूमि में तपाते हैं, जलते हुए खंभे से भेंट कराते हैं और नाना प्रकार के तप्त चिंमटा लगाते हैं-इसका नाम है आधिदैविक ताप ॥ २१ ॥ यमदंड की बड़ी बड़ी मारें और यातना की अपार सामग्रियां जो पापी लोग भोगते हैं उन्हें आधिदैविक ताप कहते हैं ॥ २२ पहले तो पृथ्वी ही पर नाना प्रकार की मारें हैं, उनसे भी कठिन यम की यातना है। मारते मारते दम नहीं लेने देते हैं, यही आधिदैविक ताप है ॥२३॥ चार दूत चारों ओर से खींचते हैं; झिझकोर डालते हैं, तानते हैं, मारते हैं, खींच लेते हैं, इससे जो कष्ट मिलता है वह आधिदैविक ताप है ॥ २४ ॥ उठते नहीं बनता; बैठते नहीं बनता; रोते नहीं बनता; गिरते नहीं बनता-यातनाओं पर यातनाएं मिलती हैं-यही आधिदैविक ताप है ॥ २५ ॥ चिल्ला चिल्ला कर रोता है, हुसकता है, धक्काधक्की से घबड़ाता है, सूख कर लकड़ी हो जाता है और कष्टित होता है-इसका नाम है आधिदैविक ताप॥२६॥ कर्कश वचन कह कर कर्कश मार देते हैं और भी कई प्रकार की यातनाएँ हैं, जिनसे पापी पुरुष कष्ट पाते हैं—इनको आधिदैविक ताप कहते हैं ॥२७॥

पिछले समास में राजदंड बतलाया गया था, उससे भी कठिन यह यम-दंड है-यह यातना बहुत भयानक और कठोर है ॥ २८ ॥ अध्यात्मिक और आधिभौतिक इन दोनों से भी आधिदैविक ताप विशेष असह्य है। यहां पर मैंने उसे संक्षेपतया बतला दिया है ॥ २९ ॥

नववाँ समास–मृत्यु निरूपण।

(मृत्यु से कोई नहीं बचता !)

॥ श्रीराम ॥

यह संसार एक ऐसा तैयार सवार है जो मृत्यु की ओर जा रहा है-काल राह देखता है कि किस घड़ी में इसके शरीर को उठा ले जाऊं ॥ १ ॥ सदा काल की संगति रहती है, होनहार की गति नहीं जानी जाती, कर्म के अनुसार मनुष्य, देश अथवा विदेश में, मृत्यु को प्राप्त होते हैं ॥२॥ संचित कर्मों का शेष पूरा होने पर; फिर यहां एक क्षण भी माँगे नहीं मिलता-पल भर भी नहीं जाने पाता कि कूच करना पड़ता है ॥ ३ ॥ अचानक काल के हरकारे छूटते हैं और मारते हुए मृत्युपथ में लाते हैं ॥ ४ ॥ मृत्यु की मार होने पर कोई सहारा नहीं हो सकता, आगे पीछे सब की कुटा-कूटी होती ही है ॥ ४ ॥ मृत्युकाल एक ऐसी अच्छी लाठी है जो बलवान् की भी खोपड़ी पर बैठती है। बड़े बड़े राजा-महाराजा और बड़े बड़े बलवान् योद्धा भी बच नहीं सकते ॥ ५ ॥

मृत्यु नहीं जानती कि यह क्रूर है, मृत्यु नहीं जानती कि यह पहलवान् है, मृत्यु यह भी नहीं जानती कि यह समरांगण में संग्राम करनेवाला शूर पुरुष है ॥ ७ ॥ मृत्यु नहीं जानती कि यह क्रोधी है और न वह यही जानती है कि यह प्रतापी है। वह यह भी नहीं जानती कि वह उग्र-रूप वाला महा खल है ॥ ८ ॥ मृत्यु नहीं कहती कि यह बलाढ्य है और न वह समझती है कि यह धनवान् है। सर्वगुण-सम्पन्न पुरुष को भी मृत्यु कोई चीज नहीं समझती ॥ ९ ॥ विख्यात पुरुष, श्रीमान् पुरुष और महा पराक्रमी पुरुष को भी मृत्यु नहीं छोड़ती ॥ १० ॥ सामान्य राजा, चक्रवर्ती राजा और करामात दिखलानेवाले को भी मृत्यु कुछ नहीं समझती ॥११॥ अश्वपति, गजपति, नरपति आदि किसीकी भी मृत्यु कुछ परवा नहीं करती ॥ १२ ॥ लोकमान्य, राजनीतिज्ञ और वेतनभोक्ता पुरुषों को भी मृत्यु नहीं बचने देती ॥ १३ ॥ तहसीलदार, व्यापारी और बड़े बड़े मस्त राजाओं को भी मृत्यु कोई चीज नहीं समझती ॥ १४ ॥ मृत्यु को यह भी खयाल नहीं है कि वह मुद्राधारी है, न वह यही जानती है कि यह उद्योगी है, वह परनारी और राजकन्या को भी नहीं छोड़ती ॥ १५ ॥ मृत्यु कार्य-कारण नहीं जानती, वह वर्ण-अवर्ण भी नहीं समझती और न कर्मनिष्ठ ब्राह्मण ही पर कुछ दया करती है ! ॥ १६ ॥ व्युत्पन्न, अर्थात् बुद्धिमान् पुरुष पर भी मृत्यु दया नहीं दिखलाती, सब तरह से सम्पन्न

और विद्वान् पुरुष का वह विचार नहीं करती। जिसके हाथ में लोगों का बड़ा समुदाय है उसे भी मृत्यु नहीं बचने देती ! ॥ १७ ॥ धूर्त, (चतुर-सभ्य), बहुश्रुत और महा भले पंडित का भी मृत्यु कुछ विचार नहीं करती ॥ १८ ॥ पौराणिक, वैदिक, याज्ञिक और ज्योतिषी को भी मृत्यु उठा ले जाती है ॥ १९ ॥ अग्निहोत्री, श्रोत्रिय, मांत्रिक, यांत्रिक और पूर्णागमी पुरुषों पर भी मृत्यु दया नहीं दिखलाती ॥ २० ॥ मृत्यु यह नहीं समझती कि यह पुरुष शास्त्रज्ञ है, वेदज्ञ है अथवा सर्वज्ञ है ! ॥ २१ ॥ ब्रह्महत्या, गोहत्या, बालहत्या, स्त्रीहत्या; आदि किसी प्रकार की भी हत्या का मृत्यु विचार नहीं करती ! ॥२२॥ रागज्ञानी, तालज्ञानी और तत्व-वेत्ता को भी वह नहीं छोड़ती ॥ २३ ॥ योगाभ्यासी और संन्यासियों का भी मृत्यु विचार नहीं करती और काल को धोखा देनेवाले (अर्थात् जो अपने योगबल से मौत को कुछ समय के लिए टाल सकते हैं), पुरुष को भी वह नहीं बचने देती ! ॥ २४ ॥ सावधान पुरुष, सिद्ध पुरुष, वैद्य और पंचाक्षरी (झाड़फूँक करनेवालें) को ... वह उठा ही ले जाती है ॥२५॥ मृत्यु नहीं जानती कि यह गोस्वामी है, वह तपस्वी को भी नहीं जानता और न मनस्वी या उदासीन का ही कुछ खयाल करती है ॥ २६ ॥ ऋषीश्वर, कवीश्वर, दिगम्बर और समाधिस्थ लोगों को भी मृत्यु नहीं छोड़ती ॥ २७ ॥ हठयोगी, राजयोगी और निरन्तर राग से दूर रहनेवाले (वैरागी) पुरुषों का भी मृत्यु को कुछ विचार नहीं है ॥ २८ ॥ ब्रह्मचारी, जटाधारी और निराहारी योगेश्वरों तक को वह उठा ले जाती है ॥ २९ ॥ संत, महंत और गुप्त होजानेवालों को भी मृत्यु कुछ नहीं समझती ॥ ३० ॥ मृत्यु स्वाधीन और पराधीन किसीको नहीं छोड़ती--सब जीवों को वही खा जाती है ॥ ३१ ॥ इस संसार में, कोई मृत्यु के मार्ग पर आ लगे हैं, कोई आधी दूर तक पहुँचे हैं और कोई बूढ़े होकर अन्त तक पहुँच चुके हैं-मर गये हैं ॥ ३२ ॥ बालक, तरुण, सुलक्षण, विलक्षण और बड़े व्याख्याता तक को मृत्यु कुछ नहीं समझती ॥३३॥ मृत्यु नहीं जानती कि यही आधार है और न वह समझती है कि यह उदार है। मृत्यु सुन्दर पुरुष और सब प्रकार निष्णात पुरुष को भी कुछ नहीं समझती ॥ ३४ ॥ पुण्य-पुरुष, हरिदास या कीर्तनकार, और बड़े बड़े सत्कर्म करनेवालों को भी मृत्यु नहीं छोड़ती ॥ ३५ ॥

अच्छा, अब ये बातें रहने दो। मृत्यु से कौन छूटा है, आगे-पीछे, सब लोगों को अवश्य मृत्युपथ पर जाना ही है ॥ ३६ ॥ जारज, उद्भिज, अंडज और स्वेदज नामक चारों खानियों में चौरासी लक्ष योनियां हैं उनसे पैदा हुए यावत् जीवों को अवश्य ही मृत्यु खायगी ॥ ३७ ॥ मृत्यु के भय

से चाहे जहां कोई भग कर जाय; पर वह उसे कभी नहीं छोड़ सकती। तात्पर्य, किसी उपाय से भी मृत्यु टल नहीं सकती ॥ ३८ ॥ 'स्वदेशी' हो या 'विदेशी' हो (!) मृत्यु किसीको नहीं छोड़ती। चाहे कोई सदैव उपवास करता रहता हो, तथापि उसे भी मृत्यु नहीं बचने देगी! ॥ ३९ ॥ मृत्यु बड़ों बड़ों को नहीं छोड़ती—ब्रह्मा, विष्णु और महेश को भी मृत्यु कुछ नहीं समझती-तथा भगवान् के अवतारों (राम-कृष्णादि) तक की वह खबर लेती है! ॥ ४० ॥ हमारे इस कथन से श्रोता लोग क्रोध न करें; क्योंकि सभी को मालूम है कि यह 'मृत्युलोक' है-जो यहां आया है वह अवश्य ही मृत्यु को प्राप्त होगा ॥ ४१ ॥ इसमें सन्देह रखने की कोई बात नहीं है-यह 'मृत्युलोक' विख्यात है-इसे छोटे-बड़े सब अच्छी तरह जानते हैं! ॥ ४२ ॥ तथापि, यदि सन्देह किया भी जाय, तो, क्या यह 'मृत्युलोक' नहीं होगा? यह मृत्युलोक तो है ही, और यहां जो पैदा होगा वह मरे ही गा! ॥ ४३ ॥ अतएव, यहां आकर, इस जन्म को सफल करना चाहिए और मरने के बाद भी कीर्तिरूप से संसार में जीवित रहना चाहिए ॥ ४४ ॥ अन्यथा, यह निश्चय ही है कि छोटेबड़े सभी प्राणी मृत्यु पाते हैं इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ ४५ ॥

बड़े वैभववाले, बड़ी आयुवाले और अगाध महिमावाले इसी मृत्युमार्ग से चले गये हैं ॥ ४६ ॥ बहुत से पराक्रमी, बहुत से कपट-कर्म करनेवाले और बहुत से युद्ध करनेवाले संग्रामशूर चले गये ॥ ४७ ॥ अनेक प्रकार का बल करनेवाले, बहुत काल देखनेवाले और अनेक कुलों के कुलवान राजा चले गये ॥ ४८ ॥ बहुतों के पालक, बुद्धि के चालक और युक्तिवान तार्किक चले गये ॥ ४९ ॥ विद्या के सागर, बल के पर्वत और धन के कुबेर, अनेकों, इसी मृत्युपथ से चले गये ॥ ५० ॥ बहुत पुरुषार्थवाले, बहुत तेजवाले और बहुत विस्तार के साथ काम करनेवाले चले गये ॥ ५१ ॥ बहुत शस्त्रधारी चले गये, बहुत परोपकारी चले गये और बहुत से भिन्न भिन्न धर्मरक्षक इसी मृत्युमार्ग से गये ॥ ५२ ॥ बहुत प्रतापी, बहुत सत्कीर्तिवान् और बहुत से भिन्न भिन्न नीतियों को जाननेवाले, नीतिवान् राजा, इसी मार्ग से चले गये ॥ ५३ ॥ बहुत से भिन्न भिन्न मतवादी, बहुत प्रयत्नवादी और बहुत विवादी चले गये ॥ ५४ ॥ पंडितों के समूह, शब्दों की खटपट करनेवाले वैयाकरणी और नाना मतों पर बड़े बड़े वाद करनेवाले चले गये ॥ ५५ ॥ तपस्वियों के समूह, अनेक संन्यासी और तत्व विवेकी मृत्युपथ से चले गये ॥ ५६ ॥ बहुत से संसारी, अर्थात् गृहस्थ, बहुत से वेषधारी और बहुत से नाना प्रकार के पुरुष, अनेक लीला दिखला कर,

चले गये ॥ ५७ ॥ बहुत से ब्राह्मणसमुदाय और अनेकों आचार्य चले गये-न जाने कितने चले गये—कहां तक बतलावें ! ॥ ५८ ॥

अस्तु। इस प्रकार सभी चले गये। परन्तु रह गये सिर्फ वही एक-जो आत्मज्ञानी स्वरूपाकार हैं ॥ ५९ ॥

दसवाँ समास–वैराग्य–निरूपण।

॥ श्रीराम ॥

यह संसार एक बहुत बढी हुई नदी है। इसके बीच में अनेक जलचर वास करते हैं और विषैले कालसर्प डँसने के लिए दौड़ते हैं ॥ १ ॥ इस महा नदी में आशा, ममता और देहबुद्धि के घड़ियाल मनुष्य को अपनी ओर खींच कर संकट में डालते हैं ॥ २ ॥ अहंकाररूपी नक्र पाताल में पकड़ ले जाकर डुबो देता है-वहां से फिर प्राणी निकल नहीं सकता ॥३॥ कामरूपी मगर के पंजे से मनुष्य नहीं छूटने पाता; तिरस्कार पीछे ही लगा रहता है और मदमत्सर के न हटने से मनुष्य भ्रम में पड जाता है ॥ ४ ॥ वासनारूपी नागिन गले में लिपट कर जीभ लपलपाते हुए विष उगलने लगती है ! ॥ ५ ॥ ऐसी दशा में मनुष्य 'मेरा मेरा' कहते हुए सिर पर प्रपंच (गृहस्थी) का बोझा लादे हुए है—और यद्यपि वह उसी बढी हुई नदी में डूबना चाहता है, तथापि बोझा नहीं छोड़ता और उलटे, कुलाभिमान में आकर फूल जाता है ॥ ६ ॥ उस दशा में भ्रांति के अँधेरे में पड़ जाने के कारण अभिमानरूपी चोर उसे लूट लेता है और अहंतारूपी भूत-बाधा का फेरा उस पर आ जाता है ॥ ७ ॥ इसी प्रकार अनेक प्राणी इस महा नदी के भँवरों में पड़े हुए बहे चले जाते हैं; परन्तु जो भक्तिभावपूर्वक उस संकट में परमात्मा को पुकारता है उसके लिए वह स्वयं प्रकट होता है और उसे पार लगाता है ! बाकी, जो अभक्त हैं, वे बिचारे बहते ही चले जाते हैं ॥ ८९ ॥

भगवान् भक्ति-भाव का भूखा है—वह भक्ति-भाव ही पर प्रसन्न होता है और भाविक पर प्रसन्न होकर वह संकटमें उसकी रक्षा करता है ॥१०॥ जो परमात्मा पर प्रेम करता है उनकी वह भी चिन्ता रखता है-वह अपने दास के सारे दुःख दूर करता है ॥ ११ ॥ जो परमेश्वर के दास हैं वेही स्वात्मसुख का आनन्द लूटते हैं-ऐसे भक्तों को धन्य है ! ॥ १२ ॥ जिसका जैसा भाव है उसके लिए परमात्मा भी वैसा ही है—वह प्राणिमात्र का

अन्तर्साक्षी है और सब का भाव जानता है ॥ १३ ॥ जिसका भाव मायिक होता है उसके लिए परमात्मा भी महा ठग बन जाता है-उसका कौतुक अपूर्व है-वह जैसे को तैसा है ! ॥ १४ ॥ उसका जो जैसा भजन करता है वैसा ही वह उसे शान्ति देता है। यदि किंचित् भी भाव न्यून हो जाता है तो वह भी अलग हो जाता है ॥ १५ जो जैसा होता है उसका वैसा ही प्रतिबिंब दर्पण में देख पड़ता है-उसकी मुख्य कुंजी अपने ही पास है ॥ १६ ॥ जैसा हम करते हैं वैसा ही प्रतिबिंब होता है; यदि हम आखें पसार कर देखते हैं तो वह भी नेत्र फाड़कर हेरता है ॥ १७ ॥ भौंहें सिकोड़ कर देखने से वह भी क्रोधित हो उठता है: और हम यदि हँसने लगते हैं तो वह भी आनन्दित होता है ॥ १८ ॥ जैसा भाव प्रतिबिम्बित होता है वैसा ही परमात्मा भी बन जाता है—जो जैसे उसको भजता है उसके लिए वैसा ही वह फलता है ॥ १९ ॥ भाव के द्वारा, परमार्थ के मार्ग, भक्ति की पेंठ को जाते हैं और यहां सन्त-समागम से मोक्ष का चौक लगता है ॥ २० ॥ जो भावपूर्वक भजन में लगते हैं वे ईश्वर के तईं पावन होते हैं और अपने भाव के बल से पूर्वजों का भी उद्धार करते हैं ॥ २१ ॥ वे स्वयं मुक्त हो जाते हैं और दूसरों के भी काम आते हैं, अर्थात् उनकी कीर्ति सुन सुन कर अभक्त पुरुष भी भक्त बनते हैं ॥ २२ ॥ जो परमात्मा का भजन करते हैं-उनकी माता को धन्य है ! उन्हींका जन्म सार्थक है ॥ २३ ॥ जो भगवान के प्यारे हैं उनकी कहां तक बड़ाई करूं ? उन्हें अपनी कमर का सहारा देकर वह परम पिता दुःख से पार करता है ॥ २४ ॥ बहुत जन्मों के बाद, यह नरदेह; जिसके द्वारा जन्ममरण दूर होता है—ईश्वर से भेंट कराता है ॥ २५ ॥ अतएव उन भाविक जनों को धन्य है जो हरि-निधान, अर्थात् ईश्वररूपी कोश, संचित करते हैं-उनका अनन्त जन्मों का पुण्य फलीभूत होता है ॥ २६ ॥ यह आयु एक रत्नों की सन्दूक है—इसमें सुन्दर भजन-रत्न भरे हैं-इसे ईश्वर को अर्पण करके आनन्द की लूट मचाओ ! ॥ २७ ॥ हरिभक्त यद्यपि सांसारिक वैभव से हीन होते हैं: परन्तु वास्तव में वे ब्रह्मा; आदि से भी श्रेष्ठ हैं; क्योंकि वे सदा सर्वदा नैराश्य के आनन्द से ही संतुष्ट रहते हैं ॥ २८ ॥ सिर्फ ईश्वर की कमर पकड़ कर जो संसार से नैराश्य रखते हैं उन भाविकों को जगदीश; सब प्रकार से सँभालता है ॥ २९ ॥ भाविक भक्त, संसार के दुःखों को ही, विवेक से परम सुख मानता है; परन्तु अभक्त लोग संसारसुखों में ही फँसे पड़े रहते हैं ॥ ३० ॥ जिनका ईश्वर में अत्यन्त प्रेम है वे स्वानंद-सुख भोगते हैं, उनका अक्षय कोश (स्वानंद) अलौकिक है ॥ ३१ ॥ वे अक्षय सुख से सुखी होते हैं, संसार दुःख भूल जाते हैं वे श्रीरंग-रंगी, अर्थात ईश्वर में रँग जानेवाले पुरुष,

विषय रंग से पराङ्गमुख रहते हैं ॥ ३२ ॥ ये लोग नरदेह पाकर परमात्मा को प्राप्त करते हैं और अन्य अभक्त अभागियों का यह जन्म व्यर्थ हो जाता है ! ॥३३॥ जिस प्रकार किसीको अचानक कोई बड़ी धन की राशि मिल जाय और वह उसे एक कौडी से बदल ले, उसी प्रकार अभाविक पुरुष अपने इस अमूल्य मनुष्य शरीर को व्यर्थ ही खोता है ॥ २४ ॥ जिस प्रकार पूर्व-पुण्य के कारण किसीको पारस पत्थर मिल जाय और वह विचारा उसका उपभोगही न जानता हो उसी प्रकार अभक्त पुरुष, यह नरदेह पाकर; इसका सार्थक करना नहीं जानता और माया जाल में फँस कर अपने जीवन का सत्यानाश करता है ॥६५ ३६॥ इसी नरदेह के संयोग से अनेक भक्त पुरुष सद्गति पा चुके हैं; पर मनुष्य का जन्म पाकर भी जो परमात्मा की भक्ति नहीं करते वे जन्म-मरण के दुःख भोगते रहते हैं ॥३७॥

अतएव, मनुष्य-जन्म पाकर सन्तसमागम के द्वारा इस जीवन को सुफल कर लेना चाहिए, क्योंकि पहले, अनेक नीच योनियों में बहुत दुःख सहने के बाद यह जन्म प्राप्त हुआ है ॥ ३८ ॥ कौन समय कैसा आवेगा, इसका कोई भरोसा नहीं। जिस प्रकार पक्षी दसों दिशाओं में उड़ जाते हैं उसी प्रकार, न जाने किस समय, ये सारे वैभव—स्त्री; पुत्र, धन आदि—कहां चले जायँगे ! ॥ ३९ ४० ॥ घड़ी घड़ी का ठिकाना नहीं है, और उम्र तो सारी खतम होने आई है, तथा देहान्त होने के बाद फिर वही नीच योनि तैयार है ! ॥ ४१ ॥ श्वान, शूकर, आदि नीच योनियों में जन्म पाकर विपत्ति भोगनी पड़ती है—इन योनियों में कुछ उत्तम गति नहीं मिलती ॥४२॥ अरे ! पहले गर्भवास में तू अनेक संकट भोग चुका है और, सौभाग्य से बड़ी कठिनाई के साथ; वहां से छूटा है ॥ ४३ वे सारे दुःख तूने स्वयं ही भोगे हैं, वहां तेरे साथ के स्त्री-पुत्रादि कोई नहीं थे; और अरे भैया ! उसी प्रकार फिर भी तुझे अकेले ही जाना है ।।४४॥ कहां की माता, कहां का पिता, कहां की बहन और कहां का भ्राता ! कहां के सुहृद और कहां के स्त्री-पुत्रादि ! ॥ ४५ ॥ ये सब मिथ्या हैं—सारे सुख के साथी हैं। ये तेरे दुःख के संगी नहीं हैं ॥ ४६ ॥ कहां का आया प्रपंच और कहां का कुल लिए व्याकुल होता है ! धनधान्य और लक्ष्मी आदि सब अनित्य हैं ॥४७॥ काहे के कहां की गृहस्थी; काहे के लिए व्यर्थ परिश्रम करता है—जन्म भर बोझा ढ़ोकर अन्त को छोड़ जायगा ! ॥ ४८ ॥ कहां की जवानी, कहां का वैभव और कहां का यह हावभाव का आनन्द ? ये सभी मायावी हैं ! ॥ ४९ ॥ यदि तू इसी क्षण मर जायगा तो 'राम' को नहीं पायगा; क्योंकि तू 'मेरा मेरा' कहता है—अर्थात् तेरी वासना विषयों में फँसी है ॥ ५० ॥ जब तूने अनेक जन्म-मरण भोगे हैं तब ऐसे मा, बाप, स्त्री, कन्या, पुत्र

आदि न जाने कितने, लाखों; होगये ! ॥५१॥ ये सब कर्म-योग से एक स्थान में जन्म लेकर एकत्र हुए हैं। अरे पढ़तमूर्ख ! इन्हें तूने अपना कैसे मान लिया ? ॥ ५२ ॥ जब स्वयं तेरा शरीर ही अपना नहीं है; तब दूसरे की क्या गिनती है ? अतएव, अब, भक्तिभाव से एक परमात्मा ही का भरोसा रख ॥ ५३ ॥ इस एक पापी पेट के लिए अनेक नीचों की सेवा करनी पड़ती है; तथा बहुत प्रकार से उनकी चापलूसी और अदब करना होता है—इस प्रकार, जो सिर्फ पेट के लिये अन्न देता है उसके हाथ यह सारा जीवन बेच देना होता है—फिर जिस परम पिता परमात्मा ने यह जीवन दिया है उसको क्यों भूलना चाहिए ? ॥ ५४-५५ ॥ दिन रात जिस ईश्वर को सब जीवों की चिन्ता लगी रहती है तथा जिसके प्रताप से मेघ बरसता है और समुद्र मर्यादा से रहता है ॥ ५६ ॥ जिसके प्रताप से शेष पृथ्वी को धारण किये है; सूर्य प्रगट होता है और, इस प्रकार, जो सारी सृष्टि सत्तामात्र से चला रहा है ॥ ५७ ॥ वह देवाधिदेव-महादेव-बड़ा दयालु है; उसकी लीला कोई नहीं जानता; वह कृपापूर्वक सारे जीवों की रक्षा करता है ॥ ५८ ॥ ऐसा जो सर्वात्मा 'श्रीराम' है उसे छोड़ कर जो विषयकामना रखते हैं वे प्राणी दुरात्मा और अधम हैं; अपने किये का फल पाते हैं ! ॥ ५९ ॥ राम के बिना जो आशा की जाती है वह निराशा ही समझो। 'मेरा मेरा' कहने से सिर्फ कष्ट ही होता है ! ॥ ६० ॥ जिसे कष्ट उठाने की चाह हो वह खुशी से विषयों का चिन्तन करते रहे ! विषयों का हाल तो यह है कि उनके न मिलते ही जी बहुत घबड़ाने लगता है ॥६१॥ आनन्दघन राम को छोड़ कर जिसके मन में विषय-चिन्तन रहता है उस विषयासक्त पुरुष को समाधान कैसे मिल सकता है ? ॥ ६२ ॥ जो चाहता हो कि मुझे सदा सुख ही रहे वह राम के भजन में तत्पर हो और कुटुम्बीजन, जो दुःख के मूल हैं, उन्हें छोड़ दे ! ॥ ६३ ॥ वासना ही के कारण सारे दुःख मिलते हैं, इस लिए जो विषय-वासना त्याग देता है वही एक सुखी है ॥ ६४ ॥ विषय से उत्पन्न हुए जितने सुख हैं उनमें परम दुःख भरा है। उनका नियम है कि पहले वे मीठे लगते हैं; परन्तु पीछे से उनके कारण शोक ही होता है ॥ ६५ ॥ जिस प्रकार गरल निगलते में तो मछली को सुख मालूम होता है; पर उसके खींच लेने में गला फट जाता है, अथवा जिस प्रकार चारा लेकर दौड़ते हुए बिचारा हिरन फँस जाता है उसी प्रकार की विषय-सुख की मिठाई है। यद्यपि वह मीठी मालूम होती है; परन्तु है वह बहुत कटु ! इसी लिए कहते हैं कि, 'राम' में प्रीति रखो ॥ ६६-६७ ॥

यह सुन कर भाविक शिष्य कहता है:—"हे स्वामी, अब ऐसा उपाय बताओ कि जिससे यह जन्म सुफल हो और यम-लोक छूटे ॥ ६८ ॥ हे

महाराज! परमात्मा कहां है और वह मुझे कैसे मिले? और यह दुःख का मूल जो संसार है वह कैसे छूटे? ॥ ६९ ॥ हे कृपामूर्ति! मुझ दीन को ऐसा उपाय बताइए जिससे निश्चय करके भगवान् मिले और अधोगति दूर हो" ॥ ७० ॥ वक्ता कहता है कि, "भाई! अनन्य होकर भगवान् का भजन करना चाहिए--इससे सहज ही समाधान होगा" ॥ ७१ ॥ "भगवान् का भजन कैसे करें? मन कहां रखें? कृपा करके मुझे भगवद्भजन का लक्षण बतलाइए" ॥ ७२ ॥ इस प्रकार भाविक शिष्य उदासमुख से बोला और दृढता के साथ पैर पकडे। वह गद्गद्कंठ हो आया और दुःख से उसके अश्रुपात होने लगे! ॥ ७३ ॥ शिष्य की अनन्य भक्ति देख, सद्भाव से प्रसन्न होकर, श्रीमद्गुरु ने कहा कि "अब अगले समासों में स्वानन्द उमड़ेगा" ॥ ७४ ॥

चौथा दशक ।



पहला समास–श्रवणभक्ति ।

॥ श्रीराम ॥

हे गणनाथ ! तेरी जय हो, जय हो । तू विद्या-वैभव में समर्थ है । अब कृपा करके मुझे अध्यात्म-विद्या का परमार्थ बतलाने की शक्ति दे ॥ १ ॥ हे वेदमाता शारदा ! तुझे भी मैं नमन करता हूं । तेरे ही प्रताप से सकल सिद्धियां प्राप्त होती हैं और तेरे ही कारण मन स्फूर्तिरूप से मनन करने में प्रवृत्त होता है ॥ २ ॥ अब सद्गुरु का स्मरण करता हूं, जो श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ है और जिसकी कृपा से ज्ञान-विवेक प्रकट होने लगता है ॥ ३ ॥ श्रोताओं ने यह अच्छा प्रश्न किया है कि भगवद्भजन कैसे किया जाय । अतएव अनेक ग्रन्थों और सत् शास्त्रों के आधार से, नवधा-भक्ति का वर्णन किया जाता है । इसे श्रोता लोग सावधान होकर सुनें और पावन हों ॥ ४-५ ॥

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम् ।
अर्चनं वंदन दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ १ ॥

श्रवण, कीर्तन, विष्णु-स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन–ये भक्ति के नव भेद हैं । इनमें से अब प्रत्येक का खुलासा, एक एक समास में करते हैं । श्रोता लोगों को सावधान हो जाना चाहिए॥६॥

पहली भक्ति यह है कि हरिकथा, पुराण और नाना प्रकार का आध्यात्म-निरूपण सुनते रहना चाहिये ॥ ७ ॥ कर्ममार्ग, उपासनामार्ग, ज्ञानमार्ग, सिद्धान्तमार्ग, योगमार्ग और वैराग्य-मार्ग–ये सब सुनते जाना चाहिये ॥ ८ ॥ अनेक प्रकार के व्रत, तीर्थ और दानों की महिमा सुनना चाहिए ॥ ९ ॥ अनेक प्रकार का महात्म्य, अनेक स्थानों का वर्णन, अनेक मंत्र, अनेक साधन, अनेक प्रकार के तप और पुरश्चरण सुनना चाहिए ॥ १० ॥ दुग्धाहार करनेवाले, निराहार रहनेवाले, फलाहार करनेवाले, पत्तों का आहार करनेवाले, घास का आहार करनेवाले और नाना प्रकार का आहार करनेवाले कैसे होते हैं–उनका हाल सुनते रहना चाहिये ॥ ११ ॥ गर्मी में, जल में, शीत में, वन में, पृथ्वी के भीतर और आकाश में किस प्रकार वास किया जाता है, सो सुनना चाहिये ॥ १२ ॥ जपी, तपी, तामसयोगी,

निग्रही, हठयोगी, शाक्तिमार्गी, अघोरयोगी--ये कैसे होते हैं, सो सुनना चाहिए ॥ १३ ॥ अनेक प्रकार की मुद्रा, अनेक आसन, अनेक लक्षस्थान, पिण्डज्ञान और तत्वज्ञान आदि का वर्णन सुनना चाहिये ॥ १४ ॥ नाना प्रकार के पिण्डों की रचना, अनेक प्रकार की भूगोल--रचना और नाना प्रकार की सृष्टिरचना किस प्रकार होती है, सो सुनना चाहिये ॥ १५ ॥ चन्द्र, सूर्य, तारामंडल, ग्रहमंडल; मेघमंडल, इक्कीस स्वर्ग और सात पाताल किस प्रकार के हैं, सो सुनना चाहिये ॥ १६ ॥ ब्रह्मा, विष्णु, महेश के स्थान; इंद्र, आदि देव और ऋषियों के स्थान; तथा वायु, वरुण और कुबेर के स्थान कैसे हैं, सो श्रवण करना चाहिये ॥ १७ ॥ नवखंड, चौदह भुवन, आठ दिग्पालों के स्थान, अनेक गहन वन-उपवन, इन सब का वर्णन सुनना चाहिये ॥ १८ ॥ गण, गन्धर्व, विद्याधर, यक्ष, किन्नर, नारद, तुंबरू, अष्ट-नायक, आदि के संगीत—विचार का वर्णन सुनना चाहिये ॥ १९ ॥ राग का ज्ञान, ताल का ज्ञान, नृत्य का ज्ञान, वाद्य का ज्ञान, अमृतसिद्धि-योग और प्रसंग का ज्ञान कैसे होता है, सो भी सुनना चाहिए ॥ २० ॥ चौदह विद्या, चौसठ कला, सामुद्रिक-लक्षण, मनुष्य के बत्तीस लक्षण और नाना प्रकार की कला कैसी होती हैं, सो सब सुनना चाहिये ॥ २१ ॥ मंत्र, औषधि, मणि, सूत्रग्रन्थि, सिद्धि, नाना बेलियां, नाना ओषधियां, धातु, रसायनक्रिया और नाटिका-ज्ञान सुनना चाहिये ॥ २२ ॥ किस दोष से कौन रोग होता है, किस रोग के लिए कौन प्रयोग कहा है और कौन से प्रयोग के लिए कौन सा योग सधता है--सो सब सुनना चाहिये ॥ २३ ॥ रौरव, कुंभिपाक, आदि नरक, यमलोक की नाना यातनाएँ, स्वर्ग-नरक के सुखदुःख आदि कैसे होते हैं, सो सब सुनना चाहिए ॥ २४ ॥ नवविधा भक्ति और चतुर्विधा मुक्ति कैसी होती है और उत्तम गति कैसे मिलती है--यह सब सुनना चाहिये ॥ २५ ॥ पिण्ड और ब्रह्मांड की रचना, नाना प्रकार के तत्वों का विवेक और सार-असार का विचार सुनना चाहिये ॥ २६ ॥ सायुज्य मुक्ति कैसी होती है, मोक्ष कैसे मिलता है-यह जानने के लिए अनेक सद्ग्रन्थों का श्रवण करना चाहिए ॥ २७ ॥ वेद, शास्त्र, पुराण, और 'तत्त्वमसि,' आदि महावाक्यों के विवरण, तनुचतुष्टय (अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण ये चार प्रकार के शरीर) का निरसन किस प्रकार होता है, सो सुनना चाहिये ॥ २८ ॥ सुनना तो यह सब चाहिए; परन्तु सार ढूँढ़ लेना चाहिए; और असार को पहचान कर, छोड़ देना चाहिए--इसका नाम है श्रवणभक्ति ॥ २९ ॥ सगुण परमात्मा के चरित्र सुनना चाहिये अथवा निर्गुण की, आध्यात्म-ज्ञान के द्वारा, खोज करना चाहिये—यही श्रवणभक्ति के लक्षण हैं ॥ ३० ॥ सगुण ईश्वर के

चरित्र तथा निर्गुण के तत्त्व और यन्त्र, ये दोनों बातें परम पवित्र हैं-इनको सुनते रहना चाहिए ॥ ३१ ॥ जयन्तियां, उपवास, नाना प्रकार के साधन, मन्त्र, यन्त्र, जप, ध्यान, कीर्ति, स्तुति, स्तवन और भजन आदि, नाना प्रकार से, सुनते रहना चाहिए ॥ ३२ ॥ इस प्रकार सगुण परमात्मा के गुणों का, और निर्गुण के आध्यात्मनिरूपण का, श्रवण करना चाहिए और भिन्नता छोड़ कर भक्ति का मूल ढूँढ़ना चाहिए ॥३३॥ अब श्रोता लोग श्रवणभक्ति का निरूपण समझ गये होंगे; अतएव, आगे अब कीर्तनभक्ति का लक्षण बतलाया जाता है ॥ ३४ ॥

दूसरा समास-कीर्तनभक्ति ।

॥ श्रीराम ॥

नवधा भक्ति में से श्रवण का निरूपण हो चुका, अब दूसरी कीर्तनभक्ति सुनियेः-॥ १ ॥ सगुण परमात्मा के गुणों का कीर्तन करना चाहिए, और अपनी वाणी से जगत् में यथास्थित भगवान् की प्रीति फैलाना चाहिए ॥ २ ॥ बहुत से ग्रन्थ पढ़ना चाहिए और ग्रन्थों की बातें कंठ करना चाहिए तथा भगवान् की कथा निरन्तर कहते रहना चाहिए ॥ ३ ॥ अपने सुख-स्वार्थ के लिए हरि-कथा कहते ही रहना चाहिए-हरि-कथा के बिना कभी न रहना चाहिए ॥ ४ ॥ नित्य नये उत्साह के साथ, हरि-कथा बढ़ाने में, अत्यन्त उद्योग करना चाहिए और हरिकीर्तन से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भर देना चाहिए ॥ ५ ॥ अत्यन्त प्रेम और रुचि के साथ, सदा सर्वदा हरिकीर्तन के लिए तत्पर रहना चाहिए ॥ ७ ॥ भगवान को कीर्तन बहुत प्रिय है; कीर्तन से समाधान होता है। कलियुग में बहुत मनुष्यों को हरिकीर्तन ही तारता है ॥ ७ ॥ विविध प्रकार के विचित्र ध्यान, अलंकार और भूषणों का वर्णन करना चाहिए और अंतःकरण में ध्यानमूर्ति को ला कर कथा कहना चाहिए ॥ ८ ॥ प्रेम के साथ, परमात्मा का यश, कीर्ति, प्रताप और महिमा वर्णन करना चाहिए, इससे भगवद्भक्तों की आत्मा संतुष्ट होती है ॥ ९ ॥ कथा, अन्वय, व्याख्या, करताल बजाते हुए परमात्मा के नामों का घोष, और प्रसंग आ पड़ने पर अनेक कल्पित बातें, तथा घटित हुई बातें, अच्छी तरह बतलानी चाहिए ॥१०॥ ताल, मृदंग, हरिकीर्तन, संगीत, नृत्य, तान-मान, और प्रकार की कथाओं का अनुसन्धान टूटने ही न देना चाहिए—बराबर जारी रखना चाहिए ॥ ११ ॥ करुणा-कीर्तन के आनन्द में आकर, उत्साह के साथ, कथा कहना चाहिए

और श्रोता जनों के श्रवण-पुट आनन्द से भर देना चाहिए ॥ १२ ॥ कंप, रोमाञ्च, स्फुरण और प्रेमाश्रु-सहित परमेश्वर के गुणानुवाद गाना चाहिये और देवस्थान में साष्टांग नमस्कार करना चाहिए, तथा लीनता के साथ लोटना चाहिये ॥ १३ ॥ पद, दोहा, श्लोक, प्रबन्ध, धाटी, मुद्रा, आदि अनेक छन्द, बीरभाटी (वीरश्री का भाषण) और विनोद, अवसर देख कर, करना चाहिए ॥ १४ ॥ नाना प्रकार के नवरसिक, शृंगारिक गद्य, पद्य के कौतुक, और अनेक भांति के प्रास्ताविक वचन, शास्त्र के आधार से, बतलाना चाहिए ॥ १५ ॥ भक्ति, ज्ञान और वैराग्य के लक्षण: नीति, न्याय और स्वधर्म की रक्षा का उपाय; साधन-मार्ग और आध्यात्म-निरूपण- ये सब अच्छी तरह से बतलाना चाहिए ॥ १६ ॥ मौका के अनुसार हरि की कथा कहना चाहिए-सगुणोपासक लोगों में सगुण परमात्मा की कीर्ति का वर्णन करना चाहिए और निर्गुण का अवसर आ जाने पर आध्यात्म-विद्या पर व्याख्यान करना चाहिए ॥ १७ ॥ पूर्वपक्ष को छोड़ कर, नियम के साथ, सिद्धान्त का निरूपण करना चाहिए, अपना कथन लोगों के सामने व्यवस्थित रीति से रखना चाहिए ॥ १८ ॥ वेदों का पारायण करना चाहिये, लोगों को पुराण सुनाना चाहिए तथा माया और ब्रह्म का खुलासा, पूरे तौर पर, करना चाहिए ॥ १९ ॥ ब्राह्मणत्व की, आदर के साथ, रक्षा करनी चाहिए। उपासना और भक्ति के साधन तथा गुरु-परम्परा स्थिर रखना चाहिए ॥ २० ॥ हरिकीर्तन में वैराग्य की रक्षा करना चाहिए तथा ज्ञान के लक्षण भी न छूटने देना चाहिए। परम चतुर और विलक्षण पुरुष सभी कुछ सम्हालते हैं ॥ २१ ॥ कीर्तन में ऐसा कुछ कथन न करना चाहिए कि जिससे सुननेवालों के मन का सत्य समाधान डिग जाय और सन्देह आ जाय। कीर्तन में नीति-न्याय के साधनों की भी रक्षा करना चाहिए ॥ २२ ॥ सगुण परमात्मा के गुणानुवाद कहने को कीर्तन कहते हैं और अद्वैत के विवरण करने को अध्यात्म-निरूपण कहते हैं। जब कभी निर्गुण का निरूपण करना हो तब परमात्मा की सगुणता की भी रक्षा करना चाहिए, (अर्थात् आध्यात्म-निरूपण करते समय सगुण का खण्डन न करना चाहिए)॥ २३ ॥ वक्तृता के लिए अधिकार चाहिए, अल्पज्ञ पुरुष सत्य व्याख्यान नहीं दे सकता; अतएव यथार्थ में वक्ता अनुभवी चाहिए ॥ २४ ॥ किसीका खंडन न करते हुए, और वेद की आज्ञा का मण्डन करते हुए, ऐसा ज्ञान बतलाना चाहिए जिससे सारे मनुष्य सदाचार में प्रवृत्त हों ॥ २५ ॥ अस्तु। सब वाद-विवादों को छोड़ कर परमात्मा के गुणानुवाद का कीर्तन करना चाहिए-इसीका नाम है भगद्भजन और यही दूसरी भक्ति है ॥ २६ ॥ भगवान् के गुणों का कीर्तन

करने से बड़े बड़े पाप कट जाते हैं और उत्तम गति मिलती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि कीर्तन-भक्ति से अवश्य भगवत्प्राप्ति होती है ॥ २७ ॥ कीर्तन से वाणी पवित्र होती है, सत्पात्रता आती है और सारे मनुष्य सुशील, या सदाचरणी, बनते हैं, ॥ २८ ॥ कीर्तन से मन की चञ्चलता जाती है, बुद्धि स्थिर होती है और श्रोता-वक्ता, दोनों का, सन्देह दूर होता है ॥ २९ ॥ ब्रह्मपुत्र नारदजी सदा सर्वदा हरिकीर्तन करते रहते हैं; इसी कारण उन्हें स्वयं नारायण की पदवी मिली है ॥ ३० ॥ अतएव कीर्तन की महिमा अगाध है, कीर्तन से परमात्मा प्रसन्न होता है, जहां भगवान् के गुणानुवाद का कीर्तन होता है वहीं सारे तीर्थ, और स्वयं वह जगदात्मा, निवास करता है ॥ ३१ ॥

तीसरा समास—स्मरणभक्ति।

॥ श्रीराम ॥

पिछले समास में सब को पावन करनेवाली कीर्तनभक्ति का वर्णन किया अब विष्णु-स्मरण नामक तीसरी भक्ति सुनियेः—॥ १ ॥ मन में ईश्वर का स्मरण करना चाहिए, उसके अनन्त नामों का, अखंड रीति से, जप करना चाहिए—नामस्मरण से समाधान मिलता है ॥ २ ॥ नित्य, नियम के साथ, सुबह, दोपहर को, सन्ध्या-समय, और सदासर्वदा, अर्थात् अखंड, नामस्मरण करते रहना चाहिए ॥ ३ ॥ सुख, दुःख, उद्वेग और चिन्ता के समय, अथवा आनन्दरूप होने पर, या किसी समय, भी नामस्मरण के बिना न रहना चाहिए ॥ ४ ॥ हर्ष के समय, दुःख के सयम, पर्व आदि का उत्सव करते समय, किसी शुभ–कार्य का प्रस्ताव करते समय, विश्राम के समय और निद्रा के समय नामस्मरण करना चाहिए ॥ ५ ॥ संकट के समय, गृहस्थी की अनेक झंझटों के समय, अथवा किसी दुर्दशा के आने पर तुरन्त ही नामस्मरण करना चाहिए ॥ ६ ॥ चलते, बोलते, काम करते, खाते, पीते, सुखी होते, और नाना प्रकार के उपभोग भोगते समय भी परमात्मा का नाम न भूलना चाहिए ॥ ७ ॥ संपत्ति हो, चाहे विपत्ति हो और चाहे जैसी कालगति आ पड़े, परन्तु नामस्मरण कभी न छोड़ना चाहिए ॥ ८ ॥ वैभव, सामर्थ्य, सत्ता, अनेक पदार्थ और बड़े बड़े सुख भोगते समय भी नामस्मरण न छोड़ना चाहिए ॥ ९ ॥ पहले बुरी दशा हो,

फिर अच्छी दशा हो, अथवा अच्छी दशा के बाद बुरी दशा हो–चाहे जैसा प्रसंग हो परन्तु नाम न छोड़ना चाहिए ॥१०॥ भगवान् के नामों का स्मरण करने से संकट नाश होते हैं, विघ्न दूर होते हैं, और सद्गति मिलती है ॥ ११ ॥ भूत, पिशाच, नाना बाधाएं: ब्रह्मग्रह, ब्रह्मराक्षस, मंत्र-भ्रष्टता और नाना प्रकार के खेद नामस्मरण से नाश होते हैं ॥१२॥ अखंड भगवन्नाम-स्मरण से विषबाधा दूर होती है, सम्पूर्ण रोग दूर होते हैं और अंतकाल में उत्तम गति मिलती है ॥१३॥ बालपन में, युवा-अवस्था में कठिन समय में, बुढापे में, सब समय में, और अंत में, नामस्मरण रहना चाहिए ॥ १४ ॥ नामस्मरण की महिमा शंकर अच्छी तरह जानते हैं। वे काशी में राम-नाम का उपदेश करते रहते हैं। रामनाम ही की बदौलत काशी को लोग मुक्तिक्षेत्र कहते हैं ॥१५॥ 'राम राम' उलटा नाम 'मरा मरा' जप कर वाल्मीकि सहज ही मुक्त होगये और उन्हें इतना ज्ञान होगया कि सौ करोड़ श्लोकों में श्रीरामचन्द्रजी का चरित्र, उनके अवतार के पहले ही, रच लिया ॥ १६ ॥ परमात्मा के 'हरि' नाम का जप करके प्रल्हाद मुक्त होगये, अनेक प्रकार संकटों से बचे और 'नारायण' नाम जप कर पापी अजामिल भी पवित्र होगया ॥ १७ ॥ नामस्मरण से पाषाण के जड़जीव तक तिर गये! असंख्य भक्तों का उद्धार होगया और महापापी भी परम पवित्र होगये ॥ १८ ॥

परमेश्वर के अनन्त नाम, नित्य-नियपूमर्वक, स्मरण करने से लोग तिर जाते हैं। नामस्मरण करने से यमयातना का डर नहीं रहता ॥१९॥ उसके हजारों नामों में से किसी एक ही नाम का भी स्मरण करने से जीवन सुफल हो जाता है, नामस्मरण करने से मनुष्य पुण्य-श्लोक बन जाता है ॥२०॥ मनुष्य कुछ न करे, सिर्फ 'राम' यह नाम जपे, तो इतने ही से वह चक्रपाणी, परम रक्षक परमेश्वर, प्रसन्न होकर भक्त को सँभालता है ॥२१॥ जो सदा नामस्मरण करता है वह पुण्यात्मा है। 'राम' नाम से महा पापों के पर्वत नाश होते हैं ॥२२॥ भगवन्नामस्मरण की महिमा अगाध है-वर्णन नहीं की जा सकती! नामस्मरण से बहुत लोक मुक्त हो गये–स्वयं महादेव जी भी जब हलाहल से व्याकुल हुए तब 'राम'नाम ही जप कर उस संकट से बचे ॥२३॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री, पुरुष, सब को नामस्मरण का अधिकार है। नामस्मरण के लिए छोटे-बड़े का विचार नहीं है। नामस्मरण से जड़ और मूढ़ भी तिर जाते हैं ॥२४॥ अतएव परमेश्वर के नामों का अखण्ड रीति से स्मरण करना चाहिए और भगवान् के रूप का मन में ध्यान करना चाहिए, यही तीसरी भक्ति है ॥ २५ ॥

चौथा समास--पादसेवनभक्ति ।

॥ श्रीराम ॥

पिछले समास में स्मरणभक्ति का निरूपण किया गया । अब पादसेवन नामक चौथी भक्ति सुनिए ॥ १ ॥ मोक्ष की इच्छा रख कर तन-मन और वचन से सद्गुरु के चरणों की सेवा करना ही पादसेवनभक्ति है ॥ २ ॥ जन्म मरण की यातनाएं दूर करने के हेतु सद्गुरु के चरणों में अनन्यता रखने का ही नाम पादसेवन है ॥ ३ ॥ सद्गुरु-कृपा के बिना इस संसार में पार होने के लिए कोई उपाय नहीं है । इस कारण प्रेमपूर्वक सद्गुरु-चरणों की सेवा करनी चाहिए ॥ ४ ॥ सद्गुरु सम्पूर्ण सारासार का विचार करा कर, परमात्मदर्शन करा देता है ॥ ५ ॥ वस्तु (ब्रह्म) दृष्टि से देख नहीं पड़ती; मन को भास नहीं होतो और संगत्याग के बिना अनुभव में नहीं आती । अनुभव यदि लेना चाहें तो संगत्याग नहीं होता; और संगत्याग से अनुभव नहीं आता--ये बातें अनुभवी ही को भास होती हैं, औरों के लिए तो कोरी गाथा है* ॥ ६ ॥७ ॥ संगत्याग, आत्मनिवेदन, विदेहस्थिति, अलिप्तता सहजास्थिति, उन्मनी और विज्ञान ये सातों एक रूप हैं ॥ ८ ॥ इनके सिवा और भी नाम हैं । उन्हें समाधान के संकेतवचन कहना चाहिए । साधु-चरणों की सेवा करने से सब मालूम हो जाता है ॥ ९ ॥ वेद, वेदों का रहस्य, वेदान्त; सिद्ध-भाव, सिद्धान्त का रहस्य; अनुभव, अनुभव की बात, अनुभव का फल, और सत्य वस्तु (ब्रह्म) आदि, बहुत से अनुभव के द्वार हैं--अर्थात् इन सब द्वारों का ज्ञान प्राप्त हो जाने से अनुभव आता है और यह ज्ञान संतों की सेवा करने से मिलता है; अतएव इस चौथी भक्ति (सन्तसेवा) के योग से गौप्य (परब्रह्म) प्रकट हो जाता है ॥१०॥ ॥११॥ वह प्रकट होते हुए गौप्य है और गौप्य होते हुए भी प्रकट है--और वह 'गौप्य' तथा प्रकट दोनों से अलग है । उसका मार्ग--उसके जानने का उपाय--गुरुगम्य है; अर्थात् महात्माओं की सेवा के बिना--चौथी भक्ति किए बिना--उसका मार्ग मिल नहीं सकता ॥ १२ ॥ मार्ग है; पर वह

---

* यदि अनुभव लेना चाहें तो संगत्याग (अर्थात् अहंकार, अभिमान और देहबुद्धि का त्याग) नहीं होता; क्योंकि अनुभव लेने की इच्छा करते ही अनुभव अनुभव लेनेवाला, और अनुभव लेने योग्य विषय--ये तीन संग लगते हैं; अच्छा अगर ये तीनों छोड़ दें तो 'अनुभव' शब्द भी छूटा जाता है; क्योंकि उसी त्रिपुटी में यह भी है; इसके अतिरिक्त एक बात और है, कि जब अहंकार का भाव ही नहीं तब अनुभव कैसा और उसे ले कौन ? सारांश ये बातें अनुभवी ही जानते हैं; दूसरे के लिए तो कोरी गाथा है ।

आकाश की तरह शून्य है—गुप्त है—वह सब प्रकार से शंकापूर्ण है; और यदि उस अलक्ष को देखने जाते हैं तो वह देख नहीं पड़ता ॥ १३ ॥ लक्ष से जिसे लखते हैं, ध्यान से जिसे ध्याते हैं; वही (परब्रह्म) त्रिविधा प्रतीति से—अर्थात् शास्त्र, गुरु और आत्मा, तीनों का अनुभव एक करके—स्वयं हो जाना चाहिए ॥ १४ ॥ अस्तु। ये अनुभव के द्वार सार—असार—विचार से मालूम होते हैं और सत्य बात सत्संग से अनुभव में आती है ॥१५॥ यदि सत्य देखने जाते हैं तो असत्य का अभाव पाया जाता है और यदि असत्य देखने जाते हैं तो सत्य नहीं दिखाता; क्योंकि सत्यासत्य का देखना देखनेवाले के पास है ॥ १६ ॥ देखनेवाला जिसे देखने लगता है उसी के रूप में जब वह हो जाता है—अर्थात् द्रष्टा; दर्शन और दृश्य, ये तीनों: जब एक हो जाते हैं तब फिर समाधान प्राप्त होता है ॥ १७ ॥ कैसा हो समाधान क्यों न हो, वह सद्गुरु से ही मिलता है—सद्गुरु के बिना कदापि सन्मार्ग नहीं मिल सकता ॥१८॥ नाना प्रकार के प्रयोग, साधन, परिश्रम, उद्योग, और विद्याभ्यास, अथवा किसी प्रकार के अभ्यास से भी, गुरुगम्य मार्ग नहीं मिल सकता ॥ १९ ॥ जो अभ्यास से नहीं आ सकता, जो साधन से नहीं साध्य हो सकता, वह भला सद्गुरु के बिना क्यों मालूम होने लगा? ॥ २० ॥ इस लिए ज्ञानमार्ग जानने के लिए सत्संग ही करना चाहिए—इसके बिना उसकी बात ही न करो ॥२१॥ सद्गुरु के चरणों की सेवा करना चाहिए—इसीका नाम पादसेवन है—यही चौथी भक्ति है॥ २२ ॥ जनरूढि की दृष्टि से, देव, ब्राह्मण, महानुभाव; सत्पात्र और भजन के तईं दृढ़तापूर्वक सद्भाव रखना भी ' सेवा-भक्ति ' है; परन्तु वास्तव में सद्गुरु के ही चरणों की सेवा करने का नाम पादसेवन है ॥ २३॥ ॥२४ ॥ यह पादसेवन नाम की चौथी भक्ति तीनों लोक को पावन करती है और इससे साधक को सायुज्य मुक्ति मिलती है ॥ २५ ॥ अतएव, चौथी भक्ति का निर्णय बड़े महत्त्व का है—इससे अनेक मनुष्य तिरते हैं ॥ २६ ॥

पाँचवाँ समास—अर्चनभक्ति।

॥ श्रीराम ॥

अभी चौथी भक्ति का लक्षण बतलाया, अब सावधान होकर पाँचवीं भक्ति सुनिये ॥ १ ॥ पांचवीं भक्ति का नाम अर्चन है। ' अर्चन ' देवतार्चन को कहते हैं—अर्थात् शास्त्रों के अनुसार भगवान् की पूजा करना

चाहिए ॥ २ ॥ नाना प्रकार के आसन तथा अन्य सामग्री, वस्त्र अलंकार, भूषण, आदि के सहित मानसपूजा, और मूर्ति का ध्यान करना, पांचवीं भक्ति है ॥ ३ ॥ देव, ब्राह्मण और अग्नि की पूजा करना, साधुसंत और अतिथि-अभ्यागत की पूजा करना, यती, महानुभाव और गायत्री की पूजा करना पांचवीं भक्ति है ॥ ४ ॥ धातु, पाषाण और मृत्तिका की मूर्तियों का पूजन, चित्र-लिखित मूर्ति और सत्त्व का पूजन, और अपने घर के देवताओं का पूजन करना पांचवी भक्ति (अर्चन) है ॥ ५ ॥ सप्त-अंकित और नव-अंकित शिलाएँ, शालिग्राम, शकल, चक्रअंकित लिंग, सूर्यकांत, सोमकांत, बाण-तांडल, नर्मदेश्वर, आदि मूर्तियों की पूजा करनी चाहिए ॥ ६ ॥ भैरव, भगवती, खंडेराव, मुंजा, नृसिंह, बनशंकरी, नाग, सिके, आदि अनेक देवमूर्तियों और पंचायतन की पूजा करनी चाहिए ॥ ७ ॥ गणेश, शारदा, विठ्ठल, बालकृष्ण, जगन्नाथ, तांडवमूर्ति, श्रीरंग, हनुमंत और गरुड की मूर्तियां देवतार्चन में पूजना चाहिए ॥ ८ ॥ मत्स, कूर्म और वराह की मूर्ति, नृसिंह, वामन और भार्गव की मूर्ति, रामकृष्ण और हय-ग्रीव की मूर्ति देवतार्चन में पूजना चाहिए ॥ ९ ॥ केशव, नारायण और माधव की मूर्ति, गोविन्द, विष्णु और मधुसूदन की मूर्ति, त्रिविक्रम, वामन और श्रीधर की मूर्ति तथा हृषीकेश और पद्मनाभि की मूर्ति पूजना चाहिए ॥ १० ॥ दामोदर, संकर्षण और वासुदेव की मूर्तियां, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और पुरुषोत्तम की मूर्तियां, अधोक्षज, नारसिंह और अच्युत की मूर्तियां तथा जनार्दन और उपेन्द्र की पूजा करना चाहिए ॥ ११ ॥ हरि और हर की अनन्त मूर्तियां, भगवान्, जगदात्मा और जगदीश की मूर्तियां, शिव और शक्ति की अनन्त मूर्तियां देवतार्चन में पूजना चाहिए ॥१२॥ अश्वत्थ नारा-यण, सूर्यनारायण, लक्ष्मीनारायण, त्रिमल्लनारायण, श्रीहरिनारायण, आदि-नारायण और शेषशायी परमात्मा की मूर्तियां पूजना चाहिए ॥ १३ ॥

इस प्रकार सारे जगत् में परमेश्वर की अनन्त मूर्तियां है-सब का अर्चन करना पांचवीं भक्ति है ॥ १४ ॥ इसके अतिरिक्त, कुलधर्म के अनुसार, उत्तम-मध्यम रीति से, अनेक देवी-देवताओं की भी पूजा करते रहना चाहिए-किसीको छोड़ना न चाहिए ॥ १५-१६ ॥ अनेक तीर्थक्षेत्रों को जाना चाहिए और वहां के देवताओं की पूजा करनी चाहिए-नाना प्रकार की सामग्रियों से परमेश्वर का अर्चन करना चाहिए ॥ १७ ॥ पंचामृत, चन्दन, अक्षत, पुष्प-धूप, दीप, कपूर, आदि अनेक परिमल-द्रव्यों से भग-वान् की पूजा करनी चाहिए ॥ १८ ॥ नाना प्रकार के भोजनों की सुन्दर नैवेद्य, अनेक फल, तांबूल, दक्षिणा, अनेक प्रकार के अलंकार, दिव्य वस्त्र और वनमाला आदि सामग्रियां भगवान् को अर्पण करनी चाहिए ॥ १९ ॥

पालकी, छत्र, सुखासन, मेघाड़म्बर, सूर्यमुखी, पताका, निशान, आदि सामग्री, वीणा, कर-ताल, झांझ, मृदंग, आदि नाना प्रकार के वाद्य, इत्यादि की धूमधाम से भगवान् के उत्सव करने चाहिए और भक्तिभावपूर्वक अनेक सन्तों तथा कीर्तनकारों का गान कराना चाहिए, इससे भगवान् में सद्भाव बढ़ता है ॥ २०-२१ ॥ वापी, कूप, सरोवर, देवालय शिखर, राजांगण, तुलसीवन, भुँहेरे बनवाना चाहिये ॥ २२ ॥ मठ, मठियां, धर्मशाला, देवस्थान में निवासस्थान बनवाना चाहिए और सत्ताईस मोतियों की माला, तथा अनेक प्रकार के वस्त्र, आदि नाना प्रकार की सामग्री जोड़ना चाहिए ॥ २३ ॥ अनेक प्रकार के पड़दे, मंडप, चँदोवे और नाना प्रकार के रत्न, तोरण, घंटा, हाथी, घोड़े और गाड़ियां अनेक देवालयों में समर्पण करना चाहिए ॥ २४ ॥ अलंकार और अलंकार-पात्र, द्रव्य और द्रव्य-पात्र, अन्न-उदक के पात्र, भांति भांति के समर्पण करना चाहिए ॥२५॥ वन, उपवन, पुष्प-वाटिका और तपस्वियों की पर्णकुटियां बनवाना चाहिए। यही सब भगवान् की पूजा है ॥ २६ ॥ शुक, सारिका, मोर, बदक, चक्रवाक, चकोर, कोकिला, चित्तल, हिरन, बारहसिंहा देवालय को समर्पण करने चाहिए ॥ २७ ॥ कस्तूरिया हिरन, बिल्लियां, गाय, भैंस, बैल, बन्दर, नाना प्रकार के पदार्थ और लड़के देवालय में समर्पित करना चाहिए ॥ २८ ॥

इस प्रकार तन, मन, वचन, चित्त, वित्त, जीव, प्राण और सद्भाव से, भगवान् का अर्चन करना चाहिए-इसीका नाम अर्चनभक्ति है ॥ २९ ॥ इसी रीति से सद्गुरु का भी पूजन करके, उनके शरण में अनन्य रहना चाहिए ॥ ३० ॥ यदि उपर्युक्त प्रकार से सांगोपांग पूजा न बन पड़े तो परमेश्वर की मानसपूजा तो अवश्य ही करनी चाहिए। मानसपूजा का बड़ा महत्त्व है ॥ ३१ ॥ मानसपूजा का लक्षण यह है कि मन ही मन में अपना रूप, भगवान् का रूप और सम्पूर्ण पूजन-सामग्री कल्पित करके परमात्मा का अर्चन करना चाहिए ॥ ३२ ॥ मानस-पूजा में जिस जिस पदार्थ की अपने को जरूरत हो-उस उसकी कल्पना करके परमेश्वर को अर्पण करना चाहिए ॥ ३३ ॥

छठवाँ समास—वन्दन भक्ति।

॥ श्रीराम ॥

पिछले समास में पाँचवीं भक्ति 'अर्चन' के लक्षण बतलाये, अब 'वन्दन' नामक छठवीं भक्ति सुनिये ॥ १ ॥ ईश्वर, संत-साधु और सज्जनों को नमस्कार करना वन्दनभक्ति है ॥ २ ॥ सूर्य, ईश्वर और सद्गुरु को साष्टांग भाव से नमस्कार करना चाहिए ॥ ३ ॥ अनेक देवताओं की प्रतिमाओं को, ईश्वर को और गुरु को साष्टांग प्रणाम कहा है और दूसरों को, उनके अधिकार के अनुसार, नमन करना चाहिए ॥४॥ छप्पन कोटि (योजन ?) विस्तार की पृथ्वी में विष्णु की अनन्त मूर्तियां रहती हैं—उनको प्रीतिपूर्वक साष्टांग नमस्कार करना चाहिए ॥५। महादेव, विष्णु, सूर्य और हनुमान के दर्शन से पाप कटते हैं, तथा नित्य-नियम से, इनको नमस्कार करने से विशेष पुण्य होता है ॥ ६ ॥

शंकरः शेषशायी च मार्तंडो मारुतिस्तथा ॥
एतेषां दर्शनं पुण्यं नित्यनेमे विशेषतः ॥ १ ॥

भक्त, ज्ञानी, वीतरागी, महानुभव, तापसी, योगी और सत्पात्र को देख कर तत्काल नमस्कार करना चाहिए ॥ ७ ॥ वेदज्ञ, शास्त्रज्ञ, सर्वज्ञ, पंडित, पौराणिक, विद्वज्जन, याज्ञिक, वैदिक और पवित्र जनों को नमस्कार करते रहना चाहिए ॥ ८ ॥ जिसमें कोई विशेष गुण देख पड़े उसी में सद्गुरु का अधिष्ठान है; अतएव, अति आदर से, उसको नमन करना चाहिए ॥९॥ गणेश, सरस्वती, शक्ति, विष्णु और शिव की अनन्त मूर्तियां हैं—कहां तक बतलाऊं—उन सब को, प्रेमपूर्वक, नमस्कार करना चाहिए ॥ १० ॥ सब देवताओं को जो नमस्कार किया जाता है वह एक भगवान् को मिलता है—इसी अर्थ में एक वचन कहा है; वह सुनिये ॥ ११ ॥

आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम् ॥
सर्वदेवनमस्कारः केशवंप्रति गच्छति ॥ १ ॥

अतएव, सब देवताओं को, बड़े आदर के साथ, नमस्कार करना चाहिए। देवताओं को परमात्मा का अधिष्ठान मानने से परम सुख होता है ॥ १२ ॥ जैसे देवता लोग परमात्मा के अधिष्ठान हैं वैसे ही सत्पात्र लोग सद्गुरु के अधिष्ठान हैं, इस लिए इन सब को नमस्कार करना चाहिए ॥ १३ ॥ नमस्कार से लीनता आती है, नमस्कार से विकल्प नाश होता है, और नमस्कार से अनेक प्रकार के सज्जनों से मित्रता होती है ॥१४॥ नमस्कार से दोष जाते हैं, नमस्कार से अन्याय क्षमा होते हैं और नमस्कार से सन्देह

में तत्पर रहना चाहिए ॥ २३ ॥ देवस्थान लींपपोत कर स्वच्छ रखना चाहिए, जल-पात्रों में जल भरना चाहिए और वस्त्र सुन्दर स्वच्छ रखना चाहिए ॥२४॥ सब की फिकर रखना चाहिए, आये हुए का सत्कार करना चाहिए, यही सत्य सातवीं भक्ति है ॥ २५ ॥ नाना प्रकार की स्तुति और करुणा से पूर्ण ऐसे वचन बोलना चाहिए कि जिनसे मनुष्यमात्र का चित्त प्रसन्न हो ॥ २६ यह सातवीं दास्यभक्ति यथामति बतलाई गई । जैसे भगवान की वैसे ही सद्गुरु की भी सेवा करनी चाहिए। यदि प्रत्यक्ष न बन पड़े तो मानस-पूजा की ही तरह यह दास्यभक्ति भी करनी चाहिए ॥२७॥२८॥

आठवाँ समास—सख्यभक्ति।

॥ श्रीराम ॥

अभी सातवीं भक्ति का लक्षण बतलाया गया; अब, सावधान होकर, आठवीं भक्ति सुनो ॥ १ ॥ आठवीं भक्ति 'सख्य' का मुख्य लक्षण यह है कि परमात्मा को परम मित्र बनाना चाहिए, उसे प्रेम और प्रीति से वश में कर लेना चाहिए ॥ २ ॥ परमेश्वर से मित्रता करने का मुख्य उपाय यह है कि जो बातें उसे अच्छी लगती हों उन्हीं के अनुसार आचरण करना चाहिए ॥ ३ ॥ भक्ति, भाव, भजन, आध्यात्म-निरूपण, भगवत्कथा, भगवद्गुण-कीर्तन और प्रेमी भक्तों का गान परमेश्वर को अच्छा लगता है ॥४॥ यही सब बातें हमें भी करना चाहिए, हमें भी यही अच्छा लगना चाहिए; इससे भगवान् का और हमारा मन मिल जायगा; और बस, दोनों की दोस्ती, सहज ही, हो जायगी ॥ ५ ॥ परमात्मा की मैत्री प्राप्त करने के लिए अपने सारे सुखों को तिलाञ्जलि दे देना चाहिए और, अनन्य भाव से, जीव, प्राण तथा शरीर तक उसे अर्पण कर देना चाहिए ॥६॥ अपनी गृहस्थी की झंझट छोड़ कर भगवान् की चिन्ता करते रहना चाहिए। निरूपण, कीर्तन, कथा, वार्ता, सब, ईश्वर-सम्बन्धी ही करना चाहिए ॥ ७ ॥ जगदीश्वर से मित्रता करने में यदि अपने इष्टमित्र, बन्धु-बान्धव, कुटुम्बी, इत्यादि प्रेमियों को भी छोड़ना पड़े तो कोई परवा नहीं—उसे सर्वस्व अर्पण कर देना चाहिए और अन्त में प्राण भी उसी के प्रीत्यर्थ जाना चाहिए ॥ ८ ॥ हृदय से भगवान में ऐसा प्रेम चाहिए कि हमारा सर्वस्व क्यों न जाय; परन्तु भगवान की मित्रता न छूटे। भगवान ही हमारा 'प्राण' है और प्राण की रक्षा करना हमारा कर्तव्य है—यह परम

प्रीति का लक्षण है ॥ ९ ॥ १० ॥ ऐसी परम मित्रता होने पर परमेश्वर को भक्त की चिन्ता लगती है। देखिये न! लाक्षागृह में जलते हुए पाण्डवों को विवरद्वारा निकाल कर, उसने कैसी रक्षा की! ॥ ११ ॥ मित्ररूप में परमात्मा को अपने पास रखने की कुंजी हमारे ही पास है। जिस प्रकार पोली जगह में जैसी हम आवाज करते हैं वैसी ही प्रतिध्वनि आती है उसी प्रकार, हम यदि परमात्मा पर अनन्य भाव रखते हैं तो वह भी, उसी समय, प्रसन्न हो जाता है और यदि हम उसकी ओर से कुछ पराङ्मुख होते हैं तो वह भी हमारी ओर से पराङ्मुख हो जाता है ॥ १२ ॥ १३ ॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥

जो जैसी भक्ति करता है वैसा ही परमेश्वर भी उसके लिए हो जाता है; अतएव इसकी सारी कुंजी हमारे ही पास है ॥ १४ ॥ यदि हमारे मन के अनुकूल कोई बात न हो, और इससे ईश्वर की हमारी भक्ति चली जाय तो इसका भी दोष हमारे ही ऊपर है ॥ १५ ॥ देखिये न, मेघ यद्यपि चातक पर प्रसन्न नहीं होता, तो भी चातक अपना निश्चय नहीं छोड़ता। तथा चन्द्र यद्यपि समय पर नहीं उगता तो भी चकोर उससे अनन्य भाव रखता ही है ॥ १६ ॥ ऐसी मित्रता रखनी चाहिए। विवेक से धैर्य रखना चाहिए और भगवान् की ममता कभी न छोड़नी चाहिये ॥ १७ ॥ भगवान् को सखा मानना चाहिए। इतना ही नहीं, वरन् माता, पिता, गण, गोत, विद्या, लक्ष्मी, धन, वित्त, सब कुछ, परमात्मा ही को जानना चाहिए ॥१८॥ यह तो सभी कहते हैं कि ईश्वर को छोड़ कर हमारे लिए और कोई नहीं है; परन्तु उनकी निष्ठा कुछ वैसी ही नहीं होती! ॥ १९ ॥ अतएव ऐसा न करना चाहिए-(यह तो कपट-मैत्री हुई)-मित्रता करनी है तो फिर सच्ची ही करनी चाहिए-परमेश्वर को, दृढ़तापूर्वक, हृदय में रखना चाहिए ॥ २० ॥ अपनी इच्छा के सम्बन्ध से (इच्छा पूर्ण न होने पर), ईश्वर पर क्रोध करना सख्यभक्ति का लक्षण नहीं है ॥ २१ ॥ किन्तु ईश्वर की जैसी इच्छा हो वही करना हमें उचित है। इच्छा के कारण भगवान् को क्यों छोड़ना चाहिए? ॥२२॥ भगवान् की इच्छा के अनुकूल बर्ताव करना चाहिए, और वह जो कुछ करे उसका सानन्द स्वीकार करना चाहिए, उससे सहज ही वह दया दिखलाता है ॥२३॥ ईश्वर की कृपा के सामने माता की कृपा कोई चीज़ नहीं। माता तो विपत्तिकाल आने पर, बालक को मार भी डालती है ॥ २४ ॥ परन्तु यह कभी देखा या सुना नहीं गया कि ईश्वर ने किसी भक्त को मार डाला हो। शरणागत के लिए ईश्वर वज्र का पिंजरा, अर्थात् प्रबल रक्षक, बन जाता है ॥ २५ ॥ परमात्मा भक्तों का पक्षपाती है,

वह पतितों को तारता है और अनाथों का सहकारी बनता है ॥ २६ ॥ भगवान् अनाथों की, अनेक संकटों से, रक्षा करता है। उस अन्तर्साक्षी परमात्मा ने गजेन्द्र का भी उद्धार किया था ॥ २७ ॥ ईश्वर कृपा का सागर और करुणा का मेघ है, वह भक्तों को कभी नहीं भूल सकता ॥ २८ ॥ भक्त पर प्रेम रखना परमेश्वर ही जानता है, अतएव उससे सख्यत्व करना चाहिए। ये सब कुटुम्बी बड़े छलिया हैं-ये अन्त में काम नहीं आते ॥ २९ ॥ ईश्वर की मित्रता कभी नहीं छूटती-उस के प्रेम में कभी फर्क नहीं पड़ता और शरणागत की वह कभी उपेक्षा नहीं करता ॥ ३० ॥ अतएव ईश्वर से सख्य करना चाहिए-उससे अपने दुःख-सुख की बात बतलाना चाहिए-यही आठवीं भक्ति का लक्षण है ॥३१॥ शास्त्र में परमात्मा और गुरु दोनों बराबर कहे गये हैं: अतएव परमात्मा की तरह सद्गुरु से भी मित्रता करनी चाहिए ॥ ३२ ॥

नववाँ समास—आत्मनिवेदन-भक्ति।

॥ श्रीराम ॥

पीछे आठवीं भक्ति का वर्णन किया गया। अब सावधान होकर नववीं भक्ति सुनिए ॥ १ ॥ नववीं भक्ति का नाम आत्म-निवेदन है। अब इसे स्पष्ट कर के बतलाते हैं ॥२॥ आत्मनिवेदन का लक्षण यह है कि स्वयं अपने को परमात्मा के अर्पण करना चाहिए। यह बात (आत्मनिवेदन करना) तत्त्व-विवरण करने से मालूम होगी ॥ ३ ॥ स्वतः अपने को 'भक्त' कहना और 'विभक्त' रह कर ईश्वर को भजना—यह बात विलक्षण है ! ॥ ४ ॥ लक्षण होकर विलक्षण, ज्ञान होकर अज्ञान और भक्त होकर विभक्त—इसी को कहते हैं ॥ भक्त वही है जो विभक्त न हो और विभक्त वही है जो भक्त न हो—इस विरोध-भाव का विचार किये बिना कभी सन्तोष नहीं मिल सकता ॥६॥ इस लिए विचार करना चाहिए; ईश्वर को पहचानना चाहिए; अन्तःकरण में स्वयं अपने को ढूंढ़ना चाहिए ॥ ७ ॥ तत्त्व का विचार करके जब इसका फैसला किया जाता है, कि "मैं" कौन है, तब साफ मालूम हो जाता है "मैं" कोई चीज नहीं ॥ ८ ॥ विवेक से जब यह मालूम हो जाता है कि तत्त्व तत्त्वों में मिल जाते हैं, तब 'मैं' कहां बचता है? यही आत्मनिवेदन है* ॥९॥ यह सब तत्वरूप भासमान है: विवेक से देखने पर

* प्रकृति-नियम के अनुसार जब यह पंचतत्त्वात्मक शरीर पंचतत्त्वो में मिल जाता है तब 'मैं' कहां बचता है—अर्थात् मनुष्य जिसको 'मैं' कहता है वह तो बचता नहीं; किन्तु इस शरीर के पांचो तत्त्व, एक एक करके, पांचों में मिला देने से जो कुछ बचता है वह आत्मरूप "मैं" है और उसीको पहचानना आत्मनिवेदन है।

सब का निरसन हो जाता है। प्रकृति का निरसन करने से, अर्थात् उसे अलग कर देने से, आत्मा रह जाती है- वहां ' मैं ' कहां से आया? ॥१०॥ एक तो मुख्य परमेश्वर है और दूसरी जगत् के आकार में प्रकृति है-अर्थात् माया और ब्रह्म दो तो हैं ही—तीसरा " मैं " चोर बीच में कहां से ले आये ? ॥ ११ ॥

इतना यह सिद्ध होने पर भी इस झूठी देह की अहंता बीच में लगती है; परन्तु विचार से देखने पर कुछ भी नहीं है ॥ १२ ॥ तत्व-विचार से देखने पर जान पड़ता है कि यह पिंड-ब्रह्मांड केवल तत्व-रचना है । नाना प्रकार की व्यक्तियां, तत्वों से रची हुई, विश्व के आकार में फैली हुई हैं ॥१३॥ साक्षित्व से तत्वों का निरसन हो जाता है और आत्मानुभव से साक्षित्व, कुछ बनता नहीं; अतएव, आदि और अन्त में आत्मा ही है, तब फिर " मैं " कहां से आया* ? ॥ १४ ॥ आत्मा एक है; वह स्वानन्दघन है और ' अहं आत्मा ' यह वचन है; फिर वहां ' मैं ' भिन्न कहां से बचा? ॥ १५ ॥ " सोऽहं हंसा "-अर्थात् मैं वही केवल आत्मा हूं—इस वचन का भीतरी अर्थ देखना चाहिए; आत्मा का विचार करने से फिर वहां " मैं " कुछ नहीं रह जाता ! ॥१६॥ आत्मा निर्गुण और निरंजन है, इसके साथ अनन्यता होनी चाहिए। अनन्य का अर्थ है—" अन्य नहीं; " तब वहां ' मैं ' 'अन्य' कहां से आया ? ॥ १७ ॥ आत्मा अद्वैत है; वहां द्वैत अद्वैत कुछ नहीं है; अतएव वहां भला ' मैं '-पन की कल्पना कहां से रहेगी ? ॥ १८॥ आत्मा पूर्णता से परिपूर्ण है-वहां गुणागुण कुछ नहीं है । उस निखिल निर्गुण में " मैं " कौन और कहां से आया ? ॥ १९ ॥ त्वंपद, तत्पद, और असिपद के भेदाभेद का निरसन हो जाने पर, अर्थात् " तत्वमसि " (वह तू है,) यह महावाक्य सिद्ध हो जाने पर, शेष शुद्ध ब्रह्म रह जाता है; वहां ' मैं ' कहां से आया ? ॥ २० ॥

' जीवात्मा ' और ' शिवात्मा ' इन उपाधियों का निरसन करने पर जान पड़ता है कि पहले यही दो कहां से आये? स्वरूप में दृढ़बुद्धि होने पर फिर ' मैं ' कुछ नहीं रह जाता ॥२१॥ " मैं " मिथ्या है, ईश्वर सच्चा है। ईश्वर और ' भक्त ' दोनों अनन्य हैं-दोनों एक हैं। इस वचन का अभिप्राय अनु-

---

* ' मैं ' तत्वों का साक्षी है—इससे जान पड़ता है कि ' मैं ' तत्त्वों से भिन्न कुछ और ही है। मेरे ही प्रत्यक्ष प्रमाण से साबित हो जाता है कि ' मैं ' जो कुछ है वह तत्त्वों से अलग है। और आत्मप्रतीति हो जाने पर, अर्थात् " सर्वं खल्विदं ब्रह्म " का ज्ञान हो जाने पर, फिर प्रत्यक्ष प्रमाण बचता ही कहां है ? सारांश आदि अन्त में आत्मा एक ही है-' मैं ' उससे कोई भिन्न पदार्थ नहीं है।

सर्व जानते हैं ! ॥ २२ ॥ इसीको आत्मनिवेदन कहते हैं–यही ज्ञानियों का समाधान है ॥ २३ ॥ पंचभूतों में जैसे आकाश और सब देवताओं में जैसे जगत्पिता परमात्मा श्रेष्ठ है उसी प्रकार नवों भक्तियों में यह नवीं भक्ति श्रेष्ठ है ॥२४॥ नवीं भक्ति, (यह आत्मनिवेदन,) न होने से जन्म-मरण नहीं मिटता–यह वचन सत्य-सिद्ध है, इसमें कोई सन्देह नहीं ॥२५॥ अस्तु। यह नवधा (नव प्रकार की) भक्ति करने से सायुज्य मुक्ति मिलती है; सायुज्य मुक्ति का कल्पांत में भी नाश नहीं है ॥२६॥ शेष तीनों मुक्तियों का नाश है; परन्तु सायुज्य मुक्ति अचल है। तीनों लोकों का भी निर्वाण हो जाने पर सायुज्य मुक्ति बनी ही रहती है ॥२७॥ वेद, शास्त्र, आदि सारे सद्ग्रन्थ कुल चार मुक्तियां बतलाते हैं–उन में तीन का नाश हो जाता है और चौथी अविनाश रहती है ॥ २८ ॥ पहिली मुक्ति सालोक्य, दूसरी सामीप्य, तीसरी सारूप्य और चौथी सायुज्य है ॥ २९ ॥ ये चारों मुक्तियां, मनुष्य भगवद्भजन से पाते हैं ॥ ३० ॥

दसवाँ समास–सृष्टि-वर्णन और मुक्ति–चतुष्टय।

॥ श्रीराम ॥

आदि ब्रह्म निराकार है–वहां स्फूर्तिरूप से अहंकार उत्पन्न होता है, यह अहंकार पंचभूतों का मूल है, इसका विचार आठवें दशक में किया गया है ॥ १ ॥ वह अहंकार वायुरूप है। उसके बाद तेज (अग्नि) का स्वरूप है और उस तेज के आधार से, आप (जल) आवरणरूप, फैला हुआ है॥ उस जलावरण के आधार से शेष यह पृथ्वी धारण किये है। पृथ्वी छप्पन कोटि (योजन?) के विस्तार में है! ॥३॥ इसको सात समुद्र घेरे हुए हैं, बीच में बहुत बड़ा मेरु पर्वत है। और आठ दिग्पाल, जो इस पृथ्वी के परिवार-रूप हैं, दूर दूर से इसको घेरे हुए हैं ॥ ४ ॥ वह बड़ा भारी मेरु पर्वत सोने का है, पृथ्वी को उस का आधार है ? चौरासी हजार (योजन) की विस्तृत उसकी चौड़ाई है ॥५॥ उँचाई में तो वह अमर्यादित है। सोलह सहस्र योजन तक वह पृथ्वी में घुसा हुआ है (?) उस के आसपास लोकालोक पर्वत का घेरा है ॥ ६ ॥ उसके बाद हिमाचल है; जहां सब पांडव गल गये थे–सिर्फ (धर्म) युधिष्ठिर और तमालनील (कृष्ण ? या कुत्ते के रूप में धर्मराज ?) आगे गये हैं ॥ ७ ॥ वहां जाने के लिए मार्ग नहीं है; बीच में शीतल वायु से सुखी, बड़े बड़े सर्प फैले हुए हैं—वे भी

पर्वत से जान पड़ते हैं ॥ ८ ॥ उसके बाद बदरिकाश्रम और बदरीनारायण हैं । यहां महा तापसी, निर्वाण समय में, देहत्याग के अर्थ जाते हैं ॥ ९ ॥ उसके बाद ये बदरीनाथ—केदारनाथ हैं; जिनके दर्शन सब छोटे बड़े कर आते हैं; यह सब मेरु पर्वत का विस्तार है ! ॥ १० ॥ इस मेरु पर्वत की पीठ पर तीन ऊंचे ऊंचे शृंग हैं । उन पर, परिवार-सहित, ब्रह्मा, विष्णु और महेश रहते हैं ॥ ११ ॥ ब्रह्मा का शृंग, मेरुपर्वत ही की जाति का है; विष्णुशृंग मरकतमणि का है और शिवशृंग स्फटिकमणि का बना हुआ है; जिसे कैलास कहते हैं ॥ १२ ॥ विष्णुशृंग का नाम वैकुंठ है और ब्रह्मशृंग का नाम सत्यलोक है; तथा इन्द्र का स्थलः जिसका नाम अमरावती है; उन तीनों के बाद है ॥ १३ ॥

वहां गण, गंधर्व, लोकपाल, तेंतीस करोड़ देवता, इत्यादि, सब निवास करते हैं—इसी प्रकार चौदह लोक सुवर्णाचल (मेरु) को घेरे हुए हैं ॥१४॥ वहां स्वर्ग-लोक में कामधेनुओं के झुंड के झुंड हैं, कल्पतरु के अनेक वन हैं और अमृत के सरोवर ठौर ठौर में उमड़ रहे हैं ॥ १५ ॥ वहां चिन्तामणि, हीरा और पारस की बड़ी बड़ी खानियां हैं तथा सुवर्णमयी धरती चमक रही है ॥ १६ ॥ वहां परम रमणीय प्रकाश फैला हुआ है, नवरत्नों की पाषाण-शिलाएं लगी हैं और निरन्तर आनंद या हर्ष छाया रहता है ! ॥ १७ ॥ वहां अमृत के भोजन हैं, दिव्य सुगन्ध छाई रहती है, दिव्य पुष्प खिले रहते हैं और अष्टनायका तथा गंधर्व सदा गान किया करते हैं ॥ १८ ॥ वहां युवावस्था का नाश नहीं होता, रोग और व्याधियां भी नहीं होतीं और बुढ़ापा या मरण कभी नहीं आता ॥ १९ ॥ वहां एक से एक सुन्दर हैं; एक से एक चतुर हैं; और बड़े बड़े धीर, उदार और शूर हैं ॥ २० ॥ वहां के दिव्यदेह निवासी विद्युल्लता के समान ज्योतिःस्वरुप हैं । उन के यश, कीर्ति और प्रताप की सीमा नहीं है ॥ २१ ॥ ऐसा वह स्वर्गभुवन बना हुआ है—वह सम्पूर्ण देवताओं का निवासस्थल है, उसकी महिमा जितनी कही जाय, थोड़ी है ॥ २२ ॥

यहां जिस देवता का भजन करते हैं, स्वर्ग में उसी देवता के लोक में वास मिलता है—यही सालोक्य मुक्ति का लक्षण है ॥ २३ ॥ यदि लोक में रहे तो उसे सालोक्य मुक्ति, और समीप रहे तो उसे सामीप्य मुक्ति, तथा देवता के स्वरूप में हो जाय तो उसे सारूप्य (तीसरी मुक्ति) कहते हैं ॥ २४ ॥ सारूप्य मुक्ति का लक्षण यह है कि प्राणी देवरूप तो हो जाता है; परन्तु श्रीवत्सलांछन, कौस्तुभमणि और लक्ष्मी उसे नहीं मिलती ॥ २५ ॥ जब तक सुकृत-संचय रहता है तब तक प्राणी तीनों

मुक्तियां भोगते हैं और उसके समाप्त होते ही वहां से ढकेल दिये जाते हैं*, तथा देवता लोग स्वयं जैसे के तैसे बने रहते हैं! ॥ २६ ॥ अतएव ये तीनों मुक्तियां नाशवान् हैं, अविनाशी केवल सायुज्य मुक्ति ही है ॥ २७ ॥ कल्पांत में ब्रह्मांड का नाश हो जायगा, सुमेरु पर्वतसहित पृथ्वी भस्म हो जायगी, उस समय जब देवता ही नष्ट हो जायँगे तब उक्त तीनों मुक्तियां कैसे रह सकती हैं? ॥ २८ ॥ तब तो केवल निर्गुण परमात्मा रह जाता है। अतएव, सिर्फ उस निर्गुण की ही भक्ति अचल है, वही सायुज्य मुक्ति है ॥ २९ ॥ निर्गुण में अनन्य होने से सायुज्य मुक्ति मिलती है—निर्गुण में मिल जाने ही को—तदाकार होने ही को—सायुज्य मुक्ति कहते हैं ॥ ३० ॥ सगुण भक्ति चालित है और निर्गुण भक्ति अचल है—सद्गुरु की शरण में जाने से यह सब मालूम हो जाता है ॥ ३१ ॥

---

* क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति——गीता।

पाँचवा दशक।
पहला समास–गुरु निश्चय।
(बिना सगुद्रु की सेवा के मोक्ष नहीं।)

॥ श्रीराम ॥

हे परम पुरुष, आत्माराम और पूर्णकाम सद्गुरु! आपकी जय हो; जय हो। आपकी महिमा वर्णन नहीं की जा सकती ॥ १ ॥ जो देव के लिए कठिन है, जो शब्द में नहीं आ सकती वही अलभ्य 'वस्तु' आपके प्रसाद से सत् शिष्य को तत्काल ही मिल जाती है ॥ २ ॥ जो योगियों का मुख्य रहस्य है, जो शंकर का मुख्य विश्राम है; किम्बहुना जो विश्राम का भी मुख्य विश्राम है तथा जो परम गुह्य और अगाध है वही ब्रह्म आपके योग से प्राणी स्वयं ही हो जाता है–अर्थात् इस दुस्तर संसार के दुःखों से मुक्त हो जाता है ॥ ३–४ ॥

अब, आप ही के प्रसाद से, गुरु-शिष्यों के लक्षण कहते हैं। मुमुक्षुओं को चाहिये कि इनके अनुसार सद्गुरु की शरण में जावें ॥ ५ ॥ वास्तव में गुरु सब के लिए, ब्राह्मण ही है* अतएव, अनन्य भाव से, उसीकी शरण में जाना चाहिए ॥ ६ ॥ अहो! इन ब्राह्मणों के लिए ही स्वयं नारायण ने अवतार लिया और स्वयं विष्णु जब श्रीवत्सलांछन (भृगु की मारी हुई लात का चिन्ह) सादर धारण किये हैं तब दूसरों की क्या कथा है? ॥ ७ ॥ ब्राह्मण-वचनों से ही–ब्राह्मणों को मन्त्रों से ही–शूद्रादि भी ब्राह्मण बन जाते हैं; किम्बहुना धातु और पाषाण में भी देवत्व आ जाता है! ॥८॥ जिसका यज्ञोपवीत नहीं हुआ वह निस्सन्देह शूद्र ही है; यज्ञोपवीत-संस्कार से जब दूसरा जन्म होता है तब उसे 'द्विज' कहने लगते हैं ॥ ९ ॥ वेद आज्ञा देते हैं कि, ब्राह्मण सब के लिए पूज्य है। यह बात सब को मान्य है। वेद-विरुद्ध बातें भगवान् को अप्रिय हैं ॥ १० ॥ योग, याग, व्रत, दान, तीर्थ, आदि जितने कर्मयोग के अंग हैं, वे कोई, ब्राह्मण के बिना, नहीं हो सकते ॥ ११ ॥ ब्राह्मण साक्षात् वेद-स्वरूप है, ब्राह्मण ही भगवान् है। विप्र-वाक्य से मनोरथ पूर्ण होते हैं ॥ १२ ॥ ब्राह्मण के पूजन से वृत्ति शुद्ध होती है, चित्त भगवान् में लगता है और ब्राह्मण के तीर्थ (चरणामृत) से प्राणी उत्तम गति पाते हैं ॥१३॥ ब्रह्मभोज में भी अन्य जातियों को

---

* वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।

छोड़ कर ब्राह्मण ही की पूजा होती है। तथापि भगवान् भाव का भूखा है—वह जाति-पाँति नहीं देखता ॥ १४ ॥ अस्तु। ब्राह्मण को बड़े बड़े देवता भी वंदन करते हैं, तव मनुष्य विचारे की क्या गिनती है? आज कल तो, चाहे ब्राह्मण मूढ़मति ही क्यों न हो तो भी, वह जग को वंदनीय है ॥ १५ ॥ अन्त्यज बड़ा शब्द-ज्ञाता है; परन्तु उसे लेकर क्या करें? ब्राह्मण के पास बैठा कर उसे पूज थोड़े ही सकते हैं ॥ १६ ॥ लोकमत के विरुद्ध जो कुछ किया जाता है, उसकी वेद भी अवहेलना करते हैं, इस लिए उसे पाखण्डमत कहते हैं ॥ १७ ॥ अस्तु। जो परमात्मा के भक्त होते हैं उनका ब्राह्मण में विश्वास होता ही है। ब्राह्मण की पूजा करके अनेक लोग पवित्र हो चुके हैं ॥ १८ ॥ यदि कहोगे कि जब ब्राह्मण ही से देवाधिदेव परमात्मा मिलता है तब फिर सद्गुरु क्यों करें? परन्तु यह ठीक नहीं–बिना सद्गुरु के ब्रह्मज्ञान नहीं होता ॥ १९ ॥ स्वधर्म-कर्म में ब्राह्मण पूज्य है; परन्तु ज्ञान सद्गुरु के बिना नहीं होता। और ब्रह्मज्ञान हुए बिना जन्ममरण का दुःख नहीं मिटता ॥ २० ॥ सद्गुरु के बिना ज्ञान कभी हो नहीं सकता। और अज्ञानी प्राणी संसार-प्रवाह में बहते ही चले जाते हैं ॥ २१ ॥ बिना ज्ञान के जो कुछ किया जाता है वह सब जन्म का कारण होता है, इसी लिए कहते हैं कि, सद्गुरु के चरण दृढ़तापूर्वक पकड़ना चाहिए ॥ २२ ॥ जिसे परमात्मा के दर्शन की इच्छा हो उसे सत्संग करना चाहिए; क्योंकि सत्संग बिना देवाधिदेव (ब्रह्म) मिल नहीं सकता ॥२३॥ विचारे अज्ञान पुरुष सद्गुरु को छोड़ कर नाना प्रकार के साधन करते फिरते हैं; परन्तु गुरुकृपा बिना वह सब परिश्रम व्यर्थ ही जाता है ॥ २४ ॥ कार्तिकस्नान, माघस्नान, व्रत, उद्यापन, दान, गोरंजन (ईश्वर के लिए अपने को दाग देना), धूम्रपान (अपने को उलटा वृक्ष में टांग कर नीचे किया हुआ धुआं पीने का तप) और पञ्चाग्नि आदि नाना प्रकार के साधन करते हैं ॥ २५ ॥ लोग हरिकथा, पुराणश्रवण और अध्यात्म-निरूपण, आदर से, करते हैं और बड़े बड़े कठिन, सब तीर्थ करते हैं ॥२६॥ स्वच्छता के साथ देवतार्चन, स्नान, सन्ध्या, दर्भासन, तिलक, माला, गोपीचन्दन और श्रीमुद्राओं की छापें आदि सब कुछ धारण करते हैं ॥ २७ ॥ अर्घ्य-पात्र, सम्पुट, गोकर्ण-पात्र, मन्त्रयन्त्रों के ताम्रपत्र और नाना प्रकार की सामग्रियों से पूजा करते हैं ॥ २८ ॥ 'घनन घनन' घन्टा बजाते हैं; स्तोत्र, स्तवन, स्तुति, आसन, मुद्रा, ध्यान, नमस्कार, प्रदक्षिणा आदि सब करते हैं ॥ २९ ॥ बेल, नारियल, आदि चढ़ा कर पञ्चायतन–पूजा और मृत्तिका के लाखों लिंगों की पूजा, सांगोपांग करते हैं ॥ ३० ॥ निष्ठा और नेम के साथ उपवास, इत्यादि अनेक कर्म, बड़ी मिहनत के साथ, लोग

करते हैं; परन्तु वे इन सारे कर्मों का केवल फल ही पाते हैं-मर्म नहीं पाते! ॥ ३१ ॥ हृदय में फल की आशा रख कर लोग यज्ञादि कर्म करते हैं और अपनी इच्छा से ही जन्म का बयाना ले लेते हैं! ॥ ३२ ॥ नाना परिश्रम करके चौदहों विद्याओं का अभ्यास करते हैं और यद्यपि उन पर सारी ऋद्धि-सिद्धियां खूब प्रसन्न हो जाती हैं, तथापि सद्गुरु-कृपा बिना उनका सच्चा हित कभी नहीं होता—उनका यमपुरी का अनर्थ नहीं मिटता ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ जब तक ज्ञानप्राप्ति नहीं होती तब तक आवागमन नहीं मिटता। गुरुकृपा के बिना अधोगति और गर्भवास नहीं जाता ॥ ३५ ॥ जब तक ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं होता तब तक ध्यान, धारणा, मुद्रा, आसन, भक्ति, भाव, भजन आदि सब व्यर्थ हैं! ॥ ३६ ॥ सद्गुरु-कृपा प्राप्त किये बिना जो लोग अन्य साधनों में भटकते हैं वे ऐसे गिरते हैं जैसे अन्धा किसी खंदक या गढ़े में, ठोकर खाकर, गिरता है! ॥ ३७ ॥ जिस प्रकार आंखों में अञ्जन लगाने से गुप्त खजाना देख पड़ता है उसी प्रकार सद्गुरु-वचन से ज्ञान का प्रकाश होता है ॥ ३८ ॥ सद्गुरु बिना जन्म निष्फल है, सद्गुरु बिना दुःख ही है और सद्गुरु बिना संसार-व्यथा नहीं जा सकती ॥ ३९ ॥ सद्गुरु की ही कृपा से ईश्वर प्रगट होता है और अपार संसार दुःख नाश हो जाते हैं ॥ ४० ॥ प्राचीन काल में जो बड़े बड़े सन्त-महन्त और मुनीश्वर हो गये उन्हें भी ज्ञान और विज्ञान का विचार सद्गुरु से ही मिला था ॥ ४१ ॥ महाराजा रामचन्द्र जी और महायोगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र जी, आदि गुरुभजन में बहुत तत्पर रहते थे। अनेक सिद्ध-साधु और सन्त जनों ने गुरुसेवा की है ॥ ४२ ॥ किम्बहुना, सकल सृष्टि के चालक, जो ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदि हैं, वे भी सद्गुरु की सेवा करते रहते हैं—सद्गुरु के आगे इनका भी महत्व नहीं है ॥ ४३ ॥ अस्तु। जिसे मोक्ष की चाहना हो उसे सद्गुरु की खोज करना चाहिए, सद्गुरु के बिना मोक्ष मिलना असम्भव है ॥ ४४ ॥ परन्तु सद्गुरु कोई अन्य मामूली गुरुओं की तरह नहीं होते; क्योंकि इनकी कृपा से शुद्ध ज्ञान का प्रकाश होता है ॥ ४५ ॥ अब अगले समास में ऐसे ही सद्गुरु के लक्षण बतलाये जाते हैं। श्रोता लोग ध्यानपूर्वक श्रवण करें ॥ ४६ ॥

दूसरा समास—सद्गुरु-लक्षण।

॥ श्रीराम ॥

जो करामात दिखलाते हैं उन्हें भी गुरु कहते हैं; परन्तु वे मोक्षदाता गुरु नहीं हैं ॥ १ ॥ सभा-मोहन मंत्र, टटका-टोना, झाड-फूँक, अनेक प्रकार के टंट घंट मंत्र और नाना प्रकार के असम्भव चमत्कार तथा कौतुक बतलाते हैं ॥२॥ ओषधियों का प्रयोग, कीमियागिरी, नजरबन्दी और केवल दृष्टि से इच्छित वस्तु तत्काल प्राप्त कर लेने का मार्ग बतलाते हैं ॥ ३ ॥ साहित्य, संगीत, रागज्ञान, गीत, नृत्य, तान-मान और अनेक वाद्य सिखलाते हैं, ये सभी एक प्रकार के गुरु हैं ॥४॥ पंचाक्षरी विद्या सिखाते हैं, अथवा नाना प्रकार की झाड़फूंक, या जिन विद्याओं से पेट भरता है, वे सिखाते हैं ॥ ५ ॥ जिस जाति का जो व्यापार है वह, उदर भरने के लिए, सिखाते हैं—वे भी गुरु हैं; परन्तु वे वास्तव में सद्गुरु नहीं हैं ॥६॥ अपने माता-पिता भी यथार्थ में गुरु ही हैं, परन्तु जो भवसागर से पार करता है वह सद्गुरु दूसरा ही है ॥ ७ ॥ गायत्री मंत्र का उच्चार बतलानेवाला यथार्थ में कुलगुरु है; परन्तु जिस ज्ञान के बिना भवसागर से पार नहीं हो सकते वह ज्ञान देनेवाला सद्गुरु दूसरा ही है ॥ ८ ॥ जो ब्रह्मज्ञान का उपदेश करे; अज्ञानांधकार का निरसन करे; जीव और शिव का ऐक्य करे, जीवपन और शिवपन के कारण ईश्वर और भक्त में जो भिन्नता आ गई है उसे जो मिटावे-अर्थात् परमेश्वर और भक्त को एक करे—वही सद्गुरु है ॥ ९ ॥ १० ॥ भव-भयरूपी व्याघ्र-पञ्चविषयरूपी छलाँगें भर कर जीवरूपी बछड़े को ईश्वररूपी गौ से छीन लेता है। उस समय जो अपने ज्ञानरूपी खड्ग से उस व्याघ्र को मार कर बछड़े को बचाता है और गौ से फिर उसे मिला देता है—अर्थात् जीव और शिव का ऐक्य कर देता है, वही सद्गुरु है ॥ ११ ॥ जो प्राणी माया-जाल में पड़ कर संसार-दुःख से दुःखित हों उनको जो मुक्त करता है वह सद्गुरु है ॥ १२ ॥ वासनारूप नदी की बाढ़ में डूबता हुआ प्राणी घबड़ा रहा है, वहां जाकर जो उसे पार लगाता है वही सद्गुरु है ॥ १३ ॥ जो ज्ञान देकर गर्भवास के भारी संकट और इच्छा-बन्धन की बेड़ियां तुरन्त ही काट देता हो वही सद्गुरु स्वामी है ॥ १४ ॥ जो अपने उपदेश के अप्रतिम प्रभाव से आत्मदर्शन करा देता है वही गुरु अनाथों का रक्षक है ॥ १५ ॥ जीव बिचारा, जो एक देशी है, उसे जो साक्षात् ब्रह्म ही बना देता है और जो उपदेश मात्र से संसार के सारे संकट दूर करता है वह सद्गुरु है ॥१६॥ वेदों का गूढ़ तत्त्व प्रकट करके जो शिष्य के हृदय में अंकित कर देता है वह सद्गुरु है ॥ १७ ॥ वेदों, शास्त्रों और महानुभावों का अनुभव एक ही

है और वही अनुभव सद्गुरुरूप है ॥ १८ ॥ वह सन्देह को जड़ से नाश कर देता है, और स्वधर्म का, आदरपूर्वक, प्रतिपालन करता है। वेद के विरुद्ध अन्य कोई बातें उसके पास नहीं रहतीं ॥ १९ ॥ जो मन के पीछे चलता हो—अथवा यों कहिए, जिसने मन को जीत नहीं पाया है, वह गुरु नहीं है; भिखारी है; लोभ में आकर वह शिष्यों के पीछे लगता है ॥२०॥ जो शिष्यों को साधन में नहीं लगाते और इन्द्रिय-दमन नहीं करते—ऐसे गुरु यदि कौड़ी के तीन तीन मिलें तो भी न ग्रहण करना चाहिए ॥ २१ ॥ जो ज्ञान का बोध कराता हो, जो अविद्या का जड़ से नाश करता हो, और इन्द्रिय-दमन का प्रतिपादन करता हो उसे सद्गुरु जानो ॥ २२ ॥ जो केवल द्रव्य के लिए बिके हुए हैं, जो अति दुराशा से दीनरूप बनाये हुए केवल शिष्य के भरोसे रहते हैं वे गुरु नहीं हैं ॥ २३ ॥ पापिन कामिनी जिसके गले पड़ी हुई है; इस कारण, जो शिष्य के मन के अनुसार चल कर, उसे सन्तुष्ट रखना ही अपना कर्तव्य समझता है और जो उससे दब कर चलता है वह महा अधमाधम है, चोट्टा है, ठग है पापी, और द्रव्य-भोंदू है ॥ २४ ॥ २५ ॥ जिस प्रकार दुराचारी वैद्य रोगी के मन के मुताबिक चल कर उसका सर्वस्व हरण करता है और अन्त में, दब्बू बन कर, उसका प्राण भी लेता है उसी प्रकार उक्त पापी और द्रव्यभोंदू गुरु, शिष्य की चापलूसी करके, उसे और भी अधिक संसार-बन्धन में डालता है और परमात्मा से मिलने नहीं देता। ऐसा गुरु नहीं चाहिए ॥ २६ ॥ २७ ॥

जो गुरु शुद्ध ब्रह्मज्ञानी होते हुए भी कर्मयोगी, अर्थात् सत्कर्मों का आचरण करनेवाला, होता है वही सद्गुरु है और वही शिष्य को परमात्म-दर्शन करा सकता है ॥ २८ ॥ जिनमें ऊपरी आडम्बर दिखाने और कान में मंत्र फूँकने ही भर का ज्ञान है वे पापी गुरु, परमात्मा से विरुद्ध हैं ॥ २९ ॥ गुरुप्रतीति, शास्त्रप्रतीति, और आत्मप्रतीति इन तीनों की अनन्यता जिसके अनुभव में आगई है—अर्थात् गुरु के भाषण, शास्त्र के वचन और अपने अनुभव में जिसे एक ही बात मिलती है, वही सच्चा सद्गुरु है—मुमुक्षु पुरुषों को ऐसे ही सद्गुरु की शरण में जाना चाहिए ॥ ३० ॥ अद्वैत निरूपण करने के लिए तो अगाध वक्ता है; पर विषय-लोलुपता में फँसा हुआ है—ऐसे गुरु से कभी कल्याण नहीं हो सकता ॥ ३१ ॥ अनुभवजन्य, निश्चयात्मक, ज्ञान न होने के कारण, जैसा प्रसंग आपड़ता है वैसा, कुछ न कुछ बोलने का जो ढोंग करता है, वह गुरु नहीं है ॥ ३२ ॥ अध्यात्म-निरूपण करते समय सामर्थ्य और सिद्धियों की बात आ जाने पर जिसके मन में दुराशा आ जाती है और अनेक प्रकार के चमत्कारों का हाल जान कर जिसकी बुद्धि चंचल होती है, तथा मत्सर के कारण

जिसके मन में यह लोभ आ जाता है, कि "पूर्वसमय में ईश्वर के समान सामर्थ्यवान् विरक्त, भक्त और ज्ञाता हो गये–कहां उनकी सामर्थ्य और कहां हमारा यह व्यर्थ ज्ञान—हममें भी यदि वैसी ही सामर्थ्य होती तो अच्छा था"—वह सद्गुरु नहीं है ॥ ३३–३५ ॥ सच तो यह है कि: जब दुराशा का बिलकुल नाश हो जाता है तभी ईश्वर मिलता है, जो दुराशा रखते हैं वे क्षुद्र और कामुक शब्दज्ञाता हैं–वे सद्गुरु नहीं हैं ॥ ३६ ॥ इसी दुराशा या कामना ने बहुत से ज्ञानियों को धोखा देकर सत्यनाश कर दिया और कोई कोई तो मूर्ख बिचारे कामना की इच्छा करते करते ही मर गये ! ॥ ३७ ॥ जिसके पास कामना बिलकुल फटकती भी नहीं और जिसका मत अक्षय और अलौकिक है, ऐसा कोई एक बिरला सन्त है ॥ ३८ ॥ आत्मरूपी धन तो सब का अक्षय है—(अर्थात् आत्मा, जो सब के पास है, अक्षय है) परन्तु शरीर की ममता नहीं छूटती, इसी कारण ईश्वर का मार्ग सब भूल जाते हैं ॥ ३९ ॥ सामर्थ्य और सिद्धियां प्राप्त हो जाने के कारण, देह का महत्व अधिक मान लेते हैं–और इसी कारण देहबुद्धि का अभिमान और भी भड़क उठता है ॥ ४० ॥ अक्षय सुख को छोड़ कर जो सामर्थ्य की इच्छा रखते हैं वे मूर्ख हैं: क्योंकि कामना के समान और कोई भी दुःख नहीं है ॥ ४१ ॥ ईश्वर–रहित कामनाओं के वश, नाना प्रकार की यातनाएं पाकर; प्राणी अधोगति को प्राप्त होते हैं ॥ ४२ ॥ शरीर का अन्त होने पर सामर्थ्य भी चली जाती है और अन्त में मनुष्य, कामना के कारण, ईश्वर से वंचित रहता है ॥ ४३ ॥ अतएव, जो निष्काम और दृढ़बुद्धि है वही सद्गुरु इस भवसागर से पार करता है ॥४४॥ सद्गुरु का का मुख्य लक्षण तो यह है कि, पहले उसमें विमल ज्ञान, निश्चयात्मक समाधान और स्वरूपस्थिति चाहिए ॥४५॥ इतना ही नहीं: किन्तु उस में प्रबल वैराग्य, तथा उदास वृत्ति भी हो, और वह विशेषतः स्वधर्माचरण में शुद्ध हो ॥ ४६ ॥ इतना होने पर भी जो सदा अध्यात्म का श्रवण, हरिकथा का निरूपण और परमार्थ का विवरण किया करता है वही सद्गुरु है ॥४७॥ जिसने सार—असार का विचार किया है वही जगत् का उद्धार कर सकता है। इसके सिवा, लोगों का उद्धार करने के लिए नवधा भक्ति की भी बड़ी आवश्यकता है; क्योंकि भक्ति के आधार से लोक–संग्रह अच्छा हो सकता है ॥ ४८ ॥ इस लिए, नवों प्रकार की भक्तियों का जो साधन करता है वह सच्चा सद्गुरु है ॥ ४९ ॥ जिसके अन्तःकरण में तो शुद्ध ब्रह्मज्ञान है, और बाहर से परमात्मा की भक्ति भी निष्ठापूर्वक करता है–(अर्थात् भीतर से ज्ञानयोग, और बाहर से कर्मयोग का भी, जो आचरण करता रहता है) उसके द्वारा अनेक

लोगों का उद्धार होता है ॥ ५० ॥ जिसे उपासना का आधार नहीं है वह परमार्थ एक दिन फिसल पड़ेगा; क्योंकि कर्मयोग के बिना अनाचार मच जाता है और लोग भ्रष्ट होजाते हैं ॥ ५१ ॥ इस लिए ज्ञान, वैराग्य, भजन, स्वधर्म-कर्म, साधन, कथानिरूपण, श्रवण, मनन, नीति, न्याय, और मर्यादा, इनमें यदि एक की भी कमी हुई तो विलक्षणता आ जाती है। इस लिए इन सब गुणों से जो शोभित हो वह सद्गुरु है, अथवा यों कहिये कि सद्गुरु में ये सब गुण विलसते हैं ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ वह (सद्गुरु) बहुतों का पालन करता है, उसे बहुतों की चिन्ता रहती है। समर्थ सद्गुरु के पास अनेक प्रकार के साधन होते हैं ॥ ५४ ॥ जो कर्म-योग-साधन के बिना परमार्थ की प्रतिष्ठा करता है वह पीछे से बहुत जल्द भ्रष्ट होता है-इस लिए महानुभाव पुरुष पहले ही से विचार कर कार्य करते हैं ॥ ५५ ॥ जो आचार और उपासना छोड़ देते हैं वे भ्रष्ट और अभक्त देख पड़ते हैं-ऐसों की महंती चूल्हे में जाय-उसे कौन पूछता है ॥ ५६ ॥ जहां कर्म और उपासना का अभाव है वहां मानों बहकने के लिए ठौर हो जाता है-ऐसे कलंकित समुदाय को प्रपंची जन (संसारी गृहस्थ) भी हँसते हैं ॥ ५७ ॥

नीच जाति का गुरु करना भी बड़े कलंक की बात है। नीच गुरु ब्रह्म-सभा में चोर की तरह छिपता है! ॥ ५८ ॥ ब्रह्मसभा (ब्राह्मणों की सभा) के सामने उसका तीर्थ (चरणोदक) नहीं लिया जा सकता और उसका प्रसाद सेवन करने से प्रायश्चित्त होता है ॥ ५९ ॥ तीर्थ (चरणोदक) और प्रसाद का त्याग करने से नीचता प्रगट हो जाती है और एकाएक गुरु-भक्ति का लोप हो जाता है ॥ ६० ॥ यदि गुरु की मर्यादा रखी जाती है, तो ब्राह्मण अप्रसन्न होते हैं, और यदि ब्राह्मणत्व की रक्षा करते हैं तो उधर गुरु की अप्रसन्नता होती है-नीच गुरु करने से ऐसी ही झंझट खड़ी हो जाती है! ॥६१॥ इस प्रकार जब दोनों ओर से कठिनाई आ पड़ती है तब पछतावा होने लगता है। इस कारण नीच जाति को गुरुता नहीं दी जा सकती ॥६२॥ तथापि यदि किसी नीच जाति के गुरु पर मन जम गया हो तो स्वयं अपने ही को भ्रष्ट करना चाहिए-बहुत लोगों को भ्रष्ट करना ठीक नहीं है ॥६३ ॥ अच्छा, अब यह विचार रहने दो। स्वजाति का गुरु चाहिए नहीं तो भ्रष्टाचार जरूर मचता है ! ॥ ६४ ॥

जितने कुछ उत्तम गुण हैं वही सद्गुरु के लक्षण हैं। तथापि सद्गुरु की पहचान करने के लिए कुछ गुरुओं का यहां वर्णन किया जाता है ॥ ६५ ॥ एक पोथी गुरु होते हैं; कोई मंत्र देनेवाले गुरु होते हैं: एक यंत्र बतलाने-वाले और कोई तांत्रिक गुरु कहलाते हैं; और लोग किसी किसी को उस्ताद

(गुरु) भी कहते हैं: एक राजगुरु भी होते हैं ॥६६॥ एक कुलगुरु होते हैं, एक माना हुआ गुरु होता है, एक विद्या सिखानेवाले गुरु कहलाता है, एक कुविद्या सिखानेवाला भी गुरु है। एक असद्गुरु है, कोई जाति-गुरु है यह जाति-गुरु दंडकर्ता होता है ॥ ६७ ॥ एक माता गुरु है, एक पिता गुरु है, एक राजा गुरु है: एक देवता गुरु है और एक, सकल कला जाननेवाले को जगद्गुरु कहते हैं ॥ ६८ ॥ इस प्रकार ये सत्रह गुरु कहे हैं। इन्हें छोड़ कर और भी कई गुरु हैं, उन्हें भी सुन लीजिए ॥ ६९ ॥ एक स्वप्नगुरु कहलाता है: एक कर्म की दीक्षा देनेवाला गुरु होता है। कोई प्रतिमा ही को गुरु मानते हैं, और कोई कोई तो स्वयंगुरु, अर्थात् अपना गुरु अपने ही को बतलाते हैं ! ॥ ७० ॥ जिस जिस जाति का जो जो व्यापार है उस उसके उतने ही गुरु हैं-यह विस्तार बहुत बड़ा है ॥७१॥ अस्तु। इस प्रकार बहुत से गुरु हैं-यह तो नाना प्रकार के मतों का विचार हुआ: परन्तु मोक्षदाता जो सद्गुरु है वह अलग ही है ॥७२॥ जिसमें सद्विद्या तथा अनेक गुण हों: और साथ ही साथ दया भी हो, उसे सच्चा गुरु समझना चाहिए ॥ ७२ ॥

तीसरा समास-शिष्य-लक्षण।

॥ श्रीराम ॥

पिछले समास में सद्गुरु के लक्षण, विस्तारपूर्वक, कहे गये। अब सावधान होकर सत् शिष्य के लक्षण सुनिये ॥१॥ सद्गुरु के बिना सत् शिष्य का कोई उपयोग नहीं, अथवा यों कहिए, सत् शिष्य के बिना सद्गुरु का बहुत सा परिश्रम व्यर्थ है ॥ २ ॥ उत्तम और शुद्ध भूमि ढूंढ़ कर उसमें सड़ियल बीज बोने से, अथवा उत्तम बीज चट्टान में डालने से जो हाल होता है, वही हाल सत् शिष्य का असत् गुरु के पास और असत् शिष्य का सद्गुरु के पास होता है ॥ ३ ॥ उदाहरणार्थ, सत् शिष्य तो सत्पात्र है परन्तु गुरु उसे तंत्र मंत्र बतलाता है: ऐसी दशा में इहलोक या परलोक कुछ नहीं बनता। अथवा गुरु तो पूर्ण कृपा करता है:परन्तु शिष्य अनधिकारी है जैसे-भाग्यवान् पुरुष का भिखारी पुत्र! ॥४-५॥ सारांश, दोनों के योग्य हुए बिना काम नहीं चलता-गुरु और शिष्य बेजोड़ होने से परमार्थ नहीं बनता ॥६॥ जहां सद्गुरु और सच्छिष्य का जोड़ा मिल गया, कि बस फिर परिश्रम नहीं पड़ता—अनायास ही दोनों के हौसले पूरे होते हैं ॥७॥ अच्छा, अब भूमि भी उत्तम है और बीज भी अच्छा है, पर बिना वर्षा के नहीं

जमता—इसी प्रकार सच्छिष्य और सद्गुरु मिलने पर भी अध्यात्म-निरूपण बिना काम नहीं चलता ॥ ८ ॥ अच्छा, अब खेत बोया गया और उगा भी; परन्तु रखवाली के बिना हानि होती है—यही हाल साधना के बिना साधकों का होता है ॥ ९ ॥ सारांश, जब तक फसल हमारे घर में नहीं आ जाती, तब तक सब कुछ करना पड़ता है—किम्बहुना फसल आ जाने पर भी खाली नहीं बैठना चाहिए ॥ १० ॥ अर्थात् आत्मज्ञान हो जाने पर साधन करना ही चाहिए—जिस प्रकार एक बार बहुत सा खा लेने पर भी सामग्री की जरूरत पड़ती ही है; उसी प्रकार पूर्ण आत्मज्ञान हो जाने पर भी साधन आगे चल कर, काम देते ही हैं ॥ ११ ॥ इस लिए साधन, अभ्यास, सद्-गुरु, सच्छिष्य, सत् शास्त्र का विचार, सत्कर्म, सद्वासना, सदुपासना, सदाचरण, स्वधर्मनिष्ठा, सत्संग, नित्यनेम—ये सब जब एकत्र होते हैं तभी विमल ज्ञान का प्रकाश होता है; अन्यथा जनसमुदाय में पाखण्ड, जोर से संचार करता है ॥ १२–१४ ॥ परन्तु इसमें शिष्य का कोई दोष नहीं—सारी कुंजी सद्गुरु के हाथ में है; सद्गुरु नाना प्रकार के यत्न करके सारे दुर्गुण दूर कर सकता है ॥ १५ ॥ सद्गुरु के द्वारा असत् शिष्य सत् शिष्य बन सकता है; परन्तु सच्छिष्य के द्वारा असद्गुरु सद्गुरु नहीं बन सकता; क्योंकि इससे बड़प्पन जाता है—अर्थात् शिष्य के योग से यदि गुरु सत् गुरु बनाया गया तो 'गुरु' की 'गुरुता' कहां रही? ॥ १६ ॥ तात्पर्य, सद्गुरु चाहिए, तभी सन्मार्ग मिलता है; अन्यथा पाखण्ड से सत्यानाश होता है ॥ १७ ॥ यद्यपि भवसागर से पार करने का पूरा जवाबदार सद्गुरु ही है; तथापि यहां पर मैं सच्छिष्य के कुछ लक्षण बतलाता हूं ॥ १८ ॥

सच्छिष्य का मुख्य लक्षण यह है कि सद्गुरु के वचन में पूर्ण विश्वास रखता हो और अनन्य-भाव से उसकी शरण में रहता हो ॥ १९ ॥ शिष्य पवित्र, सदाचरणी, विरक्त और मुमुक्षु होना चाहिए ॥ २० ॥ शिष्य को निष्ठावन्त, शुचिवन्त और सब प्रकार से नेमी होना चाहिए ॥ २१ ॥ शिष्य विशेष प्रयत्नशील चाहिए; परम दक्ष चाहिए; और अलक्ष की ओर लक्ष रखनेवाले चाहिए ॥ २२ ॥ शिष्य अति धीर, अति उदार और परमार्थ-विषय में अति तत्पर होना चाहिए ॥ २३ ॥ शिष्य परोपकारी, निर्मत्सरी और अर्थ के भीतर प्रवेश करनेवाला चाहिए ॥ २४ ॥ शिष्य परम शुद्ध, परम सावधान और उत्तम गुणों में अगाध होना चाहिए ॥ २५ ॥ शिष्य प्रज्ञावान, प्रेमी, भक्त, मर्यादावंत तथा नीतिवंत चाहिए ॥२६॥ शिष्य युक्ति-वान्, बुद्धिवान् और सदसत्, या नित्यानित्य, का विचार करनेवाला चाहिए ॥ २७ ॥ शिष्य धैर्यवान्, दृढव्रत, कुलवान् और पुण्यवान् चाहिए ॥ २८ ॥ शिष्य सात्विक, भजन करनेवाला, और साधनकर्ता होना चाहिए

॥ २६ ॥ शिष्य विश्वासी चाहिए: शिष्य शरीरक्लेश सहने में सहनशील चाहिए और वह यह जानता हो कि परमार्थ की उन्नति कैसे करनी चाहिए ॥ ३० ॥ शिष्य को स्वतंत्र, सर्वप्रिय और सब प्रकार से सत्पात्र होना चाहिए ॥ ३१ ॥ शिष्य सद्विद्यावान्, सद्भाववन्त और अन्तःकरण का परम शुद्ध होना चाहिए ॥ ३२ ॥ शिष्य अविवेकी न होना चाहिए; शिष्य जन्म से ही सुखी (गर्भसुखी) न होना चाहिए: और उसे संसार-दुःख से संतप्तदेह होना चाहिए ॥३३॥ क्योंकि जो संसार-दुःख से दुःखित होता है और जो त्रिविधतापों से तप्त होता है, वही एक परमार्थ का अधिकारी होता है* ॥ ३४ ॥ संसार-दुःखों के कारण ही वैराग्य आ जाता है; अतएव, जो बहुत दुःख भोगता है उसीके मन में परमार्थ की बात जम जाती है ॥ ३५ ॥ जिसे संसार से दुःख होता है उसीको विश्वास उपजता है और वह विश्वास-बल से दृढतापूर्वक सद्गुरु की शरण लेता है ॥ ३६ ॥ जिन्होंने अविश्वास से सद्गुरु का सहारा छोड़ दिया—ऐसे बहुत से इस भवसागर में डूब गये। उन्हें सुख-दुःखरूप जलचरों ने बीच ही में नोच खाया ॥ ३७ ॥ इस लिए सद्गुरु-वचनों पर जिसे दृढ़ विश्वास है वही सत् शिष्य है और वही सब से पहले मोक्ष का अधिकारी है ॥ ३८ ॥ जो सद्-गुरु के वचनों से संतुष्ट होता है वही सायुज्यमुक्ति को प्राप्त करता है—वह संसार-दुःख से कभी दुःखित नहीं होता ॥ ३९ ॥ सद्गुरु (निर्गुण परब्रह्म) की अपेक्षा देवता (सगुण हरिहरादि देवता) को जो बड़ा समझता है वह अभागी है—वह वैभव और सामर्थ्य के धोखे में पड़ कर सच्चे वैभव (शाश्वत सुख) से वञ्चित रहता है ॥ ४० ॥ सद्गुरु सत्स्वरूप है और हरिहरादि देवता लोग तो कल्पान्त में नाश हो जायँगे, तब उनकी सामर्थ्य, जिसके धोखे में पड़ कर सद्गुरु को उनसे छोटा समझता है, कहां रहेगा ? ॥ ४१ ॥ अतएव, सद्गुरु की सामर्थ्य अधिक है। उसके सामने ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इत्यादि कोई चीज नहीं। परन्तु अल्पबुद्धि मनुष्य को यह बात नहीं मालूम होती ॥ ४२ ॥ जो गुरु और देवता की बराबरी करता हो वह शिष्य दुरा-चारी है—उसके अन्तःकरण में भ्रान्ति बैठी है: और वह सिद्धान्त नहीं जानता ॥ ४३ ॥ देवता की भावना मनुष्य-द्वारा ही हुई है और मंत्र से उसमें देवतापन आया है; परन्तु सद्गुरु की कल्पना ईश्वर से भी नहीं हो

---

* जब मनुष्य संसार-दुःख से दुःखित होता है, और तीनों तापों से तप्त होता है, तब उसे बहुधा इस बात का ज्ञान हो जाता है कि इस संसार में ऐसी दशा होती है; इससे कोई ऐसा उपाय सोचना चाहिए कि जिससे फिर इस कष्टमय संसार में न आना पड़े—इसीका नाम है, परमार्थ का अधिकारी होना।

सकती ॥ ४४ ॥ इस लिए सद्गुरु, पूर्णरूप से, देवता को अपेक्षा कोटिगुना बड़ा है। उसका वर्णन करने में वेदों और शास्त्रों में भी झगड़ा मच गया है ॥ ४५ ॥ अस्तु। सद्गुरु-पद के सामने दूसरे किसी को भी महत्व नहीं मिल सकता। देवता की सामर्थ्य ही कितनी है-वह तो मायाजनित है ॥ ४६ ॥ अहो! जिस पर सद्गुरु की कृपा हो चुकी है उसके सामने देवताओं की सामर्थ्य क्या चल सकती है? उसने ज्ञानबल से वैभव को तिनके के समान तुच्छ बना दिया है! ॥ ४७ ॥ सद्गुरु-कृपा के बल से ही—अपरोक्ष ज्ञान के होने ही से—मायासहित सारा ब्रह्मांड तुच्छ मालूम होता है ॥ ४८ ॥ ऐसा सत् शिष्य का महत्व है। वह सद्गुरु-वचनों में दृढ़भाव रखता है और इसी कारण वह स्वयं देवाधिदेव (सद्गुरु) बन जाता है ॥ ४९ ॥ ऐसे सत् शिष्यों का अन्तःकरण, पहले, संसार-दुःखों के पश्चात्ताप से तप कर शुद्ध हो जाता है-इसके बाद वे सद्गुरु के उपदेशामृत से अक्षय शान्ति प्राप्त करते हैं ॥ ५० ॥ सद्गुरु के बतलाये हुए मार्ग पर चलते हुए, चाहे सारा ब्रह्मांड भी क्यों न उसके विरुद्ध हो जाय; तथापि, उसकी शुद्ध गुरुभक्ति में कुछ भी फर्क नहीं होता ॥ ५१ ॥ सत् शिष्य सद्गुरु की शरण कभी नहीं छोड़ते और सदाचरणी बन कर ईश्वर के तई पवित्र होते हैं ॥५२॥

जिनके अन्तःकरण में उपर्युक्त सद्गुरु-विषयक सद्भाव है वे ही मुक्ति के भागी हैं-अन्य मायिक-वेषधारियों को असत् शिष्य जानना चाहिए ॥५३॥ जिन्हें विषयों में सुख जान पड़ता है और परमार्थ सम्पादन करना केवल लोकाचार जान पड़ता है, ऐसे पढ़तमूर्ख असच्छिष्य देखादेखी से सद्गुरु की शरण में जाते हैं ॥ ५४ ॥ परन्तु ज्योंही विषय-सम्बन्धी वृत्ति अनिवार्य हो जाती है, त्योंही वे दृढ़तापूर्वक गृहस्थी को पकड़ लेते हैं और उनकी परमार्थ-चर्चा मलीन हो जाती है ॥ ५५ ॥ परमार्थ का बहाना ले कर प्रपंच में प्रेम रखते हैं और कुटुम्ब के भारवाही बन कर सत्यनाश होते हैं ॥ ५६ ॥ प्रपञ्च में आनन्द मान कर परमार्थ का कौतूहल (फार्स) दिखाते हैं तथा भ्रान्त, मूढ़ और मतिमन्द बन कर अनेक कामनाओं में लुब्ध होते हैं ॥ ५७ ॥ जिस प्रकार, यदि सुअर को सुगन्धित लेप से पूजा की जाय या भैंस के चन्दन मला जाय, तो वह व्यर्थ है उसी प्रकार विषयी पुरुष को ब्रह्मज्ञान या विवेक बतलाना भी व्यर्थ है ॥ ५८ ॥ जैसे घूरे पर लोटनेवाले गधे के लिए परिमल सुवास का आनन्द और अन्धेरे में भोगनेवाले उल्लू के लिए हंसों की पंक्ति है, वैसे ही विषय-द्वार की प्रतीक्षा करनेवाले के लिए भगवद्भक्ति और सत्संग है! ये लोग तो अधोगति ही को प्राप्त होते हैं ॥५९॥६०॥ जैसे दांत ऊपर को निकाल करके कुत्ता हड्डी चबाता है, उसी प्रकार विषयी पुरुष विषयभोग में फँसा रहता है ॥६१॥ उसी कुत्ते

को उत्तम भोजन देने अथवा बन्दर को सुन्दर सिंहासन पर बिठाने से जो हाल होता है वही हाल विषयासक्त पुरुष को ज्ञानोपदेश करने से होता है ॥ ६२ ॥ गधे रखते रखते जिसका जन्म गया है वह (धोबी या कुम्हार,) पण्डितों के बीच में जैसे प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता उसी प्रकार विषयासक्त पुरुष को परमार्थ नहीं मिल सकता ॥ ६३ ॥ जैसे कोई डोम-कौवा राजहंसो के मेले में रह कर अपने को हंस बतलावे और उसका ध्यान मैले की ओर हो; वैसे ही विषयी पुरुष सज्जनों के बीच में रह कर अपने को सज्जन कहलाता है और मन विषयरूपी मैले में रखता है ! ॥ ६४-६५ ॥ बगल में स्त्री को लेकर जिस प्रकार कोई कहता है कि मुझे संन्यासी बनाओ, उसी प्रकार विषय में फँसा हुआ पुरुष ज्ञान बड बड़ाता है ॥ ६६ ॥ अस्तु। ऐसे पठतमूर्ख अद्वैत-सुख (वह जिस में द्वैत नहीं रहता-ब्रह्मानन्द) क्या जानें? ये नारकी प्राणी जानबूझ कर नरक में गिरते हैं ॥ ६७ ॥ वेश्या की सेवा करनेवाला जैसे उपदेशक नहीं हो सकता, वैसे ही विषय-सेवक पुरुष, भक्तराज कैसे कहा जा सकता है? ॥ ६८ ॥ अतएव, विषयी पुरुषों के लिए ज्ञान क्या है? वे तो वाचाल बन कर केवल शाब्दिक बड़बड़ करने में ही फँसे रहते हैं ॥ ६९ ॥
शिष्यों को परम नष्ट, अत्यन्त क्षुद्र, हीन, अविवेकी, दुष्ट और खराब समझना चाहिए ॥ ७० ॥ ऐसे पापपूर्ण, महा अपराधी और अत्यन्त कठोर शिष्यों के लिए भी पश्चात्ताप का एक अच्छा प्रायश्चित्त है ॥७१॥ इनको फिर से सद्गुरु की शरण में जाना चाहिए-उन्हें प्रसन्न करना चाहिए और उनकी कृपा सम्पादन करके फिर शुद्ध होना चाहिए ॥ ७२ ॥ क्योंकि जिससे स्वामिद्रोह हो जाता है वह यावच्चन्द्र (जब तक चन्द्र है) नरक में पड़ा रहता है। स्वामी को प्रसन्न किये बिना उसे दूसरा उपाय ही नहीं है ॥ ७३ ॥

अस्तु। सिर्फ स्मशानवैराग्य* में आकर सद्गुरु के पैरों पर गिरने से, क्या ज्ञान थोड़े ही ठहर सकता है? ॥ ७४ ॥ मन में बनावटी भाव लाकर गुरु का मन्त्र लेता है और उस मन्त्र के कारण दो दिन के लिए शिष्य बन जाता है। ॥ ७५ ॥ इसी प्रकार बहुत से गुरु कर लेता है; पाखण्ड शब्द सीख लेता है; और मुँहजोर, निर्लज्ज, और पाखण्डी बन जाता है ॥ ७६ ॥ कभी रोता है, कभी गिरता पड़ता है; घड़ी भर के लिए वैराग्य आ जाता है और तुरन्त ही ज्ञातापन का घमण्ड आ जाता है ॥ ७७ ॥ घड़ीभर के

* स्मशान में, वहां की दशा देख कर, सब को कुछ न कुछ, क्षणिक वैराग्य आ जाता है।

लिए मन में विश्वास लाता है; उसी दम, दूसरी घड़ी में, गुरगुराता है—इस प्रकार पागल की तरह नाना ढँग रचता है ॥ ७८ ॥ काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ, मोह, अभिमान, कपट, तिरस्कार आदि अनेक विचार हृदय में छाये हैं ॥ ७९ ॥ अहंकार और शरीर-सम्बन्धी प्रेम; अनाचार और विषयी संग; संसार और प्रपञ्च-विषयक उद्वेग, इत्यादि, अंतःकरण में वास करते हैं ॥ ८० ॥ दीर्घसूत्री, कृतघ्न, पापी, कुकर्मी, कुतर्की, विकल्पी, अभक्त, अभाविक, शीघ्रकोपी, निष्ठुर, परघातक, हृदयशून्य, (कठोर या निर्दयी), आलसी, अविवेकी, अविश्वासी, अधीर, अविचारी और सन्देही है; तथा आशा, ममता, तृष्णा, कल्पना, कुबुद्धि, दुर्वृत्ति, दुर्वासना, बुद्धिहीनता, विषयकामना, आदि, दुर्गुण हृदय में वास करते हैं ॥ ८१-८२ ॥ इच्छा, डाह, और तिरस्कार के वश होकर दूसरे की निन्दा करने में प्रवृत्त होता है और जानबूझ कर देहाभिमान में आकर मतवाला बनता है ॥ ८४ ॥ भूख प्यास को रोक नहीं सकता; नींद को सहसा सम्हाल नहीं सकता और कुटुम्ब-चिन्ता कभी जाती ही नहीं, भ्रान्ति में पड़ा रहता है ॥८५॥ केवल शब्दों ही से बड़ी बड़ी बातें बोलता है; वैराग्य का लेश नहीं है और पश्चात्ताप, धैर्य तथा साधन का मार्ग नहीं पकड़ता ॥८६॥ भक्ति, विरक्ति और शान्ति नहीं है; सद्वृत्ति, लीनता और दमन नहीं है; तथा कृपा, दया, तृप्ति, सुबुद्धि बिलकुल ही नहीं है ॥ ८७ ॥ काया को क्लेशित करने में निर्बल है; धर्म-विषय में परम कृपण है; सदाचरण नहीं ग्रहण करता; और कठोर-हृदय-वाला है ॥ ८८ ॥ संसार के लोगों से सरलता का बर्ताव नहीं करता, सज्जनों को अप्रिय है और दिन रात दूसरों की हीनता मन में रखता है ॥ ८९ ॥ सदा सर्वदा झूठ बोलता है, मायावी बातें करके दूसरों को फँसाता है, क्रिया और विचार आदि, किसी बात में सत्यता नहीं रखता ॥ ९० ॥ दूसरे को पीड़ा देने में तत्पर रहता है; और बिच्छू या सर्प की तरह, कुशब्द कह कर, सब के अन्तःकरण विद्ध करता है ॥ ९१ ॥ अपने अवगुण छिपाता है, दूसरों से कठोर वचन बोलता है और बिना-गुणदोषवालों में झूठे गुणदोष लगाता है ॥९२॥ पापी और निर्दयी है, तथा दुराचारी और हिंसक की तरह-दूसरे के दुःख में दुःखी नहीं होता ॥ ९३ ॥ दुर्जन दूसरों का दुःख तो नहीं जानते; किन्तु दुःखी को ही और दुःख देते हैं, तथा उनके दुःख पाने पर अपने मन में आनन्दित होते हैं ॥९४॥ जो अपने दुःख में तो दुःखित होता है और दूसरे के दुःख में हँसता है उसे यमपुरी प्राप्त होती है और यमदूत ताड़ना देते हैं ॥ ९५ ॥

ऐसे जो बिचारे मदांध पुरुष हैं और पूर्वपापों के कारण जिन्हें सुबुद्धि नहीं भाती उन्हें भगवान् कैसे मिले ? ॥ ९६ ॥ ऐसे पुरुषों को तब ज्ञान

पड़ेगा जब बुढ़ापे में अंग शिथिल पड़ जायँगे और कुटुम्बी लोग छोड़ देंगे! ॥ ९७ ॥ अस्तुः उपर्युक्त दुर्गुणों से जो रहित है वही श्रेष्ठ सत् शिष्य हैं—वे अपनी दृढभक्ति से स्वानंद भोगते हैं ॥ ९८ ॥ विकल्पी और कुलाभिमानी लोग प्रपंच के कारण दुःखी होते हैं ॥ ९९ ॥ जिसके कारण दुःख हुआ हो उसीको दृढतापूर्वक पकड़े रहने से फिर दुःख होना ही चाहिए ॥१०० ॥ यह जान कर भी, कि संसार (गृहस्थी) के संग से किसी को सुख नहीं होता, जो अपना सच्चा हित नहीं कर लेते वे अन्त में दुःखी होते हैं॥१०१॥ जो संसार में सुख मानते हैं वे प्राणी मूढमति हैं—ऐसे पढतमूर्ख जानबूझ कर अंधे बनते हैं ॥ १०२ ॥ प्रपंच (गार्हस्थ्य कर्म) सुख से करना चाहिए; परन्तु कुछ परमार्थ भी बढ़ाना चाहिए—यह ठीक नहीं है कि परमार्थ बिलकुल ही डुबा दिया जाय ॥१०३॥ ये गुरु-शिष्यों के लक्षण बतला दिये गये। अब मंत्र के लक्षण सुनिये ॥ १०४ ॥

चौथा समास--मन्त्र-लक्षण।

॥ श्रीराम ॥

मंत्र के बहुत से लक्षण हैं; पर यहां पर थोड़े से बतलाते हैं। सुनियेः— ॥ १ ॥ बहुत लोग किसी मंत्र की दीक्षा देते हैं; कोई किसी देवता का नाम मात्र ही बतलाते हैं और कोई ओंकार का जप कराते हैं ॥ २ ॥ कोई शिव, देवी, विष्णु, महालक्ष्मी, अवधुत, गणेश और सूर्य के मंत्र बतलाते हैं ॥ ३ ॥ कोई मत्स्य, कूर्म और वराह के मंत्र बतलाते हैं और कोई नृसिंह, वामन, भार्गव, रघुनाथ तथा कृष्ण के मंत्र जपने के लिए उपदेश करते हैं ॥ ४ ॥ कोई भैरव, मल्लारी, हनुमान, यक्षिणी, नारायण, पांडुरंग और अघोर इत्यादि के मंत्र जपने के लिए कहते हैं ॥ ५ ॥ शेष, गरुड़, वायु, बैताल, झोटिंग, आदि के बहुत से मंत्र हैं—कहां तक बतलाते जायँ॥ ६ ॥ बाला, बगुला, काली, कंकाली, और बटुक आदि अनेक शक्तियों के अनेक मंत्र हैं ॥ ७ ॥ इसी प्रकार भिन्न भिन्न जितने देवता हैं उतने ही मंत्र हैं कोई सहज हैं; कोई कठिन हैं; कोई विचित्र हैं; कोई खेचर, आदि दारुण बीजों के हैं ॥ ८ ॥ संसार में इतने देवता हैं कि उनकी कोई गणना तो कर ही नहीं सकता। उन सब के मंत्र भी असंख्य हैं—वाणी में उनके बतलाने की शक्ति नहीं है ॥ ९ ॥ अनन्त मंत्रमालाएं हैं—एक से भी एक बढ़ कर हैं। यह सब माया की विचित्र कला है—इसे कौन जान सकता है : ॥ १० ॥

कितने ही मंत्रों से भूत उतर जाते हैं; कितने ही से व्यथा नाश होती है और कितने ही मंत्रों से जुड़ी-बुखार, बिच्छू और सर्प उतरते हैं ॥ ११ ॥ इस तरह नाना प्रकार के मंत्र कान में सुनाते हैं और जप, ध्यान, पूजा, यंत्र, इत्यादि, विधानपूर्वक, बतलाते हैं ॥ १२ ॥ कोई 'शिव शिव' बतलाते हैं; कोई 'हरि हरि' कहनेवाले हैं; और कोई 'विठ्ठल विठ्ठल' का मंत्र देते हैं ॥ १३ ॥ कोई 'कृष्ण कृष्ण' बतलाते हैं; कोई 'विष्णु विष्णु' कहलवाते हैं और कोई 'नारायण नारायण' का मंत्र देते हैं ॥ १४ ॥ कोई 'अच्युत अच्युत' कहते हैं; कोई 'अनंत अनंत' कहते हैं और कोई कहते हैं कि 'दत्त दत्त' कहते रहो ॥ १५ ॥ कोई 'राम राम' बतलाते हैं; कोई 'ॐ ॐ' बतलाते हैं, और कोई कहते हैं कि 'मेघ-श्याम' का बहुत नामों से स्मरण करो ॥ १६ ॥ कोई कहते हैं 'गुरु गुरु', कोई कहते हैं परमेश्वर' और कोई कहते हैं कि 'विघ्नहर' (गणेश) का चिन्तन करते रहो ॥ १७ ॥ कोई 'श्यामराज' को बतलाता है; कोई 'गरुड़ध्वज' कहलाता है और कोई कहता है कि 'अधोक्षज' को जपते रहो ॥ १८ ॥ कोई 'देव देवः' कोई केशव केशव' और कोई 'भार्गव भार्गव' जपने का उपदेश करते हैं ॥ १९ ॥ कोई विश्वनाथ' का जप कराते हैं; कोई 'मल्लारी' का जप बतलाते हैं और कोई 'तुकाई तुकाई[1]' का जप कराते हैं ॥ २० ॥

कहां तक बतलावें-' शिव' और शक्ति' के अनंत नाम हैं-यही नाम, सब गुरु, अपनी अपनी इच्छा के अनुसार, जपने को कहते हैं ॥२१॥ कोई खेचरी, भूचरी, चाचरी और अगोचरी ये चार मुद्रा[2] बतलाते हैं और कोई नाना प्रकार के आसन सिखाते हैं ॥ २२ ॥ कोई चमत्कारिक दृश्य दिखाते हैं,[3] कोई अनाहतध्वनि[4] बतलाते हैं और कोई पिंडज्ञानी गुरु पिंडज्ञान (शरीर-रचना का ज्ञान) बतलाते हैं ॥ २३ ॥ कोई कर्ममार्ग और कोई उपासना मार्ग बतलाते हैं और कोई अष्टांग योग[5] और सप्त चक्र[6] बतलाते हैं ॥ २४ ॥ कोई अनेक प्रकार के तप बतलाते हैं; कोई अजपा[7] मंत्र का उपदेश करते हैं और जो तत्वज्ञानी हैं वे विस्तार के साथ

---

१ 'तुकाई' तुलजापुर की देवी को कहते हैं। २मुद्रा=विषयों से दृष्टि हटा कर एक विशेष पदार्थ पर, एक विशिष्ट प्रकार से, लगाना। ३ दृष्टि को कोई न कोई अपूर्व पदार्थ दिखाना। ४ अनाहतध्वनि; प्राणी की देह में जो अनेक ध्वनियां सतत हुआ करती हैं। ये दस प्रकार की हैं। मामूली ध्वनियां जो बाहर सुन पड़ती हैं वे आघात से उत्पन्न होती हैं, परन्तु शरीर के भीतर की ध्वनियों की वह दशा नहीं है, इसी लिए उन्हें 'अनाहत' कहते हैं। ५ यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ये योग के आठ अंग हैं। ये आठो अंग सधने पर योगसिद्धि होती है। योगः=चित्तवृत्तिनिरोधः ६. शरीर में गुदाद्वार से लेकर ब्रह्मरंध्र तक सात स्थानों में सात चक्र हैं। ७ प्राणी के श्वासो-

ब्रह्मज्ञान बतलाते हैं ॥ २५ ॥ कोई सगुण और कोई निर्गुण का उपदेश करते हैं और कोई तीर्थाटन करने का उपदेश करते हैं ॥ २६ ॥ कोई महावाक्यों को बतला कर उनका जप करने के लिए आज्ञा देते हैं और कोई 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का मंत्र देते हैं ॥ २७ ॥ कोई शाक्तमार्ग बतलाते हैं; कोई मुक्तिमार्ग की प्रतिष्ठा करते हैं और कोई भक्तिपूर्वक इंद्रिय-पूजन कराते हैं ॥ २८ ॥ कोई वशीकरण, स्तंभन, मोहन, उच्चाटन के मंत्र बतलाते हैं और कोई नाना प्रकार के टोनों का उपदेश करते हैं ॥ २९ ॥ यह मंत्रों की दशा है! बस अब, कहां तक बतलावें-इस प्रकार के असंख्यों मंत्र होंगे! ॥ ३० ॥ अस्तु। मंत्र तो अनेक हैं; पर ज्ञान के बिना सब निरर्थक हैं। इस विषय में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं:—॥ ३१ ॥

नानाशास्त्रं पठेल्लोको नानादैवतपूजनम्
आत्मज्ञानंविना पार्थ सर्वकर्म निरर्थकम् ॥ १ ॥
शैवशाक्तागमाद्या ये अन्ये च बहवो मताः ।
अपभ्रंशसमास्तेऽपि जीवानां भ्रांतचेतसाम् ॥ २ ॥
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिदमुत्तमम् ॥

तात्पर्य, ज्ञान के समान पवित्र और उत्तम अन्य कुछ नहीं देख पड़ता। इस लिए पहले आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए ॥ ३२ ॥ सब मंत्रों से आत्मज्ञान का मंत्र (गुह्य उपदेश) विशेष उत्तम है-इस विषय में भगवान ने बहुत जगह कहा है ॥ ३३ ॥

यस्य कस्य च वर्णस्य ज्ञानं देहे प्रतिष्ठितम् ।
तस्य दासस्य दासोऽहं भवे जन्मनि जन्मनि ॥ १ ॥

आत्मज्ञान की महिमा चतुर्मुख ब्रह्मा भी नहीं जानते; फिर बिचारा यह जीवात्मा प्राणी क्या जाने? ॥ ३४ ॥ सब तीर्थ करके स्नान-दान करनेका जो फल है उससे करोड़गुना फल भी ब्रह्मज्ञान की बराबरी नहीं कर सकता ॥ ३५ ॥

पृथिव्यां यानि तीर्थानि स्नानदानेषु यत्फलम् ।
तत्फलं कोटिगुणितं ब्रह्मज्ञान समं हि न ॥ १ ॥

च्छ्वास के साथ 'सोऽहं' की ध्वनि सतत हुआ करती है, उसे अजपा गायत्री कहते हैं। द० १७ स० ५ देखो। ८ "प्रज्ञानं ब्रह्म," "अहं ब्रह्मास्मि," "तत्वमसि." "अयमात्म ब्रह्म" ये चार महावाक्य क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के हैं।

अतएव, आत्मज्ञान गहन से भी गहन है। यह विषय अब बतलाते हैं, शान्त होकर सुनिये ॥ ३६ ॥

पाँचवाँ समास—बहुधा ज्ञान।

(आत्मज्ञान से भिन्न अनेक प्रकार के ज्ञान।)

॥ श्रीराम ॥

जब तक प्रांजल (सच्चा) ज्ञान नहीं है तब तक सब कुछ निष्फल है; क्योंकि ज्ञान के बिना कष्ट दूर नहीं हो सकता ॥ १ ॥ 'ज्ञान' का नाम लेते ही भ्रम होने लगता है—सब कोई कहते होंगे कि—भाई, इसमें, क्या रहस्य होगा? अच्छा, अब क्रमशः इस विषय को बतलाते हैं ॥ २ ॥ भूत, भविष्य, वर्तमान, भली भांति (स्पष्ट), मालूम होने को भी ज्ञान कहते हैं; पर यह ज्ञान नहीं है ॥ ३ ॥ बहुत विद्यापठन करना, संगीत-शास्त्र और रागज्ञान जानना; वैद्यकशास्त्र और वेदाध्ययन करना भी ज्ञान नहीं है ॥ ४ ॥ अनेक व्यवसायों का ज्ञान, नाना प्रकार की दीक्षाओं का ज्ञान और बहुत सी परीक्षाओं का ज्ञान भी सच्चा ज्ञान नहीं है ॥ ५ ॥ नाना प्रकार की वनिताओं, अनेक भांति के मनुष्यों और बहुत तरह के नरों की परीक्षा करना भी कोई ज्ञान नहीं है ॥ ६ ॥ बहुत प्रकार के अश्व, गज और श्वापदों (बनैले जीवों) की परीक्षा करना ज्ञान नहीं है ॥ ७ ॥ पशु-पक्षी, इत्यादि नाना प्रकार के जीवों की परीक्षा करना भी ज्ञान नहीं है ॥ ८ ॥ नाना प्रकार के यान, वस्त्र और शस्त्रों की परीक्षा करना भी ज्ञान नहीं कहा जा सकता ॥ ९ ॥ अनेक प्रकार के धातुओं, सिक्कों और रत्नों की परीक्षा करना भी ज्ञान नहीं है ॥ १० ॥ नाना भान्ति के पाषाणों, काष्ठों और वाद्यों की परीक्षा करना भी ज्ञान नहीं है ॥ ११ ॥ अनेक प्रकार की पृथ्वी, नाना भांति के जल और तरह तरह के अग्निमयी पदार्थों की परीक्षा को भी ज्ञान नहीं कहते ॥ १२ ॥ नाना प्रकार के रस, बीज और अंकुरों की परीक्षा भी ज्ञान नहीं है ॥ १३ ॥ अनेक तरह के फल; फूल और वल्लियों की परीक्षा भी कोई ज्ञान नहीं है ॥ १४ ॥ अनेक प्रकार के दुःख और रोग तथा भांति भांति के चिन्हों की परीक्षा भी कुछ सच्चा ज्ञान नहीं है ॥ १५ ॥ अनेक प्रकार के मन्त्र, यन्त्र और बहुत तरह की मूर्तियों की परीक्षा कोई सच्चा ज्ञान नहीं है ॥ १६ ॥ अनेक क्षेत्रों

(सेना), गृहों (घरों) और पात्रों की परीक्षा भी सच्चा ज्ञान नहीं है ॥ १७ ॥ नाना प्रकार की भावी-परीक्षा; अनेक समयों की परीक्षा और नाना तर्कों की परीक्षा, ज्ञान नहीं है ॥ १८ ॥ नाना प्रकार की अनुमान-परीक्षा (अंदाजों की जाँच), अनेक निश्चयों की परीक्षा, और नाना प्रकार की परीक्षा, सच्चा ज्ञान नहीं है ॥ १९ ॥ अनेक प्रकार की विद्या, कला और चातुर्य की परीक्षा भी कोई सच्चा ज्ञान नहीं है ॥ २० ॥ नाना प्रकार के शब्दों की परीक्षा, अनेक अर्थों की परीक्षा और बहुत सी भाषाओं की परीक्षा भी सच्चा ज्ञान नहीं है ॥ २१ ॥ नाना प्रकार के स्वरों, वर्णों (अक्षरों) की परीक्षा और बहुत तरह की लेखनपरीक्षा (लिपियों की परीक्षा) भी कोई ज्ञान नहीं है ॥ २२ ॥ नाना प्रकार के मत, बहुत तरह के ज्ञान और वृत्तियों की परीक्षा करना भी सच्चा ज्ञान नहीं है ॥२३॥ अनेक प्रकार के रूप-रस-गन्धों की परीक्षा करना भी कोई सच्चा ज्ञान नहीं है ॥२४॥ सृष्टिज्ञान, भूमितिज्ञान और पदार्थज्ञान भी कोई सच्चा ज्ञान नहीं है ॥ २५ ॥ परिमित भाषण करना, तत्काल ही उत्तर देना (हाज़िर-जवाबी) और शीघ्र कविता करना (आशुकवि होना) भी ज्ञान नहीं है ॥२६ ॥ नेत्रपल्लवी, नादकला, करपल्लवी, भेदकला (भेद की बात बतलाना) और स्वरपल्लवी आदि संकेत-कला(संकेत के कौशल) जानना भी सच्चा ज्ञान नहीं है ॥ २७ ॥ काव्यकुशलता और संगीतकला-ज्ञान; गीत-प्रबन्ध और नृत्यकला का ज्ञान; सभा-चातुरी और शब्दसौन्दर्य का ज्ञान, इत्यादि कोई सच्चे ज्ञान नहीं हैं ॥ २८ ॥ वाग्विलास (वाणीसौन्दर्य), मोहनकला (मोह लेने या वश में करने की युक्ति); रम्य और रसाल गायनकला (गायनसौन्दर्य); हास्य, विनोद और कामकला (कामकलोल) की युक्ति)–यह ज्ञान नहीं है ॥ २९ ॥ नाना प्रकार के कौशल, चित्रकला, वाद्यकला, संगीत की युक्ति और नाना प्रकार की विचित्र कलाओं को भी सच्चे ज्ञान में गिनती नहीं है ॥ ३० ॥ चौंसठ कलाओं से लेकर अन्य जितनी नाना प्रकार की कलाएं हैं वे सब जानना, चौदह विद्याएं और सकल सिद्धियां जानना भी कोई ज्ञान नहीं है ॥ ३१ ॥ अस्तु। चाहे कोई सकल कलाओं में प्रवीण हो और सम्पूर्ण विद्याओं से परिपूर्ण (सम्पन्न) हो, तौ भी यह केवल कुशलता है–इसे 'ज्ञान' कभी नहीं कह सकते ॥ ३२ ॥

यह सब ज्ञान हुआ सा भास (मालूम) होता है; पर मुख्य ज्ञान, सो तो दूसरा ही है–वहां (उस मुख्य ज्ञान के तईं) प्रकृति (माया) का संसर्ग बिलकुल नहीं है ॥ ३३ ॥ दूसरे के जी की बात जान लेना सच्चा ज्ञान जान पड़ता है; परन्तु यह आत्मज्ञान का लक्षण नहीं है ॥३४॥ एक

बहुत अच्छा महानुभाव मानसपूजा करते करते बीच में कुछ भूल गया; इतने में किसी एक ने अन्तर्ज्ञान से यह भूल जान कर उस महानुभाव से ललकार कर कहा कि, "ऐसा नहीं है: आप यहां भूल गये"—ऐसी भीतर की दशा जाननेवाले को लोग परमज्ञाता कहते हैं: पर जिस ज्ञान से मोक्षप्राप्ति होती है, सो ज्ञान यह नहीं है ॥ ३५ ॥ ॥३६॥ बहुत प्रकार के ज्ञान हैं: जो बतलाये नहीं जा सकते: पर जिससे सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है वह ज्ञान दूसरा ही है ॥ ३७ ॥ इस पर शिष्य पूछता है कि, "महाराज! तो फिर वह ज्ञान कौनसा है जिसके द्वारा परम शान्ति प्राप्त होती है? उसे विस्तारपूर्वक बतलाइये" ॥ ३८ ॥ अच्छा, वह शुद्ध ज्ञान अगले समास में बतलाते हैं। ध्यानपूर्वक सुनिये ॥ ३९ ॥

छठवाँ समास—शुद्ध ज्ञान का निरूपण!

॥ श्रीराम ॥

शुद्ध ज्ञान आत्मज्ञान है, और 'आत्मज्ञान' का लक्षण यह है कि स्वयं आप ही अपनेको जानना चाहिए ॥ १ ॥ मुख्य देवता को जानना, सत्य-स्वरूप को पहचानना और नित्यानित्यका विचार करना—इसका नाम है 'ज्ञान' ॥ २ ॥ जहां इस सम्पूर्ण दृश्यप्रकृति का लय हो जाता है: जहां पंचभौतिक कुछ रहता ही नहीं: जहां द्वैत का जड से नाश हो जाता है—(अर्थात् जहां एक को छोड कर और कुछ रहता ही नहीं) इसका नाम 'ज्ञान' है ॥ ३ ॥ जो मन और बुद्धि के लिए भी अगोचर है; जहां तर्क की गति नहीं है: जो उल्लेख (निर्देश) और 'परा[1] से भी परे है, उसका नाम है 'ज्ञान' ॥ ४ ॥ जहां दृश्यमान कुछ नहीं है: जहां 'अहंब्रह्मास्मि'[2] यह ज्ञान भी अज्ञान है: ऐसा जो शुद्ध और विमल स्वरूपज्ञान है वही 'ज्ञान' है ॥ ५ ॥ सब की साक्षी जो तुरीयावस्था[3] है उसे लोग 'ज्ञान' कहते

---

१ चारों प्रकार की वाणियों में सब से बडी ज्ञानवान वाणी! २ मैं ब्रह्म-स्वरूप हूं-यह ज्ञान। ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति होने पर यह ज्ञान न रहना चाहिये और यदि यह ज्ञान बना रहा तो अज्ञान ही है। ३ अवस्था चार हैं:—जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अथवा तुर्या। जागृति में जीव सब प्रकार के बाहरी व्यवहार करता है; स्वप्न में सब इन्द्रियों का लय हो जाता है और केवल मन ही सब व्यवहार करता है। सुषुप्ति=गाढ़ी नींद। इस अवस्था में सब इन्द्रियों का और मन का भी अज्ञान में लय जाता है; केवल जीव मृत अवस्था में रहता

है. परन्तु उस अवस्था में भी जो ज्ञान होता है, वह पदार्थज्ञान से भिन्न नहीं है; अतएव वह भी व्यर्थ है ॥ ६ ॥ क्योंकि दृश्य पदार्थ के जानने को पदार्थज्ञान ही कहते हैं और शुद्ध स्वरूप के जानने को स्वरूपज्ञान कहते हैं ॥ ७ ॥ जहां किसी का अस्तित्व ही नहीं है वहां 'सर्वसाक्षित्व'-सब का साक्षीपन-कहां से आया ? इस लिए तुर्या का ज्ञान भी शुद्ध न मानना चाहिए ॥ ८ ॥ 'ज्ञान' अद्वैत को कहते हैं-(जहां एक को छोड़ कर दूसरा है ही नहीं) -और तुर्यावस्था तो प्रत्यक्ष द्वैतरूपी है—(अर्थात् तुर्या 'सब को साक्षी है'-इस लिए एक तो स्वयं तुर्या हुई और दूसरे वे सब हुए, जिनकी वह साक्षी है)-अतएव तुर्यावस्था का ज्ञान शुद्ध ज्ञान नहीं है। शुद्ध ज्ञान कुछ और ही है ॥ ६ ॥ अच्छा अब शुद्ध ज्ञान का लक्षण सुनियेः—" हम शुद्ध स्वरूप ही हैं "-इसका अनुभव होना ही शुद्ध ज्ञान है* ॥ १० ॥ महावाक्य (तत्वमसिः तत्+त्वम्+असि, वह (ब्रह्म) तू है) का मन्त्र अच्छा है: परन्तु इस का जप नहीं कहा गया; इस वाक्य का तो साधक को विचार ही करना चाहिए ॥११॥ यह महावाक्य कुल मन्त्रों का सार है; पर उसका विचार कोही ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि उसके जप से अज्ञानान्धकार नहीं मिट सकता ॥ १२ ॥ यदि इस महावाक्य का अर्थ लिया जाय तो " हम स्वयं ब्रह्म ही हैं " इस लिए, उसका जप करने से व्यर्थ परिश्रम के सिवा और कोई लाभ नहीं होता ॥१३॥ इस महावाक्य का विवरण करना ही ज्ञान का मुख्य लक्षण है। उसके शुद्ध लक्ष्य-अंश से जान पड़ता है कि हम ब्रह्मस्वरूप ही हैं ॥ १४ ॥ अपने को अपना मिलना (अर्थात् यह मालूम होना कि मैं कौन हूं-आत्मस्वरूप की पहचान होना) यह ज्ञान परम दुर्लभ है। यह ज्ञान आदि अन्त में स्वयंभू-स्वरूप ही है ॥ १५ ॥ जहां से यह सब कुछ प्रगट होता है और जिसमें यह सब लीन होता है वह ज्ञान होने पर बन्धन की भ्रान्ति मिटती है ॥ १६ ॥ जिसके तईं ये सब मतमतान्तर निर्बल हो जाते हैं और अति सूक्ष्म विचार से देखने पर उन सब में ऐक्य जान पड़ता है ॥ १७ ॥ जो इस चराचर का मूल है और जो निर्मल तथा शुद्धस्वरूप है, उसी का नाम, वेदान्तमत से, 'शुद्धज्ञान'

है। ये तीनों अवस्थाएं अज्ञान से होती हैं। तुरीयावस्था में जीव को स्वरूप का ज्ञान होता है—अर्थात् उसे यह अनुभव होता है कि मैं ब्रह्मरूप हूं। परन्तु यह ज्ञान भी उपाधि—सहित ही है। शुद्ध यह भी नहीं है। इसके बाद उन्मनी अवस्था है, जिसमें मन का भी लय हो जाता है।

* 'हम' मायने 'अहं'; और 'शुद्ध स्वरूप' मायने 'ब्रह्म'-अर्थात् " अहं ब्रह्म " -यही 'हम शुद्ध स्वरूप हैं' और इसी का अनुभव होना " शुद्ध ज्ञान " है।

है ॥ १८ ॥ अपना मूलस्थान ढूँढ़ने से अज्ञान सहज ही में उड़ जाता है—इसी का नाम है मोक्ष देनेवाला ब्रह्मज्ञान ॥ १९ ॥ अपने को पहचानते पहचानते सर्वज्ञता प्राप्त होती है, और इससे एकदेशीयता बिलकुल जाती रहती है ॥ २० ॥ यह हेतु रख कर देखने से, कि 'मैं कौन हूं,' यह जान पड़ता है कि "मैं निश्चय कर के देहातीत स्वरूप ही हूं" ॥ २१ ॥

अस्तु। प्राचीन काल में इसी ज्ञान से अनेक महापुरुष मुक्त हो चुके हैं ॥ २२ ॥ व्यास, वसिष्ठ, शुक, नारद, जनक, आदि महाज्ञानी इसी ज्ञान से तिर गये ॥ २३ ॥ वामदेव, वाल्मीकि, अत्रि, और शौनक आदि ऋषीश्वर इसी ज्ञान से, वेदान्त का विचार करके परमात्मा को पा गये ॥ २४ ॥ सनकादिक ऋषि, आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, इत्यादि अनेक महात्मा इसी शुद्धज्ञान से मुक्त हो गये ॥ २५ ॥ सिद्ध, मुनि, महानुभाव, आदि सबों का अन्तर्भाव वही एक शुद्ध ज्ञान है और उसीके सुख से महादेवजी सदा डोलते रहते हैं ॥ २६ ॥ वह वेदशास्त्रों का सार है; वह गुरुप्रतीति और आत्मप्रतीति (आत्मानुभव) का विचार है और उसकी प्राप्ति भाविकों को भाग्य के अनुसार होती है ॥ २७ ॥ साधु, संत और सज्जन, जिसके द्वारा भूत, भविष्य तथा वर्तमान जानते हैं, उस ज्ञान से भी अधिक गुह्य (गोप्य) वह आत्मज्ञान है ॥ २८ ॥ तीर्थ, व्रत, तप, दान, धूम्रपान (अपने को उलटा टांग कर नीचे किया हुआ धुआं पीना), पंचाग्नि (चारों ओर से अग्निताप और ऊपर से सूर्यताप से तपने का तप) और गोरांजन (भगवान् के लिए अपने को अग्नि से जलाना) से वह नहीं प्राप्त होता ॥२९॥ सकल साधनों का फल वह है, वह सम्पर्ण ज्ञानों का शिरोमणी है और उससे संशय का समूल नाश हो जाता है ॥३०॥ छप्पन भाषा और उनके सब ग्रन्थों से लेकर वेदान्त तक–सब का वह एक ही गहन अर्थ है ॥३१॥ वह पुराणों से नहीं जाना जाता; वेद उसका वर्णन करते करते थक गये; परन्तु श्रीगुरुकृपा से, अब, इसी क्षण, मैं वही बतलाता हूं ॥ ३२ ॥ यद्यपि संस्कृत और मराठी आदि ग्रन्थों में मेरी कुछ भी गति नहीं है; परन्तु मेरे हृदय में कृपामूर्ति सद्गुरु स्वामी आ विराजे हैं; अतएव, अब मुझे संस्कृत और प्राकृत ग्रन्थों की कोई जरूरत नहीं है ॥ ३३–३४ ॥ वेदाभ्यास और सद्ग्रन्थ-श्रवण इत्यादि किसी प्रकार का भी परिश्रम या प्रयत्न न करने पर भी, केवल सद्गुरु कृपा से, सब कुछ सहज है ॥ ३५ ॥

मराठी आदि सब भाषाओं के कुल ग्रन्थों में संस्कृत–ग्रंथ श्रेष्ठ हैं; संस्कृत ग्रन्थों में भी वेदान्त सर्वश्रेष्ठ है ॥ ३६ ॥ क्योंकि वेदान्त में वेदों का सम्पूर्ण रहस्य आगया है ॥ ३७ ॥ उस वेदान्त का भी मथितार्थ (मथ कर निकाला गया अर्थ) जो अत्यन्त गहन परमार्थ है वह अब सुनिये ॥ ३८ ॥ अहो!

गहन से भी जो गहन है वह सद्गुरु का वचन है-सद्गुरु वचन से अवश्य शान्ति मिलती है ॥ ३९ ॥ सद्गुरुवचन ही वेदान्त है, सद्गुरुवचन ही सिद्धान्त है और सद्गुरुवचन ही प्रत्यक्ष आत्मानुभव है ॥४०॥ जो अत्यंत गहन है, जो मेरे स्वामी का वचन है, जिस से मुझे परम शान्ति मिली है; जो मेरे हृदय का गुह्य है, वही मैं अब, इसी क्षण, बतलाता हूं-मेरी ओर ध्यान देना चाहिए ॥ ४१-४३ ॥ "अहं ब्रह्मास्मि" यह वेद (यजुर्वेद) का महावाक्य है। इसका अर्थ अतर्कनीय है। उस से गुरुशिष्य का ऐक्य होता है ॥ ४४ ॥ इस महावाक्य का मर्म यह है कि-स्वयं तू ही ब्रह्म है— इस में संदेह अथवा भ्रम नहीं रखना! ॥ ४५ ॥ नवधा भक्ति में आत्मनिवेदन नामक जो मुख्य भक्ति है, उसका भी यही मर्म है ॥ ४६ ॥ ये पंचमहाभूत क्रमशः कल्पान्त में नाश हो जाते हैं; और प्रकृति-पुरुष (माया और ब्रह्म) भी ब्रह्म ही हो जाते हैं ॥ ४७ ॥ दृश्य पदार्थों के लुप्त होने ही वास्तव में 'मैं' भी नहीं रहता, और परब्रह्म तो आदि ही से अद्वैत है ॥ ४८ ॥ जहां सृष्टि की वार्ता ही नहीं है, वहां आदि ही से एकता, अर्थात् अद्वैत है— वहां पिंड या ब्रह्मांड किसी का पता नहीं है ॥ ४९ ॥ ज्ञानाग्नि के प्रकट होते ही दृश्यरूपी सारा कूड़ा-कचरा नष्ट हो जाता है, तदाकार हो जाने से भिन्नता का मूल टूट जाता है ॥ ५० ॥ जगत् की अनित्यता का ज्ञान हो जाने पर वृत्ति उस में नहीं लगती, वह उससे पराङ्मुख होती है, और इस लिए यद्यपि दृश्य (संसार) बना रहता है, तथापि उसका अभाव भास होता है—इस प्रकार स्वाभाविक ही आत्मनिवेदन हो जाता है ॥ ५१ ॥ अस्तु। जब गुरु में तेरी अनन्य भक्ति है तब तुझे ऐसी क्या चिन्ता है? उस से अलग रह कर-अभक्त बन कर-नहीं रहना चाहिए ॥ ५२ ॥ इस बात का दृढ़ीकरण होने लिए सद्गुरु की सेवा करनी चाहिए; क्योंकि सद्गुरु की सेवा से अवश्य ही समाधान होता है ॥ ५३ ॥ यही आत्मज्ञान है। इससे परमशान्ति मिलती है और भव-भय छूट जाता है ॥५४॥ जो देह ही को 'मैं' समझता है वह आत्मघातकी है। देहाभिमान के कारण वह अवश्य ही जन्म-मरण भोगता रहता है ॥ ५५ ॥

हे शिष्य! तू चारों देहों से अलग है; तू जन्मकर्म से भिन्न है; और सम्पूर्ण चराचर सृष्टि के भीतर बाहर तू ही भरा है ॥ ५६ ॥ वास्तव में, बद्ध कोई नहीं है-ये सब लोग भ्रान्ति से भूले हुए हैं; क्योंकि इन लोगों ने देहाभिमान को मजबूती से पकड़ लिया है ॥ ५७ ॥ हे शिष्य! परमार्थ के दृढ़ीकरण के लिए एकान्त में बैठ कर, स्वरूप में, (ब्रह्मस्वरूप या अहंस्वरूप में) विश्रान्ति लेना चाहिए ॥ ५८ ॥ जब अखंड (लगातार) श्रवण और मनन किया जाता है तभी समाधान मिलता है; और ब्रह्मज्ञान पूर्ण हो जाने

पर वैराग्य प्राप्त होता है ॥ ५९ ॥ हे शिष्य, स्वच्छन्दता के साथ-मनमानी तरह से-यदि तू इन्द्रियों को स्वतंत्र होने देगा तो इस से तेरे जन्म-मृत्यु का दुःख कभी न जायगा ॥ ६० ॥ जैसे मणि का त्याग करते ही राज्यलाभ होता है वैसे ही जिसे विषयों में वैराग्य उपजता है उसी को पूर्णज्ञान होता है ॥ ६१ ॥ सांग के मणि का लोभ करके, मूर्खता से, राज्य की अवहेलना करना अच्छा नहीं ॥ ६२ ॥ अविद्या छोड़ कर सुविद्या ग्रहण करनी चाहिये। उस से शीघ्र ही ईश्वर की प्राप्ति होती है ॥ ६३ ॥ जैसे कोई सान्निपात के दुःख में भयानक दृश्य देखता हो और औषधि पाते ही सुख और आनन्द पा जाता हो, वैसे ही अज्ञानरूप सन्निपात में भी मिथ्या दृश्य (सांसारिक) देख पड़ते हैं; परन्तु ज्ञानरूपी औषधि लेते ही उन मिथ्या दृश्यों का पता भी नहीं चलता ॥ ६४-६५ ॥ झूठे स्वप्नों से, जो सोनेवाला, भय से चिल्ला रहा हो उसे जगा देने से पहले की निर्भय दशा मिल जाती है ॥ ६६ ॥ स्वप्न है तो मिथ्या ही; परन्तु उसे (देखनेवाले को), सत्य जान पड़ने के कारण, दुःख होता है। परन्तु, जो मिथ्या है उस का निरसन ही कैसे किया जाय? ॥ ६७ ॥ वह (स्वप्न) जागनेवाले के लिए तो झूठा है; पर सोनेवाले को घेरे हुए है; जाग उठने पर उसे भी कोई भय नहीं है ॥ ६८ ॥ इसी प्रकार अविद्या की नींद इतनी गाढ़ी होती है कि उस से बड़ा भारी भ्रम समा जाता है। ऐसी दशा में श्रवण और मनन के द्वारा पूर्ण जागृति प्राप्त करनी चाहिए ॥ ६९ ॥ जो हृदयपूर्वक विषयों से विरक्त है, वही जागृत (सिद्ध) है ॥ ७० ॥ परन्तु जो विषयों से विरक्त नहीं हुआ वह साधक है-उसे बड़प्पन का अभिमान छोड़ कर पहले साधन ही करना चाहिए ॥ ७१ ॥ जो साधन भी नहीं कर सकता वह, अपने सिद्धपन के अभिमान से ही, बद्ध (सांसारिक बन्धनों से जकड़ा हुआ) है-उस से तो मुमुक्षु ही अच्छा है, जो ज्ञान का अधिकार तो रखता है ॥ ७२ ॥ अब बद्ध, मुमुक्षु, साधक और सिद्ध के लक्षण अगले समासों में बतलाये जाते हैं। सावधान होकर सुनिये ॥ ७३-७४ ॥

सातवाँ समास—बद्ध-लक्षण।

॥ श्रीराम ॥

सृष्टि के सम्पूर्ण चराचर जीव चार प्रकार के हैं:—बद्ध, मुमुक्षु, साधक और सिद्ध। इनके सिवा पांचवाँ प्रकार और कोई नहीं है। अब, इन चारों

इन लक्षणों एक एक समास में विस्तारपूर्वक बतलाते हैं ॥ १–३ ॥ उक्त चारों प्रकार के जीवों में से पहले, इस समास में, बद्ध के लक्षण, सावधान होकर, सुनिये। शेष तीनों के लक्षण आगे बतलाये गये हैं ॥ ४–५ ॥ जैसे अंधे को, बिना दृष्टि के, दसों दिशाएं शून्याकार जान पड़ती हैं उसी प्रकार, स्वार्थान्धता के कारण, बद्ध को भी, ज्ञानदृष्टि के बिना, सारा संसार सूना समझ पड़ता है ॥६॥ भक्त, ज्ञाता, तपस्वी, योगी, बैरागी, संन्यासी, इत्यादि जिन सत्पुरुषों से यह संसार सधा हुआ है वे कोई भी बद्ध पुरुष की दृष्टि में नहीं आते ॥ ७ ॥ कर्म-अकर्म, धर्म-अधर्म और सुगम परमार्थ-पंथ, वह नहीं जानता ॥ ८ ॥ सत् शास्त्र, सत्संगति, सत्पात्र और पवित्र सन्मार्ग भी उसे नहीं देख पड़ता ॥ ९ ॥ सारासार का विचार, स्वधर्म का आचार और परोपकार या दान-पुण्य नहीं जानता ॥ १० ॥ हृदय में भूतदया नहीं होती, शरीर पवित्र नहीं रखता और मनुष्यों को प्रसन्न करने के लिए, मृदु-वचन भी नहीं बोलता ॥ ११ ॥ बद्ध पुरुष भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, ध्यान, मोक्ष और साधन कुछ नहीं जानता ॥ १२ ॥ वह निश्चयात्मक देवता नहीं जानता; संत का विवेक नहीं जानता और माया के कौतुक को नहीं समझता ॥ १३ ॥ उसे परमार्थ की पहचान नहीं मालूम होती है; वह अध्यात्मनिरूपण नहीं जानता और न स्वयं अपने को ही जानता है ॥ १४ ॥ उसे जीव के जन्म का कारण नहीं मालूम होता; वह साधन का फल नहीं जानता और उसे यथार्थ सत्य का ज्ञान नहीं होता ॥ १५ ॥ उसे यह नहीं मालूम कि, जिस में वह खुद बँधा है, वह बन्धन कैसा है; उसे मुक्ति का लक्षण नहीं मालूम होता है और न उसे विलक्षण वस्तु (ब्रह्म) का ज्ञान होता है ॥ १६ ॥ शास्त्र का अर्थ बतलाने पर वह नहीं समझता; उसे अपना मुख्य स्वार्थ नहीं मालूम होता और वह यह नहीं जानता कि मैं संकल्प से बँधा हुआ हूं ॥ १७ ॥ आत्मज्ञान का न होना बद्ध का मुख्य लक्षण है। वह तीर्थ, व्रत, दान, पुण्य कुछ नहीं जानता ॥१८॥ उस में दया, करुणा, बिनती, मैत्री, शान्ति, क्षमा, आदि गुण नहीं होते ॥ १९ ॥ जिस के पास ज्ञान ही नहीं है उस में ज्ञान के लक्षण कहां से आवेंगे? जिस में कुलक्षण ही कुलक्षण भरे हैं वह बद्ध है ॥ २० ॥ नाना प्रकार के पाप करने में उसे परम संतोष जान पड़ता है और वह मूर्खता का हौसला रखता है ॥ २१ ॥ जिस पुरुष में काम, क्रोध, गर्व, मद, द्वंद, खेद, आदि अवगुण अधिकता से वास करते हों उसे बद्ध जानना चाहिये ॥ २२ ॥ दर्प, दंभ, विषय, लोभ, कर्कशता और अशुभता जिस पुरुष में विशेषता के साथ हों उसे बद्ध समझना चाहिए ॥ २३ ॥ व्यभिचार (कामासक्ति), मत्सर, असूया (परगुणेषु दोषाविष्करणम्), तिरस्कार, पाप, विकार, आदि अवगुणों ने जिसे घेर लिया हो वह बद्ध है

॥ २४ ॥ बद्ध पुरुष अभिमान, अकड़, अहंकार, व्यग्रता और कुकर्मों की खानि होता है ॥ २५ ॥ कपट, वाद्-विवाद, कुतर्क, भेद, क्रूरता, निर्दयता, आदि दुर्गुण उस में अधिक होते हैं ॥ २६ ॥ निन्दा, द्वेष, अधर्म, अभिलाषा, आदि बहुत प्रकार के दोष उस में अधिकता से वास करते हैं ॥ २७ ॥ उस में भ्रष्टता, अनाचार, नष्टता, एकंकार, अनीति, अविचार, आदि दुर्गुणों की अधिकता होती है ॥ २८ ॥ वह बहुत निष्ठुर, घातकी, हत्यारा, पातकी, क्रोधी होता है और अनेक कुविद्या जानता है ॥ २९ ॥ दुराशा, स्वार्थ, कलह, अनर्थ, दुर्मति और बदला लेने की बुद्धि आदि दोष उस में अधिकता के साथ होते हैं ॥ ३० ॥ कल्पना, कामना, तृष्णा, वासना, ममता, कुभावना आदि अवगुण उस में बहुत होते हैं ॥ ३१ ॥ वह विकल्पी, विषादी, मूर्ख, आसक्त, प्रपञ्ची औरअधिक उपाधियुक्त होता है ॥ ३२ ॥ वह बहुत वाचाल, पाखण्डी, दुर्जन, ढोंगी, दुष्ट, दुर्गुणी होता है ॥ ३३ ॥ अविश्वास, भ्रम, भ्रान्ति, तम, विक्षेप, आलस आदि उस में बहुतायत से होते हैं ॥ ३४ ॥ बद्ध पुरुष बहुत कृपण, उद्धट, दूसरे को भलाई न देख सकनेवाला, मस्त, असत्कर्मा और लापरवाह होता है ॥ ३५ ॥ जो परमार्थ विषय में अज्ञान हो; प्रपञ्च का भारी ज्ञान रखता हो और जिसे स्वयं समाधान हो उस का नाम बद्ध है ॥ ३६ ॥ वह परमार्थ का अनादर करता है; प्रपञ्च का अति आदर करता है और गृहस्थी का भार खुशी से ढोता है ॥ ३७ ॥ जिसे सत्संग अच्छा नहीं लगता; जिस को सन्त-निन्दा से प्रीति है और जिसने देह-बुद्धि की बेड़ियां डाल ली हैं उसका नाम बद्ध है ॥ ३८ ॥ वह हाथ में द्रव्य की जपमाला लिये रहता है; प्रत्येक समय कांता का ध्यान करते रहता है और उस के पास सत्संग का अभाव रहता है ॥ ३९ ॥ वह सदा नेत्रों से स्त्री तथा धन को देखता है; कानों से भी इन्हीं की चर्चा सुना करता है, और धन ही की चिन्ता करता रहता है ॥ ४० ॥ वह काया, वाचा, मन, चित्त, वित्त, जीव प्राण से धन और स्त्री का ही भजन करता रहता है ॥ ४१ ॥ वह सम्पूर्ण इन्द्रियां स्थिर करके उन्हें स्त्री और धन में ही लगा देता है ॥ ४२ ॥ वह स्त्री और धन ही को तीर्थ; स्त्री और धन ही को परमार्थ तथा स्त्री और धन ही को सर्वस्व जानता है ॥ ४३ ॥ बद्ध पुरुष, व्यर्थ समय न खोते हुए, सदा गृहस्थी की चिन्ता करता रहता है; सब कथा-वार्ता उसी को समझता है ॥ ४४ ॥ उसे अनेक प्रकार की चिन्ता, उद्वेग और दुःखों का संसर्ग बना रहता है और वह परमार्थ का त्याग कर देता है ॥ ४५ ॥ घड़ी, पल और निमिष मात्र भी दुश्चित्त न होते हुए वह सदा स्त्री-धन-प्रपञ्च का ध्यान किया करता है ॥ ४६ ॥ तीर्थयात्रा, दान, पुण्य,

भक्ति, कथा-निरूपण, मन्त्र, पूजा, जप, ध्यान, आदि सभी कुछ वह स्त्री और धन ही को समझता है ॥ ४७ ॥ जागते में, स्वप्न में, रात में, दिन में, प्रत्येक समय, उसको विषय का ऐसा अध्यास लगता है कि जिस के मारे उसे क्षण का भी अवकाश नहीं मिलता ॥ ४८ ॥ ये बद्ध के लक्षण मुमुक्षु-अवस्था में बदल जाते हैं। उस के लक्षण भी अगले समास में सुनिये ॥ ४९ ॥

आठवाँ समास—मुमुक्षु-लक्षण ।

॥ श्रीराम ॥

कुलाभिमान के कारण जिस मनुष्य में अनेक क्षुद्र कुलक्षण आते हैं उस का मुखावलोकन करने से भी दोष ही लगता है ॥ १ ॥ उस बद्ध प्राणी को सौभाग्यवश, संसार में स्वैर-वर्तन करते हुए, कालान्तर में, खेद प्राप्त होता है ॥ २ ॥ इस प्रकार, वह संसार-दुःख से दुःखित होता है; त्रिविध-तापों से संतप्त होता है; और सौभाग्यवश, अध्यात्म-निरूपण सुन कर, अन्तःकरण में पछताता है ॥ ३ ॥ प्रपञ्च (गृहस्थी) से उदास होता है; मन में विषयों से ऊब जाता है और कहता है कि "बस, अब, गृहस्थी के बहुत हौसले पूरे हो चुके ॥ ४ ॥ सारा प्रपञ्च चला जायगा, यहां के श्रम का कोई फल न होगा; अब कुछ अपना समय सार्थक करूं" ॥ ५ ॥ इस प्रकार बुद्धि पलट जाती है; हृदय में चिन्तित होता है और कहता है कि "मेरी सब उमर व्यर्थ गई!" ॥ ६ ॥ पहले के किये हुए अनेक दोषों की याद आती है, और वे सब दोष मूर्तिमान् उसके आगे आ जाते हैं ॥ ७ ॥ वह यमयातना का स्मरण कर करके मन में डरता है और अपने अगणित पापों पर इस प्रकार पछताता है:—॥ ८ ॥

"मेरे मन में तो कभी पुण्य का विचार भी नहीं आया; पाप के पहाड़ जमा हो गये हैं; अब यह दुस्तर संसार कैसे पार होऊं? ॥ ९ ॥ जन्मभर अपने दोषों को छिपाया और भले भले आदमियों के गुणों में दोष लगाये! हे ईश्वर, मैंने संत, साधु और सज्जनों की व्यर्थ ही निन्दा की! ॥ १० ॥ निन्दा के समान और संसार में कोई दोष नहीं है, और यही दोष विशेष कर मुझ से हुआ है—मेरे अवगुणों से आकाश डूबने चाहता है! ॥ ११ ॥ सन्तों को नहीं पहचाना, भगवान् की अर्चा नहीं की, और अतिथि अभ्यागतों को भी संतुष्ट नहीं किया ॥ १२ ॥ पूर्वपापों के कारण

आदि परब्रह्म यथातथ्य स्थिर है ॥ १५ ॥ घड़ा बनने के पहले आकाश होता है और घड़ा के भीतर भी आकाश होता है; परन्तु घड़ा फूट जाने पर जैसे आकाश नहीं फूटता--वह नाश नहीं होता--वैसे ही परब्रह्म केवल अचल और अटल है--बीच में सम्पूर्ण चराचर जीव होते जाते हैं ॥ १६--१७ ॥ जो कुछ उत्पन्न होता है वह पहले ही ब्रह्म से व्याप्त होता है--और उसके नाश होने पर भी वह अविनाशी ब्रह्म बना रहता है ॥ १८ ॥ ज्ञाता पुरुष उसी अविनाशी का विवेक करते हैं--अर्थात् पञ्चमहातत्वों का पञ्चमहातत्वों में निरसन करके 'अपने' को प्राप्त करते हैं ॥ १९ ॥ यह देह पञ्चतत्वों से बनी है। ज्ञाता पुरुष इन तत्वों का अच्छी तरह आविष्करण करते हैं ॥ २० ॥ तत्वों का आविष्करण हो जाने पर उनका देहाभिमान जाता रहता है और इस प्रकार. विवेक से. वे निर्गुण ब्रह्म में अनन्य हो जाते हैं ॥ २१ ॥ विवेक से, इस देह के पांचो तत्व जब पांचो तत्वों में मिल जाते हैं तब 'मैं' या 'हम' का कुछ पता नहीं रहता ॥ २२ ॥ जब हम 'अपने' का खोज करते हैं, तब मालूम होता है कि 'हमारी' या 'मेरी' या 'अपनी' बातें बिलकुल मायिक हैं; क्योंकि तत्वों का निरसन करने से वास्तव में केवल निर्गुण ब्रह्म ही रहता है और कुछ नहीं ॥ २३ ॥ "अपनी" को (देहबुद्धि को) छोड़ कर केवल निर्गुण ब्रह्म का अनुभव करना ही आत्मनिवेदन का मर्म है; क्योंकि 'मैं--तू' या 'मेरा तेरा' का भ्रम तो तत्वों के साथ ही निकल जाता है ॥ २४ ॥ यदि 'मैं' को खोज करते हैं तो वह तो मिलता ही नहीं और इधर निर्गुण ब्रह्म बिलकुल अचल है। अतएव सच पूछिये तो 'हम' वही (निर्गुण ब्रह्म) हैं; परन्तु सद्गुरु के बिना यह बात समझ नहीं पड़ती ॥ २५ ॥ जब हम सम्पूर्ण सारासार का विचार करते हैं तब जो असार है सो निकल जाता है और निर्गुण ब्रह्म, जो सार है, वही रह जाता है ॥ २६ ॥ सारी सृष्टि में उपर्युक्त ब्रह्म ही व्याप्त है; परन्तु यह सब सृष्टि नश्वर है और ब्रह्म अविनाशी है ॥ २७ ॥ विवेक से जब हम इस सम्पूर्ण सृष्टि का संहार करते हैं--अर्थात् जब हम इस पञ्चभूतात्मक सृष्टि का पृथक्करण करते हैं--तब सार और असार अलग अलग निकल आते हैं और 'अपना' 'अपने' को मिल जाता है--अर्थात् आत्मलाभ होता है ॥ २८ ॥ स्वयं ही 'मैं'--पन की कल्पना कर ली गई है; पर वास्तव में वह कुछ नहीं है; क्योंकि तत्व--निरसन के बाद 'मैं'--पन चला जाता है और

---

* इस देह का विचार करने से जान पड़ता है कि यह पंचभूतात्मक है। इस पंचभौतिक शरीर के एक एक करके पांचों तत्व उन्हीं तत्वों में बांट देने से बाकी 'मेरा तेरा' कुछ नहीं बचता है। केवल निर्गुण आत्मा; इसीको 'अपना' या 'मेरा' कह सकते हैं।

केवल निर्गुण आत्मा रह जाती है ॥ २९ ॥ तत्त्वों का निरसन होने पर जो निर्गुण आत्मा बची रहती है वही "मैं" है-अर्थात् तत्त्व-निरसन के बाद मैंपन नहीं रह सकता है ॥ ३० ॥ जब तत्त्वों के साथ मैंपन चला जाता है, तब स्वाभाविक ही 'वह' स्वयं निर्गुण आत्मा हो जाता है ॥ ३१ ॥ और जहां आत्मनिवेदन हो गया, कि बस देव और भक्त में एकता हो जाती है और विभक्तता (भिन्नता) छोड़ कर वह सच्चा 'भक्त' बन जाता है ॥ ३२ ॥ निर्गुण में जन्म-मरण, पाप-पुण्य, आदि कुछ नहीं है—ऐसे निर्गुण में अनन्य (एक) होने पर वह स्वयं मुक्त हो जाता है ॥ ३३ ॥ पञ्चभूतों के घेर लेने पर प्राणी संशय में फँस जाता है और स्वयं 'अपने' को भूल कर कोऽहं (कौन हूं मैं) कहने लगता है ॥ ३४ ॥ भूतों में फँस जाने पर कहता है 'कोऽहं;' और विवेक करने पर कहता है 'सोऽहं,' (वह (ब्रह्म) मैं हूं;) और अनन्य (एक) होने पर, 'कोऽहं,' 'सोऽहं,' आदि सब [illegible] ॥ ३५ ॥ उपर्युक्त अनुभव होने के बाद, जो रहता है वही सन्त-स्वरूप है। ऐसा सन्त, सदेह रहते हुए भी देहातीत ॥ ३६ ॥ अस्तु। विषय गहन होने के कारण एक बार बतलाने से [illegible] नहीं जाता, इस लिए बार बार वही बतलाना पड़ता है-हम से, प्रसंग विशेष पर; कहीं कहीं, ऐसा हुआ; श्रोता लोग क्षमा करें * ॥ ३७ ॥

चौथा समास-माया का विस्तार।

॥ श्रीराम ॥

कृतयुग (सतयुग) सत्रह लाख-अट्ठाइस हजार वर्ष, त्रेतायुग बारह लाख-छानबे हजार वर्ष, द्वापर आठ लाख-चौंसठ हजार वर्ष, कलियुग चार लाख-बत्तीस हजार वर्ष—यों चारों युग मिला कर तेतालिस लाख-बीस हजार वर्ष हुए—यह एक चौकड़ी हुई। ऐसी हजार चौकड़ियों का ब्रह्मा का एक दिन होता है ॥ १—२ ॥ ऐसे जब हजार ब्रह्मा हो जाते हैं तब विष्णु की एक घड़ी होती है और जब हजार विष्णु हो जाते हैं तब महेश का एक पल होता है ॥ ३ ॥ और जब ऐसे हजार महेश हो जाते

---

* इसे पुनरुक्ति कहते हैं; कहीं कहीं इसे दोष मानते हैं। यहां पर श्री समर्थ रामदास स्वामी ने स्वयं उसका खुलासा कर दिया है-लोगों का सन्देह मिटाने के लिए उन्हें बार बार वही बात कहनी पड़ी है।

सारासार का विचार मन लगा कर सुनता है, और सन्देह को मिटा कर दृढ़तापूर्वक आत्मज्ञान का विचार करता है ॥ ६ ॥ साधक, अनेक प्रकार के सन्देह मिटाने के लिए, सत्संगति करता है; और शास्त्र का अनुभव, गुरु का अनुभव और आत्मानुभव तीनों को एक करता है* ॥ ७ ॥ वह विवेक से देहबुद्धि को रोकता है; आत्मबुद्धि को दृढ़तापूर्वक धारण करता है; और श्रवण तथा मनन किया ही करता है ॥ ८ ॥ दृश्य (संसार, प्रकृति, माया) का भान छोड़ कर साधक आत्मज्ञान को दृढ़ता से धारण करता है और विवेक से समाधान प्राप्त करता है ॥ ९ ॥ द्वैत की उपाधि (मायिक सृष्टि) को छोड़ कर अद्वैत वस्तु (केवल ब्रह्म) को वह, साधन के द्वारा प्राप्त करता है और एकता की समाधि लगाता है ॥ १० ॥ अपना ज्ञान जो मलीन हो गया था उसको, वह प्रकाशित करता है और विवेक से भव-सागर पार होता है ॥ ११ ॥ साधक पुरुष सद्ग्रन्थों में सुने हुए उत्तम साधुओं के लक्षणों को अपने आचरण में लाता है और परमात्मा में लीन होने का उत्साह रखता है ॥ १२ ॥ असत्कर्मों का त्याग करके सत्कर्मों की वृद्धि करता है और स्वरूपस्थिति को दृढ़ करता है ॥ १३ ॥ वह दिनोंदिन अवगुण त्यागता है; उत्तम गुणों का अभ्यास करता है और आत्म-स्वरूप में निदिध्यास लगाता है ॥ १४ ॥ अपने दृढ़निश्चय के बल से, दृश्य (संसार) का अस्तित्व होने पर भी, उससे बाध्य न होते हुए, वह सदैव स्वरूप में मिलता जाता है ॥ १५ ॥ प्रत्यक्ष होने पर भी माया को लक्ष में नहीं लाता है और अलक्ष या अदृश्य वस्तु (ब्रह्म) का अन्तःकरण में लक्ष करता है (अर्थात् 'अलख' को हृदय में लखता है)। इस प्रकार आत्मस्थिति की धारणा रखता है ॥ १६ ॥ जो 'वस्तु' लोगों से छिपी है, जिस का मन से अनुमान नहीं किया जा सकता, उसी को वह दृढ़ता से धारण करता है ॥ १७ ॥ जिस का वर्णन करते ही वाचा बंद हो जाती है; जिस को देखने की आंखें अंधी हो जाती हैं—अर्थात् वाचा और चक्षु की जहां गति नहीं है—उसी को साधक अनेक युक्तियों से प्राप्त करता है ॥ १८ ॥ जो साधने से साध्य नहीं होता, जो लखने से लख नहीं पड़ता उसी को वह अनुभव में लाता है ॥ १९ ॥ जहां मन का ही लोप हो जाता है; जहां तर्क ही

---

*जब तक सत्संगति नहीं होती तब तक नाना प्रकार के सन्देह नहीं मिट सकते; क्योंकि इन सन्देहों के मिटाने की शक्ति सन्त लोगों ही में है। सत्संगति करके साधक पुरुष आत्मानुभव, शास्त्रानुभव, गुरु-अनुभव—इन तीनों को एक ही सिद्ध करता है—अर्थात् अपना खुद का अनुभव; शास्त्रों का सिद्धान्त और गुरुद्वारा पाये हुए उपदेश—इन तीनों का अभ्यास करने पर अन्त में उसे इस बात का अनुभव हो जाता है कि ये तीनों एक ही हैं।

पड़ जाता है—उसीको साधक-पुरुष दृढतापूर्वक अनुभव में लाता है ॥ २० ॥ वह स्वानुभव के योग से तुरन्त ही 'वस्तु' को प्राप्त कर लेता है और वही 'वस्तु' स्वयं हो जाता है ॥ २१ ॥ वह अनुभव के मार्ग जान कर, योगियों के लक्षण प्राप्त करता है और संसार से अलिप्त रह कर कर्मयोगी बनता है ॥ २२ ॥ उपाधि से अलग रह कर, असाध्य 'वस्तु' को वह साधनों से प्राप्त करता है और आत्म-स्वरूप में बुद्धि को दृढ करता है ॥ २३ ॥ ईश्वर क्या है और भक्त क्या है, इस का मूल खोज कर देखता है और जो 'साध्य' करना है वही स्वयं हो जाता है ॥ २४ ॥ साधक पुरुष विवेकबल से गुप्त (अन्तर्मुख) हो जाता है—आप ही आप लुप्त (स्वरूप में सदा के लिए लय) हो जाता है; और यद्यपि (उसका स्थूल शरीर) देख पड़ता है, तथापि 'उसे' कोई नहीं देखता ॥२५॥ वह 'मैं-पन' को पीछे छोड़ देता है: स्वयं 'अपने' को ढूंढ़ता है और तुर्यावस्था को भी पार कर जाता है ॥ २६ ॥ इसके बाद उन्मनी अवस्था के अन्त में वह अखंड रीति से स्वयं 'अपने' से मिलता है, अर्थात् अखंड आत्मानुभव प्राप्त करता है ॥ २७ ॥

इस प्रकार साधक द्वैत का सम्बन्ध छोड़ देता है, भास के भासत्व का साक्षी भी नहीं रहता और देह में रह कर ही, विदेह बन जाता है ॥ २८ ॥ वह अखंड स्वरूपस्थिति में रहता है, देह का अहंकार छोड़ देता है और सम्पूर्ण सन्देहों से निवृत्त हो जाता है ॥ २९ ॥ पञ्चभूतों का यह सब विस्तार साधक को स्वप्नाकार मालूम होता है और निर्गुणस्वरूप का उसे निर्धार हो जाता है ॥ ३० ॥ जैसे स्वप्न में जो भय मालूम होता है वह जागृति में नहीं जान पड़ता, उसी प्रकार वह इस सम्पूर्ण पसारे को मिथ्या समझता है ॥ ३१ ॥ माया का जो यह रूप लोगों को सच्चा मालूम होता है उसे साधक स्वानुभव से मिथ्या समझता है ॥ ३२ ॥ जिस प्रकार निद्रा छोड़ कर जागृत होने पर मनुष्य स्वप्न-भय से छूट जाता है, उसी प्रकार माया छोड़ कर साधक स्वरूप-स्थिति को प्राप्त करता है ॥ ३३ ॥ इस तरह अन्तःकरण तो उसका स्वरूप-स्थिति में रहता है, और बाहर से वह निस्पृहता का अवलम्बन करता है—संसार से विरक्त होकर रहता है ॥ ३४ ॥ काम से छूट जाता है, क्रोध से दूर भगता है और मदमत्सर को एक ओर छोड़ देता है ॥ ३५ ॥ कुलाभिमान का त्याग करता है; लोक-लाज को लजाता है और विरक्ति-बल से परमार्थ की धूम मचा देता है ॥ ३६ ॥ अविद्या से दूर होता है; प्रपंच से हटता है; और अचानक लोभ के हाथ से छूट जाता है ! ॥ ३७ ॥ बड़प्पन को मार गिराता है: वैभव को लथाड़ बताता है; और विरक्तिबल से प्रतिष्ठा को भी झिझकोर डालता है

॥ ३८ ॥ भेद की कमर तोड़ देता है: अहंकार को मार गिराता है और सन्देहरूप शत्रु को पटक देता है! ॥ ३९ ॥ विकल्प का वध करता है, भवसिंधु को थप्पड़ों से मार भगाता है: और सब जीवों के विरोध को तोड़ डालता है ॥ ४० ॥ भवभय को डरा देता है: काल की टांगें तोड़ डालता है: और जन्ममृत्यु का मस्तक चूर चूर कर देता है! ॥ ४१ ॥ देह-सम्बन्धी अहंकार पर आक्रमण करता है: संकल्प पर धावा करता है और कल्पना को एकाएक मार डालता है ॥ ४२ ॥ भीति का अकस्मात् ताड़न करता है; लिंगदेह को छार छार कर डालता है और पाखण्ड को विवेकबल से पछाड़ देता है! ॥ ४३ ॥ गर्व को गर्व दिखलाता है: स्वार्थ को अनर्थ में डाल देता है: और अनर्थ का भी नीतिन्याय से दलन कर डालता है ॥४४॥ मोह को बीच से ही तोड़ डालता है; दुःख को दुधड़ कर देता है और शोक को काट-कर एक ओर फेंक देता है! ॥ ४५ ॥ द्वेष का देश-निकाला करता है, अभाव (नास्तिकता) का गला घोंट डालता है: और उसके डर से ही कुतर्क का पेट फट जाता है! ॥ ४६ ॥ ज्ञान से विवेक, और विवेक से वैराग्य-विषयक निश्चय, प्रबल करके वह अवगुणों का संहार करता है ॥ ४७ ॥ अधर्म को स्वधर्म से लूट लेता है: कुकर्म को सत्कर्म-द्वारा हटा देता है: और विचार से अविचार को हटा कर रास्ता बतलाता है ॥४८॥ तिरस्कार को कुचल डालता है: द्वेष को उखाड़ कर फेंक देता है: और अविषाद से विषाद को पैरों तले डाल देता है ॥४९॥ कोप पर छापा मारता है: कपट को भीतर ही भीतर कूट डालता है: और संसार के सब मनुष्यों को अपना मित्र बनाता है ॥ ५० ॥ प्रवृत्ति का त्याग करता है: सुहृदों का संग छोड़ देता है: और निवृत्तिपंथ से ज्ञानयोग को प्राप्त करता है ॥५१॥ विषयरूपी ठग को, ठग लेता है: कुविद्या को घेर लेता है और आप्तरूपी चोरों से अपने को बचाता है! ॥५२॥ परा-धीनता पर क्रुद्ध हो उठता है: ममता पर संतप्त होता है: और दुराशा का एकाएक त्याग कर देता है ॥ ॥ ५३ ॥ स्वरूप में मन को डाल देता है! यातना को यातना देता है और उद्योग तथा प्रयत्न की प्रस्थापना करता है ॥ ५४ ॥ साधनमार्ग से अभ्यास का संग करता है: उद्योग को साथ लेकर चलता है और प्रयत्न को अपना अच्छा सहकारी बनाता है! ॥५५॥ साधक, सावधान और दक्ष होकर, नित्य-अनित्य का विवेक करता है और देहबुद्धि का संग छोड़ कर केवल सत्संग ग्रहण करता है ॥ ५६ ॥ संसार को बलपूर्वक हटा देता है: विवेक से गृहस्थी का जंजाल छोड़ देता है: और शुद्ध आचार से अनाचार को भ्रष्ट करता है! ॥५७ ॥ भूल को भूल जाता है: आलस का आलस करता है, और दुश्चित्तता के लिए सावधान नहीं होता उसके लिए दुश्चित्त ही करता है! ॥ ५८ ॥

अस्तु। साधक पुरुष अध्यात्मनिरूपण का श्रवण करके अवगुणों को छोड़ देता है और उत्तम मार्ग पर आता है ॥ ५९ ॥ वह दृढतापूर्वक सब से विरक्त होकर परमार्थ-मार्ग का साधन करता है। अब सिद्ध के लक्षण अगले समास में सुनिये ॥ ६० ॥ यहां एक संशय उठ सकता है कि क्या निस्पृह और विरक्त मनुष्य ही साधक हो सकता है; और क्या सांसारिक मनुष्य बिना त्याग के साधक नहीं हो सकता? ॥ ६१ ॥ इस शंका का समाधान अगले समास में ध्यानपूर्वक सुनिये ॥ ६२ ॥

दसवाँ समास—सिद्ध-लक्षण

॥ श्रीराम ॥

पीछे जो यह शंका हुई कि, क्या सांसारिक मनुष्य, त्याग के बिना, साधक नहीं हो सकता; उसका अब समाधान करते हैं ॥ १ ॥ गृहस्थी में रहते हुए ही यदि साधक बनना हो, तो भी सन्मार्ग का स्वीकार और असत् मार्ग का त्याग करना ही चाहिए ॥ २ ॥ क्योंकि कुबुद्धि छोड़े बिना कुछ सुबुद्धि नहीं आ सकती। अतएव कुबुद्धि और असन्मार्ग का छोड़ना ही गृहस्थ या संसारी मनुष्य का त्याग है ॥ ३ ॥ प्रपञ्च को बुरा समझ कर, मन से जब विषय त्याग किया जाता है तभी, आगे चल कर, परमार्थ का मार्ग मिलता है ॥ ४ ॥ नास्तिकता, संशय और अज्ञान का त्याग धीरे धीरे होता है ॥ ५ ॥ उपर्युक्त भीतरी त्याग सांसारिक और निस्पृह (वैरागी) दोनों में अच्छी तरह से होना चाहिए। हां, निस्पृह के लिए बाह्य त्याग विशेष कहा है ॥ ६ ॥ परन्तु सांसारिकों में भी कहीं कहीं कुछ बाह्य त्याग अवश्य होना चाहिए; क्योंकि इस त्याग के बिना नित्य-नेम और सद्ग्रन्थों का श्रवण नहीं हो सकता ॥ ७ ॥ इस से उपर्युक्त शंका का सहज ही समाधान हो गया—अर्थात् यह सिद्ध हुआ कि त्याग के बिना साधक नहीं हो सकता। अस्तु; अब अपने पूर्वनिरूपण पर आइये ॥ ८ ॥ पिछले समास में साधक के लक्षण बतलाये गये थे; अब सिद्ध के लक्षण सुनियेः— ॥ ९ ॥

सिद्ध पुरुष स्वयं ब्रह्म बन जाता है; उस का संशय ब्रह्माण्ड के बाहर चला जाता है और उस का निश्चय अचल हो जाता है! ॥ १० ॥ बद्धता के अवगुण मुमुक्षुता में नहीं रहते और मुमुक्षुता के लक्षण साधकपन में नहीं रहते ॥ ११ ॥ तथा साधक की सन्देहवृत्ति, आगे चल कर, सिद्धा-

वस्था में, निवृत्त हो जाती है । अतएव, जिस में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है, उसी को सिद्ध जानना चाहिए ॥ १२ ॥ संशयरहित ज्ञान ही सिद्ध साधु का लक्षण है; सिद्ध पुरुष में संशय नहीं हो सकता ॥ १३ ॥ कर्म-मार्ग संशय से भरा है; साधन में संशय मिला है—सब में संशय भरा है—निस्सन्देह एक साधु ही है ॥१४॥ किसी को यदि अपने ज्ञान, वैराग्य और भजन में संशय है तो उसके लिए ये सब निष्फल हैं ॥ १५ ॥ किसी को यदि ईश्वर में, अथवा अपनी भक्ति में, शंका है किंवा यदि किसी का स्वभाव सन्देहयुक्त है, तो उस के ये सभी व्यर्थ हैं ॥ १६ ॥ किसी को यदि अपने व्रत, तीर्थ और परमार्थ में संशय है—निश्चय नहीं है—तो उस के ये सब व्यर्थ हैं ॥ १७ ॥ संशयात्मक भक्ति, प्रीति और संगति व्यर्थ हैं और इन से सन्देह ही बढ़ता है ॥१८॥ संशयों का जीना और करना-धरना सब कुछ व्यर्थ है ॥१९॥ पोथी, शास्त्रज्ञान, और कोई काम, यदि संशयसहित है—निश्चयरहित है—तो व्यर्थ है ॥२०॥ संशययुक्त दक्षता और संशययुक्त पक्षपात व्यर्थ है । संशययुक्त ज्ञान से मोक्ष कभी नहीं मिल सकता ॥२१॥ संत, पंडित और बहुश्रुत यदि संशयसहित—निश्चयरहित—हैं तो व्यर्थ हैं ॥ २२ ॥ संशयी श्रेष्ठता और संशयी व्युत्पन्नता व्यर्थ है तथा संशयी ज्ञाता, जिसमें निश्चय नहीं है, व्यर्थ है ॥ २३ ॥ निश्चय के बिना कोई भी अणुमात्र प्रामाणिक नहीं है—ये सब व्यर्थ ही सन्देह के प्रवाह में पड़े हैं ! ॥ २४ ॥ निश्चय के बिना जो कुछ कहा जाय, सब त्याज्य है । वाचालता में आकर, बहुत सा बोलना निरर्थक है ॥ २५ ॥ अस्तु । निश्चय के बिना जो वल्गना है वह सब केवल विडम्बनामात्र है । संशय से, कुछ समाधान नहीं मिल सकता ॥ २६ ॥ इस लिए, निस्सन्देह, संशयरहित ज्ञान और निश्चययुक्त समाधान ही, सिद्ध का लक्षण है ॥२७॥ इस पर श्रोता प्रश्न करता है कि, " कौन निश्चय किया जाय और निश्चय का मुख्य लक्षण क्या है? मुझे बतलाइये " ॥ २८ ॥ अच्छा, सुनिये । यह जानना, कि मुख्य देवता कैसा है, निश्चय का ठीक लक्षण है । इसके सिवा, नाना प्रकार के देवताओं की गड़बड़ कभी मचाना ही न चाहिए ! ॥ २९ ॥ जिसने चराचर को रचा है उसका विचार करना चाहिए और शुद्ध विवेक-द्वारा परमेश्वर को पहचानना चाहिए ॥ ३० ॥ मुख्य देवता कौन है, भक्त का लक्षण क्या है, सो जानना चाहिए और असत्य छोड़ कर सत्य का ग्रहण करना चाहिए ॥ ३१ ॥ पहले अपने सत्य देव को पहचानना चाहिए; फिर यह देखना चाहिए कि 'मैं कौन हूं?' सर्वसंगपरि-त्याग करके वस्तुरूप (ब्रह्मस्वरूप) होकर रहना चाहिए ॥ ३२ ॥ बन्धन का संशय तोड़ना चाहिए; मोक्ष का निश्चय करना चाहिए और पंचभूतों का व्यतिरेक (विच्छेद) करके यह देखना चाहिए कि उनका अन्वय (मिश्रण)

कैसा होता है ॥ ३३ ॥ पूर्वपक्ष (विचार करने की पहल) को सिद्धान्त (निश्चय की पहल) से मिला कर प्रकृति का मूल देखना चाहिए—इसके बाद शान्ति के साथ परमात्मा का निश्चय प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥ संशय, देहाभिमान के योग से, सत्य समाधान का नाश कर देता है, इस लिए आत्म-बुद्धि का निश्चय स्थिर रखना चाहिए ॥ ३५ ॥ आत्मज्ञान के सिद्ध हो जाने पर भी, कदाचित्, देहाभिमान सन्देह की कल्पना उठा देता है; इस लिए, आत्म-निश्चय-पूर्वक, समाधान की रक्षा करना चाहिए ॥ ३६ ॥ देह-बुद्धि की याद आते ही विवेक का विस्मरण हो जाता है: अतएव, आत्म-बुद्धि को दृढता से धारण करना चाहिए ॥ ७ ॥ निश्चयात्मक आत्मबुद्धि होना ही मोक्षश्री की दशा है। अहमात्मा—मैं आत्मा हूं—यह कभी भूलना ही न चाहिए ॥ ३८ ॥ इस प्रकार, यद्यपि यहां निश्चय का लक्षण बतला दिया है; पर सत्संग के बिना यह समझ में नहीं आता—संतों की शरण में जाने से सब संशय मिट जाते हैं ॥ ३९ ॥

अच्छा, अब, यह वार्ता बस कीजिए; और सिद्धों के लक्षण सुनिये। निःसन्देहता सिद्ध का मुख्य लक्षण है ॥ ४० ॥ सिद्ध-स्वरूप देह तो है ही नहीं; (अर्थात् वह निराकार है) फिर वहां सन्देह कहां से आया? इस लिए जो निःसन्देह है वही सिद्ध है ॥ ४१ ॥ देहाभिमान के कारण अनेक लक्षणों का अस्तित्व होता है; परन्तु जो देहातीत है उसके लक्षण क्या बत-लाये जायँ? ॥ ४२ ॥ जो चक्षु से लख नहीं पड़ता, उसके लक्षण कैसे बत-लाये जायँ? सिद्ध, जो निर्मल वस्तु (केवल ब्रह्मस्वरूप) है, उसमें लक्षण कहां से आये? ॥ ४३ ॥ लक्षण मायने केवल गुण—और उधर वस्तु (ब्रह्म) ठहरी निर्गुण—वही वस्तुरूप (निर्गुण ब्रह्मस्वरूप) होना सिद्धों का लक्षण है ॥ ४४ ॥ तथापि, ज्ञानदशक में सिद्धों के लक्षण, पहचान के लिए, बतलाये गये हैं, इसी कारण प्रस्तुत समास में यहीं व्याख्यान खतम कर दिया है। न्यूनाधिक के लिए श्रोता-गण क्षमा करें! ॥ ४५ ॥

छठवाँ दशक।



पहला समास—परमात्मा की पहचान।

॥ श्रीराम ॥

चित्त सुचित्त करना चाहिए, जो बतलाया गया है उसे मन में रखना चाहिए और एक पलभर, सावधान होकर, बैठना चाहिए* ॥ १ ॥ यदि अपने को किसी गाँव या देश में रहना है तो पहले उस गाँव या देश के स्वामी से मिलना चाहिए। उससे भेंट न करने से सुख कैसे मिलेगा ॥२॥ इस लिए जिसको जहां रहना हो उसको वहां के मालिक से अवश्य मिलना चाहिए—इस से सब प्रकार भलाई होती है ॥ ३ ॥ स्वामी से भेंट न करने से मान—अपमान हो जाना सहज है। ऐसी जगह अपना महत्व घटने में देर नहीं लगती ॥ ४ ॥ इस कारण: राव से लेकर रंक तक, जो कोई वहां का नायक हो, उससे अवश्य भेंट करना चाहिए। विचारी पुरुष इस बात का रहस्य जानते हैं ॥ ५ ॥ उससे भेंट किये बिना नगर में रहने से राजदूत बेगार में पकड़ेंगे और चोरी न करने पर भी वहां चोरी लगेगी! ॥ ६ ॥ अतएव, चतुर मनुष्य स्वामी से अवश्य भेंट करते हैं। जो ऐसा नहीं करते उन्हें अपने गार्हस्थ्य जीवन में अनेक संकट उठाने पड़ते हैं ॥ ७ ॥ गाँव में गाँव का अधिपति बड़ा कहा जाता है: फिर उससे देशाधिपति बड़ा होता है और देशाधिपति से भी नृपति बड़ा गिना जाता है ॥ ८ ॥ जो राष्ट्रभर का स्वामी होता है उसे राजा कहते हैं और बहुत राष्ट्रों के स्वामी को महाराजा कहते हैं: तथा महाराजाओं का भी जो राजा है: वह चक्रवर्ती राजा कहालाता है ॥ ९ ॥ एक नृपति होता है एक गजपति होता है: एक अश्वपति कहलाता है और एक भूपति कहाता है: परन्तु इन सब में बड़ा राजा चक्रवर्ती है ॥ १० ॥ अस्तु: इन सब का रचनेवाला 'ब्रह्मा' है-परन्तु

* श्रीसमर्थ रामदासस्वामी श्रोता लोगों से कह रहे हैं कि पहले कष्टमय संसार, त्रिविध ताप, नवधा भक्ति, सद्गुरु, सच्छिष्य और शुद्ध ज्ञान आदि विषयों का जो वर्णन हो चुका है उसे मन में जमाये रखना चाहिए—ऐसा न हो कि इस कान से सुनो और उस कान से निकाल दो। वे श्रोताओं को इशारा देते हैं कि अब चित्त सुचित्त करके बैठो; क्योंकि आगे अध्यात्मनिरूपण शुरू होनेवाला है! ॥ १ ॥

उस ब्रह्मा का भी रचयिता कौन है ? ॥ ११ ॥ ब्रह्मा, विष्णु, और महेश का भी जो निर्माणकर्ता है वही बड़ा है—उस परमेश्वर को नाना यत्नों से पहचानना चाहिए ॥ १२ ॥ जब तक वह परमात्मा प्राप्त नहीं होता तब तक यमयातना नहीं जाती । उस ब्रह्मांडनायक की भेंट न होना, अपने हक में अच्छा नहीं है ॥१३॥ सब को जिसने पैदा किया है —जिसने तमाम ब्रह्मांड को रचा है—उसको जिसने नहीं पहचाना वही पतित है ! ॥ १४ ॥ इस लिए ईश्वर को पहचानना चाहिए—जन्मसार्थक करना चाहिए और यदि यह कुछ न जान पड़े तो सत्संग करना चाहिए—इससे सब कुछ मालूम हो जायगा ॥ १५ ॥ जो भगवान् को जानता है वही संत है—और वही शाश्वत और अशाश्वत (नित्यानित्य) का निश्चय करता है ॥ १६ ॥ जिसने परमात्मा का अचल और अटल होना अनुभव कर लिया है उसीको महानुभाव, संत और साधु जानना चाहिए ॥१७॥ जो रहता तो लोगों में है; पर बातें करता है मनुष्यों के बाहर की—अलौकिक—और अन्तर में जिसके ज्ञान जगता है, वही साधु है ! ॥१८॥ परमात्मा को निर्गुण-निराकार अनुभव करना ही मुख्य ज्ञान है—इससे भिन्न सब अज्ञान है ॥१९॥ पेट भरने के लिए जो अनेक विद्याओं का अभ्यास किया जाता है उसे भी ज्ञान कहते हैं; पर उससे जन्म सार्थक नहीं होता ॥२०॥ जिससे परमात्मा पहचाना जाय वही एक ज्ञान है—और उसीसे जीवन सार्थक होता है—बाकी सब कुछ निरर्थक है; पेटविद्या है ! ॥ २१ ॥ जन्मभर पेट भरते हैं; देह की रक्षा करते हैं; पर अन्तकाल में वह सब व्यर्थ जाता है ॥ २२ ॥ एवं पेट भरने की विद्या को सद्विद्या न कहना चाहिए। जिससे सर्वव्यापक वस्तु (ब्रह्म) तत्काल ही मिल जाय वही ज्ञान है ! ॥ २३ ॥

यही ज्ञान जिसके पास है उसीको साधु जानना चाहिए—उसके पास जाकर परम शान्ति का उपाय पूछना चाहिए ॥ २४ ॥ अज्ञान पुरुष के पास अज्ञान पुरुष के जाने से ज्ञान कैसे मिलेगा ? दरिद्री पुरुष के पास दरिद्री यदि मांगने जाय तो उसे धन कहां से मिलेगा ? ॥ २५ ॥ यदि रोगी के पास रोगी जाय, तो वहां उसे आरोग्य कैसे मिलेगा; अथवा निर्बल के पास निर्बल को सहारा कैसे मिलेगा ? ॥ २६ ॥ पिशाच के पास पिशाच के जाने से क्या मतलब निकल सकता है ? और यदि उन्मत्त पुरुष उन्मत्त ही पुरुष की भेंट करे तो उसे समझावेगा कौन ? ॥ २७ ॥ भिखारी से भीख, दीक्षाहीन से दीक्षा और कृष्णपक्ष में उजेला कैसे मिलेगा ? ॥२८॥ अनियमित पुरुष के पास यदि अनियमित ही पुरुष जाय तो वह नियमित कैसे बन सकता है ? और यदि बद्ध पुरुष बद्ध ही से भेंट करे तो वह सिद्ध कैसे बनेगा ? ॥ २९ ॥ देहाभिमानी यदि देहाभिमानी के पास जाय

तो वह विदेह कैसे हो सकता है? इसी तरह ज्ञाता के बिना ज्ञानमार्ग नहीं मिल सकता ॥ ३० ॥ अतएव ज्ञाता को खोज करके, उसकी कृपा सम्पादन करके, उससे सारासार विचार का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए--तभी मोक्ष मिल सकता है ॥ ३१ ॥

दूसरा समास-परमात्मा की प्राप्ति।

॥ श्रीराम ॥

अब उस उपदेश के लक्षण सुनिये जिससे सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है। नाना प्रकार के मतों का देखना किसी काम नहीं आता ॥ १ ॥ जिस उपदेश में ब्रह्मज्ञान नहीं है उस में कोई विशेषता नहीं है—वह तो ऐसा ही है जैसे बिना दानों की भूंसी! ॥ २ ॥ छूछले में दाने और मट्ठे में मक्खन नहीं निकलता। चावलों के धोवन में दूध का स्वाद नहीं मिलता ॥ ३ ॥ किसी फल के वृक्ष की छाल खाना, अथवा उसके बकले चूसना या गिरी छोड़ कर नरेचा खाना मूर्खता है ॥ ४ ॥ इसी प्रकार जिस उपदेश में ब्रह्मज्ञान नहीं है वह व्यर्थ है—असार है। 'सार' को छोड़ कर कौन चतुर पुरुष असार का सेवन करेगा? ॥ ५ ॥

अस्तु। अब निर्गुण ब्रह्म का निरूपण करते हैं, इस लिए श्रोता लोगों को स्थिरचित्त हो जाना चाहिए ॥ ६ ॥ यह सारी सृष्टि पञ्चमहाभूतों से रची हुई है, यह सदा स्थिर नहीं रह सकती ॥७॥ इस पंचभौतिक सृष्टि के आदि और अन्त में निर्गुण ब्रह्म है। सिर्फ वही शाश्वत है और बाकी, जितना कुछ पञ्चभौतिक है, वह सब नाशवन्त है ॥८॥ इन भूतों को परमात्मा कैसे कह सकते हैं? किसी मनुष्य ही को यदि भूत कहा जाय तो वह चिढ़ता है ॥९॥ फिर वह तो जगत्पिता परमात्मा है, और उसकी महिमा ब्रह्मा आदि भी नहीं जानते—उसे भूत की उपमा कैसे दी जा सकती है? ॥ १० ॥ यह कहने से कि, परमात्मा पञ्चभूतों की तरह है, मिथ्यापन का दोष लगता है। यह बात सन्त लोग जानते हैं ॥ ११ ॥ पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश—इन में भीतर-बाहर-सब जगह-जगदीश व्याप्त है; परन्तु इन पञ्चभूतों का नाश हो जाता है और वह अविनाशी है ॥ १२ ॥ जहां तक रूप और नाम है वहां तक सभी भ्रम है! तथा नाम और रूप से जो परे है, उस का मर्म अनुभव से जानना चाहिए ॥ १३ ॥ पञ्चभूत और त्रिगुण से मिल कर जो यह अष्टधा प्रकृति बनी है उसका नाम है 'दृश्य'

॥ १४ ॥ ऐसा इस सब दृश्य (प्रकृति) को वेद और श्रुति नाशवन्त कहते हैं और निर्गुण ब्रह्म शाश्वत है। यह बात ज्ञानी जानते हैं ! ॥ १५ ॥ ब्रह्म, शस्त्र से कट नहीं सकता, पावक से जल नहीं सकता; जल से गल नहीं सकता; वायु से उड़ नहीं सकता। वह गिरता-पड़ता नहीं है; और बनता बिगड़ता भी नहीं है* ॥ १६-१७ ॥ वह किसी वर्ण का नहीं है, वह सब से परे है; और सर्वदा बना ही रहता है ॥ १८ ॥ देख नहीं पड़ता तो क्या हुआ; परन्तु वह है। सब जगह जहां-तहां सूक्ष्म रूप से भरा हुआ है॥१९॥ मनुष्य की दृष्टि को कुछ ऐसी आदत पड़ गई है कि जो कुछ उसे देख पड़ता है उसी को तो वह समझता है कि 'है' और बाकी, जो गुह्य है, उस को गौण्य कह कर, वह उसकी उपेक्षा करता है ! ॥२०॥ परन्तु सच तो यह है कि जो कुछ प्रकट है उसे असार समझना चाहिए और जो गुप्त है उसे सार जानना चाहिए-यह विचार गुरू के ही मुख से अच्छी तरह समझ पड़ता है ॥२१॥ जो समझ न पड़े उसे विवेक-बल से समझना चाहिए; जो देख न पड़े उसे विवेक बल से देखना चाहिए और जो जान न पड़े उसे विवेक-बल से ही जानना चाहिए ॥२२॥ जो गुप्त है उसी को प्रकट करना चाहिए; जो असाध्य है उसी को साधना चाहिए और जो अवघड़ या कठिन है उसी का अच्छी तरह, अभ्यास करना चाहिए ॥ २३ ॥ चारों वेद, चतुर्मुख ब्रह्मा और सहस्रमुख शेष जिस का वर्णन करते करते थक गये हैं उसी परब्रह्म को प्राप्त कर लेना चाहिए ॥२४॥ सन्तों के मुख से अध्यात्म-निरूपण का श्रवण करने से वह प्राप्त होता है ॥ २५ ॥ वह पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश नहीं है और न वह रंग-रूप या नाम से व्यक्त हो सकता है। सारांश, वह सब प्रकार अव्यक्त है ॥२६॥ वही सत्य 'देव' है; और यों तो लोगों ने, अपने अज्ञान से, अनेक देवताओं की कल्पना कर ली है। जितने गाँव हैं उतने ही देवता हैं ! ॥ २७ ॥ यह तो परमात्मा का निश्चय हुआ; अर्थात् यह बात समझ में आगई कि परमात्मा निर्गुण है। अब स्वयं 'अपने - को' ढूँढ़ना चाहिए ॥ २८ ॥ जो (आत्मा) यह समझता है कि "शरीर मेरा" है 'वह' वास्तव में शरीर से अलग ही है और 'जो' कहता है कि "मन मेरा" है 'वह' वास्तव में मन से भी भिन्न है ॥ २९ ॥ इधर देह का विचार करने से मालूम होता है कि यह सब पञ्चभूतों से ही बनी है। अच्छा, अब उन पांचों तत्वों में, अलग कर देने से, बाकी जो सार रहता है, वह और कुछ नहीं—आत्मा ही है ॥ ३० ॥ अब, जिसको 'मैं मैं' कहते हैं उसका तो वहां कहीं पता ही नहीं है—खोज किस की की जाय?

*नैनं छिन्दति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः—गीता.

पञ्चतत्व थे, सो जहां के तहां मिल गये! ॥३१॥ इस तरह से विचार करने पर मालूम होता है, कि यह शरीर एक पञ्चतत्वों की गठड़ी है, इसका नाश हो जाता है और दूसरा आत्मा है, उसका नाश नहीं होता -वह अविनाशी है। बस, इन दो के सिवाय तीसरा " मैं "-वैं यहा कोई नहीं है ॥ ३२-३३ ॥ जब ' मैं ' का कुछ पता ही नहीं है, तब फिर जन्ममृत्यु किस की हो और कैसे हो ? यदि कहा जाय कि आत्मा जन्म लेता है तो यह कैसे हो कसता है: क्योंकि वह पाप-पुण्य, जन्म-मृत्यु, आदि से अलग है ॥३४॥ जब 'उस' निर्गुण में पाप-पुण्य, जन्म-मरण, यमयातना आदि नहीं हैं तब ' हम ' में भी वे नहीं हैं: क्योंकि ' हम ' भी तो ' वही ' हैं ॥३५॥ सारांश, यह जीव देहाभिमान के कारण बद्ध है: विवेक से देहाभिमान छूट जाता है और यह मुक्त हो जाता है ॥ ३६ ॥ बस, इतने से जन्म सार्थक हो जाता है-निर्गुण आत्मा और ' हम '—दोनों—एक हो जाते हैं। परन्तु, इसके दृढ़ीकरण के लिए, उक्त विवेक बार बार करते ही रहना चाहिए ॥ ३६ ॥ जैसे जग उठने पर स्वप्न नहीं रहता है वैसे ही विवेक से देखने पर ' दृश्य ' (पञ्च-भौतिक सृष्टि) अदृश्य हो जाता है—मिट जाता है—नाश हो जाता है—और स्वरूप (ब्रह्मस्वरूप) के अनुसन्धान (खोज) से प्राणिमात्र तिर जाते हैं ॥३८॥ विवेक से ' अपने ' का निवेदन करके परमात्मरूप हो जाना चाहिए—उससे भिन्न न रहना चाहिए—यही आत्मनिवेदन है ॥३९॥ पहले अध्यात्म-निरूपण का श्रवण करना चाहिए: सद्गुरु के चरणों की सेवा करनी चाहिए: तब, इसके बाद, सद्गुरु के प्रसाद से आत्मनिवेदन होता ही है ॥ ४० ॥ आत्मनिवेदन के बाद अन्तःकरण में यह बोध होता है कि वस्तु निर्मल, अलिप्त, सम्पूर्ण, या अखण्ड, और शाश्वत है: और वही वस्तु (जो आत्मा है) 'हम स्वयं' हैं ॥४१॥ उपर्युक्त ब्रह्मज्ञान से यह जीव स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है और उसका संसार बन्धन कट जाता है, तथा वह आनन्द के साथ, देह को प्रारब्ध पर छोड़ देता है* ॥४२॥ इसे आत्मज्ञान कहते हैं-इसीसे परम शान्ति मिलती है और इसी ज्ञान से यह जीव परब्रह्म से अनन्य होकर रहता है-सच्चा ' भक्त ' (मिला हुआ) हो जाता है॥४४॥ उस समय उसकी यह स्थिति हो जाती है कि, अब जो कुछ होना हो, सो

---

* जब प्राणी ब्रह्मज्ञान होने से स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है-ब्रह्म में लीन हो जाता है-उस समय उसे इस पंचभौतिक सृष्टि, या दृश्य पदार्थ, अथवा प्रापंचिक कष्ट, आदि किसीका ज्ञान नहीं रह जाता-ये सब उसके लिए शून्य हो जाते हैं-वह अखंड ब्रह्म ही हो जाता है; ऐसी दशा में उसकी देह प्रारब्ध के भरोसे पर जाती है-अर्थात् इस देह का फिर कुछ भी हुआ करे-चाहे वह रहे; चाहे नाश हो, परन्तु ' वह ' सदा अविनाशी रहेगा।

हो और जो कुछ जाना हो, सो जाय. जन्ममृत्यु की मन में जो आशंका थी वह मिट गई-अब कुछ भी हुआ करे! ॥ ४४ ॥ इस प्रकार वह जन्म-मरण से मुक्त होकर परमात्मा को प्राप्त करता है। यह सब सन्तसमागम की महिमा है ॥ ४५ ॥

तीसरा समास-माया की उत्पत्ति।

॥ श्रीराम ॥

निर्गुण आत्मा निर्मल है; वह आकाश की तरह सर्वव्यापक है और अचल तथा सर्वकाल प्रकाशित है ॥ १ ॥ वह अखण्ड है; बड़े से भी बड़ा है; और आकाश से भी अधिक विस्तृत तथा सूक्ष्म है ॥ २ ॥ वह देख नहीं पड़ता और उसका भास नहीं होता; वह उपजता नहीं और न नाश होता है; वह न आता है और न जाता है ॥३॥ वह चलता नहीं, टलता नहीं, टूटता नहीं, छूटता नहीं, बनता नहीं, बिगड़ता नहीं ॥४॥ वह सदा सन्मुख ही रहता है; वह निष्कलंक और निखिल है और आकाश-पाताल-सब में-व्याप्त है ॥५॥ वह निर्गुण ब्रह्म अविनाशी है और सगुण माया नाशवान् है-इस जगत् में सगुण और निर्गुण दोनों मिले हैं ॥६॥ योगीश्वर लोग इस कर्दम (मिश्रण) का विचार इस प्रकार करते हैं; जैसे क्षीर नीर का विवेक राजहंस करते हैं ॥ ७ ॥ इस सम्पूर्ण चराचर पञ्चभूतात्मक सृष्टि में आत्मा व्यापक है—यह बात नित्य अनित्य का विवेक करने से जान पड़ती है ॥ ८ ॥ ईख की तरह, विवेक से, इस जगत् का रस, या सार, जो ईश्वर है उसे ले लेना चाहिए और बाकी चीहुर (मायिक दृश्य पदार्थ) छोड़ देना चाहिए॥९॥ रस की उपमा तो दी, पर वह नाशवान् और पतला है, परन्तु आत्मा शाश्वत (नित्य) और निश्चल है; इसके सिवा रस अपूर्ण है और आत्मा केवल तथा परिपूर्ण है ॥१०॥ आत्मा के समान यदि कुछ हो तो उसका दृष्टान्त दिया जाय। परन्तु उसके अभाव में, कोई न कोई दृष्टान्त देकर, किसी न किसी तरह से, समझना ही पड़ता है ॥ ११ ॥ अस्तु। ऐसी तो आत्मा की दशा ठहरी, तब वहां माया कैसे पैदा होगई? इसका दृष्टान्त देना कठिन है; परन्तु समझना चाहिए कि, जैसे आकाश में वायु की झोंक आ जाती है! ॥१२॥ वायु से तेज, तेज से आप, और आप से पृथ्वी उत्पन्न हुई ॥ १३ ॥ इसके बाद पृथ्वी से न जाने कितने जीव उत्पन्न हुए; परन्तु ब्रह्म इन सब के आदि अन्त में व्यापक है ॥१४॥ जो कुछ उत्पन्न हुआ है वह सब नश्वर है; परन्तु

मुझसे कुछ नहीं बन पड़ा ! मेरा मन सदा कुमार्ग ही में पड़ा रहा ! ॥१३॥ कभी शरीर को कष्टित नहीं किया, परोपकार नहीं किया और काम-मद के कारण आचार की रक्षा भी नहीं हो सकी ! ॥ १४ ॥ भक्ति माता को डुबा दिया; शान्ति और विश्रान्ति का भंग किया और मूर्खता के कारण सद्बुद्धि और सत्वासना को भ्रष्ट किया ! ॥ १५ ॥ अब जीवन कैसे सार्थक हो ? मैंने अनेक व्यर्थ दोष कर डाले ! विवेक तो मेरे पास कभी आया ही नहीं ॥ १६ ॥ कौन उपाय किया जाय ? कैसे परलोक मिले ? हा परमात्मन ! आपको मैं कैसे प्राप्त करूं ! ॥१७॥ मेरे मन में सत्भाव तो कभी उपजा ही नहीं, जन्मभर मान और प्रतिष्ठा ही के प्राप्त करने में लगा रहा, और कर्म का खटाटोप,ऊपर ऊपर (दिखाऊ) तथा दाम्भिकता से, किया ॥ १८ ॥ पेट के लिए हरि-कीर्तन किया, देवताओं को हाटवाट में लगाया* हा दैव! अपनी खोटी बुद्धि मैं ही जानता हूं ! ! १९ ॥ मन में अभिमान रख कर, मैं सदा ऊपर ऊपर से गर्वरहित बातें करता रहा और ध्यान करने के बहाने से भीतर ही भीतर धन की चिन्ता करता रहा ! ॥२०॥ मैंने शास्त्रज्ञान से जन्मभर लोगों को ठगा; पेट के लिए संतों की निन्दा की। हे ईश्वर ! मेरे हृदय में नाना प्रकार के दोष भरे हैं ! ! ॥२१॥ जो कुछ सत्य देखा उसीका खण्डन किया और मिथ्या ही का प्रतिपादन किया, इसी प्रकार उदर भरने के लिए, मैंने अनेक कपट-कर्म किये ! " ॥ २२ ॥

इस तरह मुमुक्षु पुरुष मन ही मन पछताता है और आध्यात्म-निरूपण कर पहले की अपनी सब चालें बदल देता है ॥ २३ ॥ पुण्यमार्ग की ओर उसका मन दौड़ता है, वह सत्संग की इच्छा करता है और संसार से विरक्त होता है ॥ २४ ॥ वह यह कहता है कि " चक्रवर्ती राजा तो अपना राज्य छोड़ कर चले ही गये-फिर मेरे वैभव की क्या गिनती है ! इस लिए अब सत्संगति करना चाहिए ! ॥ २५ ॥ वह अपने अवगुणों पर विचार करता है और विरक्ति-बल से उन्हें पहचानता है तथा पश्चात्ताप से वह मन ही मन अपनी इस प्रकार निन्दा करता है:—॥ २६ ॥

" मैं कैसा अपकारी और दंभधारी हूं ! मैं बड़ा अनाचारी हूं ! ॥ २७ ॥ मैं चांडाल, दुराचारी, खल और महापापी हूं! ॥२८॥ मैं अभक्त--दुर्जन हूं, मैं हीनों से भी हीन हूं, मैं पत्थर ही पैदा हुआ ! ॥ २९ ॥ मैं दुराभिमानी हूं, मैं अत्यन्त क्रोधी हूं, मुझमें कितने दुर्व्यसन भरे हैं ! ॥३०॥ मैं आलसी और मुँहचोर हूं; कपटी और कातर हूं और अविचारी तथा मूर्ख हूं !३१॥

* धन पैदा करने के लिए लोग बाजारों में, मेलों में, रास्तों पर, मूर्तियां रखते हैं; जिससे सब कोई पैसा उन पर चढ़ावे । यह बड़ा पाप-कर्म है ।

मैं निकम्मा और बकवादी हूं; पाखंडी और मुँहजोर हूं तथा कुबुद्ध और कुटिल हूं! ॥ ३२ ॥ मैं बिलकुल ही अज्ञान हूं, मैं सब से हीन हूं और मुझ में न जाने कितने कुलक्षण हैं ॥३३॥ मैं अनाधिकारी हूं, मलीन और अघोरी हूं; और अत्यन्त नीच हूं! ॥ ३४ ॥ मैं कैसा आपस्वार्थी हूं, मैं बड़ा अनर्थी हूं; और परमार्थ की सुझ में गन्ध भी नहीं है ॥३५॥ मैं अवगुणों की राशि हूं; और व्यर्थ के लिए जन्म लेकर भूमिका भार हुआ हूं!" ॥ ३६ ॥

इस प्रकार वह अपनी खुब निन्दा करता है; गृहस्थी से बिलकुल ऊब जाता है और सत्संग के लिए उत्सुक होता है ॥ ३७ ॥ वह अनेक तीर्थ करता है; शम, दम, आदि साधन करता है; अनेक ग्रन्थ अच्छी तरह पढ़ता है—परन्तु इन बातों से उसको समाधान नहीं होता—ये सब उसको सन्देह-युक्त जान पड़ते है—और कहता है कि अब सन्तों की शरण में जाना चाहिए ॥ ३८–३९ ॥ वह देहाभिमान, कुलाभिमान, द्रव्याभिमान और नाना प्रकार के अभिमान छोड़ कर सन्तचरणों में अनन्य होता है ॥ ४० ॥ वह अहंता छोड़ कर नाना प्रकार से अपनी निन्दा करता है और मोक्ष की इच्छा करता है ॥ ४१ ॥ वह अपने बड़प्पन पर लजाता है, परमार्थ के लिए कष्टित होता है और उसका संत-चरणों में विश्वास होता है ॥ ४२ ॥ वह गृह-स्वार्थ या प्रपंच छोड़ कर परमार्थ में उत्साह रखता है और यह कहता है कि "अब मैं सज्जनों का दास होऊंगा" ॥ ४३ ॥ उपर्युक्त लक्षणों से युक्त पुरुष को मुमुक्षु जानना चाहिए। अब आगे साधक के लक्षण कहते हैं ॥ ४४॥

नववाँ समास—साधक लक्षण।

॥ श्रीराम ॥

पिछले समास में मुमुक्षु के लक्षण संक्षेप से बतलाये, अब सावधान होकर साधक के लक्षण श्रवण कीजिए ॥ १ ॥ अपने सब पिछले दुर्गुणों को छोड़ कर सन्तसमागम करता है वह साधक कहलाता है ॥ २ ॥ जो सन्तों की शरण में जाता है, और सन्तजन जिसे आश्वासन भी देते हैं, उसे शास्त्रों में साधक कहा है ॥ ३ ॥ सन्तों से आत्मज्ञान का उपदेश पाकर जिस का संसार-बन्धन टूट गया है; और जो उस आत्मज्ञान की दृढ़ता के लिए साधन करता है, उसे 'साधक' कहते हैं ॥ ४ ॥ वह अध्यात्म-श्रवण से प्रीति रखता है; अद्वैत-निरूपण की ओर रुचि रखता है और सद्ग्रन्थों का मनन करके उनके अर्थ का सार निकालता है ॥ ५ ॥

हैं तब कहीं शक्ति (प्रकृति या माया) का आधा पल होता है—ऐसी संख्या सब शास्त्रों में कही है! ॥ ५ ॥

चतुर्युग सहस्राणि दिनमेकं पितामहम् ।
पितामहसहस्राणि विष्णोर्घटिकमेव च ॥ १ ॥
विष्णोरेकसहस्राणि पलमेकं महेश्वरम् ।
महेश्वरसहस्राणि शक्तिरर्धपलं भवेत् ॥ २ ॥

ऐसी अनन्त शक्तियां होती हैं और अनन्त रचनाएं होती जाती हैं, तो भी परब्रह्म की स्थिति जैसी की तैसी अखण्ड बनी रहती है॥५॥ सच पूछिये तो परब्रह्म की 'स्थिति' ही कहां से आई—यह बोलने की रीति है! उसके विषय में तो वेद-श्रुति भी "नेति नेति" (न-इति, न-इति) कहते हैं ॥ ६ ॥ चार हजार, सात सौ, साठ वर्ष कलियुग के बीत चुके* ॥ ७ ॥ चार लाख, सत्ताइस हजार, दो सौ, चालीस वर्ष कलियुग के और हैं। अब बिलकुल वर्णसंकर होनेवाला है! ॥ ८ ॥ इस चराचर सृष्टि में एकसे एक बढ़ कर पड़े हुए हैं। इस का पारावार नहीं है ॥ ९ ॥ कोई कहता है विष्णु बड़ा है; कोई कहता है रुद्र (महादेव) बड़ा है और कोई कहता है कि शक्ति सब में बड़ी है ॥ १० ॥ इस प्रकार, अपनी अपनी इच्छा के अनुसार, सभी कहते हैं; परन्तु यह सब कल्पान्त में नाश हो जायगा, क्योंकि श्रुति कहती है कि "यदृष्टं तन्नष्टम्"—अर्थात् जितना कुछ देख पड़ता है वह सब नश्वर है ॥ ११ ॥ सब लोक अपने अपने उपास्य देवता का अभिमान रखते हैं; परन्तु सत्य का निश्चय साधु ही कर सकते हैं ॥ १२ ॥ और, साधु यही निश्चय करते हैं कि, एक सर्वव्यापक आत्मा ही सत्य है और बाकी सभी चराचर सृष्टि मायिक है ॥ १३ ॥ भला आप ही अपने मन में विचारिये कि चित्र-लिखित सेना (मायिक सृष्टि) में यह कैसे जाना जाय कि कौन बड़ा है और कौन छोटा है! ॥ १४ ॥ मान लीजिए कि स्वप्न में हमने बहुत कुछ देखा; और छोटे बड़े की कल्पना भी कर ली; परन्तु जागने पर देखो क्या दशा हो जाती है! ॥ १५ ॥ जब हम जग कर देखते हैं तब हमें छोटा बड़ा कोई नहीं देख पड़ता; किन्तु मालूम होता है कि वह सब स्वप्न था ॥१६॥ कहां का छोटा और कहां का बड़ा—यह सब मायावी विचार है; सच पूछिये तो छोटे बड़े का निर्धार ज्ञानी ही जानते हैं ॥ १७ ॥ जो जन्म लेकर आता है वह यही कहते कहते मर

* यह संख्या श्रीमत् दासबोध के रचनाकाल की है—इसकी रचना सम्वत् १७१२ के लगभग हुई।

जाता है कि "मैं बड़ा हूं, मैं बड़ा हूं;" परन्तु इसका सच्चा विचार महात्मा ही करते हैं ॥ १८ ॥ यह बात वेद, शास्त्र, पुराण और साधुसन्त सभी कहते हैं कि जिन्हें आत्मज्ञान हो गया है वही श्रेष्ठ महाजन (सेठ नहीं; महात्मा) हैं ॥ १९ ॥ तात्पर्य, सब से बड़ा एक परमात्मा ही है और ब्रह्मा-विष्णु-महेश आदि उसके अन्तर्गत हैं ॥ २० ॥ वह निर्गुण और निराकार है—उस में उत्पत्ति और विस्तार कुछ नहीं है; और स्थान, मान का विचार तो इधर की बात है ॥ २१ ॥ नाम, रूप, स्थान, मान इत्यादि सभी अनुमान मात्र हैं। ब्रह्म प्रलय में इन सब का फैसला हो जायगा—ये सब नष्ट हो जायँगे ॥ २२ ॥ परन्तु परब्रह्म का प्रलय में नाश नहीं हो सकता, वह नाम और रूप से अलग है-वह सदा-सर्वदा अटल है ॥ २३ ॥ जो ब्रह्मनिरूपण करते हैं, और जो ब्रह्म को पूर्ण रीति से जानते हैं, उन्हीं को ब्रह्मविद्, अर्थात् ब्राह्मण, कह सकते हैं ॥ २४ ॥

पाँचवाँ समास-माया और ब्रह्म।

॥ श्रीराम ॥

अच्छा, अब माया और ब्रह्म का निरूपण सुनिये ॥ १ ॥ ब्रह्म निर्गुण-निराकार है और माया सगुण साकार है। ब्रह्म का पारावार नहीं है और माया का है ॥ २ ॥ ब्रह्म निर्मल निश्चल है; और माया चञ्चल चपल है; ब्रह्म उपाधि-रहित और माया उपाधिरूप है ॥ ३ ॥ माया दिखती है, ब्रह्म दिखता नहीं; माया भासती है, ब्रह्म भासता नहीं; माया नाशवान् है और ब्रह्म का कल्पान्त में भी नाश नहीं होता ॥ ४ ॥ माया बनती है, ब्रह्म बनता नहीं; माया बिगड़ती है, ब्रह्म बिगड़ता नहीं; और माया अज्ञान को रुचती है, ब्रह्म अज्ञान को नहीं रुचता ॥ ५ ॥ माया उपजती है, ब्रह्म उपजता नहीं; माया मरती है, ब्रह्म मरता नहीं और माया का धारणा शक्ति से आकलन हो सकता है और ब्रह्म का नहीं हो सकता ॥ ६ ॥ माया फूटती है, ब्रह्म फूटता नहीं; माया टूटती है, ब्रह्म टूटता नहीं; और माया मलीन होती है, ब्रह्म मलीन नहीं होता—वह शुद्ध-पवित्र है ॥ ७ ॥ माया विकारी है, ब्रह्म निर्विकारी है; माया सब कुछ करती है, ब्रह्म कुछ भी नहीं करता और माया नाना रूप धरती है, परन्तु ब्रह्म अरूप है ॥ ८ ॥ माया के पञ्चभूतात्मक अनेक रूप हैं; ब्रह्म शाश्वत एक ही है। माया और ब्रह्म का विवेक विवेकी पुरुष जानते हैं ॥ ९ ॥ माया छोटी है, ब्रह्म

बड़ा है; माया असार है, ब्रह्म सार है; माया का आदि-अन्त है, ब्रह्म का नहीं है ॥ १० ॥ सम्पूर्ण माया के विस्तार से ब्रह्मस्थिति छिपी हुई है; परन्तु साधु जन ब्रह्म को उससे निकाल लेते हैं ॥ ११ ॥ पानी के ऊपर का सेवार (शेवाल) हटा कर पानी ले लेना चाहिए; पानी छोड़ कर दूध का सेवन करना चाहिए-इसी प्रकार माया छोड़ कर ब्रह्म का अनुभव करना चाहिए ॥ १२ ॥ ब्रह्म आकाश की तरह स्वच्छ (pure) है, माया पृथ्वी की तरह मलीन है ब्रह्म सूक्ष्मरूप है और माया स्थूलरूप है ॥ १३ ॥ ब्रह्म अप्रत्यक्ष है, माया प्रत्यक्ष है; ब्रह्म सम है, माया विषमरूप है ॥ १४ ॥ माया लक्ष्य है, ब्रह्म अलक्ष्य (अलख) है; माया साक्ष्य है, ब्रह्म असाक्ष्य है; माया में ज्ञान-अज्ञान दो पक्ष हैं, ब्रह्म में कोई पक्ष ही नहीं है ॥१५॥ माया पूर्वपक्ष (संशययुक्त) है, ब्रह्म सिद्धान्त (उत्तरपक्ष) है; माया अनित्य है, ब्रह्म नित्य है; माया इच्छायुक्त है, ब्रह्म निरिच्छ है; ॥ १६ ॥ ब्रह्म अखण्ड घन है, माया पञ्चभौतिक पोच है; ब्रह्म निरन्तर परिपूर्ण है, माया जीर्ण जर्जर है ॥ १७ ॥ माया घटित होती है, ब्रह्म घटित नहीं होता; माया गिरती है, ब्रह्म गिरता नहीं, माया बिगड़ती है, ब्रह्म बिगड़ता नहीं-जैसा का तैसा बना रहता है ॥ १८ ॥ कुछ भी हो, ब्रह्म बना ही रहता है, परन्तु माया निरसन करने पर नाश हो जाती है; ब्रह्म में संकल्प-विकल्प नहीं हैं, माया में हैं ॥ १९ ॥ माया कठिन है, ब्रह्म कोमल है; माया अल्प है, ब्रह्म विशाल है; माया का नाश होता है, ब्रह्म का नहीं होता ॥ २० ॥ 'वस्तु' ऐसी नहीं है जो बतलाई जा सके और माया जैसी बतलाई जाय वैसी है, 'वस्तु' (ब्रह्म) को काल नहीं पा सकता और माया को काल झड़प लेता है ॥ २१ ॥ ये जो नाना प्रकार के रूप-रंग देख पड़ते हैं वे सब माया के हैं। ये सब नश्वर हैं, परन्तु ब्रह्म शाश्वत है ॥२२॥

अस्तु। यह जो सब चराचर सृष्टि होती जाती है वह सब माया है और परमेश्वर इसके भीतर-बाहर, सब जगह, व्याप्त है ॥२३॥ सकल उपाधियों से रहित परमात्मा इस प्रकार सृष्टि से अलिप्त है जैसे आकाश जल में होने पर भी जल को छूता नहीं ॥ २४ ॥ यह माया-ब्रह्म का विवरण सन्तों के मुख से ही अच्छी तरह समझ पड़ता है। उनकी शरण में जाने से जन्म मरण छूट जाता है ॥ २५ ॥ सन्तों की महिमा का पारावार नहीं है। उनकी कृपा से सहज ही परमात्मा की प्राप्ति होती है ॥ २५ ॥

छठवाँ समास—सत्य देव का निरूपण।

॥ श्रीराम ॥

श्रोता वक्ता से विनती करता है कि "महाराज! आप सर्वज्ञ गोस्वामी हैं; मेरी यह आशंका दूर करें कि, सृष्टि की उत्पत्ति के पहले, यदि ब्रह्म में सृष्टि का बीज ही नहीं होता, फिर यह सृष्टि जो देख पड़ती है वह सत्य है या मिथ्या?" ॥१–२॥ इस पर वक्ता जो उत्तर देता है उसे सावधान होकर सुनिये:—॥ ३ ॥ गीता के "जीवभूतः सनातनः" इस* वचन से तो सृष्टि सत्य जान पड़ती है ॥ ४ ॥ और "यद्दृष्टं तन्नष्टं" (जो दृश्य है वह नश्वर है) इस श्रुतिवाक्य से सृष्टि मिथ्या जान पड़ती है-अब साँच झूँठ का निबटेरा कौन करे? ॥ ५ ॥ इसे यदि सत्य कहें तो नाश भी होती है; मिथ्या कहें तो दिखती भी है। अस्तु, अब, जैसी है वैसी बतलाते हैं ॥ ६ ॥ इस सृष्टि में बहुत से लोग, कोई अज्ञानी कोई सज्ञान हैं-इसी लिए समाधान नहीं होता ॥ ७ ॥ अज्ञान लोगों का मत है कि सृष्टि सत्य है और उसी प्रकार देव, धर्म, तीर्थ और व्रत भी सत्य ही हैं ॥ ८ ॥ ज्ञानी कहता है कि "मूर्खस्य प्रतिमा पूजा"—मूर्तिपूजा मूर्खों के लिए है-और सृष्टि भी सत्य नहीं है क्योंकि प्रलय में उसका नाश होगा" ॥ ९ ॥ इस पर अज्ञान कहता है "तो फिर संध्यास्नान, गुरुभजन और तीर्थाटन क्यों करना चाहिए? ॥ १० ॥ ज्ञानी इसका उत्तर देता है:—

तीर्थे तीर्थे निमलं ब्रह्मवृंद। वृंदे वृंदे तत्त्वचिंतानुवादः।
वादे वादे जायते तत्त्वबोधः। बोधे बोधे भासते चंद्रचूडः ॥ १ ॥

"तीर्थाटन करने का कारण यह है, कि तीर्थों में सन्तसमागम के द्वारा, सारासार का विचार जान कर, ईश्वर को प्राप्त कर सकते हैं और गुरुभजन का कारण गुरुगीता में स्वयं महादेवजी ने कह दिया है ॥ ११ ॥ गुरुभजन का नियम यह है, कि पहले उसके सच्चे स्वरूप को पहचानना चाहिए और फिर विवेक से स्वयं उसी के रूप में लीन हो जाना चाहिए ॥ १२ ॥

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं।
द्वंद्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यं ॥
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतम्।

* गीता में परमात्मरूप श्रीकृष्ण ने कहा है कि "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"—सृष्टि में जीवरूप जो कुछ है वह मेरा ही अंश है और अविनाशी है।

भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरु तं नमामि ॥ १ ॥

ऐसा सच्चा स्वरूप सद्गुरु का गुरुगीता में कहा है। इस स्वरूप के तईं सृष्टि का भास नहीं रह सकता" ॥१३॥ इस प्रकार ज्ञानी जब सद्गुरु का सत्य स्वरूप बतला कर सृष्टि को मिथ्या निश्चित करता है तब तो अज्ञानी और भी अधिक विवाद करने पर तैयार होता है और कहता है कि "क्यों रे! तू परमात्मा कृष्ण को अज्ञान सिद्ध करता है! ॥१४-१५॥ गीता का "जीवभूतः सनातनः" वचन मिथ्या कैसे हो सकता है?" ॥१६॥ इस प्रकार आक्षेप करके जब अज्ञानी मन में खिन्न होने लगा तब ज्ञानी बोला:-॥ १७ ॥ गीता में श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा है उसका भेद तू नहीं जानता है, इसी कारण यह विवाद उठाता है ॥ १८ ॥ श्रीकृष्ण तो कहते हैं कि:—

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम् ॥

अर्थात् 'पीपल मेरी विभूति है'। परन्तु वृक्ष तो टूट सकता है—और इधर वही कहते हैं कि ॥ १९ ॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ १ ॥

'मेरा स्वरूप न शस्त्रों के द्वारा कट सकता है, न अग्नि से जल सकता है और न जल से गल सकता है' ॥ २० ॥ परन्तु पीपल (जिसे श्रीकृष्ण अपनी विभूति कहते हैं) शस्त्र से कट सकता है, अग्नि से जल सकता है और जल से भीग सकता है, तथा नाशवान् भी है ॥ २१ ॥ अब श्रीकृष्ण जी के उपर्युक्त दोनों परस्पर-विरोधी वचनों का ऐक्य कैसे हो? इसका मर्म सद्गुरु के मुख से ही मालूम हो सकता है ॥ २२ ॥ श्रीकृष्ण कहते हैं:-"इन्द्रियाणां मनश्चापि"-इन्द्रियों में मन मैं हूं-तो फिर चञ्चल मन की लहर क्यों रोकी जाय? ॥ २३ ॥ अब प्रश्न यह है कि तो फिर श्रीकृष्ण ने ऐसा क्यों कहा? इसका उत्तर यह है कि, जिस प्रकार कंकड़, आदि रख कर अबोध बालकों को 'ॐ नमः सिद्धम्'* सिखलाया जाता है उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ने अबोध साधकों को गीता-द्वारा साधन-मार्ग बतलाया है ॥ २४ ॥ यह सब वाक्य-भेद वह 'गोविन्द' जानता है।

---

*रामदास स्वामी के इस उदाहरण से जान पड़ता है कि, शिक्षा की वर्तमान किंडरगार्टन प्रणाली, (बालोद्यान-शिक्षण-पद्धति) जिसे लोग अँगरेजों की निकाली हुई समझते हैं, हमारे देश में प्रचलित थी। हमारे पूर्वज प्राचीन आर्य नैसर्गिक साधनों से शिक्षा देना अच्छी तरह जानते थे।

उसके तई तेरा यह देहाभिमानी विवाद नहीं चल सकता ॥ २५ ॥ उक्त प्रकार के वाक्य-भेद, गीता ही में नहीं, किन्तु वेद, शास्त्र, श्रुति, स्मृति, आदि सभी ग्रन्थों में पाये जाते हैं; परन्तु उनका निर्णय सद्गुरु के वचनों से ही हो सकता है ॥ २६ ॥ वेद-शास्त्रों का झगड़ा व्युत्पन्नता से कौन तोड़ सकता है ? साधु के बिना वह कल्पान्त में भी नहीं निपट सकता ॥ २७ ॥ शास्त्रों में पूर्वपक्ष और सिद्धान्त का सिर्फ संकेत-मात्र कहा हुआ है-उसका पूरा पूरा विवरण साधुओं के ही मुख से हो सकता है ॥ २८ ॥ यों तो वेदशास्त्रों में, एक से एक बढ़ कर, अनेक वाद-विवाद के प्रश्न पड़े हुए हैं ॥ २९ ॥ परन्तु हमें, वादविवाद छोड़ कर, ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इसीसे स्वानुभव होकर ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है ॥ ३० ॥ एक ही कल्पना के पेट में जब अनंत सृष्टियां होती जाती हैं तब उसकी बात सच्च कैसे मानी जाय ? ॥३१॥ भक्त लोग कल्पना से कोई देवता मान लेते हैं और उसी में दृढ भक्ति रखते हैं; परन्तु यदि उस देवता की कुछ हानि हो जाती है तो भक्त भी उसके दुःख से दुःखित होते हैं ! ॥ ३२ ॥ कोई कोई पत्थर का देवता बनाते हैं; और एक दिन, उसके फूट जाने पर, दुःखी होते हैं-रोते हैं, गिरते हैं, चिल्लाते हैं ! ॥ ३३ ॥ कोई देवता घर में ही खो जाता है; किसीको चोर उठा ले जाते हैं और किसी देवता की मूर्ति को दुराचारी लोग बलात्कार से, तोड़ डालते हैं ! ॥ ३४ ॥ किसी देवता को भ्रष्ट कर डालते हैं; किसीको पानी में डाल देते हैं और किसी देवता को कोई दुष्ट पैरों तले डाल देते हैं ॥ ३५ ॥ इस पर लोग कहते हैं कि " क्या बतलावें, इस तीर्थ की महिमा तो बड़ी थी; परन्तु वह दुरात्मा सब सत्यनाश कर गया ! अब न जाने इसका सत्व कहां चला गया * !" ॥ ३६ ॥ किसी देवता को सुनार लोग घड़ते हैं, किसीको ढालनेवाले ढालते हैं और किसी पाषाणदेवता को संग तराश लोक घड़ते हैं ॥ ३७ ॥ नर्मदा और गंडिका नदी के तीर भी लाखों देवता पड़े रहते हैं। उन असंख्यों गोटों की गणना कौन कर सकता है ? ॥ ३८ ॥ चक्रतीर्थ में असंख्यों चक्रांकित देवता पड़े रहते हैं-कोई एक देवता मन में निश्चित ही नहीं होता ! ॥ ३९ ॥ बाण, तान्दल और स्फटिक की मूर्तियां तथा अनेक तांबे, आदि के सिक्के, पूजे जाते हैं-कौन जान सकता है कि ये देवता सच्चे हैं या झूठे ! ॥४०॥ कोई रेशम का देवता बनाते हैं और जब वह टूट या सड़ जाता है तब फिर मिट्टी की मूर्ति बना कर पूजने लगते हैं ॥ ४१ ॥ कोई भक्त कहते हैं कि " भाई ! हमारा देवता तो बहुत

---

* इन उदाहरणों से, उस समय के धार्मिक अत्याचार का अच्छा पता चलता है। यह अत्याचार बहुधा यवनों के हाथ से होता था।

सच्चा था; हमें विपत्ति में बड़ी मदद देता था और सदा हमारे मनोरथ पूर्ण करता था; परन्तु, अब इसका सत्व चला गया—क्या किया जाय. जो बदा था वही हुआ ! होनहार को ईश्वर भी नहीं रोक सकता " ॥४२–४३ ॥ अरे मूर्ख ! धातु, पत्थर, मिट्टी, काठ और चित्र आदि भी कहीं देव हो सकते हैं ? क्या भ्रान्ति में पड़ा हुआ है ? ॥ ४४ ॥ यह सिर्फ अपनी कल्पना है। कर्म के अनुसार फल मिलता है। वह सत्य देव कोई और ही है ॥ ४५ ॥ वेद, शास्त्र और पुराण कहते हैं कि यह सृष्टि सिर्फ माया का भ्रम है—और बिलकुल मिथ्या है ॥ ४६ ॥ साधु-संत और महानुभावों का भी यही अनुभव है। सत्य देव इस पंचभूतात्मक सृष्टि से परे है। वह शाश्वत है और सृष्टि अशाश्वत है ॥ ४७ ॥ सृष्टि के पहले, सृष्टि के वर्तमान समय में, और सृष्टि के नाश होने पर, वास्तव में वह सत्य देव बराबर स्थिर रहता है—वह आदि-अन्त-रहित है ॥ ४८ ॥ यही सब का निश्चय है-इसमें कुछ भी संशय नहीं है। माया और ब्रह्म का व्यतिरेक तथा अन्वय-उन दोनों का सम्बन्ध—सिर्फ कल्पना है ॥ ४९ ॥ केवल एक कल्पना के पेट में जो आठ सृष्टियां बतलाई जाती हैं वे ये हैं:—॥ ५० ॥

पहली कल्पना की सृष्टि, दूसरी शाब्दिक सृष्टि और तीसरी प्रत्यक्ष सृष्टि, जिसे सब जानते हैं ॥ ५१ ॥ चौथी चित्रलेप-सृष्टि, पांचवीं स्वप्न-सृष्टि, छठवीं गन्धर्व-सृष्टि और सातवीं ज्वर-सृष्टि है ॥ ५२ ॥ आठवीं सृष्टि दृष्टि-बन्धन है-ये आठ सृष्टियां हुई; और इनमें श्रेष्ठ कौन सी है, जो सत्य मानी जाय ? ॥ ५३ ॥ इसी लिये कहते हैं, कि सृष्टि नाशवान् है—यह बात सब सन्त-महन्त जानते हैं। तथापि, आत्मज्ञान की दृढ़ता के लिए, साधन के तौर पर, सगुण परमात्मा का भजन अवश्य करना चाहिए ॥ ५४ ॥ सगुण के ही आधार से, और सन्त-समागम-द्वारा सारासार के विचार से अवश्य निर्गुण मिलता है ॥ ५५ ॥ अच्छा, अब, रहने दो; इतना बहुत है। सन्त-समागम से सब समझ पड़ता है, अन्यथा मन सन्देह में पड़ा रहता है ॥ ५६ ॥ इतने पर शिष्य ने आक्षेप किया कि " सृष्टि का मिथ्या होना तो मालूम हो गया; परन्तु जब यह सब मिथ्या है तब फिर देख क्यों पड़ती है ? ॥ ५७ ॥ हे स्वामी ! दृश्य प्रत्यक्ष दिखता है, इस लिए सत्य ही जान पड़ता है—इसके लिए क्या करें, सो बतलाइये " ॥ ५८ ॥ इसका उत्तर अगले समास में अच्छी तरह दिया गया है। सावधान होकर सुनिये ॥ ५९ ॥ सृष्टि को मिथ्या तो जानना ही चाहिए और सगुण की रक्षा भी करना चाहिए। यह अनुभव का रहस्य अनुभवी ही जानते हैं ॥ ६० ॥

सातवाँ समास—सगुण-भजन।

॥ श्रीराम ॥

"ज्ञान से जब दृश्य मिथ्या प्रतीत हो चुका तब भजन क्यों करना चाहिए—उससे क्या प्राप्त होगा—सो मुझे बतलाइये ॥ १ ॥ जब ज्ञान से श्रेष्ठ कुछ है ही नहीं, तब फिर उपासना की क्या जरूरत है और उपासना से मनुष्य को क्या प्राप्त होता है? ॥ २ ॥ जब मुख्य सार निर्गुण है—वहा सगुण दिखता ही नहीं है—तब फिर बतलाइये भजन करने से क्या लाभ होगा? ॥ ३ ॥ जब यह सब एक बार नश्वर साबित हो चुका, तब फिर इसका भजन क्यों करना चाहिए और सत्य को छोड़ कर असत्य का भजन करेगा कौन? ॥ ४ ॥ जब असत्य वस्तु मालूम हो गयी, तब फिर नेम क्यों पीछे लगा है? सत्य छोड़ कर क्यों इस गड़बड़ में पड़ना चाहिए? ॥ ५ ॥ निर्गुण से तो मोक्ष मिलता है और वह प्रत्यक्ष अनुभव में आता है; परन्तु हे स्वामी! बतलाइये, सगुण क्या देता है? ॥ ६ ॥ पहले तो आप बतलाते हैं कि सगुण नाशवान् है; फिर आप ही कहते हैं कि भजन करो; परन्तु अब भजन किस लिए करें? ॥ ७ ॥ महाराज के डर से कह नहीं सकते; परन्तु यों तो यह कुछ समझ में नहीं आता! जब साध्य ही प्राप्त हो गया, तब साधन में क्यों लगें" ॥ ८ ॥ श्रोता की इस शंका पर वक्ता उत्तर देता है:— ॥ ९ ॥

गुरु के वचनों का प्रतिपालन करना परमार्थ का मुख्य लक्षण है और वचन-भंग करने से अवश्य ही हानि होती है ॥ १० ॥ अतएव गुरु की आज्ञा शिरोधार्य करके सगुण-भजन अवश्य मानना चाहिए। इस पर श्रोता बोल उठा कि "यह सगुण-भजन ईश्वर ने हमारे पीछे क्यों लगा दिया है? ॥ ११ ॥ ईश्वर इसका क्या उपकार मानता है, इससे क्या साक्षात्कार होता है, अथवा क्या इससे ईश्वर प्रारब्ध का लिखा हुआ मेट डालता है? ॥ १२ ॥ जब होनहार पलट ही नहीं सकता, तब फिर मनुष्य भजन क्यों करे? यह तो कुछ समझ में नहीं आता! ॥ १३ ॥ महाराज की आज्ञा मान्य है—उसे कौन टाल सकता है; परन्तु इसमें क्या लाभ है, सो मुझे बतलाइये" ॥ १४ ॥ इस पर वक्ता कहता है:—अच्छा, तू ज्ञानी बनता है; पर सावधान होकर ज्ञान के लक्षण तो बतला, तुझे कुछ करना पड़ता है या नहीं? ॥ १५ ॥ तू भोजन करता है; जलपान करता है और मलमूत्र त्याग करता है—इनमें से कोई भी बात नहीं छूटती ॥ १६ ॥ लोगों को खुश तू रखता है; अपने और पराए को तू पहचानता है; ये सब बातें तो तू छोड़ नहीं सकता; तब फिर क्या भजन का छोड़ना ही

तू ज्ञान का लक्षण समझता है? ॥ १७ ॥ ज्ञान और विवेक से सब कुछ मिथ्या तो समझ लिया; परन्तु छोड़ा कुछ नहीं—तो फिर बतला भाई, भजन से ने तेरा कौन घोड़ा खोला है? ॥ १८ ॥ साहब के पैरों तले तो तू खुशी से लोटता है, तथा जान बूझ कर नीच बनता है; परन्तु परमात्मा को नहीं मानता—यह कहां का ज्ञान है? ॥ १९ ॥ ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि जिसके आगे हाथ जोड़ खड़े रहते हैं उसे यदि तेरे समान एक क्षुद्र मनुष्य न भजेगा तो क्या होगा? ॥ २० ॥ राम हमारा उपास्य है; राम ही से हमारा परमार्थ है और वही, समर्थों का भी समर्थ, देवताओं तक को मुक्त करनेवाला है ॥ २१ ॥ उसके हम सेवक जन हैं; उसीकी सेवा से हमें ज्ञान मिला है—उसके प्रति यदि अभाव रखेंगे तो अवश्य पतन होगा! ॥ २२ ॥ गुरु जो सारासार का विचार बतलाता है उसे मिथ्या कैसे कह सकते हैं? परन्तु तू यह विचार क्या जाने; चतुर पुरुष सब जानते हैं! ॥२३॥ जो समर्थ के मन से गिर गया; जान लो कि उसका भाग्य खोटा है—उसका यही हाल है, कि जैसे अभागी पुरुष राज्यपद से च्युत हो जाय! ॥ २४ ॥ जो अपने मन में जानता है कि मैं बड़ा हूं, वह ब्रह्मज्ञानी नहीं है—विचारपूर्वक देखने से तो वह प्रत्यक्ष देहाभिमानी है ॥२५॥ जो वास्तव में, न तो राम का भजन करता है, और न यही कहता है कि मैं न करूंगा—तो इससे समझना चाहिए कि उसके मन में सन्देह अभी छिपा हुआ है! ॥ २६ ॥ न इसे ज्ञान कह सकते हैं और न भजन कह सकते हैं—यह केवल देहाभिमान है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। तेरा उदाहरण प्रत्यक्ष है! ॥२७॥ अस्तु। अब ऐसा न करना चाहिए; राम-भजन में लगना चाहिए—वही सच्चा ज्ञान है ॥ २८ ॥ राम दुर्जनों का संहार करता है, भक्तों की रक्षा करता है। यह प्रत्यक्ष है ॥ २९ ॥ अनुभव की बात है, कि राम-कृपा से मनोरथ पूर्ण होते हैं और सम्पूर्ण विघ्न दूर होते हैं ॥ ३० ॥ रघुनाथ के भजन से ही ज्ञान हुआ है; रघुनाथ के भजन से ही महत्व बढ़ा है, इस लिए पहले तुझे यही करना चाहिए! ॥ ३१ ॥ जो कि यह अनुभव की बात है, और तुझे विश्वास नहीं आता; अतएव, स्वयं करके देखना चाहिए! ॥ ३२ ॥ रघुनाथजी का स्मरण करके जो काम किया जाता है, वह तत्काल ही सिद्धि को प्राप्त होता है; परन्तु अन्तःकरण में यह विश्वास होना चाहिए कि कर्ता राम ही हैं ॥ ३३ ॥ स्वयं अपने को कर्ता न मान कर राम को कर्ता मानना सगुण आत्मनिवेदन भक्ति का लक्षण है और निर्गुण आत्मनिवेदन में तो स्वयं भी निर्गुण हो कर ही अनन्य हो जाना पड़ता है* ॥ ३४ ॥

* सगुण के निवेदन में सर्वकर्तृत्व का पूर्ण भार राम पर रहता है, और स्वयं केवल नाम मात्र के लिए रहता है; परन्तु निर्गुण के निवेदन में स्वयं भी बिलकुल राम ही हो जाता है।

अपने को कर्ता मानने से कदापि कोई बात नहीं बनती। इस बात का अनुभव प्राप्त करना कुछ कठिन नहीं है ॥ ३५ ॥ अगर तू कहेगा कि मैं कर्ता हूं तो इससे तू कष्टी होगा और राम को कर्ता मानने से तुझे यश, कीर्ति और प्रताप मिलेगा ॥ ३६ ॥ सिर्फ भावना से ही चाहे परमात्मा से फूट कर लो, और चाहे उसकी कृपा सम्पादन कर लो—अर्थात् यदि अपने में कर्ता की भावना करोगे तो परमात्मा से फूट होगी और यदि परमात्मा में कर्ता की भावना करोगे तो वह प्रसन्न होगा ॥ ३७ ॥ हम सब दो दिनों के हैं और परमात्मा अनन्त काल के लिए है; हम सब थोड़ी पहचान के हैं और परमात्मा को तीनों लोक जानते हैं ॥ ३८ ॥ रघुनाथ भजन को बहुत लोग मानते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश तक राम-भजन में तत्पर रहते हैं ॥ ३९ ॥ यदि हम भक्त लोग, ज्ञानबल से, उपासना को न मानें तो, इस दोष के कारण, अभक्त बन कर अधोगति को प्राप्त हों! ॥ ४० ॥ और यदि, बड़ा होकर भी, परमात्मा हमारी उपेक्षा करे, तो फिर उसकी बात वही जाने, परन्तु श्रेष्ठ के लिए बे-जा बात अच्छी नहीं ॥ ४१ ॥ साधुओं की देह के साथ उपासना लगी रहती है; परन्तु भीतर से वे परमात्मा में मिले रहते हैं—अर्थात् देहाभिमान छोड़ कर वे जन्म भर ईश्वरोपासना करते रहते हैं ॥ ४२ ॥ साधु लोग, स्वप्न के दृश्यों की तरह, इस सृष्टि को मिथ्या मानते हैं। यह बात राम-भजन से मालूम होती है ॥ ४३–४४ ॥ श्रोताओं की यह आशंका, कि दृश्य (सृष्टि) यदि मिथ्या है तो देख क्यों पड़ता है, अगले समास में मिटाई गई है ॥ ४५ ॥

—

आठवाँ समास—दृश्य का मिथ्याभास।

॥ श्रीराम ॥

अब यह निरूपण सुनिए, कि यह दृश्य (सृष्टि) का आभास मिथ्या कैसे है ॥ १ ॥ जो कुछ देख पड़े उसे सत्य ही मान लेना, ज्ञाता का देखना नहीं है, जड़, मूढ़ और अज्ञान लोक चाहे भले ही इसे सत्य माना करें! ॥ २ ॥ इस संशय में कभी न आ जाना चाहिए कि मुझे जो कुछ दीख पड़ता है वही सच्चा है—इसमें दूसरे की कुछ नहीं चल सकती। सिर्फ, इन चर्मचक्षुओं से दीख पड़ता है—इसी आधार पर करोड़ों ग्रन्थों और सन्त-महन्तों की बातों को मिथ्या कैसे कह सकते हैं? ॥ ३–४ ॥ मृग, मृगजल (मृगतृष्णा) को देख कर, भ्रमिष्ट की तरह उधर दौड़ता है; परन्तु उस पशु से यह कौन बतलावे कि यह जल नहीं है—मिथ्या दृश्य है! ॥ ५ ॥ रात

को स्वप्न देखा, कि बहुतसा द्रव्य मिल गया और उस द्रव्यद्वारा बहुत लोगों से व्यवहार भी कर लिया-इसे सच कैसे मानें? ॥६॥ किसी विचित्र कला-कुशल चित्रकार के बनाये हुए, चित्र देखने से प्रीति पैदा होती है-परन्तु वहां है क्या; मिट्टी ॥७॥ अनेक प्रकार की रमणीयाँ हाथी और घोड़ों को रात में देखने से तो मन मोहित हो जाता है; पर दिन को देखने से वही खाल बहुत बुरी लगती है! ॥ ७ ॥ काठ और पत्थर की पुतलियां नाना प्रकार के कौशल के साथ बनाई जाती हैं और बहुत सुंदर मालूम होती हैं; परंतु वहां है क्या-वही पत्थर! ॥८॥ अनेक मन्दिरों पर जो पुतलियां बनी होती हैं वे शरीर तिरछा करके, तिरछी नजर से, देखती हैं—उनकी सुन्दरता देख कर तो वृत्ति तल्लीन हो जाती है; पर उनमें वही त्रिभाग (चूना, बालू, और सन आदि मसाला) होता है ॥१०॥ दशावतारों के नाटक खेलने में सुन्दर सुन्दर स्त्रियां आती हैं और कलाकौशल के साथ आंखें मटकाती हैं; परन्तु हैं वे सभी नाचनेवाले मर्द! ॥ ११ ॥ यह सृष्टि बहुरंगी और असत्य है-यह बहुरूपिया का तमाशा है; तुझे यह दृश्य अविद्या के कारण सत्य मालूम होता है ॥१२॥ झूठ को सांच के समान देख तो लिया; परन्तु उसे विचारना चाहिए। दृष्टि की तरलता-चञ्चलता-के विकार से यदि कुछ और का और हो भास हो तो उसे सच कैसे मान सकते हैं ॥ १३ ॥ ऊपर देखने से आकाश पट मालूम होता है और वही पानी में देखने से चित मालूम होता है—बीच में नक्षत्र भी चमकते हैं; पर यह सब दृश्य मिथ्या हो ता है! ॥ १४ ॥ कोई राजा किसी चित्रकार को बुलाता है और वह चित्रकार राजकुटुम्ब के लोगों के यथातथ्य चित्र बनाता है; वे चित्र देखने से तो मालूम होता है कि, मानो सचमुच वही लोग हैं, जिनके चित्र बनाये गये हैं; पर वास्तव में है वह सब मायिक रचना! ॥ १५ ॥ स्वयं नेत्रों में कोई चित्र नहीं होता; परन्तु जब हम कुछ देखते हैं तब उस दृश्य वस्तु का हमारे नेत्रों में प्रति-बिम्ब आ जाता है-अब यह प्रतिबिम्ब को स्वयं वह वस्तु ही कैसे मानी जा सकती है? ॥ १६ ॥ पानी में जितने बुलबुले उठते हैं उन सब में हमारे अनेक रूप देख पड़ते हैं; परन्तु क्षणभर ही में, उनके फूट जाने पर उन रूपों की झुठाई प्रकट हो जाती है ॥ १७ ॥ हाथ में जितने छोटे छोटे दर्पण लिए जाते हैं उतने ही मुख देख पड़ते हैं; परन्तु क्या वास्तव में हमारे उतने ही मुख हैं? मुख तो एक ही है—वह केवल मिथ्याभास है ॥ १८ ॥ नदी के किनारे २ बाझा ले जाने से दूसरा बाझा उलटा नदी में देख पड़ता है; अथवा अचानक प्रतिध्वनि की गर्जना होने लगती है ॥१९॥ किसी बावड़ी या तालाब के तीर, पानी में, पशु, पक्षी, नर, वानर और नाना प्रकार के वृक्ष और लताओं आदि का विस्तार देख पड़ता है ॥ २० ॥ तलवार फेरने

समय, हिलने में एक को दो तलवारें देख पड़ती हैं और तरह तरह के तन्तुओं को टंकारने से एक के दो-से मालूम होते हैं॥ २१ ॥ अथवा दर्पणों के मन्दिर में यदि सभा लगी हो तो एक दूसरी सभा, आभारूप से दर्पणों में देख पड़ती है और दीपक-पंक्तियों की भी शीशों में अनेक आभाएं देख पड़ती हैं॥ २२ ॥ ऐसे ये बहुत प्रकार के कौतुक सच्चे के समान ही देख पड़ते हैं; परन्तु इन सब को सच कैसे मान सकते हैं? ॥ २३ ॥ इसी प्रकार यह माया भी झूठी बाजीगरी है। सच्ची की तरह देख पड़ती है; परन्तु ज्ञाता लोग इसे सच नहीं मानते ॥ २४ ॥ यदि झूठे में सच की सी भावना कर ली जाय तो फिर पारखनेवालों की क्या जरूरत है? ये अविद्या की करतूतें ऐसी ही होती हैं! ॥२५॥ मनुष्यों की बाजीगरी भी बहुत लोगों को सच्ची सी जान पड़ती है; परन्तु अन्त में, खोज करने पर, उसकी झुठाई मालूम हो जाती है ॥ २६ ॥ यही हाल राक्षसों की माया का भी है—वह देवताओं को भी सच्ची जान पड़ती है। देखो न; पञ्चवटी में राम हिरन के पीछे दौड़े! ॥ २७ ॥ राक्षस लोग अपनी असली काया पलट लेते हैं, एक ही के बहुत हो जाते हैं और रक्त की बूंद से भी पैदा हो जाते हैं ॥ २८ ॥ अभिमन्यु के ब्याह के समय, घटोत्कच की माया से, अनेक राक्षस नाना प्रकार के पदार्थ और फल आदि हो गये! स्वयं कृष्ण ने ही गोकुल में कितने ही कपटरूपी दैत्यों का वध किया॥ २९ ॥ राम से युद्ध करते समय रावण ने कैसा कपट रचा! माया के अनेकों सिर रचता गया! और कालनेमि, हनुमान् को मारने लिए, किस प्रकार कपट-ऋषि बन कर आश्रम में बैठा था! ॥ ३० ॥ नाना प्रकार के कपटमति दैत्य जब देवताओं से मारे न मरे तब शक्ति (देवी) प्रकट हुई और उसने उनका संहार किया! ॥३१॥ यह सब राक्षसी माया है। उसे देवता भी नहीं जान सकते। उनकी कपटविद्या की लीला अघटित है ॥ ३२ ॥

मनुष्यों की बाजीगरी, राक्षसों की बोडम्बरी और भगवान् की नाना प्रकार की विचित्र माया—ये तीनों सच्ची ही के समान जान पड़ती हैं; परन्तु विचार करने पर वे कुछ नहीं हैं—भीतर प्रवेश करके देखने से उनका मिथ्यापन प्रकट हो जाता है ॥ ३३-३४ ॥ अगर माया को सच कहते हैं तो यह नाश होती है और यदि झूठ कहते हैं तो देख पड़ती है—अर्थात् दोनों ओर से मन में अविश्वास ही रहता है ॥ ३५ ॥ परन्तु वास्तव में यह सच नहीं है—माया की बात मिथ्या है। यह सम्पूर्ण दृश्य स्वप्न की तरह है ॥३६॥ सुन, भाई! अगर तुझे भास ही सत्य जान पड़ता हो तो फिर यहां तू भूलता है ॥ ३८ ॥ यह दृश्यभास अविद्यात्मक है और तेरी देह भी अविद्यात्मक है, इसी लिए यह अविवेक घुसा हुआ है! ॥ ३८ ॥

यह अविद्यात्मक लिंग-देह ही का कारण है कि, दृष्टि से दृश्य देखा जाता है और मन उसके भास पर जम जाता है ॥ ३९ ॥ अविद्या, अविद्या को देखती है, इसी लिए उक्त बात पर विश्वास हो जाता है; क्योंकि तेरा शरीर भी तो अविद्या ही का बना हुआ है न? * ॥ ४० ॥ और उसी काया को तू स्वतः 'मैं' मानता है—यह देहबुद्धि का लक्षण है—इसीसे सम्पूर्ण दृश्य तेरे लिए सच्चा जान पड़ता है ॥ ४१ ॥ इधर तो देह को सत्य मान लेता है और उधर यह धारणा कर लेता है कि दृश्य सत्य है, इसी कारण प्रबल सन्देह आ जाता है! ॥ ४२ ॥ देहबुद्धि को दृढ़ करके, धृष्टता के साथ, ब्रह्म देखने के लिए जाता है; परन्तु यहां दृश्य (माया) परब्रह्म का रास्ता ही रोक लेता है ॥ ४३ ॥ इस लिए, दृश्य को ही सत्य समझ कर भ्रम में पड़ जाता है ॥ ४४ ॥ अस्तु। 'मैं'-पन से ब्रह्म नहीं मिलता। देहबुद्धि के कारण ही दृश्य का मिथ्याभास भी सत्य जान पड़ता है ॥४५॥ चर्म-चक्षुओं से ब्रह्म का दर्शन करनेवाला, ज्ञाता नहीं कहा जा सकता। उसे अंधा या बिलकुल मूर्ख ही कह सकते हैं! ॥४६॥ जितना कुछ दृष्टि से देख पड़ता है और जो कुछ मन को भास होता है वह सब कालान्तर में नाश होता है। परन्तु वह अविनाशी परब्रह्म दृश्य से परे है ॥ ४७ ॥ सब शास्त्र परब्रह्म को शाश्वत और माया को अशाश्वत निश्चित करते हैं ॥ ४८ ॥ अब आगे देहबुद्धि का लक्षण बतला कर यह भी बतलाया जाता है कि भ्रम में पड़ा हुआ "मैं" कौन है ॥ ४९ ॥ 'मैं' को जान कर, 'मैं'-पन छोड़ते हुए, परमात्मा में अनन्य होने से सहज ही परम शान्ति मिलती है ॥ ५० ॥

नववाँ समास—गुप्त परमात्मा की खोज।

॥ श्रीराम ॥

घर में गुप्त धन को नौकर लोग नहीं जानते—उन्हें सिर्फ बाहर बाहर का ज्ञान होता है ॥ १ ॥ बाहर के प्रकट दिखनेवाले पदार्थों की उपेक्षा करके, चतुर पुरुष भीतर का मुख्य धन ढूँढ लेते हैं ॥ २ ॥ इसी प्रकार

* दृश्य अविद्यात्मक है और इधर तेरी देह भी अविद्यात्मक ही है—ऐसी दशा में तेरे अविद्यात्मक शरीर को (और शरीर ही को तू 'मैं' मानता है, इस लिए तुझे) यह अविद्यात्मक दृश्य जगत् यदि सच जान पड़े तो कोई बड़ी बात नहीं है—मामूली है।

विवेकी मनुष्य इस मायिक दृश्य (सृष्टि) को छोड़ कर परमात्मा को खोज लेते हैं और बाकी लोग इसी दृश्य माया में फँस रहते हैं ॥ ३ ॥ द्रव्य अन्दर रख कर यदि ऊपर से पानी भर दिया जाय तो लोग कहते हैं कि यह तो सरोवर भरा है; पर उसके भीतर का हाल समर्थ जनों को ही मालूम होता है ॥ ४ ॥ इसी प्रकार समर्थ ज्ञाता लोग परमार्थ को पहचान लेते हैं और बाकी लोग दृश्य पदार्थों को ही अपना स्वार्थ समझते हैं! ॥ ५ ॥ कुली लोग बोझा ढोते हैं, और श्रेष्ठ पुरुष सुन्दर रत्नों का भोग करते हैं। कर्मयोग से जिसको जो बदा है उसको वही अच्छा भी लगता है ॥ ६ ॥ कोई जंगल में लकड़ी काट और कोई कंडे एकत्र करके अपना निर्वाह करते हैं; परन्तु उत्तम पदार्थ भोगनेवाले नृपतियों का यह हाल नहीं होता ॥ ७ ॥ विद्वान् पुरुष सुखभोग करते हैं और अन्य लोग भार ढोते ही मर जाते हैं ॥ ८ ॥ कोई दिव्य भोजन करते हैं, कोई विष्टा ही बटोरा करते हैं—सभी अपने अपने कार्य का अभिमान रखते हैं ॥ ९ ॥ श्रेष्ठ पुरुष सार पदार्थों का सेवन करते हैं और आलसी मनुष्य असार वस्तुओं का ग्रहण करते हैं। सच तो यह है कि, सार-असार की बात सज्ञान जानते हैं ॥ १० ॥ पारस और चिन्तामणि गुप्त हैं; कंकड़ और कांच प्रकट हैं, तथा सुवर्ण और रत्नों की खनियां गुप्त हैं; और पत्थर तथा मिट्टी प्रगट हैं ॥ ११ ॥ दक्षिणावर्ती शंख, दक्षिणावर्ती बेल और अमोल वनस्पतियां गुप्त हैं; परन्तु अंड़ी, धतूरा और सिप्पियां बहुत सी हैं—और प्रगट हैं ॥ १२ ॥ कल्पतरु कहीं नहीं देख पड़ता, परन्तु दूसरे वृक्षों का विस्तार बहुत है। चन्दन के वृक्ष नहीं दिखते; परन्तु बेरी, बबूल, आदि के वृक्ष बहुत हैं ॥ १३ ॥ कामधेनु इन्द्र ही के पास है; परन्तु अन्य गाय-बछड़े बहुत भरे हुए हैं। राज्यभाग राजा लोग ही भोगते हैं। अन्य लोग कर्मानुसार सुख-दुःख भोगते हैं ॥ १४ ॥ अनेक प्रकार के व्यापार करनेवाले लोग भी अपने को धनवान् कहते हैं; परन्तु कुबेर की महिमा कुछ दूसरी ही है ॥ १५ ॥ इसी प्रकार गुप्त अर्थ (परमात्मा) के प्राप्त करनेवाले एक योगीश्वर पुरुष ही हैं। अन्य लोग, जो पेट के दास हैं, नाना मतों को टटोलते फिरते हैं ॥ १६ ॥ लोगों को सार 'वस्तु' नहीं दिख पड़ती, असार दिख पड़ती है। सारासार का विवेक साधु जानते हैं ॥ १७ ॥ सच-झूठ की बात अन्य लोग क्या जानें? साधु-सन्तों की बातें साधु-सन्त ही जानते हैं ॥ १८ ॥ जिस प्रकार गुप्त धन, एक विशेष प्रकार का अंजन लगाने से, देख पड़ता है, उसी प्रकार सन्त-समागम के अंजन से गुप्त परमात्मा ढूंढ़े मिल जाता है ॥ १९ ॥ जिस प्रकार राजा के पास रहने से धन सहज ही प्राप्त होता है, उसी प्रकार सन्तों के पास

रखने से परमात्मा मिलता है ॥ २० ॥ सज्जनों को परमात्मा मिलता है, दुष्टों को दुर्गति मिलती है और विचारवान् पुरुष को विचार प्राप्त होता है ॥ २१ ॥ सम्पूर्ण दृश्य अशाश्वत है और परमात्मा, जो अच्युत तथा अनन्त है, इस दृश्य से अलग है ॥ २२ ॥ वह सर्वोत्तम दृश्य से अलग भी है और दृश्य के भीतर भी है—सब चराचर में है—और विवेक से वह अनुभव में आता है ॥ २३ ॥ संसार-त्याग न करते हुए और प्रपंच-उपाधि न छोड़ते हुए, केवल विचार ही से, जीवन सार्थक हो सकता है! ॥ २४ ॥ यह अनुभवसिद्ध बात है। विवेक-द्वारा इसका अनुभव करना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनुभवी पुरुष ही चतुर हो सकते हैं ॥ २५ ॥ अनुभव और अनुमान, उधार और नकद, अथवा मानसपूजा और प्रत्यक्ष दर्शन—इनमें बड़ा अन्तर है ॥२६॥ अगले जन्म में, सत्कर्मों का फल, मिलने की बात, उधार का विषय है; परन्तु सारासार के विचार का फल (मुक्ति) तत्काल ही (इसी जन्म में) मिलता है ॥ २७ ॥ सार और असार का विवेक करने से तत्काल ही लाभ होता है—मनुष्य संसार से छूट जाता है—और जन्म-मरण का सारा संशय मिट जाता है ॥ २८ ॥ विवेक के द्वारा इस जन्म में-इसी काल में—संसार से अलग हो सकते हैं और, निश्चल स्वरूपाकार होकर मोक्ष पासकते हैं! ॥ २९ ॥ इस बात में जो सन्देह करेगा वह, चाहे फिर सिद्ध ही क्यों न हो, अवश्य अधोगति पावेगा! जो झूठ कहता हो, उसे उपासना की शपथ है!! ॥ ३० ॥ यह कथन यथार्थ ही है। विवेक से तुरन्त ही मुक्त हो सकते हैं। और, संसार में रह कर भी, उससे अलिप्त रह सकते हैं ॥ ३१ ॥ इस का विचार करने से पूर्ण शांति मिल सकती है, कि निर्गुण परमात्मा कैसा है और उसमें अनन्य कैसे हो सकते हैं ॥ ३२ ॥ देह में रह कर जो विदेह होना और करके भी कुछ न करना—ये जीवन्मुक्तों के लक्षण जीवन्मुक्त ही जानते हैं! ॥ ३३ ॥ यों तो यह बात सच्ची नहीं जान पड़ती, इसमें सन्देह होता है, परन्तु सद्गुरु के वचनों से वह सन्देह समूल मिट जाता है ॥ ३४ ॥

दसवाँ समास—अनुभव अकथनीय है।

॥ श्रीराम ॥

अनुभव की बात पूछने पर लोग कहते हैं कि वह अकथनीय है। अतएव, आप इसका सब हाल बतलाइये ॥ १ ॥ जिस प्रकार मूक पुरुष गुड़ की मिठास नहीं बतला सकता, उसी प्रकार, कहते हैं कि, अनुभव भी नहीं बतलाया जा सकता। इसका क्या कारण है? आप बतलाइये ॥ २-३ ॥ जिससे पूछिये वही कहता है कि यह बात अगम्य है; पर मुझे कुछ इस पर विश्वास नहीं होता। अब आप ऐसा कीजिये, कि "जिससे यह विचार मेरे मन में आ जाय" ॥ ४ ॥ श्रोता के इस प्रश्न का उत्तर अब सावधान होकर सुनिये ॥ ५ ॥ अब परमशांति की बात, अथवा आत्मानुभव का स्वरूप, मैं स्पष्ट रीति से बतलाता हूं ॥ ६ ॥ जिसका वाचा-द्वारा आकलन नहीं हो सकता, तथा जो बोले बिना मालूम भी नहीं होता, और जिसकी कल्पना करने से कल्पनाशक्ति थक जाती है, वह वेदों का परम गुह्य परब्रह्म सन्त समागम से मालूम होता है ॥ ७-८ ॥ अस्तु, अब गम्भीर शांति का निरूपण करते हैं—अनुभव के बोल सुनिये—अनिर्वाच्य वस्तु का रहस्य बतलाते हैं ॥ ९ ॥ जो बात बतलाई नहीं जा सकती वह बतलाना ऐसा है, जैसे मिठास जानने के लिये गुड़ देना! यह काम गुरु के बिना नहीं हो सकता ॥१०॥ जो 'अपने' का अन्वेषण करता है—अर्थात् जो देहाभिमान का त्याग करता है उसे पहले सद्गुरु-कृपा प्राप्त होती है। इसके बाद 'वस्तु' आप ही आप अनुभव में आ जाती है ॥ ११ ॥ बुद्धि को दृढ़ करके प्रथम इसका पता लगाना चाहिये कि "मैं कौन हूं?"—इससे एकदम समाधि लगती है! ॥ १२ ॥ 'अपने' का मूल खोजने से मालूम हो जाता है कि 'अपने' की बात मिथ्या है—यह अनुभव होने पर वास्तव में स्वयं 'वस्तु'-रूप हो जाते हैं—यही परमशांति है ॥ १३ ॥ पूर्वपक्ष में आत्मा को सर्वसाक्षी कहा है; परन्तु सिद्ध पुरुष पूर्वपक्ष छोड़ कर सिद्धान्त ही ग्रहण करते हैं ॥ १४ ॥ और सिद्धान्त पर जब हम ध्यान देते हैं तब मालूम होता है कि आत्मा सर्वसाक्षी नहीं है; किन्तु 'अवस्था' सर्वसाक्षी है, और आत्मा उससे भिन्न, अर्थात् अवस्थातीत है ॥ १५ ॥ जब पदार्थ-ज्ञान का लय हो जाता है और द्रष्टा (परमात्मा को देखनेवाला), द्रष्टापन के रूप में, नहीं रहता (अर्थात् जब वह भी स्वयं ब्रह्म में लीन हो जाता है) तब 'मैं'-पन का नशा उतरता है! ॥ १६ ॥ और, मैंपन का लय हो जाना ही अनुभव का लक्षण है—इसी कारण इसे अनिर्वाच्य समाधान कहते हैं; क्योंकि जब

'मैं' कुछ रह ही नहीं गया तब समाधान का वर्णन करेगा कौन? ॥ १७ ॥ चाहे जैसे विवेक के बोल हों, तौ भी, अनुभव की दृष्टि से, वे मायावी और व्यर्थ ही हैं। परन्तु वे शब्द, भीतर बाहर, गंभीर, अर्थ से भरे हुए होते हैं! ॥ १८ ॥ शब्दों से अर्थ मालूम होता है और अर्थ के विचारने पर शब्द व्यर्थ हो जाते हैं। शब्द जो कुछ कहते हैं वह यथार्थ है, पर स्वयं वे (शब्द) मिथ्या हैं ॥ १९ ॥ शब्दों के योग से 'वस्तु' का भास होता है और 'वस्तु' के देखने पर शब्दों का नाश हो जाता है—अर्थात् शब्दों के खोल से घना अर्थ खींच लेने पर शब्द बे-काम हो जाते हैं ॥२०॥ अथवा शब्दों को भूसा और अर्थ को अनाज समझिये। अनाज निकाल कर यद्यपि भूसा फेंक देते हैं, तथापि अनाज मिलता भूसे ही से है! ॥ २१ ॥ जिस प्रकार पोल भाग में ठोस (दाना) होता है और ठोस में पोल नहीं होती उसी प्रकार परब्रह्म शब्दों में होता है, परन्तु परब्रह्म में शब्द नहीं होते ॥ २२ ॥ बोलने के बाद शब्द नहीं रहते; परन्तु अर्थ, शब्दों के निकलने के पहले से ही, विद्यमान रहता है; अतएव शब्द अर्थ की बराबरी नहीं कर सकते ॥ २३ ॥ जिस प्रकार भूसा छोड़ कर अनाज ले लेते हैं उसी प्रकार वाच्यांश (शब्द) छोड़ कर लक्ष्यांश, (अर्थ या ब्रह्म) शुद्ध स्वानुभव से, ग्रहण करना चाहिए ॥ २४ ॥ दृश्य से अलग अर्थात् ब्रह्म के विषय में जो कुछ बोला जाय उसे वाच्यांश कहते हैं और उसके अर्थ को शुद्ध लक्ष्यांश कहते हैं ॥२५॥ उक्त शुद्ध 'लक्ष्यांश' को भी पूर्वपक्ष ही समझना चाहिए, स्वानुभव तो अलक्ष्य 'अलख' है-वह लक्ष में नहीं आ सकता ॥ २६ ॥ जिसको आकाश की भी उपमा नहीं दी जा सकती, और जो अनुभव का सार है, उसको 'लक्ष्यांश' कहना भी कल्पना ही है! ॥ २७ ॥ जो मिथ्या कल्पना से उत्पन्न हुआ है उसमें सत्यता कहां से आई? अतएव, उसमें अनुभव का क्या काम है? ॥ २८ ॥ परन्तु, अद्वैत (परब्रह्म) के तई भी अनुभव का कोई काम नहीं है—अनुभव तो द्वैत ही में रह सकता है ॥ २९ ॥ अनुभव के कारण तो त्रिपुटी (अनुभाविता, अनुभाव्य और अनुभव) उपजती है—और अद्वैत में द्वैत ही लज्जित होता है—वहां त्रिपुटी का कैसे निर्वाह होगा—अतएव, यही कहना अच्छा लगता है, कि वह 'अनिर्वाच्य' है ॥३०॥ दिन-रात को परिमित करनेवाला सूर्य है; परन्तु यदि सूर्य ही का नाश हो जाय तो उस अवस्था को क्या कहेंगे? ॥३१॥ इसी प्रकार शब्दोच्चार करने अथवा मौन रहने का मूल ओंकार है; परन्तु यदि वह ओंकार ही न रहे तो उच्चार कैसे किया जाय? ॥ ३२ ॥ अनुभव, अनुभाविता और अनुभाव्य, इत्यादि सब माया ही से हैं और यदि माया ही न रहे तो उसे क्या

कहेंगे? ॥३३॥ 'वस्तु' और 'हम' दोनों यदि अलग अलग होते तो अनुभव का विवेक अच्छी तरह बतलाया जा सकता ॥ ३४ ॥ भिन्नता की बात, बाँझ की लड़की के समान, मिथ्या है—आदि से ही भिन्नता का नाम नहीं है ॥३५॥ उदाहरणार्थः—कोई अजन्म (स्वप्नावस्था में) सो रहा था। वह स्वप्न में क्या स्वप्न देखता है कि मानो वह संसार-दुःख के कारण सद्गुरु की शरण में जाता है ॥ ३६ ॥ सद्गुरु की उस पर कृपा होती है, उसका संसार-दुःख नाश होता है और उसे सद्गुरु की कृपा से ज्ञान होता है ॥ ३७ ॥ अतएव, जो कुछ था वह 'नहीं' के समान हो जाता है और जो नहीं है वह 'नहीं' है ही; तथा 'है' और 'नहीं' दोनों के न रहने पर—वह शून्यावस्था को प्राप्त होता है! ॥ ३८ ॥ इसके बाद शुद्धज्ञान से, जो शून्यस्थिति से परे है, उसको परम शांति होती है और ऐक्यरूप से अभिन्नता, या सहज-स्थिति प्राप्त होती है ॥ ३९ ॥ अद्वैत-निरूपण होने से उसकी द्वैत की वार्ता मिट जाती है और वह ज्ञानचर्चा करने लगता है। इतने ही में वह अजन्म स्वप्न ही में जागृत हो जाता है ॥ ४० ॥ अब श्रोता लोग सावधान होकर अर्थ की तरफ ध्यान दें; क्योंकि इसका रहस्य मालूम होने पर समाधान होगा ॥ ४१ ॥ उस अजन्मा ने जितना ज्ञान कहा, उतना सब स्वप्न के साथ चला गया और अनिर्वाच्य सुख जो शब्द से परे है, अलग ही रहा! ॥ ४२ ॥ उस शब्दातीत सुख के तई, शब्द के बिना ही, एकता है—वहां अनुभव और अनुभविता कोई नहीं है। परन्तु वह अजन्मा वहां तक न पहुँच कर जागृत हो उठा! ॥ ४३ ॥ तात्पर्य, उसने स्वप्न में स्वप्न देखा और स्वप्न ही में एकबार जागृत होकर फिर उसकी आंख खुल गई अर्थात् वह असली अवस्था तक नहीं पहुँच सका! ॥ ४४ ॥ अच्छा, अब इसी निरूपण को और भी स्पष्ट करके बतलाते हैं, जिससे समझ में आ जाय ॥ ४५ ॥

इस पर शिष्य कहता है कि, "महाराज! हां, इसे अवश्य फिर से समझाइये; ताकि असली बात समझ में आ जाय ॥ ४६–४७ ॥ यह बतलाइये कि, वह अजन्मा कौन है, उसने कैसा स्वप्न देखा और स्वप्न में उसने कौन सी बातें की"? ॥ ४८ ॥ महाराज उत्तर देते हैं किः—हे शिष्य! अजन्मा तू ही है; तू स्वप्न में जो स्वप्न देखता है, वह भी अब बतलाता हूं ॥ ४९–५० ॥ यह संसार ही स्वप्न में स्वप्न है—यहां तू सार-असार का विचार करता है ॥५१॥ सद्गुरु की शरण में जाकर, और शुद्ध निरूपण सुन कर, अब तू प्रत्यक्ष उसकी चर्चा करता है ॥ ५२ ॥ और उसी चर्चा का अनुभव मिलने पर सारा बोलना बन्द हो जाता है। यह शांतियुक्त विश्राम ही जागृति है ॥ ५३ ॥ ज्ञानचर्चा का गड़बड़ दूर हो जाने से अर्थ प्रकट

होता है और उसका विचार करने से तुझे अनुभव प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥ इस पर तू समझता है कि, यही जागृति है और मुझे (शिष्य को) अनुभव प्राप्त हुआ है, (परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है) इसका तो अर्थ यह है कि अभी तेरी भ्रान्ति मिटी ही नहीं! ॥ ५५ ॥ अरे भाई! अनुभव में अनुभव डूब जाना और अनुभव के बिना अनुभव आना भी, वास्तव में, स्वप्न से जगना नहीं है ॥ ५६ ॥ क्योंकि जगने पर भी तू कहता है कि "अजन्मा मैं ही हूं!" इससे जान पड़ता है कि तेरे स्वप्नरूपी संसार की लहर अभी नहीं गई है ॥ ५७ ॥ जैसे स्वप्न में जागृतावस्था मालूम होती है, वैसे ही तुझे मालूम होता है कि मुझे अनुभव प्राप्त हो गया है; परन्तु सच-मुच वह स्वप्न ही है—और भ्रमरूप है! ॥ ५८ ॥ जागृति तो इसके बहुत आगे है—वह बतलाई ही कैसे जा सकती है? वहां तो विवेक की धारणा ही टूट जाती है! ॥ ५९ ॥ अस्तु। वह ऐसा समाधान है कि जो बतलाया ही नहीं जा सकता—अकथनीय है—यही निःशब्द की पहचान है ॥ ६० ॥ यह सुन कर शिष्य उस अकथनीय अनुभव को समझ गया! ॥ ६१ ॥

सातवाँ दशक।



पहला समास—माया की खोज।

॥ श्रीराम ॥

विद्यावन्तों के पूर्वज, गजानन, एकदन्त, चतुर्भुज, त्रिनयन (?) और परशुपाणि श्रीगणेश जी को नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ जिस प्रकार कुबेर से धन, वेद से परमार्थ और लक्ष्मी से सौभाग्य प्राप्त होता है, उसी प्रकार आदिदेव मंगलमूर्ति श्री गणेशराज से सकल विद्याएं प्राप्त होती हैं। उन्हीं विद्याओं के द्वारा लोग कवि, पण्डित, सन्त, साधु, इत्यादि बनते हैं ॥ २-३ ॥ जिस प्रकार धनवान् पुरुष के बच्चे, नाना प्रकार के अलंकारों से, सुन्दर जान पड़ते हैं, उसी प्रकार मूलपुरुष (गणेश) ही के द्वारा कवि लोग व्युत्पन्न बनते हैं ॥ ४ ॥ जिन विद्याप्रकाश, पूर्णचन्द्र गणेशजी के द्वारा बोधसमुद्र उमड़ने लगता है, उनको मैं नमस्कार करता हूं ॥ ५ ॥ वे कर्तृत्व के आरम्भरूप हैं, वे मूलपुरुष और मूलारम्भ हैं, वे परात्पर हैं और आदि अन्त में स्वयम्भू हैं ॥ ६ ॥ जिस प्रकार सूर्य से मृगजल चमकता है उसी प्रकार श्रीगणेशजी से इच्छा-कुमारी सरस्वती प्रकट होती है ॥ ७ ॥ उस मायारूपी शारदा को मिथ्या कहते हैं उन्हें भी वह धोखा देती है—वह अपने मायावीपन से मोह लेती है और उन्हें परमात्मा से भिन्न प्रकट करती है—(अर्थात् वक्ता, ब्रह्म का निरूपण करने के कारण, ब्रह्म से भिन्न होता है) ॥ ८ ॥ वह द्वैत की जननी है, अथवा यों कहिये कि वह अद्वैत की खानि है और मूलमाया के रूप में अनन्त ब्रह्माण्डों को घेरे हुए है ॥ ९ ॥ अथवा वह औदुम्बर (गूलर) का वृक्ष है, जिसमें अनन्त ब्रह्माण्ड, गूलर-फल की तरह, लगे हुए हैं! अथवा पुत्ररूप से वह मूलपुरुष की माता है! ॥ १० ॥ वह वेदमाता और आदिपुरुष की सत्ता है। उसकी मैं वन्दना करता हूं ॥ ११ ॥

अब उस समर्थ सद्गुरु का स्मरण करता हूं, कि जिसकी कृपादृष्टि से ऐसी आनन्द की वृष्टि होती है, जिससे सम्पूर्ण सृष्टि आनन्दमय हो जाती है ॥१२॥ वह आनन्द का जनक है; सायुज्य मुक्ति का नायक है; तथा कैवल्य पद-दायक है और अनाथों का बन्धु है ॥ १३ ॥ जिस प्रकार चातक, मेघ की ओर दृष्टि लगाये, बून्दों के लिए रटा करता है उसी प्रकार

मोक्ष की इच्छा रखनेवाला साधक, जब सद्गुरु में भक्ति रख कर करुणामय को प्रार्थना करता है, तब वह कृपाघन सद्गुरु साधकों पर प्रसन्न होता है ॥ १४ ॥ वह (सद्गुरु) भवार्णव (संसार-समुद्र) की नौका है; वह भाविकों को, बड़े भारी भँवर में, आधार है; वह उन्हें अपने बोध-द्वारा संसार से मुक्त करता है ॥१५॥ वह काल का नियन्ता है, संकट से छुड़ानेवाला है; और भाविकों की परम स्नेहालु माता है ॥१६॥ वह परलोक का आधार है, वह विश्रान्ति का स्थल है और सुख का सुखस्वरूप आश्रयस्थान है ! ॥१७॥ ऐसा जो पूर्ण सद्गुरु है, जिसके द्वारा भेद का बन्धन टूट जाता है उस प्रभु को, विदेह होकर, मैं साष्टांग प्रणाम करता हूं ! ॥१८॥ अस्तु। अब साधु, सन्त, सज्जन और श्रोता जनों को नमस्कार करके कथा का प्रारम्भ करता हूं। सावधान होकर सुनिये:—॥ १९ ॥

संसार ही एक बड़ा स्वप्न है। यहां, मोह के कारण, लोग यह बर्राया करते हैं कि, यह मेरी कांता है, यह मेरा धन है और ये मेरे कन्या-पुत्र हैं ॥ २० ॥ ज्ञानसूर्य के अस्त हो जाने से प्रकाश लुप्त हो गया है और सारा ब्रह्मांड अन्धकार से भर गया है ! ॥२१॥ सत्त्व की चांदनी नहीं रही है कि, जिससे कुछ मार्ग देख पड़े—भ्रांति के कारण सब लोग आप ही अपने को नहीं पहचानते ! ॥ २२ ॥ देहबुद्धि के अहंकार से लोग घोर निद्रा में सोये हुए खुर्राटे ले रहे हैं, और विषयसुख के लिए, दुःख से तड़फडाते हुए, रो रहे हैं ! ॥ २३ ॥ न जाने कितने, इसी प्रकार सोते ही सोते, मर चुके हैं और अनेकों पैदा होते ही सोते गये हैं—इसी तरह असंख्यों लोग इस संसार में आये और गये ! ॥ २४ ॥ इस प्रकार, सुप्तावस्था में रह कर ही भटकते भटकते, अनेकों लोग, परमात्मा को न जानने के कारण, आवागमन का कष्ट भोग रहे हैं ॥ २५ ॥ उस कष्ट को दूर करने के लिए आत्म-ज्ञान की आवश्यकता है—इसी लिए यह अध्यात्म-ग्रन्थ "दासबोध" प्रकट हुआ है ! ॥ २६ ॥

सब विद्याओं में अध्यात्म-विद्या श्रेष्ठ है। इस विषय में, भगवद्गीता के दसवें अध्याय में, भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं:— ॥ २७ ॥

अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥

अतएव, अध्यात्म-विद्या को वही समझ सकता है, जो अपनी सब इन्द्रियां, मन-सहित, उसमें लगा देता है ॥२८॥ जिस पुरुष का मन चञ्चल है, वह अध्यात्म-विद्या से कोई लाभ नहीं उठा सकता ॥ २९ ॥ परमार्थी पुरुष को ही अध्यात्म-विद्या का विचार करना चाहिए, इससे उसका परमार्थ और भी दृढ़ हो जाता है ॥ ३० ॥ परमार्थ में जिसका प्रवेश नहीं है वह अध्यात्मग्रन्थ नहीं समझ सकता। बिना नेत्रों के भला कोई कुछ देख

भी सकता है ? ॥ ३१ ॥ बहुत लोग कहते हैं कि, "प्राकृत भाषा कुछ ठीक नहीं है—यह तो भले आदमी को सुनना ही न चाहिए !" परन्तु वे मूर्ख अर्थान्वय की सरलता नहीं जानते ! ॥ ३२ ॥ जैसे लोहे की सन्दूक में नाना प्रकार के रत्न भरे हुए हों और कोई अज्ञान उसे लोहा जान कर त्याग दे, उसी प्रकार प्राकृत भाषा में प्रकट किए हुए वेदान्ततत्त्व, भ्रान्त पुरुष, अपनी मन्दबुद्धि के कारण, त्याग देते हैं !* ॥ ३४ ॥ अनायास धन मिल जाने पर, उसे त्याग देना मूर्खता नहीं तो और क्या है ? द्रव्य ले लेना चाहिए और द्रव्यपात्र (सन्दूक आदि) की तरफ देखना भी चाहिए ॥ ३५ ॥ अंगन में पड़ा हुआ पारस, मार्ग में पड़ा हुआ चिन्तामणि और कुएं में लगी हुई दक्षिणावर्ती बेल सभी ले लेते हैं ॥ ३६ ॥ उसी प्रकार यदि प्राकृत भाषा में, सुगम रीति से और अनुभवयुक्त, अद्वैत-निरूपण किया गया है और उससे अनायास अपने को अध्यात्म-ज्ञान का लाभ होता है तो उसे अवश्य ले लेना चाहिए ॥ ३७ ॥ सन्त-समागम करने से, विद्याभ्यास का श्रम न करने पर भी सब शास्त्र-ज्ञान सुलभ हो जाता है ॥ ३८ ॥ जो विद्याभ्यास से नहीं मालूम होता, वह सन्तसमागम-द्वारा मालूम हो जाता है और सब शास्त्रों का ज्ञान अनुभव में आ जाता है ॥३९॥ अतएव, ज्ञान प्राप्त करने का, सन्त-समागम ही, मुख्य उपाय है। व्युत्पन्नता का परिश्रम करना व्यर्थ है। जीवन सार्थक करने का रहस्य दूसरा ही है ! ॥ ४० ॥

भाषाभेदाश्च वर्तन्ते ह्यर्थ एको न संशयः ॥
पात्रद्वये यथा खाद्य स्वादभेदो न विद्यते ॥ १ ॥

भाषा-भेद से कुछ अर्थ में त्रुटि नहीं आ सकती; और मुख्य मतलब अर्थ ही से है* ॥ ४१ ॥ वास्तव में प्राकृत भाषा से ही संस्कृत को महत्त्व है; अन्यथा संस्कृत के गुप्त अर्थ को, सर्व-साधारण लोग, किस प्रकार

श्रीसमर्थ रामदास स्वामी और श्रीगोस्वामी तुलसीदास, इत्यादि सन्त महात्माओं ने मराठी और हिन्दी आदि प्राकृत भाषाओं पर अनन्त उपकार किया है। इन्होंने, अपने अपने समय में, प्राकृत भाषाओं के द्वेषी, अदूरदर्शी संस्कृतज्ञ पण्डितों को, अपनी अलौकिक सामर्थ्य से, चकित किया और उनके मन में, प्राकृत भाषाओं की भक्ति उत्पन्न की। महात्मा तुलसीदासजी से जब एक संस्कृत के हिमायती ने पूछा, कि आप अपने ग्रन्थ संस्कृत में क्यों नहीं लिखते, तब उन्होंने बड़ी शान्ति से उत्तर दिया:—

का ' भाखा ' का संस्कृत, प्रेम चाहिये सांच।
काल जो आवे कामरी, का लै करे कमाच।

*भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने भी एक जगह कहा है:-बात अनूठी चाहिए भाषा कोऊ होय।

समझ सकते ? ॥ ४२ ॥ अब ये बातें रहने दो। भाषा छोड़ कर अर्थ ग्रहण करना चाहिए—सार लेकर छाल और बकले का त्याग करना चाहिए! ॥४३॥ अर्थ सार है और भाषा थोथी बोदी है। लोग भाषा की खटपट अभिमान से करते हैं। नाना प्रकार के अभिमान ने ही मोक्ष का मार्ग रोक रखा है ॥ ४४ ॥ लक्ष्य-अंश को ढूंढ़ते समय वाच्य-अंश की बात ही क्यों करना चाहिए? भगवान् की अगाध महिमा जानना चाहिए ॥ ४५ ॥ जिस प्रकार मूकावस्था के बोल मूक ही जानता है, उसी प्रकार स्वानुभव की बात स्वानुभवी ही जान सकता है ॥४६॥ अध्यात्म-विद्या को समझनेवाले श्रोता विरले ही मिलते हैं। उनको उपदेश करने से, वाणी को आनन्द होता है ॥ ४७ ॥ रत्नपरीक्षक को रत्न दिखलाने से जिस प्रकार आनन्द होता है, उसी प्रकार ज्ञानी से ज्ञान की वार्ता करने में बहुत आनन्द आता है ॥४८॥ जो पुरुष मायाजाल से दुश्चित्त रहता है, उसे अध्यात्म-निरूपण से कोई लाभ नहीं होता, क्योंकि उसे उसका अर्थ ही नहीं समझ पड़ता ॥ ४९ ॥ श्रीकृष्ण भगवान् गीता में कहते हैंः—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनंदन ॥
बहुशाखा ह्यनंताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ १ ॥

व्यवसाय के कारण जिसकी बुद्धि मलीन हो गयी है उसे अध्यात्म-निरूपण नहीं समझ पड़ता; क्योंकि उसमें तो बड़ी सावधानी की जरूरत है न? ॥ ५० ॥ जैसे नाना प्रकार के रत्न और सिक्के यदि दुश्चित्तता के साथ (बिना परखे) लिये जायँ तो हानि होती है; परीक्षा न जानने के कारण लोग ठगे जाते हैं; उसी प्रकार अध्यात्म-निरूपण भी, बिना मन लगाये, नहीं समझ पड़ता—चाहे जितना करो, प्राकृत भाषा ही समझ में नहीं आती! ॥ ५१-५२ ॥ कोई भी भाषा हो, यदि उसमें अध्यात्मनिरूपण का विषय है, और अनुभव का रस है, तो उसे संस्कृत से भी गम्भीर समझना चाहिए—उसीका सुनना अध्यात्म-श्रवण है ॥ ५३ ॥ माया और ब्रह्म के पहचानने को अध्यात्म कहते हैं; तथापि पहले माया का स्वरूप जान लेना चाहिए ॥ ५४ ॥

माया सगुण और साकार है, वह सब प्रकार से विकारी है और उसे पंचभूतों का विस्तार ही जानना चाहिए ॥ ५५ ॥ माया दृश्य हैः देख पड़ती है, वह भासमान हैः मन में भासती है, क्षणभंगुर हैः विवेक से देखने पर नाश हो जाती है ॥५६॥ माया अनेकरूपी और विश्वरूपी है, वह विष्णु का स्वरूप है* जितनी ही बतलाई जाय थोड़ी है ॥ ५७ ॥ वह

*क्योंकि विष्णु का स्वरूप सगुण ब्रह्म है, और ब्रह्म माया की ही उपाधि से सगुण होता है; इस लिए माया ही विष्णु का रूप हुई।

बन्सपी और बहुरंग है; वह ईश्वर का अधिष्ठान है; तथा देखने में वह अभंग और अखिल जान पड़ती है ॥ ५८ ॥ सृष्टि की रचना माया ही है; अपनी कल्पना भी माया ही है; वह ज्ञान के बिना तोड़ने से टूट नहीं सकती ॥ ५९ ॥ अस्तु। यह माया का संक्षिप्त वर्णन हुआ। अब अगले समास में ब्रह्मज्ञान का निरूपण किया जायगा। उससे माया एकदम नष्ट हो जाती है ॥ ६०-६१ ॥

दूसरा समास—ब्रह्म-निरूपण !

॥ श्रीराम ॥

ब्रह्म को साधु लोग निर्गुण, निराकार, निस्संग, निर्विकार और अपरम्पार बतलाते हैं ॥ १ ॥ शास्त्रों में ब्रह्म को सर्वव्यापक, अनेकों में एक और शाश्वत कहा है ॥ २ ॥ वह अच्युत, अनन्त, सर्वदा प्रकाशित, कल्पनारहित और निर्विकल्प है ॥ ३ ॥ वह इस दृश्य से परे है; वह शून्यत्व से भी अलग है और इन्द्रियों के द्वारा जाना नहीं जा सकता ॥ ४ ॥ ब्रह्म दृष्टि से नहीं दिखता; वह मूर्ख की समझ में नहीं आता; और साधु के बिना अनुभव में नहीं आता ॥ ५ ॥ वह सब से बड़ा है; उसके समान दूसरा और कोई श्रेष्ठ नहीं है और ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि के लिए भी वह अगोचर और सूक्ष्म है ॥ ६ ॥ शब्द-द्वारा जो कुछ बतलाते हैं उससे भी ब्रह्म अलग है; परन्तु अध्यात्म-श्रवण के अभ्यास से वह मिलता है ॥ ७ ॥ उसके अनन्त नाम हैं, पर है वह नामातीत। उसका कारण कुछ नहीं है और उसका दृष्टान्त देते अच्छा नहीं लगता ॥ ८ ॥ ब्रह्म के समान अन्य कुछ सत्य नहीं है, इसी लिए उसका दृष्टान्त नहीं दिया जा सकता ॥ ९ ॥ श्रुति यह सिद्धान्त बतलाती है कि:—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसासह।

ब्रह्म का वर्णन करने में वाचा कुंठित होती है और मन के द्वारा भी वह अप्राप्य है-अर्थात् मन भी उसे प्राप्त नहीं कर सकता ॥ १० ॥ मन कल्पनारूप है और ब्रह्म में कल्पना नहीं है; फिर मन उसे कैसे पा सकता है? अतएव, उपर्युक्त श्रुतिवाक्य यथार्थ है ॥ ११ ॥ अब यदि कहोगे कि जो मन को अप्राप्य है, वह कैसे प्राप्त हो सकता है, तो इसका उत्तर यही है, कि सद्गुरु के बिना यह काम नहीं हो सकता ॥ १२ ॥ भांडारगृह तो भरे हुए

हैं; परन्तु ताले बन्द हैं—और जब तक हाथ में कुंजी नहीं आती तब तक कुछ नहीं प्राप्त होता ॥ १३ ॥ इस पर श्रोता वक्ता से पूछता है कि "तो फिर वह कुंजी कौन सी है, मुझे बतलाइये न?" ॥ १४ ॥ वक्ता कहता है:—सद्गुरु की कृपा ही कुंजी है। उससे बुद्धि प्रकाशित होती है और द्वैत के कपाट एकदम खुल जाते हैं ॥ १५ ॥ उस परब्रह्म में सुख का पारावार नहीं है; परन्तु वहां मन की गति नहीं है—इस लिए, मनोलय किये बिना, वहां कोई साधन काम नहीं देते ॥ १६ ॥ मन के बिना ही उसकी प्राप्ति हो सकती है अथवा यों कहिये कि, वहां वासना के बिना ही तृप्ति है और वहां कल्पना की चतुराई नहीं चल सकती ॥ १७ ॥ वह परा वाणी से भी परे है; मन-बुद्धि से अगोचर है और सर्वसंग-परित्याग करने से वह सत्वर मिल जाता है ॥ १८ ॥ 'अपना' संग छोड़ कर, फिर उसे देखना चाहिए! जो अनुभवी होगा, वह इस बात से सुखी होगा!! ॥ १९ ॥ 'मैं'-पन को 'अपना' कहते हैं, 'जीवपन' को 'मैं-पन' कहते हैं और 'अज्ञान' को 'जीवपन' कहते हैं—इसी अज्ञान का संग प्राणी में लगा हुआ है! ॥ २० ॥ अज्ञान-संग को छोड़ने पर निःसंग (ब्रह्म) से एकता होती है—यही, कल्पना बिना, ब्रह्मप्राप्ति का अधिकार है ॥ २१ ॥ "मैं कौन हूं?" यह जानने का नाम 'अज्ञान' है—इस अज्ञान का नाश होने पर परब्रह्म मिलता है ॥२२॥ देहबुद्धि का बड़प्पन परब्रह्म के सामने नहीं चल सकता—वहां तो अहंभाव का अन्त ही हो जाता है ॥ २३ ॥ वहां ऊंच-नीच का भेद नहीं है—उसके तई राव रंक एक ही समान हैं; चाहे पुरुष हो, चाहे स्त्री हो—सब को एक ही पद है ॥ २४ ॥ ब्राह्मण का ब्रह्म शुद्ध है और शूद्र का ब्रह्म अशुद्ध है—ऐसा भेदाभेद वहां है ही नहीं! ॥ २५ ॥ यह भेद भी वहां बिलकुल नहीं है कि, ऊंचा ब्रह्म राजा के लिए है और नीचा ब्रह्म प्रजा के लिए है! ॥२६॥ सब के लिए एक ही ब्रह्म है—वहां अनेकत्व नहीं है। चाहे कोई रंक मनुष्य प्राणी हो, चाहे ब्रह्मा-विष्णु-महेश आदि देवता हों—सब उसी की ओर जाते हैं ॥ २७ ॥ स्वर्ग, मृत्यु और पाताल तीनों लोगों के सारे ज्ञाताओं के लिए विश्रान्ति की केवल वह एक ही जगह है! ॥२८॥ गुरु और शिष्य दोनों के लिए एक ही पद है—वहां भेदाभेद नहीं है; परन्तु इस देह का सम्बन्ध छोड़ना चाहिए! ॥२९॥ देहबुद्धि का अन्त हो जाने पर सब को एक 'वस्तु' प्राप्त होती है। श्रुति का वचन है कि "एकं ब्रह्म द्वितीयं नास्ति" ब्रह्म एक ही है दूसरा नहीं है ॥३०॥ साधु तो अलग अलग देख पड़ते हैं; परन्तु जब वे स्वरूप में मिल जाते हैं तब सब मिल कर वे एक ही देहातीत 'वस्तु' हो जाते हैं ॥ ३१ ॥ ब्रह्म नया नहीं है; पुराना नहीं है; न्यून नहीं है, अधिक नहीं है। जो उसके विषय में न्यून भावना करता है वह देहबुद्धि

का कुत्ता है ! ॥ ३२ ॥ देहबुद्धि का संशय समाधान का क्षय करता है और उसके योग से समाधान का मौका भी निकल जाता है ॥ ३३ ॥ देह को श्रेष्ठ समझना ही देहबुद्धि का लक्षण है; इसी लिए विचक्षण पुरुष देह को मिथ्या जान कर उसकी निन्दा करते हैं ॥ ३४ ॥ मरते समय तक देहाभिमान मनुष्य का पीछा नहीं छोड़ता, इसी कारण मनुष्य जन्म-मरण के फेरे में पड़ा रहता है ॥३५॥ मनुष्य-प्राणी ऐसा अज्ञान है कि देह की क्षणभंगुरता को न समझते हुए-किन्तु उसे श्रेष्ठ समझते हुए-अपनी शान्ति खोता है ॥ ३६ ॥ सन्त लोग कहते हैं कि 'हित' देहातीत है और देहबुद्धि से अनहित जरूर ही होता है॥३७॥ योगियों को भी, यदि अपनी सामर्थ्य का अभिमान आ जाता है, तो यही देहाभिमान उनके लिए भी विघ्नकारक होता है ॥ ३८ ॥ इस लिए, जब देहबुद्धि का नाश होता है तभी परमार्थ बनता है—देहाभिमान के कारण ही ब्रह्म से छूट होती है ॥ ३९ ॥ विवेक मनुष्य को 'वस्तु' की ओर खींचता है और देहाभिमान वहां से गिरता है-अहन्ता मनुष्य को परमात्मा से अलग करती है ॥ ४० ॥ इस कारण विचक्षणों को, देहबुद्धि त्याग कर, यथार्थ रीति से, परब्रह्म में लीन हो जाना चाहिए ॥ ४१ ॥ इस पर श्रोता प्रश्न करता है कि "सत्य ब्रह्म कौन है?" वक्ता उत्तर देता है:—॥ ४२ ॥

वास्तव में ब्रह्म एक ही है; परन्तु वह बहुत प्रकार से भासता है। अनेक मतों के अनुसार, भिन्न भिन्न प्रकार से अनुभव प्राप्त होता है ॥४३॥ जिसे जैसा अनुभव प्राप्त होता है वह वैसा ही मानता है और उसीमें उसका विश्वास होता है ॥ ४४ ॥ परन्तु वास्तव में ब्रह्म नाम और रूप से अतीत है; तथापि निर्मल, निश्चल, शान्त और निजानन्द आदि उसके बहुत से नाम हैं ॥ ४५ ॥ और भी, अरूप, अलक्ष, अगोचर, अच्युत, अनंत, अपरम्पार, अदृश्य, अतर्क्य, अपार नाम हैं ॥ ४६ ॥ नादरूप, ज्योतिरूप, चैतन्यरूप, सत्तारूप, साक्षरूप, सत्‌स्वरूप भी उसीके नाम हैं ॥ ४७ ॥ शून्य, सनातन, सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वात्मा और जगज्जीवन भी उस ब्रह्म ही को कहते हैं ॥ ४८ ॥ सहज, सदोदित, शुद्ध, बुद्ध, सर्वातीत, शाश्वत और शब्दातीत उसीको कहते हैं ॥ ४९ ॥ विशाल, विस्तीर्ण, विश्वम्भर, विमल, वस्तु, व्योमाकार, आत्मा, परमात्मा और परमेश्वर उसीके नाम हैं ॥ ५० ॥ जगदात्मा, ज्ञानघन, एकरूप, पुरातन, चिद्रूप और चिन्मात्र भी उसी अनामी के नाम हैं ॥ ५१ ॥ ऐसे असंख्यों नाम हैं; परन्तु वह परेश नामातीत है। उसका निश्चित अर्थ करने के लिए ही ये नाम रखे गये हैं ॥ ५२ ॥ वह विश्रान्ति का भी विश्राम है, आदिपुरुष और आत्माराम है—वह एक ही परब्रह्म है—दूसरा नहीं है ॥ ५३ ॥

अस्तु, अब चौदह ब्रह्मों के लक्षण, शास्त्र के आधार से, बतलाते हैं। इनमें से झूठे झूठे ब्रह्मों को अलग कर देने से सत्य ब्रह्म का पता लग जायगा ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

तीसरा समास--चौदह मायिक ब्रह्म।

॥ श्रीराम ॥

श्रोतागण सावधान हो जायँ; क्योंकि अब वह ब्रह्मज्ञान बतलाते हैं जिससे साधकों का समाधान होगा ॥ १ ॥ जैसे रत्न ढूंढ़ने के लिए पहले मिट्टी बटोरनी पड़ती है, उसी प्रकार, सत्य ब्रह्म का निश्चय होने के लिए, इन चौदह मायिक ब्रह्मों के लक्षण यहां बतलाये जाते हैं ॥ २ ॥ पदार्थ के बिना संकेत (चिन्ह या नामनिर्देश) होते के, बिना दृष्टांत और पूर्वपक्ष के बिना सिद्धान्त बतलाये ही नहीं जा सकते ॥ ३ ॥ इस लिए पहले मिथ्या बातें उठाना चाहिए, फिर उन्हें परख परख कर छोड़ते जाना चाहिए। इसके बाद सत्य बात सहज ही अन्तःकरण में आ जाती है ॥ ४ ॥ अस्तु। अब चौदह ब्रह्मों का वर्णन करते हैं। श्रोता लोगों को सावधान हो जाना चाहिए। यह वर्णन सुनने से सत्य सिद्धान्त मालूम हो जायगा ॥ ५ ॥

श्रुति के अनुसार चौदह ब्रह्मों के नाम ये हैं:—(१) शब्दब्रह्म; (२) ओमित्येकाक्षरब्रह्म; (३) खंब्रह्म; (४) सर्वब्रह्म; (५) चैतन्यब्रह्म; (६) सत्ताब्रह्म; (७) साक्षब्रह्म; (८) सगुणब्रह्म; (९) निर्गुणब्रह्म; (१०) वाच्यब्रह्म; (११) अनुभवब्रह्म; (१२) आनन्दब्रह्म; (१३) तदाकारब्रह्म; (१४) अनिर्वाच्यब्रह्म ॥ ६-९ ॥

ये तो चौदह ब्रह्मों के नाम हुए। अब, संक्षेप से, इनके स्वरूप का मर्म सुनियेः-॥ १० ॥ जो अनुभव में नहीं आता, सिर्फ शब्दों में ही बतलाया जाता है वह 'शब्दब्रह्म' है। 'ओमित्येकाक्षरब्रह्म' ओंकार को कहते हैं ॥ ११ ॥ 'खंब्रह्म' का अर्थ है 'आकाशब्रह्म'—वह महदाकाश की तरह व्यापक होता है। 'सर्वब्रह्म' का मर्म सुनिये ॥१२॥ इस ब्रह्म के विषय में श्रुति का आशय यह है कि, पंचभूतों के चमत्कार से जितना कुछ, यह सब देख पड़ता है सब ब्रह्म ही है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म—यही 'सर्वब्रह्म' है। अब चैतन्यब्रह्म का रहस्य सुनिये ॥ १३ ॥ १४ ॥ पंचभूतात्मक माया में जो चेतना लाता है वह 'चैतन्यब्रह्म' है ॥ १५ ॥ चैतन्य के ऊपर जिसकी सत्ता है वह 'सत्ताब्रह्म' है और वह सत्ता जो जानता है वह 'साक्षब्रह्म'

हैं ॥ १६ ॥ उस साक्षोपन में जब तीन गुणों का आरोप होता है तब उसीको 'सगुणब्रह्म' कहते हैं ॥ १७ ॥ जिसमें गुण, आदि कुछ नहीं होते वह 'निर्गुणब्रह्म' है ॥१८॥ जो वाणी-द्वारा बतलाया जाता है; पर अनुभव नहीं होता, वह 'वाच्यब्रह्म' है और जो अनुभव में आता है; पर वाणी-द्वारा बतलाया नहीं जा सकता, वह 'अनुभवब्रह्म' है। आनन्द, (जो) वृत्ति का धर्म है; परन्तु वाच्य है, वह 'आनन्दब्रह्म' है। भेदाभेद से रहित जो तदाकारत्व है, वह 'तदाकारब्रह्म' है; और 'अनिर्वाच्यब्रह्म' को क्या बतलावें—वह तो वाणी का विषय ही नहीं है—सम्वाद समाप्त ।। ॥ १९-२१ ॥

ये जो चौदह ब्रह्म क्रमशः बतलाये हैं उन्हें देख कर साधक लोगों को भ्रम में न आना चाहिए, किन्तु शाश्वतब्रह्म पहचान लेना चाहिए और मायिक ब्रह्मों को अशाश्वत समझ कर त्याग देना चाहिए। अभी चौदहों ब्रह्मों का सिद्धान्त हुआ जाता है ॥ २२ ॥ २३ ॥

' । तो शब्दों से सम्बन्ध है—वह अनुभव-रहित है; अतएव वह मायिक है—उसमें शाश्वतता नहीं हो सकती ॥ २४ ॥ जो न तो क्षर है और न अक्षर* है उसमें 'ओमित्येकाक्षरब्रह्म' (ओइम्+इति+एक+अक्षर-ब्रह्म) कहां से आया? अतएव इस ब्रह्म में भी शाश्वतता का कोई चिन्ह नहीं देख पड़ता ।। २५ ॥ 'खंब्रह्म' कहा है; परन्तु वह आकाश की तरह शून्य, अर्थात् अज्ञानस्वरूप है, अतएव उसे भी शाश्वतब्रह्म नहीं कह सकते ॥ २६ ॥ अब 'सर्वब्रह्म' को लीजिए; यह तो सभी जानते हैं कि 'सर्व' (अर्थात् पञ्चभूतात्मक सर्व दृश्य) का अन्त होगा—और वेदान्तशास्त्र में उसी 'अन्त' को 'कल्पान्त' या 'ब्रह्मप्रलय' कहते भी हैं; अतएव 'सर्वब्रह्म' भी नश्वर ही ठहरा—शाश्वत वह भी नहीं ॥ २७-२८ ॥ अचल में चलन, निर्गुण में गुण और निराकार में आकार, विचक्षण पुरुष नहीं मानते ॥ २९ ॥ पञ्चभूतात्मक—सम्पूर्ण पञ्चभूतात्मक रचना—प्रत्यक्ष ही नाशवन्त है—अतएव, 'सर्वब्रह्म' हो ही कैसे सकता है? ॥ ३० ॥ अस्तु। जब सब का नाश हो जायगा तब रहेगा कौन; और देखेगा कौन? ॥ ३१ ॥ अब 'चैतन्यब्रह्म' को देखिये; यह जिसको (पञ्चभूतात्मक रचना को, या सर्वब्रह्म को) चेतना देता है वही जब

---

* ब्रह्म, क्षर नहीं है और अक्षर, अर्थात् अविनाशी, भी नहीं है। प्रश्नः—अविनाशी क्यों नहीं? उत्तर—जहां नाश ही नहीं है वहां 'अविनाशी' शब्द का प्रयोग होना ही क्यों सम्भव है? जो ब्रह्म, क्षर भी नहीं है और अक्षर भी नहीं है वहां 'ओमित्येकाक्षरब्रह्म' कहां से आवे?

मायिक सिद्ध हो चुका, तब इसका 'चैतन्य'-पन कहां रहा ? अतएव यह भी अशाश्वत सिद्ध हुआ ! ॥ ३२ ॥ अब, जब प्रजा ('चैतन्य' और सर्व') ही नहीं है तब फिर वास्तव में सत्ता ही कहां से आई ? अतएव सत्ताब्रह्म' भी कुछ नहीं है। अब 'साक्षब्रह्म' लीजिए: जब सत्ता ही नहीं है तब साक्ष किसीका ? इस लिए 'साक्षब्रह्म' भी नश्वर ही ठहरा ! ॥३३॥ 'सगुणब्रह्म' तो प्रत्यक्ष ही नाशवन्त है: इसके लिए विशेष प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं ! ॥ ३४ ॥ अच्छा, अब 'निर्गुणब्रह्म' लीजिए: पहले तो जब 'गुण' ही नहीं है तब 'निर्गुण' यह नाम ही कहां से आया ? गुण के बिना कहीं गौरव प्राप्त हो सकता है ? अतएव 'निर्गुणब्रह्म' तो बिलकुल ही व्यर्थ है ! ॥ ३५ ॥ यह ब्रह्म तो ऐसा ही हुआ, जैसे कोई कहे कि माया ऐसी है जैसा मृगजल ! अथवा, जैसे कोई आकाश की कल्पना करे, तो वह कहां तक सत्य हो सकती है ? ॥ ३६ ॥ अथवा जैसे, जब ग्राम ही नहीं है तब सीमा कहां से आवेगी ? या, जब जन्म ही नहीं है तब जीवात्मा कहां से आयेगा ? अथवा अद्वैत के लिए द्वैत की उपमा कैसे लगेगी ? यही हाल 'गुण' के बिना 'निर्गुण' ब्रह्म का है ? ॥ ३७ ॥ जैसे माया के बिना सत्ता, पदार्थ के बिना साक्षीपन और अविद्या के बिना चैतन्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार 'गुण' के बिना 'निर्गुण' भी नहीं हो सकता ॥३८॥ अस्तु। सत्ता, चैतन्य, साक्षी; इत्यादि सब 'गुण' ही से हैं और जो 'निर्गुण' है उसमें गुण कहां से आया ? ॥ ३९ ॥ और, जिसमें गुण नहीं है उसे 'निर्गुण' संज्ञा देना, मानो उसे स्वयं अशाश्वत सिद्ध करना ही है ! ॥ ४० ॥ अब 'वाच्यब्रह्म' को देखिए: जिस प्रकार 'निर्गुण' स्वयं अपने नाम ही से अशाश्वत सिद्ध हो चुका है, उसी प्रकार 'वाच्यब्रह्म' भी मिथ्या है: क्योंकि वाचा की गति तो उन्हीं विषयों तक है, जिनका उपर्युक्त ब्रह्मों में खण्डन हो चुका है ! ॥ ४१ ॥ अब 'आनन्दब्रह्म' को लीजिए: आनन्द भी वृत्ति की ही भावना है: और वृत्ति प्रत्यक्ष नश्वर है, अतएव 'आनन्दब्रह्म' तो प्रत्यक्ष ही अशाश्वत है। अब 'तदाकारब्रह्म' लीजिए: तदाकारता हो जाने पर वृत्ति कुछ अलग रहती ही नहीं; और बिना वृत्ति के 'तदाकार' यह भावना कहां से हो सकती है: अतएव 'तदाकारब्रह्म' भी कुछ नहीं है ! ॥ ४२ ॥ अच्छा, अब रहा 'अनिर्वाच्यब्रह्म:' परन्तु 'अनिर्वाच्य' यह नामनिर्देश भी तो वृत्ति ही के कारण है; परन्तु ब्रह्म में तो निवृत्ति आ जाती है: अतएव 'अनिर्वाच्यब्रह्म' भी शाश्वतब्रह्म नहीं है। तात्पर्य, ब्रह्म का नाम-निर्देश ही नहीं हो सकता ॥ ४३ ॥

अस्तु। जो निवृत्तिदशा अनिर्वचनीय है वही उन्मनी अवस्था है—वही योगियों की निरुपाधि विश्रान्ति है ॥ ४४ ॥ जिस 'वस्तु' में नाम, रूप, गुण

वृत्ति, आदि कोई भी उपाधि नहीं है वही ज्ञानियों की सहज समाधि है और उसीसे भवसागर को आधिव्याधि दूर होती है ॥ ४५ ॥ जहां सब उपाधियों का अन्त हो जाता है, वही सिद्धान्त है-सिद्धान्त ही नहीं; किन्तु वही वेदान्त है और वही आत्मानुभव है ! ॥ ४६ ॥ अस्तु । ऐसा जो शाश्वतब्रह्म है; जहां माया भ्रम नहीं है, उसका मर्म अनुभवी पुरुष स्वानुभव से जानते हैं ॥ ४७ ॥ अपने ही अनुभव से, पहले कल्पना का नाश करके, फिर अनुभव का आनन्द लूटना चाहिए ॥ ४८ ॥ निर्विकल्प की कल्पना करने से कल्पना सहज ही मिट जाती है और कुछ भी न रह कर (परमात्मरूप होकर) करोड़ों कल्प तक रह सकते हैं ! ॥ ४९ ॥ कल्पना में एक अच्छाई है, कि उसे जहां लगाते हैं वहीं वह लग जाती है, और उसे यदि हम परमात्म-स्वरूप में लगा देते हैं तो स्वयं उसीका लय हो जाता है और 'हम' भी वही रूप हो जाते हैं ॥५०॥ निर्विकल्प की कल्पना करने से कल्पना स्वयं मिट जाती है; निःसंग से भेंट करने पर स्वयं निःसंग हो जाते हैं ॥ ५१ ॥ अस्तु । ब्रह्म कोई पदार्थ नहीं है, कि जो हाथ में रख दिया जाय ! सद्गुरु के ज्ञानोपदेश से वह अनुभव में आता है ! ॥ ५२ ॥ आगे फिर इसी विषय का निरूपण करते हैं । उससे 'केवल ब्रह्म' समझ में आ जायगा ॥ ५३ ॥

चौथा समास–केवल ब्रह्म ।

॥ श्रीराम ॥

ब्रह्म आकाश से भी अधिक निर्मल, निराकार, विशाल और व्यापक है ॥ १ ॥ इक्कीस स्वर्ग और सात पाताल मिल कर एक ब्रह्मांड बना है-इस प्रकार के अनन्त ब्रह्मांडों में एक वही 'निर्मल' व्याप्त है ॥ २ ॥ अनन्त ब्रह्मांडों के नीचे-ऊपर, सब जगह, वह है-उसके बिना अणुमात्र भी जगह खाली नहीं है ॥ ३ ॥ यह तो सभी जानते हैं कि जल, स्थल, काष्ठ, पाषाण, सब में वह है-ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जिसमें वह न हो ॥ ४ ॥ जिस प्रकार जल में जलचर रहते हैं उसी प्रकार ब्रह्म में सम्पूर्ण प्राणी रहते हैं ॥ ५ ॥ परन्तु ब्रह्म के लिए जल की उपमा ठीक नहीं है, क्योंकि जल मर्यादित है-जल के बाहर रह भी सकते हैं; परन्तु ब्रह्म अमर्यादित है— उससे अलग होकर कोई रह ही नहीं सकता ॥ ६ ॥ यदि कोई आकाश के बाहर भगना चाहे तो कैसे भाग सकता है? वह तो चारों ओर

भरा हुआ है ! इसी तरह उस 'अनन्त' का भी अन्त नहीं है ॥७॥ वह सब में अखण्ड रीति से मिला हुआ है-शरीरभर में लिपटा हुआ है ! सब के बहुत पास रह कर भी वह छिपा हुआ है ! ॥८॥ सब उसी में रहते हैं पर उसे जानते नहीं ! जो कुछ मालूम होता है वह भास है; वह परब्रह्म जाना नहीं जाता ॥ ९ ॥ बादल, धुंआ, गर्द और कुहरा आदि से कभी कभी आकाश कुछ धुँधलासा मालूम होता है, परन्तु यह ठीक नहीं है-वास्तव में आकाश निर्मल ही है ! ॥ १० ॥ आकाश की ओर जब हम बहुत देर तक देखते रहते हैं तब हमें चक्र की तरह कुछ दृश्य घूमते हुए दिखाई देते हैं; पर वास्तव में वे कुछ नहीं है-मिथ्याभास मात्र है ! इसी प्रकार यह दृश्य (सृष्टि) भी ज्ञानियों को मिथ्या देख पड़ता है ॥ ११ ॥ जिस प्रकार सोने-वालों को अपना स्वप्न, जागृतावस्था में आ जाने पर, मिथ्या मालूम होने लगता है, उसी प्रकार ज्ञानरूप जागृति आ जाने पर, मनुष्य को यह सारा स्वप्नवत् ' दृश्य ' मिथ्या जान पड़ने लगता है ॥१२॥ अतएव, अपने अनुभव से; ज्ञान-द्वारा, जागृत होना चाहिए। इसके बाद स्वयं यह सब मायिक दृश्य मिथ्या मालूम होने लगता है ॥ १३ ॥ अच्छा, अब यह कूटक रहने दीजिए। जो ब्रह्मांड के परे है, वही अब स्पष्ट करके समझाये देता हूं ॥१४॥

ब्रह्म ब्रह्मांड में मिला हुआ है, पदार्थमात्र में व्याप्त है और अंशमात्र से सब विस्तृत है ॥ १५ ॥ ब्रह्म में सृष्टि भासती है और सृष्टि में ब्रह्म रहता है-अनुभव लेने पर वह अंशमात्र से भासता है ॥ १६ ॥ अंशमात्र से तो सृष्टि के भीतर है; परन्तु बाहर उसकी मर्यादा कोई निश्चित नहीं कर सकता; क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्म ब्रह्मांड के पेट में समायेगा कैसे ? ॥ १७ ॥ अमृती (चरणामृत रखने का छोटा पात्र) में सम्पूर्ण आकाश नहीं रखा जा सकता, इसी लिए कहते हैं कि, उसका कुछ ' अंश ' है ॥ १८ ॥ उसी प्रकार ब्रह्म सब में मिला हुआ है। परन्तु वह हिलता नहीं; किन्तु व्यापकता से सब में परिपूर्ण भरा हुआ है ! ॥१९॥ वह पञ्चभूतों में मिश्रित होकर भी इस प्रकार उनसे अलग है। जिस प्रकार पंक में रह कर भी कमल अलिप्त रहता है ॥ २० ॥ ब्रह्म के लिए कोई दृष्टान्त नहीं है; परन्तु समझने के लिए देना ही पड़ता है ! यदि विचार किया जाय तो आकाश ही में, कुछ कुछ उसके दृष्टान्त का साहित्य पाया जाता है ॥ २१ ॥ श्रुति और स्मृति में क्रमशः ब्रह्म के लिए ' खंब्रह्म ' और 'गगनसदृशम्' कहा है; इसी लिए आकाश से उसकी उपमा दी जाती है ॥ २२ ॥ जैसे पीतल में यदि कालिमा न हो तो फिर वह स्वच्छ सोना ही है, ऐसे ही यदि आकाश में शून्यत्व न हो तो वही ब्रह्म है ॥ २३ ॥ इसी लिए, गगन की तरह ब्रह्म और पवन की तरह माया समझी जाती है, पर ब्रह्म का दर्शन नहीं होता ॥२४॥ शब्द-सृष्टि की

रचना क्षण क्षण में होती जाती है; पर वह वायु की तरह ठहरती नहीं-चलती जाती है! ॥ २५ ॥

अस्तु। इस प्रकार माया मिथ्या है; शाश्वत 'केवल ब्रह्म' ही है और वह सब में व्याप्त है ॥ २६ ॥ पृथ्वी में भेद हुआ है; परन्तु वह कठिन नहीं है (क्योंकि पृथ्वी स्वतः जड़ है-उसको भेदनेवाला कठोर चाहिए!)-मृदुता के लिए दूसरी उपमा ही नहीं है! ॥ २७ ॥ पृथ्वी से अधिक जल, जल से अधिक अग्नि और अग्नि से भी अधिक वायु सूक्ष्म है ॥ २८ ॥ वायु से भी अधिक आकाश और आकाश से भी अधिक सूक्ष्म ब्रह्म है ॥ २९ ॥ वह वज्र में भी भेदा हुआ है; परन्तु उसकी कोमलता जैसी की तैसी बनी है-वह नहीं गई! ब्रह्म उपमा रहित भरा हुआ है-वह न कठिन है न मृदु है! ॥३०॥ वह पृथ्वी में व्याप्त है; पर पृथ्वी का नाश होता है और उसका नाश नहीं होता-इसी प्रकार जल सूखता है; पर वह, जल में रह कर भी, नहीं सूखता! ॥ ३१ ॥ वह परब्रह्म अग्नि में रहता है; पर जलता नहीं; पवन में रहता है; पर चलता नहीं और गगन में रहता है; पर भासता नहीं ॥ ३२॥ यह कैसे आश्चर्य की बात है कि, वह सारे शरीर में व्याप्त है; पर मिलता नहीं और पास होकर भी दूर हो रहा है! ॥ ३३ ॥ सामने ही है; चारों ओर है; उसीमें दिन-रात देखा करते हैं-भीतर, बाहर, सब जगह, वह प्रत्यक्ष है, इसमें कोई शक नहीं! ॥ ३४ ॥ उसमें हम हैं, और हममें, भीतर, बाहर, वह, है आकाश की तरह, दृश्य से अलग है ॥३५॥ जहां कुछ भी नहीं जान पडता वहां भी वह भरा पड़ा है! जैसे अपना धन अपने ही को न दिखना हो उसी प्रकार परब्रह्म अदृश्य हो रहा है! ॥३६॥ जो जो पदार्थ देख पड़ते हैं उन उन पदार्थों के इसी तरफ वह है! (अर्थात् पहले उस पर दृष्टि पड़ना चाहिए तब पदार्थ पर!) अनुभव-द्वारा इस समस्या को हल करना चाहिए! ॥ ३७ ॥ जिसे सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ (पृथ्वी, आदि) को छोड़ कर, शेष सब, आगे-पीछे, चारों ओर, आकाश ही है वैसे ही वह परब्रह्म चारों ओर समरस भरा है ॥३७॥ जहां तक रूप और नाम है वह सब झूठ ही भ्रम है, और नामरूप से जो परे है, उसका मर्म अनुभवी पुरुष जानते हैं ॥३९॥ जैसे आकाश में धुंए के बडे बड़े पर्वत उठते हों, वैसे ही माया देवी अपना आडम्बर दिखाती है॥४०॥ यह माया अशाश्वत है; ब्रह्म शाश्वत है और वह सब जगह सदा-सर्वदा भरा हुआ है ॥४१॥ देखिये, पुस्तक पढ़ते समय, वह अक्षरों में भी भरा है और बड़ी कोमलता से नेत्रों में भी प्रविष्ट है! ॥४२॥ कानों से शब्द सुनते समय, मन से विचार करते समय, वास्तव में वह परब्रह्म मन के भीतर-बाहर बना रहता है! ॥४३॥ मार्ग में चलते समय पैर पहले उसी को छूते हैं! वह सर्वांग छू रहा है और हाथ में, जब

हम कोई वस्तु लेते हैं तब, उस वस्तु के पहले, परब्रह्म ही हमारे हाथ में आता है ! ॥ ४४ ॥ कहां तक कहें; सारी इन्द्रियां और मन सदा—सर्वदा उसीमें बर्तते हैं, परन्तु उसे जानने में हताश हैं ! ॥ ४५ ॥ वह पास हो है; पर देखने से देख नहीं पड़ता। देख वह अवश्य नहीं पड़ता—पर वह है अवश्य ! ॥ ४६ ॥

अस्तु। दृश्य का निरसन करने पर, अपने अनुभव से ही, वह प्राप्त होता है—वह अनुभवगम्य है ! ॥ ४७ ॥ ज्ञानदृष्टि से देखने की 'वस्तु' चर्मसृष्टि से नहीं दिख सकती। भीतरी अनुभव की बात भीतर की वृत्ति ही जान सकती है ! ॥ ४८ ॥ ब्रह्म, माया; और अनुभव की बात, जाननेवाली सर्व साक्षिणी एक तुर्या—अवस्था है ॥ ४९ ॥ उसका साक्षित्व, वृत्ति का कारण है—(अर्थात् तुर्या में वृत्ति है)—उसके बाद उन्मनी—अवस्था अर्थात् निवृत्ति की दशा है; वहां (उन्मनी में) जानपन (ज्ञातृत्व) मिट जाता है, वही विज्ञान है ! ॥ ५० ॥ वहां (उन्मनी अवस्था में) अज्ञान मिट जाता है, ज्ञान भी नहीं रहता, और विज्ञान—वृत्ति परब्रह्म में लीन हो जाती है ! वही केवल ब्रह्म है ! वहां कल्पना का अन्त हो जाता है ! वही योगी जनों का एकान्त विश्राम है ! उसको अनुभव से जानना चाहिए ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

पाँचवाँ समास—द्वैत-कल्पना का निरसन।

॥ श्रीराम ॥

उपर्युक्त शाश्वत और शुद्ध ब्रह्म अनुभव में आगया—और माया का भी पता लग गया ! ॥ १ ॥ अर्थात्, ब्रह्म का अन्तःकरण में अनुभव होता है और माया भी प्रत्यक्ष देख पड़ती है—अब इस द्वैत का किस प्रकार निरसन हो ? ॥ २ ॥ तो फिर अब मन को सावधान और एकाग्र करके, सुनिये, कि माया और ब्रह्म को जानता कौन है:—॥ ३ ॥ द्वैत की यह कल्पना, कि ब्रह्म का संकल्प सत्य है और माया का विकल्प मिथ्या है, मन ही करता है* ॥४॥ एक तुर्या अवस्था ही माया और ब्रह्म को जानती है—वह सब जानता

---

* शिष्य कहता है कि, माया क्या है और ब्रह्म क्या है—सो तो मालूम होगया; परन्तु माया और ब्रह्म के द्वैत का निरसन कैसे होगा ? उत्तर:—माया और ब्रह्म की कल्पना होती किसको है ? मन को। वह कल्पना मिटने पर, मनोवृत्ति के न रहने पर, अथवा यों कहिये, कि उन्मन होने पर, फिर द्वैत कैसे रहेगा ? परन्तु यह कल्पना मिटावे कैसे ? कल्पना से

है इसी लिए उसे 'सर्वसाक्षिणी' कहते हैं ॥५॥ तुर्या 'सब' जानती है; परन्तु जहां सब है ही नहीं; वहां जानेगा कौन, और किसको ? ॥६॥ संकल्प-विकल्प की सृष्टि तो मन ही के पेट से हुई है—सो अन्त में वह मन ही मिथ्या ठहरता है, तब साक्षी कौन है ? ॥७॥ साक्षीपन, चैतन्यता और सत्ता, ये गुण, माया के कारण, व्यर्थ ही के लिए, ब्रह्म के मत्थे मढ़े गये हैं ! ॥८॥ घटाकाश, मठाकाश और महदाकाश, ये तीन भेद होने के लिए, जिस प्रकार घट और मठ कारण हैं, उसी प्रकार, माया के योग से ब्रह्म में गुणों का आरोप हो रहा है ! परन्तु वास्तव में आकाश एक ही है और ब्रह्म भी निर्गुण तथा शाश्वत है ॥ ९ ॥ जब तक माया सत्य मानी जाती है तभी तक ब्रह्म में साक्षित्व है। अविद्या का निरसन हो जाने पर द्वैत कहां रह सकता है ? ॥ १० ॥ एवं च;सर्वसाक्षी मन जब उन्मन हो जाता है तब तुर्यारूप ज्ञान का अस्त हो जाता है ॥ ११ ॥ जिसे द्वैत का भास होता है वह मन ही जब उन्मन हो गया, तब द्वैत-अद्वैत का अनुसंधान कहां रहा ? ॥ १२ ॥ अर्थात् द्वैताद्वैत की कल्पना वृत्ति का चिह्न है । वृत्ति निवृत्त हो जाने पर द्वैत का पता भी नहीं चलता ॥ १३ ॥ वही वृत्ति रहित ज्ञान (विज्ञान) पूर्ण शान्ति है-वहां माया और ब्रह्म का झगड़ा मिट जाता है ॥ १४ ॥ यह माया और ब्रह्म का झगड़ा मन ने ही कल्पित किया है—वह ब्रह्म वास्तव में कल्पनातीत है। उसे ज्ञानी ही जानते हैं ॥ १५ ॥ जो मन और बुद्धि से अगोचर है, जो कल्पना से भी परे है, उसका यथार्थ अनुभव करने से द्वैत कहां रह सकता है ? ॥ १६ ॥ द्वैत की ओर देखने से ब्रह्म नहीं मालूम होता; ब्रह्म की ओर देखने से द्वैत का नाश हो जाता है—क्योंकि द्वैत और अद्वैत का भास कल्पना से ही है ॥ १७ ॥ कल्पना माया का निवारण करती है, ब्रह्म को स्थापित करती है, तथा संशय उठाने या संशय को रोकनेवाली भी कल्पना ही है ॥ १८ ॥ वह बंधन में डालती है; समाधान देती है और ब्रह्म की ओर ध्यान लगाती है ॥ १९ ॥ कल्पना द्वैत की जननी है; वास्तव में वही ज्ञप्ति या ज्ञान का रूप है और बद्धता या मुक्तता भी उसीसे आती है ॥ २० ॥ शबल (औपाधिक) कल्पना मिथ्या ब्रह्माण्ड देखती है और शुद्ध कल्पना उसी क्षण निर्मल स्वरूप की भावना करती है ॥ २१ ॥ कल्पना क्षणभर में चिंता करती है, क्षणभर में ही स्थिर हो जाती

कल्पना मिटती है । ब्रह्म की कल्पना शुद्ध कल्पना है; संकल्प है । माया की कल्पना शबल (औपाधिक) या अशुद्ध कल्पना है; विकल्प है । अब इस संकल्प से पहले विकल्प का नाश करो; इसके बाद फिर, संकल्प स्वयं ब्रह्म मे लीन हो जायगा और ' केवल ब्रह्म ' की प्राप्ति होगा।

है और क्षण ही में विस्मित होकर देखती है ॥ २२ ॥ वह एक क्षणभर में समझती है; क्षणभर में ही घबड़ाती है और इसी प्रकार अनेक विकार लाती है ! ॥ २३ ॥ कल्पना जन्म का मूल है; भक्ति का फल है और वही मोक्ष देनेवाली है ॥ २४ ॥ अस्तु । साधन करते समय यदि इसी कल्पना का अच्छा उपयोग किया गया तो इसीसे शान्ति मिलती है; अन्यथा यह पतन का मूल ही है ॥ २५ ॥ एवं सब की जड़ केवल यह कल्पना ही है- इसको निर्मूल करने पर ब्रह्मप्राप्ति होती है ॥ २६ ॥ श्रवण, मनन और निदिध्यासन से समास मिलता है और मिथ्या कल्पना का भान उड़ जाता है ॥ २७ ॥ शुद्ध ब्रह्म का निश्चय कल्पना को ऐसे जीत लेता है जैसे निश्चित अर्थ से संशय का नाश हो जाता है ॥ २८ ॥ मिथ्या कल्पना का ढोंग सत्य के सामने कैसे टिक सकता है ? सूर्य के उजाले के सामने कहीं अँधेरा रह सकता है ? ॥ २९ ॥ जब ज्ञान के प्रकाश से मिथ्या कल्पना का नाश हो जाता है तब द्वैत का भास आपही आप छूट जाता है ॥ ३० ॥ कल्पना के द्वारा कल्पना इस प्रकार उड़ जाती है जैसे मृग के द्वारा मृग पकड़ा जाता है—अथवा जिस प्रकार आकाशमार्ग में बाण से बाण काट डाला जाता है ॥ ३१ ॥

अस्तु । इस बात को स्पष्ट करके बतलाते हैं कि शुद्ध कल्पना की प्रबलता से शबल कल्पना कैसे नाश होती है ॥ ३२ ॥ शुद्ध कल्पना की पहचान यह है कि, वह स्वयं निर्गुण की कल्पना करती है और सत् स्वरूप का विस्मरण नहीं होने देती ॥ ३३ ॥ जो सदा स्वरूप का अनुसंधान, द्वैत का निरसन और अद्वैत-निश्चय का ज्ञान करे वही शुद्ध कल्पना है ॥ ३४ ॥ जो अद्वैत की कल्पना करे वह शुद्ध है, जो द्वैत की कल्पना करे वह अशुद्ध है और अशुद्ध कल्पना ही ' शबल ' के नाम से प्रसिद्ध है ॥ ३५ ॥ अद्वैत का निश्चय करना ही शुद्ध कल्पना का कार्य है, और शबल (अशुद्ध) कल्पना व्यर्थ के लिए द्वैत की भावना करती है ॥३६॥ जब अद्वैत-कल्पना प्रकाशित होती है उसी क्षण द्वैत का नाश होता है और द्वैत के साथ ही शबल (अशुद्ध या औपाधिक) कल्पना का भी निरसन हो जाता है ॥३७॥ चतुर पुरुषों को यह बात जानना चाहिए, कि कल्पना से कल्पना मिटती है और ' शबल ' कल्पना के चले जाने पर शुद्ध कल्पना बच रहती है ॥ ३८ ॥ शुद्ध कल्पना जिस स्वरूप की कल्पना करती है वही स्वयं उसका स्वरूप है, और उस स्वरूप की कल्पना करते करते वह स्वयं तद्रूप हो जाती है ॥ ३९ ॥ कल्पना का मिथ्यापन प्रगट हो जाने पर, सहज ही तद्रुपता आ जाती है और आत्मनिश्चय होने पर कल्पना का लय हो जाता है ॥ ४० ॥ सूर्य का अन्त होने पर जिस प्रकार अंधकार प्रबल होता है;

उसी प्रकार निश्चय के डिगने से द्वैत उमड़ता है ॥ ४१ ॥ तथा ज्ञान के मलीन होते ही अज्ञान प्रबल होता है; अतएव सद्ग्रन्थों का श्रवण अखंड रीति से करते रहना चाहिए ॥ ४२ ॥ अस्तु। अब यह वार्ता बस करो। एक ही बात से आशंका मिटाता हूं:—अर्थात् जिसको द्वैत का भास होता है वह 'तू' सर्वथा नहीं है ॥ ४३ ॥ पिछला संशय मिट गया, अब आगे के लिए सावधान होना चाहिए ॥ ४४ ॥

छठवाँ समास–मुक्त कौन है ?

॥ श्रीराम ॥

श्रोता कहता है:—"आपने कल्पातीत और अद्वैत ब्रह्म का निरूपण करके मुझे क्षणभर के लिए तदाकार कर दिया ॥ १ ॥ परन्तु मैं तदाकार होकर बिलकुल ब्रह्म ही बनना चाहता हूं और चंचलता से फिर कभी इस संसार में नहीं आना चाहता ! ॥ २ ॥ उस कल्पना-रहित सुख में संसार-दुःख नहीं है, इस लिए वही हो जाना चाहिए ॥ ३ ॥ वास्तव में, अध्यात्म-श्रवण से ब्रह्म ही हो जाना चाहिए; परन्तु यहां तो फिर वृत्ति पर आना पड़ता है ! यह सदा का आना-जाना मिटता ही नहीं ! ॥ ४ ॥ मैं क्षणभर के लिए ऊंचे पर चढ़ कर ब्रह्म ही हो जाता हूं; परन्तु तुरन्त ही फिर नीचे, वृत्ति में आ गिरता हूं ॥ ५ ॥ जैसे लड़के, किसी उड़नेवाले कीटक के पैर में डोरा बांध कर उसे नीचे-ऊपर उड़ाते हैं वैसे ही मैं कहां तक नीचे ऊपर प्रत्यावर्तन या आवागमन करते रहूं ? ॥ ६ ॥ ऐसा कुछ होना चाहिए, कि जिससे उपदेश सुनते समय, तदाकार होते ही, यह शरीर पतन हो जाय अथवा अपने-पराये का भान न रहे ! ॥ ७ ॥ परन्तु वैसा न होते हुए मैं जो कुछ बोलता हूं उसीमें मुझे लज्जा आती है-और एक बार ब्रह्म बन कर, फिर गृहस्थी में पड़ना भी विपरीत दिखता है ! ॥८॥ यह ज्ञान, मुझे स्वयं ठीक नहीं जान पड़ता, कि एक बार जो स्वयं ब्रह्म ही बन चुका है वह फिर उस दशा से क्यों लौट आता है ? ॥ ९ ॥ या तो बिलकुल ब्रह्म ही हो जाना चाहिए, या तो फिर संसार ही में रहना चाहिए—दोनों ओर कहां तक भटका करे ! ॥१०॥ अध्यात्म-निरूपण सुनते समय तो ज्ञान प्रबल होता है (यहां तक कि स्वयं ब्रह्म में तदाकार हो जाता है); और निरूपण उठ जाने पर वह ज्ञान नष्ट हो जाता है तथा फिर उसी ब्रह्मरूप (मनुष्य) को काम-क्रोध घेर लेते हैं ॥ ११ ॥ यह कैसा ब्रह्म

हुआ–यह तो दोनों ओर से गया–गृहस्थी तो योंही, खींचा–तानी ही में, चली गयी ! ॥ १२ ॥ ब्रह्मानन्द लेते समय गृहस्थी के कर्म पीछे खींचते हैं ! और गृहकर्म करते समय ब्रह्म में प्रीति उपजती है ! ॥ १३ ॥ इस प्रकार ब्रह्म–सुख को तो गृहस्थी ले जाती है और गार्हस्थ्य सुख ब्रह्मज्ञान से चला जाता है–दोनों अधूरे रहते हैं–एक भी पूरा नहीं होता ! ॥ १४ ॥ इस कारण, मेरा चित्त चंचल और दुश्चित्त होगया है ! क्या करूं, सो कुछ भी निश्चित नहीं होता ! " ॥ १५ ॥ सारांश, श्रोता यह बिनती करता है कि, मैं अखंड ब्रह्माकार तो होता नहीं हूं और इधर गृहस्थी में भी विघ्न आता है; अतएव, अब कैसे रहना चाहिए ? ॥ १६ ॥ अब इसका उत्तर सावधान होकर सुनिए:–॥ १७ ॥ वक्ता, उलटे, श्रोता से प्रश्न करता है:– क्या जो ज्ञानी ब्रह्म होकर, जड़ की तरह, बिना कर्म किये, पड़े रहते हैं वही मोक्ष पाते हैं; और व्यास आदि, जो कर्मयोगी थे वे क्या डूब गये ? ॥ १८ ॥ वक्ता के इस प्रश्न पर श्रोता यह निवेदन करता है कि:–" श्रुति कहती है कि शुक और वामदेव, केवल दो ही, अभी तक मुक्त हुए हैं ॥ १९ ॥ वेद ने उक्त दो ही ज्ञानियों को मुक्त माना है, अन्य सब ज्ञानियों को उसने बद्ध बना दिया है ! अब वेदवचन में अश्रद्धा कैसे की जा सकती है ?" ॥२०॥ इस प्रकार, श्रोता ने वेद के आधार से प्रत्युत्तर दिया और बड़े आग्रह से दो ही को मुक्त सिद्ध किया ! ॥२१॥ इस पर वक्ता कहता है:–यदि ऐसा कहा जाय कि सृष्टि भर में दो ही मुक्त हैं तो फिर औरों के लिए कहां ठिकाना है ? ॥२२॥ बहुत से ऋषि, मुनि, सिद्ध, योगी, आत्मज्ञानी और असंख्यों समाधानी होगये:–॥ २३ ॥

प्रह्लादनारदपराशरपुंडरीक–
व्यासांबरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान् ।
रुक्मांगदार्जुनवासिष्ठविभीषणादीन्
पुण्यानिमान्परमभागवतान्स्मरामि ॥ १ ॥
कविर्हरिरंतरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः ।
आविर्होत्रोऽथद्रुमिलश्चमसः करभाजनः ।

इनके अतिरिक्त और बड़े बड़े ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवर्षि तथा विदेह (जनक) आदि राजर्षि भी होगये ॥२४ ॥ यदि केवल शुकदेव और वामदेव ही मुक्त हुए तो क्या बाकी ये सब डूब गये ? यह तो मूर्खता का कथन हुआ ! ॥ २५ ॥ इस पर श्रोता कहता है:–" तो फिर वेद यह क्यों कहता है ? क्या वेद को आप मिथ्या कह सकते हैं ? " ॥ २६ ॥ वक्ता

उत्तर देता हैः-वेद ने यह पूर्वपक्ष कहा है; यह कुछ उसका सिद्धान्त नहीं है; परन्तु मूर्ख लोग उसीको पकड़े बैठे रहते हैं और साधु, विद्वान् तथा दक्ष पुरुष उस बात को नहीं मानते ॥ २७ ॥ तथापि, यह यदि, थोडी देर के लिए, मान भी लिया जाय तो फिर वेदों की सामर्थ्य कहां रही ? फिर तो यह सिद्ध होता है कि वेद किसीका उद्धार ही नहीं कर सकते ! ॥ २८ ॥ परन्तु यदि वेदों में सामर्थ्य न होती तो फिर उन्हें कौन पूछता ? इस लिए ऐसा नहीं हो सकता। वेदों में लोगों का उद्धार करने की सामर्थ्य जरूर है ॥ २९ ॥ वेदाध्ययन करनेवाला पुरुष बड़ा पुण्यात्मा गिना जाता है-वेदों में सामर्थ्य अवश्य है ॥ ३० ॥ साधु लोग कहते हैं, कि वेद, शास्त्र और पुराण बड़े भाग्य से सुनने को मिलते हैं और इनको सुन कर लोग पवित्र हो जाते हैं ॥ ३१ ॥ उनका एक श्लोक, आधा श्लोक, चौथाई श्लोक (एक चरण) अथवा एक शब्द तक, यदि कानों में पड़ जाय तो अनेक पाप दूर होते हैं ॥३२॥ व्यास आदि महर्षियों के, ऐसे अनेक वचन, वेद-शास्त्र-पुराणों में, हैं ॥ ३३ ॥ जगह-जगह उपर्युक्त ग्रन्थों की महिमा गाई गई है और लिखा है कि, इनका एक अक्षर भी सुन लेने से पवित्र हो जाते हैं ॥ ३४ ॥ अतएव, यदि शुकदेव और वामदेव को छोड़ कर अन्य लोगों का उद्धार न हुआ होता तो उक्त ग्रन्थों की महिमा कैसे रहती ? ॥ ३५ ॥ अस्तु । यह सिद्ध है कि, वेद-शास्त्र-पुराणों के द्वारा सभी का उद्धार हुआ है ॥ ३६ ॥अब, यदि तू कहेगा कि जो काठ की तरह, जड़ होकर, पड़ा रहे वही एक मुक्त समझा जा सकता है, तो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि स्वयं शुकदेव ने भी (जिन्हें तू मुक्त मानता है) अनेक जगह निरूपण किया है ! ॥ ३७ ॥ अस्तु । वेद का यह कथन, कि शुक मुक्त है, सर्वथा सत्य है; पर शुकदेव स्वामी कुछ अचेतन ब्रह्माकार नहीं थे ।। ३८ ॥ यदि शुकदेव योगीश्वर अचेतन ब्रह्माकार होते तो फिर वे सारासार का विचार कैसे बतला सकते ? ॥३९॥ तेरे कथनानुसार, ब्रह्माकार होनेवाला काठ की तरह, जड़ बन कर, पड़ा रहता है; परन्तु शुकदेवजी ने तो राजा परीक्षित को भागवत सुनाई है ॥४०॥ और कथा-निरूपण करने में तो सारासार का विचार करना पड़ता है तथा दृष्टान्त के लिए तमाम चराचर सृष्टि को ढूँढ़ना पड़ता है-॥४१॥ क्षणभर के लिए ब्रह्म ही हो जाना पड़ता है और क्षणभर ही में सम्पूर्ण दृश्य सृष्टि को खोजना पड़ता है, तथा अनेक दृष्टान्त देकर वक्तृता का सम्पादन करना होता है ॥ ४२ ॥ और, इसी प्रकार से शुकदेव ने भागवत आदि का निरूपण सुनाया है; परन्तु इससे क्या वे कभी बद्ध कहे जा सकते हैं?॥४३

अतएव, यह सिद्ध है, कि सद्गुरु के उपदेश से, सब कर्म करते हुए

निश्चेष्ट, काठ की तरह, न पड़े रहते हुए-सायुज्य मुक्ति मिलती है ॥ ४४ ॥ इस संसार में कोई मुक्त, कोई नित्यमुक्त, कोई जीवन्मुक्त और कोई समाधानी योगी विदेहमुक्त होते हैं ॥ ४५ ॥ जो सचेतन हैं वे जीवन्मुक्त हैं-(अर्थात् वे जीवितावस्था ही में ज्ञान-द्वारा मुक्त होगये हैं और व्यवहार कर रहे हैं)-और जो अचेतन हैं वे विदेहमुक्त कहलाते हैं-(अर्थात् जीवितावस्था ही में मुक्त होगये हैं; पर अजगर की तरह, देहभान भूले हुए, पड़े हैं)-इन दोनों के अतिरिक्त योगीश्वरों को, नित्यमुक्त जानना चाहिए ॥ ४६ ॥ स्वरूप का बोध होने से जो स्तब्धता (उदासीनता या स्थिरता) आती है उसे तटस्थ अवस्था जानना चाहिए। इस तटस्थता और स्तब्धता में देह का सम्बन्ध बना रहता है* ॥४७॥ अस्तु। मुक्ति का कारण 'स्वानुभव' है, और शेष सब व्यर्थ है। अपने अनुभव से ही तृप्त होना चाहिए (अर्थात् स्वानुभव-तृप्त पुरुष ही सच्चा मुक्त है; फिर उसकी हलचल देख कर भले ही उसे कोई बद्ध कहा करे !) ॥ ४८ ॥ जो पुरुष कंठ-पर्यन्त, तृप्त होकर, भोजन कर चुका है, उसे यदि कोई भूखा कहे तो कहा करे ! इससे क्या वह सचमुच ही 'क्षुधा-व्याकुल' हो सकता है ? ॥ ४६ ॥ निराकार स्वरूप में जब देह ही नहीं तब वहां सन्देह कहां से आवेगा ? 'बद्ध' और 'मुक्त' की भावना तो सिर्फ देह तक ही है ॥ ५० ॥ और, देहाभिमान रख कर तो ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश तक मुक्त नहीं हो सकते; फिर शुकदेव के मुक्तपन की क्या गणना ? ॥ ५१ ॥ क्योंकि 'मुक्तपन' की भावना ही बद्धपन का लक्षण है; अतएव 'मुक्त' और 'बद्ध' दोनों व्यर्थ हैं-सत्-स्वरूप में न 'बद्ध' की भावना है, न 'मुक्त' की भावना है-वह स्वतःसिद्ध है ॥ ५२ ॥ जिस प्रकार पेट पर शिला बांध कर पानी में तैर नहीं सकते उसी प्रकार, मुक्तपन का अभिमान रखते हुए, परमात्मा में मिल कर नहीं रह सकते ॥ ५३ ॥ जो 'मैं'-पन से छूट जाता है वही मुक्त होता है; फिर चाहे वह मूक हो, चाहे बोलता हो-वह मुक्त ही है ! ॥ ५४ ॥ जो (सन्त-स्वरूप) बांधा ही नहीं जा सकता उसके तईं मुक्तपन कहां से आया—(अर्थात् जहां बद्धपन है वहीं मुक्तपन की भावना है। वहां तो सारी गुण-वार्ता व्यर्थ है ॥ ५५ ॥

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः ।

---

* स्वरूपबोध होने पर निश्चेष्ट पड़ा रहना, शिष्य के मत से, मुक्ति का लक्षण है और हिलना-डुलना बद्ध का लक्षण है-इस पर सद्गुरु कहते हैं कि, हिलना-डुलना, अथवा स्तब्ध या तटस्थ रहना, देह के कारण से है-और देहबुद्धि रखने से कोई मुक्त नहीं हो सकता। जो कोई कहेगा कि "मैं मुक्त हूं" वही वास्तव में बद्ध है।

गुणस्य यामूमलत्वान्न मे मोक्षो न बंधनम् ॥ १ ॥

जो परमशुद्ध तत्त्वज्ञाता हैं उनके लिए बद्ध और मुक्त का भेद ही नहीं है। मुक्त-बद्ध का विनोद माया के कारण से है ॥ ५६ ॥ जहां नामरूप मिट जाता है वहां 'मुक्तता' कैसे बच सकती है? वहां तो मुक्त और बद्ध का बिलकुल ही विस्मरण हो जाता है ॥ ५७ ॥ बद्ध और मुक्त वास्तव में कौन हैं? वह (बद्ध-मुक्त) 'मैं' तो है नहीं; किन्तु 'मैंपन' अवश्य सब को बांधता है। जो कोई मैंपन' का धारण करता है उसीको वह बन्धन में डालता है (अर्थात् जो देहाभिमान रखता है उसीको चाहे मुक्त समझो, चाहे बद्ध; पर जिन्होंने 'मैं-पन' छोड़ दिया है वे न बद्ध हैं, न मुक्त हैं!) ॥५८॥ एवं च, यह सारा भ्रम है। जब तक मायातीत विश्राम का सेवन नहीं किया जाता तब तक अहंता का यह कष्ट पीछे लगा ही है! ॥ ५९ ॥ अस्तु। अब बद्धता और मुक्तता कल्पना के मत्थे आती है-तो फिर, क्या वह कल्पना सत्य है? अर्थात् वह भी तो सत्य नहीं है! ॥६०॥ अतएव, यह सब मृग-जल है; माया ही के कारण ये झूठे मेघाड़म्बर उठे हैं! ज्ञान-जागृति आने पर यह सब माया का स्वप्न तत्काल मिथ्या हो जाता है ॥६१॥ इस स्वप्न-रूप संसार में, जो समझता है, कि मैं बद्ध हूं या मुक्त हूं, वह अभी सच-मुच जगा नहीं है-इसी लिए उसे नहीं मालूम होता कि कौन, कैसा, क्या हुआ! ॥ ६२ ॥ इस लिए, जिनको आत्मज्ञान हो चुका है, वे सभी लोग मुक्त हैं-शुद्ध ज्ञान होने पर मुक्तता की भावना समूल नष्ट हो जाती है ॥ ६३ ॥ बद्धपन या मुक्तपन की भावना देह-बुद्धि के साथ रहती है; परन्तु साधुजन देहातीत 'वस्तु' हैं; अतएव उनके तईं 'बद्ध' या 'मुक्त' की भावना ही नहीं रहती ॥ ६४ ॥ अच्छा, अब आगे यह बतलाया जाता है कि साधन कैसे करना चाहिए। श्रोता लोग सावधान होकर सुनें ॥ ६५ ॥

सातवाँ समास—साधन का निश्चय।

॥ श्रीराम ॥

'वस्तु' की यदि कल्पना की जाय तो कैसे? क्योंकि वह तो स्वाभाविक ही निर्विकल्प है-वहां तो कल्पना के नाम से शून्याकार है ॥ १ ॥ इतने पर भी, यदि उसको कल्पना की जाय तो वह कल्पना के हाथ में आता नहीं-पहचान ही नहीं मिलती-चित्त को भ्रम होता है ॥ २ ॥ दृष्टि को

कुछ दिखता ही नहीं है, और न मन को ही कुछ भासता है—जो न भासता है, न दिखता है उसे पहचानें तो कैसे? ॥ ३ ॥ यदि हम निराकार को देखते हैं तो मन शून्याकार में पड़ता है और यदि हम उसकी कल्पना करते हैं तो जान पड़ता है अन्धकार भरा है ॥ ४ ॥ कल्पना करने से ब्रह्म काला जान पड़ता है; परन्तु वह काला है न पीला ! वह लाल, नीला, सफेद भी नहीं है—वर्णरहित है ! ॥ ५ ॥ जिसका रंग रूप नहीं है, जो भास से भी अलग है; और इन्द्रियों का विषय नहीं है उसे पहचानें तो कैसे ? ॥ ६ ॥ जो देख नहीं पड़ता उसकी पहचान कहां तक करें ? इससे तो व्यर्थ श्रम ही बढ़ता जान पड़ता है ! ॥ ७ ॥ वह निर्गुण या गुणातीत है, वह अदृश्य या अव्यक्त है और वह परमपुरुष अचिन्त्य या चिन्तनातीत है:—॥ ८ ॥

अचिन्त्याव्यक्तरूपाय निर्गुणाय गुणात्मने ।
समस्तजगदाधारमूर्तये ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥

अचिन्त्य की चिन्तना, अव्यक्त का ध्यान-स्मरण और निर्गुण की पहचान किस तरह करें ? ॥ ९ ॥ जो देख ही नहीं पड़ता, जो मन को मिलता ही नहीं उस निर्गुण को कैसे देख सकते हैं ? ॥ १० ॥ असंग का संग करना, निरावलम्ब (निराधार; जैसे आकाश में) वास करना; और निःशब्द का प्रतिपादन करना कैसे हो सकता है ? ॥ ११ ॥ अचिन्त्य की चिन्तना करने से, निर्विकल्प की कल्पना करने से, और अद्वैत का ध्यान करने से, द्वैत ही उठता है ॥ १२ ॥ अब यदि ध्यान ही छोड़ दें, अनुसंधान भी न लगावें, तो फिर पीछे से महा संशय में पड़ते हैं ॥ १३ ॥ द्वैत के डर से यदि 'वस्तु' का विचार ही न करें तो इससे हृदय को कभी शान्ति नहीं मिल सकती ॥ १४ ॥ अभ्यास करने से अभ्यास हो जाता है, और अभ्यास होने से 'वस्तु' प्राप्त हो जाती है—नित्यानित्य के विचार से समाधान होता है ॥ १५ ॥ 'वस्तु' का चिंतन करने से द्वैत उपजता है और उसे छोड़ देने से कुछ समझ ही नहीं पड़ता, तथा विवेक-बिना शून्यत्व के सन्देह में पड़ते हैं ! ॥ १६ ॥

इस लिए विवेक धारण करना चाहिए—ज्ञान के द्वारा प्रपंच से बचना चाहिए और अहंभाव को दूर करना चाहिए । परन्तु वह दूर नहीं होता ! ॥ १७ ॥ परब्रह्म अद्वैत है । उसकी कल्पना करते ही द्वैत उठता है—वहां हेतु और दृष्टान्त कुछ चलता ही नहीं ॥ १८ ॥ उसका स्मरण करते समय स्मरण को भूल जाना चाहिए; अथवा विस्मरण हो जाने पर भी उसका स्मरण रहना चाहिए और, उस परब्रह्म को, जान करके 'जानपन' को भूल जाना चाहिए ॥ १९ ॥ उससे न भेंटते हुए भेंट होती है और मिलने

जाने से विछोह पडता है-ऐसी यह मूकावस्था की अद्भुत बात है ! ॥२०॥ वह साधने से सधता नहीं है, अथवा छोडने से छूटता नहीं है और, निरंतर जो उसका सम्बन्ध लगा है, वह टूट नहीं सकता ॥ २१ ॥ वह सदा बना ही रहता है, अथवा देखने से छिप जाता है और न देखने से जहां तहां-सर्वत्र-प्रकाश करता रहता है ! ॥ २२ ॥ उसके तईं उपाय ही अपाय (विघ्न) है, और अपाय ही उपाय है-यह अनुभव-बिना भला क्यों समझ पड़ने लगा ? ॥ २३ ॥ वह अनसमझे ही समझ पड़ता है, समझने पर भी कुछ नहीं समझ पड़ता। वह निवृत्तिपद, वृत्ति छोड कर, प्राप्त करना चाहिए ॥ २४ ॥ जब वह ध्यान में नहीं आ सकता तब चिंतन में उसकी चिन्तना कैसे करें ? वह परब्रह्म मन में नहीं समाता ॥ २५ ॥ यदि उसे जल की उपमा दें तो कैसे ? क्योंकि वह निर्मल और निश्चल है। सारा विश्व उसमें डूबा हुआ है; परन्तु वह जगत् से अलिप्त ही बना है ! ॥२६॥ वह प्रकाश-सरीखा भी नहीं है, अथवा अंधकार के समान भी नहीं है; अब उसे किसके समान बतावें ॥ २७ ॥ ऐसा वह ब्रह्म निरंजन है, कभी दृश्यमान् नहीं होता। तब फिर उसका अनुसंधान किस प्रकार लगावें ? ॥ २८ ॥ पता लगाने से कुछ जान नहीं पड़ता, और मन सन्देह में पड़ता है ॥ २९ ॥ ऐसी दशा में मन, घबडा कर, सत्य स्वरूप का अभाव मान लेता है (अर्थात् नास्तिक हो जाता है) और कहता है कि वह है ही नहीं, उसे क्या देखें-कहां जायँ ! ॥ ३० ॥ फिर मन में आता है कि यदि वास्तव में उसका अभाव ही है तो फिर वेदशास्त्र क्या मिथ्या है ? परन्तु व्यास, आदि महर्षियों का कथन मिथ्या कैसे हो सकता है ? ॥ ३१ ॥ अतएव, उसे मिथ्या भी नहीं कह सकते। अनेक ज्ञानी महर्षियों ने जो ज्ञान के साधन बतलाये हैं वे मिथ्या कदापि नहीं हो सकते ! ॥ ३२ ॥ स्वयं महादेवजी ने 'गुरुगीता' में पार्वतीजी को अद्वैत ज्ञान का उपदेश किया है ॥ ३३ ॥ अवधूत (एक ज्ञानी तपस्वी) ने जो 'अवधुत-गीता' गोरक्ष मुनि को बताई है उसमें भी ज्ञानमार्ग कहा है ॥३४॥ स्वयं विष्णु ने, राजहंस का रूप धर कर, ब्रह्मा को जो उपदेश किया है वह 'हंसगीता' के नाम से प्रसिद्ध है ॥ ३५ ॥ ब्रह्मा ने नारद को चतुःश्लोकी भागवत का उपदेश किया है। उसीको व्यास ने आगे बहुत विस्तार से बतलाया है ॥ ३६ ॥ वसिष्ठ ऋषि ने 'योगवासिष्ठ' में श्रीरामचन्द्रजी को 'वासिष्ठसार' बतलाया है और कृष्ण भगवान् ने अर्जुन से सप्तश्लोकी गीता कही है ॥३७॥ इस प्रकार कहां तक बतलावें-अनेक महर्षियों ने अनेक लोगों को ज्ञानोपदेश किया है। सारांश, अद्वैत-ज्ञान सत्य ही है ॥ ३८ ॥ इस लिए आत्मज्ञान को मिथ्या बतलाने से अधोगति मिलती है। परन्तु जो लोग प्रकार-

हित (अज्ञान) हैं उन्हें यह जान नहीं पड़ता ! ॥ ३९ ॥ जहां शेष की प्रज्ञा मन्द पड़ गई और श्रुति भी मौन होगई वह स्वरूपस्थिति, ज्ञान का अभिमान रख कर, बतलाई नहीं जा सकती ॥ ४० ॥ और, जो बात अच्छी तरह अपनी समझ में नहीं आती उसे मिथ्या क्यों कहना चाहिए? उसे सद्गुरु के मुख से दृढ़तापूर्वक सीखना चाहिए ॥ ४१ ॥

मिथ्या बात सत्य जान पड़ती है और सत्य बात मिथ्या मान लेते हैं, तथा मन अकस्मात् संदेह-सागर में डूब जाता है ! ॥ ४२ ॥ मन को कल्पना करने की आदत है और मन जिसकी कल्पना करता है सो वह (ब्रह्म) नहीं है, इस कारण, 'मैंपन' के ही मार्ग से, सन्देह दौड़ता है ॥ ४३ ॥ तो फिर, पहले उस मार्ग (मैंपन के मार्ग) ही को छोड़ देना चाहिए। तब परमात्मा से मिलना चाहिये और साधु-संगति से, संदेह का समूल नाश करना चाहिये ॥ ४४ ॥ परन्तु मैंपन शस्त्र से टूट नहीं सकता, फोड़ने से फूट नहीं सकता, और कुछ भी करो, वह छोड़ने से छूट नहीं सकता ॥ ४५ ॥ मैंपन से 'वस्तु' का बोध नहीं होता, परन्तु भक्ति चली जाती है और वैराग्य की शक्ति गलित हो जाती है ॥ ४६ ॥ मैंपन से प्रपञ्च नहीं बनता, परमार्थ डूब जाता है; तथा यश, कीर्ति और प्रताप सभी उड़ जाते हैं ॥ ४७ ॥ उससे मित्रता टूटती है, प्रीति घटती है और अभिमान आता है ॥ ४८ ॥ मैंपन से विकल्प उठता है, कलह मचती है और एकता का प्रेम टूटता है ॥ ४९ ॥ मैंपन किसी को भी अच्छा नहीं लगता; फिर वह भगवान् को कैसे अच्छा लगे? इस लिए जो 'मैंपन' को छोड़ कर रहता है वही समाधानी है ॥ ५० ॥ मैंपन का त्याग कैसे करना चाहिए, ब्रह्म का अनुभव कैसे करना चाहिए और समाधान (शान्ति) कैसे, तथा किस प्रकार, प्राप्त करना चाहिए? ॥ ५१ ॥ 'मैंपन' को विवेक से जान कर, छोड़ना चाहिए; ब्रह्म होकर, ब्रह्म का, अनुभव करना चाहिए; और निःसंग होकर समाधान प्राप्त करना चाहिए ॥ ५२ ॥ वही समाधानी धन्य है जो मैंपन को छोड़ कर साधन करना जानता है ॥ ५३ ॥ इस बात की कल्पना करने से और भी कल्पना ही उठती है कि "मैं तो स्वयं ब्रह्म ही होगया; अब साधन कौन करेगा" ॥ ५४ ॥ ब्रह्म के विषय में कल्पना नहीं चलती और वही, वहां, खड़ी रहती है—उसे जो खोज कर देखता है वही साधु है ॥५५॥ निर्विकल्प की कल्पना करना चाहिए; परन्तु स्वयं कल्पना न बनना चाहिए—(अर्थात् अपने को यह कल्पना न रहनी चाहिए कि जिसकी कल्पना करते हैं उससे अलग हम कोई वस्तु हैं।) इस प्रकार 'मैंपन' का त्याग करना चाहिए ॥ ५६ ॥ ये ब्रह्मविद्या के लटके हैं! कुछ न होकर भी रहना चाहिए; जो दक्ष और समाधानी है वही यह बात

जानता है ! ॥ ५७ ॥ जब यह समझ आ जाता है कि, जिसकी कल्पना करते हैं, 'हम' स्वयं 'वही' हैं, तब कल्पना के नाम से शून्य रह जाता है ॥ ५८ ॥ अपने पद से चलित न होकर साधन और उपाय करना चाहिए तभी अलिप्तता का मार्ग मिलता है ॥ ५९ ॥ जिस प्रकार राजा, राजगद्दी पर ही, बैठा रहता है और सब सत्ता (हुकूमत) आप ही आप चला करती है; इसी प्रकार, वास्तव में, साध्य ही बन कर साधन करना चाहिए ॥ ६० ॥ साधन देह के मत्थे आ जाता है—और स्वयं 'हम' देह सर्वथा नहीं हैं—इस प्रकार, करके भी सहज ही में अकर्ता हो सकते हैं ॥ ६१ ॥ साधन तभी छोड़ा जा सकता है जब यह कल्पना की जाय कि "हम देह हैं"—(देहाभिमान के बिना साधन का त्याग नहीं किया जा सकता)—साधन के त्याग से देहाभिमान का दोष लगता है। जब 'हम' स्वभाव ही से देहातीत हैं तब फिर देह कहां से आयी ? ॥ ६२ ॥ न उसे देह कह सकते हैं—और न उसे साधन ही कह सकते हैं-'हम' स्वयं निस्सन्देह हैं-देह के रहते हुए भी यही विदेहस्थिति है ! ॥ ६३ ॥

साधन के बिना 'ब्रह्म' बनने से देह-ममता नहीं छूटती और ब्रह्मज्ञान के मिस से आलस बढ़ता है ॥६४॥ परमार्थ के मिस से स्वार्थ जगता है; ध्यान के बहाने निद्रा आती है; और मुक्ति के मिस से अनर्गलता (स्वच्छन्दता) का पाप होता है ॥ ६५ ॥ निरूपण के मिस से निन्दा होती है; संवाद के मिस से विवाद बढ़ता है; और उपाधि के बहाने शरीर में अभिमान आ जाता है ॥ ६६ ॥ तथा ब्रह्मज्ञान के मिस से आलस आता है—और मनुष्य कहता है कि साधन का पागलपन क्या करना है ? ॥ ६७ ॥

किं करोमि क्व गच्छामि किं गृण्हामि त्यजामि किम् ।
आत्मना पूरितं सर्वं महाकल्पांबुना यथा ॥ १ ॥

इस ब्रह्म की पूर्णस्थिति को, आलस्य के कारण, अपने ऊपर लगा लेता है; और स्वयं अपने हाथ से अपने ही पैर में कुल्हाड़ी मारता है ! ॥ ६८ ॥ तथा, उपाय के बदले, अपाय कर बैठता है, अपने सच्चे हित से वञ्चित रहता है और मुक्तपन के बहाने से और भी बद्ध हो जाता है ! ॥ ६९ ॥ ऐसे लोग समझते हैं कि साधन करते ही हमारा सिद्धपन चला जायगा; इस कारण उन्हें साधन करना अच्छा ही नहीं लगता ! ॥७०॥ एक तो उन्हें यही लाज लगती है कि हमें लोग 'साधक' कहते हैं; परन्तु उन्हें यह नहीं मालूम है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदि देवता भी साधन करते हैं ॥ ७१ ॥

अस्तु। अब ये अविद्या की बातें रहने दो। विद्या अभ्यास-सारिणी है-

(अर्थात् वह उतनी ही प्राप्त होगी जितना अभ्यास किया जायगा।) अभ्यास से आद्य, पूर्ण ब्रह्म मिलता है ॥ ७२ ॥ इस पर श्रोता प्रश्न करता है कि कौनसा अभ्यास करना चाहिए और परमार्थ का साधन कौन है ? ॥ ७३ ॥ इसका उत्तर अगले समास में दिया है और परमार्थ का साधन भी बतलाया है ॥ ७४ ॥

आठवाँ समास—श्रवण महिमा ।

॥ श्रीराम ॥

परमार्थ का मुख्य समाधान-कारक साधन श्रवण है ॥१॥ श्रवण से भक्ति मिलती है; विरक्ति उत्पन्न होती है और विषयों की आसक्ति टूटती है ॥२॥ श्रवण से चित्तशुद्धि होती है, बुद्धि दृढ़ होती है और अभिमान की उपाधि टूटती है ॥३॥ श्रवण से निश्चय आता है, ममता टूटती है और अन्तःकरण में समाधान होता है ॥ ४ ॥ श्रवण से अशंका मिटती है; संशय टूटता है और सद्गुण आते हैं ॥५॥ श्रवण से मनोनिग्रह होता है; समाधान मिलता है और देहबुद्धि का बन्धन टूटता है ॥ ६ ॥ श्रवण से मैंपन दूर होता है; सन्देह नहीं आता और अनेक प्रकार के विघ्न भस्म होते हैं ॥ ७ ॥ श्रवण से कार्यसिद्धि होती है, समाधि लगती है और पूर्ण परम-शान्ति प्राप्त होती है ॥८॥ सन्तसमागम करके अध्यात्म-श्रवण करने से वृत्ति तल्लीन हो जाती है ॥ ९ ॥ श्रवण से प्रबोध बढ़ता है; प्रज्ञा प्रबल होती है और विषयों के पाश टूट जाते हैं ॥ १० ॥ श्रवण से विवेक आता है; ज्ञान प्रबल होता है और उससे साधक को 'वस्तु' ज्ञान होता है ॥ ११ ॥ श्रवण से सद्बुद्धि आती है; विवेक जगता है और मन भगवान् में लगता है ॥१२॥ श्रवण से कुसंग छूटता है, काम-वासनाएं क्षीण होती हैं और भव-भय का नाश होता है ॥ १३ ॥ श्रवण से मोह का नाश होता है; स्फूर्ति का प्रकाश होता है और निश्चयात्मक सद्वस्तु का भास होता है ॥ १४ ॥ श्रवण से उत्तम गति होती है, शान्ति मिलती है और निवृत्ति तथा अचलपद प्राप्त होता है ॥ १५ ॥ श्रवण के समान और कोई उत्तम साधन नहीं है; क्योंकि उससे सब कुछ हो सकता है। भवनदी से पार होने के लिए श्रवण ही नौका है ॥ १६ ॥

श्रवण भजन का प्रारम्भ है; इसीसे सब बातें आरम्भ, और पूर्ण, होती हैं ॥ १७ ॥ यह तो सब को प्रत्यक्ष मालूम ही है कि प्रवृत्ति-मार्ग हो अथवा

निवृत्ति मार्ग हो—श्रवण के बिना किसीकी प्राप्ति नहीं होती ॥ १८ ॥ यह भी सब लोग जानते हैं कि सुने बिना मालूम नहीं होता; इस कारण पहले श्रवण ही मुख्य प्रयत्न है ॥ १६ ॥ जो बात कभी सुनी ही नहीं है उसका निश्चय कैसे हो सकता है? अतएव श्रवण (सुनने) के समान और कोई साधन नहीं है—इसके बिना काम नहीं चल सकता ॥ २०-२१ ॥ जब सूर्य अदृश्य हो जाता है तब सर्वत्र अंधकार छा जाता है। श्रवण के बिना भी यही हाल होता है ॥ २२ ॥ नवधा भक्ति, चतुर्विधा मुक्ति और सहज-स्थिति इत्यादि, किसीके विषय में भी, श्रवण के बिना, कुछ ज्ञान नहीं होता ॥ २३ ॥ विधियुक्त षट्कर्म का आचरण, पुरश्चरण और उपासना कैसी होती है, सो कुछ भी, श्रवण के बिना, नहीं मालूम होता ॥ २४ ॥ नाना प्रकार के व्रत, दान, तप, साधन, योग, तीर्थाटन श्रवण के बिना नहीं जाने जाते ॥ २५ ॥ अनेक प्रकार की विद्या, पिंडज्ञान, अनेक तत्त्वों की खोज, नाना कला और ब्रह्मज्ञान श्रवण बिना नहीं मालूम होते ॥ २६ ॥ जिस प्रकार अनन्त वनस्पतियां एक ही जल से बढती हैं, और एक ही रस से सब जीवों की उत्पत्ति है, तथा जैसे सम्पूर्ण जीव, एक ही पृथ्वी, एक ही सूर्य और एक ही वायु से सधे हैं; और जिस प्रकार सब जीवों के आस-पास आकाश एक ही है तथा, जैसे सम्पूर्ण जीव एक ही परब्रह्म में बसते हैं, उसी प्रकार प्राणिमात्र के लिए श्रवण ही एक अच्छा साधन है ॥ २७-३० ॥ भूमंडल में असंख्यों देश, भाषा और मत हैं उन सब के लिए, श्रवण को छोड़ कर, कोई दूसरा साधन ही नहीं है ॥ ३१ ॥ श्रवण से उपरति होती है; लोग बद्ध से मुमुक्षु बनते हैं और मुमुक्षु से साधक बन कर बहुत नियम से साधन करते हैं ॥ ३२ ॥ और फिर, इसके बाद, जहां श्रवण से बोध प्राप्त हुआ, कि बस, वे साधक ही फिर सिद्ध हो जाते हैं ॥ ३३ ॥ श्रवण का ऐसा तात्कालिक गुण है कि, महा दुष्ट और चांडाल भी पुण्यशील हो जाते हैं ॥ ३४ ॥ जो दुर्बुद्धि और दुरात्मा है, वह भी श्रवण के योग से, पुण्यात्मा हो जाता है—श्रवण की महिमा अगाध है, वर्णन नहीं की जा सकती ॥ ३५ ॥ कहते हैं कि, तीर्थों और व्रतों का फल आगे मिलेगा; पर श्रवण का यह हाल नहीं है—उसका फल तत्काल मिलता है! ॥ ३६ ॥ जैसे अनेक रोग और व्याधियां औषधि से तत्काल नाश हो जाती हैं उसी प्रकार श्रवण के द्वारा शीघ्र ही अन्तःकरण शुद्ध होता है। यह बात अनुभवी जानते हैं ॥ ३७ ॥ जब श्रवण किये हुए विषय का अर्थ मालूम होता है तब आप ही आप भाग्यश्री प्रगट होती है और मुख्य परमात्मा स्वानुभव में आ जाता है ॥ ३८ ॥

यह मनन का फल है; क्योंकि जब श्रवण करते समय अर्थ समझने में

सावधानी रखी जाती है तब पीछे से मनन के द्वारा निदिध्यास लगता है और उसके बाद परम शान्ति प्राप्त होती है ॥ ३९ ॥ जो कुछ बतलाया जाता है उसका जब अर्थ मालूम होता है तभी समाधान मिलता है, और तभी मन का संशय मिटता है ॥ ४० ॥ यह संदेह ही जन्म का मूल है; परन्तु श्रवण से वह समूल नष्ट हो जाता है और फिर सहज ही सत्य समाधान (परमशान्ति) मिलता है ॥ ४१ ॥ जो श्रवण और मनन नहीं करता उसे समाधान कैसे प्राप्त हो सकता है? उसके पैरों में मुक्त-पन के अभिमान की बेड़ियां पड़ी रहती हैं ॥ ४२ ॥ मुमुक्षु, साधक अथवा सिद्ध, कोई भी हो, वह बिना श्रवण के अव्यवस्थित ही है; क्योंकि श्रवण-मनन से चित्तवृत्ति शुद्ध होती है ॥ ४३ ॥ जहां नित्य, नियम के साथ, श्रवण का साधन नहीं हो सकता, वहां साधकों को, एक क्षणभर भी, न रहना चाहिए ॥ ४४ ॥ जो श्रवण का साधन नहीं करता वह परमार्थ कैसे पा सकता है? श्रवण के बिना पिछला किया-धरा सब व्यर्थ हो जाता है ॥ ४५ ॥ इस लिए श्रवण करना चाहिए, इस साधन में मन लगाना चाहिए और नित्य-नियमों का पालन करके संसार-सागर से पार होना चाहिए ॥ ४६ ॥ जिस प्रकार एक ही अन्न-जल बार बार (भूक लगने पर) ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार एक ही श्रवण-मनन भी बार बार करना चाहिए, इससे सन्देह मिटता है ॥ ४७ ॥ जो मनुष्य, आलस्य के कारण, श्रवण का अनादर करता है उसके स्वहित की अवश्य हानि होती है ॥ ४८ ॥ आलस्य की रक्षा करना मानो परमार्थ को डुबाना है, इस कारण श्रवण करना ही चाहिए ॥ ४९ ॥ अब अगले समास में यह बत-लावेंगे कि श्रवण का नियम क्या है और कैसे ग्रन्थों का श्रवण करना चाहिए ॥ ५० ॥

नववाँ समास—श्रवण का निश्चय।

॥ श्रीराम ॥

अब यह बतलाते हैं कि श्रवण किस तरह करना चाहिए। श्रोता लोगों को एकाग्रचित्त हो जाना चाहिए ॥ १ ॥ कोई वक्तृता ऐसी होती है कि जिसके सुनने से मिली-मिलाई शान्ति अकस्मात् भंग हो जाती है और निश्चय डिग जाता है ॥ २ ॥ उस मायिक और निश्चय-शून्य वक्तृता को अवश्य ही त्यागना चाहिए ॥ ३ ॥ यदि एक ग्रन्थ के सुनने से कुछ

निश्चय प्राप्त हुआ और दूसरे ग्रन्थ ने उस निश्चय को उड़ा दिया, तो उससे जन्म भर संशय ही बढ़ता जाता है ॥ ४ ॥ इस लिए, ऐसे ग्रन्थ का श्रवण करना चाहिए कि, जिससे संशय मिट जाय, शंका निवृत्त हो जायः और जिसमें अद्वैत तथा परमार्थ का निरूपण किया गया हो ॥ ५ ॥ मुमुक्षु पुरुष परमार्थ-मार्ग का ग्रहण करता है और अद्वैत-ग्रन्थ से प्रेम रखता है ॥ ६ ॥ जिसने संसार की आसक्ति छोड़ दी है, और मोक्ष की साधना करता है, उसे अद्वैत-शास्त्र का विवेक करना चाहिए ॥ ७ ॥ अद्वैत-प्रिय श्रोता को द्वैत-निरूपण सुनाने से उसका चित्त क्षुब्ध हो उठता है ॥ ८ ॥ यदि मन के अनुसार निरूपण सुनने को मिल जाता है तो बड़ा आनन्द होता है; अन्यथा जी ऊब जाता है ॥ ९ ॥ जिसकी जो उपासना है, उसीके अनुसार निरूपण में, उसकी 'प्रीति' होती है; उसके प्रतिकूल, अन्य निरूपण, उसे प्रशस्त नहीं जान पड़ता ॥ १० ॥ 'प्रीति' का लक्षण यह है कि, जैसे पानी स्वयं ही अपने मार्ग से (ढाल् जगह की ओर) चल देता है उसी प्रकार प्रीति भी, हृदय से, अनायास ही (अपने प्रिय विषय की ओर) चल देती है ॥ ११ ॥ आत्मज्ञानी पुरुष को वही ग्रन्थ पसन्द आता है जिसमें सारासार का विचार हो। अन्य बात उसे अच्छी ही नहीं लगती ॥ १२ ॥ जिसकी कुल-देवता भगवती है उसके लिए सप्तशती (दुर्गा की पोथी) चाहिए। अन्य देवताओं की स्तुति उसके लिए सर्वथा निरुपयोगी है ॥ १३ ॥ अनन्तव्रत करनेवाले (सकाम पुरुष) के लिए भगवद्गीता (निष्काम-निरूपण) की आवश्यकता नहीं होती; और साधु-संन्यासियों को फलाशा का निरूपण नहीं भाता! ॥ १४ ॥ वीरकंकण यदि कोई नाक में पहने तो कैसे अच्छा लगेगा ? जो बात जहां के लिए है वह वहीं अच्छी लगती है—अन्य स्थान के लिए वह बिलकुल निरुपयोगी है ॥ १५ ॥ जिस ग्रन्थ में, जिस तीर्थ की, महिमा गाई गई है, वह ग्रन्थ, उसी तीर्थ में सुनाने से उसका महत्त्व है। अन्य स्थल में यदि वह पढ़ा जाय तो कुछ विलक्षण-सा जान पड़ता है ॥ १६ ॥ जैसे-यदि मल्लार स्थल की महिमा द्वारका में, द्वारका का महात्म्य काशी में और काशी की महिमा वेंकटेश-स्थल में बतलाई जाय तो अच्छी न लगेगी ॥ १७ ॥ ऐसे अनेक उदाहरण बतलाये जा सकते हैं—वे सब जहां के वहीं अच्छे लगते हैं। ज्ञानियों को अद्वैत ग्रन्थ ही चाहिए ॥ १८ ॥ योगी के सामने भूत-संचार की बात, जौहरी के सामने पत्थर और पंडित के सामने ढफगान अच्छा नहीं लगता ॥ १९ ॥ वेदज्ञ के सामने तंत्र-मंत्र, निस्पृह (संन्यासी) के सामने फलश्रुति और ज्ञानी के सामने कोकशास्त्र की पोथी क्या शोभा देगी ? ॥ २० ॥ ब्रह्मचारी के सामने नाच,

अध्यात्म-निरूपण में रासक्रीड़ा और राजहंस के सामने जैसे पानी रखा जाय—॥ २१ ॥ वैसे ही अन्तर्निष्ठ (आत्मज्ञानी) के सामने यदि शृंगारिक पुस्तक रखी जाय तो उससे उसका समाधान कैसे होगा? ॥ २२ ॥ राजा को गरीब की आशा रखना, अमृत को मट्ठा बतलाना और संन्यासी को "उच्छिष्ट-चांडालिनी" के मंत्र का व्रत करना कैसे शोभा देगा? ॥ २३ ॥ कर्मनिष्ठ को वशीकरण का मंत्र और पंचाक्षरी (झाड़ने फूँकनवालों) को कथा-निरूपण यदि सुनाया जायगा तो इससे अवश्य उनका अन्तःकरण भंग होगा ॥ २४ ॥ वैसे ही, परमार्थी पुरुष के सामने यदि ऐसा ग्रन्थ पढ़ा जायगा, जिसमें आत्मज्ञान नहीं है, तो उसे समाधान न होगा ॥ २५ ॥ अब ये बातें बस करो। जिसे स्वहित करना हो वह सदा अद्वैत-ग्रन्थों का विचार करे ॥ २६ ॥ आत्मज्ञानी को, स्थिरचित्त होकर, अद्वैत-ग्रन्थ देखना चाहिए। और एकान्तस्थल में शुद्ध समाधान प्राप्त करना चाहिए ॥ २७ ॥ सब प्रकार से विचार करने पर, यही निश्चित होता है कि, अद्वैत-ग्रन्थ के समान अन्य कोई ग्रन्थ नहीं है। वास्तव में परमार्थी पुरुष के लिए तो वह नौका ही है ॥ २८ ॥ दूसरी जो प्रापंचिक, हास्य-विनोदी और नवरसिक पुस्तकें हैं वे परमार्थी पुरुष के लिए हितकारक नहीं हैं ॥ २९ ॥ वास्तव में ग्रन्थ वही है कि जिसके द्वारा परमार्थ की वृद्धि हो, विषयों के विषय में पश्चात्ताप हो और भक्ति तथा साधन अच्छा लगे ॥ ३० ॥ जिसे सुनते ही गर्वगलित हो जाय, भ्रान्ति मिट जाय और मन भगवान् में लग जाय, वही सच्चा ग्रन्थ है ॥ ३१ ॥ ग्रन्थ वही है जिससे उपरति हो अवगुण दूर हों और अधोगति का नाश हो ॥ ३२ ॥ सच्चा ग्रन्थ उसीको समझना चाहिए कि, जिसके सुनने से धैर्य आवे, परोपकार हो और विषय-वासना नष्ट हो ॥ ३३ ॥ जिसके द्वारा ज्ञान, मोक्ष और पवित्रता प्राप्त हो, वही उत्तम ग्रन्थ है ॥ ३४ ॥ ऐसे अनेक ग्रन्थ होंगे, जिनमें नाना प्रकार के विधान और फलश्रुतियां कही हैं। परन्तु जिससे विरक्ति और भक्ति न उपजे, वह ग्रन्थ ही नहीं है ॥ ३५ ॥ जिस ग्रन्थ की फलश्रुति में मोक्ष का समावेश न हो वह वास्तव में ग्रन्थ ही नहीं है—वह तो दुराशा की पोथी है—उसके सुनने से और दुराशा ही बढ़ेगी ॥ ३६ ॥ ऐसी पोथी के सुनने से मोह उत्पन्न होता है, विवेक दूर भागता है, दुराशा के भूत संचार करते हैं और अधोगति मिलती है ॥ ३७ ॥ फल-श्रुति सुन कर जो कहता है कि, अगले जन्म में फल पाऊंगा, उसको जन्म-रूपी अधोगति प्राप्त ही होती है ॥ ३८ ॥ अनेक पक्षी, 'फल' खा कर ही, तृप्ति मान लेते हैं; परन्तु उस चकोर के चित्त में 'अमृत' ही बसता है ॥ ३९ ॥ इसी प्रकार (अन्य पक्षियों की तरह) संसारी मनुष्य संसार (फल)

ही की इच्छा करते हैं; पर जो भगवान् के अंश हैं, वे (चकोर की तरह) भगवान् (अमृत) ही की इच्छा रखते हैं ॥ ४० ॥

अस्तु। ज्ञानी को ज्ञान, भजनिक को भजन और साधक को, इच्छानुसार, साधन चाहिए ॥ ४१ ॥ परमार्थी को परमार्थ, स्वार्थी को स्वार्थ और कृपण को धन चाहिए ॥४२॥ योगियों को योग, भोगियों को भोग और रोगियों को रोग हरनेवाली मात्रा चाहिए ॥४३॥ कवियों को काव्यप्रबंध, तार्किकों को तर्कवाद और भाविकों को संवाद अच्छा लगता है ॥ ४४ ॥ पंडितों को पांडित्य, विद्वानों को अध्ययन और कलावंतों को नाना कलाएं चाहिए ॥ ४५ ॥ हरिदास को कीर्तन, शुचिमानों को संध्यास्नान और कर्मनिष्ठों को विधिविधान अच्छा लगता है ॥ ४६ ॥ प्रेमी को करुणा, विचक्षण को दक्षता और चतुर मनुष्य को चातुर्य से प्रीति होती है ॥ ४७ ॥ भक्त मूर्ति-ध्यान देखता है; संगीत और राग जाननेवाला ताल, तान-मान और मूर्च्छना देखता है ॥ ४८ ॥ योगाभ्यासी पिण्डज्ञान, तत्त्वज्ञ तत्त्वज्ञान और नाटिका-ज्ञानी मात्राज्ञान देखता रहता है ॥ ४९ ॥ कामी पुरुष कोकशास्त्र, चेटकी चेटकमन्त्र और यान्त्रिक नाना प्रकार के यन्त्र आदरपूर्वक देखता है ॥५०॥ हँसी करनेवाले को विनोद, उन्मत्त को नाना प्रकार के ढोंग और तामसी को मस्तपन अच्छा लगता है ॥ ५१ ॥ मूर्ख ऊपरी बातों को पसन्द करता है, निन्दक पुरुष बुरा अवसर ताकता है और पापी आदमी पापबुद्धि को पकड़ता है ॥ ५२ ॥ किसीको रसाल, किसीको गाथा (व्यर्थ विस्तार) और किसीको केवल भोलीभाली भक्ति ही चाहिए ॥ ५३ ॥ आगमी (तंत्र-शास्त्री) आगम को, शूर संग्राम को और धार्मिक नाना धर्मों को देखता है ॥ ५४ ॥ मुक्त पुरुष मोक्ष के आनन्द का अनुभव करता है, सर्वज्ञ मनुष्य सब कला देखता है और ज्योतिषी, पिंगला (पक्षीविशेष) को देख कर, भविष्य वर्णन करना चाहता है ॥ ५५ ॥ इस प्रकार कहां तक गिनावें—लोग अपने अपने मन के अनुसार, सदा अनेक ग्रन्थ पढ़ा और सुना करते हैं ॥ ५६ ॥ परन्तु जिससे परलोक न सधे उसे श्रवण नहीं कहना चाहिए—अर्थात् जिसमें आत्मज्ञान नहीं है उसे 'दिलबहलाव' कहना चाहिए ! ॥ ५७ ॥ मिठाई के बिना मिठास, नाक के बिना सौन्दर्य और ज्ञान के बिना निरूपण हो ही नहीं सकता ॥ ५८ ॥ अब बस करो, इतना बहुत हुआ। परमार्थ-ग्रन्थ सुनना चाहिए। परमार्थ-ग्रन्थ बिना और सब व्यर्थ गाथा है ! ॥ ५९ ॥ इस लिए, जिसमें नित्य-अनित्य का विचार या सार-असार का विवेक कहा गया है उसी ग्रन्थ के श्रवण से मुक्ति मिलती है ॥ ६० ॥

दसवाँ समास—जीवन्मुक्त का देहान्त ।

॥ श्रीराम ॥

माया की ऐसी कुछ लीला है कि मिथ्या सत्य हो जाता है और सत्य मिथ्या जान पड़ता है ! ॥१॥ यद्यपि सत्य का निश्चय होने के लिए अनेक ग्रन्थों का निरूपण किया गया है; तथापि असत्य की प्रबलता नहीं जाती ! ॥ २ ॥ 'असत्य,' मनुष्य के हृदय में छा गया है, और यद्यपि किसीने उसका उपदेश नहीं किया; तथापि वह दृढ़ भी होगया है; परन्तु जो 'सत्य' है उसका मनुष्य को पता ही नहीं है ! ॥ ३ ॥ वेद-शास्त्र-पुराण सत्य का निश्चय बतलाते हैं; पर तो भी सत्य का स्वरूप मन में नहीं आता ! ॥ ४ ॥ देखिये तो, प्रत्यक्ष, आखों के सामने, देखते ही देखते, यह हाल हो रहा है, कि 'सत्य' शाश्वत होकर भी आच्छादित हो रहा है और 'मिथ्या' नश्वर होने पर भी सत्य हो रहा है ! ॥ ५ ॥ परन्तु यह माया की लीला, सन्तसमागम करके अध्यात्म-निरूपण का विचार करने पर, तत्क्षण मालूम हो जाती है ॥ ६ ॥ अस्तु । पीछे यह बतलाया गया कि:—'मैं' का पता लगाने से परमार्थ की पहचान मालूम होती है ॥७॥ परमार्थ-ज्ञान से समाधान मिलता है, चित्त चैतन्य में लीन होता है और यह मालूम हो जाता है, कि 'मैं' वही मुख्य 'वस्तु' हूँ ॥ ८ ॥ इतना मालूम हो जाने पर, ज्ञानी शरीर को प्रारब्ध के भरोसे छोड़ देता है; बोध से उसका संशय मिट जाता है और वह जान लेता है कि यह कलेवर मिथ्या है—सो चाहे अभी नाश हो जाय अथवा बना रहे ॥ ९ ॥ देह का मिथ्यापन जान लेने के कारण साधुओं की देह पवित्र होती है; अतएव, जहां उसका अन्त हो वही, पुण्य-भूमि है ॥ १० ॥ साधुओं के पधारने से तीर्थ भी पवित्र होते हैं; साधुओं से ही उनकी महिमा बढ़ती है । जिन तीर्थों में साधु नहीं रहते उन्हें पुण्य-क्षेत्र नहीं कह सकते ॥ ११ ॥ यह विचार, कि किसी पुण्यनदी के तीर शरीरपात होना अच्छा है, अज्ञानियों के लिए है । साधुओं के लिए इसकी कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि वे नित्यमुक्त हैं ॥ १२ ॥ लोग इस सन्देह में रहते हैं कि उत्तरायण में मरना उत्तम है और दक्षिणायन में अधम है । पर साधु लोग इस सन्देह में नहीं पड़ते ॥ १३ ॥ शुक्ल पक्ष में, उत्तरायण में, घर में, दीपक रहते समय, दिन में और अन्त में स्मरण रहते हुए, यदि देहान्त हो तो सद्गति मिलती है* ॥ १४ ॥ परन्तु योगी को इन बातों की

*अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

अगला पृष्ठ देखो ।

कोई जरूरत नहीं। क्योंकि वह पुण्यात्मा तो जीते ही जी मुक्त होकर पाप-पुण्य को तिलांजलि दे देता है ॥ १५ ॥

जिसका देहान्त अच्छी दशा में होता है और जो सुखपूर्वक देह त्यागता है उसके लिए अज्ञानी लोग कहते हैं कि "यह भगवान् के पास पहुँचेगा" ॥१६॥ परन्तु उनका यह मत विपरीत है। यह कल्पना करके, कि अन्त में भगवान मिलता है, वे स्वयं अपनी हानि कर रहे हैं ॥ १७ ॥ जीवितावस्था में जब परमात्मा की भक्ति नहीं की और व्यर्थ ही आयु गँवा दी, तब फिर अन्त में भगवान् कैसे मिलेगा? अनाज का बीज तो बोया ही नहीं-जमेगा कैसे? ॥ १८ ॥ जब जन्मभर ईश्वर-भजन किया जाता है तभी मुक्ति मिलती है। जब व्यापार किया जाता है तभी नफा मिलता है ॥१९॥ यह कहावत तो सभी को मालूम होगी कि "दिये बिना मिलता नहीं और बोये बिना ऊगता नहीं!" ॥२०॥ जैसे हरामखोर आदमी महीने भर नौकरी का काम न करके मालिक से तनखाह चाहता हो उसी प्रकार अभक्त मनुष्य, जन्म भर ईश्वर की भक्ति न करके ही, अन्त में मोक्ष चाहता है! ॥ २१ ॥ यदि जीते जी भगवान् की भक्ति नहीं की है तो मरे पर मुक्ति कैसे हो सकती है? अस्तु; जो जैसा करता है वह वैसा पाता है ॥ २२ ॥ एवं, जन्म भर भगवान् का भजन न करने से अन्त में मुक्ति नहीं हो सकती। मृत्यु चाहे जितनी अच्छी आवे; परन्तु भक्ति के बिना अवश्य अधोगति होती है॥२३॥ इस लिए, साधु जनों को धन्य है; जो जीते जी ही अपना जीवन सार्थक कर लेते हैं ॥२४॥ ऐसे जीवन्मुक्त ज्ञानियों का चाहे वन में शरीरपात हो; चाहे श्मशान में, वे धन्य ही हैं ॥ २५ ॥ यदि साधु की देह पड़ी रही, अथवा उसे कुत्तों आदि ने खा लिया, तो यह, लोगों को, मन्दबुद्धि के कारण, अच्छा नहीं जान पड़ता ॥ २६ ॥ ये लोग प्रायः इसी लिए दुःखी होते हैं, कि अन्त अच्छा नहीं हुआ। पर क्या करें, बिचारे मर्म ही नहीं जानते! ॥ २७ ॥ जो वास्तव में जन्मा ही नहीं उसे मृत्यु कहां से आवेगी? उसने तो विवेकबल से स्वयं जन्ममृत्यु ही को घोट डाला है! ॥ २८ ॥ स्वरूपानुसन्धान के कारण उसके तईं माया तो रहती ही नहीं। ब्रह्मा विष्णु, महेश, आदि भी उसकी गति नहीं जान सकते ॥ २९ ॥ वह जीते जी ही मरा हुआ है और मृत्यु को भी मार कर जी रहा है! विवेकबल से उसे जन्म-मृत्यु की याद भी नहीं ॥ ३० ॥ वह, किसी मनुष्य की तरह,

---

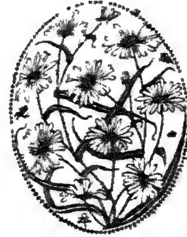
पिछले पृष्ठ से आगे। अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छंति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥
गीता, अ० ८।

देख पड़ता है; पर है वह कुछ और ही ! वह लोगों में बर्ताव करता हुआ सा भासता है; पर है वह वास्तव में उनसे अलिप्त ! यहां तक कि उस शुद्ध स्वरूप में दृश्य पदार्थ का स्पर्श भी नहीं है ॥ ३१ ॥ अस्तु। ऐसे साधुओं की सेवा करने से सभी लोग मुक्त हो सकते हैं ॥३२॥

सद्गुरु के कृपापात्र साधक को चाहिए कि, एक बार किया हुआ विवेक ही, फिर से बारम्बार किया करे। ऐसा करने से अध्यात्म-निरूपण में उसकी बुद्धि प्रविष्ट होती है ॥ ३३ ॥ अब, अन्त में साधकों को यही बतलाना है कि, शुद्ध अद्वैत निरूपण से तुम्हें भी वैसा ही समाधान होगा जैसा कि किसी साधु पुरुष को होता है ॥ ३४ ॥ जो संतों की शरण में जाता है वह सन्त ही हो जाता है। और, अपनी कृपा से, अन्य लोगों को भी तारता है ॥ ३५ ॥ सन्तों की महिमा बड़ी विचित्र है। सन्तसंग से ज्ञान प्राप्त होता है। सत्संग के समान दूसरा कोई साधन नहीं है ॥ ३६ ॥ गुरु की सेवा से, और आध्यात्म-निरूपण के मनन से मनुष्य का आचरण अवश्य ही शुद्ध होता है, और अन्त में मोक्ष मिलता है ॥ ३७ ॥

सद्गुरु की सेवा ही परमार्थ का जन्मस्थान है; सद्गुरु सेवा से आप ही आप समाधान मिलता है ॥ ३८ ॥ यह शरीर एक दिन नाश होनेवाला है; अतएव, तब तक, जन्म सुफल कर लेना चाहिए। भजनभाव से सद्गुरु का चित्त प्रसन्न करना चाहिए ॥ ३९ ॥ ऐसा एक दाता सद्गुरु ही है, जो शरणागतों की चिंता ऐसी रखता है, जैसे माता, नाना यत्न करके; बालक का पालन-पोषण करती है ॥४०॥ अतएव जिससे सद्गुरु की सेवा बन पड़ती है वही धन्य है। सद्गुरु की सेवा को छोड़ कर परम-शांति प्राप्त करने का अन्य उपाय नहीं है ॥ ४१-४२ ॥ यह बात जिसे मान्य न हो वह 'गुरुगीता' देखे ॥ ४३ ॥ उसमें महादेवजी ने पार्वती से सद्गुरु की महिमा अच्छी तरह बतलाई है। अतएव, सद्गुरुचरणों की सेवा सद्भाव से, करना चाहिए ॥४४॥ जो साधक इस ग्रंथ में कहे हुए विवेक का मनन करता है उसे सत्य ज्ञान का निश्चय होता है ॥ ४५ ॥ जिस ग्रंथ में अद्वैत-निरूपण किया गया है उसे 'प्राकृत' कह कर उसकी उपेक्षा न करना चाहिए। अर्थ की दृष्टि से, उसे सत्य वेदांत ही समझना चाहिए ॥ ४६ ॥ प्राकृत के द्वारा वेदांत मालूम होता है; सम्पूर्ण शास्त्रों की बातें उसमें मिल सकती हैं। उनसे चित्त परम शांत होता है ॥ ४७ ॥ जिसमें ज्ञान के उपाय बताये गये हैं उसे 'प्राकृत' कहना ही न चाहिए; पर मूर्खों को यह कैसे मालूम हो ? "बन्दर क्या जाने अदरख का स्वाद !" ॥ ४८ ॥ अस्तु। जितना जिसका अधिकार है उतना ही वह लेता है। परन्तु, (जैसे) यद्यपि मोती सीप में होता है, तथापि उसे कोई क्षुद्रवस्तु नहीं समझ सकता, (वैसे ही 'प्राकृत'

भाषा में कही गई वेदांत की बातें भी किसीको क्षुद्र नहीं मानना चाहिए!) ॥ ४८ ॥ जिसे श्रुति "नेति, नेति" कहती है, उसके विषय में भाषा का महत्त्व चल नहीं सकता! परब्रह्म वास्तव में आदि-अन्त-रहित और अनिर्वाच्य है ॥ ५० ॥



आठवाँ दशक।



पहला समास—परमात्मा का निश्चय।

॥ श्रीराम ॥

अब श्रोता लोगों को, सावधान होकर शुद्ध ज्ञान का निरूपण सुनना चाहिए ॥ १ ॥ नाना शास्त्रों को खोजने के लिए सारी उम्र भी बस नहीं है, और यदि वे देखे भी जायँ, तो भी अंतःकरण में संशय की व्यथा बढ़ती ही जाती है! ॥ २ ॥ संसार में अनेक बड़े बड़े तीर्थ, कोई सुगम, कोई दुर्गम, कोई दुष्कर; परन्तु पुण्यदायक हैं ॥ ३ ॥ ऐसा कौन है जो ये सभी तीर्थ कर सकता हो? यदि इतने सब तीर्थ किए जायँ तो सारी आयु भी बस नहीं है ॥ ४ ॥ अनेक प्रकार के जप, तप, दान, योग, साधन, इत्यादि सब केवल उसी परमात्मा के लिए करते हैं ॥ ५ ॥ यह बात सर्वसम्मत है कि, उस देवाधिदेव—परमात्मा—को, अनेक प्रकार से प्रयत्न करके, अवश्य ही प्राप्त करना चाहिए ॥ ६ ॥ उसी भगवान् को प्राप्त करने के लिए ये नाना पंथ और मत निकले हैं। परंतु उसका स्वरूप कैसा है? ॥ ७ ॥ आज-कल संसार में इतने देवता मान लिये गये हैं कि उनकी गणना तो कोई कर ही नहीं सकता! किसी एक देवता का निश्चय नहीं होता ॥८॥ देवताओं के अनुसार, उपासना के भी अनेक भेद होगये हैं। जिसकी कामना जिससे एक बार पूर्ण होगई वह उसी को पकड़े रहता है! ॥ ९ ॥ जैसे बहुत से देवता हैं, वैसे ही उनके बहुत से भक्त भी हैं। वे अपनी अपनी इच्छा के अनुसार उन्हीं में आसक्त हैं। तथा बहुत ऋषि हैं और उनके बहुत मत भी, अलग अलग, हैं ॥१०॥ अतएव, इस बहुबगार में, एक का निश्चय नहीं होता। सब शास्त्र आपस में लड़ रहे हैं; परन्तु ठीक निर्णय नहीं होता! ॥ ११ ॥ अनेक शास्त्रों में अनेक भेद हैं और मतमतान्तरों के विरोध की तो बात ही न पूछिये! अस्तु। इसी प्रकार का वाद-विवाद करते हुए न जाने कितने चले गये! ॥ १२ ॥

हजारों में कोई एक, परमात्मा का विचार करता है; परन्तु उसके स्वरूप का, उसे भी पता चलता* ॥ १३ ॥ परन्तु, यह कैसे कहते

---

* मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥ गीता, अ० ७।

हो कि " पता नहीं चलता "–पता चले कैसे–वहां तो अहंता लगी हुई है न! उसी अहंता के कारण परमात्मा का दर्शन नहीं होता ॥ १४ ॥ अस्तु। अब, यह बात यहीं छोड़ कर, आगे यह बतलाते हैं कि, जिस परमात्मा के लिए, लोग नाना प्रकार के साधन करते हैं वह किस तरह मिलता है, और परमात्मा कहते किसे हैं, तथा कैसे उसे जान सकते हैं:–॥ १५ ॥ १६ ॥

जिसने यह सम्पूर्ण चराचर सृष्टि, तथा उसकी हलचल, उत्पन्न की है उसीको अविनाशी 'सर्वकर्त्ता' परमेश्वर कहते हैं ॥१७॥ मेघमाला उसीने रची है; चन्द्रबिंब में अमृतकला उसीने दी है और रविमण्डल को तेज उसीने प्रदान किया है ॥१८॥ उसीकी मर्यादा से सागर स्थित है; शेष को उसीने स्थापित किया है और सम्पूर्ण तारागण उसीकी करामत से आकाश में स्थित हैं! ॥ १९ ॥ जारज, उद्भिज, अण्डज और स्वेदज नामक चारों प्रकार के जीवों की खानियां; परा, पश्यन्ति, मध्यमा, वैखरी नामक चारों वाणी; तथा चौरासी लक्ष जीवयोनियां; किंबहुना तीनों लोक, जिसने रचे हैं वही परमात्मा है ॥ २० ॥ इसमें कोई शक नहीं कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश इत्यादि सब उसी के अवतार हैं ॥ २१ ॥ घर का देवता उठ कर इन सब जीवों को नहीं बना सकता–उसके द्वारा यह ब्रह्मांड नहीं रचा जा सकता ॥ २२ ॥ जगह जगह जो ये तमाम देवता रखे हैं उन्होंने भी यह सृष्टि नहीं रची है—चन्द्र, सूर्य, तारागण और मेघमण्डल वे नहीं बना सकते ॥ २३ ॥ जिसने यह सब कुछ रचा है वही 'सर्वकर्त्ता,' परमेश्वर है। वास्तव में वह 'निराकार' है। उसकी कला, लीला और कौतुक, ब्रह्मा, विष्णु और महेश, इत्यादि देवता भी नहीं जानते ॥ २४ ॥ यहां पर यह आशंका उठी, कि जो 'निराकार' है वह 'सर्वकर्त्ता' कैसे हो सकता है? अस्तु। इस शंका का अगले समास में समाधान किया गया है। यहां, प्रस्तुत विषय, सावधान होकर सुनियेः—॥ २५ ॥

अवकाशरूपी जो खाली जगह है, जहां कुछ नहीं है, वही आकाश है। वह निर्मल है। उसीमें वायु का जन्म हुआ ॥ २६ ॥ वायु से अग्नि और अग्नि से जल उत्पन्न हुआ। यहं उसकी अघटित घटना तो देखिये! ॥२७॥ जल से पृथ्वी हुई, जो निराधार स्थित है। ऐसी विचित्र कला करनेवाले का नाम 'देवता' है ॥२८॥ परन्तु विवेकहीन पुरुष, उस 'देवता' की बनाई हुई पृथ्वी के पेट से जो पत्थर निकले हैं, उन्हींको देवता कहते हैं! ॥ २९ ॥ वे यह नहीं जानते कि, वह सृष्टि-निर्माण-कर्ता 'देवता' सृष्टि के पहले से ही है। यह उसकी सत्ता पीछे से विस्तृत हुई है ॥ ३० ॥ जैसे कुम्हार अपनी कृति (घड़ा) के पहले से ही उपस्थित है, वैसे ही परमेश्वर अपनी

इस कृति (सृष्टि) के पूर्व से ही है। वह पत्थर कदापि नहीं है। पत्थर तो उसकी कृति (सृष्टि) का एक क्षुद्र अंग है ॥ ३१ ॥ मान लीजिए कि किसीने मिट्टी की सेना बनाई; परन्तु उसका बनानेवाला (निमित्तकारण या कर्ता) उस सेना से अलग ही है; क्योंकि कार्य-कारण दोनों एक नहीं हो सकते ॥ ३२ ॥ हां, यदि कार्य और कारण, दोनों पञ्चभूतात्मक हैं तो, पञ्चभूतात्मक दृष्टि से, वे एक हो सकते हैं; परन्तु जहां निर्गुण की बात है वहां ऐसा कदापि नहीं हो सकता; क्योंकि कार्य-कारण की एकता का सम्बन्ध पञ्चभूतों ही तक है ॥ ३३ ॥ अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं कि, इस सम्पूर्ण सृष्टि का कर्त्ता, इस सृष्टि से, अलग है ॥ ३४ ॥ कठपुतलियों को नचानेवाला स्वयं कठपुतली कैसे हो सकता है? ॥ ३५ ॥ "छाया-मण्डप" (बायस्कोप) की सेना, बिलकुल सच्ची ही सेना की तरह, युद्ध करती है और एक मनुष्य वह सब तमाशा करता है; परन्तु क्या वह मनुष्य, उस सेना का कोई भी व्यक्ति, हो सकता है? ॥ ३६ ॥ इसी प्रकार उस परमात्मा ने यह सृष्टि तो रची है; पर वह स्वयं सृष्टि का अंग नहीं है। जिसने अनेक जीवों को रचा है वह स्वयं जीव कैसे हो सकता है? ॥३७॥ यह कैसे हो सकता है, कि जो जिस पदार्थ को बनाता है, वही पदार्थ वह स्वयं भी है? परन्तु विचार विवेकहीन पुरुष व्यर्थ ही सन्देह में पड़े रहते हैं! ॥ ३८ ॥ मान लो, सृष्टि की तरह, किसीने कोई सुन्दर मन्दिर बनाया; परन्तु क्या वह मन्दिर बनानेवाला, स्वयं मन्दिर थोड़े ही हो सकता है? ॥ ३९ ॥ उसी प्रकार जिसने जगत् रचा है, वह जगत् से बिलकुल अलग है। परन्तु कोई मूर्खता से कहते हैं कि जगत् ही जगदीश है! ॥ ४० ॥ एवं, वह जगदीश अलग है और जगत् की रचना उसकी कला है। वह सब में है-परन्तु, सब से अलग रह कर, सब में है! ॥ ४१ ॥

अस्तु। पञ्चभूतों के कर्दम से वह आत्माराम अलग है। अविद्या के कारण, माया का भ्रम सत्य ही जान पड़ता है ॥४२॥ यह विपरीत विचार कहीं भी नहीं कि, माया की उपाधि और जगत् का आडंबर सभी सत्य है ॥ ४३ इस लिए सब से परे जो परमात्मा है, वही सब के भीतर-बाहर व्याप्त है, और वही अन्तरात्मा सत्य है। यह जगत् मिथ्या है ॥ ४४ ॥ उसीको 'देवता' कह सकते हैं; और सब झूठ है। यही वेदान्त का मर्म है ॥ ४५ ॥

अब, यह तो प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि- ये यावत् दृश्य पदार्थ नाशवन्त हैं और भगवान् अविनाशी है; इस लिए भगवान, इन दृश्य पदार्थों से, परे है ॥ ४६ ॥ सम्पूर्ण शास्त्र जिस परमात्मा को निर्मल तथा अचल कहते हैं उसको चञ्चल या नश्वर कभी नहीं कह सकते ॥ ४७ ॥ उसमें आने

जाने, पैदा होने, मरने, आदि की उपाधि लगाने से महा पाप लगता है ॥ ४८ ॥ परमात्मा न कभी जन्म ले सकता है और न मर सकता है। जब उसकी सत्ता मात्र से अन्य देवता अमर होते हैं, तब उसे मृत्यु कैसे आ सकती है? ॥ ४९ ॥ उपजना, मरना, आना, जाना, दुःख भोगना—यह सब उस परमात्मा का कार्य है। वह कर्ता-कारणरूप से अलग है ॥५०॥ अन्तःकरण, पञ्चप्राण, बहुत से तत्त्व और पिंडज्ञान, इत्यादि सब चञ्चल हैं, इसी लिए ये परमात्मा नहीं हो सकते ॥ ५१ ॥

इस प्रकार जो कल्पनारहित है, वही परमात्मा है; पर वास्तव में उसमें परमात्मपन की बात भी नहीं है (अर्थात " परमात्म-पन " में कल्पना आ जाती है और वह कल्पनातीत है) ॥५२॥ इस पर शिष्य यह आशंका करता है कि "जब परमात्मा कल्पनातीत है तब फिर उसने यह ब्रह्मांड कैसे रचा? यह तो कर्त्तापन से कर्ता-कारण कार्य में आता है* ॥ ५३ ॥ द्रष्टापन के कारण जिस प्रकार द्रष्टा (देखनेवाला) अनायास दृश्य बन सकता है उसी प्रकार कर्तापन से निर्गुण में भी गुण आ सकता है ॥ ५४ ॥ अतएव, मुझे बतलाइये कि ब्रह्मांडकर्ता कौन है, उसकी पहचान क्या है और परमात्मा सगुण है या निर्गुण है? ॥५५॥ कोई कोई कहते हैं कि वह ब्रह्म इच्छामात्र से सृष्टिकर्ता है; उसे छोड़ कर और सृष्टिकर्ता कौन हो सकता है? ॥५६॥ अस्तु। इस प्रकार की अनेक बातें हैं। परन्तु, हे स्वामी, अब आप मुझे यह बतलाइये कि, यह सारी माया कहां से हुई?" ॥५७॥ इस पर वक्ता कहता है कि अच्छा आगे माया का वर्णन किया जायगा। श्रोता लोगों को सावधान हो जाना चाहिए ॥ ५७-५० ॥

दूसरा समास—माया के अस्तित्व में शंका।

॥ श्रीराम ॥

श्रोताओं ने जो यह पूछा कि निराकार में यह चराचर माया कैसे हुई उसका उत्तरः—॥ १ ॥ सनातनब्रह्म में माया, वास्तव में न होकर, इस प्रकार

---

* कर्ता को " कर्ता " कहने से ही उसमें कर्तृत्वगुण आ जाता है और जिसमें गुण होता है वह कार्य है। इस रीति से कारण ही (कर्ता ही) कार्य बन रहा है। जिस प्रकार देखनेवाले में देखने का गुण या धर्म होने के कारण वह स्वयं भी दूसरे का दृश्य बनता है जैसे इन्द्रियां विषयों की द्रष्टा हैं; परन्तु वे स्वयं मन की दृश्य बन रही हैं—अर्थात् मन-द्वारा देखी जाती हैं।

अध्यासरूप भासती है जैसे शुक्ति में रजत और डोरी में सर्प भासता है ॥ २ ॥ आदि में, एक नित्यमुक्त और परम अक्रिय, परब्रह्म ही है। उसमें अव्याकृत (अस्पष्ट) और सूक्ष्म मूल माया हुई ॥ ४ ॥

आद्यमेकं परब्रह्म नित्यमुक्तमाविक्रियम्।
तस्य माया समावेशो जीवमव्याकृतात्मकम् ॥ १ ॥

आशंकाः—अच्छा, यदि ब्रह्म एक, निराकार, मुक्त, अक्रिय और निर्विकार है तो फिर उसमें मिथ्या माया कहां से हुई ? ॥ ४ ॥ ब्रह्म अखण्ड, निर्गुण है—उसमें इच्छा कहां से आवेगी ? क्योंकि इच्छा सगुण ही में हो सकती है—निर्गुण में वह नहीं हो सकती ॥ ५ ॥ और, वह तो आदि से ही सगुण नहीं है, तथा इसी लिए उसका 'निर्गुण' नाम पड़ा है; तब फिर उसमें सगुणत्व, अर्थात् इच्छाशक्ति, कहां से आई ? ॥ ६ ॥ अच्छा, यदि यह कहा जाय कि, निर्गुण ही सगुण होगया, तो ऐसा कहने से मूर्खता प्रकट होती है ॥ ७ ॥ कोई कहता है कि वह निराकार ईश्वर, करके भी, अकर्ता है—बिचारे जीव उसकी लीला क्या जानें ? ॥८॥ कोई कहता है कि वह परमात्मा है; उसकी महिमा, बिचारा जीवात्मा, कैसे जान सकता है ! ॥ ९ ॥शास्त्रों का अर्थ छिपा कर व्यर्थ ही के लिए महिमा गाते हैं और निर्गुण पर जबरदस्ती कर्तृत्व लादते हैं ! ॥ १० ॥ जब कर्तव्यता बिलकुल है ही नहीं, तब करके भी अकर्ता कौन है ? कर्ता और अकर्ता की वार्त्ता ही समूल मिथ्या है ! ॥ ११ ॥ जो आदि से ही निर्गुण है उसमें कर्त्तापन कहां से आया ? (अच्छा यदि कर्तापन नहीं आया) तो फिर यह सृष्टि रचने की इच्छा कौन करता है ? ॥ १२ ॥ यह तो बहुत लोग कहते हैं कि "परमेश्वर की इच्छा"—पर यह नहीं जान पड़ता कि उस निर्गुण में 'इच्छा' कहां से आई ! ॥१३॥ तो फिर यह इतना किसने रचा ? अथवा आप ही होगया ! ईश्वर के बिना इन सब को उत्पन्न किसने किया ? ॥१४॥ यदि कहा जाय कि बिना ईश्वर के ही सब होगया तो फिर ईश्वर कहां जायगा ? इससे तो ईश्वर का अभाव देख पड़ता है ॥१५॥ यदि ईश्वर को सृष्टिकर्ता कहें तो फिर उसमें सगुणता होना चाहिए; इससे तो ईश्वर की निर्गुणता की वार्ता ही समाप्त होती है ॥१६॥ यदि ईश्वर आदि से निर्गुण है तो फिर सृष्टि कौन है ? यदि ईश्वर को कर्ता कहते हैं तो उसमें सगुणता आती है और सगुणता नश्वर है ॥१७॥ यहां बड़ी शंका आती है—यह चराचर जगत् हुआ तो कैसे ? यदि माया को स्वतंत्र कहें तो भी विपरीत देख पड़ता है ॥ १८ ॥ यदि कहें कि माया को किसीने नहीं बनाया—यह आप ही से फैल गई—तो इससे ईश्वर की वार्ता ही डूबी जाती है ॥१९ ॥ यह कहना भी उचित नहीं देख

पड़ता कि, ईश्वर निर्गुण और स्वतःसिद्ध है; उससे और माया से कोई सम्बन्ध ही नहीं है ! ॥ २० ॥ अच्छा, यदि सारी कर्तव्यता माया के ही मत्थे लादी जाय तो फिर भक्तों का उद्धार करनेवाला ईश्वर क्या है ही नहीं ? ॥ २१ ॥ ईश्वर के बिना इस माया को कौन दूर करेगा ? क्या हम, भक्त लोगों को सँभालनेवाला कोई है ही नहीं ? ॥ २२ ॥ अतएव, माया को स्वतंत्र भी नहीं कह सकते—माया का निर्माणकर्ता वह एक सर्वेश्वर अवश्य ही है ॥ २३ ॥ तो फिर, यह अब विस्तारपूर्वक बतलाना चाहिए कि, वह ईश्वर कैसा है और माया का विचार कैसा है २४ ॥ इस एक ही आशंका के विषय में लोगों के भिन्न भिन्न अनेक विचार हैं। वे सब क्रमशः बतलाये जाते हैं। ध्यान देकर सुनियेः॥ २५ ॥ २६ ॥

कोई कहता है: माया को ईश्वर ने ही बनाया है, इसीसे यह चारों ओर फैली हुई है। ईश्वर को यदि इच्छा न हुई होती तो यह माया कहां से आती ? ॥२७॥ कोई कहता है, जब ईश्वर निर्गुण है तब इच्छा कौन करेगा? माया मिथ्या है—यह बिलकुल हुई ही नहीं! ॥ २८ ॥ कोई कहता है कि, जब यह प्रत्यक्ष देख पड़ती है, तब फिर यह कैसे कहते हो कि, वह है ही नहीं। माया ईश्वर की अनादिशक्ति है ॥ २९ ॥ कोई कहता है कि यदि सच्ची है तो फिर यह ज्ञान-द्वारा निरसन क्यों हो जाती है? सच के समान ही दिखती है; पर है यह मिथ्या ! ॥ ३० ॥ एक कहता है कि, यह जब स्वाभाविक ही मिथ्या है तब फिर साधन क्यों करना चाहिए? ईश्वर ने भक्ति का साधन, मायात्याग के लिए ही, बतलाया है ॥३१॥ कोई कहता है कि, वह है तो मिथ्या, परन्तु अज्ञानरूपी सन्निपात से उसका भय मालूम होता है; इस लिए साधनरूपी औषधि लेनी पड़ती है। परन्तु, वस्तुतः वह दृश्य (माया) मिथ्या ही है ॥ ३२ ॥ एक कहता है कि, अनन्त साधन कहे गये हैं, नाना मत भटक रहे हैं; तब भी माया त्यागी नहीं जा सकती; फिर उसे मिथ्या कैसे कहें ? ॥ ३३ ॥ दूसरा उत्तर देता हैः—योगवाणी माया को मिथ्या बतला रही है, वेदशास्त्र और पुराणों ने भी उसे मिथ्या कहा है और नाना निरूपणों में भी माया मिथ्या ही कही गई है ! ॥ ३४ ॥ कोई कहता है कि ऐसा हमने कहीं नहीं सुना कि माया, मिथ्या कहने से, चली गई हो—मिथ्या कहते ही वह साथ लगती है ! ॥ ३५ ॥ कोई इसका उत्तर देता हैः—जिसके अन्तःकरण में ज्ञान नहीं है, और जिसने सज्जनों को नहीं पहचाना है, उसे यह मिथ्याभास माया सत्य ही जान पड़ती है ॥ ३६ ॥ जो जैसा निश्चय करता है उसको वैसा ही फलता है। जैसे शीसे में जो देखता है उसीकी छाया उसमें मालूम होती है, वैसा ही हाल माया का है। ॥ ३७ ॥ कोई कहता है, माया कहां से आई ? जो कुछ

है सब ब्रह्म ही है; घी चाहे जमा हो, चाहे पिघला हो–है सब घी ही ! ॥ ३८ ॥ इस पर कोई उत्तर देता है कि, परमात्म–स्वरूप में ' जमा ' और 'पिघला' कहीं नहीं कहा; उसके लिए तुम्हारा यह दृष्टान्त लग नहीं सकता ॥ ३९ ॥ कोई कहता है ' सर्वब्रह्म ' का मर्म जिसे नहीं मालूम होता, समझ लो कि, उसके चित्त का भ्रम अभी गया ही नहीं है ॥ ४० ॥ कोई कहता है कि ईश्वर तो एक ही है, वहां 'सर्व' कहां से लाये ? सर्वब्रह्म तो अपूर्व आश्चर्य मालूम होता है ! ॥ ४१ ॥ कोई कहता है कि, सच्चा एक ही है; दूसरा कुछ है ही नहीं–इस प्रकार स्वाभाविक ही ' सर्व ब्रह्म है ! ॥ ४२ ॥ कोई, शास्त्र के आधार से, कहता है कि, सब एकदम मिथ्या है; अब जो कुछ बचा, वही सच्चा ब्रह्म है ॥ ४३ ॥ कोई कहता है कि, अलंकार और सोने में कोई भेद नहीं है–अर्थात् सोना भी सोना ही है और सोने का अलंकार भी सोना ही है–विवाद में क्यों व्यर्थ परिश्रम करते हो ! ॥ ४४ ॥ इस पर कोई उत्तर देता है:—यह हीन और एकदेशी उपमा ' वस्तु ' से कैसे लग सकती है ? वर्णव्यक्त और अव्यक्त से बराबरी नहीं हो सकती ! ॥४५॥ सुवर्ण को देखने से जान पड़ता है कि, उसमें आदि ही से व्यक्तता है। सोने का अलंकार (आभूषण) देखने से सोना ही देख पड़ता है ॥ ४६ ॥ अर्थात् सोना आदि से ही व्यक्त है । वह जड़, एकदेशीय और पीला है। ऐसे अपूर्ण का दृष्टान्त, पूर्णब्रह्म के लिए, कैसे दिया जा सकता है ? ॥४७॥ इस पर फिर वही उत्तर देता है:–समझाने के लिए एकदेशीय दृष्टान्त भी देना पड़ता है । सिन्धु और लहर में भिन्नता कहां है ? ॥४८॥ उत्तम, मध्यम और निकृष्ट, तीन प्रकार के दृष्टान्त होते हैं–किसी दृष्टान्त से तथ्य मालूम हो जाता है और किसी से व्यर्थ ही सन्देह बढ़ता है ॥४९॥ इस पर दूसरा कोई कहता है, कैसा सिन्धु और कहां की लहर ! अचल से कहीं चल की बराबरी की जा सकती है ? माया को सत्य नहीं मानना चाहिए ! ॥५०॥ कोई कहता है कि, माया कल्पना है । यह लोगों को नाना प्रकार का भास दिखाती है । यों तो इसे ब्रह्म ही समझना चाहिए ! ॥५१॥ इस प्रकार, आपस में वाद-विवाद होने के कारण मूल आशंका रह गई । अच्छा, अब आगे वही, सावधान होकर, सुनिये ॥ ५२ ॥

माया तो मिथ्या मालूम हो चुकी; पर वह ब्रह्म में कैसे हुई ? यदि कहा जाय कि, ' निर्गुण ' ने बनाई है, तो फिर वह आदि से ही मिथ्या है ! ॥ ५३ ॥ मिथ्या शब्द से तो यह अर्थ निकलता है कि, वह कुछ है ही नहीं–तो फिर बनाया क्या और किसने ? निर्गुण के तईं कर्तृत्व होना ही अघटित ही बात है ! ॥ ५४ ॥ एक तो, कर्ता, आदि से ही, अरूप है;

अर्थात् जो कुछ (माया) उसने बनाया उसका भी अस्तित्व नहीं! तथापि श्रोताओं का आक्षेप दूर करेंगे! ॥ ५६ ॥

तीसरा समास—निर्गुण में माया कैसे हुई ?

॥ श्रीराम ॥

अरे, जो हुआ ही नहीं उसकी बात क्या कही जाय? तथापि, संशय दूर करने के लिए, बतलाते हैं॥ १॥ डोरी से सर्प, जल से लहर और सूर्य से मृगजल का भास होता है॥ २॥ कल्पना से स्वप्न देख पड़ता है, सिपी से चांदी भासती है और जल से ओला होता है॥ ३॥ मिट्टी से दीवाल बनती है, समुद्र के कारण लहर आती है और आंख के तिल से दृश्य देख देख पड़ता है॥ ४॥ सोने से अलंकार, तंतु से वस्त्र और कुछुए के अस्तित्व से, उसके हाथ-पैरों का विस्तार होता है॥ ५॥ घी है, तभी वह पिघलता है, खारे पानी से नमक निकलता है और विम्ब से प्रतिबिम्ब पड़ता है॥ ६॥ पृथ्वी से वृक्ष होता है, वृक्ष से छाया होती है और धातु (वीर्य) से ऊंच-नीच वर्णों की उत्पत्ति होती है॥ ७॥

अस्तु। अब ये दृष्टान्त बहुत हुए। अद्वैत में द्वैत कहां से आया; और द्वैत के बिना अद्वैत बतलाते क्यों नहीं बनता? ॥ ८॥ जब किसी वस्तु का भास है, तभी तो वह भासता है। और, दृश्य होता है तभी तो वह दिखता है; परन्तु, अदृश्य का यह हाल नहीं है; इसी लिए अदृश्य की कोई उपमा नहीं होती—यह अनुपम होता है॥९॥ कल्पना के बिना हेतु, दृश्य के बिना दृष्टान्त और द्वैत के बिना अद्वैत कैसे हो सकता है? ॥१०॥ जिस भगवंत की विचित्र करनी शेष भी वर्णन नहीं कर सकता उसीने इस अनन्त ब्रह्मांड की रचना की है॥११॥ उस परमात्मा, परमेश्वर, के द्वारा ही यह सृष्टि विस्तृत हुई है—वह ईश्वर ही सर्वकर्ता है॥१२। उसके अनन्त नाम हैं। उसने अनन्त शक्तियां निर्माण की हैं। वही मूलपुरुष है॥ १३॥ उस मूल-पुरुष की पहचान, वह स्वयं मूलमाया ही है। अतएव, सब कर्तृत्व उसीमें आता है॥ १४॥

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥

परन्तु यह खुल्लम-खुल्ला नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इससे (अर्थात्

मूलपुरुष को द्वैत की उपमा दे देने से) बोलना, चलना, श्रवण, मनन, आदि, ब्रह्मप्राप्ति के उपाय ही, नष्ट होते हैं, यों तो देखने में क्या सच है? ॥ १५ ॥ यह तो सभी मानते हैं कि, परमात्मा से सब हुआ है, पर उस परमात्मा को तो पहचानना चाहिए ॥ १६ ॥ सिद्धों का निरूपण साधकों के काम का नहीं है; क्योंकि उनका अन्तःकरण पक्व नहीं होता ॥ १७ ॥ अविद्या के कारण (पिंडरूप उपाधि धारण करनेवाले को) जीव कहते हैं और माया के कारण (ब्रह्मांड की उपाधि धारण करनेवाले को) शिव कहते हैं और मूलमाया के गुण से परमेश्वर ब्रह्म कहलाता है ॥ १८ ॥ अतएव, अनन्त शक्तियों का धारण करनेवाली मूलमाया ही है। इसका अर्थ अनुभवी पुरुष ही जान सकते हैं ॥ १९ ॥ मूलमाया ही मूलपुरुष है—वही सब का ईश्वर है। अनन्त नामी जगदीश उसीको कहते हैं ॥ २० ॥ यह सम्पूर्ण विस्तृत माया बिलकुल मिथ्या है। इसका मर्म बहुत कम लोग जानते हैं ॥ २१ ॥ वास्तव में ये बातें अनिर्वाच्य हैं; परन्तु हम यहां पर बतला रहे हैं! यों तो स्वानुभव से ही इन्हें जानना चाहिए। ये बातें संत-संग के बिना, कदापि नहीं समझ में आतीं ॥ २२ ॥ अस्तु। साधकों को यह शंका हो सकती है कि, माया ही मूलपुरुष कैसे है? अच्छा, यदि नहीं है तो फिर अनन्तनामी जगदीश किसे कहेंगे? ॥ २३ ॥ क्योंकि नाम और रूप तो माया ही तक हैं; अतएव उपर्युक्त कथन में कोई सन्देह की बात नहीं ॥ २४ ॥ अस्तु; पिछली यह आशंका रही जाती है कि, निराकार में मूल माया कैसे हुई! अच्छा सुनिये ॥ २५ ॥

दृष्टिबन्धन (नजरबन्दी) के खेल की तरह यह सब माया मिथ्या है; परन्तु, अब यह बतलाते हैं कि, वह नजरबन्दी का खेल—माया का कौतुक—होता किस प्रकार है? ॥ २६ ॥ निश्चल आकाश में जिस प्रकार चञ्चल वायु उत्पन्न होती है उसी प्रकार अचल और निराकार स्वरूप में मूलमाया होती है ॥ २७ ॥ परन्तु यह कभी नहीं हो सकता कि, वायु के होने से आकाश की निश्चलता में, किसी प्रकार की बाधा आवे ॥ २८ ॥ इसी तरह मूलमाया के होने से, परमात्मा की निर्गुणता में भी, किसी प्रकार की, बाधा नहीं आती। इस दृष्टान्त से पिछला संशय मिट जाता है ॥२९॥ अब, कुछ यह बात नहीं कि, वायु पहले ही से हो। इसी तरह मूलमाया भी कुछ पुरातन नहीं हो सकती; क्योंकि उसे यदि सत्य मानें तो वह फिर भी लीन हो सकती है! ॥ ३० ॥ वायु की ही तरह मूलमाया का भी रूप जानना चाहिए। वह भास होती है; परन्तु देखने में नहीं आती ॥ ३१ ॥ वायु को आप सत्य कहा करें; परन्तु क्या वह कभी दृष्टि में आती है? उसकी ओर देखने से तो सिर्फ उड़ती हुई धूल (या हिलती हुई पत्तियां)

देखने में आती हैं ॥ ३२ ॥ बस, वायु की ही तरह मूलमाया भी भासती है; पर दिखती नहीं। उसके बाद अविद्या माया का विस्तार है ॥ ३३ ॥ जैसे वायु के योग से दृश्य (धूल आदि) आकाश में दिखता है, वैसे ही, मूलमाया के योग से, यह जगत् बनता है ॥ ३४ ॥ आकाश में जिस प्रकार मेघाडम्बर अकस्मात् आ जाते हैं, उसी प्रकार, माया के ही गुण से, यह जगत् बना है ॥ ३५ आकाश में जिस प्रकार एकाएक नश्वर मेघ आजाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म में यह मिथ्या माया उत्पन्न हो जाती है ॥ ३६ ॥ इस मेघाडम्बर के कारण जान पड़ता है कि आकाश की निश्चलता चली गई है; पर ऐसा नहीं है—वास्तव में आकाश वैसा ही बना रहता है ॥ ३७ ॥ वैसे ही माया के कारण जान पड़ता है कि निर्गुण, सगुण हो गया; पर ऐसा नहीं है—वह वैसा ही, जैसा का तैसा, बना रहता है ॥ ३८ ॥ बादल आते हैं और चले जाते हैं; पर तौ भी आकाश जिस प्रकार अपने पूर्वरूप में बना रहता है, वैसे ही माया आती है और जाती है; पर निर्गुण ब्रह्म में माया के कारण, गुण नहीं आता है-वह जैसा का तैसा ही बना रहता है ॥३९॥ जिस प्रकार आकाश, पर्वत के शिखरों पर रखा हुआ सा दिखाई देता है; पर वास्तव में वह केवल भास है, उसी प्रकार निर्गुण भी, माया के कारण, सगुण भास होता है; परन्तु वास्तव में वह निर्गुण ही है ॥ ४० ॥ ऊपर, आकाश की ओर, देखने से नीलिमा (नीलापन) फैली हुई सी देख पड़ती है; पर उसे मिथ्याभास जानना चाहिए ॥४१॥ मालूम होता है कि आकाश औंधा हुआ चारों ओर से घिरा है और सम्पूर्ण विश्व को बन्द किये हुए है; पर वास्तव में ऐसा नहीं है, वह चारों ओर से खुला हुआ ही है ॥ ४२ ॥ दूर से देखने पर पर्वतों में नीलारंगसा देख पड़ता है; पर वह वास्तव में उनमें नहीं है। इसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म में भी गुणों का भास होता है; पर वास्तव में वह उनसे अलिप्त है ॥ ४३ ॥ रथ (अथवा आजकल रेल गाड़ी) दौड़ते समय पृथ्वी चलती हुई मालूम होती है; पर सचमुच में है वह निश्चल—इसी प्रकार परब्रह्म निर्गुण और केवल है ॥ ४४ ॥ बादल के कारण, चन्द्र दौड़ता सा मालूम होता है; पर यह सब मिथ्या है; बादल दौड़ता है ! ॥ ४५ ॥ उष्ण वायु (लू) अथवा अग्निज्वाला (आग की लपट) से अन्तराल (वातावरण) कम्पित सा मालूम होता है; पर यह भ्रम है—वह जैसा का तैसा निश्चल रहता है ॥ ४६ ॥ वैसे ही परब्रह्म का स्वरूप, निर्गुण होने पर भी, माया के कारण सगुणसा मालूम होता है; पर यह केवल कल्पना का भ्रम है ॥ ४७ ॥

दृष्टिबन्धन (नजरबन्दी) के खेल के समान यह माया चञ्चल या मिथ्या है; और ' वस्तु ' जैसी की तैसी शाश्वत और निश्चल है ॥ ४८ ॥ परन्तु

माया निराकार 'वस्तु' को साकार बनाती है—इसका ऐसा ही स्वभाव है—यह बड़ी ढोंगिन है ! ॥ ४९ ॥ माया देखने में तो कुछ भी नहीं है; पर यह सच सी भासती है—यह मेघाडम्बर की तरह उद्भूत होती है और नाश होती है ॥ ५० ॥ इस प्रकार, माया उद्भूत होती है; पर 'वस्तु' निर्गुण बनी रहती है । ब्रह्म में अहंरूप जो स्फूर्ति होती है वही माया है ॥ ५१ ॥ गुण तो माया के खेल हैं–निर्गुण में गुण आदि कुछ भी नहीं है; परन्तु यह (माया) सत्स्वरूप में उत्पन्न और नाश हुआ करती है* ॥ ५२ ॥ जिस प्रकार दृष्टि के चकाचौंध से आकाश में सेना, या एक प्रकार के पुतले में नाचते हुए देख पड़ते हैं; पर ये हैं मिथ्या ॥ ५३ ॥ उसी प्रकार यह सब माया का खेल मिथ्या है । अस्तु । यह उसका सारा उद्भव, नाना तत्वों का पचाड़ा छोड़ कर, बतला दिया गया ॥ ५४ ॥

पञ्चमहातत्त्व आदि से ही, मूलमाया में रहते हैं । ओंकार वायु की गति है—अर्थात स्फूर्ति ही वायु का रूप है । इसका अर्थ दक्ष ज्ञानी पुरुष जानते हैं ॥ ५५ ॥ मूलमाया का चलन ही वायु का लक्षण है । मूल के सूक्ष्म तत्त्व ही आगे चल कर जड़त्व को प्राप्त होते हैं ॥ ५६ ॥ वे पञ्चमहाभूत, जो पहले मूलमाया में अव्यक्त थे, सृष्टि–रचना में व्यक्त हो जाते हैं ॥ ५७ ॥ मूलमाया का लक्षण भी पंचभौतिक ही है–उसकी पहचान सूक्ष्म दृष्टि से करना चाहिए ॥ ५८ ॥ आकाश और वायु के बिना मूलमाया में स्फूर्ति और इच्छा कहां से आ सकती है ? (अतएव आकाश और वायु मूलमाया में हैं) तथा उसमें इच्छाशक्ति होना तेज का लक्षण हुआ ॥ ५९ ॥ इसके सिवा, उसमें जो मृदुता है वही जल है और जड़ता पृथ्वी का लक्षण है; इस प्रकार पांचों महाभूत मूलमाया में होते हैं, अतएव मूलमाया पंचभौतिक ही ठहरी ! ॥ ६० ॥ इतना ही नहीं, बल्कि एक एक भूत में पांचो पाँच भूत रहते हैं । यह बात सूक्ष्म दृष्टि से मालूम हो सकती है ॥ ६१ ॥ आगे चल कर वे स्थूलरूप में आते हैं, तब भी सब आपस में मिले ही रहते हैं । एवं, यह सब पंचभूतात्मक माया फैली हुई है ॥ ६२ ॥ आदि की मूलमाया में, भूमंडल की अविद्या (माया) में, स्वर्ग–मृत्यु–पाताल में, पांच ही भूत हैं ॥ ६३ ॥

---

* गुण तो सिर्फ माया का पसारा है, निर्गुण में यह कुछ नहीं होता; किन्तु उसके अधिष्ठान या साक्षित्व से यह सब होता, जाता है । जिस प्रकार रस्सी के अधिष्ठान से, भुजंग का भास होता है; पर वास्तव में रस्सी, रस्सी ही है; उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म में यह माया होती और जाती है; पर निर्गुण, निर्गुण ही बना रहता है ।

स्वर्गे मृत्यौ च पाताले यत्किंचिन्सचराचरम् ।
सर्व तत्पंचभौतिक्य षष्ठं किंचिन्न दृश्यते ॥ १ ॥

आदि अन्त में (और सब में) सत्यस्वरूप है, और बीच में पंचमहाभूत बर्तते हैं; और यही पंचभूतात्मक मूलमाया का स्वरूप है ॥ ६४ ॥ यहां एक आशंका उठती है कि पंचभूत तो तमोगुण से हुए हैं और मूलमाया गुणों से परे है; अतएव वह पंचभूतात्मक कैसे हो सकती है? अस्तु। इस शंका का समाधान अगले समास में किया गया है ॥ ६५-६७ ॥

चौथा समास—सूक्ष्म पंचमहाभूत ।

॥ श्रीराम ॥

अब स्पष्टरूप से पिछली आशंका का समाधान किया जायगा, इस लिए श्रोता लोग पल भर वृत्ति ठीक करें ॥ १ ॥ पहले, ब्रह्म में मूलमाया हुई और फिर, उससे गुणमाया हुई, इसी लिए उसे गुणक्षोभिणी कहते हैं ॥२॥ उससे फिर सत्व-रज-तम नामक तीन गुण हुए। इसके बाद तमोगुण से पंचमहाभूत बने ॥ ३ ॥ इस प्रकार भूत उद्भूत हुए और फिर, आगे चल कर, यही सूक्ष्म भूत सृष्टि के रूप में विस्तृत हुए—एवं, तमोगुण से पंचमहाभूत हुए॥४॥ श्रोताओं ने पीछे जो यह आशंका उठाई कि जब मूलमाया गुणों से अलग है तब वहां भूत कहां से आये, इसका अब समाधान करते हैं ॥५॥ और साथ ही यह भी बतलाते हैं कि एक एक भूत में पांचों पाँच भूत कैसे रहते हैं ॥ ६ ॥ सूक्ष्म दृष्टि का कौतुक, और पंचभौतिक मूलमाया की स्थिति, सुनने के लिए अब श्रोताओं को अपना विवेक विमल कर रखना चाहिए ॥ ७ ॥ पहले पहल भूतों का रूप पहचानना चाहिए और फिर, सूक्ष्म दृष्टि से, उन्हें खोज कर देखना चाहिए ॥ ८ ॥ परन्तु जब तक किसी बात की पहचान न मालूम हो तब तक वह कैसे पहचानी जा सकती है, अतएव श्रोताओं को प्रथम पंचमहाभूतों की कुछ पहचान सुन लेना चाहिए ॥ ९ ॥

जितना कुछ जड़ और कठिन है वह पृथ्वी का लक्षण है; जितना कुछ मृदु और गीलापन है वह पानी है ॥१०॥ जितना कुछ उष्ण और तेजयुक्त है वह सब अग्नि है ॥ ११ ॥ जो कुछ चैतन्य और चञ्चल है वह सब केवल वायु है; तथा जो कुछ शून्य, निश्चल और अवकाश देख पड़ता है वह सब आकाश है ॥ १२ ॥ यह तो पंचमहाभूतों की संक्षिप्त पहचान हुई। अब

अब सूक्ष्म विचार बतलाते हैं कि एक एक भूत में पाँचो पांच भूत कैसे पैठे हुए हैं और त्रिगुण से परे कौन है। इसे ध्यानपूर्वक सुनिये ॥ १३-१४ ॥

अच्छा, अब पहले यह बतलाते हैं कि सूक्ष्म आकाश में पृथ्वी किस प्रकार घुसी है। श्रोता लोगों को यहां अपनी धारणाशक्ति स्थिर रखना चाहिए* ॥ १५ ॥ आकाश कहते हैं अवकाश को; अवकाश कहते हैं शून्य को; शून्य कहते हैं अज्ञान को; अज्ञान कहते हैं जड़ता को—यही जड़ता, (आकाश में) पृथ्वी हुई ॥ १६ ॥ आकाश में जो मृदुता है वही 'आप' का लक्षण है, अतएव आकाश में जल अवश्य है ॥ १७ ॥ अज्ञान से आकाश में जो शून्यत्व का भास जान पड़ता है वह भास ही, 'तेज' का लक्षण है, इस लिए आकाश में अग्नि भी है ॥ १८ ॥ अब, वायु और आकाश में कुछ बहुत भेद नहीं है, क्योंकि वायु में भी आकाश ही की तरह स्तब्धता है। अतएव आकाश में जो स्तब्धता है वही 'वायु' का लक्षण है ॥ १९ ॥ अब रहा आकाश में आकाश—सो यह बतलाने की आवश्यकता ही नहीं है कि आकाश में आकाश है ही। अस्तु; यह सिद्ध होगया कि आकाश में पांचों महाभूत हैं ॥ २० ॥ अब स्थिरचित्त होकर क्रमशः यह सुनिये कि वायु में पञ्चभूत कैसे मिले हुए हैं ॥ २१ ॥ जिस प्रकार किसी हलकी से भी हलकी वस्तु में जड़ता होती है उसी प्रकार वायु में भी जड़ता है; क्योंकि उसका झोंका लगने से वृक्ष गिर जाते हैं। और यही जड़ता पृथ्वी का लक्षण है; अतएव वायु में पृथ्वी है ॥ २२ ॥ २३ ॥ अथवा यों कहिये कि वायु में जो शक्ति है वही उसमें पृथ्वी का लक्षण है ॥ २४ ॥ जैसे आग की छोटी से छोटी चिनगारी में भी कुछ न कुछ उष्णता होती ही है वैसे ही वायु में भी जड़ता (पृथ्वी का अंश) सूक्ष्मरूप से ही है ॥ २५ ॥ अब, वायु में जो कोमलता है वही उसमें जल है; और उसका जो कुछ भास है वही अग्नि का स्वरूप है; तथा वायु में, चञ्चल रूप से, वायु तो स्वाभाविक ही वर्तमान है ॥ २६ ॥ और, अवकाशरूप से आकाश वायु में सहज ही मिला हुआ है; इस प्रकार वायु में भी पांचों भूतों का होना साबित है ॥ २७ ॥ अच्छा, अब तेज में

---

* यहां एक बात का बतला देना आवश्यक है, कि आगे, जब एक एक भूत में पांचों भूतों का होना बतलाया जायगा, श्रोताओं को अपनी पंचभूतात्मक देह में ही उसके मिश्रण को ध्यानपूर्वक देखना चाहिए—बाहरी आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी की ओर ध्यान रख कर मिश्रण देखने से उतना स्पष्ट न जान पड़ेगा जितना कि देह की ओर ध्यान रखने से।

पांचो भूत सुनिये: तेज में जो प्रखरता का भास है वही उसमें पृथ्वी है ॥ २८ ॥ और अग्नि का भास, जो मृदु जान पड़ता है, वही उसमें जल का अंश है। अब यह बतलाने की आवश्यकता ही नहीं कि तेज में तेज तो स्वयं है ही ॥ २९ ॥ अब अग्नि में जो चञ्चलता है वही वायु है: और जो स्तब्धता है वही आकाश है। इस प्रकार तेज में भी पञ्चभूतों का अस्तित्व है ॥ ३० ॥ अब 'आप' में पञ्चभूत देखिये: वास्तव में मृदुता ही आप का लक्षण है और मृदुता में जो कठिनता का भास होना है वही जल में पृथ्वी का है ॥ ३१ ॥ अब. जल में जल तो है ही! इसके सिवाय मृदुता (जलांश) में तेज भी मृदु-रूप से भासता है और उसमें जो स्तब्धता होती है वही वायु है ॥ ३२ ॥ अब जल में आकाश के बतलाने की जरूरत ही नहीं: क्योंकि वह तो स्वाभाविक ही सब में व्याप्त है। अस्तु। आप में भी पञ्चभूतों का होना स्पष्ट है ॥ ३३ ॥ अब पृथ्वी में पञ्चभूतों को लीजिए: पृथ्वी में जो कठिनता है वही पृथ्वी में पृथ्वी का लक्षण है। उस कठिनता में जो मृदुता है वही पृथ्वी में आप है ॥ ३४ ॥ अब, पृथ्वी में जो कठिनता का 'भास' है वही 'भास' अग्नि का अंश और कठिनता (पृथ्वी का लक्षण) में जो निरोध का लक्षण है वही पृथ्वी में वायु है ॥ ३५ ॥ और यह बात प्रकट ही है कि आकाश सब की तरह पृथ्वी में भी है। जब कि आकाश ही में पञ्चभूतों का भास है तब फिर आकाश का अन्य चार भूतों में होना कोई आश्चर्य की बात नहीं ॥ ३६ ॥ क्योंकि आकाश ऐसा सूक्ष्म है कि वह न तोड़ने से टूटता है: न फोड़ने फूटता है: और न तिलमात्र कहीं से हटता है ॥ ३७ ॥ अस्तु। पृथ्वी में भी पांचों भूतों का होना सिद्ध है और इस प्रकार, प्रत्येक महाभूत में पांचों पाँच भूत उपस्थित हैं ॥ ३८ ॥ परन्तु यह बात ऊपर ऊपर से नहीं मालूम होती: किन्तु मन में बड़ा सन्देह होता है और भ्रान्तिवश, इस बात पर, विवाद करने का अभिमान भी आ जाता है ॥ ३९ ॥

यद्यपि यों तो वायु में और कुछ नहीं जान पड़ता: तथापि, सूक्ष्म वायु में भी, खोजने पर, पञ्चमहाभूतों का अस्तित्व पाया जाता है ॥ ४० ॥ और यही पञ्चभूतात्मक वायु मूलमाया है। इसीमें सूक्ष्म त्रिगुण हैं: अतएव माया और त्रिगुण, सब पञ्चभौतिक ही हैं ॥ ४१ ॥ इस प्रकार पञ्चमहाभूत, और त्रिगुण, मिल कर अष्टधा प्रकृति बनी है। अतएव त्रिगुणों के साथ वह भी पञ्चभौतिक ही समझिये ॥ ४२ ॥ खोज कर देखे बिना सन्देह रखना मूर्खता है। इस लिए सूक्ष्मदृष्टि से इसका विचार करना चाहिए ॥ ४३ ॥ माया में जो सूक्ष्म पञ्चभूत थे वे त्रिगुणों से मिल कर

स्पष्ट दशा को प्राप्त हुए; और फिर जड़त्व पाकर स्थूल पञ्चतत्त्वों के रूप में हुए ॥ ४४ ॥ फिर उन स्थूल पञ्चतत्त्वों से यह पिण्ड, ब्रह्माण्ड, इत्यादि की रचना हुई ॥ ४५ ॥ अस्तु। ऊपर जो पञ्चमहाभूतों का मिश्रण, सूक्ष्म रीति से, बतलाया गया वह सब ब्रह्माण्ड बनने के पहले की हालत है* ॥ ४६ ॥ ब्रह्माण्ड या सृष्टि की रचना के पहले मूलमाया थी। उसका सूक्ष्म दृष्टि से विचार करना चाहिए ॥ ४७ ॥ (पञ्चतत्व, अहंकार और महत्तत्त्व मिल कर) यह सप्तकंचुकी प्रचण्ड ब्रह्माण्ड (त्रैलोक्य) तब नहीं हुआ था; यह सब माया-अविद्या का गड़बड़ इसी ओर की बात है (अर्थात् ऊपर जो कुछ बतलाया वह इसके पहले का हाल है) ॥ ४८ ॥ ब्रह्मा-विष्णु-महेश का होना भी इसी तरह की बात है; पृथ्वी, मेरु, सप्तसागर सब इसी ओर के हैं (अर्थात् ये सब पीछे उद्भूत हुए हैं) ॥ ४९ ॥ अनेक लोक, नाना प्रकार के स्थान, चन्द्र, सूर्य, तारागण, सप्तद्वीप, चौदह भुवन—ये सब पीछे से हुए हैं ॥ ५० ॥ शेष, कूर्म, सप्तपाताल, इक्कीस स्वर्ग, आठ दिक्पाल और तैंतीस करोड़ देवता—ये सब पीछे की बातें हैं ॥ ५१ ॥ बारह सूर्य, ग्यारह रुद्र, नव नाग, सप्त ऋषि और नाना देवताओं के अवतार—सब पीछे से हुए हैं ॥ ५२ ॥ मेघ, चक्रवर्ती-मनु और नाना प्रकार के जीवों की उत्पत्ति, इत्यादि बहुत विस्तार है; कहाँ तक बतलाया जाय—यह सब पीछे से हुआ है ॥ ५३ ॥ अर्थात् इस सम्पूर्ण विस्तृत ब्रह्माण्ड का मूल वही, पीछे बतलाई हुई, पञ्चभौतिक मूलमाया ही है ॥ ५४ ॥ जिन सूक्ष्म भूतों का वर्णन अभी किया, वही आगे चल कर जड़त्व या स्थूल रूप को प्राप्त हुए। उनका वर्णन अगले समास में, अलग अलग, विस्तृत रीति से किया गया है। श्रोता लोगों को उन पर पूर्ण विचार करना चाहिए ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ इससे पञ्चभूतात्मक ब्रह्माण्ड का हाल अच्छी तरह मालूम हो सकता है और उसके बाद इस मिथ्या 'दृश्य' को छोड़ कर निराकार 'वस्तु' पा सकते हैं ॥ ५७ ॥ जैसे महाद्वार को पार करके देवदर्शन ले सकते हैं वैसे ही इस दृश्य का विवेक करके, इसे छोड़ कर, तब फिर परमात्म-दर्शन पा सकते हैं ॥ ५८ ॥ यह सम्पूर्ण दृश्य पञ्चभूतमय हो रहा है—दृश्य और पञ्चभूत एक दूसरे में लिपटे हुए हैं ॥ ५९ ॥ इस प्रकार यह सारी दृश्य सृष्टि पञ्चभूतों की ही हुई है। इसका वर्णन आगे सुनिये ॥ ६० ॥

---

* मूलमाया पंचभौतिक है; परंतु ये पंचभूत मूलमाया के सूक्ष्मरूप में हैं। इसके बाद गुणमाया, त्रिगुण, सूक्ष्मभूत और स्पष्ट या स्थूलभूत (जिन्हें श्री समर्थ ने तत्त्व कहा है) क्रमशः निर्माण हुए। परन्तु ऊपर जो एक एक भूत में पंचभूतों का मिश्रण बतलाया वह सूक्ष्म भूतों का है, तब यह ब्रह्माण्ड निर्माण न हुआ था।

पाँचवाँ समास—स्थूल पंचमहाभूत।

॥ श्रीराम ॥

प्रस्तुत विषय बहुत कठिनता से समझ में आता है। इसी लिए फिर स्पष्ट करके बतलाते हैं ॥ १ ॥ पञ्चभूतों का जो यह मिश्रण हो गया है वह कुछ अब अलग अलग नहीं हो सकता; तथापि कुछ स्पष्ट करके बतलाते हैं ॥ २ ॥

नाना प्रकार के छोटे बड़े पर्वत, पत्थर, शिला, शिखर और कंकड़पत्थर, इत्यादि, पृथ्वी है ॥ ३ अनेक स्थानों में जो नाना रंग की मिट्टी और बालू आदि है वह सब पृथ्वी है ॥ ४ ॥ बड़े बड़े सुन्दर गाँव, नगर, मन्दिर, महल, सप्तद्वीप, नवखण्ड तक, सब पृथ्वी ही है ॥ ५ ॥ ६ ॥ अनेक देवता और नृपति; बहुत भाषाओं के बोलनेवाले और नाना प्रकार की रीतिरवाजवाले, यहाँ तक कि चौरासी लाख योनियों के सम्पूर्ण जीव—जितने देहधारी हैं—सब पृथ्वी ही जानना चाहिए ॥ ७ ॥ अनेक वीरान जंगल, हरे भरे जंगल, गिरिकन्दर, इत्यादि नाना प्रकार के स्थान, सब पृथ्वी है ॥ ८ ॥ अनेक प्राकृतिक स्थल, तथा नाना प्रकार के मनुष्यकृत स्थान, सब पृथ्वी है ॥ ९ ॥ सुवर्ण आदि अनेक धातु, नाना प्रकार के रत्न, बहुत तरह के वृक्ष, आदि काठ, सब पृथ्वी है ॥ १० ॥ सारांश, जितना कुछ जड़ और कठिन है वह सब निस्सन्देह पृथ्वी ही है ॥ ११ ॥ अस्तु। पृथ्वी का रूप तो, साधारण तौर पर, बतला दिया। अब 'आप' का भी लक्षण संक्षिप्त रीति से, सावधान होकर, सुनिये:—॥ १२ ॥

बापी, कूप, सरोवर और सरिताओं का जल, मेघ और सप्तसागर—यह सब मिल कर आप है ॥ १३ ॥

क्षारक्षीरसुरासर्पिर्दधिइक्षुर्जलं तथा।

क्षारसमुद्र तो सब लोग प्रायः देखते ही हैं। उसीके जल से नमक बनता है ॥ १४ ॥ एक दूध का समुद्र है। उसे "क्षीरसागर" कहते हैं। यह समुद्र भगवान् ने उपमन्यु को दिया है ॥ १५ ॥ इनके सिवाय मद्य, दधि, इक्षुरस और शुद्ध जल के भी समुद्र हैं। ये सातों समुद्र पृथ्वी को घेरे हुए हैं! ॥ १६ ॥ १७ ॥ इस प्रकार जितना जल है वह सब आप है ॥ १८ ॥ पृथ्वी के भीतर और पृथ्वी के ऊपर तथा तीनों लोक में जितना जल है वह सब आप है ॥ १९ ॥ अनेक प्रकार की बेलों और वृक्षों का रस, मधु, पारा, अमृत, विष, आदि सब आप हैं ॥ २० ॥ नाना प्रकार

के रसः घी, तेल इत्यादि चिकनाईः शुक्र, रक्त, मूत्र, लार, स्वेद, श्लेष्मा, अश्रु, इत्यादि, जितना कुछ आर्द्र है, वह सब आप है ॥ २१-२४ ॥

अच्छा, अब 'तेज' का लक्षण सुनियेः-चन्द्र, सूर्य, तारागण, तेजस्वी दिव्य देह, इत्यादि 'तेज' के रूप हैं ॥ २५ ॥ साधारण अग्नि, बादल की बिजली, प्रलयाग्नि, बड़वानल, रुद्राग्नि, कालाग्नि, भूगर्भाग्नि, आदि सब तेज है ॥ २६ ॥ २७ ॥ तात्पर्य जितना कुछ तेजस्वी, प्रकाशित, उष्ण और प्रखर है वह सब तेज है ॥ २८ ॥

वायु का मुख्य लक्षण चञ्चलता है । वह चैतन्यस्वरूप है। सब को चेतना देता है । हिलना-डुलना, बोलना-चालना, इत्यादि, सृष्टि के बहुत से व्यापार, उसीसे होते हैं ॥ २८ ॥३०॥ जितना कुछ चलन, वलन, प्रसरण, निरोधन, आकुंचन है वह सब चंचलरूपी 'वायु' ही है॥ ३१ ॥ प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान ये पांच प्राण, और नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय ये पांच उपप्राण, इत्यादि, जितना कुछ चलन है, वह सब वायु का लक्षण है । चन्द्र, सूर्य और तारागण भी आकाश में वायु के कारण ही स्थित हैं ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

अब 'आकाश' देखियेः जितना कुछ पोला, निर्मल, निश्चल और अव-काशरूप है उस सब को 'आकाश' जानना चाहिए ॥ ३४ ॥ आकाश सब में व्यापक हैः आकाश अनेक में एक हैः और आकाश ही में शेष चारों भूत खेल रहे हैं ॥ ३५ ॥ आकाश सब भूतों में श्रेष्ठ है, वह सब से बड़ा है, वह निराकार स्वरूप के समान है ॥ ३६ ॥ इस पर शिष्य ने शंका की कि, "जब दोनों का रूप समान ही है तब फिर आकाश ही को ब्रह्म क्यों न कहा जाय ? ॥ ३७ ॥ जब आकाश और ब्रह्म में कुछ भेद ही नहीं है तब फिर आकाश को स्वतःसिद्ध 'वस्तु' ही क्यों न कहें ? ॥ ३८ ॥ जैसे 'वस्तु' (ब्रह्म) अचल, अटल, निर्मल और निश्चल है वैसे ही आ-काश भी है-वह केवल 'वस्तु' के ही सदृश है" ॥ ३९ ॥ इस पर वक्ता उत्तर देता है:-'वस्तु' निर्गुण शाश्वत हैः और आकाश में काम, क्रोध, शोक, मोह, भय, अज्ञान और शून्यत्व, ये सात प्रकार के गुण शास्त्रों में कहे हैं । इसी कारण आकाश की भूतों में गणना हुई है और निर्गुण स्वरूप निर्विकार तथा निरुपम है ॥ ४०-४२ ॥ कांच से जड़ी हुई पृथ्वी और जल बिलकुल एक ही से मालूम होते हैं, परन्तु चतुर लोग जानते हैं कि यह कांच है, और यह जल है ॥ ४३ ॥ कहीं रुई के बीच में एक स्फटिक पत्थर पड़ गया थाः लोगों ने जाना यह सब रुई ही हैः एक दिन एक मनुष्य रुई के धोखे उस पर कूदा-उसका कपालमोक्ष (शिर फूटना) हो गया। यह बात कपास से कैसे हो सकती है ? ॥ ४४ ॥ चांवलों में सफेद कंकड़ कोई

क्या चांवल की ही तरह ढेंढ भी होते हैं—वे चांवल चबाते समय जब दांत में पड़ जाते हैं तब मालूम होते हैं ॥ ४५ ॥ त्रिभाग (चूना, बालू और ताग का गारा) का कंकड त्रिभाग ही सा मालूम होता है। ढूँढने से कठिनता के रूप में अलग देख पड़ता है ॥४६॥ गुड़ के समान ही गुड़-पत्थर होता है; परन्तु होता वह बिलकुल कठोर है। नागवेल की लकड़ी और मुलहठी एक ही से होते हैं; पर वे एक नहीं कहे जा सकते ॥ ४७॥ सोना और सोनपीतल (मुलम्मेदार पीतल) दोनों बिलकुल एक ही से मालूम होते हैं; पर पीतल को आग पर तपाने से उसमें कालिमा आ जाती है ॥ ४७ ॥ अच्छा, अब ये हीन दृष्टान्त बस करो। आकाश केवल भूत है, सो वह भूत और अनन्त (ब्रह्म) दोनों एक कैसे हो सकते हैं ? ॥ ४९ ॥ 'वस्तु' में वर्ण ही नहीं है; और आकाश श्यामवर्ण है—तब फिर भला विचक्षण पुरुष दोनों में समता कैसे कर सकते हैं ? ॥ ५० ॥

इस पर श्रोता लोग कहते हैं कि " आकाश बिलकुल अरूप है—आकाश 'वस्तु' ही के रूप का है भेद—नहीं है ॥ ५१ ॥ चारों भूत नश्वर हैं; पर आकाश का नाश नहीं है। आकाश में वर्णव्यक्ति और विकार नहीं है ॥ ५२ ॥ आकाश अचल दिखता है—उसका नाश कहां देख पड़ता है! हमारी राय में तो आकाश शाश्वत है " ॥ ५३॥ ये वचन सुन कर वक्ता उत्तर देता है कि; अच्छा, अब आकाश का लक्षण सुनिये:—॥५४॥ आकाश तमोगुण से हुआ है, इस कारण वह कामक्रोध से वेष्टित है और अज्ञान या शून्यत्व उसका नाम है ॥ ५५ ॥ अज्ञान से काम, क्रोध, मोह, भय, और शोक आदि जो पैदा होते हैं वे सब आकाश ही के लक्षण हैं ॥ ५६ ॥ जिसका कुछ अस्तित्व नहीं है वही शून्य है। इसी अर्थ में अज्ञान प्राणी को हृदयशून्य कहते हैं ॥ ५७ ॥ आकाश स्तब्धता के कारण शून्य है, और शून्य ही अज्ञान है; तथा अज्ञान ही जड़ता का रूप है ॥५८॥ जो कठिन, शून्य और विकारी है उसे शाश्वतस्वरूप कैसे कह सकते हैं ? सिर्फ ऊपर ऊपर देखने में मह सत्स्वरूप के समान जान पड़ता है ॥५९॥ परन्तु आकाश में अज्ञान मिला हुआ है। यह आकाश और अज्ञान का मिश्रण ज्ञान से नाश होता जाता है, अतएव आकाश नश्वर ही है ॥ ६० ॥ यद्यपि आकाश और ब्रह्मस्वरूप देखने में एकरूप मालूम होते हैं; पर दोनों में शून्यत्व का विक्षेप है—(आकाश और स्वरूप में इतना ही भेद है कि, आकाश में शून्यत्व है और स्वरूप में नहीं) ॥ ६१ ॥ ऊपर ऊपर, कल्पना से, देखने पर, दोनों एक ही समान अवश्य जान पड़ते हैं; पर वास्तव में आकाश और ब्रह्म में भेद है ॥ ६२ ॥ उन्मनी और सुषुप्ति अवस्था, वास्तव में एक ही सी जान पड़ती हैं; पर विवेक से देखने पर दोनों में भेद पाया जाता है ॥ ६३ ॥

खोटा पदार्थ खरे के समान जान पड़ता है; पर परीक्षावंत लोग पहचान जाते हैं। हिरने मृगजल को देख कर क्यों भूल जाते हैं? इसी लिए तो कि उन्हें खरे खोटे का ज्ञान नहीं है ॥ ६४ ॥

अस्तु। इन दृष्टान्तों से समझ सकते हैं कि आकाश-भूत परमात्म-स्वरूप दोनों एक नहीं हो सकते ॥ ६५ ॥ आकाश से अलग रह कर हम उसे देख सकते हैं; पर ब्रह्म को देखने के लिए ब्रह्म ही बनना पड़ता है-' वस्तु ' का देखना स्वभाव ही से ऐसा है (अर्थात् जब तक 'वस्तु' से तादात्म्य न होगा तब तक वह नहीं दिख सकती) ॥ ६६ ॥ इतने से आशंका मिट जाती है, सन्देहवृत्ति अस्त हो जाती है। अस्तु। स्वरूप-स्थिति भिन्नता से अनुभव में नहीं आ सकती ॥ ६७ ॥ आकाश अनुभव में आता है; पर स्वरूप अनुभव से अलग है-इस लिए आकाश से उसकी बराबरी नहीं हो सकती ॥ ६८ ॥ दुग्ध के समान ही, उसमें मिला हुआ, जल का अंश जिस प्रकार राजहंस ही निकाल सकते हैं उसी प्रकार ब्रह्म और आकाश का विचार सन्त पुरुष ही जानते हैं ॥ ६९ ॥ सम्पूर्ण माया का गोरख-जाल सन्त-संग से अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। मोक्ष की पदवी सन्त-समागम से ही प्राप्त होती है ॥ ७० ॥

छठवाँ समास-सत्संग और मोक्ष ।

॥ श्रीराम ॥

श्रोता वक्ता से विनयपूर्वक पूछता है कि, "कृपामूर्ते! मुझ दीन को यह बतलाइये कि सत्संग की क्या महिमा है और सन्तसमागम से मोक्ष कितने दिन में मिलता है ॥ १ ॥ २ ॥" उत्तरः-सन्तसमागम से मुक्ति तत्काल ही मिलती है; परन्तु साधु के उपदेश में विश्वास रखना चाहिए। दुश्चित्त रहने से हानि होती है ॥ ३ ॥ प्रश्नः-स्वस्थ दशा में भी मन कभी कभी अकस्मात् चञ्चल हो जाता है; उसे स्थिर कैसे करना चाहिए? ॥४॥ उत्तरः-मन की चञ्चल गतियों को, विवेक से रोक कर, सावधानी के साथ, साधुओं का उपदेश श्रवण करके, समय सार्थक करना चाहिए ॥५॥ जो कुछ श्रवण करे उसके अर्थ और प्रमेय (सिद्धान्त) को मन में विचारना चाहिए। मन यदि चञ्चल होने लगे तो फिर श्रवण करना चाहिए ॥ ६ ॥ अर्थ के भीतर पैठे बिना, जो ऊपर ऊपर का ही श्रवण करता है वह श्रोता नहीं है-मनुष्यरूप पाषाण (पत्थर) है! ॥ ७ ॥ यहां पर श्रोता

लोग इस बात का खेद मानेंगे कि हमको पाषाण बना डाला ! अच्छा, अब सावधान होकर पाषाण का लक्षण सुनियेः-॥ ८ ॥

पत्थर यदि एक बार घड कर ठीक कर दिया जाता है तो फिर वह सदा वैसा ही बना रहता है। देखिये, टांकी से पत्थर का जो टुकड़ा फोड़ा जाता है वह फिर नहीं जुड़ता, परन्तु मनुष्य का यह हाल नहीं है-उसकी कुबुद्धि यदि एक बार निकाल डाली जाती है तो दूसरी बार फिर भी वह उसमें आ जाती है ॥ ९ ॥ १० ॥ मनुष्य को सिखाने से, एक बार उसका अवगुण चला जाता है; पर फिर पीछे से आ जाता है; (लेकिन पाषाण का ऐसा हाल नहीं है-वह एक बार घड कर ठीक कर देने से सदा वैसाही बना रहता है,) इस लिए मनुष्य की अपेक्षा पाषाण बहुत अच्छा ठहरा ! ॥ ११ ॥ जिस मनुष्य का अवगुण छूटता ही नहीं उसे पाषाण से भी तुच्छ समझो-उससे तो पत्थर कोटिगुना अच्छा है ॥ १२ ॥ " पत्थर कोटिगुना क्यों " ? इसका भी लक्षण सुनियेः-॥ १३ ॥ माणिक, मोती, प्रवाल, वैडूर्य, हीरा, गोमेदमणि, पारिस, सोमकान्त, सूर्यकान्त, इत्यादि अनेक बहुमूल्य पत्थर होते हैं, तथा नाना प्रकार की औषधि-मणियां अत्यन्त उपयोगी होती हैं ॥ १४ ॥ १५ ॥ इनके अतिरिक्त और भी अच्छे२ पाषाण हैं; जो नाना तीर्थों में, बावड़ियों में, कुओं में लगे हैं अथवा जो महादेव या विष्णु की मूर्ति के रूप में पूजे जाते हैं ॥ १६ ॥ इस दृष्टि से, विचार करने पर, जान पड़ता है कि मनुष्य तो उन पत्थरों के सामने अत्यन्त तुच्छ है ॥ १७ ॥ अतएव, मनुष्य उक्त पत्थरों की बराबरी कदापि नहीं कर सकता ! हां, दुश्चित्त और अभक्त लोगों को अपवित्र और बेफाम पत्थरों की उपमा भले ही दे दीजिए ॥ १८ ॥

अस्तु; अब यह कथन बस करो। यह ध्यान में रखना चाहिए कि दुश्चित्तता से हानि होती है और इसी कारण प्रपंच या परमार्थ, कुछ भी नहीं बनता ॥ १९ ॥ दुश्चित्तता से कार्य नाश होता है, चिंता आती है और सुनी हुई बात क्षणभर भी मन में नहीं रहती ॥ २० ॥ दुश्चित्तता से हार होती है; जन्ममरण प्राप्त होता है और हानि होती है ॥ २१ ॥ दुश्चित्तता से साधक लोग साधन और भजन नहीं कर सकते और वे ज्ञान भी नहीं प्राप्त कर सकते ॥ २२ ॥ दुश्चित्तता से निश्चय नहीं होता, जय नहीं मिलता और दुश्चित्तता ही से स्वहित का क्षय होता है ॥ २३ ॥ दुश्चित्तपन से श्रवण नहीं बन पड़ता; विवरण नहीं बनता और प्राप्त किया हुआ निरूपण भी चला जाता है ॥ २४ ॥ दुश्चित्त पुरुष ऊपर ऊपर से, देखने में तो स्थिर बैठा हुआसा देख पड़ता है; पर वास्तव में, भीतर से, उसका मन ठिकाने नहीं रहता ॥ २५ ॥ दुश्चित्त मनुष्यों का समय इसी प्रकार कटता है जिस

प्रकार, पागल, पिशाच से सताये हुए, अंधे, मूक और बहरे पुरुषों का समय जाता है ॥ २६ ॥ सावधानता होने पर भी ऐसे पुरुषों को कुछ समझ नहीं पड़ता, श्रवण (कान) होने पर भी सुनाई नहीं पड़ता और ज्ञान होने पर भी उन्हें सारासार का विचार नहीं मालूम होता ॥ २७ ॥ जो दुश्चित्त है और रातदिन आलस्य में रहता है उसे परलोक नहीं मिल सकता ॥२८॥ ज्योंही वह दुश्चित्तता से छूटता है त्योंही आलस्य उसे आ घेरता है; जहां आलस आया वहां फिर मनुष्य को अवकाश ही नहीं मिलता ॥२९॥

आलस से विचार रह जाता है, आचार डूब जाता है और कुछ भी क्यों न किया जाय, आलसी मनुष्य उत्तम उत्तम बातें याद नहीं रख सकता ॥३०॥ आलस्य से श्रवण नहीं बनता, निरूपण नहीं हो सकता और परमार्थ की पहचान मलीन हो जाती है ॥ ३१ ॥ आलस से नित्यनेम छूट जाता है, अभ्यास डूब जाता है और आलस से, खूब आलस ही बढ़ता है ॥ ३२ ॥ आलस्य से धारणा और धृति चली जाती है, वृत्ति मलीन हो जाती है और विवेक की गति मंद हो जाती है ॥ ३३ ॥ आलस से निद्रा बढ़ती है, वासना विस्तृत होती है और निश्चयात्मक सद्बुद्धि चली जाती है ॥ ३४ ॥ दुश्चित्तता से आलस आता है; आलस्य से सुखनींद आती है और सुखनींद से केवल आयु का नाश होता है ॥ ३५ ॥ निद्रा, आलस्य और दुश्चित्तता का होना ही मूर्ख का लक्षण है । इन अवगुणों के कारण निरूपण समझ में नहीं आता ॥३६॥ जहां ये तीनों कुलक्षण हैं वहां विवेक कहां से होगा ? अज्ञानी पुरुष इन अवगुणों ही में बड़ा सुख मानता है ॥ ३७ ॥ भूख लगते ही खाता है, खाकर उठते ही आलस आता है और आलस आते ही निधड़क सो जाता है ॥ ३८ ॥ तथा सोकर उठते ही फिर दुश्चित्त बन जाता है ! सारांश, ऐसे पुरुष कभी सावधानचित्त तो रहते ही नहीं; फिर निरूपण में उन्हें आत्महित का ज्ञान न हो तो कैसे? ॥३९॥ बन्दर को रत्न और पिशाच को द्रव्य-कोश सौंप देने से जो दशा होती है वही दशा दुश्चित्त पुरुष के आगे निरूपण की होती है ॥ ४० ॥

अस्तु । श्रोताओं ने पहले जो यह आशंका की कि सन्त-समागम करने से मोक्ष कितने दिन में मिलता है उसका उत्तर अब सावधान होकर सुनना चाहिए ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ जैसे लोह पारस के छूने से उसी क्षण सोना हो जाता है, जलबिन्दु सागर में तत्क्षण मिल जाता है और जैसे कोई नदी गंगा में मिलते ही गंगा का रूप हो जाती ॥ ४३ ॥ उसी प्रकार जो पुरुष सावधान, उद्योगी और दक्ष हैं उन्हें तत्काल ही संतसंग से मोक्ष मिलता है और दूसरों के लिए तो वह अलक्ष है-उसे देख ही नहीं सकते ॥ ४४ ॥ उसके लिए शिष्य की प्रज्ञा ही चाहिए; प्रज्ञावंत को देर नहीं

लगना-अनन्य को तत्काल मोक्ष मिलता है ॥४५॥ जो प्रज्ञावंत और अनन्य है- उस मोक्ष पाने में एक क्षण भी नहीं लगता; परन्तु अनन्य भाव जब तक न हो तब तक प्रज्ञा किसी काम का नहीं ॥ ४६ ॥ बिना प्रज्ञा अर्थ नहीं मालूम होता, और बिना विश्वास 'वस्तु' का ज्ञान नहीं होता। प्रज्ञा और विश्वास से देहाभिमान छूट जाता है ॥ ४७ ॥ तथा, देहाभिमान छूट जाने पर सहज ही 'वस्तु' की प्राप्ति होती है। सत्संग से सत् गति मिलते देर हो नहीं लगती ॥४८॥ जो विशेष सावधान, उद्योगी, प्रज्ञावंत और विश्वासी है उसे साधन का परिश्रम करना ही नहीं पड़ता ॥ ४९ ॥ और जो उत्तम भाविक हैं उन्हें भी साधन से मोक्ष मिलता है। साधुसंग से तत्काल ही विवेकदृष्टि का विकास होता है ॥ ५० ॥ तथापि अध्यात्म-निरूपण के श्रवण का साधन अवश्य करना चाहिए, क्योंकि इस साधन से सब को लाभ होता है ॥५१॥

अब, आगे यह सब निरूपण अच्छी तरह से बतलाया गया है कि मोक्ष कैसा है, स्वरूप की दशा कैसी है और सत्संग-द्वारा उसकी प्राप्ति का भरोसा क्यों करना चाहिए। श्रोता लोग स्थिरचित्त होकर इस निरूपण की ओर ध्यान दें ॥ ५२ ॥ ५३॥ अवगुण छुडाने के लिए न्याय-निष्ठुर (जो बात न्याय से निष्ठुर है) बोलना पड़ता है। श्रोता लोग, कृपा करके, ऐसे वचनों से अप्रसन्न न हों ॥ ५४ ॥

सातवाँ समास-मोक्ष-लक्षण।

॥ श्रीराम ॥

पीछे श्रोताओं ने जो यह प्रश्न किया था कि मोक्ष कितने दिन में होता है, उसका उत्तर स्थिर चित्त से सुनिये ॥१॥ इसके सिवाय यह भी बतलाया जाता है कि, मोक्ष को कैसे जानना चाहिए, मोक्ष कहते किसे हैं और संतसंग से मोक्ष कैसे मिलता है ॥ २ ॥ बँधे हुए को 'बद्ध' कहते हैं और छूटे हुए, या मोक्ष पाये हुए, को मुक्त कहते हैं। अस्तु। अब यह बतलाते हैं कि, सन्तसमागम से मोक्ष कैसे मिलता है ॥३॥ प्राणी संकल्प से बंधा होता है-जीवपन से बद्ध हुआ होता है-उसे विवेक से साधुजन मुक्त करते हैं ॥ ४ ॥ यह दृढ संकल्प कि "मैं जीव हूं," धारण किये हुए कल्प व्यतीत हो जाते हैं, इसी कारण, देहबुद्धि से प्राणी बद्ध होता है ॥५॥ जिसको यह कल्पना दृढ़ हो गई है कि "मैं जीव हूं, मुझे बंधन है, मुझे जन्ममरण है और अब किये हुए कर्मों का फल मैं भोगूंगा। पाप

का फल दुःख है और पुण्य का फल सुख है। पापपुण्य का भोग छूट नहीं सकता और गर्भवास भी मिट नहीं सकता" ॥ ६-८ ॥ उसीका नाम है-बँधा हुआ। जैसे रेशम का कीड़ा अपने को ही बांध कर मृत्यु पाता है उसी प्रकार प्राणी 'जीवपन' के अभिमान से स्वयं बद्ध बन रहा है ॥ ९ ॥ अज्ञान प्राणी (मनुष्य) भगवान् को न जानते हुए कहता है कि "मेरा जन्ममरण तो छूटता ही नहीं! ॥ १० ॥ अब, कुछ दान करूं, जो अगले जन्म का आधार होगा और जिससे मेरा जीवन सुख से व्यतीत होगा ॥ ११ ॥ पूर्वजन्म में दान नहीं किया, इसीसे दरिद्रता पाई है—अब तो कुछ करना चाहिए न!" ॥ १२ ॥ इसी विचार से वह पुराने वस्त्र तथा एक तांबे का पैसा दान करता है! और कहता है कि अब आगे कोटिगुना पाऊंगा ॥ १३ ॥ कुशावर्त और कुरुक्षेत्र में, दान करने की महिमा सुन कर, दान करता है और मन में करोड़गुना पाने की आशा रखता है! ॥ १४ ॥ धेली मूका (आठ-चार आना) दान कर देता है, अतिथि-अभ्यागत को एक टुकड़ा डाल देता है और मन में सोचता है कि "अब तो हमारा करोड़ टुकड़ों का ढेर जमा हो गया! ॥ १५ ॥ वह करोड़ टुकड़ों का ढेर मैं अगले जन्म में बैठे बैठे खाऊंगा!" अस्तु। इसी प्रकार प्राणियों की वासना जन्म-कर्म में गुँथी रहती है ॥ १६ ॥

जो ऐसी कल्पना करता हो कि, इस जन्म में मैं जो कुछ दूंगा सो अगले जन्म में पाऊंगा, उसे अज्ञान, बद्ध जानना चाहिए ॥ १७ ॥ बहुत जन्मों के बाद नरदेह मिलती है—यदि इस देह में ज्ञान-द्वारा सद्गति न हुई तो फिर गर्भवास नहीं छूटता ॥ १८ ॥ और फिर यह भी नहीं हो सकता कि, गर्भवास नरदेह ही में होता हो; किन्तु अकस्मात् नीच-योनी भोगना पड़ती है ॥ १९ ॥ बहुत से शास्त्रों में, बहुतों ने, बहुत प्रकार से, ऐसा ही निश्चय किया है कि, संसार में फिर नरदेह दुर्लभ है ॥२०॥ भागवत में व्यास का वचन है कि, जब पापपुण्य की समता होती है तभी नरदेह मिलती है-अन्यथा नहीं ॥ २१ ॥

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान्भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा ॥ १ ॥

परम दुर्लभ और सुदृढ़ नरदेहरूपी नौका, गुरुरूपी कर्णधार, और ईश्वर कृपारूपी अनुकूल वायु, पाकर भी जो मनुष्य भवसागर पार नहीं करता वह आत्महत्यारा है ॥ २२ ॥ २३ ॥ ज्ञान बिना मनुष्य को चौरासी लाख जन्ममृत्यु भोगनी पड़ती हैं-मानो वह उतनी ही (चौरासी लाख) आत्म-हत्याएं करता है-इसी लिए वह आत्महत्यारा हुआ! ॥ २४ ॥ प्राणी नरदेह

जब तक ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेता तब तक जन्ममरण नहीं छूटता और नाना दारुण नीच योनियां भोगनी पड़ती हैं ॥२५॥ ज्ञान न होने के कारण प्राणी को रीछ, बन्दर, कुत्ता, सुअर, घोड़ा, बैल, भैंसा, गधा, कौवा, मुर्गा, स्यार, बिलार, गिर्दान (गिर्गिट), मेंढक और मक्खी आदि की नीच योनियां भोगनी पड़ती हैं: पर मूर्ख मनुष्य (जाति) अगले जन्म की फिर भी आशा रखता है ! ॥ २६ ॥ २७ ॥ यह विश्वास रखने में लाज भी नहीं आती कि मरने पर फिर भी मनुष्य का ही शरीर मिलेगा ! ॥ २८ ॥ ऐसा कौनसा पुण्य जोड़ा है जो फिर नरदेह मिलेगा ! अगले जन्म की आशा रखना दुराशा मात्र है ॥ २९ ॥ यह मूर्ख, अज्ञान मनुष्य (जाति) अपने ही संकल्प से स्वयं अपने को ही बांध लेता और स्वयं अपना ही शत्रु बन बैठता है:— ॥ ३० ॥

आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

अस्तु। वह संकल्प का बन्धन सन्तसमागम से टूट जाता है ॥ ३१ ॥

सब चराचर जीवों का शरीर पांच भूतों से बनता है। प्रकृति स्वभाव ही से जगत् के आकार में बर्तने लगती है ॥३२॥ देह, अवस्था, अभिमान, स्थान, भोग, मात्रा, गुण और शक्ति आदि चौपुटी तत्त्वों का लक्षण है ॥ ३३ ॥ ऐसी पिंड-ब्रह्माण्ड की रचना है: विस्तार से कल्पना बढ़ गई है और तत्त्वज्ञान का निर्धार करते करते नाना मत भटक रहे हैं ॥ ३४ ॥ उन नाना मतों में नाना भेद हैं, और भेदों से विवाद बढ़ता जाता है: परन्तु एकता की बात सिर्फ साधु ही जानते हैं ॥३५॥ उस बात का लक्षण यह है कि:-देह पंचभौतिक है, और उसमें आत्मा मुख्य है ॥ ३६ ॥ देह अंत में नाश हो जाती है: अतएव, उसे आत्मा नहीं कह सकते। देह में नाना तत्त्वों का समुदाय आगया है ॥३७॥ अन्तःकरण, प्राण, विषय, दस इंद्रियां, सूक्ष्मदेह, इत्यादि का विवेक, या लक्षण, शास्त्रों में बतलाया गया है ॥३८॥[1] सूक्ष्मदेह का शोध करने से मालूम होता है कि अन्तःकरण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार आदि नाना तत्त्वों की उपाधियों से आत्मा अलग है ॥ ३९ ॥ स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण, विराट, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत और मूलप्रकृति नाम के आठ देह हैं ॥ ४० ॥ चार पिंड में, चार ब्रह्मांड में-इस प्रकार कुल आठ देह हैं; इनमें प्रकृति और पुरुष बढ़ा देने से दस देह हो जाते हैं ॥४१॥ ऐसा तत्त्वों का लक्षण है-आत्मा उनका साक्षी है: पर तौभी वह उनसे अलग है-कार्य, कर्ता और कारण ये तीनों उसके दृश्य हैं ॥४२॥[2]

१ दशक १७ समास ९ पद्य १-६ में इसका विस्तृत वर्णन है। २ इसका विशेष विवरण द. १७ स. ९ प. १८-२२ में देखिये।

जीवशिव, पिंडब्रह्मांड, इत्यादि माया-अविद्या का गड़बड़ है। यह गड़बड़ बतलाया जाय तो बहुत विस्तृत है; परन्तु आत्मा इससे अलग है ॥ ४३ ॥ वास्तव में देखने से आत्मा चार हैं; उनका लक्षण बतलाते हैं; इसे दृढ़ता-पूर्वक स्मरण रखिये ॥ ४४ ॥ पहला जीवात्मा, दूसरा शिवात्मा, तीसरा परमात्मा, जो सम्पूर्ण विश्व का आत्मा है, और चौथा निर्मलात्मा ॥ ४५ ॥ माया के कारण इन चारों में ऊंचनीच का भेद भासता है; पर वास्तव में ये चारों एक ही हैं। इसका दृष्टान्त लीजिए:--॥४६॥ जैसे घटाकाश, मठाकाश, महदाकाश और चिदाकाश—ये चार भेद आकाश के (उपाधि के कारण) हैं; पर वास्तव में सब मिल कर आकाश एक ही है ॥ ४७ ॥ वैसे ही, जीवात्मा, शिवात्मा, परमात्मा और निर्मलात्मा—ये चार भेद सिर्फ माया के कारण हैं; पर वास्तव में कुल मिल कर आत्मा एक ही है ॥४८॥ घट (घड़ा, पात्र) में जो आकाश व्यापक (भरा हुआ) है वह घटाकाश है। उसी तरह पिंड (सचराचर-देह) में जो ब्रह्मांश व्याप्त है उसे जीवात्मा कहते हैं ॥४९॥ मठ (मन्दिर, भवन) में जो आकाश व्यापक है वह मठाकाश है, वैसे ही ब्रह्मांड में जो ब्रह्मांश है वह शिवात्मा है ॥ ५० ॥ मठ के बाहर जो आकाश फैला हुआ देख पड़ता है उसे महदाकाश कहते हैं—इसी तरह ब्रह्मांड के बाहर जो ब्रह्मांश है उसे परमात्मा कहते हैं ॥ ५१ ॥ जैसे 'चिदाकाश' घटमठादि उपाधियों से अलग होता है उसी प्रकार परमात्मा भी दृश्यरूप उपाधि से अलग है ॥ ५२ ॥ उपाधि के योग से भिन्न मालूम होने पर भी जैसे आकाश अभिन्न है, वैसे ही स्वानन्दघन, सच्चिदानन्द परमात्मा भी समरस और अभिन्न है ॥५३॥ दृश्य में भीतर, बाहर, निरन्तर परमात्मा व्याप्त है। उसकी बड़ाई करने के लिए शेष भी असमर्थ है ॥५४॥ इस परमात्मा को जान लेने से जीवपन नहीं रहता। उपाधि को देखते हुए मालूम होता है कि जीवात्मादि चारों भेद उसीके योग से हैं; पर वास्तव में वे सब अभिन्न हैं ॥ ५५ ॥ प्राणी, जीवपन के कारण, एकदेशी होकर, अहंकार के योग से, जन्म के फेर में पड़ गया है; पर विवेक-द्वारा देखने पर जान पड़ता है कि उसे जन्म आदि कुछ नहीं है! ॥ ५६ ॥

अस्तु। जन्ममृत्यु से छूट जाने को मोक्ष कहते हैं और तत्त्वों को ढूंढ़ने से वास्तविक 'वस्तु' मिलती है॥ ५७ ॥ वही वस्तु हम हैं—"सोऽहं"—इस महावाक्य का तात्पर्य साधु लोग ही अपने मुख से बतलाते हैं ॥ ५८ ॥ जिसी क्षण में साधु अनुग्रह करता है उसी क्षण मोक्ष हो जाता है—आत्मा में बंधन कहां से आया? ॥ ५९ ॥ इतने से आशंका मिट जाती है—सन्देह-वृत्ति अस्त हो जाती है—संतसंग से तत्काल मोक्षपदवी मिलती है ॥ ६० ॥ जैसे स्वप्न में बँधा हुआ प्राणी जागृति में आने पर मुक्त हो जाता है उसी

प्रकार अज्ञान के कारण बद्ध हुआ जीव, ज्ञान से मोक्ष पा जाता है ॥६१॥ अज्ञान-निशि का अन्त होने पर संकल्प-दुःख नाश हो जाते हैं-और तत्काल मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥६२॥ स्वप्न का बंधन तोड़ने के लिए दूसरे साधनों की आवश्यकता नहीं-उसके लिए जागृति को छोड़ कर और कोई प्रयत्न है ही नहीं ॥ ६३ ॥ उसी प्रकार जीव, जो संकल्प से बँधा हुआ है, उसे और दूसरा उपाय ही नहीं है-उसका बन्धन विवेक से ही छूटेगा ॥ ६४ ॥ विवेक बिना जो जो उपाय किये जायँगे, सब व्यर्थ होंगे--और विवेक से देखने पर तो प्राणी स्वयं आत्मा ही है ! ॥ ६५ ॥ आत्मा न तो बद्ध है न मुक्त है-वहां दो में से कुछ भी नहीं है। तथा जन्म और मृत्यु का होना भी आत्मा में कभी सम्भव नहीं ! ॥ ६६ ॥

आठवां समास-परमात्मा का दर्शन।

॥ श्रीराम ॥

पीछे यह बताया गया कि परमात्मा तूही है। अब उस परमात्मा को देखियेः—॥ १ ॥ परमात्मा में जन्म-मृत्यु, आवागमन और बन्ध या मोक्ष नहीं है ॥ २ ॥ वह निर्गुण, निराकार, अनंत, अपार और नित्यनिरन्तर जैसा का तैसा ही है ॥ ३ ॥ वह सब में व्यापक है, अनेक में एक है; और उसका विवेक अतर्कनीय है ॥ ४ ॥ परमात्मा की स्थिति ऐसी ही (जैसी ऊपर कही गई) श्रुति और वेद बतलाते हैं। इसमें संशय नहीं कि परमात्मा भक्ति से मिलता है ॥ ५ ॥ वह भक्ति नव प्रकार की है। नवधा भक्ति से अनेकों भक्त मुक्त हो चुके हैं ॥ ६ ॥ उस नव प्रकार की भक्ति में आत्मनिवेदन भक्ति मुख्य और श्रेष्ठ है। उसका विचार स्वयं स्वानुभव से करना चाहिए ॥ ७ ॥ अपने ही अनुभव से अपने को निवेदन करना चाहिए—इसी को आत्मनिवेदन कहते हैं ॥ ८ ॥ जैसे महा-पूजा के अन्त में, अपनत्व का मोह छोड़ कर देवता पर मस्तक काट कर चढ़ा दिया जाता है, वैसे ही आत्मनिवेदन भक्ति में भी परमेश्वर में अपने अपनत्व का लीन कर देना होता है ॥ ९ ॥ ऐसे भक्त थोड़े होते हैं जो अपने को निवेदन करते हैं; और जो करते हैं, उन्हें परमात्मा तत्काल मुक्ति देता है ॥ १० ॥ इस पर श्रोता कहता है कि "अपने को कैसे निवेदन करें, कहीं जा कर गिर पड़ें या देवता के सामने मस्तक काट के रख दें; क्या करें ?" ॥ ११ ॥ इसका उत्तर ध्यान दे कर सुनियेः—॥ १२ ॥

आत्मनिवेदन का लक्षण यह है कि, पहले देखे कि मैं कौन हूं, इसके बाद फिर निर्गुण परमात्मा को पहचाने ॥ १३ ॥ इस प्रकार, 'परमात्मा' का और 'भक्त' का खोज करने से आत्मनिवेदन होता है। भक्त परमात्मा की शाश्वतता का अनुभव करता है ॥ १४ ॥ परमात्मा को पहचानते पह-चानते वह उसीमें तद्रूप हो जाता है और परमात्मा तथा भक्त में बिलकुल भिन्नता नहीं रहती ॥ १५ ॥ जोकि भक्त परमात्मा से 'विभक्त' नहीं होता, इसी लिए वह 'भक्त' कहलाता है-जैसे कि जिसे बन्धन नहीं होता वही मुक्त है-यह हमारा कथन शास्त्रोक्त है! ॥ १६ ॥ जब हम परमात्मा और भक्त का मूल देखते हैं, तब जान पड़ता है कि, इनमें कोई भेद नहीं। ये दोनों एक ही हैं और इस दृश्य जगत् से अलग हैं ॥ १७ ॥ परमात्मा में मिलने पर द्वैत नहीं रहता। 'परमात्मा' और 'भक्त' की भिन्नता का भेद मिट जाता है ॥ १८ ॥ आत्मनिवेदन के अन्त में जो अभेद भक्ति होती है उसी को सत्य सायुज्यमुक्ति जानना चाहिए ॥ १९ ॥ जो सन्तों की शरण जाता है; और अद्वैत निरूपण से बोध पाता है; (वह जरूर तद्रूप हो जाता है) वह यदि फिर अलग किया भी जाय तो भी नहीं होता! ॥ २० ॥ जैसे जो नदी समुद्र में मिल जाती है वह फिर अलग नहीं की जा सकती, और जो लोहा सोना बन जाता है उसमें फिर कालिमा नहीं आ सकती ॥ २१ ॥ वैसे ही जो भगवान् में मिल जाता है वह फिर अलग नहीं किया जा सकता। भक्त स्वयं परमात्मा हो जाता है-फिर वह विभक्त नहीं हो सकता ॥ २२ ॥ जो परमात्मा और भक्त की अनन्यता का अनुभव कर लेता है वही साधु मोक्षदायक है ॥ २३ ॥

अस्तु। जब भक्तपन से परमात्मा का दर्शन किया जाता है, तभी पर-मात्मा का ऐश्वर्य अपने में आता है ॥ २४ ॥ देह ही को 'मैं' मान लेने से स्वाभाविक ही देहसुख भोगना पड़ता है और देहातीत होकर रहने से परब्रह्म मिलता है ॥ २५ ॥ अब बतलाइये कि देहातीत कैसे हो, परब्रह्म कैसे पावें और ऐश्वर्य के कौन से लक्षण हैं? ॥२६॥ इसका उत्तर बतलाते हैं। सावधान हो कर सुनियेः-॥ २७॥ "वस्तु" देहातीत है और वही परब्रह्म तू अपने को जान। तुझ विदेह को देह संग का कोई काम नहीं है" ॥२८॥ ऐसी (उपर्युक्त प्रकार की) जिस की बुद्धि हो जाती है, उसका वेद भी वर्णन करते हैं और नाना शास्त्र उसे, ढूंढ़ने पर, नहीं पा सकते ॥ २९ ॥ देहबुद्धि छोड़ने पर वास्तव में यह ऐश्वर्य आ जाता है और देह ही को 'मैं' मान लेने से अधोगति होती है ॥ ३० ॥ अस्तु। साधु-वचन को मिथ्या न मानना चाहिए; क्योंकि इस से पाप लगता है ॥ ३१ ॥ इस पर शिष्य पूछता है कि "हे स्वामी! एक बार मुझे यह

बतला दीजिए कि, साधु-वचन क्या है, और किस पर विश्वास रखना चाहिए? ॥३२॥ "स्वानंदघन, अजन्मा और सोऽहं शब्द से निर्दिष्ट जो आत्मा है वही तू है"-यही साधु-वचन है और इसी पर विश्वास रखना चाहिए ॥ ३३ ॥ महावाक्य का यही गुह्य है कि "तू ही निरन्तर ब्रह्म है"। इस वचन को भूलना ही न चाहिए॥३४॥ इस कथन को निर्भ्रान्त करके न मानना चाहिए कि "जब देह का अन्त होगा तब मैं अनन्त (ब्रह्म) को पाऊंगा" ॥ ३५ ॥ कोई कोई मूर्ख कहते हैं कि जब कल्पान्त में माया नाश हो जायगी तब हम को ब्रह्मप्राप्ति होगी-अन्यथा नहीं ॥ ३६ ॥ यह कहना मिथ्या है कि: माया का जब कल्पान्त होगा, अथवा देह का जब अन्त होगा, तब मैं ब्रह्म को पाऊंगा। इस प्रकार समाधान नहीं हो सकता। समाधान का लक्षण ही अलग है ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ (यह मूर्खता की कल्पना है कि) सारी सेना मर जाने पर राज्यपद प्राप्त किया जाय! उनको यह नहीं मालूम कि, सेना के उपस्थित रहते ही, राज्य कर सकते हैं॥ ३९ ॥ वह समाधान प्राप्त करना चाहिए कि, जिस में माया रह कर भी, नहीं रहती और देह के रहते हुए ही, विदेहदशा आ जाती है ॥ ४० ॥ राज्यपद हाथ आ जाने पर, फिर सेना बनी भी रहे, तो कोई हर्ज नहीं; क्योंकि यह तो हो ही नहीं सकता कि, सेना के रहने से राज्य चला जाय ॥४१॥ आत्मज्ञान प्राप्त हो जाने पर यही हाल दृश्य देहभान का है। देहभान दृष्टि पड़ने से कुछ समाधान जा नहीं सकता* ॥४२॥ रास्ते में किसी वृक्ष की सर्पाकार जड़ देखने पर बहुत डर लगता है, पर जब यह मालूम हो जाता है कि, यह सर्प नहीं है, जड़ है, तब फिर उसे कोई नहीं मारता ॥४३॥ इसी प्रकार माया भयानक है; पर विचार कर देखने से मिथ्या है; तब फिर उसको धाक क्यों मानना चाहिए ॥ ४४ ॥ मृगजल की बाढ़ को देख कर यदि कोई कहे, कि कैसे पार होऊंगा, तो यह भ्रम है; उसका विचार करने से कोई संकट की बात नहीं ॥ ४५ ॥ भयानक स्वप्न देखने से स्वप्नावस्था में बहुत डर मालूम होता है; पर जग उठने पर डर क्यों करना चाहिए? ॥ ४६ ॥ हां; इतना जरूर है कि माया कल्पना को दिखती है; पर कल्पनातीत हो जाने पर, वहां निर्विकल्प-दशा में, माया

---

* जैसे इधर राज्यपद और सेना है वैसे ही उधर आत्मज्ञान और दृश्य देहभान है। सारी सेना मर जाने पर राजा बनने की अपेक्षा, सेना बनी रहते ही राजा होना अच्छा है। माया बनी रहने पर भी वह मिथ्या जान पड़नी चाहिए और देह बनी रहने पर भी, विदेह-स्थिति प्राप्त होना चाहिए। राज्यपद मिलने पर सेना के बने रहने से क्या बिगड़ता है? इसी प्रकार आत्मज्ञान हो जाने पर माया और देह क्या कर सकते हैं?

कहां आ सकती है ? ॥ ४७ ॥ यह तो सभी कहते हैं कि, अन्त में जैसी मति होती है वैसी गति मिलती है। इस लिए देहबुद्धि का नाश होने पर सहज ही मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥४८॥ स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण, इन चारों देहों के अन्त से, और जन्म से, आत्मा अलिप्त है-वही आत्मा 'तू' है ॥ ४९ ॥

अस्तु। जिसकी ऐसी (उपर्युक्त) मति है उसे ज्ञान से आत्मगति मिलती है-वह गति-अवगति से अलग हो जाती है ॥ ५० ॥ जहां वेदों की मति मन्द हो जाती है वहां गति-अवगति कहां से आई-वहां तो आत्म-शास्त्र-गुरु-प्रतीति की एकता हो जाती है-ये तीनों प्रतीतियां एक हो जाती हैं ॥ ५१ ॥ सद्गुरुबोध से जीवपन की भ्रान्ति मिटती है, 'वस्तु' आत्मानुभव में आती है और प्राणी उत्तम गति पाता है ॥ ५२ ॥ सद्गुरु-बोध के आते ही चारों देहों का अन्त हो जाता है, और इसीसे सत्स्वरूप में निदिध्यास लगता है ॥ ५३ ॥ उस निदिध्यास से प्राणी अन्त में स्वतः ध्येय (परब्रह्म) ही बन जाता है और सायुज्यमुक्ति का स्वामी बन बैठता है ! ॥ ५४ ॥ दृश्य पदार्थों का निरसन करने से वास्तव में जो कुछ बचता है वह सब आत्मा ही है। ध्यान से विचार करने पर मालूम होता है कि दृश्य, आदि से ही, मिथ्या है ॥ ५५ ॥ इस मिथ्या (माया) के मिथ्यात्व को समझना, और उस मिथ्यात्व को अनुभव में लाना ही, मोक्ष है ॥ ५६ ॥ जो सद्गुरु-वचन हृदय में धरता है वही मोक्ष का अधिकारी है। वह बारम्बार, अति आदर से, श्रवण-मनन किया ही करता है ॥ ५७ ॥ जहां दोनों पक्ष नहीं रहते और जहां न लक्ष है, न अलक्ष है ठीक वही आत्मा है-और उसीका नाम मोक्ष है ॥ ५८ ॥ वहां ध्यानधारणा की समाप्ति हो जाती है, कल्पना निर्विकल्प में लीन हो जाती है और केवल ज्ञप्तिमात्र-ज्ञानस्वरूप सूक्ष्म ब्रह्म-बच रहता है ॥ ५९ ॥

भव-मृगजल नहीं रहता, मिथ्या बन्धन छूट जाता है। उस दशा में, वह मुक्त, अजन्मा (आत्मा) को सचमुच जन्मदुःख से मुक्त करता है ! ॥ ६० ॥ निस्संग की संगव्याधि, विदेह की देहबुद्धि और निष्प्रपञ्च की उपाधि विवेक से तोड़ डालता है ! ॥ ६१ ॥ अद्वैत का द्वैत तोड़ डालता है, एकान्त को एकान्त दे देता है और अनन्त को अनन्त का अन्त दे देता है ! ॥ ६२ ॥ जागृत को जगाता है, जगे हुए को सावधान करता है और आत्मज्ञान को आत्मज्ञान का प्रबोध करता है ! ॥ ६३ ॥ अमृत को अमर, मोक्ष को मुक्ति का घर बनाता है और संयोग को निरन्तर योग देता है ! ॥ ६४ ॥ निर्गुण को 'निर्गुण' करता है। इस प्रकार सार्थक को सार्थक होता है और बहुत दिन में अपने को 'अपना' मिलता है ! ॥ ६५ ॥ द्वैत

का पड़दा फट जाता है: अभेद भेद को तोड़ डालता है और भूतपञ्चक (पञ्चभूतात्मक शरीर की अहंता) की बाधा निकल जाती है! ॥ ६६ ॥ साधन का फल मिलता है, निश्चल को निश्चल मिलता है और विवेकबल से निर्मल का भी मल चला जाता है! ॥ ६७ ॥ पास था; पर भूले हुए थे। अब जिसका जो है वह उसको प्राप्त हो जाता है, और देखते ही देखते जन्मदुःख मिट जाता है ॥ ६८ ॥ दुष्ट स्वप्न में ब्राह्मण नीचजाति पाकर घबड़ाता है; पर जग उठने पर वह अपने को अपनी ही जाति में पाता है। ६९ ॥ इसी प्रकार जीव, जो अज्ञानरूप स्वप्न में, अपने सत्य स्वरूप को, भूला हुआ था; ज्ञानरूप जागृति आ जाने पर वह अपने सत्य स्वरूप को पहचानता है। अस्तु। ऐसे ही ज्ञानी के लक्षण अगले समास में बतलाये गये हैं ॥ ७० ॥

नववाँ समास—साधु-लक्षण।

॥ श्रीराम ॥

जैसे अमृत पान करने पर, शरीर तेजस्वी हो जाता है वैसे ही सत्स्वरूप का अनुभव हो जाने फिर सन्तों के लक्षणों को क्या पूछना है? ॥ १ ॥ तथापि यह जानने के लिए कि, सच्चा आत्मज्ञानी कौन है, यहां पर, साधारण तौर पर साधुओं के लक्षण बतलाये जाते हैं:—॥ २ ॥ वास्तव में सिद्ध या साधु साक्षात् सत्स्वरूप ही है। सत्स्वरूप और सिद्धस्वरूप में कोई भेद नहीं है ॥ ३ ॥ जो सत्स्वरूप ही होकर रहता है उसे सिद्ध कहते हैं-सिद्धस्वरूप ही में (ब्रह्मस्वरूप ही में) सिद्धपन शोभा देता है ॥ ४ ॥ जो स्वतःसिद्ध सत्स्वरूप वेदशास्त्रों में प्रसिद्ध है; उसी को सिद्ध कह सकते हैं—दूसरे को नहीं ॥ ५ ॥ तथापि साधकों को विवेक का ज्ञान होने के लिए कुछेक बतलाते हैं। सिद्ध-लक्षणों का कौतुक सुनिये ॥ ६ ॥ जब अन्तःस्थिति स्वरूपाकार, हो जाती है तब काया का बर्ताव ऐसा हो रह जाता है जैसे स्वप्नावस्था की झूठी स्वप्नरचना! ॥ ७ ॥ तथापि, सिद्धों के कुछ लक्षण बतलाता हूं, जिससे को परमार्थ की मुख्य पहचान मालूम हो जाय ॥ ८ ॥

साधु का मुख्य लक्षण यह है कि वह सदा स्वरूपानुसन्धान रखता है और लोगों में रह कर भी, लोगों से अलग रहता है! ॥ ९ ॥ स्वरूप में दृष्टि लगते ही उसकी संसार की चिंता टूट जाती है और अध्यात्म-निरूपण में ममता लग जाती है ॥ १० ॥ यह है तो साधक का लक्षण; पर सिद्ध में यह होता है-साधक बिना सिद्ध का लक्षण हो ही नहीं

सकता ॥११॥ सिद्ध का यह लक्षण चतुरों को जान लेना चाहिये कि सिद्ध-लोग बाहर से साधक की तरह रहते हैं; पर भीतर स्वरूपाकार! ॥ १२ ॥ संदेहरहित साधन का होना ही सिद्धों का लक्षण है और उनके भीतर-बाहर अटल समाधान रहता है ॥ १३ ॥ जब अंतरस्थिति (भीतरी दशा) अचल हो जाती है तब वहां चंचलता का प्रवेश कैसे हो सकता है? स्वरूप में वृत्ति लगने से वह स्वरूप ही हो जाती है ॥ १४ ॥ ऐसी दशा होने पर, फिर 'वह' चलते हुए भी अचल है-चंचल होकर भी निश्चल है और वह 'स्वयं' निश्चल है; किन्तु 'उसकी' देह चंचल है ॥ १५ ॥ जब वह स्वरूप में स्वरूप ही हो जाता है तब फिर चाहे वह पड़ा ही रहे, चाहे उठ कर भगे; पर तौभी, है 'वह' अचल ही! ॥ १६ ॥ यहां मुख्य कारण अंतरस्थिति है—अंतर में ही निवृत्ति चाहिए। जिसका अंतर (हृदय) भगवान् में लगा है वही साधु है ॥ १७ ॥ बाहर (देहादि) चाहे जैसा हो; पर अंतर 'स्वरूप' में लगा हो-ये सब लक्षण साधु में स्वाभाविक ही देख पड़ते हैं ॥१८॥ जिस प्रकार राज्य पाने पर राजकला सहज ही आ जाती है उसी प्रकार अन्तःकरण 'स्वरूप' में लग जाने से ये सब लक्षण सहज ही आ जाते हैं ॥ १९ ॥ अन्यथा, अभ्यास करने से, ये लक्षण कभी हाथ नहीं आते। वास्तव में; स्वरूप में, स्वरूप ही होकर रहना चाहिए ॥ २० ॥ निर्गुण में वृत्ति रहना ही सब से बड़ा अभ्यास है। सन्तसमागम करके, अध्यात्म-निरूपण का मनन करने से, स्वरूपस्थिति आ जाती है ॥ २१ ॥ स्वरूपाकार होकर उत्तम लक्षणों का अभ्यास करना चाहिए। 'स्वरूप' छोड़ देने से गोस्वामी भटकते हैं! ॥ २२ ॥ अस्तु, अब यह कथन बस करो। साधु के लक्षण सुनो, जिनसे साधक को समाधान प्राप्त होता है ॥ २३ ॥ स्वरूप में जब कल्पना लीन हो जाता है तब 'कामना' कैसे रह सकती है? इसी कारण साधुजनों के पास काम नहीं रहता ॥ २४ ॥ कल्पना किया हुआ विषय जब हाथ से चला जाता है तब 'क्रोध' आता है, पर साधुजनों की अक्षय सम्पत्ति कभी जा नहीं सकती ॥ २५ ॥ इसी लिए वे 'क्रोध'-रहित होते हैं-वे नाशवंत पदार्थ छोड़ कर शाश्वत स्वरूप को जानते हैं ॥ २६ ॥ जहां दूसरा भेद भी नहीं है वहां क्रोध आवे तो किस पर? इसी लिए साधुजन सचराचर में क्रोधरहित वर्ताव करते हैं ॥ २७ ॥ वे आप अपने ही में आनंदित रहते हैं-फिर 'मद' किस पर करें, इस कारण (मद के न होने से) वे 'वाद-विवाद' से भी अलग रहते हैं ॥ २८ ॥ साधु निर्विकार-स्वरूप होता है; उसमें 'तिरस्कार' कहां से आया? जहां सब आप ही अपना है वहां 'मत्सर' किस पर किया जाय? ॥ २९ ॥ साधु अनायास ही 'वस्तु'-

रूप होता है-इस कारण उसमें 'मत्सर' नहीं हो सकता-मदमत्सर के पिशाच साधु को नहीं लगते ! ॥ ३० ॥ साधु स्वयंभू स्वरूप होता है, अतएव, उसमें 'दंभ' कहां से आ सकता है? वहां तो द्वैत का आरंभ ही नहीं होता ॥ ३१ ॥ जो दृश्य को नष्ट कर देता है उसमें 'प्रपंच' कैसे आ सकता है? इस लिए साधु को 'निष्प्रपंच' जानना चाहिए ॥ ३२ ॥ सारा ब्रह्मांड उसका घर होता है। पंचभौतिक पसारे को वह मिथ्या समझ कर, सत्वर (शीघ्र) त्याग कर देता है ॥ ३३ ॥ इस कारण उसमें 'लोभ' नहीं होता-साधु सदा 'निर्लोभ' रहता है-उसकी वासना शुद्ध-स्वरूप में समरस (मिल जाना) हो जाती है ॥ ३४ ॥ जब सब अपना आप ही है तब 'शोक' किसका किया जाय? इस कारण साधु को 'शोकरहित' जानना चाहिए ॥३५॥ नाशवान् दृश्य को छोड़ कर, शाश्वत स्वरूप का सेवन करने के कारण, साधु को शोकरहित जानना चाहिए ॥३६॥ शोक से वृत्ति को दुःखित करना चाहे तो (यह नहीं हो सकता, क्योंकि) साधु में वृत्ति की निवृत्ति होगई है-इस लिए साधु (जो निवृत्त है) सदा शोकरहित ही होता है ॥३७॥ यदि 'मोह' से मन को व्याप्त करना चाहें, तो मन ही वहां उन्मन होगया है, इस कारण साधु जन सदा 'मोहातीत' होते हैं ॥३८॥ साधु अद्वय 'वस्तु' होता है-वहां 'भय' को ठिकाना कहां? परब्रह्म निर्भय है और साधु भी उसीका रूप होता है ॥ ३९ ॥ अतएव, साधु 'भयातीत', 'निर्भय' और 'शांत' होता है। सब का अंत हो जायगा, पर साधु अनन्तरूप है ॥४०॥ जो सत्यस्वरूप में अमर हो चुका है उसे भय कैसे जान पड़ेगा? अतएव, साधुजन निर्भय होते हैं ॥ ४१ ॥ जहां द्वंद्वभेद नहीं है-सब आप ही अपना अभेदरूप है-वहां 'देहबुद्धि' का खेद कैसे उठ सकता है? ॥४२॥ साधु पुरुष बुद्धि से निर्गुण का निश्चय कर लेता है-और निर्गुण को कोई ले नहीं जा सकता-इस कारण साधुजनों को 'खेद' होने का कोई कारण ही नहीं ॥४३॥ साधु स्वयं तो बिलकुल अकेला ही होता है, तब फिर 'स्वार्थ' किसका करे? और जहां दृश्य (माया) है ही नहीं; वहां 'स्वार्थ' के लिए ठौर ही नहीं है ॥ ४४ ॥ जब साधु स्वयं ही एक है, तब वहां दुःख और शोक कहां का? और द्वैत के बिना 'अविवेक' भी नहीं आ सकता ॥ ४५ ॥ परमार्थ की आशा रखने से साधु की स्वार्थ-सम्बन्धी 'दुराशा' टूट जाती है, अतएव, 'नैराश्य' होना भी साधु की एक पहचान है ॥ ४६ ॥ साधु आकाश की तरह मृदु होता है अतएव उसके वचनों में 'कठोरता' कहां से आ सकती है? ॥४७॥ ब्रह्म-स्वरूप के संयोग से साधु स्वयं भी ब्रह्म-स्वरूप हो हो जाता है, अतएव वह निरंतर वीतरागी (विषय-प्रेम से रहित) रहता है ॥४८॥ स्वरूप

स्थिति आ जाने के कारण साधु देह की चिंता छोड़ देता है, इस कारण उसे होनहार की कोई 'चिंता' नहीं रहती ॥ ४९ ॥ साधुओं की बुद्धि परब्रह्म-स्वरूप में लीन रहती है, इस कारण उनकी सम्पूर्ण 'उपाधि' टूट जाती है और वे निरुपाधि हो जाते हैं ॥ ५० ॥ साधु सदा परब्रह्म-स्वरूप में ही रहता है और परब्रह्मस्वरूप में किसी प्रकार के 'संग' की गति नहीं, अतएव साधु 'मानापमान' की परवा नहीं करता ॥ ५१ ॥ अलक्ष में लक्ष लगाने के कारण, साधु परमदक्ष होता है। वह परमार्थ का पक्ष करना जानता है ॥ ५२ ॥ साधु स्वयं ब्रह्मस्वरूप होता है; और ब्रह्मस्वरूप में 'मल' की गति नहीं; अतएव, साधु 'निर्मल' होता है ॥ ५३ ॥ परन्तु साधु का मुख्य लक्षण यह है कि, वह, परब्रह्म-स्वरूप में ही लीन रहना, अपना सब धर्मों से श्रेष्ठ धर्म समझता है-इसीको वह 'स्वधर्म' समझता है! ॥ ५४ ॥

साधु की संगति करने से स्वरूपस्थिति आप ही आप आ जाती है-और स्वरूपस्थिति आ जाने से, साधु-लक्षण शरीर में आ जाते हैं ॥ ५५ ॥ अध्यात्म-निरूपण के सुनने से शरीर में साधुजनों के लक्षण आ जाते हैं; परन्तु स्वरूपानुसन्धान रहना बहुत आवश्यक है ॥ ५६ ॥ निरंतर ब्रह्मस्वरूप में रहने से वास्तव में स्वयं भी 'स्वरूप' हो जाते हैं; इसके बाद, शरीर में साधु के लक्षण आने में, देर नहीं लगती ॥ ५७ ॥ स्वरूप में मति रहने से, सारे अवगुण छूट जाते हैं; पर इसके लिए सत्संगति और अध्यात्म-निरूपण चाहिए ॥ ५८ ॥ अस्तु। सारी सृष्टि में अनुभव एक ही नहीं है—अनेक अनुभव हैं-वे सब अगले समास में बतावेंगे ॥ ५९ ॥ लोग किस स्थिति से रहते हैं और कैसा अनुभव करते हैं, सो सब ध्यानपूर्वक सुनिये ॥ ६० ॥

दसवाँ समास—बहुधा अनुभव।

॥ श्रीराम ॥

जब हम, लोगों के भिन्न भिन्न अनुभव की ओर, ध्यान देते हैं तब जान पड़ता है कि संसार में बड़ा गड़बड़ मच रहा है। इसका वृत्तान्त, कौतुक से सुनियेः—॥ १ ॥ कोई कहता है कि, गृहस्थी में ही रहने से तिर सकते हैं; क्योंकि यह सब पसारा कुछ अपना नहीं है-सब जीव ईश्वर के हैं! ॥२॥ कोई कहता है कि, यह नहीं हो सकता। मोह आ ही जाता है और पेट के लिए कुटुम्ब की सेवा करनी ही पड़ती है ॥ ३ ॥ कोई कहता है कि, स्वाभाविक ही सुख से गृहस्थी में रहना चाहिए; पर सद्गति के लिए

कुछ दानपुण्य भी करते रहना चाहिए ॥ ४ ॥ कोई कहता है कि, संसार झूठा है, वैराग्य लेकर देशाटन करना चाहिए—इससे स्वर्गलोक के मार्ग खुलते हैं! ॥ ५ ॥ कोई कहता है कि, कहां जायँ, व्यर्थ ही क्यों घूमें; अपने ही आश्रम में, आश्रम-धर्म करके, रहना चाहिए ॥ ६ ॥ कोई कहता है कि, कहां का धर्म लाये-सारा अधर्म हो रहा है-इस संसार में रह कर नाना प्रकार के काम करने ही पड़ते हैं ॥ ७ ॥ कोई कहता है कि, जहां तक हो सके, वासना अच्छी रहना चाहिए, इसीसे अनायास संसार से पार हो जाते हैं ॥ ८ ॥ कोई कहता है कि, मुख्य कारण भाव है-भाव ही से परमेश्वर मिलता है और बाकी सब यह व्यर्थ का गाथाजाल है! ॥ ९ ॥ कोई कहता है कि, जितने बड़े (बुजुर्ग) लोग हैं उन्हें सब को देवता ही मानना चाहिए और मावाप की पूजा अनन्य भाव से करते रहना चाहिए ॥ १० ॥ कोई कहता है कि, ब्राह्मण और देवता की पूजा करनी चाहिए। नारायण ही जगत् के लोगों का मावाप है ॥ ११ ॥ कोई कहता है कि, शास्त्र देखना चाहिए; उसमें ईश्वर ने जो आज्ञा दी है उसीके अनुसार चल कर परलोक प्राप्त करना चाहिए ॥ १२ ॥ कोई कहता है कि, अरे भाई, शास्त्र देखने से काम नहीं चलता, साधु की शरण में जाना चाहिए ॥ १३ ॥ कोई कहता है अजी, ये बातें छोड़ो; व्यर्थ ही क्यों बकवाद करते हो-सब से मुख्य तो यही है कि, हृदय में भूतदया हो ॥ १४ ॥ कोई कहता है, अच्छा तो यही है कि, अपने आचार से रहे और अन्तकाल में सर्वोत्तम परमात्मा का नाम ले ॥ १५ ॥ कोई कहता है, पुण्य होगा तभी नाम आवेगा, नहीं तो अन्तकाल में विस्मरण हो जायगा ॥ १६ ॥ कोई कहता है कि, जीते ही जी सार्थक करना चाहिए। कोई कहता है कि तीर्थाटन करना चाहिए ॥ १७ ॥ कोई कहता है कि यह सब झगड़ा है-तीर्थों में क्या रखा है? वहां तो पानी और पत्थर की भेंट है! डुबकी मार मार कर व्यर्थ के लिए क्यों हैरान होना चाहिए? ॥ १८ ॥ कोई कहता है कि वाचालता छोड़ो जी, भूमंडल में तीर्थों की अगाध महिमा है; उनके दर्शन मात्र ही से महापातक भस्म हो जाते हैं! ॥ १९ ॥ कोई कहता है कि, सब का कारण जो मन है उसको रोकने से तीर्थ अपने ही पास हैं; कोई कहता है कि नहीं, नहीं; प्रसन्नतापूर्वक 'कीर्तन' करना चाहिए ॥ २० ॥ कोई कहता है कि सब से अच्छा तो योग है; मुख्य करके उसीको पहले साधना चाहिए और अकस्मात् देह को अमर करना चाहिए! ॥ २१ ॥ कोई कहता है कि, इससे क्या होता है; काल को धोखा न देना चाहिए। कोई कहता है कि भक्तिमार्ग का साधन करना चाहिए ॥ २२ ॥ कोई कहता है कि, ज्ञान अच्छा है; कोई कहता है कि नहीं, साधन करना चाहिए और

कोई कहता है कि, सदा मुक्त रहना चाहिए ॥ २३ ॥ कोई कहता है कि, अनर्गल पाप से डरना चाहिए; कोई कहता है कि अरे, हमारा तो मार्ग ही खुला हुआ है ॥ २४ ॥ कोई कहता है कि, सब से अच्छा तो यही है कि, किसीकी निन्दा या द्वेष न करे; कोई कहता है कि दुष्ट-संग सदा के लिए छोड़ देना चाहिए ॥ २५ ॥ कोई कहता है कि भाई, जिसका खाय उसीके सामने यदि मरे तो इससे तत्काल ही मोक्षपद प्राप्त होता है! ॥२६॥ कोई कहता है कि चलो, ये बातें छोड़ो, सब से पहले रोटी का डौल चाहिए; फिर बैठे बैठे चाहे जितना बकवाद किया करे! ॥ २७ ॥ कोई कहता है कि, वर्षा ठीक समय पर होती जाय तो सब योग ठीक रहते हैं; क्योंकि अच्छा यही है कि अकाल न पड़े! ॥ २८ ॥ कोई कहता है कि तपोनिधि बनने से सकल सिद्धियां प्रसन्न होती हैं; कोई कहता है, अरे, सब से पहले इन्द्रपद प्राप्त करना चाहिए! ॥ २९ ॥ कोई कहता है कि आगम* देखना चाहिए, बैताल प्रसन्न कर लेना चाहिए; इससे स्वर्ग में परमेश्वर मिलता है! ॥ ३० ॥ कोई कहता कि अघोर मंत्र से ही स्वतंत्रता मिल सकती है और उसीके द्वारा श्रीहरि की कलत्र, अर्थात् लक्ष्मी, प्रसन्न होती है! ॥ ३१ ॥ उसी लक्ष्मी में सब धर्म लगे हैं—अन्य क्रियाकर्म कहां से आया! कोई कहता है कि, उसीके मद से तो लोग कुकर्म करते हैं! ॥ ३२ ॥ कोई कहता है कि, मृत्युंजय के जप ही का प्रयत्न करना चाहिए—इसीसे सब संकल्प सिद्ध होते हैं! ॥३३॥ कोई कहता है कि, बटुक-भैरव की पूजा करने से सब वैभव मिलता है और कोई कहता है कि, झोंटिंग ही सब कामना पूर्ण करता है! ॥ ३४ ॥ कोई कहता है कि, काली कंकाली; कोई कहता है, भद्रकाली और कोई कहता है कि "उच्छिष्ट चांडालिनी" को वश करना चाहिए ॥ ३५ ॥ कोई कहता है कि, विघ्नहर गणेश की पूजा करनी चाहिए; कोई कहता है, भोलाशंकर को पूजना चाहिए और कोई कहता है कि, भगवती शीघ्र प्रसन्न होती है ॥३६॥ कोई कहता है कि, खंडोबा जल्दी ही भाग्यवान बनाता है; कोई कहता है कि, वेंकटेश की भक्ति करना सब से अच्छा है ॥ ३७ ॥ कोई कहता है कि, पूर्व-कर्मों के अनुसार फल मिलता है; कोई कहता है कि नहीं, प्रयत्न करना चाहिए; और कोई कहता है, अजी कुछ नहीं, सब ईश्वर ही पर छोड़ देना चाहिए! ॥ ३८ ॥ कोई कहता है कि कहां का लाये ईश्वर! वह तो भलों को, कष्ट-द्वारा, परीक्षा ही करता रहता है! कोई कहता है कि, इसमें ईश्वर का कोई दोष नहीं, यह तो युग

---

* तंत्रशास्त्र:—आगत शिववक्त्रेभ्यो, गतश्च गिरिजाश्रुतौ।
मतश्च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते ॥

का भ्रम है ॥ ३९ ॥ कोई आश्चर्य मानते हैं; कोई विस्मित होते हैं और कोई घबड़ा कर कहते हैं कि जो कुछ हो, सो देखना चाहिए! ॥ ४० ॥ इस प्रकार, प्रापंचिक जनों के लक्षण, यदि बतलाये जायँ तो बहुत हैं; पर यहां पर, कुछ थोड़े से चिन्ह बतला दिये हैं ॥ ४१ ॥

अस्तु। अब ज्ञाताओं के भिन्न भिन्न अनुभव भी बतलाते हैं। सावधान होकर सुनियेः—॥ ४२ ॥ कोई ज्ञाता कहता है कि, भक्ति करना चाहिए; श्रीहरि सद्गति देगा। कोई कहता है कि, ब्रह्मप्राप्ति कर्म ही से होती है ॥ ४३ ॥ कोई कहता है कि, भोग छूटता नहीं, और जन्म-मरण टूटता नहीं! कोई कहता है कि, अज्ञान की लहरें बहुत हैं ॥ ४४ ॥ कोई कहता है कि, जहां 'सर्व' ब्रह्म है वहां क्रियाकर्म कहां से आये? कोई कहता है कि, ऐसी अधर्म की बात न करना चाहिए! ॥ ४५ ॥ कोई कहता है कि, 'सर्व' नाश हो जाने पर जो कुछ बचता है वही ब्रह्म है; कोई कहता है कि, इसका नाम समाधान नहीं है ॥ ४६ ॥ कोई कहता है कि, 'सर्व ब्रह्म' और 'केवल ब्रह्म' ये दोनों पूर्वपक्ष के भ्रम हैं—अनुभव का मर्म अलग है ॥ ४७ ॥ कोई कहता है कि यह नहीं हो सकता। 'वस्तु' अनिर्वाच्य है। उसको बतलाते हुए वेदशास्त्र भी मौन हो रहते हैं! ॥४८॥ इतने पर, श्रोता पूछता है कि, तो फिर निश्चय क्या किया? क्योंकि सिद्धान्तमत से तो अनुभव को ठौर ही नहीं है-(अर्थात् जहां अनुभव का नाम लिया वहां द्वैत आवे ही गा!) ॥ ४९ ॥ उत्तरः—यह पहले ही बतला चुके हैं कि अनुभव प्रत्येक का अलग अलग है। अतएव अब उसमें कुछ भी नहीं हो सकता! ॥ ५० ॥ कोई साक्षत्व से बर्तते हैं और साक्षी को (दृश्य से) अलग ही बतलाते हैं। तथा स्वयं द्रष्टा बन कर स्वानुभव की स्थिति में रहते हैं ॥ ५१ ॥ दृश्य से द्रष्टा अलग है। अलिप्तपन की रीति यह है कि, स्वानुभव-द्वारा साक्षत्व से स्वयं अलग रहते हैं ॥ ५२ ॥ जो सब पदार्थों का ज्ञाता है वह पदार्थमात्र से अलग है—इस अनुभव के होने से, देह में रह कर भी, सहज ही अलिप्तता आ जाती है ॥ ५३ ॥ कोई ज्ञाता स्वानुभव से ऐसा कहता है, कि साक्षत्व से बर्तना चाहिए और द्रष्टापन से, सब काम करते हुए भी, अलग रहना चाहिए ॥ ५४ ॥ कोई कहता कि भेद है ही नहीं-'वस्तु' आदि ही से अभेद है-वहां द्रष्टा कहां से लाये? ॥ ५५ ॥ जहां सब स्वाभाविक शक्कर ही शक्कर है वहां से कटु क्या अलग करें? इसी तरह जहां स्वानुभव से सारा ब्रह्म ही है वहां द्रष्टा कहां से आया? ॥ ५६ ॥ प्रपंच और परब्रह्म अभेद हैं; भेदवादी इनमें भेद मानते हैं; परन्तु यह स्वानन्द आत्मा ही दृश्याकार हुआ है ॥ ५७ ॥ जैसे पिघला हुआ घी जम जाता है वैसे निर्गुण भी सगुण हो जाता है—वहां

द्रष्टापन से, अलग क्या किया जाय? ॥ ५८ ॥ अर्थात् द्रष्टा और दृश्य सब जब एक जगदीश ही हो तब फिर द्रष्टापन के भेद की क्या आवश्यकता है? ॥ ५९ ॥ किसी का यह अनुभव है कि, यह सब दृश्याकार ब्रह्म ही है ॥ ६० ॥ एक दूसरा अनुभव इस प्रकार का है कि, जब सब में आत्मा ही पूर्ण है तब स्वयं भिन्न कहां बचा? ॥ ६१ ॥ अब तीसरा अनुभव सुनो। वे लोग कहते हैं कि सारा प्रपंच निरसन करके जो शून्य बच रहता है वही ईश्वर है ॥ ६२ ॥ वे कहते हैं कि सारा दृश्य अलग करने पर, केवल अदृश्य ही जो बच जाता है उसी को ब्रह्म समझना चाहिए[1] ॥ ६३ ॥

परन्तु उसे (शून्य को) ब्रह्म नहीं कह सकते। उसको ब्रह्म कहना अपाय (विघ्न) को उपाय के समान मानना है। शून्यत्व को ब्रह्म कैसे कह सकते हैं? ॥ ६४ ॥ सम्पूर्ण दृश्य पार कर जाने पर, अदृश्यरूप शून्यत्व मिलता है। अज्ञान प्राणी इसी शून्य ही को ब्रह्म समझ कर वहीं से लौट पड़ता है! ॥ ६५ ॥ इधर-इस पार-दृश्य रहता है और उस पार परब्रह्म रहता है; बीच में शून्यत्व का ठौर है-इसी ठौर को लोग, मंदबुद्धि के कारण, ब्रह्म कहते हैं! ॥ ६६ ॥ राजा को तो पहचानते नहीं और सेवक को राजा मान लेते हैं! परन्तु राजा को देखने पर सब निरर्थक मालूम होता है ॥ ६७ ॥ उसी प्रकार शून्यत्व को ब्रह्म मान लेते हैं; पर आगे, परब्रह्म को देखने से, शून्यत्व का सारा भ्रम मिट जाता है ॥ ६८ ॥ अस्तु। यह सूक्ष्म विघ्न, विवेक से इस प्रकार अलग करना चाहिए जैसे राजहंस दूध ग्रहण करके जल छोड़ देता है[2] ॥ ६९ ॥

पहले दृश्य को छोड़ देते हैं; फिर शून्यत्व को लांघते हैं; इसके बाद, तब फिर, कहीं मूलमाया से भी परे जो ब्रह्म है वह मिलता है ॥ ७० ॥ अलग रह कर उसे देखते हैं, इस लिये वृत्ति शून्यत्व में पड़ जाती है; और इसीसे शून्यत्व का भ्रम हृदय में आ जाता है ॥ ७१ ॥ भिन्नता से अनुभव करने को ही शून्य कहते हैं; पर 'वस्तु' को लक्ष करने के लिए पहले अभिन्न होना चाहिए ॥ ७२ ॥ निश्चय करके 'वस्तु' का देखना

---

१ एक मत यह है कि, द्रष्टा दृश्य से अलग है, दूसरा मत यह है कि, द्रष्टा और दृश्य एक ही हैं-जो कुछ है सो सब ब्रह्म है। तीसरा मत ऐसा है कि, दृश्य अलग करने पर जो 'कुछ नहीं है' वही ब्रह्म है।

२ दृश्य पार करके परब्रह्म तक जाते हुए, बीच में "शून्यत्व" मिलता है। कितने ही अर्द्धज्ञानी तो इसीको ब्रह्म समझ लेते हैं और यहीं रह जाते हैं-वे आगे जाने की जरूरत ही नहीं समझते; पर यह भ्रम है-ऐसा न करना चाहिए-यह शून्यत्व का विघ्न विवेक से दूर करके आगे बढ़ना चाहिए, तब कहीं जाकर ब्रह्म मिलेगा।

वही है कि, जब स्वयं ही 'वस्तु'-रूप हो जाय। परन्तु भिन्नता के साथ देखने से तो शून्यत्व ही मिलता है॥ ७३॥ अस्तु। शून्य कुछ परब्रह्म नहीं हो सकता। परब्रह्म को तो स्वानुभव से, 'वस्तु'-रूप होकर ही, देख सकते हैं॥ ७४॥ यथार्थ 'स्वयं' 'वस्तु' ही है। यह कल्पना कभी न करना चाहिए कि 'मैं' मन हूं। साधु सदा यही बात बतलाते हैं कि आत्मा स्वयं तू ही है॥ ७५॥ संतों ने यह मिथ्या निरूपण कहीं नहीं किया कि 'मैं' मन है; तब फिर किसके कथन के आधार पर यह माना जाय कि 'मैं' मन है॥ ७६॥ संत-वचन में भाव रखना ही शुद्ध स्वानुभव है। मन स्वाभाविक ही चञ्चल होता है। वह 'मैं' नहीं है; किंतु 'मैं' स्वयं 'वस्तु' ही है॥ ७७॥ जिसका अनुभव पाना है, वास्तव में वही निरवयव 'वस्तु' हम हैं और 'अपना' ही अनुभव सारे जगत् के लोग लेते हैं!॥ ७८॥ लोभी पुरुष धन प्राप्त करते हुए स्वयं धनरूप हो जाता है; पर उस धन का भोग भाग्यवान् पुरुष आनन्द के साथ करते हैं॥ ७९॥ देहबुद्धि छोड़ने से वास्तव में साधकों का भी यही हाल होता है। यही अनुभव की मुख्य बात है॥ ८०॥ ज्ञान का विवेक ऐसा है कि, स्वयं 'हम' और 'वस्तु' दोनों वास्तव में बिलकुल एक ही हैं॥ ८१॥ यथामति मैंने यह आत्मज्ञान का निरूपण किया। श्रोता लोग न्यूनाधिक के लिए क्षमा करें॥ ८२॥

नववाँ दशक।



पहला समास—ब्रह्म-निरूपण।

॥ श्रीराम ॥

यह मुझे बतलाइये कि निराकार, निराधार और निर्विकल्प का क्या अर्थ है ॥ १ ॥ निराकार का अर्थ यह है कि परब्रह्म का आकार नहीं है, निराधार का अर्थ यह है कि परब्रह्म का आधार नहीं है और निर्विकल्प अर्थात् उस परब्रह्म की कल्पना नहीं की जा सकती ॥२॥ निरामय, निराभास, निरवयव का अर्थ मुझे बतलाइये ॥ ३ ॥ निरामय अर्थात् परब्रह्म विकार-रहित है, निराभास अर्थात् उसका भास नहीं होता और निरवयव अर्थात् उसमें अवयव भी नहीं है ॥ ४ ॥ मुझे निष्प्रपंच, निष्कलंक और निरुपाधि का अर्थ बतलाइये ॥ ५ ॥ निष्प्रपंच अर्थात् परब्रह्म में प्रपंच नहीं है, निष्कलंक अर्थात् उसमें कलंक नहीं है और निरुपाधि अर्थात् उसमें उपाधि नहीं है ॥ ६ ॥ निरुपम, निरवलम्ब और निरपेक्ष का अर्थ मुझे बतलाइये ॥ ७ ॥ निरुपम अर्थात् उस परब्रह्म की उपमा नहीं है, निरवलम्ब अर्थात् उसे अवलम्ब नहीं है और निरपेक्ष का अर्थ यह है कि, उसमें अपेक्षा नहीं है ॥ ॥ निरंजन, निरंतर और निर्गुण का अर्थ मुझे बतलाइये ॥ ६ ॥ निरंजन अर्थात् उसमें कालापन नहीं है, निरंतर अर्थात् उसमें अन्तर नहीं है और निर्गुण अर्थात् उसमें गुण नहीं है ॥ १० ॥ निस्संग, निर्मल और निश्चल का अर्थ क्या है सो मुझे बतलाइये ॥ ११ ॥ निस्संग अर्थात् जिसमें संग नहीं है, निर्मल, जिसमें मल भी नहीं है और निश्चल; जिसमें चलन नहीं है, ऐसा वह परब्रह्म है ॥ १२ ॥ निश्शब्द, निर्दोष और निवृत्ति का अर्थ क्या है? ॥ १३ ॥ निश्शब्द अर्थात् जिसमें शब्द नहीं, निर्दोष-जिसमें दोष नहीं और निवृत्तिः जिसमें वृत्ति नहीं, ऐसा वह परब्रह्म है ॥ १४ ॥ निष्काम, निर्लेप और निष्कर्म का अर्थ मुझे बतलाइये ॥ १५ ॥ निष्कामः जिसमें काम नहीं है, निर्लेपः जिसमें लेप नहीं है और निष्कर्मः जिसमें कर्म नहीं है; ऐसा वह परब्रह्म है ॥ १६ ॥ अनाम्य, अजन्म और अप्रत्यक्ष का अर्थ क्या है, मुझे बतलाइये ॥ १७ ॥ अनाम्यः जिसका नाम नहीं, अजन्माः जिसका जन्म नहीं और अप्रत्यक्ष अर्थात् जो प्रत्यक्ष नहीं है, ऐसा वह परब्रह्म है ॥ १८ ॥ अगणित, अकर्तव्य, अक्षय का

अर्थ क्या है, मुझे बतलाइये ॥ १९ ॥ अगणित, जो गिना नहीं जा सकता, अकर्तव्य: जिसमें कर्तव्य नहीं है और अक्षय: जिसका क्षय नहीं है ऐसा वह ब्रह्म है ॥ २० ॥ अरूप, अलक्ष और अनन्त का अर्थ मुझे बतलाइये ॥ २१ ॥ अरूप अर्थात् जिसमें रूप नहीं; अलक्ष अर्थात् जिसको लख नहीं सकते-जो 'अलख' है-और अनंत अर्थात् जिसका अंत नहीं, ऐसा वह परब्रह्म है ॥२२॥ अपार, अटल, अतर्क्य का अर्थ मुझे कृपा करके, बतलाइये ॥ २३ अपार: जिसका पार नहीं है, अटल: जो टल नहीं सकता और अतर्क्य: जिसका तर्क नहीं किया जा सकता, ऐसा वह ब्रह्म है ॥२४॥ अद्वैत, अदृश्य और अच्युत का अर्थ मुझे बतलाइये ॥ २५ ॥ अद्वैत अर्थात् जिसमें द्वैत नहीं, अदृश्य: जो दृश्य नहीं और अच्युत जो कभी च्युत नहीं हो सकता, ऐसा वह परब्रह्म है ॥ २६ ॥ अच्छेद्य: अदाह्य और अक्लेद्य का अर्थ मुझे बताइये ॥ २७ ॥ अच्छेद्य: जो छेदा नहीं जा सकता, अदाह्य: जो जलाया नहीं जा सकता और अक्लेद्य जो घुलाया नहीं जा सकता, ऐसा वह ब्रह्म है ॥ २८ ॥ परब्रह्म उसे कहते हैं जो सब से परे है। उसके स्वरूप का विचार करने से स्वयं 'हम' वही हैं-यह बात अनुभव से, सद्गुरु करने पर, मालूम होती है ॥ २९ ॥

दूसरा समास-आत्मज्ञान ।

॥ श्रीराम ॥

जितना कुछ साकार देख पड़ता है उतना सब कल्पान्त में नाश हो जाता है; पर स्वरूप-परब्रह्मस्वरूप सदा बना ही रहता है ॥ १ ॥ जो सब में सार 'वस्तु' है, जो मिथ्या नहीं है, सत्य है, और जो नित्य-निरन्तर बना रहता है ॥ २ ॥ वही भगवान् का मुख्य रूप है-उसी को 'स्वरूप' कहते हैं। इसके अतिरिक्त और भी उसके बहुत से नाम हैं ॥ ३ ॥ उसका ज्ञान करने के लिए उसमें नामनिर्देश किया जाता है; पर वास्तव में वह स्वरूप नामातीत है और सदा बना ही रहता है ॥ ४ ॥ वह दृश्य में भीतर-बाहर, सब जगह है; पर वह विश्व से छिपा हुआ भी है-(अर्थात् किसी को देख भी नहीं पड़ता)। देखो, वह कैसा पास रह कर भी गुप्त ही रहता है! ॥ ५ ॥ परमेश्वर का यह वर्णन सुन कर दृष्टि को देखने की इच्छा होती है; पर देखने से सारा दृश्य ही दृश्य देख पड़ता है ॥ ६ ॥ दृष्टि का विषय जो दृश्य है उसी को देखने से दृष्टि को संतोष होता है, पर वह सच्चा देखना

नहीं है ॥ ७ ॥ दृष्टि को जो कुछ दिखता है वह नाश होता है: इस विषय में श्रुति है (कि "यदृष्टं तन्नष्टं")। अतएव, जो दृष्टि को देख पड़ता है वह 'स्वरूप' नहीं है: (क्योंकि दृष्टि को देख पड़नेवाला पदार्थ नश्वर है और स्वरूप अविनाशी है) ॥ ८ ॥ स्वरूप निराभास है और दृश्य का भास होता है। वेदान्तशास्त्र में भास का नाश कहा है ॥ ९ ॥ देखने पर दृश्य ही का भास होता है: 'वस्तु' दृश्य से अलग है: किन्तु स्वानुभव से देखने पर वह दृश्य के भीतर बाहर-सब जगह-दिखती है ॥ १० ॥ जो निराभास और निर्गुण है उसकी पहचान क्या बताई जाय, पर यह जान लो कि, वह 'स्वरूप' है अपने पास ही ॥ ११ ॥ जैसे आकाश में भास भासता है, और आकाश सब में है, उसी प्रकार जगदीश भी सब जगह भीतर-बाहर है ॥ १२ ॥ पानी में है; पर भींगता नहीं, पृथ्वी में है: पर घिसता नहीं और अग्नि में होने पर भी उसका स्वरूप जलता नहीं ॥ १३ ॥ वह कीचड़ में है; पर सनता नहीं, वायु में है: पर उड़ता नहीं और सोने में है; पर सोने के समान गढ़ता नहीं ॥ १४ ॥ ऐसा वह सदा संचित है: पर कभी उसका आकलन नहीं होता उस अभेद में भेद बढ़ानेवाली यह अहंता है ॥ १५ ॥ इस लिए अब उस अहंता* के लक्षण बतलाता हूं: सावधान होकर सुनियेः— ॥ १६ ॥

जो स्वरूप की ओर जाती है, जो अनुभव के साथ रहती है और जो अनुभव के सब शब्द बोल कर बतलाती है ॥ १७ ॥ जो कहती है कि, "मैं ही 'स्वरूप' हूं" वही अहंता का रूप है-वह निराकार में आप ही आप अलग हो जाती है ॥ १८ ॥ अहंता भ्रम से स्वयं अपने ही को ब्रह्म समझती है: पर बहुत सूक्ष्म विचार करने पर उसका भ्रम प्रकट हो जाता है ॥ १९ ॥ "मैं ही ब्रह्म हूं"-यह हेतु-यह कहना—कल्पना से आकलन किया जा सकता है; परन्तु 'वस्तु' कल्पनातीत है; इसी लिए तो उस अनंत के अन्त का आकलन नहीं हो सकता ॥ २० ॥ अष्ट देहों के उद्भूत होने का नाम अन्वय और उस उद्भव के संहार होने का नाम व्यतिरेक है। अष्ट देहों का उद्भूत और संहार बतलाया जाना एक शाब्दिक ज्ञान है; परन्तु निःशब्द जो परब्रह्म है उसे सूक्ष्म विवेक से ढूंढ़ना चाहिए ॥ २१ ॥ पहले वाच्यांश लीजिए: फिर लक्ष्यांश को पहचानिये। लक्ष्यांश को देखने पर वाच्यांश रह ही कैसे सकता है? ॥ २२ ॥ सर्वब्रह्म और माया-विरहित विमलब्रह्म, इन दो के प्रतिपादन करनेवाले

* यहां बहुत ऊंची अहंता बतलाई जायगी; वास्तव में अहंता वही है जो कहती हो कि मैं स्वयं ब्रह्मस्वरूप हूं। "अहं ब्रह्मास्मि" वाली अहंता से यहां तात्पर्य है।

दो पक्ष हैं; पर ये सिर्फ बोलने ही भर के लिए हैं। लक्ष्यांश का मर्म मालूम हो जाने पर-(परब्रह्म वास्तव में क्या है, इसका ज्ञान हो जाने पर) —बोलना (वाच्यांश) रहता ही नहीं और न ये दोनों पक्ष ही रहते हैं ॥ २३ ॥ 'सर्व' और 'विमल' दोनों पक्ष वाच्यांश ही में रह जाते हैं-वे बोलने के आगे जाते ही नहीं-और लक्ष्यांश में लक्ष रखने से पक्षपात नहीं रहता ॥ २४ ॥ इस लक्ष्यांश का अनुभव करना चाहिए—यहां बोलने (वाच्यांश) का काम ही नहीं है। मुख्य अनुभव की पहचान में बोलना कहां से आया! ॥ २५ ॥ जहां पर परा, पश्यंति, मध्यमा और वैखरी चारों वाणी कुंठित हो जाती हैं वहां शब्दकला-कौशल का काम ही क्या है? ॥ २६ ॥ भला देखो तो, जब शब्द बोलते ही नाश हो जाता है तब उसमें शाश्वतता कहां से आ सकती है? प्रत्यक्ष के लिए कोई प्रमाण नहीं है; देखो! ॥ २७ ॥ शब्द प्रत्यक्ष नश्वर है; इसी कारण पक्षपात नहीं होता (पक्ष नहीं रहते)। अनुभव में 'सर्व' और 'विमल' का भेद ही नहीं है ॥ २८ ॥ अनुभव का लक्षण सुनो। अनुभव का अर्थ है अनन्य हो जाना। अब, अनन्य का लक्षण जैसा है, वह सुनोः— ॥ २९ ॥

जहां अन्य नहीं है वही अनन्य है, जैसे आत्मनिवेदन। संग-भंग होने के बाद (द्वैत नष्ट होने पर) आत्मपन से बना ही रहता है ॥३०॥ 'आत्मा' में 'आत्मपन' न होना ही निस्संग का लक्षण है। यह बात हम वाच्यांश से इसी लिए बतलाते हैं ताकि मालूम हो जाय ॥३१॥ अन्यथा यह कैसे हो सकता है कि लक्ष्यांश, वाच्यांश से बताया जाय। महावाक्य के विवरण से आप ही आप मालूम होने लगता है ॥ ३२ ॥ तत्वविवरण करने से, निर्गुण ब्रह्म का खोज लगाने से और स्वतः अपने को देखने से, सब मालूम होता है ॥ ३३ ॥ बिना बोले ही उसका, मनन (विचार) करना चाहिए— और मनन करते ही रहना चाहिए। इसी लिए तो महापुरुष को अन-बोल ही रहना शोभा देता है* ॥ ३४ ॥ यह तो प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि, उसके बतलाने में शब्द भी निःशब्द होता है और श्रुति "नेति नेति" कहती है ॥ ३५ ॥ प्रतीति हो जाने पर संशय रखना प्रत्यक्ष दुरभिमान है; तो फिर अब यही कहना चाहिए कि, "मैं अज्ञान हूं; मुझे कुछ भी नहीं मालूम!॥ ३६ ॥ मैं मिथ्या; मेरा बोलना मिथ्या; मैं मिथ्या; मेरा चलना मिथ्या! 'मैं-मेरा' सभी मिथ्या और काल्पनिक है! ॥ ३७ ॥ मुझे-मैंपन को-बिलकुल ही ठौर नहीं है; मेरा सारा बोलना व्यर्थ है।

* ब्रह्म अनिर्वाच्य होने के कारण सत्पुरुष बोल कर नहीं बताते। सच है; "गुरोस्तु मौनं व्याख्यानम्"।

मेरा बोलना प्रकृति का स्वभाव है, और प्रकृति मिथ्या है!" ॥ ३८ ॥ जहां प्रकृति और पुरुष दोनों का निरसन हो जाता है वहां मैंपन का रहना कब सम्भव है? ॥ ३९ ॥ जहां कुछ भी नहीं बचा वहां विशेष क्या बतलाया जाय? मुँह से यह कहने से, कि "मैंने मौनव्रत धारण किया है, " जिस प्रकार मौन नष्ट हो जाता है उसी प्रकार यदि मुँह से कोई अनुभव बतलाने लगे तो समझ लेना चाहिए कि अभी इसे अनुभव हुआ ही नहीं! ॥४०॥ अब मौन भंग न करना चाहिए करके भी कुछ न करना चाहिए (क्रिया-दोष-विरहित क्रिया-करना चाहिए) और विवेकबल से, रह कर भी बिलकुल न रहना चाहिए! ॥ ४१ ॥

तीसरा समास—ज्ञानी का जन्म-मरण नहीं।

॥ श्रीराम ॥

इस पर श्रोता लोग शंका करते हैं कि, यह कैसा ब्रह्मज्ञान है? रह करके भी कुछ न रहना कैसे हो सकता है? ॥ १ ॥ सब कुछ करके भी अकर्ता, सब कुछ भोग करके भी अभोक्ता और सब में अलिप्तता होना कैसे सम्भव है? ॥ २ ॥ तुम जो यह कहते हो कि, योगी भोग करके भी अभोक्ता ही बना रहता है?* ॥ ३ ॥ जन्म-मृत्यु भोगता ही रहता है; तौ भी योगी, उसे भोग करके भी, अभोगी बना रहता है! और यातना का भी उसके लिए ऐसा ही हाल होता है! ॥ ४ ॥ योगेश्वर कूट कर भी नहीं कुटता, रोकर भी नहीं रोता और कांख कर भी नहीं कांखता! ॥ ५ ॥ जन्म न होकर भी वह जन्म पाता है, पतित न होकर भी पतित होता है और यातना न होकर भी नाना प्रकार की यातनाएं वह भोगता है! ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रोताओं ने शंका की और ऊटपटांग मार्ग का स्वीकार किया। अब, इसका समाधान करना चाहिए ॥ ७ ॥ वक्ता कहता है कि,

* श्रोता इस स्थान में, बिलकुल अनसमझ बन कर प्रश्न करता है:—आप कहते हैं कि योगी सब करके भी अकर्ता और सब भोग कर भी अभोक्ता है, तो फिर पापाचरण करनेवालों के लिए अंकुश कहीं रहा ही नहीं; क्योंकि पाप करके भी न करने के समान हुआ। तब तो कहना चाहिए कि, पाप-पुण्य, सुकृत दुष्कृत सब समान ही हो गये! स्वर्ग जाकर भी न जाने के समान है और नर्क जाकर भी न जाने के समान है!

अच्छा, सावधान हो आओ। तुम ठीक कहते हो; पर तुम्हें अपने ही अनुभव से ऐसा होता है ॥ ८ ॥ जिसका जैसा अनुभव है वह वैसा बोलता है। परन्तु सामर्थ्य या सम्पदा के बिना धनवान् बनना निरर्थक है! ॥ ९ ॥ जिसके पास ज्ञान-संपदा नहीं है, वह अज्ञान-दरिद्रता के कारण केवल शब्दज्ञान से, सदा आपदा भोगता ही रहता है ॥ १० ॥ योगीश्वर को योगी ही पहचानता है, ज्ञानेश्वर को ज्ञानी ही पहचानता है और महाचतुर को चतुर ही पहचानता है ॥ ११ ॥ अनुभवी को अनुभवी ही जानता है, अलिप्त को अलिप्त ही जानता है और विदेही को विदेही जानता है ॥ १२ ॥ यह कहने की जरूरत नहीं है कि, जो पुरुष बद्ध के समान सिद्ध और सिद्ध के समान बद्ध की भावना करता है वह मूर्ख अर्थात् अज्ञान है ॥ १३ ॥ जिसे भूत लगता है वह देहधारी होता है और पंचाक्षरी—झाड़ने-वाला—भी देहधारी होता है; पर दोनों को एक ही समान कैसे कह सकते हैं? ॥ १४ ॥ इसी तरह जो पुरुष, अज्ञान या पतित और ज्ञानी या जीव-न्मुक्त, दोनों को समान मानता है उसे बुद्धिमान् कैसे कहें? ॥१५॥ अब ये दृष्टांत बस करो! अब कुछ अनुभव की बात बतलाता हूं; कुछ देर सावधान होकर सुनियेः—॥ १६ ॥

जो ज्ञान से गुप्त (लीन) होता है, जो विवेक से आत्मस्वरूप में लय होता है और अनन्य हो जाने के कारण अलग नहीं रहता है ॥ १७ ॥ उसे कैसे प्राप्त करें? क्योंकि जब हम उसे ढूंढ़ने जाते हैं; तब हम भी स्वयं वही हो जाते हैं और 'वही' हो जाने से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रहती ॥ १८ ॥ देह में देखने से दिखता नहीं और तत्त्व से शोधने पर भासता नहीं। ब्रह्म है; पर, कुछ भी करें, पहचाना नहीं जाता ॥ १९ ॥ देखने में तो देहधारी है; पर भीतर निर्विकारी है; तब फिर उसको ऊपर ऊपर से देखने पर, कैसे पहचान सकते हैं? ॥ २० ॥ यदि उसका ज्ञान करने के लिए हम उसे ढूंढ़ते हैं तो वह नित्य और निरन्तर जान पड़ता है। उसके ढूँढ़ने से विकारी भी निर्विकारी हो जाता है ॥ २१ ॥ वह केवल परमात्मा है—उसमें मायामल नहीं है। वह अखण्ड है। कामना की छूत उसमें कभी लगी ही नहीं ॥ २२ ॥ ऐसा जो योगिराज है वह स्वाभा-विक ही आत्मा है; वह वेदबीज पूर्णब्रह्म है; सिर्फ देह की ओर देखने से वह जाना नहीं जा सकता ॥ २३ ॥ देह की भावना करने से देह ही दिखती है; पर गुह्य बात अलग ही है! खोजने से मालूम होता है कि, उस (योगिराज) का जन्ममरण नहीं है ॥ २४ ॥ जिसका जन्ममरण होता है वह अंतरात्मा कदापि नहीं है। जो है ही नहीं उसे लावें तो कहां से, और कैसे? ॥ २५ ॥ निर्गुण के जन्म अथवा मृत्यु की

कल्पना करने से स्वयं अपने को ही जन्म और मृत्यु मिलती है ॥ २६ ॥ दोपहर को सूर्य पर थूंकने से वह थूंक अपने ही ऊपर आ गिरता है। इसी प्रकार दूसरे की भलाई-बुराई की चिंतना करने से अपनी ही भलाई बुराई होती है ॥ २७ ॥ समर्थराज की महिमा जानने से समाधान होता है; परन्तु यदि कुत्ता भूंकने लगे तो (क्या कहा जाय? आखिर) वह कुत्ता ही है! ॥ २८ ॥ ज्ञानी सत्यस्वरूप है, पर अज्ञानी (उसको-ज्ञानी को) मनुष्यरूप देखता है। भाव के अनुसार ईश्वर प्राप्त होता है ॥ २९ ॥ ईश्वर निराकार-निर्गुण है और लोग पाषाण को ईश्वर मानते हैं! पाषाण तो फूट जाता है; पर निर्गुण कैसे फूट सकता है? ॥ ३० ॥ ईश्वर सदोदित एक ही बना है; लोगों ने उसे बहुत प्रकार का बना डाला है! पर यह कब हो सकता है कि, वह बहुत प्रकार का हो जाय? ॥ ३१ ॥ उसी प्रकार आत्मज्ञानी साधु अपने ज्ञान से पूर्ण समाधानी होता है। वह विवेक से आत्मनिवेदनी और आत्मरूपी होता है ॥ ३२ ॥

काठ का रूप जल कर उसकी अग्नि, काठ के आकार की देख पड़ती है; पर यह नहीं हो सकता कि, वह सचमुच काठ हो जाय ॥ ३३ ॥ कपूर के समान ही ज्ञानी के देह की दशा है। एक बार कपूर जल जाने से फिर वह केला के उदर में कभी नहीं आ सकता। इसी प्रकार ज्ञानी की देह, एक बार अदृश्य हो जाने पर, फिर जन्म नहीं पाता ॥ ३४ ॥ भुना हुआ बीज उग नहीं सकता, जला हुआ वस्त्र फिर बन नहीं सकता और गंगा में दूसरी नदी का प्रवाह देखने से अलग नहीं देख पड़ता! ॥ ३५ ॥ वह प्रवाह गंगा के पीछे छिपता है; (क्योंकि) गंगा एकदेशी है; परन्तु साधु का कुछ भास ही नहीं होता (क्योंकि जिसमें वह मिला होता है वह) आत्मा सर्वगत है ॥ ३६ ॥ (पारस से बना हुआ) सोना फिर लोहा नहीं हो सकता, इसी प्रकार साधु का जन्म फिर नहीं हो सकता। परन्तु जो जड़मूढ़ अज्ञान प्राणी हैं उन्हें यह बात समझ ही नहीं पड़ती! ॥ ३७ ॥ जैसे अंधे को कुछ नहीं देख पड़ता उसी प्रकार उन अज्ञानियों को भी सत्य बात नहीं मालूम होती। उन्हें, सन्निपात में बर्राते हुए पुरुष की तरह, पागल समझना चाहिए ॥ ३८ ॥ जो स्वप्न में डरा हुआ है वह स्वप्न-भय से बर्राता है। वह भय जगते हुए मनुष्य को कैसे हो सकता है? ॥ ३९ ॥ किसी वृक्ष की सर्पाकार जड़ को देख कर कोई डर जाता है और कोई उसे पहचान जाता है; अब दोनों की दशा एक कैसे मानी जा सकती है? ॥ ४० ॥ एक आदमी उस जड़ को हाथ से पकड़े हुए है और वह (भ्रम का सर्प) उसे नहीं काटता; परन्तु दूसरे आदमी को यह विश्वास ही नहीं आता! इसका मतलब यही है कि,

उसकी कल्पना ही उसे डरवा रही है! ॥ ४१ ॥ जिसको बिच्छू या सर्प काटता है वही दुःखित होता है; लेकिन उसके काटने के दुःख से दूसरे लोग कैसे घबड़ा सकते हैं? ॥ ४२ ॥ इतने से श्रोताओं का संदेह मिट जाता है। अर्थात् ज्ञान, ज्ञानियों ही को मालूम होता है और अज्ञानों का जन्ममरण नहीं छूटता! ॥ ४३ ॥ सिर्फ ज्ञान न होने के कारण ही बहुत लोग पतन हो चुके हैं। अज्ञान के कारण ही लोग जन्ममृत्यु का कष्ट उठाते हैं ॥४४॥ इसीका निरूपण अगले समास में सावधान होकर सुनिये ॥ ४५ ॥

चौथा--समास--अजान और सुजान।

॥ श्रीराम ॥

पृथ्वी पर सब तरह के लोग हैं; कोई सम्पन्न हैं, कोई दुर्बल हैं, कोई निर्मल हैं और कोई मैले—कुचैले हैं—ऐसा क्यों है? ॥ १ ॥ कितने ही राजा बन कर आनन्द करते हैं, कितने ही आदमी दरिद्रता भोगते हैं। कितनों ही की उत्तम स्थिति है और कितने ही अधमाधम स्थिति में हैं ॥ २ ॥ यह हाल किस कारण हो रहा है? मुझे बतलाइये ॥ ३ ॥ उत्तरः—यह सब गति, गुण के कारण है। जो गुणवान हैं वे तो भाग्यश्री भोगते हैं और जो अवगुणी हैं उन्हें दरिद्र-भोग मिलता है। इसमें कुछ भी संदेह नहीं ॥ ४ ॥ जो जिस जाति में उत्पन्न होता है वह जब उसी जाति का व्यवसाय सीखता है तब लोग उसकी प्रशंसा करते हैं ॥ ५ ॥ सुजान कार्य करता है और अजान कुछ नहीं करता। सुजान पेट भरता है और अजान भीख माँगता है ॥ ६ ॥ यह बात प्रगट ही है—इसे सब लोग प्रत्यक्ष देखते हैं-कि, जिसके पास विद्या नहीं है वह अभागी होता है और विद्यावाला भाग्यवन्त होता है ॥ ७ ॥ जहां देखो वहीं बुजुर्ग लोग यह सिखावन दिया करते हैं कि, " अपनी विद्या न सीखोगे तो क्या भीख माँगोगे?" ॥ ८ ॥ बाप के अभागी होने पर भी, कभी कभी लड़का भाग्यशाली देखा जाता है। इसका कारण यही है कि, वह लड़का विद्या में बड़ा होता है ॥ ९ ॥ विद्या, बुद्धि, विवेक, उद्योग, कुशलता और व्यापार आदि गुणों के न होने से मनुष्य अभागी होता है ॥ १० ॥ इतने सब गुण जिसमें होते हैं उसके पास वैभव की कमी नहीं रहती। वैभव को छोड़ने पर भी, वह आप ही आप, उसके पीछे लगता है ॥ ११ ॥ बुजुर्ग धनवान और बेटे भिखारी होने का कारण यह है, कि बेटे अपने बुजुर्गों का सा उद्योग नहीं करते, इस लिए वे भिखारी होते हैं ॥ १२ ॥ जैसी विद्या होती

है वैसा ही हौसला–उत्साह–होता है और जैसा व्यापार होता है वैसा ही वैभव मिलता है। लोग भजन, या गौरव, देख कर मान करते हैं ॥ १३ ॥ जहां विद्यावैभव नहीं होता वहां स्वच्छता कैसे रह सकती है? अभाग्य के कारण मनुष्य कुरूप, मैला–कुचैला और रोगी–सा जान पड़ता है ॥ १४ ॥ जब गुणवान् पशु-पक्षियों का भी सब लोग आदर करते हैं तब मनुष्य के गुण की प्रतिष्ठा क्यों न हो? गुण के बिना प्राणिमात्र का जीवन व्यर्थ है ॥ १५ ॥ जिस मनुष्य में गुण नहीं होता उसका गौरव नहीं होता, और सामर्थ्य, महत्त्व, कौशल, चतुरता आदि कुछ उसमें नहीं होता ॥ १६ ॥ अतएव, उत्तम गुण का होना ही सौभाग्य का लक्षण है। अन्यथा सहज ही कुलक्षणता आती है ॥ १७ ॥ सुजान पुरुष का ही मान होता है। कोई भी एक विद्या होने से मनुष्य को महत्त्व प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

प्रपंच या परमार्थ, दो में से किसी एक का भी, अथवा दोनों का, जाननेवाला समर्थ होता है और जो कुछ नहीं जानता उसका जीवन व्यर्थ है ॥ १९ ॥ अनजानपन में ही बिच्छू सर्प डँस लेता है, जीवघात हो जाता है और प्रत्येक कार्य नष्ट हो जाता है ॥ २० ॥ अनजानपन से ही मनुष्य फँस जाता है; हठ में पड़ता है, ठगा जाता है; और कोई पदार्थ भूल जाता है ॥२१॥ अनजानपन में ही वैरी जीत लेता है, अनजानपन से ही मनुष्य संकट में पड़ता है और अनजानपन से ही संहार होता है–जीव नाश होता है ॥२२॥ अपना हित न मालूम होने के कारण लोग यातना भोगते हैं। ज्ञान न होने के कारण ही अज्ञान को अधोगति मिलती है ॥ २३ ॥

माया–ब्रह्म, जीव–शिव, सारासार और भाव–अभाव जानने से जन्म-मरण मिटता है ॥ २४ ॥ निश्चय करके कर्ता कौन है, और बद्ध–मुक्त किसे कहते हैं–यह जानने से प्राणियों का छुटकारा होता है ॥ २५ ॥ निर्गुण देव पहचानना चाहिए, "मैं" क्या है–सो जानना चाहिए और अनन्य-लक्षण पहचानना चाहिए। इससे मुक्ति मिलती है ॥ २६ ॥ जितना जो जान कर छोड़ दिया जाता है उतना ही दृश्य (माया) को पार कर लेते हैं। ज्ञाता को जानने से मैंपन का मूल मिट जाता है ॥ २७ ॥ बिना जाने चाहे करोड़ों, नाना प्रकार के साधन क्यों न कर डालो; पर मोक्ष के अधिकारी नहीं बन सकते ॥ २८ ॥ माया–ब्रह्म पहचानना चाहिए और स्वयं 'अपने' को जानना चाहिए। बस, इतना जानने से सहज ही जन्म–मरण मिट जाता है ॥ २९ ॥ राजा या धनवान् पुरुष के मन की बात जान कर तब, प्रसंग के अनुसार, बर्ताव करने से बहुत वैभव मिलता है ॥३०॥ इस लिए जानना कोई सामान्य बात नहीं है। जानने से सर्वमान्य बनते हैं और कुछ भी न जानने से सब जगह अपमान होता है ॥ ३१ ॥ कोई पदार्थ देख, उसमें भूत

की भावना करके, अनजान पुरुष डर कर प्राण छोड़ देते हैं और सुजान आदमी यह बात जानते हैं कि भूतों की बात मिथ्या है ॥ ३२ ॥ सुजान को मर्म मालूम हो जाता है और अजान आदमी मिथ्या कर्मों में फँसा रहता है। धर्म, अधर्म आदि सब कुछ जानने ही से मालूम होता है ॥ ३३ ॥ अजान को यमयातना मिलती है, और सुजान किसी संकट में नहीं पड़ता। जो सब कुछ जानकर उसका विचार करता है वही मुक्त होता है ॥ ३४ ॥ राजनीति की बात न जानने के कारण, कभी कभी अपमान के साथ साथ, प्राणों से भी हाथ धो बैठना पड़ता है। अनजानपन के कारण सभी पर संकट आते हैं ॥ ३५ ॥ इस लिए अनजानपन में रहना अच्छा नहीं है। अनजान प्राणी अभागी है। जानने और समझने से जन्ममरण मिटता है ॥ ३६ ॥ इस लिए जानने में असावधानी न करनी चाहिए। जानना ही एक मुख्य उपाय है। जानने से परलोक का मार्ग मिलता है ॥ ३७ ॥ जानना सब को अच्छा मालूम होता है; पर मूर्ख को अच्छा नहीं जान पड़ता! अलिप्तता की पहचान जानने से ही मालूम होती है ॥ ३८ ॥ जानने (ज्ञान) के बिना, प्राणियों को और कौन मुक्त कर सकता है? कोई भी काम हो; बिना जाने नहीं मालूम होता ॥ ३९ ॥ जानना; अर्थात् स्मरण और न जानना; अर्थात् विस्मरण। अब यह बात चतुर लोग जान सकते हैं कि, इन दोनों में ठीक क्या है ॥ ४० ॥ जो जानकार हैं वे ही चतुर हैं और जो अनजान हैं वे ही पागल और दीन हैं। जानपन से विज्ञान (अनुभवज्ञान) भी मालूम होने लगता है ॥ ४१ ॥ जहां जानपन कुंठित हुआ कि, बस समझ लो, वहां बोलना भी खतम हुआ। यह दशा आ जाने पर ही अनिर्वाच्य समाधान मिलता है ॥ ४२ ॥

इतना सुन कर श्रोता कहते हैं कि, यह ठीक है; हम लोगों को इस से बहुत समाधान प्राप्त हुआ; पर अब हम को पिंड और ब्रह्मांड के ऐक्य का लक्षण बतलाइये ॥ ४३ ॥ बहुत लोग कहते हैं कि, जो ब्रह्मांड में है वही पिंड में है; परन्तु आप इसे इस प्रकार बतलावें कि, जिससे हम लोगों को इसका प्रत्यय आ जाय ॥ ४४ ॥

पाँचवाँ समास—पिण्ड और ब्रह्माण्ड।

॥ श्रीराम ॥

यह बात हमारी समझ में नहीं आती कि, पिंड के समान ब्रह्मांड की रचना कैसे है। इस बात की प्रतीति करने के लिए नाना मत मटक रहे

हैं ॥ १ ॥ समय समय पर तत्त्वज्ञ लोग कहा करते हैं कि, जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है ॥ २ ॥ लोगों का कथन है कि, पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों एक ही तरह के हैं, पर यह बात प्रत्यय की कसौटी में जंच नहीं सकती ॥ ३ ॥ स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण, ये चार, पिण्डों के देह हैं और विराट्, हिरण्यगर्भ, अव्याकृति और मूल-प्रकृति, ये चार, ब्रह्माण्ड के देह हैं ॥ ४ ॥ यह तो शास्त्रकथन हुआ; पर प्रतीति कैसे करें? प्रतीति का विचार करने से बड़े गड़बड़ में पड़ते हैं! ॥ ५ ॥ जैसे पिंड में अन्तः-करण है वैसे ही ब्रह्मांड में विष्णु है; और जैसे पिंड में मन बतलाते हैं, वैसे ही ब्रह्मांड में चन्द्रमा है ॥ ६ ॥ पिंड में जैसे बुद्धि का होना बतलाते हैं वैसे ही ब्रह्मांड में ब्रह्मा है; और पिंड में जैसे चित्त है वैसे ही ब्रह्मांड में नारायण है ॥ ७ ॥ पिंड में अहंकार बतलाते हैं; इधर ब्रह्मांड में रुद्र का होना निश्चय करते हैं। यह विचार शास्त्रों में कहा है ॥ ८ ॥ अच्छा, तो फिर विष्णु का अन्तःकरण कौन है? चन्द्र का मन कैसा है? और ब्रह्मा की बुद्धि कैसी है? मुझे बतलाइये ॥ ९ ॥ नारायण का चित्त कैसा है? रुद्र का अहंकार क्या है? इन सब का ठीक ठीक विचार करके मुझे बत-लाइये ॥ १० ॥ प्रतीति और निश्चय के आगे अनुमान ऐसा है जैसे सिंह के सामने कुत्ता! सच्चे के आगे झूठे को कोई कैसे ठीक मान सकता है? ॥ ११ ॥ पर इसके लिए परीक्षक चाहिए। परीक्षक के द्वारा सत्य बात मालूम होती है और परीक्षा न जानने से सन्देह में पड़ा रहना होता है ॥ १२ ॥ हे स्वामी, विष्णु, चन्द्र, ब्रह्मा, नारायण और रुद्र, इन पांचों के अन्तःकरण हमें बतलाइये ॥ १३ ॥ यहां प्रतीति ही प्रमाण है; शास्त्र के अनुमान की आवश्यकता नहीं है। अथवा शास्त्रों को ही देख कर सत्य बात प्रत्यय में लाना चाहिए ॥ १४ ॥ प्रतीति के बिना कोई भी कथन अच्छा नहीं लगता। वह कथन ऐसा होता है जैसे कुत्ता मुँह फैला कर रो गया हो ॥ १५ ॥ जहां प्रत्यय के नाम से शून्याकार है वहां क्या सुना जाय, और क्या ढूँढ़ कर देखा जाय! ॥१६॥ जहां सारे अंधे ही अंधे जमा हैं वहां आंखवाले की क्या चल सकती है? जहां अनुभव के नेत्र चले जाते हैं वहां अंधकार हो जाता है ॥ १७ ॥ जहां दूध और पानी नहीं है, विष्ठा फैली है, वहां राजहंसों का क्या काम? वहां तो डोमकौवों का ही काम है! ॥ १८ ॥

अपनी इच्छा से, पिंड के समान ब्रह्मांड की कल्पना तो कर ली; पर वह प्रतीति में भी तो आना चाहिए ॥ १९ ॥ अतएव, यह सारा सन्देह कल्पना का ऊजड़ जंगल है। भले आदमी जंगल की टेढ़ी राह नहीं पकड़ते—चोर पकड़ते हैं! ॥ २० ॥ मंत्र कल्पना-द्वारा निर्माण किए हुए हैं और देवता भी कल्पना से हुए हैं। देवता स्वतंत्र नहीं हैं; वे मंत्राधीन हैं ॥२१॥

यह बात बिना बतलाये ही जान लेना चाहिए। जैसे चतुर पुरुष अंधे को, उसकी चाल पर से, जान लेते हैं उसी प्रकार उक्त बात विवेक से जान लेना चाहिए ॥ २२ ॥ जिसे जैसा भासता है वह वैसा ही काव्य बनाता है; पर अपनी बुद्धि से उसे जान लेना चाहिए ॥ २३ ॥ ब्रह्मा सम्पूर्ण सृष्टि रचता है; पर ब्रह्मा को कौन रचता है? विष्णु सारे विश्व का पालन करता है; पर विष्णु का पालनेवाला कौन है? ॥ २४ ॥ रुद्र विश्व का संहारकर्ता है; पर रुद्र का संहारकर्ता कौन है? काल सब का नियन्ता है; पर काल पर शासन करनेवाला कौन है? ये सब बातें मालूम होनी चाहिए ॥ २५ ॥ जब तक उक्त प्रकार की बातें नहीं मालूम होतीं तब तक सब अंधकार ही समझना चाहिए। अतएव, सारासार का विचार करना चाहिए ॥ २६ ॥ ब्रह्मांड आप ही आप हो जाता है; और पिंडाकार मान लिया जाता है। मान तो लिया जाता है; पर इसका प्रत्यय कभी नहीं आता ॥ २७ ॥ ब्रह्मांड की प्रतीति का विचार करने से बहुत से संशय उठते हैं। वास्तव में यह सब काल्पनिक जानना चाहिए ॥२७॥ पिंड के समान ब्रह्मांड की रचना कौन मान सकता है? ब्रह्मांड में अनेक पदार्थ भरे पड़े हैं; पर वे पिंड में कहां हैं? ॥ २९ ॥ साढ़े तीन कोटि भूतों की जातियां, साढ़े तीन कोटि तीर्थ और साढ़े तीन कोटि मंत्र पिंड में कहां हैं? ॥ ३० ॥ तेंतीस करोड़ देवता, अट्ठासी हजार ऋषि और नव करोड़ कात्यायनी देवी पिंड में कहां हैं? ॥३१॥ छप्पन करोड़ चामुंडा देवी, कितने ही प्रकार के करोड़ों जीव और चौरासी लाख योनियों का जमाव पिंड में कहां है? ॥ ३२ ॥ ब्रह्मांड में और भी जो बहुत से, नाना प्रकार के, पदार्थ अलग अलग निर्माण हुए हैं वे भी सब पिंड में बतलाना चाहिए ॥ ३३ ॥ अनेक औषधियां, अनेक रसाल फल, नाना प्रकार के बीज, अनाज, ये सब, पिंड में भी बतलाइये ॥ ३४ ॥ यद्यपि यह बतलाने से पूरा नहीं हो सकता, तथापि योंही बतलाया भी नहीं जा सकता, और बतलाया हुआ ध्यान में न आने से लाज आती है! ॥ ३५ ॥

अस्तु। जब यह बतलाया ही नहीं जा सकता तब फिर व्यर्थ क्यों बोलना चाहिए। सन्देह की कोई जरूरत नहीं ॥ ३६ ॥ वास्तव में पांच भूत ब्रह्मांड में और पांच ही पिंड में भी बर्तते हैं। इसे अच्छी तरह समझ लीजिए ॥ ३७ ॥ पांच भूतों का ब्रह्मांड है और यह पिंड भी पंचभौतिक ही है—इसके अतिरिक्त जो कुछ है वह सब अनुमान—ज्ञान है! ॥ ३८ ॥ जितना कुछ अनुमान का कथन है उतना सब वमन की तरह त्याज्य है और जो निश्चयात्मक कथन है वही प्रत्ययपूर्ण और ग्राह्य है ॥ ३९ ॥ यद्यपि इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता कि, जो पिंड में है वही ब्रह्मांड में है,

तथापि, पंचभूतों का पसारा दोनों में है ॥ ४० ॥ इन दोनों के विषय में यह सिर्फ अनुमान मात्र है । तब फिर मुख्य समाधान क्या है ? ॥ ४१ ॥

छठवाँ समास-पंचभूत और त्रिगुण ।

॥ श्रीराम ॥

आकाश की तरह ब्रह्म निराकार है । आकाश में जिस प्रकार वायु का विकार उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म में मूलमाया होती है ॥ १ ॥ यह इस ग्रन्थ में बतलाया जा चुका है-पीछले दशक में इस बात को स्पष्ट कर चुके हैं-मूलमाया में पंचभूतों का अस्तित्व दिखलाया जा चुका है ॥२॥ उसमें (मूलमाया में) जो जानपन है वही सत्त्वगुण है, अनजानपन तमोगुण है और दोनों का मध्यम (कुछ जानपन और कुछ अनजानपन) रजोगुण है ॥ ३॥ यदि कहोगे कि वहां जानपन कहां से आया, तो इसका अभिप्राय यह है कि, जिस तरह पिंड में महाकारण देह ही सर्वसाक्षिणी (तुर्या) अवस्था होती है ॥ ४ ॥ उसी प्रकार ब्रह्मांड का महाकारण देह मूलप्रकृति है, इस लिये मूलप्रकृति में जानपन का अधिष्ठान है ॥५॥ अस्तु । मूलमाया में त्रिगुण गुप्त रीति से रहते हैं । परन्तु जब वे स्पष्ट होते हैं तब उस दशा को चतुर लोग गुणक्षोभिणी (गुणमाया) कहते हैं ॥ ६ ॥ जैसे किसी घास की वाली खिल कर खुल जाती है उसी प्रकार मूलमाया से त्रिगुण भी सहज ही में प्रकट हो जाते हैं ॥ ७ ॥ मूलमाया वायुस्वरूप होती है और उसीको, अल्प गुण-विकार होने पर, गुणक्षोभिणी कहते हैं ॥ ८ ॥

इसके बाद जानपन, अनजानपन और जान-अनजान-पन का मध्यम ये तीनों (अर्थात् त्रिगुण) प्रकट होकर मिश्रितरूप से बर्तने लगते हैं । इसके बाद शब्द प्रकट होता है, जो अकरादि अक्षरों का अधिष्ठान है ॥ ९ ॥ वही शब्द आकाश का गुण है । शब्द से ही वेदशास्त्रों का आकार हुआ है ॥१०॥ पंचभूत, त्रिगुण, जानपन, अनजानपन इत्यादि सब वायु का ही विकार है ॥ ११ ॥ वायु न होने से जानपन कहां से आ सकता है ? और जानपन न होने से अनजानपन कहां से हो सकता है ? जान-अनजान-पन वायु के कारण से ही रह सकते हैं ॥ १२ ॥ जहां चलन (वायु का लक्षण) बिलकुल नहीं है वहां ज्ञान-लक्षण कहां से हो सकता है ? इस वायु का ही गुण मुख्य है ॥ १३ ॥ यद्यपि एक से दूसरे का प्रकट होना प्रत्यक्ष में देखा जाता है, तथापि तीन गुण और पांच भूत मूलस्वरूप (मूलमाया) में ही होते हैं ॥ १४ ॥ इस प्रकार, यह कर्दम आदि ही का है-वही फिर

पीछे से स्पष्ट होता है। इसके सिवाय, यह कहना भी सच है कि, क्रमशः एक से दूसरे की उत्पत्ति होती है ॥१५॥ ऊपर वायु का मिश्रण बतलाया गया। अब, उसके बाद, वायु से अग्नि होता है। परन्तु, वास्तव में वह भी कर्दमरूप ही होता है ॥ १६ ॥ फिर अग्नि से आप और आप से पृथ्वी होती है। परन्तु ये भी कर्दमरूप ही होते हैं ॥ १७ ॥

यहां यह आशंका उठती है कि, भूतों में जानपन किसने देखा है? पंच-महाभूतों में तो जानपन का होना कभी सुना भी नहीं गया! ॥ १८ ॥ वास्तव में जानपन चलनशक्ति को कहते हैं, और चलनशक्ति वायु का लक्षण है; तथा वायु में सारे गुणों का होना पीछे बतला ही चुके हैं ॥१९॥ इस तरह, जान-अनजान-पन से मिश्रित सारे पंचभूत बर्तते हैं। अतएव, भूतों में जानपन अवश्य है ॥ २० ॥ हां, यह जरूर है कि, वह कहीं दिखता है और कहीं नहीं दिखता; पर वह भूतों में व्याप्त अवश्य है। उसकी स्थूलता या सूक्ष्मता तीक्ष्णबुद्धि से भासती है ॥२१॥ भूतों में भूत सन कर पंचभूत बने हैं। वास्तव में देखने से कोई स्थूल और कोई सूक्ष्म भासते हैं ॥२२॥ जिस प्रकार निरोधित वायु का भास नहीं होता उसी प्रकार जानपन भी नहीं देख पड़ता। देख नहीं पड़ता; पर वह भूतरूप में है जरूर ॥२३॥ काठ में जिस प्रकार अग्नि देख नहीं पड़ता, निरुद्ध वायु का जिस प्रकार भास नहीं होता, उसी प्रकार भूतों में जानपन भी एकाएक नहीं लख पड़ता ॥२४॥ भूत अलग अलग दिखते हैं; पर वास्तव में वे मिले हुए हैं। बहुत चतुरता के साथ अनुभव प्राप्त करना चाहिए ॥ २५ ॥ ब्रह्म से मूलमाया, मूलमाया से गुणमाया और गुणमाया से त्रिगुण हुए हैं ॥ २६ ॥ इसके बाद, गुणों से, पंचमहाभूत हुए हैं। उन सब का रूप बतला दिया गया है ॥ २७ ॥ श्रोता कहता है कि, यह कभी नहीं हो सकता कि, आकाश गुण से हुआ है। शब्द को आकाश का गुण मानना ही मिथ्या है ॥२८॥ इस पर वक्ता कुछ रूठ कर कहता है:-बतलाते कुछ हैं और भावना करता है कुछ-व्यर्थ के लिए गाथा-जाल बढ़ाता है! अब इस पागल को कौन समझावे? ॥ २९ ॥ सिखाने से तो मालूम नहीं होता, समझाने से भी नहीं समझता! यह मन्दरूप (शिष्य) दृष्टान्त से तर्कना भी नहीं करता! ॥ ३० ॥

यह बतला दिया है कि, एक भूत से दूसरा भूत बड़ा है; अब भूतों से बड़ा और स्वतंत्र कौन है? ॥ ३१ ॥ जब मूलमाया ही पंचभौतिक है तब और कौन सा विवेक रह गया! हां, मूलमाया से परे एक निर्गुण ब्रह्म है ॥ ३२ ॥ उस ब्रह्म में होनेवाली मूलमाया का जब हम विचार करते हैं तब जान पड़ता है कि, वह पंचभूतों और त्रिगुणों की बनी हुई है ॥ ३३ ॥ चार

भूत विकारवंत हैं; पर आकाश निर्विकार है। आकाश को जो भूतों में गिनती हुई है सो उपाधि के कारण से ॥ ३४ ॥ पिंड में व्यापक होने के कारण जिस प्रकार 'जीव' नाम हुआ है और ब्रह्मांड में व्यापक होने के कारण जैसे 'शिव' नाम पड़ा है, वैसे ही आकाश भी उपाधि के कारण भूत कहलाता है ॥ ३५ ॥ उपाधि में पड़ गया है और सूक्ष्मता के साथ देखने से भासता है—बस, इसी कारण, आकाश भूतरूप हुआ है ॥ ३६ ॥ आकाश, शेष चारों भूतों की उपाधि से, पोलेपन के रूप में, भासता है; परन्तु परब्रह्म निराभास है। वास्तव में, उपाधि-रहित आकाश ही परब्रह्म है ॥३७॥ जानपन, अनजानपन और इन दोनों की मध्यम स्थिति—यही तीन गुणों का लक्षण है। यहां त्रिगुण भी रूप-सहित बतला दिये गये ॥ ३८ ॥ ज्यों ज्यों प्रकृति विस्तृत होती गई त्यों त्यों और का और ही बनता गया। जो विकारवन्त ही है उसका क्या नियम? ॥३९॥ काला और सफेद मिलाने से नीला बनता है और काला-पीला मिलाने से हरा बनता है ॥ ४० ॥ इस प्रकार, नाना तरह के रंग मिलाने से जैसे परिवर्तन होता जाता है वैसे ही यह विकारी दृश्य (प्रकृति) भी एक दूसरे के मिलने से नाना रूप धरता है ॥ ४१ ॥ एक ही पानी नाना रंगों से, तरंग के रूप में, उठने लगता है। इस पलटने के विकार का कहां तक विचार किया जाय? ॥ ४२ ॥ एक पानी ही के विकार यदि देखे जायँ तो अपार हैं! फिर पांच भूतों का विस्तार तो चौरासी लाख योनियों के रूप में है! ॥ ४३ ॥ नाना देहों का बीज पानी ही है। सारे लोग उदक से ही हुए हैं। कीड़ा, चींटी, श्वापदादिक सब उदक से ही होते हैं ॥४४॥ रज और वीर्य की गणना पानी ही में है और उसी पानी का यह शरीर है। नख, दंत और जितनी हड्डियां हैं, वे भी सब पानी ही से बनती हैं ॥४५॥ जड़ों के बारीक तंतुओं के द्वारा वृक्ष में पानी भरता रहता है और उसी उदक से वृक्षमात्र का विस्तार होता है ॥ ४६ ॥ आम के वृक्ष में मौर पानी ही के कारण आता है और सारे वृक्ष पानी ही के कारण खूब फल-फूल से लद जाते हैं ॥४७॥ वृक्ष की पेड़ी, या कंधा, फाड़ कर फल यदि ढूँढ़ा जाय तो नहीं मिल सकता—वहां गीली छाल ही रहती है ॥४८॥ जड़ से लेकर, ऊपर फुंगसी तक, उसके भीतर फल नहीं देख पड़ता; फिर फल आता कहां से है? उसमें फल जलरूप से ही रहता है। यह बात चतुर लोग विवेक से जानते हैं ॥ ४९ ॥ वही जल जब ऊपर चढ़ता है तब सब वृक्ष फल-फूल से लद जाते हैं। इस प्रकार कुछ का कुछ हो बनता है! ॥ ५० ॥ इसी प्रकार पत्र, पुष्प और फल बनते हैं। बार बार वही बात कहां तक बतलाई जाय? सूक्ष्म दृष्टि से सब स्पष्ट हो जाता है! ॥ ५१ ॥

भूतों का विचार कहां तक बतलाऊं? क्षण क्षण में बदलते हैं! नाना वर्णों के रूप में कुछ के कुछ ही बनते हैं!! ॥ ५२ ॥ त्रिगुण और पंचभूतों (अर्थात् अष्टधा प्रकृति) की हलचल का विचार करने से जान पड़ता है कि, उनके बहुत से रूप हैं। वे नाना प्रकार से बदलते रहते हैं। वे कहां तक बतलाये जायँ? ॥ ५० ॥ इस प्रकृति का विवेक—द्वारा अच्छी तरह से निरसन करना चाहिए' इसके बाद, फिर, उस परमेश्वर परमात्मा का अनन्य भाव से भजन करना चाहिए ॥ ५४ ॥

सातवाँ समास—विकल्प निरसन।

॥ श्रीराम ॥

श्रोता आशंका करता है:—पहले एक स्थूल देह है: इसके बाद फिर उसमें अन्तःकरण—पंचक है। ज्ञातापन का विवेक स्थूल के ही कारण से है ॥१॥ इसी प्रकार, ब्रह्मांड के बिना मूलमाया में जानपन नहीं आ सकता। स्थूल के आधार से सभी काम चलता है ॥ २ ॥ जब स्थूल ही निर्माण नहीं हुआ तब अंतःकरण कहां रहेगा? ॥ ३ ॥ उपर्युक्त आशंका का उत्तरः—रेशम के कीड़े की जाति के, कई छोटे—बड़े जीव, अपनी शक्ति के अनुसार, अपनी पीठ ही पर घर बना लेते हैं और उसीके भीतर रहते हैं ॥४॥ तथा शंख, सिप्पी, घोंघे और कौड़े पहले निर्माण होते हैं या पहले उनके घर बनते हैं? इसका भी विचार करना चाहिए ॥ ५ ॥ वास्तव में पहले उपर्युक्त प्राणी ही उत्पन्न होते हैं और फिर वे अपने घर बनाते हैं—यह बात प्रत्यक्ष अनुभव की है, इसके बतलाने की कोई जरूरत नहीं ॥६॥ इसी प्रकार पहले सूक्ष्म और फिर स्थूल निर्माण होता है। अस्तु। इसी दृष्टान्त से श्रोताओं का प्रश्न हल हो जाता है! ॥ ७ ॥

इसके बाद श्रोता फिर यह पूछता है कि, अब मुझे जन्म-मरण का विचार बतलाइये ॥८॥ जन्म देनेवाला कौन है और जन्म लेनेवाला कौन है? यह कैसे जानना चाहिए? ॥ ९ ॥ कहते हैं कि, ब्रह्मा जन्म देता है, विष्णु प्रतिपाल करता है और रुद्र संहारता है ॥ १० ॥ परन्तु यह प्रवृत्ति (जनरूढ़ि) का कथन समझ में नहीं आता। अनुभव की दृष्टि से यह कथन विश्वसनीय नहीं हो सकता ॥ ११ ॥ ब्रह्मा को कौन जन्म देता है? विष्णु का कौन प्रतिपालन करता है और महाप्रलय में रुद्र का संहार कौन करता है?

॥ १२ ॥ मेरी समझ में तो यह सब सृष्टि का प्रभाव है-यह सारा माया का स्वभाव है। अच्छा, यदि निर्गुण देव को कर्ता मानें तो वह निर्विकारी है-(विकार बिना कर्तृत्व कैसे आ सकता है ?) ॥ १३ ॥ और यदि कहा जाय कि, यह सब माया ने किया है, तो माया तो स्वयं ही उत्पन्न होती और नाश होती है-माया का तो विस्तार स्वयं ही होना है और विचार करने से जान पड़ता है कि, वह स्थिर भी नहीं है। (इस लिए ऐसी अशाश्वत माया कर्ता कैसे कही जा सकती है ?) ॥ १४ ॥ इसके सिवाय, यह भी बतलाइये कि, जो जन्मता है वह कौन है, उसकी पहचान क्या है और संचित का लक्षण क्या है ? ॥ १५ ॥ पुण्य और पाप का स्वरूप कैसा है ? और प्रस्तुत शब्दों में शंका उठानेवाला कौन है ? (इन शब्दों द्वारा जिसने शंका उठाई वह " मैं " कौन हूं) ॥ १६ ॥ यह कुछ भी समझ में नहीं आता। कहते हैं कि, वासना जन्म लेती है; पर वासना तो दिखती ही नहीं और न पकड़ी जा सकती है-जन्म कैसे लेती है ? ॥१७॥ वासना, कामना, कल्पना, हेतु, भावना और नाना प्रकार की मति, आदि अनेक वृत्तियां अन्तःकरणपंचक की हैं ॥१८॥ अस्तु। ये सार जानपन के यंत्र हैं। जानपन का अर्थ है केवल स्मरण; पर उस स्मरण में जन्ममृत्यु कैसे लगता है ? ॥१९॥ देह पांच भूतों की बनी हुई है; वायु उसका चालक है और जानना मन का मनोभाव है ! ॥ २० ॥ इस प्रकार यह सब स्वाभाविक ही-आप ही आप होता जाता है-यह सब पंचमहाभूतों की पहेली है-कौन किसको जन्म देता है ? ॥ २१ ॥ अतएव, मेरी राय में तो, जन्म है ही नहीं। जो प्राणी एक बार पैदा हो चुकता है वह फिर जन्म ले ही नहीं सकता ! ॥ २२ ॥ अच्छा, जब किसीका जन्म ही नहीं है, तब फिर सन्त-समागम की क्या आवश्यकता है ? ॥२३॥ पहले न तो स्मरण था और न विस्मरण; यह स्मरण बीच ही में आ गया है। वह अन्तःकरण की जाननेवाली कला है ॥२४॥ जब तक चैतन्य रहता है तभी तक स्मरण रहता है और चैतन्य के नष्ट होते ही विस्मरण आ जाता है, तथा विस्मरण के आते ही प्राणी का मरण हो जाता है ॥ २५ ॥ अर्थात् जब स्मरण और विस्मरण के नष्ट होते ही देह को मरण प्राप्त होता है, तब फिर जन्म किसको और कौन देता है ? ॥ २६ ॥ इस लिए न तो जन्म ही है और यातना भी नहीं दिख पड़ती। यह सारी कल्पना व्यर्थ ही बढ़ी हुई है ! ॥२७॥ सारांश, श्रोताओं की आशंका यह ठहरी कि, किसीका जन्म होता ही नहीं-अर्थात जो एक बार मर चुके वे फिर जन्म नहीं पाते ! ॥ २८ ॥ सूखा हुआ काठ फिर हरा नहीं होता; गिरा हुआ फल फिर नहीं लगता-इसी प्रकार पतन हुआ शरीर फिर जन्म नहीं पा सकता ! ॥ २९ ॥ जो झटका अचानक छूट गया वह

फूट गया-वह जिस प्रकार फिर नहीं बनता, उसी प्रकार मृत मनुष्य फिर जन्म नहीं पाता ! ॥ ३० ॥ अर्थात् मर कर जब कोई जन्म ही नहीं पाता तब तो फिर, श्रोताओं की राय में, अज्ञान और सज्ञान बराबर ही हुए ! ॥ ३१ ॥

इस पर वक्ता कहता है कि, सुनोजो, सारा पाखंड ही मत बना डालो ! यदि शंका आई हो तो विवेक-द्वारा विचार करना चाहिए ॥ ३२ ॥ यह कभी नहीं हो सकता कि, प्रयत्न बिना कोई काम हो जाय, बिना खाये पेट भर जाय, या ज्ञान के बिना मुक्त हो जाय ॥ ३३ ॥ जिसने स्वयं भोजन कर लिया है उसको जान पड़ता है कि, संसार तृप्त हो चुका; पर यह कैसे हो सकता है-जब तक कि, सब लोग तृप्त न हो जायँ ! ॥ ३४ ॥ जो पैरना सीखता है वही पार होता है और जो पैरना नहीं जानता वह डूब जाता है, इसमें कोई शंका नहीं ॥ ३५ ॥

उसी प्रकार जिन्हें ज्ञान प्राप्त होता है वही तिरते हैं। जिनका बंधन टूट जाता है वही मुक्त होते हैं ॥ ३६ ॥ मुक्त पुरुष कहता है कि, बंधन नहीं है; और इधर, लोग प्रत्यक्ष बंदी बने हैं-उनका क्या हाल है-सो भी तो तुम देखो ! ॥ ३७ ॥ जो दूसरे का दुःख नहीं जानता वह "दूसरे के दुःख में सुख माननेवाला" है ! यही हाल इस अनुभव का भी है ॥ ३८ ॥ जिसको आत्मज्ञान हो जाता है, जो वास्तव में सम्पूर्ण तत्वों का विचार कर लेता है, उसे अनुभव मिलने पर परम-शान्ति होती है ॥ ३९ ॥ यह कथन कि, ज्ञान से, जन्म-मरण मिटता है; यदि मिथ्या माना जाय, तो वेद, शास्त्र और पुराणों को भी मिथ्या ही कहना पड़ेगा ॥ ४० ॥ और वेद, शास्त्र तथा महानुभावों का कथन यदि संसार में मिथ्या माना जाय तो हम लोगों की ही बात कौन मान सकता है? अतएव, जिसमें आत्मज्ञान होता है वही मुक्त होता है ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ यह कथन भी ज्ञान ही का है कि, वास्तव में सभी मनुष्य मुक्त हैं; पर जब ज्ञान हो तभी यह सम्भव है ॥ ४३ ॥ आत्मज्ञान होने से दृश्य मिथ्या हो जाता है; परन्तु अज्ञान-दशा में यही दृश्य सब को घेरे रहता है ! ॥ ४४ ॥ अस्तु; इतने से यह प्रश्न हल हो जाता है-अर्थात् ज्ञानी ज्ञान से मुक्त होता है और अज्ञानी पुरुष अपनी कल्पना ही से बँधा रहता है ॥४५॥ विज्ञान के समान अज्ञान, मुक्त के समान बद्ध और निश्चय के समान अनुमान, मानना ही न चाहिए ॥४६॥ यह बात सच है कि, वास्तव में बन्धन कुछ भी नहीं है; पर वह सब को घेरे हुए तो है ! ज्ञान के सिवाय उसका और कोई उपाय ही नहीं है ॥४७॥ पहले तो यही आश्चर्य देखो कि, कुछ भी न होकर भी, वह सब को बाँधे हुए है। लोग इस बंधन (माया) को

(ज्ञान के द्वारा) मिथ्या नहीं समझते; इसी लिए तो वे "बद्ध" हैं! ॥ ४८ ॥ इस भरोसे में रहना कि, "भोले भाव ही से सिद्धि होती है" गौण बात है। मुख्य बात तो यही है कि, विवेक, या ज्ञान, को प्राप्त कर के तत्काल ही मुक्त होना चाहिये ॥ ४९ ॥ प्राणी के मुक्त होने के लिए, सब से पहले, जानने की कला होनी चाहिए। फिर क्या है; सब कुछ जानने से, सहज ही में, प्राणी बन्धन से अलग-ब्रह्मस्वरूप-हो जाता है ॥ ५० ॥ कुछ भी न जानना 'अज्ञान' है और सब कुछ जानना 'ज्ञान' है, तथा सब कुछ जानने की भावना का भी लय हो जाना 'विज्ञान' है। बस, यही दशा आ जाने पर प्राणी स्वयं आत्मा हो जाता है ॥ ५१ ॥ जो अमृत का सेवन करके स्वयं अमर हो गया है वह औरों के लिए कहता है कि, ये लोग कैसे मरते हैं? इसी प्रकार विवेकी पुरुष बद्ध के लिए कहता है कि, यह फिर जन्म कैसे लेता है? ॥ ५२ ॥ झाड़ फूंक करने-वाला-झड़वैया-लोगों से कहता है कि, क्यों भाई, तुम्हें भूत कैसे लगता है? और निर्विष पुरुष कहता है कि, तुम्हें विष कैसे चढ़ता है? ॥ ५३ ॥ परन्तु ये बातें ऐसे नहीं मालूम हो सकतीं। पहले स्वयं उसी दशा में आना चाहिए-अर्थात् विवेक को एक ओर रख कर, पहले स्वयं बद्ध के समान बन कर, बद्ध के लक्षणों का विचार करना चाहिए। ऐसा करने से फिर उससे पूछने की आवश्यकता नहीं रहती ॥ ५४ ॥ जागनेवाला सोनेवाले से कहता है कि, अरे, बर्राता क्यों है? पर यह पूछने की अपेक्षा, यदि उसे बर्राने का अनुभव लेना है तो, स्वयं सोकर ही देखना चाहिए ॥ ५५ ॥ चूंकि ज्ञाता की वृत्ति, ज्ञान के कारण, जागृत होती है; अतएव, वह बद्ध की तरह फँसती नहीं। अघाये हुए को भूखे का अनुभव नहीं होता ॥५६॥ बस, इतने से आशंका मिट जाती है। यह सिद्ध है कि, ज्ञान से मोक्षप्राप्ति होती है और विवेक करने से आत्मानुभव होता है ॥५७॥

आठवाँ समास—बद्ध का पुनर्जन्म !

॥ श्रीराम ॥

ज्ञाता तो ज्ञान के विचार से छूट जाता है; पर बद्ध को फिर जन्म कैसे मिलता है? और उसके मरने के बाद उसका कौन सा अवयव जन्म लेने के लिए रह जाता है? ॥ १ ॥ जहां एक बार बद्ध प्राणी मर गया वहां फिर कोई अवयव उसका नहीं बचता और उसका जानपन तो उसके मरने के पहले ही चला जाता है ॥ २ ॥ इस आशंका का उत्तर अब साव-

ध्यान होकर सुनिये:—॥ ३ ॥ चूंकि वासना की वृत्ति प्राणों के साथ रहती है; अतएव, पंच-प्राण अपने अपने स्थान छोड कर जाने लगते हैं तब वासना भी उन्हीं के साथ, देह को छोड कर चली जाती है ॥ ४ ॥ इस प्रकार, प्राणवायु के साथ, जो वासना पहले चली जाती है वही फिर हेतु के अनुसार, जन्म लेकर संसार में आती है ॥ ५ ॥ कभी कभी देखा गया है कि, कितने ही प्राणी बिलकुल मर जाते हैं; और फिर पीछे से जी उठते हैं। वे ढकेल दिये जाते हैं, इस लिए उनके हाथ, पैर आदि भी पीड़ा करते रहते हैं ॥ ६ ॥ यह भी देखा गया है कि, सर्प के काटने से आदमी मर जाता है, और तीन तीन दिन के बाद, वैद्य लोग उसे जिला देते हैं। यह कैसे हो जाता है? वही वासना फिर लौट आती है ॥ ७॥ कितने ही मृतक लोगों को, कोई कोई फिर से जिला देते हैं और यमलोक से प्राणियों को लौटा लेते हैं! ॥ ८ ॥ कितने ही लोग शाप पाकर अन्य देह पाते हैं और, उश्शाप का समय आने पर, फिर अपनी पूर्वदेह में आ जाते हैं ॥ ९ ॥ कितने ही लोग बहुत से जन्म धारण करते हैं; कितने ही परकाया में प्रवेश करते हैं। ऐसे न जाने कितने आये और चले गये ॥१०॥ जैसे फूँक मारते ही अग्नि प्रकट हो जाती है वैसे ही वासनारूपी वायु जन्म पाती है ॥ ११ ॥ मन की नाना वृत्तियां हैं, उन्हीं में वासना उत्पन्न होती है। यद्यपि वासना देखने से दिखती नहीं; पर है वह अवश्य ॥१२॥ वासना में जानपन का हेतु है और जानपन मूलमाया से निकला हुआ तंतु है। यह कारणरूप से मूलमाया में मिश्रित रहता है ॥ १३ ॥ जानपन कारणरूप से ब्रह्मांड में और कार्यरूप से पिंड में बर्तता है। जल्दी जल्दी में उसका अनुमान करने से वह अनुमान में नहीं आता ॥ १४ ॥ परन्तु वह वायु के स्वरूप की तरह सूक्ष्म है। देवतागण और भूतसृष्टि वायुरूप है ॥ १५ ॥ वायु में नाना विकार हैं। तथापि वायु देखने से दिख नहीं पड़ती। इसी प्रकार जानपन की वासना भी अतिसूक्ष्म है—वह भी नहीं दीख पड़ती ॥ १६ ॥ त्रिगुण और पंचभूत वायु में मिश्रित हैं। यह बात यद्यपि अनुमान में नहीं आती; तथापि मिथ्या इसे कभी नहीं कह सकते ॥ १७ ॥ स्वाभाविक वायु से ही सुगन्ध-दुर्गन्ध मालूम होती है और उष्णता तथा शीतलता का भास होता है ॥ १८ ॥ वायु ही से मेघ बरसते हैं, वायु ही से नक्षत्र चलते हैं और सारी सृष्टि उस वायु के ही द्वारा बर्तती है ॥१९॥ देवता और भूत भी वायुरूप हो से अकस्मात् शरीर में आकर भर जाते हैं। विधि-विधान या मंत्रप्रयोग से मुर्दे जो उठते हैं ॥ २० ॥ शरीर में देवता लाने से, ब्रह्म-पिशाच दूर हो जाते हैं, धरोहर मिल जाती है और अनेक गुप्त बातें प्रत्यक्ष मालूम होने लगती हैं ॥ २१ ॥ वायु अलग नहीं बोलती,

पर देह में भर कर बोलती है। कितने ही प्राणी इच्छा लेकर जन्म को प्राप्त होते हैं ॥ २२ ॥ ऐसा वायु का विकार है-इसका विस्तार मालूम ही नहीं होता। सारे चराचर जीव वायु ही से बर्तते हैं ॥ २३ ॥ वायु स्तब्ध-रूप से सृष्टि धारण करता है और चंचलरूप से सृष्टि रचता है। यह बात यद्यपि स्पष्ट नहीं मालूम होती, तथापि विचार में प्रवृत्त होने से मालूम होती है ॥ २४ ॥ आदि से लेकर अंत तक, सब कुछ, वायु ही करता है। वायु के बिना जो कर्तृत्व हो वह चतुर लोग मुझे बतावें ! ॥ २५ ॥

मूलमाया जानपन के रूप में होती है। वही जानपन हम में भी रहता है। इस प्रकार, वह, कहीं गुप्त और कहीं प्रकट होकर, जगत् में बर्तता रहता है ॥ २६ ॥ जैसे पानी भाँफ के रूप में गुप्त होकर फिर बरस कर प्रगट होता है उसी प्रकार जानपन वायु में सदा घट बढ़ कर गुप्त और प्रकट हुआ करता है। वह कहीं विकृत होता है और कहीं योंही वायु के रूप में रहता है ॥ २७॥२८॥ कभी कभी शरीर पर से वायुके निकलने से हाथ पैर आदि अंग अकड़ जाते हैं। कभी कभी वायु चलते ही खड़ी फसलें सूख जाती हैं ॥ २९ ॥ अनेक रोगों के, ऐसे अनेक वायु हैं कि, जिनसे लोगों को कष्ट होता है। आकाश में बिजली भी वायु ही के कारण कड़-कड़ाती है ॥ ३० ॥ वायु ही के द्वारा संगीत शास्त्र का ज्ञान होता है और स्वरज्ञान का निश्चय होता है। संगीतशास्त्र में (दीपकल्याण राग से) दीपक जलने का और (मेघमल्लार राग से) मेघ बरसने का चमत्कार वायु ही के कारण होता है ॥ ३१ ॥ वायु के लगने से भ्रम हो जाता है, वृक्षादि सूख जाते हैं और वायु ही के द्वारा नाना प्रकार के मंत्र चलते हैं ॥ ३२ ॥ मंत्रों से देवता प्रगट होते हैं, भूत भागते हैं और मंत्रसामर्थ्य से ही बाजी-गरी और राक्षसी-माया आदि के कौतुक देखने में आते हैं ॥ ३३ ॥ राक्षसों की माया-रचना, जो देवादिकों को भी नहीं मालूम होती, और स्तम्भन-मोहन आदि नाना प्रकार की विचित्र सामर्थ्य इत्यादि, सब वायु ही के कारण से हो सकते हैं ॥ ३४ ॥ अच्छे को पागल और पागल को अच्छा बना देना आदि, अनेक विकार, वायु से होते हैं-कहां तक बतलावें ? ॥ ३५ ॥ मंत्र से ही देवों का संग्राम होता है, मंत्र से ही ऋषियों का अभिमान रहता है। मंत्र-सामर्थ्य की महिमा कौन जान सकता है ? ॥ ३६ ॥ मंत्र से पक्षी वश किये जाते हैं; मूषक, श्वापद आदि बाँधे जाते हैं, महा सर्प स्तब्ध हो जाते हैं और धनलाभ होता है ! ॥ ३७ ॥ अस्तु। उपर्युक्त विचार से बद्ध का जन्म मालूम हो जाता है और श्रोताओं की पिछली आशंका मिट जाती है ॥ ३८ ॥

नवमां समास-ब्रह्म में ब्रह्मांड।

॥ श्रीराम ॥

"ब्रह्म [illegible] नहीं सकता, हिलाने से हिल नहीं सकता और [illegible] सकता है ॥ १ ॥ ब्रह्म भेदने से भिद नहीं सकता, छेदने से छिद नहीं सकता और अलग करने से अलग नहीं हो सकता ॥ २ ॥ जब कि ब्रह्म में खंड नहीं पड़ता-वह अखंड है-और ब्रह्म में दूसरा कुछ गड़बड़ नहीं है, तब फिर उसके बीच में यह ब्रह्मांड कैसे घुस आया? ॥ ३ ॥ पर्वत, पाषाण, शिला, शिखर और नाना स्थल-स्थलान्तर आदि भूगोल-रचना, परब्रह्म के बीच किस प्रकार आई? ॥ ४ ॥ ब्रह्म में भूगोल है और भूगोल में ब्रह्म है। विचार करने पर एक दूसरे में प्रत्यक्ष दिखता है ॥ ५ ॥ ब्रह्म में भूगोल प्रविष्ट है और भूगोल में ब्रह्म भरा हुआ है। विचार करने से यह बात प्रत्यक्ष प्रत्यय में आ जाती है ॥ ६ ॥ यह बात तो ठीक जान पड़ती है कि, ब्रह्म ब्रह्मांड में बैठा हुआ है; परन्तु यह समझ में नहीं आता कि, ब्रह्मांड ब्रह्म में कैसे पैठा हुआ है ॥ ७ ॥ यदि कहा जाय कि, ब्रह्मांड ब्रह्म में प्रविष्ट नहीं है तो भी ठीक नहीं जान पड़ता; क्योंकि ब्रह्म में ब्रह्मांड सब को, अनुभव से सहज ही देख पड़ा रहा है! ॥ ८ ॥ तो फिर यह कैसे हुआ? अब विचार करके बतलाना चाहिए"-इस प्रकार श्रोताओं ने प्रश्न किया ॥ ९ ॥ अब इसका उत्तर सावधान होकर सुनिये। यहां बड़े सन्देह की बात आ पड़ी है! ॥ १० ॥

यदि कहता हूं कि, ब्रह्मांड नहीं है तो नहीं बनता; क्योंकि वह देख पड़ता है और यदि कहता हूं कि, दिखता है, तो भी ठीक नहीं है; क्योंकि वह नाश होता है, अब यह बड़ी झंझट आ पड़ी-श्रोता लोग समझें कैसे ॥ ११ ॥ यह सुन कर श्रोता लोग उत्कंठित हुए और बोले कि, हम लोग सावधान हैं! अस्तु। अब प्रसंगानुसार उचित उत्तर देता हूं:—॥ १२ ॥ देखिये, आकाश में दीपक जलाया गया; परन्तु यह कैसे हो सकता है कि, वह आकाश से अलग रखा जाय? ॥ १३ ॥ आप, तेज अथवा वायु आकाश को हटा नहीं सकते। क्योंकि वह सघन है-चंचल नहीं है ॥ १४ ॥ पृथ्वी यद्यपि कठिन है, तथापि आकाश ने उसको चलनी बना डाला है-वह सम्पूर्ण पृथ्वी में व्याप्त हो रहा है! ॥ १५ ॥ सच तो यह है कि, जितना कुछ जड़ है उतना सब नाश होता है और आकाश जैसा का तैसा बना रहता है-वह अचल है ॥ १६ ॥ जो कुछ भिन्न रह कर देखते हैं उसीको आकाश कहते हैं और अभिन्न होकर देखने से आकाश ही परब्रह्म है (अर्थात् आकाश और परब्रह्म में यही अन्तर है कि, आकाश तो भिन्न

रहने पर भी देख पड़ता है; पर परब्रह्म तभी देख पड़ता है जब तद्रूप हो जायें) ॥ १७ ॥ सारांश, आकाश अचल है। उसका भेद मालूम नहीं होता। जो कुछ ब्रह्म का सा भासता है उसको आकाश कहना चाहिए ॥ १८ ॥ वह निर्गुण ब्रह्मसा भासता है और कल्पना करने से अनुमान में आता है, इसी लिए उसे आकाश कहते हैं-कल्पना के कारण वह आकाश कहाता है ॥ १९ ॥ कल्पना को जितना कुछ भास भासता है वह आकाश ही है-परन्तु ब्रह्म निराभास और निर्विकल्प है ॥ २० ॥ आकाश स्वाभाविक ही शेष चारों भूतों में भरा हुआ है; वह भासनेवाला ब्रह्मांश है ॥ २१ ॥ जो प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है, और नाश होता है, उसे अचल कैसे कह सकते हैं? वह गगन को भेद नहीं सकता ॥ २२ ॥ पृथ्वी के न रहने पर पानी बचता है, पानी के न रहने पर अग्नि बचता है और अग्नि के बुझने पर वायु रहता है-वह भी अन्त में नाश हो जाता है ॥ २३ ॥ जो मिथ्या है वह आता है और जाता है; परन्तु इससे कुछ यह नहीं हो सकता कि, सत्य का भंग हो जाय ॥ २४ ॥ भ्रम के कारण वह प्रत्यक्ष दिखता है; पर विचार करने पर उसमें कुछ भी नहीं है। इस भ्रममूल जगत् को सत्य कैसे कह सकते हैं ? ॥२५॥ भ्रम का खोज लगाने से जान पड़ता है कि, वह कुछ है ही नहीं; तब फिर भेदा किसने और किसको ? यदि कहा जाय कि, भ्रम ने भेदा तो कैसे हो सकता है, वह तो खुद ही मिथ्या है ॥ २६ ॥ भ्रम का रूप जब मिथ्या प्रतीत हो चुका, तब फिर सुख से कहते रहो कि, उसने भेदा है ! जो स्वयं मिथ्या है उसने जो कुछ किया वह भी वैसा ही होना चाहिए ! ॥ २७ ॥ जो स्वयं मिथ्या है वह चाहे जो कर डाले, परन्तु इससे हमारा क्या जाता है ? चतुर मनुष्य मिथ्या के कर्तृत्व को मिथ्या ही समझते हैं ॥ २८ ॥ जैसे सागर में खसखस का दाना, वैसे ही परब्रह्म में यह सारा दृश्य ! मति के अनुसार हृदय में मति का प्रकाश पड़ता है ॥२९॥ मति विशाल करने से आकाश को भी हाथ में ले सकते हैं और ब्रह्मांड कैथासा मालूम होने लगता है ! ॥ ३० ॥ वृत्ति उससे भी अधिक विशाल करने से ब्रह्मांड बेर जान पड़ता है-और केवल ब्रह्माकार हो जाने पर कुछ भी नहीं रहता ॥ ३१ ॥ विवेक-द्वारा अपने को अमर्यादित विशाल करने से ब्रह्मांड वट-बीज के समान देख पड़ने लगता है ॥३२॥ उससे भी अधिक विस्तीर्ण होने पर यह ब्रह्मांड वटबीज के कोट्यांश के समान (सूक्ष्म) जान पड़ता है, और बिलकुल परिपूर्ण हो जाने पर, कुछ नहीं रहता ॥ ३३ ॥ परन्तु जो, भ्रम के कारण, छोटा बन कर अपने को सिर्फ देहधारी मान लेता है, वह ब्रह्मांड को अपने हाथ में कैसे ला सकता है ? ॥ ३४ ॥ वृत्ति को इतना बढ़ाना चाहिए कि, उसे फैला कर बिलकुल रखना ही न चाहिए

और उसको पूर्णब्रह्म के चारों ओर से पूर देना चाहिए ! ॥ ३५ ॥ भला देखो तो, कि यदि एक जव भर सोना लाकर उससे ब्रह्मांड मढ़ा जाय तो वास्तव में क्या दशा होगी ! ॥ ३६ ॥ (जिस प्रकार जव भर सोने का पत्रा बना कर कोई यदि ब्रह्मांड मढ़ना चाहे तो वह पत्र फट जायगा—सोना लय हो जायगा, उसी प्रकार) जब वृत्ति से ब्रह्म का कोई आकलन करना चाहता है तब वृत्ति फट कर लय हो जाती है और केवल निर्गुण आत्मा जैसा का तैसा बना रहता है ॥ ३७ ॥

इतने से आशंका मिट जाती है। श्रोता लोगों ! संदेह न रखो। यदि शंका हो तो विवेक से उसका निरसन करो ! ॥ ३८ ॥ विवेक से सन्देह मिटता है, समाधान होता है और विवेक से, आत्मनिवेदन होने पर, मोक्ष मिलता है ॥ ३९ ॥ जो मोक्ष की भी उपेक्षा करता है, (क्योंकि, अपेक्षा करना पूर्वपक्ष ही है) विचार से पूर्वपक्ष को अलग कर देता है और सिद्धांत वस्तु (आत्मा) को प्रत्यक्ष प्रत्यय में लाता है, उसके लिए अन्य प्रमाण की क्या आवश्यकता है ? ॥ ४० ॥ ये प्रतीति के वचन, सारासार का विचार करने पर, मालूम होते हैं। मनन के अभ्यास से साक्षात्कार होता है और परम शान्ति मिलती है ! ॥ ४१ ॥

दसवाँ समास—आत्मस्थिति।

॥ श्रीराम ॥

देवता की मूर्ति तो मन्दिर के भीतर होती है और कौवा मन्दिर की चोटी पर जा बैठता है; परन्तु इससे क्या वह कौवा देवता से बड़ा हो सकता है ? ॥ १ ॥ राजमन्दिर में सभा लगी होती है और बन्दर उस मन्दिर के एक खंभे पर जा बैठता है; परन्तु इससे क्या वह बन्दर सभा से श्रेष्ठ हो सकता है ? ॥ २ ॥ ब्राह्मण स्नान करके पानी से अलग हो जाता है और बगुला पानी ही में बना रहता है; परन्तु उसे ब्राह्मण के समान पवित्र कैसे मान सकते हैं ? ॥ ३ ॥ ब्राह्मणों में कोई नियमपूर्वक रहते हैं, कोई अव्यवस्थित रहते हैं और कुत्ता सदा ध्यानस्थ ही रहता है; परन्तु क्या इससे कुत्ता ब्राह्मण की बराबरी कर सकता है ? ॥४॥ मान लो कोई ब्राह्मण एकाग्र ध्यान नहीं जानता और बिलार ध्यान लगाने में बहुत चतुर होता है पर ब्राह्मण के समान श्रेष्ठ उसे कौन कह सकता है ? ॥ ५ ॥ ब्राह्मण भेद-अभेद का विचार रखता है; मक्षिका सब को बराबर समझती है; परं

इससे यह कैसे कहा जा सकता है कि, मक्षिका को ज्ञानबोध होगया है? ॥ ६ ॥ मान लो, कोई नीच मनुष्य उच्च श्रेणी के वस्त्र पहने हुए है और कोई राजा नंगे बदन बैठा है; परन्तु चतुर पुरुष उन दोनों को तुरन्त ही पहचान लेगा ॥ ७ ॥ सारांश, बाहरी रूप चाहे जितना बनाया जावे; परन्तु वह ढोंग ही कहलायेगा। यहां तो मुख्य आत्म-निष्ठा चाहिए ॥८॥ जिसने सांसारिक प्रतिष्ठा तो बहुत प्राप्त कर ली है; परन्तु आत्मजागृति नहीं की है-जो परमात्मा को भूला हुआ है-वह आत्मघातकी है! ॥ ९ ॥ देव का भजन करने से देवलोक, पितरों को भजने से पितृलोक और भूतों को भजने से भूतलोक मिलता है ॥ १० ॥ जो जिसको भजते हैं वे उस लोक को जाते हैं। निर्गुण को भजने से स्वयं निर्गुण होते हैं ॥ ११ ॥ निर्गुण का भजन यह है, कि निर्गुण में अनन्य होकर रहना चाहिए। अनन्य होने से अवश्य धन्यता प्राप्त होती है ॥ १२ ॥ सम्पूर्ण कर्मों का फल यही है कि, एक परमात्मा को पहचानना चाहिए और यह विचार करना चाहिए कि, 'हम' कौन हैं? ॥ १३ ॥ निराकार परमात्मा का अनुभव करने से देहाभिमान नहीं रहता और यह निश्चय आ जाता है कि, "हम वही हैं" ॥१४॥ उक्त दशा आ जाने पर, सन्देह के लिए जगह नहीं रहती, परमात्मा में अनन्यता हो जाती है और देह की भावना का पता नहीं लगता ॥ १५ ॥ उस अवस्था में सिद्धान्त और साधन सिर्फ भ्रममात्र रह जाते हैं। मुक्त के लिए साधन, इत्यादि के बन्धन की क्या जरूरत है? ॥१६॥ क्योंकि साधन के द्वारा जो कुछ साध्य करना है वह तो वह (मुक्त) स्वयं ही है। अब साधक बनने की आवश्यकता नहीं रही! ॥ १७ ॥ जो कुम्हार राजा होगया वह अब गधे क्यों रखे? कुम्हारपन की धराउठाई से अब उसे क्या प्रयोजन है? ॥ १८ ॥ इसी प्रकार, साध्य वस्तु प्राप्त हो जाने पर, सम्पूर्ण वृत्ति-भावना और साधन-प्रयत्न नहीं रहते ॥ १९ ॥ उस दशा में साधन से क्या सिद्ध किया जाय? नेम से क्या फल प्राप्त किया जाय? जब वह (मुक्त) स्वयं 'वस्तु' ही होगया फिर क्यों भटकना चाहिए? ॥ २० ॥

देह तो पंचभूतों की बनी हुई है और जीव ब्रह्म का अंश है-सो भी परमात्मा में लीन हो सकता है ॥ २१ ॥ अतएव, 'मैंपन' यह बीच में यों ही आ गया है। वास्तव में विचार करने पर यह कुछ नहीं है। पंचमहाभूतों का निरसन हो जाने पर, निखिल आत्मा रह जाती है ॥२२॥ आत्मा आत्मपन से है, जीव जीवपन से है, और माया मायापन से विस्तृत है ॥ २३ ॥ इस प्रकार सब कुछ है, और 'हम' भी कोई एक हैं। इन सब को खोज करके जो देखता है वही ज्ञानी है ॥ २४ ॥ जो सब का खोज करना जानता है; पर 'अपने' को देखना नहीं जानता उस ज्ञानी की वृत्ति

एकदेशीय रहती है—व्यापक नहीं होती ॥ २५ ॥ ऐसी वृत्ति का जब हम विचार करते हैं तो जान पड़ता है कि, वास्तव में वह कुछ नहीं है; क्योंकि प्रकृति का निरसन करने पर कुछ विकारवन्त (पदार्थ) टिक नहीं सकता ॥२६॥ यदि कुछ टिक सकता है, तो वह केवल निर्गुण ही है, और विचार करने पर वही 'हम' है। यह परमार्थ की बड़ी भारी पहचान है ॥ २७ ॥ उस अवस्था में यह विवेक नहीं है कि, 'फल' अलग हो और 'हम' अलग हों,-वहां 'फल' और 'हम' एक ही हो जाते हैं ॥२८॥ मान लो कि कोई भिखारी राजा होगया, और उसे यह अनुभव भी हो रहा है कि, मैं राजा हूं। अब वह भीख क्यों माँगे? जो भिखारी हो वही भीख मांगे! ॥२९॥ वेद, शास्त्र और पुराण जिसका वर्णन कर रहे हैं तथा अनेक सिद्ध और साधु जिसके लिए नाना प्रकार के साधनों और निरूपणों का परिश्रम करते हैं, वह ब्रह्मरूप, जब सारासार के विचार से, स्वयं ही हो जाता है तब फिर वहां करने और न करने इत्यादि का कुछ विचार नहीं रहता ॥ ३० ॥ ३१ ॥ मान लो, कोई भिखारी राजाज्ञा सुन कर डर गया और वही भिखारी फिर, आगे चल कर, राजा होगया; अब उस दशा में उसे राजाज्ञा का भय कैसे रह सकता है? ॥ ३२ ॥ वेद वेदाज्ञा से किस प्रकार चलें, सच्छास्त्र शास्त्रों का अभ्यास किस प्रकार करें और तीर्थ तीर्थों को किस प्रकार जायँ? ॥३३॥ अमृत अमृत का सेवन कैसे करे? अनन्त अनन्त को कैसे देखे? और भगवान् भगवान् को कैसे लखे? ॥ ३४ ॥ सत्स्वरूप सत्स्वरूप से कैसे मिले? निर्गुण निर्गुण की भावना कैसे करे? और आत्मा आत्मा में कैसे रममाण हो? ॥ ३५ ॥ स्वयं अंजन अंजन कैसे लगावे? धन धन को कैसे प्राप्त करे? और निरंजन किस प्रकार निरंजन का अनुभव करे? ॥३६॥ स्वयं साध्य साधन कैसे करे? ध्येय ध्यान कैसे धरे? और जो उन्मन है (अर्थात् जिस का मन लय होगया है) वह मन को किस प्रकार रोके? ॥ ३७ ॥

दसवाँ दशक।

पहला समास—अन्तःकरण एक है।

॥ श्रीराम ॥

श्रोता यह प्रश्न करता है कि, "सब का अन्तःकरण एक है अथवा अलग अलग है? यह मुझे निश्चयात्मक बतलाइये"। अच्छा, इसका उत्तर सुनोः—॥ १ ॥ २ ॥ इसमें कोई शक नहीं कि, सब का अन्तःकरण एक ही है। यह अनुभव की बात है ॥ ३ ॥ इस पर श्रोता कहता है कि, यदि सब का अन्तःकरण एक ही है तो फिर सब में एकता और मेल क्यों नहीं है? ॥ ४ ॥ यदि अन्तःकरण एक ही है तो फिर एक के खाने से सब को तृप्त जाना चाहिए, एक के संतुष्ट होने पर सब को संतुष्ट रहना चाहिए और एक के मरने पर सब को मर जाना चाहिए! ॥ ५ ॥ इस जगत् में कोई तो सुखी और कोई दुःखी हो रहे हैं; फिर यह कैसे जाना जाय कि, सब का अन्तःकरण एक है? ॥ ६ ॥ लोगों की भावना अलग अलग है; किसीसे किसीका भी मेल नहीं खाता; अतएव यह समझ में नहीं आता कि, अंतःकरण एक कैसे है? ॥ ७ ॥ यदि सब का अन्तःकरण एक होता तो एक के अन्तःकरण की बात दूसरे को मालूम हो जाती और जगत् में कोई गोप्य या गुह्य बात छिपी न रह सकती ॥ ८ ॥ इस लिए, यह बात समझ में नहीं आती। अन्तःकरण एक होना सम्भव नहीं। यदि वह एक है तो फिर लोगों में विरोध क्यों फैल रहा है? ॥ ९ ॥ सर्प काटने को दौड़ता है और प्राणी डर कर भागता है। यदि सब जीवों का अन्तःकरण एक है तो फिर यह विरोध क्यों है? (अर्थात् न तो सर्प को काटने के लिए दौड़ना चाहिए और न उस जीव को डर कर भागना चाहिए) ॥१०॥"

ऐसी शंका श्रोता ने उठाई; इस पर वक्ता कहता है कि, घबड़ाओ मत—सावधान होकर निरूपण सुनो ॥ ११ ॥ अन्तःकरण कहते हैं संज्ञा को; और संज्ञा कहते हैं जानने के स्वभाव को; और यही देहरक्षा का उपाय, अर्थात् जानने की कला है ॥ १२ ॥ सर्प जान कर डँसने आता है और प्राणी जान कर भगता है—अर्थात् संज्ञा (consciousness) दोनों ओर है ॥ १३ ॥ जब सरासर दोनों तरफ संज्ञा एक ही देख रहे हैं तब अन्तःकरण भी जरूर एक ही हुआ। क्योंकि ऊपर अन्तःकरण को

[illegible] रूप बतला ही चुके हैं ॥ १४ ॥ अतएव, यह सिद्ध है कि, संज्ञा-[illegible] से अन्तःकरण सब का एक ही है । सम्पूर्ण जीवों में जानपन एक ही है ॥ १५ ॥ दृष्टि का देखना, जीभ का चाखना; और सुनना, छूना, वास लेना, आदि बातें सब में एक ही सी हैं ॥ १६ ॥ पशु, पक्षी, कीड़ा, चींटी, आदि जितने जीव जगत् में निर्माण हुए हैं उन सब में संज्ञा-शक्ति एक ही है ॥ १७ ॥ सब के लिए जल शीतल है, सब के लिए अग्नि प्रखर है और सब के लिए अन्तःकरण की संज्ञा एक ही है ॥ १८ ॥ अच्छा लगना या बुरा लगना देह-स्वभाव का कारण है; पर यह बात अन्तःकरण ही के योग से मालूम होती है ॥ १९ ॥ सब का अन्तःकरण एक है । यह बात बिलकुल निश्चय है । इसका कौतुक सब जानते हैं ॥२०॥ इतने से आशंका मिट जाती है; अब शंका करने की जरूरत नहीं है । जितना कुछ जानना है वह सब अन्तःकरण का धर्म है ॥ २१ ॥

जान कर जीव चारा खाते हैं, जान कर डरते हैं; छिपते हैं और जान कर ही प्राणिमात्र भग जाते हैं ॥ २२ ॥ कीड़ा चींटी से लेकर और ब्रह्मा, विष्णु महेश तक, अन्तःकरण सब का एक है । इस बात का कौतुक अनुभव से जानना चाहिए ॥ २३ ॥ बड़ा हो या छोटा हो; है वह अग्नि ही, थोड़ा हो चाहे बहुत हो; है वह पानी ही—इसी तरह छोटा हो चाहे बड़ा हो, प्राणी अन्तःकरण से ही जानता है ॥२४॥ कहीं न्यून है, कहीं अधिक है—परन्तु जिस की बानगी एक ही है । संज्ञारहित कोई भी जंगम प्राणी नहीं है ॥ २५ ॥ संज्ञा अन्तःकरण को कहते हैं और अन्तःकरण विष्णु का अंश है । इस प्रकार विष्णु पालन करता है (अर्थात् अन्तःकरणरूप होकर सब में रहना उसका पालन करना है) ॥ २६ ॥ जहां प्राणी संज्ञारहित हुआ, कि बस फिर वह मर जाता है और संज्ञारहित होना तमोगुण का लक्षण है । इस प्रकार तमोगुण से रुद्र संहार करता है ॥ २७ ॥ कुछ संज्ञा-और कुछ बे-संज्ञा होना रजोगुण का लक्षण है; और इसी के कारण प्राणी जन्म पाते हैं ॥ २८ ॥ जानपन से सुख होता है और अनजानपन से दुःख होता है, तथा उत्पत्तिगुण से (अर्थात् जान-अनजान के मिश्रण से) सुख-दुःख दोनों अवश्य भोगने पड़ते हैं ॥ २९ ॥ जानपन और अनजानपन की मिली हुई बुद्धि ही इस देह में ब्रह्मा है । वही वास्तव में उत्पत्तिकर्ता है ॥ ३० ॥ यह उत्पत्ति-स्थिति और संहार का विचार, प्रसंग आ जाने के कारण, बता दिया; पर इस का निश्चय अनुभव से करना चाहिए ॥ ३१ ॥

दूसरा समास—उत्पत्ति के विषय में शंका।

॥ श्रीराम ॥

श्रोता आशंका करता है:"--स्वामी ने ऊपर जो विचार बतलाया उस में तो विष्णु का अभाव देख पड़ता है--विष्णु ही का क्यों? उसमें तो ब्रह्मा, विष्णु और महेश किसी को भी ठौर नहीं रहता ॥ १ ॥ उत्पत्ति, स्थिति और संहार, ब्रह्मा, विष्णु और महेश कैसे करते हैं, सो कुछ समझ में नहीं आता ॥ २ ॥ आप के इस विचार में उत्पत्तिकर्त्ता चतुर्भुज विष्णु भी सिर्फ सुना ही जाता है ॥ ३ ॥ यह भी प्रत्यय में नहीं आता कि, महेश कैसे संहार करता है। पुराणों में जो लिंगमहिमा कही है वह भी विपरीत हुई जाती है! ॥ ४ ॥ यह तो मालूम होना चाहिए कि, मूलमाया को किसने बनाया। तीनों देवों का रूप तो उसके पीछे हुआ है ॥५॥ मूलमाया लोक-जननी है, उससे गुणक्षोभिणी माया उत्पन्न हुई और गुणक्षोभिणी से त्रिगुणात्मक त्रिदेव हुए हैं ॥६॥ ऐसा शास्त्रकार बतलाते हैं और प्रवृत्ति, या परम्परा, बतलानेवाले लोग भी ऐसा ही कहते हैं: परंतु अनुभव का प्रश्न आ जाने पर कितने ही लोग घबड़ा जाते हैं! ॥ ७ ॥ इस लिए उनसे पूछते नहीं बनता; और वे समझा भी नहीं सकते-तथा बिना समझे सारे प्रयत्न व्यर्थ हैं ॥ ८ ॥ यदि अनुभव बिना कोई अपने को वैद्य कहलाये और यों ही धरा-उठाई करे तो उस मूर्ख की प्राणिमात्र निंदा करते हैं ॥ ९ ॥ वैसा ही विचार यह भी है। वास्तविक निर्धार अनुभव से करना चाहिए। अनुभव न होने से गुरु-शिष्य दोनों में अंधकार रहता है ॥ १० ॥ अच्छा, लोगों को क्या कहा जाय? वे जो कुछ कहते हैं: ठीक ही हैं: पर अब स्वामी इस बात को विशद करके बतलावें ॥ ११ ॥

यदि कहा जाय कि, देवों ने माया बनाई है तो देवों के रूप माया ही में आते हैं और यदि कहा जाय कि, माया ने माया बनाई है तो यह भी नहीं हो सकता: क्योंकि माया तो कुल एक ही है ॥ १२ ॥ और यदि कहा जाय कि, भूतों ने बनाई है तो वह भूतों की ही बनी हुई है और यदि कहें कि, परब्रह्म ने माया बनाई है तो ब्रह्म में कर्तृत्व ही नहीं है--वह बना कैसे सकता है? ॥ १३ ॥ और यदि कहा जाय कि, माया सच्ची होगी तो ब्रह्म में कर्तृत्व लगता है और यदि माया को मिथ्या समझें तो भी उसमें कर्तृत्व कहां से आया? ॥ १४ ॥ हे स्वामी महाराज, कृपा करके अब इस प्रकार समझाइये कि, जिससे यह सारा वृत्तान्त अनुभव में आजाय ॥ १५ ॥ अक्षर बिना वेद नहीं होते, अक्षर बिना देह के नहीं होते और देह बिना देह का निर्माण नहीं होता ॥ १६ ॥ सब देहों

में नरदेह श्रेष्ठ है, नरदेह में ब्राह्मणदेह श्रेष्ठ है और ब्राह्मणदेह को ही वेद का अधिकार है ॥ १७ ॥ अस्तु। वेद कहां से हुए ? देह किसीकी बनी हुई है ? देव कैसे प्रगटे और किस प्रकार प्रगटे ? ॥१८॥"

ऐसी शंका बढ़ी, इसका समाधान करना चाहिए। इस पर वक्ता कहता है कि अच्छा, अब सावधान हो जाओ ॥ १९ ॥ अनुभव का विचार करने से संकट उपस्थित होता है; (क्योंकि लोकव्यवहार और शास्त्रनिर्णय एक ही प्रकार के न होने के कारण अनुभव एक प्रकार का नहीं होता)। सारा बिगाड़ पैदा होता है, और घड़ी घड़ी अनुमान करने से व्यर्थ समय नष्ट होता है ॥ २० ॥ लोकव्यवहार और शास्त्रनिर्णय में बहुत प्रकार के निश्चय हैं—इस कारण एक अनुभव नहीं आ सकता ॥ २१ ॥ अब यदि शास्त्र को डरते हैं तो यह गोरखधंधा सुलझता नहीं है और यदि यह गोरखधंधा सुलझाते हैं तो शास्त्रभेद उपस्थित होता है ॥ २२ ॥ शास्त्र की रक्षा करके प्रतीति लाना चाहिए, पूर्वपक्ष त्यागकर सिद्धान्त देखना चाहिए और चतुर या मूर्ख एक वचन से समझाना चाहिए ॥ २३ ॥ शास्त्र में पूर्वपक्ष कहा है और पूर्वपक्ष मिथ्या को कहते हैं। अतएव, इसका दोष हम पर नहीं आ सकता ॥ २४ ॥ तथापि शास्त्र की रक्षा करके कुछ कौतुक बतलाते हैं। श्रोताओं को अच्छी तरह विचार करना चाहिए ॥ २५ ॥

तीसरा समास—सृष्टि की उत्पत्ति।

॥ श्रीराम ॥

निरुपाधि आकाश ही निराभास ब्रह्म है। ऐसे निराभास ब्रह्म में मूलमाया का जन्म हुआ ॥ १ ॥ वह मूलमाया वायुस्वरूप ही है। पंचभूत और त्रिगुण उस वायुरूपी मूलमाया में होते हैं ॥२॥ आकाश से जो वायु हुआ, वह वायुदेव कहलाया और वायु से जो अग्नि हुआ, वह अग्निदेव कहलाया ॥ ३ ॥ अग्नि से जो आप हुआ वही आपो-नारायण कहलाया और आप से जो पृथ्वी हुई वही सम्पूर्ण बीजों की माता हुई ॥ ४ ॥ पृथ्वी से जो पत्थर हुए वही देव कहलाये। पाषाण-देवों के विषय में लोगों के बहुत अनुभव हैं ॥ ५ ॥ यद्यपि लोग पत्थर, मिट्टी, इत्यादि को देवता मानते हैं; पर वास्तव में सम्पूर्ण देवता वायु में रहते हैं ॥ ६ ॥ देव, यक्षिणी, कात्यायनी, चामुंडा, जाखणी, मानाबेवी, आदि नाना शक्तियां, भिन्न भिन्न देशों के अनुसार, अनेक स्थानों में रहती हैं ॥ ७ ॥ इनके सिवाय कितने ही देवता पुरुषवाचक

नामों से, तथा 'भूत' और 'देवता' आदि अनेक नपुंसक नामों से भी रहते हैं ॥ ८ ॥ देव, देवता, दैवत, भूत आदि पृथ्वी में असंख्य हैं; परन्तु ये सब वायुरूप में कहे जाते हैं ॥ ९ ॥ सदा वायुरूप रहना, प्रसंग आ पड़ने पर नाना देह धरना, गुप्त और प्रगट होना, आदि इन सब का काम है ॥ १० ॥ वायुस्वरूप से देवता विचरते हैं, वायु में चेतना, वासना और वृत्ति आदि नाना रूपों से जगज्जोति रहती है ॥ ११ ॥ आकाश से जो वायु हुई है, वह दो प्रकार की है। ध्यानपूर्वक सुनिये ॥ १२ ॥ एक साधारण हवा, जिसको सब लोग जानते हैं और दूसरी वह है जो वायु में जगज्जोति के रूप में रहती है—उसी जगज्जोति के रूप में देवी-देवताओं की अनन्त मूर्तियां रहती हैं ॥ १३ ॥ वायु यद्यपि बहुत विकार-युक्त है; तथापि वह कुल दो ही प्रकार से विभाजित है। अब, श्रोताओं को तेज का विचार सुनना चाहिए ॥ १४ ॥ वायु से तेज हुआ है, जो उष्ण, शीतल और प्रकाशित है। तेज का रूप भी दो प्रकार का है, सुनिये ॥ १५ ॥ एक तेज उष्ण है और दूसरा शीतल है। उष्ण से प्रकाशवान् और देदीप्यमान् सूर्य, सर्वभक्षक अग्नि और विद्युल्लता हुई ॥ १६ ॥ शीतल तेज से आप, अमृत, चन्द्र, तारा और हिम इत्यादि हुए हैं। अब श्रोता लोग सावधान होकर आगे का वृत्तान्त सुनें ॥ १७ ॥ तेज भी यद्यपि बहुत विकारयुक्त है; पर दो ही प्रकार का कहा है। आप भी दो ही प्रकार का कहा है:—आप और अमृत ॥ १८ ॥ अब पृथ्वी का विचार सुनियेः—इसका एक प्रकार तो पाषाण और मिट्टी है तथा दूसरा प्रकार सुवर्ण, पारस और नाना रत्न आदि हैं ॥ १९ ॥ इस वसुंधरा का नाम है "बहुरत्न"। कौन खोटा है और कौन खरा है, सो सब विचार करने से मालूम होता है ॥ २० ॥ अब यह मुख्य आशंका रह गई कि, मनुष्य कहां से हुए ? इसे भी सावधान होकर सुनिये ॥ २१ ॥

चौथा समास—उत्पत्ति का विस्तार !

॥ श्रीराम ॥

जब हम उत्पत्ति की ओर ध्यान देते हैं तब स्पष्ट मालूम होता है कि, मनुष्य से मनुष्य और पशु से पशु उपजते हैं ॥ १ ॥ खेचर, भूचर, वनचर, जलचर आदि नाना प्रकार के शरीर शरीर से ही होते हैं ॥ २ ॥ प्रत्यक्ष के लिए प्रमाण, निश्चय के सामने अनुमान और सरल मार्ग होते हुए भी टेढ़े-मेढ़े जंगल के मार्ग की क्या आवश्यकता है ? ॥ ३ ॥ विपरीत से विप-

रंग होते हैं; पर कहलाते वे शरीर ही हैं-शरीर बिना उत्पत्ति हो ही नहीं सकती ॥४॥ तो फिर यह उत्पत्ति हुई कैसे? काहे की और किसने बनाई? और जिसने बनाई उसकी देह किसने निर्माण की? ॥५॥ ऐसा विचार करते तो बहुत दूर निकल जाना होता है। परन्तु आदि में शरीर कैसे बना और वह किसने, किस पदार्थ का और कैसे, उद्भूत किया? ॥६॥ ऐसी यह पिछली आशंका रह गई थी, सो सुनो। प्रतीति हो जाने पर फिर आशंका उठाने की कोई आवश्यकता नहीं ॥ ७ ॥ प्रतीति ही मुख्य है; परन्तु मूर्ख यह बात नहीं समझता। वास्तव में प्रतीति की बातों पर ही विश्वास होता है ॥ ८ ॥ ब्रह्म में जो मूलमाया होती है वही, आगे चल कर, अष्टधा प्रकृति कहलाती है। पंचभूतों में और त्रिगुणों में मूलमाया मिली हुई होती है ॥ ९ ॥ वह मूलमाया वायुस्वरूप है; और वायु में जो चेतना का रूप है वही इच्छा है; पर इसका आरोप ब्रह्म पर नहीं आता ॥ १० ॥ तथापि ब्रह्म में इच्छा करने का आरोप यदि मान भी लिया जाय तो वह व्यर्थ है; क्योंकि ब्रह्म निर्गुण और शब्दातीत है ॥ ११ ॥ आत्मा निर्गुण वस्तु ब्रह्म है। नाममात्र जितना है, सब भ्रम है। यदि ब्रह्म में कल्पना करके उपाधि लगा दी जाय तो वह लग कैसे सकती है? ॥ १२ ॥ तथापि, यदि ब्रह्म में आरोप लगाया भी जाय तो वह ऐसा ही है कि, जैसे आकाश को पत्थर मारा जाय। परन्तु इससे आकाश टूट फूट कैसे सकता है? ॥ १३ ॥ उसी प्रकार निर्विकार ब्रह्म में विकार लगाना व्यर्थ है। विकार का नाश है और निर्विकार शाश्वत, जैसा का तैसा, बना रहता है ॥ १४ ॥

अब अनुभव की बात सुनो। इसे जान कर निश्चय करना चाहिए। इसीसे अनुभव पर जय मिलता है ॥ १५ ॥ ब्रह्म में समीररूप जो मूलमाया है उसमें जो चेतना है वही ईश्वर है, उसीको ईश्वर और सर्वेश्वर कहते हैं ॥ १६ ॥ वही ईश्वर जब गुणयुक्त होता है तब उसके, गुणों के अनुसार, तीन भेद होते हैं; जिन्हें ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहते हैं ॥ १७ ॥ सत्त्व, रज, तम, ये तीन गुण हैं। इनका वर्णन पीछे हो चुका है ॥ १८ ॥ ज्ञाता विष्णु भगवान् है, ज्ञाता-अज्ञाता चतुरानन-ब्रह्मा है और अज्ञाता पंचानन महेश है, जो अत्यंत भोला है ॥ १९ ॥ त्रिगुण आपस में सुने हुए हैं—वे अब अलग कैसे हो सकते हैं? पर जो थोड़े बहुत भासते हैं वे बतलाने पड़ेंगे ॥ २० ॥ पहले वायुस्वरूप मूलमाया में सत्त्वगुणात्मक विष्णु का स्वरूप भी वायुस्वरूप ही होता है, इसके बाद वह रूप देवधारी चतुर्भुज बनता है ॥ २१ ॥ उसी प्रकार पीछे से ब्रह्मा और महेश भी देह धरते हैं। उन्हें गुप्त या प्रगट होते देर नहीं लगती ॥ २२ ॥ अब, प्रत्यक्ष प्रतीति कर लो कि, जब मनुष्य ही गुप्त और प्रगट होते हैं; तब फिर देवताओं के लिए क्या

कहना है-वे तो स्वयं सामर्थ्यवान् हैं ॥ २३ ॥ देव देवता, भूत और दैवत इत्यादि में खूब बढ़ी चढ़ी हुई सामर्थ्य होती है। उन्हीं की तरह राक्षसों में भी सामर्थ्यकला होती है ॥ २४ ॥ झोटिंग वायुस्वरूप रहता है और जल्दी से खड़खड़ चलता है और नारियल या छोहारे आदि अकस्मात् डाल देता है! ॥ २५ ॥ यदि सब का अभाव मान लेंगे तो भी नहीं हो सकता; क्योंकि यह बात बहुत से लोगों को मालूम है और अपने अपने अनुभव के अनुसार सारे लोग जानते हैं ॥ २६ ॥ मनुष्य जब अनेक वेष धरते हैं; अनेक पुरुष परकाया में प्रवेश करते हैं; तब फिर वह स्वयं परमात्मा जगदीश ऐसा क्यों नहीं कर सकेगा? ॥२७॥ इस प्रकार वायुस्वरूप से देहरूप होकर ब्रह्मा, विष्णु, महेश बनते हैं और इसके बाद फिर वही पुत्र-पौत्रों में विस्तृत होते हैं ॥ २८ ॥ वे अंतःकरण में स्त्रियों की कल्पना करते हैं, कल्पना करते ही वे बन जाती हैं; परन्तु उनसे सन्तानोत्पत्ति या प्रजोत्पत्ति कभी नहीं होती ॥ २९ ॥ वे इच्छामात्र ही से पुत्रों की भी कल्पना कर लेते हैं। जब जब वे कल्पना करते हैं तब तब पुत्र बन जाते हैं। इसी प्रकार हरि, हर, विधि आदि बनते रहते हैं ॥ ३० ॥ इसके बाद ब्रह्मा सृष्टि की कल्पना करता है और उसकी इच्छा के अनुसार सृष्टि बन जाती है, तथा इसी तरह ब्रह्मा जीवसृष्टि का निर्माण करता है ॥ ३१ ॥ नाना प्रकार के प्राणियों की कल्पना कर ली जाती है-वे इच्छा के अनुसार निर्मित हो जाते हैं। अंडज, जारज, आदि सभी जीव जोड़े सहित पैदा होते हैं ॥ ३२ ॥ जो स्वेद से होते हैं वे स्वेदज प्राणी कहलाते हैं और जो वायु से होते हैं वे उद्भिज कहलाते हैं ॥ ३३ ॥ इसी प्रकार मनुष्यों की गारुडी विद्या (इन्द्रजाल), राक्षसों की आडम्बरी विद्या और ब्रह्मा की सृष्टि-विद्या होती है ॥ ३४ ॥ कुछ मनुष्यों की, उससे भी विशेष राक्षसों की और उससे भी विशेष ब्रह्मा की सृष्टि-विद्या है ॥ ३५ ॥ कोई ज्ञाता और कोई अज्ञाता प्राणी बनाये जाते हैं, वेद प्रकट करके, उनके द्वारा, वे प्राणी मार्ग में लगाये जाते हैं-इस प्रकार ब्रह्मा यह सृष्टि निर्माण करता है ॥ ३६ ॥ इसके बाद शरीरों से शरीर बनते जाते हैं, विकार से सृष्टि बढ़ती जाती है और इस प्रकार सब शरीर निर्माण होते हैं ॥ ३७ ॥ इतने से आशंका मिट जाती है-यह मालूम हो जाता है कि सारी सृष्टि कैसे विस्तृत हुई, और विचार करने से ठीक ठीक अनुभव में आ जाती है ॥ ३८ ॥ इस प्रकार ब्रह्मा ने सृष्टि रचना है, अब आगे श्रोता लोगों को यह वर्णन सुनना चाहिए कि, विष्णु उस का प्रतिपालन कैसे करता है:—॥ ३९ ॥

विष्णु का मूलरूप सत्त्वगुण, चेतनता या ज्ञान है। यह सूक्ष्म रूप अदृश्य

रहता है। इसके द्वारा सब प्राणियों की रक्षा होती है। यह विष्णु का सूक्ष्म रूप, स्थूल शरीर धारण करके, दुष्टों का संहार करता है ॥ ४० ॥ नाना अवतार धरने, दुष्टों का संहार करने और धर्मस्थापन करने के लिए विष्णु का जन्म होता है* ॥ ४१ ॥ धर्मस्थापन करनेवाले पुरुष भी विष्णु का अवतार है। उनके सिवाय जो अभक्त और दुर्जन हैं वे सहज ही राक्षसों की गणना में आ जाते हैं! ॥ ४२ ॥ अब, जो प्राणी पैदा होते हैं वे चैतन्य न रहने पर नाश हो जाते हैं और इस प्रकार रुद्र तमोगुण से उनका संहार करता है ॥ ४३ ॥ रुद्र का पूर्ण कोप होने पर सम्पूर्ण सृष्टि का संहार हो जायगा—उस समय सारा ब्रह्माण्ड ही भस्म हो जायगा ॥ ४४ ॥ यह उत्पत्ति, स्थिति और संहार का वर्णन श्रोताओं को ध्यान में रखना चाहिए ॥ ४५ ॥ अब अगले समास में कल्पान्त के संहार का वर्णन किया जायगा। पांच प्रलयों का पहचाननेवाला ही ज्ञानी हो सकता है ॥ ४६ ॥

पाँचवाँ समास—पंच-प्रलय।

॥ श्रीराम ॥

अब प्रलय का लक्षण सुनियेः—पिण्ड (शरीर) में दो प्रलय होते हैं; एक निद्रा और दूसरा मरण ॥ १ ॥ तीनों देहधारक मूर्तियां जब निद्रा सम्पादन करती हैं तब उसे ब्रह्माण्ड का निद्राप्रलय कहते हैं ॥ २ ॥ जब तीनों मूर्तियों का और ब्रह्माण्ड का भी अन्त हो जाता है तब उसे ब्रह्म प्रलय कहते हैं ॥ ३ ॥ कुल चार प्रकार के प्रलय हैं; जिनमें से दो पिण्ड में हैं और दो ब्रह्माण्ड में हैं और पाँचवाँ सब से बड़ा प्रलय विवेक का है ॥ ४ ॥ ऐसे ये पांचों प्रलय क्रमशः बतला दिये; अब इन्हें इस प्रकार बतलाता हूँ कि, जिस से अनुभव में आ जायँ ॥ ५ ॥

जब निद्रा का सञ्चार होता है तब जागृति के सारे व्यापार चले जाते हैं और अकस्मात् शरीर में स्वप्नावस्था या सुषुप्ति अवस्था आ जाती है ॥६॥ इसी जागृति के क्षय हो जाने का नाम निद्राप्रलय है। अब मृत्युप्रलय का हाल सुनो। वह देहान्त समय में होता है ॥ ७ ॥ देह में जब रोग बढ़ते हैं अथवा जब कोई कठिन प्रसंग आ पड़ता है तब पञ्चप्राण अपना व्यापार

---

* परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥
(गीता, अ० ४।)

छोड़ कर चले जाते हैं ॥ ८ ॥ उस समय मन भी चला जाता है; केवल शरीर रह जाता है । यही दूसरा प्रलय है ॥ ९ ॥ तीसरा प्रलय वह है कि जब ब्रह्मा सो जाता है, मृत्युलोक का लय हो जाता है तथा प्राणिमात्र का सारा व्यापार बन्द हो जाता है ॥ १० ॥ उस समय प्राणियों के सूक्ष्मांश वायुचक्र में वास करते हैं । बहुत सा समय व्यतीत हो जाने पर, तब कहीं ब्रह्मा में जागृति आती है ॥११॥ ब्रह्मा फिर सृष्टि रचता है-विसञ्चित जीवों को फिर से सञ्चित करता है । और जब उसकी आयु की भी सीमा समाप्त हो जाती है तब ब्रह्मप्रलय होता है:—॥ १२ ॥

सौ वर्ष तक पानी नहीं बरसता, इस कारण प्राणी मर जाते हैं । पृथ्वी असम्भाव्य और अमर्यादित रीति से फट जाती है ॥ १३ ॥ सूर्य बारह कला करके तपने लगता है—इस कारण पृथ्वी जलने लगती है और अग्नि के पाताल में पहुंचते ही शेप भी विष वमन करता है॥ १४॥ आकाश में सूर्य की ज्वालाएं भभकती हैं; पाताल में शेष विष वमन करता है—इससे भूगोल दोनों ओर जलता है—ऐसी दशा में पृथ्वी का बचाव कहां है? ॥ १५ ॥ सूर्य की प्रखरता बढती है, चारों ओर कोलाहल मचता है और मेरु के सिरे धड़ाधड़ टूटते हैं ॥ १६ ॥ अमरावती, सत्यलोक, वैकुंठ, कैलास, आदि जितने लोक हैं, भस्म हो जाते हैं ! ॥ १७ ॥ सारा मेरु ढ़ह पड़ता है-उसकी महिमा ही समाप्त हो जाती है और देवसमुदाय वायुचक्र में घूमने लगता है ! ॥१८॥ धरती के भस्म हो जाने पर मूसलाधार पानी बरसता है और पलभर में पृथ्वी जल में गल जाती है ॥ १९ ॥ इसके बाद सिर्फ पानी ही पानी रह जाता है-उसे भी अग्नि शोष लेता है और फिर अमर्यादित अग्निज्वाला एकत्रित होती है ॥ २० ॥ समुद्र का बड़वानल, शिवनेत्र का नेत्रनल, सप्तकंचुकी ब्रह्मांड का आवर्णानल, सूर्य और विद्युल्लता, इतने सब, अग्नि एकत्रित होते हैं, इस कारण देवता देह छोड़ देते हैं और पूर्वरूप से प्रभंजन (वायु) में मिल जाते हैं ॥ २१ ॥ २२ ॥ वह वायु अग्नि को झड़पता है, अग्नि एकदम बुझ जाता है और वायु स्वच्छन्दता से परब्रह्म में दौड़ती है ॥ २३ ॥ जैसे धुंआ आकाश में फैल कर नष्ट हो जाता है वैसा ही हाल उस समय समीर (वायु) का होता है । बहुत में थोड़े का नाश कहा ही हुआ है ॥ २४ ॥ वायु का लय होते ही सूक्ष्म भूत, त्रिगुण और ईश्वर* निर्विकल्प में लीन होकर अपना अपना अधिष्ठान छोड़ देते हैं ॥ २५ ॥ उस समय जानपन नहीं रहता; जगज्ज्योति का लय हो जाता है-शुद्ध, सार, निराकार स्वरूपस्थिति रह जाती है ॥ २६ ॥

जितना कुछ नाम-रूप है; सब प्रकृति के कारण है-प्रकृति के न रहने पर

* प्रकृति और पुरुष, अर्थात् मूलमाया ।

बोलना कैसे हो सकता है? ॥ २७ ॥ प्रकृति के रहते हुए ही विवेक करना विवेक-प्रलय कहलाता है। ये पांचों प्रलय अच्छी तरह बतला दिये ॥२८॥

—

छठवाँ समास—भ्रम-निरूपण।

॥ श्रीराम ॥

ऊपर उत्पत्ति, स्थिति और संहार का वृत्तान्त बतलाया गया। परन्तु निर्गुण, निराकार परमात्मा उसके बाद भी जैसा का तैसा बना रहता है ॥१॥ होने, बर्तने और जाने का सम्बन्ध उस परमात्मा से नहीं है: वह आदि, मध्य और अन्त में, सदा, एकसा रहता है ॥ २ ॥ परब्रह्म बना ही रहता है; बीच ही में यह भ्रम (सृष्टि-भ्रम) भासता है। यह भासता है: पर कालान्तर में सब नाश हो जाता है ॥ ३ ॥ उत्पत्ति, स्थिति और संहार बीच में अखंड रीति से होते जाते हैं: पर आगे, अन्त में, सब का प्रलय होता है ॥ ४ ॥ परन्तु, जिसमें विवेक है वह पहले ही से जानता है—वह, सारासार-विचार के कारण, इस उत्पत्तिस्थिति-लय का हाल पहले ही से जानता है और ऐसे ही पुरुष को ज्ञानी कहते हैं ॥ ५ ॥ जहां बहुत से भ्रमिष्ट जमा हैं वहां एक समझदार पुरुष क्या कर सकता है? इस सृष्टि में ऐसे पुरुष बहुत थोड़े हैं जो समझदार हैं ॥ ६ ॥ उन समझदारों का मुख्य लक्षण यह है कि ऐसे महापुरुष भ्रम से अलग रहते हैं ॥ ७ ॥ जो भ्रम में न फँसा हो उसे मन में पहचान लेना चाहिए। अब भ्रम का हाल बतलाते हैं; सुनो ॥ ८ ॥ एक परब्रह्म परिपूर्ण भरा हुआ है—वह विकारयुक्त कभी नहीं हो सकता—उसे छोड़ कर और जितना कुछ भास है सब भ्रमरूप है ॥९॥ जिन त्रिगुण और पंचभूतों का (अष्टधा प्रकृति का) प्रलय होता है वह सब भ्रमरूप ही हैं ॥ १० ॥ मैं, तू, उपासना और ईश्वर-भाव भी निश्चय करके भ्रम ही है ॥ ११ ॥

> भ्रमेणाहं भ्रमेण त्वं भ्रमेणोपासका जनाः।
> भ्रमेणेश्वरभावत्वं भ्रममूलमिदं जगत् ॥ १ ॥

इस कारण सृष्टि, भासमान होने पर भी सारी भ्रमरूप ही है। इसमें जो विचारवान् हैं वही धन्य हैं ॥ १२ ॥ अब भ्रम का विचार अत्यन्त ही स्पष्ट करता हूं और दृष्टान्त-द्वारा श्रोताओं को समझाता हूं:—॥ १३ ॥ दूर देश में भ्रमण करते हुए यदि अपने को दिशाभ्रम हो जावे या अपने कुटुम्बियों को न पहचान सकें तो इसका नाम भ्रम है ॥ १४ ॥ अथवा नशे

के द्रव्य (भांग, धतूरा आदि) सेवन करने से एक के अनेक भासने लगें या भूतों के लगने से जो नाना व्यथाएं होती हैं उनको भ्रम कहते हैं ॥ १५ ॥ दशावतार का नाटक खेलते समय पुरुषों का स्त्री मालूम होना, बाजीगरी का खेल अथवा योंही यदि अन्तःकरण में कोई संदेह पैठ जाय तो इसका नाम है भ्रम ॥ १६ ॥ किसी वस्तु को रखी हुई जगह को भूल जाना, चलने रास्ता भूल जाना अथवा शहर में भटकते फिरना भ्रम है ॥ १७ ॥ अपने पास रहते हुए भी कोई वस्तु खोई हुई समझ कर दुःखित होना अथवा अपने ही को स्वयं भूलना—इसका नाम भ्रम है ॥ १८ ॥ किसी पदार्थ का भूल जाना, अथवा सीखा हुआ भूल जाना अथवा स्वप्नदुःख से घबड़ाना भ्रम है ॥ १९ ॥ दुश्चिन्ह अथवा अपशकुन या मिथ्या वार्ता से मनोव्यथा होना अथवा किसी पदार्थ को देख कर ठिठकना भ्रम है ॥ २० ॥ वृक्ष या काठ देख कर मन में भूत आने की आशंका होना, कुछ भी न होकर भय करना—इसका नाम भ्रम है ॥ २१ ॥ पानी को कांच समझकर उसमें गिरना, अथवा दर्पण में सभा का दूसरा प्रति बिम्ब देख कर उसमें घुसना या द्वार भूल कर इधर उधर भटकना भ्रम है ॥ २२ ॥ कुछ का कुछ ही मालूम होना, कुछ बतलाने से और ही कुछ समझना और कुछ देख कर और ही कुछ मन में लाना भ्रम है ॥ २३ ॥ इस समय जो जो देते हैं सो सो आगे पाते हैं अथवा मरे हुए मनुष्य भोजन करने आते हैं—यह समझना भ्रम है ॥ २४ ॥ इस जन्म का अगले जन्म में पाने की आशा रखना अथवा मनुष्य के नाम में प्रीति लगाना भ्रम है ॥ २५ ॥ मन में यह बात अखंड जम जाना कि, मरा हुआ मनुष्य स्वप्न में आकर हम से कुछ मांगता है, भ्रम है ॥ २६ ॥ सब को मिथ्या बतला कर, फिर भी धन-दौलत पर मन दौड़ाना अथवा ज्ञाता बन कर भी वैभव पर भूलना भ्रम है ॥ २७ ॥ कर्मठपन से ज्ञान को भुलना अथवा ज्ञातापन से बलात् भ्रष्ट होना अथवा किसी मर्यादा का भी उल्लंघन करना भ्रम है ॥ २८ ॥ देहा-भिमान, कर्माभिमान, जात्याभिमान, कुलाभिमान, ज्ञानाभिमान और मोक्षाभिमान होने का नाम भ्रम है ॥ २९ ॥ न्याय न मालूम होना, किया हुआ अन्याय न मालूम होना, और व्यर्थ ही अभिमान बढ़ाना भ्रम है ॥ ३० ॥ कोई पिछली बात बिसर जाना, अगला विचार न सूझना और अखंड रीति से गर्व में आ जाना, भ्रम है ॥ ३१ ॥ प्रतीति बिना औषधि लेना, प्रतीति बिना पथ्य करना और प्रतीति बिना ज्ञान बतलाना भ्रम है ॥ ३२ ॥ फल जाने बिना कोई प्रयोग करना, ज्ञान के बिना योग करना और व्यर्थ शारी-रिक भोग भोगना भ्रम है ॥ ३३ ॥ ब्रह्मा भाग्य में जो कुछ लिखता है उसे छठी के दिन, छठी माता पढ़ जाती है—इस प्रकार की बातों को भ्रम कहते हैं ॥ ३४ ॥

इसी प्रकार से अज्ञान जनों में खूब भ्रम पैठा हुआ है । यहां मैंने साधारण तौर पर जानने के लिए, संक्षिप्त रीति से, बतलाया है ॥३५॥ जब सारा विश्व स्वाभाविक ही भ्रमरूप है तब फिर क्या कहना है? निर्गुण ब्रह्म छोड़ कर और सब भ्रमरूप हैं ॥ ३६ ॥ ज्ञानी संसार से अलग होता है; अतएव, गत ज्ञानी के चमत्कार भी भ्रम ही समझना चाहिए ॥ ३७ । यहां पर यह एक आशंका उठती है कि, ज्ञाता की समाधि जो पूजी जाती है उससे कुछ फल होता है या नहीं? ॥ ३८ ॥ उसी प्रकार अवतारी पुरुष यद्यपि अब नहीं हैं; पर उनकी सामर्थ्य बहुत देखी जाती है; तो क्या वे वासना में फँसे हुए हैं? ॥ ३९ ॥ यह आशंका उठती है; अब समर्थ को यह शंका मिटानी चाहिए । इतने ही में भ्रम की कथा भी समाप्त हुई ॥ ४० ॥

सातवाँ समास—साधु चमत्कार नहीं करते ।

॥ श्रीराम ॥

श्रोता लोग आशंका करते हैं कि, जब अवतारी पुरुष, ज्ञानी और सन्त लोग, बिलकुल मुक्त ही हो गये तब फिर उनकी सामर्थ्य आज तक कैसे चली जाती है? इस पर वक्ता कहता है कि, यह प्रश्न तो बहुत अच्छा किया है; अब इसका उत्तर सुनियेः—॥ १ ॥ ज्ञानी मुक्त हो जाते हैं और पीछे उनकी सामर्थ्य भी चलती रहती है; पर वे वासना धर कर नहीं आते ॥ ३ ॥ लोगों को जो चमत्कार मालूम होता है और लोग जो उस चमत्कार को सच्चा मानते हैं, इसका विचार चतुरों को करना चाहिए ॥ ४ ॥ मर जाने के बाद की तो बात ही जाने दो, जीते रहने पर न जाने कितने चमत्कार लोगों में हुआ करते हैं। इस प्रकार की तात्कालिक प्रतीति प्रत्यक्ष देख लो ॥ ५ ॥ वह तो स्वयं एक जगह से गया नहीं और लोगों ने प्रत्यक्ष उसे दूसरी जगह देखा—ऐसा यह चमत्कार हुआ; अब इसे क्या कहें*? ॥ ६ ॥ लोगों का अपना भाव ही इसका कारण है, भाविकों को देव यथार्थ है—भाव के बिना सारी कल्पना व्यर्थ और कुतर्क से भरी है ॥ ७ ॥ अपनी प्यारी वस्तु स्वप्न में जब कोई देखता है तब क्या वास्तव में वह वस्तु वहां से आ जाती है? यदि

---

* जान पड़ता है कि यह पद्य उदाहरणस्वरूप किसी साधु के चमत्कार को अनुलक्ष करके लिखा गया है ।

कहा जाय कि नहीं, उसकी याद आती है—अच्छा, अगर याद आती है तो फिर दूसरे द्रव्यों का रूप क्यों दिखता है; केवल उसीकी याद स्वप्न में भी क्यों नहीं आती ! ॥ ८ ॥ अतएव: यह सब अपनी कल्पना है। स्वप्न में नाना पदार्थ देख पड़ते हैं; परन्तु वास्तव में वे कुछ नहीं हैं और न वे याद ही आते हैं ॥ ९ ॥ इतने से यह आशंका मिट जाती है, ज्ञाता के जन्म की कल्पना मत करो। यदि समझ में न आवे तो विवेक से अच्छी तरह समझ लो ॥१०॥ ज्ञानी मुक्त हो जाते हैं और उनकी सामर्थ्य चलती रहती है; क्योंकि वे पुण्यमार्ग से चलते हैं ॥ ११ ॥ इस लिए पुण्य-मार्ग से चलना चाहिए, ईश्वर का भजन बढ़ाना चाहिए और न्याय छोड़ कर, अन्याय मार्ग से, न जाना चाहिए ॥१२॥ अनेक शुभ पुरश्चरण करना चाहिए, खूब तीर्थाटन करना चाहिए और वैराग्यबल से अपनी सामर्थ्य को बढ़ाना चाहिए ॥ १३ ॥ यदि परमात्मा में विश्वास हो तो ज्ञानमार्ग से भी सामर्थ्य बढ़ सकती है; पर ऐसा न करना चाहिए कि, जिससे शान्ति भंग हो जाय ॥ १४ ॥ गुरु या ईश्वर, दो में से एक में, अथवा दोनों में, श्रद्धा अवश्य रखना चाहिए; क्योंकि श्रद्धा के बिना सब व्यर्थ है ॥ १५ ॥ जो ज्ञाता लोग, निर्गुण का ज्ञान हो जाने पर, सगुण की ओर से ध्यान हटा लेते हैं वे दोनों ओर से जाते हैं ॥ १६ ॥ उन ज्ञाताओं में वस्तुतः न भक्ति ही होती है और न ज्ञान ही होता है—सिर्फ अभिमान ही अभिमान बीच में आ जाता है। अतएव, जप और ध्यान कभी न छोड़ना चाहिए ॥ १७ ॥ जो सगुण-भजन छोड़ देता है, वह चाहे ज्ञानी भी हो, तो भी उसे यश नहीं मिलता। इस लिए सगुण भजन छोड़ना ही न चाहिए ॥ १८ ॥ निष्काम बुद्धि से जो भजन किया जाता है उसकी तुलना तीनों लोक में किसी से नहीं की जा सकती। परन्तु, सामर्थ्य के बिना निष्काम भजन नहीं हो सकता ॥१९॥ सकाम भजन से फल मिलता है और निष्काम से भगवान मिलता है ! अब कहो, कहाँ फल और कहां भगवान ! बड़ा अन्तर है ॥ २० ॥ ईश्वर के पास नाना फल हैं—और फिर फल तो भगवान से मनुष्य को दूर करता है—इस कारण परमेश्वर को निष्काम ही भजना चाहिए ॥ २१ ॥ निष्काम भजन का फल अद्भुत है—उससे असीम सामर्थ्य बढ़ती है—ऐसी दशा में बिचारे फलों की क्या गिनती ! ॥ २२ ॥ भक्त जो बात मन में धरता है वह ईश्वर स्वयं ही करता है—भक्त को किसी बात की चिन्ता नहीं करनी पड़ती ॥ २३ ॥ दोनों सामर्थ्य एक होने पर काल भी कुछ नहीं कर सकता, फिर औरों की क्या गिनती है ? और सब तो वहां कीड़े की तरह हैं ! ॥ २४ ॥ इस लिए निष्काम भजन, और साथ ही साथ ब्रह्मज्ञान, के सामने तीनों लोक की सम्पदा कोई चीज नहीं ॥ २५ ॥ इससे अधिक और

क्या बुद्धि का प्रकाश हो सकता है? निष्काम भक्त को कीर्ति, यश और प्रताप सदा मिलते हैं ॥ २६ ॥ जहां अध्यात्म-निरूपण और हरिकीर्तन हुआ करता है वहां मनुष्यमात्र का कल्याण होता है ॥ २७ ॥ जिसे परमार्थ में अपाकार नहीं होता वह कभी संकुचित नहीं होता और उसके निश्चय का समाधान नहीं बिगड़ता ॥ २८ ॥ सारासार का विचार करने से, और न्याय अन्याय पर सदा दृष्टि रखने से, परमात्मा की दी हुई बुद्धि स्थिर हो जाती है ॥ २९ ॥ अनन्यभक्त को भगवान स्वयं बुद्धि देता है। भगवद्गीता का वचन सुनिये:—॥ ३० ॥

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

परन्तु सगुण-भजन; तिस पर भी ब्रह्मज्ञान; और फिर अनुभवयुक्त शान्ति संसार में दुर्लभ है ॥ ३१ ॥

आठवाँ समास—प्रतीति-निरूपण !

॥ श्रीराम ॥

प्रतीति के लक्षण सुनो। जो प्रतीति का विचार करते हैं वेही चतुर हैं। और बाकी पुरुष, जो प्रतीति-रहित हैं वे, पागल और दीन हैं ॥ १ ॥ नाना प्रकार के रत्न और सिक्के, बिना परीक्षा किये लेने से हानि होती है, इसी प्रकार यदि विश्वास न आवे तो निरूपण में बैठना ही न चाहिए ॥ २ ॥ घोड़ा और शस्त्र फेर कर देख लेना चाहिए। जब वे अच्छे मालूम हों तब जानकार पुरुष को उन्हें लेना चाहिए ॥ ३ ॥ जब यह देख ले कि, बीज उगने लायक है तब दाम डाल कर उसे लेना चाहिए। इसी प्रकार जब प्रतीति हो जाय तब निरूपण सुनना चाहिए ॥ ४ ॥ जब लोगों को यह विश्वास हो जाय कि, यह मात्रा लेने से शरीर आरोग्य होता है तब उस मात्रा को अवश्य लेना चाहिए ॥ ५ ॥ प्रतीति बिना औषधि लेना अपनी आरोग्यता बिगाड़ना है—अनुमान से कार्य करना मूर्खता है ॥ ६ ॥ बिना प्रतीति के सोने का गहना बनवा लेना मानो जान-बूझ कर अपने को ठगवाना है ॥ ७ ॥ बिना देखे-भाले कोई काम करना ठीक नहीं, इससे प्राण जाने की शंका रहती है ॥ ८ ॥ भले आदमियों को अनुमान से कार्य कभी न करना चाहिए, वैसा करने से भलाई के बदले बुराई हो रहती है ॥ ९ ॥ पानी में डूबी हुई भैंस खरीद करना अच्छी बुद्धि का लक्षण नहीं है। बिना देखे-भाले व्यर्थ पछतावा होता है ॥ १० ॥ बहुत से मनुष्य विश्वास में

आकर घर मोल ले लेते हैं: परन्तु कपटी लोग अपना कपट उसमें चला ही देते हैं। उस कपट को समझना चाहिए॥ ११॥ बिना देखे-भाले अन्न या वस्त्र लेने से कभी कभी लोग प्राणों से भी हाथ धो बैठते हैं। झूठे का विश्वास करना ही मूर्खता है॥ १२॥ चोर की संगति करने से अवश्य हानि होगी। कपटी और ठग पहचानने से जाना जाता है॥ १३॥ मूढ़, तामसी, भेष बदल कर ठगनेवाले और नाना प्रकार के कपट-जाल रचनेवालों को अच्छी तरह से पहचान रखना चाहिए॥ १४॥ दिवालियों* का चमत्कार और वैभव देखने से तो बहुत बड़ा मालूम होता है: पर है वह सारी धोखेबाजी! आगे चल कर उसका भगड़ा फूट जाता है॥ १५॥ इसी प्रकार, बिना विश्वास ज्ञान ग्रहण करने से समाधान नहीं होता। सन्देहयुक्त ज्ञान से बहुतों का अनहित हो चुका है॥ १६॥ मंत्र यंत्र के उपदेश से अज्ञान प्राणी ऐसे फँसाये जाते हैं जैसे रोगी को चुपके से अनाड़ी वैद्य मार डाले॥ १७॥ कच्चा वैद्य होने के कारण यदि किसी बिचारे मनुष्य के प्राण चले जायँ तो इसमें दूसरे का क्या उपाय है?॥१८॥ दुःख के मारे भीतर ही भीतर सूखता जाता है: पर वैद्य से दवा पूछने में लजाता है, तो फिर आत्महत्यारापन उसे क्यों न शोभे?॥ १९॥ ज्ञाता पर अभिमान करना स्वयं, अज्ञानी होने के कारण, डूबना है। भला देखो तो, ऐसा करने से हानि किसकी होती है (ज्ञाता की या अभिमान करनेवाले की)?॥ २०॥ जब स्वयं यह विश्वास हो जाय कि, पापों का खण्डन हो गया और जन्म-यातना मिट गई, तब जानो कि अब भलाई है॥ २१॥ जब समझो कि, हमने परमेश्वर को पहचान लिया, हम कौन हैं—सो भी जान लिया और आत्मनिवेदन हो गया, तब जानो कि अब ठीक है॥ २२॥ जब यह मालूम हो जाय कि, ब्रह्माण्ड किसने रचा और किस पदार्थ का रचा, मुख्य कर्ता कौन है, तब समझो कि, अब सब ठीक है॥ २३॥ इतना मालूम होने में यदि शंका रह गई तो समझ लो कि, अब तक का किया हुआ सारा परमार्थ व्यर्थ गया और बिना विश्वास के वह पुरुष संशय में ही डूबा रहा!॥ २४॥ यह परमार्थ का मर्म है—इसमें यदि कोई असत्य कहता हो तो वह अधम है और जो असत्य मानता हो उसे यथार्थ में पापियों का सिरताज समझना चाहिए!॥ २५॥ यहाँ अब बोलने की सीमा हो चुकी (इससे अधिक अब क्या कहा जाय?) न जानने से परमात्मा नहीं जाना जाता, इसमें कुछ भी असत्य नहीं है: हे परमात्मा! तू

---

* ऐसे दिवालिये किसी शहर में आकर अपनी दूकान जमाते हैं और लोगों का बहुत सा धन हाथ आ जाने पर फिर दिवाला निकाल देते हैं।

ही जानता है! ॥ २६ ॥ मेरी उपासना की विशेषता यही है कि, सत्य ज्ञान बतलाया जाय; क्योंकि मिथ्या कहने से प्रभु पर दोष आता है ॥२७॥ इस लिए सत्य ही कहते हैं! कर्ता को पहचानना चाहिए और माया की उत्पत्ति का कारण खोजना चाहिए ॥ २८ ॥ वही बतलाया हुआ निरूपण फिर अच्छी तरह से बतलाया गया है--श्रोता लोगों को सावधान होकर सुनना चाहिए ॥ २९ ॥ जहां सूक्ष्म निरूपण आ पड़ता है वहां कहा हुआ ही फिर से कहते हैं; क्योंकि श्रोता लोगों की समझ में वह बातें अच्छी तरह आ जाना चाहिए ॥ ३० ॥ वास्तव में प्रतीति का सम्हालने से जनरूढ़ि उड़ जाती है; इस लिए (अर्थात् जनरूढ़ि की रक्षा करते हुए प्रतीति कराने के लिए) यह खटपट करनी पड़ती है ॥ ३१ ॥ यदि जनरूढ़ि ही के अनुसार बतलावें तो प्रतीति का समाधान डूब जाता है और यदि प्रतीति-समाधान की रक्षा की जाय तो जनरूढ़ि उड़ जाती है! ॥ ३२ ॥ इस प्रकार का दोनों ओर संकट उपस्थित होता है-इसी कारण बताया हुआ ही फिर बताना पड़ता है। अच्छा, अब दोनों (जनरूढ़ि और प्रतीति-समाधान) की रक्षा करके यह पहेली हल किये देता हूं ॥ ३३ ॥ अतएव, अब जनरूढि और प्रतीति-प्रमाण, दोनों की रक्षा रख कर किया हुआ निरूपण, परम चतुर श्रोता लोगों को मनन करना चाहिए ॥ ३४ ॥

नववाँ समास—पुरुष और प्रकृति ।

॥ श्रीराम ॥

आकाश में जैसे वायु निर्माण होती है वैसे ही ब्रह्म में मूलमाया होती है। इसके बाद फिर उस वायुरूप मूलमाया से त्रिगुण और पंचभूत होते हैं ॥ १ ॥ वटबीज में बहुत बड़ा पेड़ है; पर बीज फोड़ कर देखने से वह देख नहीं पड़ता। वास्तव में नाना वृक्षों का समूह बीज ही से होता है ॥ २ ॥ उसी प्रकार यह मूलमाया भी बीजरूप है-इसीसे यह सारा विस्तार हुआ है। उसका स्वरूप खोज कर अच्छी तरह देखना चाहिए ॥ ३ ॥ वहां निश्चल और चंचल दोनों दिखते हैं--उनकी प्रतीति विवेक-द्वारा करना चाहिए। निश्चल में जो चंचलस्थिति है वही वायु है ॥ ४ ॥ उसमें जो चेतनाशक्ति है वही जगज्ज्योति की स्फूर्ति है। वायु और चेतनाशक्ति मिल कर मूलमाया कहलाती है ॥ ५ ॥ 'सरिता' कहने से जान पड़ता है कि, यह कोई स्त्री होगी; पर वहां देखो तो क्या है? पानी! इसी

प्रकार विवेकी पुरुष माया को समझे! ॥ ६ ॥ वायु और चेतनाशक्ति जगज्जोति मिल कर मूलमाया कहाती है। पुरुष और प्रकृति उन्हींका नाम है ॥ ७ ॥ वायु को प्रकृति कहते हैं और जगज्जोति को पुरुष कहते हैं—उन्हींका नाम है पुरुष-प्रकृति या शिव-शक्ति ॥ ८ ॥ इस बात में विश्वास रखना चाहिए कि, वायु में जो चेतना-विशेष है वही प्रकृति में पुरुष है ॥ ९ ॥ वायु 'शक्ति' है और चेतना 'शिव' है—इन्हीं को लोग सदा 'अर्ध-नारीनटेश्वर' कहा करते हैं ॥ १० ॥ वायु में चेतनागुण है और यही ईश्वर का लक्षण है—इसीसे फिर आगे त्रिगुण हुए हैं ॥ ११ ॥ त्रिगुण में सत्वगुण शुद्ध चेतना का लक्षण है—इसका देहधारी स्वरूप स्वयं विष्णु हुआ है ॥ १२ ॥ भगवद्गीता कहती है कि, उसी विष्णु के अंश से जगत् चलता है। यह गोरख-धंधा विचार से कैसा स्पष्ट हो जाता है! ॥ १३ ॥ एक ही चेतनाशक्ति सब प्राणियों में फैली हुई है और अपने जानपन से सब शरीरों की रक्षा करती है ॥ १४ ॥ उसीका नाम जगज्जोति है—उसीसे प्राणिमात्र जीते हैं—इसकी साक्षात् प्रतीति प्रत्यक्ष देख लेना चाहिए ॥१५॥ पक्षी, श्वापद, कीड़ा, चींटी, आदि, जगत् का कोई भी प्राणी हो, उसके शरीर में चेतना निरन्तर खेला करती है ॥ १६ ॥ उसीके गुण से, उसीके जानपन से, शरीर को भगाते हैं, बचाते हैं, और छिपाते हैं ॥ १७ ॥ वह सारे जगत् का पालन करती है—इसी लिए उसका नाम जगज्जोति है; इसके चले जाने पर प्राणी जहां के तहां मर जाते हैं ॥ १८ ॥ मूलमाया की चेतना का विकार, आगे चल कर, इस प्रकार विस्तृत हुआ है जैसे पानी का तुषार बन कर अनन्त रेणुओं के रूप में होता है ॥ १९ ॥ उसी प्रकार देव, देवता, दैवत, भूत, इत्यादि मिथ्या नहीं कहे जा सकते; ये सब अपनी अपनी सामर्थ्य से इस सृष्टि में फिरते रहते हैं ॥ २० ॥ ये सब सदा वायु-स्वरूप से विचरा करते हैं और अपनी इच्छानुसार रूप बदलते रहते हैं। अज्ञान प्राणी अपने भ्रम और संकल्प से उनके द्वारा पीड़ित होते हैं ॥२१॥ ज्ञाता में संकल्प होता ही नहीं; इसी कारण ये सब उसे नहीं बाधते; अतएव आत्मज्ञान का अभ्यास अवश्य करना चाहिए ॥ २२ ॥ आत्मज्ञान का अभ्यास करने से सब कर्मों का खण्डन हो जाता है—यह बिलकुल प्रत्यक्ष, अनुभव की बात है—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं ॥ २३ ॥ यह कभी नहीं हो सकता कि, ज्ञान के बिना कर्म का खण्डन हो जाय। इसी प्रकार यह भी असम्भव है कि, सद्गुरु के बिना ज्ञान प्राप्त हो जाय ॥ २४ ॥ इस लिए सद्गुरु करना चाहिए—सत्संग ढूँढ़ कर उसकी शरण में जाना चाहिए और अन्तःकरण में तत्त्वज्ञान का मनन करना चाहिए ॥२५॥ तत्त्व में तत्त्व निकल जाने से वास्तव में स्वयं जो 'आप' है वही रह जाता है—इस

प्रकार से अनन्यभाव हो जाने पर सहज ही सार्थकता होती है ॥ २६ ॥ बिना विचारे जो किया जाता है वह व्यर्थ जाता है. इस लिए पहले विचार में प्रवृत्त होना चाहिए ॥ २७ ॥ जो विचार करता है वही पुरुष है और जो विचार नहीं करता वह पशु है—इस प्रकार के भगवद्वचन जगह जगह पाये जाते हैं ॥ २८ ॥ सिद्धान्त निश्चित करने के लिए पूर्वपक्ष उडाना पडता है; और इसी निरूपण से साधकों को सत्य ज्ञान पर विश्वास आता है ॥ २९ ॥ श्रवण, मनन, निदिध्यासन और प्रतीति करने से विश्वास आता है; और फिर प्रत्यक्ष अनुभव होने में प्रयास नहीं पडता ॥ ३० ॥

दसवाँ समास—निश्चल और चंचल !

॥ श्रीराम ॥

ब्रह्म आकाश के समान है—वह बहुत बड़ा, ऊंचा, विस्तीर्ण, निर्गुण, निर्मल, निश्चल और सर्व काल प्रकाशित है ॥ १ ॥ उसे परमात्मा कहते हैं और भी न जाने कितने उसके नाम हैं; वह आदि-अन्त में जैसा का तैसा बना रहता है ॥ २ ॥ वह अनन्तरूप से सर्वत्र सघन फैला हुआ है और निराभास है ॥ ३ ॥ पाताल में अथवा अन्तराल में, चारों ओर, कहीं भी उसका अन्त नहीं है। कल्पान्तकाल में अथवा सर्वकाल में वह संचित ही रहता है ॥ ४ ॥ ऐसा कुछ एक अचंचल है-उस अचंचल में जो चंचल भासती है उसके भी बहुत से नाम हैं: वह त्रिविधा है ॥ ५ ॥ बिना देखे नाम रखना और पहचान बतलाना एक विचित्र बात है; तथापि जानने के लिए वैसा करना पड़ता है ॥ ६ ॥ मूलमाया, मूलप्रकृति, मूलपुरुष, शिव-भक्त, इत्यादि अनेकों नाम हैं ॥ ७ ॥ परन्तु जो नाम जिसे रखा गया है उसे पहले पहचानना चाहिए। बिना प्रतीति के बकवाद क्यों करना चाहिए? ॥ ८ ॥ स्वरूप न जानते हुए नाम पर न भटकना चाहिए। प्रतीति बिना, केवल अनुमान-ज्ञान से, गड़बड़ मचता है ॥ ९ ॥ निश्चल गगन में चञ्चल वायु भरभराहट के साथ बहने लगती है; परन्तु उस गगन और समीर में भेद है ॥ १० ॥ उसी प्रकार परब्रह्म निश्चल है—उसमें चञ्चल माया का भ्रम भासता है। अब उस भ्रम का खुलासा किये देता हूं ॥ ११ ॥ जिस प्रकार गगन में पवन चलता है उसी प्रकार निश्चल (ब्रह्म) में स्फूर्तिलक्षणरूपी इच्छा (माया) का स्फुरणरूप से चलन होता है ॥ १२ ॥ ब्रह्म की अहंता से चेतना होती है वही

मूलप्रकृति कहलाती है और उसीसे यह ब्रह्मांड की महाकारण माया रची हुई है ॥ १३ ॥ स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण, ये जिस प्रकार पिण्ड के चार देह हैं उसी प्रकार विराट, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत, मूलप्रकृति ये चार देह ब्रह्माण्ड के हैं ॥ १४ ॥ यह पञ्चीकरण शास्त्रसम्मत है। विराट, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत और मूलमाया को ईश्वरतनुचतुष्टय कहते हैं, इसी लिए चेतना को ऊपर मूलमाया बतलाया है ॥ १५ ॥ परमात्मा, परमेश्वर, परेश, ज्ञानघन, ईश्वर, जगदीश, जगदात्मा और जगदीश्वर पुरुष-नाम हैं ॥ १६ ॥ उसे सत्तारूप, ज्ञानस्वरूप, प्रकाशरूप, ज्योतिरूप, कारणरूप, चिद्रूप, शुद्ध, सूक्ष्म और अलिप्त कहते हैं ॥ १६ ॥ उसे आत्मा, अन्तरात्मा, विश्वात्मा, द्रष्टा, साक्षी, सर्वात्मा, क्षेत्रज्ञ, शिवात्मा, जीवात्मा, देही और कूटस्थ कहते हैं ॥ १८ ॥ उसे इंद्रात्मा, ब्रह्मात्मा, हरिहरात्मा, यमात्मा, धर्मात्मा, नैऋत्यात्मा, वरुण-वायु-कुबेरात्मा और ऋषि-देव-मुनि-धर्ता कहते हैं॥१९॥ गण, गन्धर्व, विद्याधर,यक्ष,किन्नर, नारद, तुंबर, आदि, सब को जो आत्मा है उसीको सर्वात्मा कहते हैं ॥ २० ॥ चन्द्र, सूर्य, तारामण्डल, भूमंडल, मेघमंडल, इक्कीस स्वर्ग, और सप्त पाताल, इत्यादि सब का व्यापार वही अन्तरात्मा चला रहा है ॥ २१ ॥ वह गुप्त बेलि चारों ओर फैली हुई है। उसके पुरुष-नाम तो ले चुके। अब उसीके स्त्रीनाम श्रोताओं को सुनना चाहिए:-॥ २२ ॥ उसे मूलमाया, जगदीश्वरी, परमाविद्या, परमेश्वरी, विश्ववंद्या, विश्वेश्वरी और त्रैलोक्यजननी कहते हैं ॥ २४ ॥ उसे अंतर्हेतु, अन्तर्कला, मौन्यगर्भा, चेतनाशक्ति, चपला, जगज्ज्योति, जीवन-कला, परा, पश्यन्ति और मध्यमा कहते हैं ॥ २४ ॥ वह युक्ति, बुद्धि, मति, धारणा, सावधानता, नाना विचार, भूत, भविष्य, वर्तमान-इन सब को प्रकट कर दिखाती है ॥ २५ ॥ वह जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्या, ताटस्था तथा सुखदुःख और मानापमान सब जानती है ॥ २६ ॥ वह परम कठिन और कृपालु है; वह परम कोमल और स्नेहालु है, तथा वह परम क्रोधी, और असीम प्रेम करनेवाली है ॥ २७ ॥ शान्ति, क्षमा, विरक्ति, भक्ति, अध्यात्मविद्या, सायुज्यमुक्ति, विवेक और सहज-स्थिति उसीके द्वारा प्राप्त होती है ॥ २८ ॥ पहले पुरुषनाम बतलाये, उसके बाद स्त्रीनामों का निरूपण किया, अब उस चञ्चल के नपुंसकनाम सुनना चाहिए:- ॥ २९ ॥ जानना, अन्तःकरण, चित्त, श्रवण, मनन, चैतन्य, जीवित, आना, जाना, इत्यादि सुचित्त होकर देखना चाहिए ॥ ३०॥ उसको मैंपन, तूपन, जानपन, ज्ञातापन, सर्वपन, जीवपन, शिवपन, ईश्वर-पन और अलिप्तपन कहते हैं। ३१ ॥

ऐसे नाम बहुत से हैं: पर वह जगज्ज्योति है एक ही। उस सर्वान्त-

रात्मा को वही जानते हैं जो विचारवन्त हैं ॥ ३२ ॥ आत्मा, जगज्ज्योति और सर्वज्ञता, तीनों को एक ही जानना चाहिए; इसीको अन्तःकरण या ज्ञप्ति, निश्चयपूर्वक समझना चाहिए ॥ ३३ ॥ पदार्थों के और पुरुष, स्त्री तथा नपुंसक नामों के ही ढेर लगे हुए हैं, तब फिर सृष्टि-रचना के नाम और कहां तक बताये जायँ? ॥ ३४ ॥ सब का चालक एक वही है। वह अन्तरात्मा अनन्त ब्रह्माण्ड का व्यापार चलाता है। चींटी से लेकर ब्रह्मा-विष्णु-महेश, इत्यादि देवता तक, सब उसीके द्वारा बर्तते हैं ॥ ३५ ॥ उस अन्तरात्मा को यहां थोड़े ही में जान लेना चाहिए। नाना प्रकार का तमाशा सब उसी में है! ॥ ३६ ॥ वह जान पड़ता है; पर दिखता नहीं, उसके विषय में प्रतीति आती है; पर उसका भास नहीं होता और वह शरीर में है; पर एक ठौर में नहीं बैठता ॥ ३७ ॥ वह तीक्ष्णता से आकाश में भर जाता है, सरोवर देखते ही पसर जाता है और पदार्थ देखते हुए चारों ओर व्याप्त रहता है ॥ ३८ ॥ जैसा पदार्थ दिख पड़ता है वह वैसा ही हो जाता है और चञ्चलता में वह वायु से भी अधिक है ॥ ३९ ॥ वह अनेक दृष्टियों से देखता है, अनेक रसनाओं से चखता है और अनेक मनों से परखता है ॥ ४० ॥ कान में बैठ कर शब्द सुनता है, घ्राणेंद्रिय से वास लेता है और त्वचा से ठंडा और गर्म इत्यादि जानता है ॥ ४१ ॥ इसी प्रकार वह सब के मन की बातें जानता है, वह सब में है और सब से निराला है। उसकी अगाध लीला वही जानता है! ॥ ४२ ॥ वह न पुरुष है; न स्त्री है; न बाल है; न तरुण है; और न कुमारी है। वह नपुंसक शरीर का धारण करनेवाला है; पर नपुंसक भी वह नहीं है ॥ ४३ ॥ वह सब देहों को चलाता है, वह करके भी अकर्ता कहलाता है, वह क्षेत्रज्ञ है; क्षेत्रवासी है और उसको देही तथा कूटस्थ भी कहते हैं ॥ ४४ ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भुतानि कूटस्थोक्षर उच्यते ॥ १ ॥

जगत् में दो प्रकार के पुरुष होते हैं—एक क्षर और दूसरे अक्षर। सर्व भूतों को क्षर और कूटस्थ को अक्षर कहते हैं ॥ ४५ ॥ उत्तम पुरुष और ही है—वह निष्प्रपंच, निष्कलंक, निरंजन, परमात्मा, एक और निर्विकारी है ॥४६॥ साधकों को चारों देहों का निरसन करके देहातीत होना चाहिए। देहातीत को ही अनन्य भक्त जानना चाहिए ॥ ४७ ॥ जब देहमात्र का निरसन हो जाता है तब अन्तरात्मा भी कहां बचता है? निर्विकार में विकार

के लिए ठौर ही नहीं है* ॥ ४८ ॥ विवेक-द्वारा यह निश्चयात्मक प्रत्यय कर लेना चाहिए कि, निश्चल एक परब्रह्म है और जितना चंचल है उतना सब मायिक है ॥ ४९ ॥ इसमें बहुत खटपट की आवश्यकता नहीं; क्योंकि हैं दो ही-एक चंचल और एक निश्चल। इन दोनों में से शाश्वत कौन है, यह बात केवल ज्ञान से पहचानना चाहिए ॥ ५० ॥ सारासार-विचार इस लिए कहा है कि, जिससे असार छोड़ कर सार ले लिया जाय। ज्ञानी लोग सदा यह बात विचारते रहते हैं कि, नित्य क्या है और अनित्य क्या है ॥ ५१ ॥ जहां ज्ञान ही विज्ञान हो जाता है, जहां मन ही उन्मन हो जाता है, ऐसे आत्मा में चंचलता कैसे हो सकती है? ॥ ५२ ॥ बतलाने-बतलाने का कोई काम नहीं, अपने ही अनुभव से जानना चाहिए। बिना अनुभव के व्यर्थ परिश्रम करना ही पाप है ॥ ५३ ॥ सत्य के समान सुकृत नहीं और असत्य के बराबर पाप नहीं और बिना प्रतीति के कहीं समाधान नहीं ॥ ५४ ॥ 'सत्य' का अर्थ है ब्रह्म; और यही पुण्य है, तथा असत्य का अर्थ है माया: यही पाप है ॥ ५५ ॥ मायारूप पाप के नष्ट होने से पुण्यरूप परब्रह्म बच रहता है और उसमें अनन्य होते ही स्वयं भी नामातीत हो जाते हैं ॥ ५६ ॥ 'हम' स्वतःसिद्ध 'वस्तु' हैं-वहां देहसम्बन्ध नहीं है। इतना हो जाने पर पाप के ढेर स्वयं भस्म हो जाते हैं ॥५७॥ ब्रह्मज्ञान के बिना अनेक साधन करना व्यर्थ परिश्रम है। नाना पापों का क्षालन कैसे हो सकता है? ॥ ५८ ॥ यह शरीर पाप (दृश्य या माया) का बना हुआ है और आगे भी, (माया को सत्य मानने के कारण) पाप ही एकत्र होते हैं। भीतर रोग होने पर ऊपर ऊपर उपचार करने से क्या होता है? ॥ ५९ ॥ अनेक क्षेत्रों में मुड़ाते हैं, अनेक तीर्थों में इसे (शरीर को) दण्ड देते हैं; जगह जगह नाना प्रकार के निग्रह से इसे खंडन करते हैं; अनेक भांति की मिट्टियों से इसे घिसते हैं; तप्त मुद्रा से दागते हैं; इस प्रकार ऊपर ऊपर से चाहे जितना इसे कष्ट दिया जाय, तथापि यह कुछ शुद्ध थोड़े ही हो सकता है? ॥ ६० ॥ ६१ ॥ चाहे गोबर के गोले निगले जायँ, गोमूत्र की धारें पी जाय; अथवा रुद्राक्ष या काष्ठमणि की चाहे जितनी माला पहनी जायँ-इस प्रकार से ऊपर ऊपर, चाहे जितना वेष बनाया जाय; पर यदि भीतर पाप भरा है तो उसके दूर करने के लिए आत्मज्ञान ही चाहिए! ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ अनेक प्रकार के व्रत, दान, योग, तीर्थाटन, इत्यादि, सब से करोड़गुनी अधिक आत्मज्ञान की महिमा है

* "अन्तरात्मा" शब्दप्रयोग देह की अपेक्षा से हुआ है, इस लिए देह का ही निरसन हो जाने पर अन्तरात्मा कहां बचता है? ब्रह्मस्वरूप निर्विकार है-उसमें विकार नहीं। "अन्तरात्मा" शब्द का प्रयोग देह की उपाधि के योग से हुआ है वह उपाधि ब्रह्म में नहीं है।

॥ ६४ ॥ जो पुरुष सदा आत्मज्ञान का विचार करता है उसके पुण्य की सीमा नहीं है। उसके पास से दुष्ट पाप की बाधा दूर हो जाती है ॥ ६५ ॥ वेदशास्त्र में जो सत्यस्वरूप कहा है वही ऐसे ज्ञानी का भी रूप है। उसे अनुपम पुण्यवान् और असीम सुकृती समझना चाहिए ॥ ६५ ॥ ये अनुभव की बातें हैं-आत्मदृष्टि से अनुभव करना चाहिए और अनुभव से अलग रह कर कष्टी न होना चाहिए ॥ ६७ ॥ ऐ अनुभववाले लोगों! बिना अनुभव के सारा शोक है; इस लिए रघुनाथकृपा से निश्चयात्मक अनुभव बना रहे! ॥ ६८ ॥



ग्यारहवाँ दशक।



पहला समास—सिद्धान्त-निरूपण।

श्रीराम

यह तो मालूम हो जाता है कि, आकाश से वायु कैसे होती है। परन्तु, वायु से अग्नि कैसे होता है, सो सावधान होकर सुनोः—॥ १ ॥ वायु की कठिन रगड़ से अग्नि, और शीतल मन्द वायु से पानी उत्पन्न होता है ॥२॥ आप पानी से यह पृथ्वी होती है, जो नाना बीजों का रूप है। बीज से उत्पत्ति होना स्वाभाविक ही है ॥ ३॥ सृष्टि आदि ही से कल्पनामय है और कल्पना मूलमाया की है; तथा उसीसे (त्रिगुणात्मक) त्रिदेवों की उत्पत्ति हुई है ॥ ४ ॥ निश्चल (परब्रह्म) में जो चंचल (मूलमाया) होती है वह केवल कल्पना ही है—वही अष्टधा प्रकृति का मूल है ॥ ५ । अर्थात् कल्पना ही अष्टधा प्रकृति है और अष्टधा प्रकृति ही कल्पना है। अष्टधा प्रकृति मूलमाया से उत्पन्न हुई है ॥ ६ ॥ पांच भूत और तीन गुण मिल कर आठ हुए-इसी लिए इसे अष्टधा प्रकृति कहते हैं ॥ ७ ॥ यह आदि में कल्पनारूप से होती है और फिर आगे वही विस्तृत होकर, सृष्टिरूप में स्थूलता को प्राप्त होती है ॥ ८ ॥ जो मूल में होती है वह मूल-माया है; उससे जो त्रिगुण होते हैं वह गुणमाया है; और उससे सृष्टिरूप में जो स्थूलता को प्राप्त होती है वह अविद्यामाया है ॥ ९ ॥ उसीसे फिर (जारज, उद्भिज, अंडज और स्वेदज नामक) चार खानि; (परा, पश्यन्ति मध्यमा, वैखरी नामक) चार वाणी, अनेक योनि और अनन्त व्यक्तियां प्रकट होकर विस्तृत होती हैं ॥ १० ॥

इस प्रकार तो उत्पत्ति होती है और संहार का हाल पिछले दशक में स्पष्ट करके बतलाया ही जा चुका है ॥ ११ ॥ तथापि यहां पर फिर संक्षिप्त-रूप से बतलाते हैं। ध्यान देकर सुनियेः—॥ १२ ॥ शास्त्र में कल्पान्त का वर्णन इस प्रकार है कि, सौ वर्ष तक अनावृष्टि रहती है, इस कारण सारी जीवसृष्टि समाप्त हो जाती है ॥ १३ ॥ बारह कला कर करके सूर्य तपता है, इससे पृथ्वी राख हो जाती है और फिर वह राख जल में घुल जाती है ॥ १४ ॥ फिर उस जल को भी अग्नि सोख लेता है; अग्नि को वायु मारता है और फिर स्वयं वायु भी लीन हो जाती है तथा निराकार जहाँ का तहाँ रह जाता है ॥ १५ ॥ इस प्रकार सृष्टि-संहार होता है। यही पीछे विस्तार-

पूर्वक बतलाया जा चुका है। अस्तु, इस प्रकार माया का निरसन हो जाने पर निराकार स्वरूपस्थिति बच रहती है ॥ १६ ॥ वहां जीव-शिव, पिंड—ब्रह्मांड, आदि का झगड़ा मिट जाता है और अविद्यामाया का सम्पूर्ण गड़-बड़ नाश हो जाता है ॥ १७ ॥

यह प्रलय विवेक से भी किया जा सकता है; उसे 'विवेक-प्रलय' कहते हैं। उसे विवेकी ही जानते हैं। मूर्ख बिचारे क्या जानें? ॥ १८ ॥ सारी सृष्टि का खोज करने पर जान पड़ता है कि, एक चंचल है और एक अचल है। चंचल का कर्ता चंचलरुपी ही है ॥ १९ ॥ जो सब शरीरों में प्रवृत्त होता है और जो करके भी अकर्ता कहा जाता है ॥ २० ॥ जो रंक से लेकर राजा तक, और ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इत्यादि देवों तक, सब में बर्तता है और जो इन्द्रियों के द्वारा सम्पूर्ण शरीरों का व्यापार चलाता है ॥ २१ ॥ उसे लोग 'परमात्मा' कहते हैं और उसीको सर्वकर्ता भी जानते हैं; पर उसका भी नाश होता है। विवेक से इसकी प्रतीति करना चाहिए ॥ २२ ॥ वह कुत्ते में रह कर गुरगुराता है, सूकर में रह कर कुरकुराता है और गधे में रह कर जोर से रेंकता है ॥ २३ ॥ साधारण लोगों का ध्यान सिर्फ इन नाना प्रकार के शरीरों की ओर रहता है; परन्तु विवेकी लोग इन शरीरों के भीतर की वस्तु देखते हैं; अर्थात् वे 'पंडित' (विवेकी) लोग समदर्शी होते हैं:—॥ २४ ॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनिचैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥ १ ॥

वे लोग प्राणिमात्र को एक ही समान इस प्रकार देखते हैं, कि ऊपर ऊपर देखने में देह तो अलग अलग हैं; पर भीतर सब के एक ही वस्तु है ॥ २५ ॥ यद्यपि देखने में ये अनन्त प्राणी देख पड़ते हैं; पर ये सब एक ही शक्ति से बर्तते हैं; और वह शक्ति "जगज्ज्योति" या "संज्ञा-शक्ति" है ॥ २६ ॥ 'ज्योति" या 'शक्ति' कान में रह कर अनेक प्रकार के शब्दों का ज्ञान करती है, त्वचा में रह कर शीत और उष्ण को जानती है और चक्षु में रह कर अनेक पदार्थों के देखने का ज्ञान करती है। २७ ॥ तथा रसना में रह कर रस, घ्राण में रह कर गन्ध और कर्मेन्द्रियों में रह कर नाना प्रकार के विषय-सुखों को जानती है ॥ २८ ॥ इस प्रकार वह सूक्ष्मरूप से अन्तर में रह कर स्थूल की रक्षा करती है और नाना सुखदुःखों को पहचानती है-अतएव उसे अन्तसाक्षी या अन्तरात्मा भी कहते हैं ॥ २९ ॥ उसीको आत्मा, अन्त-रात्मा, विश्वात्मा, चैतन्य, सर्वात्मा, सूक्ष्मात्मा, जीवात्मा, शिवात्मा,

परमात्मा, द्रष्टा, साक्षी और सत्तारूप कहते हैं ॥ ३० ॥ यही विकारी (अन्तरात्मा) विकार (दृश्य सृष्टि) में रह कर अखंड रीति से नाना प्रकार के विकार किया करता है और इसीको मूर्ख लोग ' वस्तु ' या परब्रह्म समझते हैं ॥ ३१ ॥ सब (चंचल और निश्चल) को एक ही समान समझना-सारा एकंकार करना-यह जो मायिक स्थिति है सो सिर्फ इसी चंचल अविद्यामाया के कारण से है ॥ ३ ॥ परन्तु वास्तव में, चंचल और मिथ्या माया अलग है और अचल तथा शाश्वत परब्रह्म अलग है-इसीको जानने के लिए नित्यानित्य-विवेक की आवश्यकता होती है ॥ ३३ ॥ जो जीव जानता है वह सज्ञान है, जो नहीं जानता वह अज्ञान है और जो जन्मता है वह वासनात्मक है ॥ ३४ ॥ तथा जो जीव ब्रह्म से ऐक्य पाया हुआ है वह ब्रह्मांड है। उसके तईं पिंड और ब्रह्मांड, दोनों का निरसन हो जाता है । यही चार जीव हैं ॥ ३५ ॥

अस्तु। ये सारे चंचल हैं और जितना कुछ चंचल है वह सब नश्वर है। और जो निश्चल है आदि-अंत में निश्चल ही है ॥ ३६ ॥ वह ' वस्तु ' आदि, मध्य और अन्त में समसमान है, तथा निर्विकारी, निर्गुण, निरञ्जन, निस्संग और निष्प्रपंच है ॥३७॥ उपाधि का निरसन हो जाने पर वास्तव में जीवशिव की एकता हो जाती है; परन्तु विचार करके देखने पर उपाधि कुछ है ही नहीं ॥ ३८ ॥ अस्तु। जितना कुछ जानना है उतना सब ज्ञान है; परन्तु परब्रह्म में अनन्य हो जाने पर इस ज्ञान का विज्ञान हो जाता है और मन उन्मन हो जाता है। उस उन्मनी दशा को मन से कैसे पहचान सकते हैं? ॥ ३९ ॥ वृत्ति को निवृत्ति नहीं मालूम होती, गुण को निर्गुणप्राप्ति कैसे हो सकती है? साधक विवेक से गुणातीत होकर सत्स्वरूप को प्राप्त करते हैं ॥ ४० ॥ श्रवण से मनन श्रेष्ठ होता है; क्योंकि मनन से सारासार मालूम होता है और फिर उसके बाद निदिध्यास से निस्संग ' वस्तु ' का साक्षात्कार होता है ॥ ४१ ॥ निर्गुण में अनन्यता होना ही सायुज्य मुक्ति है। वहां लक्ष्यांश-वाच्यांश दोनों समाप्त हो जाते हैं ॥ ४२ ॥ अलक्ष में लक्ष लीन हो जाता है; सिद्धान्त में पूर्वपक्ष का लय हो जाता है; और अप्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष (दृश्य), रह कर भी, नहीं रहता ॥ ४३ ॥ अर्थात् मायिक उपाधि रहते हुए ही, स्वरूपाकार वृत्ति होने का नाम सहज समाधि है । श्रवण से निश्चय की बुद्धि बढ़ानी चाहिये ॥ ४४ ॥

दूसरा समास–सृष्टिक्रम।

॥ श्रीराम ॥

एक निश्चल है, एक चंचल है। चंचल में सब फँसे हुए हैं और जो निश्चल है वह जैसा का तैसा निश्चल ही है ॥ १ ॥ ऐसा लाखों में कोई एक है जो निश्चल का विवेक करता है। निश्चल के समान जो निश्चयात्मक है वह निश्चल ही है ॥ २ ॥ ऐसे बहुत लोग हैं जो निश्चल की तो बातें करते हैं, परन्तु चंचल की तरफ दौड़ते हैं। चंचलचक्र से निकल जानेवाले थोड़े ही हैं ॥ ३ ॥ चंचल में चंचल जन्मता है, चंचल ही में बढ़ता है तथा जन्म भर सारा चंचल ही प्रतिबिम्बित होता है ॥ ४ ॥ सारी पृथ्वी चंचल की ओर जा रही है, जितना कुछ करना धरना है सब चंचल ही में होता है। ऐसा कौन है जो चंचल को छोड़ कर निश्चल की ओर ढुलता हो? ॥ ५ ॥ चंचल कुछ निश्चल नहीं हो सकता, और निश्चल कदापि चल नहीं सकता, यह बात नित्यानित्य के विवेक से लोगों को कुछ समझ पड़ती है ॥ ६ ॥ थोड़ा समझने से निश्चय नहीं होता और संशय बना रहता है ॥ ७ ॥ परन्तु संशय, अनुमान और भ्रम इत्यादि की आपत्ति सिर्फ चंचल ही में रहती है; निश्चल में कदापि नहीं रहती–इसका मर्म समझना चाहिए ॥ ८ ॥ जितना कुछ चंचलाकार है वह सब माया है और मायिक सब लय हो जायगा–इसमें छोटा बड़ा कहने की आवश्यकता नहीं ॥ ९ ॥ सारी माया फैली हुई है–अष्टधा प्रकृति विस्तृत है–और नाना प्रकार के रूप में चित्रविचित्र विकार पाई हुई है ॥ १० ॥ नाना प्रकार की उत्पत्ति के अनेक विकार; नाना प्रकार के छोटे-बड़े प्राणी; तथा नाना रूपों के पदार्थ, इत्यादि सब माया का खेल है ॥ ११ ॥ यह विकारवान् माया विकृत होकर सूक्ष्म से स्थूल होती है और अमर्यादित रीति से कुछ की कुछ बन कर देख पड़ती है ॥ १२ ॥

फिर नाना प्रकार के शरीर बनते हैं, अनन्त नाम रखे जाते हैं और भिन्न भिन्न भाषाओं के अनुसार कुछ कुछ मालूम होते हैं ॥ १३ ॥ फिर नाना प्रकार के रीति-रवाज और जनरूढ़ियां जारी होती हैं, नाना प्रकार के आचार होते हैं; और उनके अनुसार सब लोग वर्तने लगते हैं ॥ १४ ॥ अष्टधा प्रकृति के छोटे-बड़े शरीर निर्माण होते हैं और फिर अपने अपने मन के अनुसार वर्तने लगते हैं ॥ १५ ॥ नाना मत निर्माण होते हैं, अनेक प्रकार के पाखण्ड फैलते हैं; और बहुत प्रकार के अनेकों गड़बड़ मचते हैं ॥ १६ ॥ जैसी जनरूढ़ि पड़ जाती है वैसाही लोग बर्ताव करने लगते हैं, कौन किस को रोक सकता है? एकता नहीं है ॥१७॥ सारी पृथ्वी में

गड़बड़ मचा हुआ है; एक से एक बड़ा है--कौन जाने कि, कौन सच्चा है और कौन झूठा है ॥ १८ ॥ आचार बहुत बुरे पड़ गये हैं, कितने ही पेट के लिए डूबे मरते हैं, कितने ही अभिमान में आकर आड़म्बर रच रहे हैं ॥१९॥ अगणित देवता हो गये हैं, उनका गड़बड़ मचा हुआ है, देवों और भूतों का ढोंग भी खूब मचा हुआ है ॥ २० ॥ मुख्य देव मालूम नहीं होता, किसीका किसीसे मेल नहीं खाता, एक की ओर एक नहीं झुकता। सभी स्वच्छन्द बन रहे हैं ॥ २१ ॥ इस प्रकार विचार नष्ट होगया है, सारासार का विचार कोई नहीं करता! कहां का छोटा, कहां का बड़ा-कुछ जान ही नहीं पड़ता! ॥ २२ ॥ शास्त्रों का बाजार लगने लगा, देवताओं का गड़बड़ मचा हुआ है, लोग सकाम व्रत के लिए मरे जाते हैं! ॥ २३ ॥ इस प्रकार सब सत्यानाश हो रहा है; सत्य—असत्य का पता नहीं लगता और चारों ओर स्वैरता का बर्ताव हो रहा है! ॥ २४ ॥ मतमतान्तरों का झगड़ा मचा हुआ है, कोई किसीको पूछता ही नहीं; जो जिस मत में पड़ गया है उसको वही बड़ा जान पड़ता है ॥ २५ ॥ असत्य के अभिमान से पतन होता है; इसी लिए ज्ञाता लोग सत्य का खोज करते हैं ॥ २६ ॥ लोग जो कुछ बर्ताव करते हैं वह सब ज्ञाता को करतलामलकवत् रहता है। अतएव, हे विवेकी लोगो! सुनो—॥ २७ ॥ लोग किस पंथ से जा रहे हैं और किस देवता का भजन करते हैं—सो प्रत्यक्ष अनुभव की बात सावधान होकर सुनोः—॥ २८ ॥

मिट्टी, पत्थर और अन्य धातुओं की मूर्तियों को देवता मान कर बहुत से लोग उन्हींको पूजने लगे हैं ॥ २९ ॥ कोई अनेक देवताओं के अवतारों के चरित्र सुनते हैं और सदा उन्हींका जप, ध्यान तथा पूजा किया करते हैं ॥ ३० ॥ कोई सब के अन्तरात्मा, विश्व में बर्तनेवाले विश्वात्मा, द्रष्टा, साक्षी या ज्ञानात्मा को मानते हैं ॥ ३१ ॥ कोई निर्मल और निश्चल हैं—कभी चंचल होते ही नहीं—और अनन्य भाव से स्वयं केवल वस्तुरूप हो रहे हैं ॥ ३२ ॥ सारांश, इस सृष्टि में कुल चार प्रकार के देवता हैं:—प्रथम नाना प्रकार की प्रतिमाएँ, दूसरे अवतार, तीसरे अन्तरात्मा और चौथे निर्विकारी—इन्हें छोड़ कर अन्य किसीमें लोगों की भावना नहीं है ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ कोई कोई सब एक ही मानते हैं; और परमेश्वर को साक्षी बतलाते हैं; परन्तु जिसके कारण वे परमेश्वर को साक्षी कहते हैं उस अष्टधा प्रकृति को भी पहचानना चाहिए ॥ ३५ ॥ वास्तव में प्रकृति का साक्षी जो परमेश्वर है वह प्रकृति का ही स्वभाव है। परन्तु उस भावातीत परब्रह्म को विवेक से जानना चाहिए ॥ ३६ ॥ जो निर्मल का ध्यान करेगा वह निर्मल ही हो जायगा। जो जिसको भजेगा वह उसी रूप में

हो जायगा ! ॥ ३७ ॥ पानी और दूध को जो अलग अलग करते हैं वे राजहंस कहलाते हैं तथा जो सार–असार जानते हैं वे महानुभाव हैं ॥३८॥ अरे ! जो चंचल (माया) का ध्यान करेगा उसका स्वाभाविक ही नाश होगा और जो निश्चल (ब्रह्म) का भजन करेगा वह निश्चल ही रहेगा ॥ ३९ ॥ प्रकृति के अनुसार चलना चाहिए; परन्तु अन्तःकरण में शाश्वत को पहचानना चाहिए। और सत्य स्वरूप होकर साधारण लोगों की तरह बर्ताव करना चाहिए ॥ ४० ॥

तीसरा समास–सांसारिक उपदेश ।

॥ श्रीराम ॥

मनुष्य का शरीर बहुत जन्मों के बाद मिलता है; इस लिए, उसको पाकर, नीति––न्याय के साथ सत्य बर्ताव करना चाहिए ॥ १ ॥ प्रपंच (सांसारिक कार्य) नियमपूर्वक करना चाहिए और उसके साथ ही परमार्थ का भी विचार करना चाहिए। इससे इहलोक और परलोक दोनों में सुख होता है ॥ २ ॥ सौ वर्ष की आयु नियत की गई है, जिसमें से बाल्यावस्था अज्ञान में और युवावस्था सम्पूर्ण विषयों में चली जाती है ॥ ३ ॥ बुढ़ापे में नाना रोग और कर्मभोग भोगने पड़ते हैं। अब भगवान् का भजन किस समय किया जाय ? ॥ ४ ॥ राजकीय और दैवी उद्वेग तथा चिन्ताओं में; अन्न–वस्त्र और शरीर–रक्षा में, तथा अन्य इसी प्रकार की अनेक झंझटों में अचानक मृत्यु आ जाती है ॥ ५ ॥ लोग मर मर जाते हैं; यह प्रत्यक्ष है; अनेक पुरखा लोग चले गये––यह सब जानते तो हो; पर निश्चय क्या किया ? ॥ ६ ॥ घर में तो आग लगी हुई है और घर का मालिक सावकाश सो रहा है––ऐसे आत्महत्यारे को कौन भला कहेगा ? ॥ ७ ॥ पुण्यमार्ग सारा डूबा हुआ है, पापसंग्रह बहुत हो चुका है; और यमयातना का धक्का कठिन है ! ॥ ८ ॥ इस लिए अब ऐसा न करना चाहिए, बहुत सँभल कर चलना चाहिए। इहलोक और परलोक दोनों साधना चाहिए ॥ ९ ॥ आलस का फल प्रत्यक्ष है; जमुहाई आकर नींद आ जाती है और आलसी लोग इसीको सुख मान कर चाहते हैं ॥ १० ॥ उद्योग करने से यद्यपि कष्ट होता है; परन्तु आगे सुख मिलता है। यत्न करने से खाने-पीने आदि सब प्रकार का सुख मिलता है ॥ ११ ॥ आलस से उदासीनता और दरिद्रता आती है, प्रयत्न निष्फल जाता है

और दुर्भाग्य प्रकट होता है ॥ १२ ॥ इस लिए आलस न होने से ही वैभव मिल सकता है और इहलोक तथा परलोक में भी मनुष्य को समाधान होता है ॥ १३ ॥

अस्तु। अब, प्रयत्न कौनसा करना चाहिए, सो थोड़ी देर सावधान होकर सुनोः—॥ १४ ॥ बड़े सबेरे उठ कर कुछ उत्तम वचन याद करना चाहिए और यथा-शक्ति परमात्मा का स्मरण करना चाहिए ॥ १५ ॥ इसके बाद ऐसी जगह दिशा के लिए जाना चाहिए जो किसीको मालूम न हो! और निर्मल जल से शौच तथा आचमन (कुल्ला) करना चाहिए ॥ १६ ॥ मुखमार्जन, प्रातःस्नान, संध्या, तर्पण, देवतार्चन करके अग्निपूजा और उपासना सांगोपांग करनी चाहिए ॥ १७ ॥ इसके बाद कुछ जलपान करके गृहकार्य करना चाहिए और मधुर भाषण से सब को राजी रखना चाहिए ॥ १८ ॥ अपने अपने व्यापार में खबरदार रहना चाहिए। दुश्चित्त रहने से दुष्ट लोग धोखा देते हैं ॥ १९ ॥ सभी जानते हैं कि, दुश्चित्तता और आलस से मनुष्य चूक जाता है, ठग जाता है, बिसर जाता है, छोड़ देता है और याद आने पर तड़फड़ाता है ॥ २० ॥ इस लिए मन सावधान और एकाग्र रखना चाहिए, तभी खाना-पीना अच्छा लगता है ॥ २१ ॥ भोजन के बाद, कुछ पढ़ना और चर्चा करना चाहिए या एकान्त में जाकर नाना प्रकार के ग्रन्थों का मनन करना चाहिए ॥ २२ ॥ ऐसा करने से ही मनुष्य चतुर हो सकता है, अन्यथा मूर्ख ही रहता है। लोग खाते हैं और वह मूर्ख, दीनरूप किए हुए, टुकुर टुकुर हेरता है! ॥ २३ ॥ अब भाग्य-वान् के लक्षण सुनियेः—ऐसा मनुष्य अपना एक क्षणभर भी समय व्यर्थ नहीं खोता और अपना सांसारिक व्यवसाय (प्रपञ्च-कार्य) बड़ी दक्षता से करता है ॥ २४ ॥ पहले कुछ कमा लेता है तब खाता है, फँसे हुए लोगों को उबारता है और शरीर को किसी न किसी अच्छे काम में लगाता है ॥ २५ ॥ कुछ धर्मचर्चा, पुराण, हरिकथा, अध्यात्म-निरूपण, आदि करता है और दोनों ओर का (प्रपञ्च+परमार्थ) एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने देता ॥ २६ ॥ ऐसा जो सब प्रकार से सावधान है उसे दुःख कैसे हो सकता है? उसका अभिमान विवेक से मिट जाता है ॥ २७ ॥ यह समझ कर चलना चाहिए कि, जो कुछ है सब ईश्वर का है। इस प्रकार चलने से उद्वेग समूल नाश हो जाता है ॥ २८ ॥ प्रपञ्च में जैसे सुवर्ण (धन) चाहिए वैसे ही परमार्थ में पञ्चीकरण चाहिए। इसके बाद महावाक्यों का विवरण करने से मुक्ति होती है ॥ २९ ॥ कर्म, उपासना और ज्ञान से समाधान होता है। इस लिए परमार्थ के साधनों का श्रवण करते रहना चाहिए ॥ ३० ॥

चौथा समास--सद्विचार ।

॥ श्रीराम ॥

ब्रह्म निराकार है। वह आकाश की तरह है। परन्तु उसमें विकार नहीं है-वह निर्विकार है ॥ १ ॥ ब्रह्म निश्चल है और अन्तरात्मा चञ्चल है। द्रष्टा और साक्षी अन्तरात्मा ही को कहते हैं ॥ २ ॥ उसी को ईश्वर कहना चाहिए। उसका स्वभाव चञ्चल है। वह सब जीवों में रह कर उनका पालन करता है ॥ ३ ॥ उसके बिना पदार्थ जड़ हैं; देह व्यर्थ है। उसी से परमार्थ इत्यादि सब कुछ मालूम होता है ॥ ४ ॥ कर्ममार्ग, उपासनामार्ग, ज्ञानमार्ग, सिद्धान्तमार्ग, प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग ईश्वर ही चलाता है ॥ ५ ॥ चञ्चल (अन्तरात्मा) के बिना निश्चल (परब्रह्म) मालूम नहीं होता और चञ्चल स्थिर नहीं रहता--इस प्रकार के ये अनेक विचार अच्छी तरह देखो ॥ ६ ॥ चञ्चल (अन्तरात्मा) और निश्चल (परब्रह्म) की सन्धि (माया) में बुद्धि चकराती है। कर्ममार्ग इत्यादि उस सन्धि (माया) के अनन्तर प्रकट हुए हैं ॥ ७ ॥ उन सब का मूल 'ईश्वर' (अन्तरात्मा) है; परन्तु ईश्वर का न मूल है और न डाल है। परब्रह्म निश्चल और निर्विकारी है ॥ ८ ॥ जो निर्विकारी और विकारी को एक कहे वह मूर्ख है! इससे तो देखते देखते विचार नष्ट होता है! ॥ ९ ॥ सारे परमार्थ का मूल केवल पञ्चीकरण और महावाक्य का विचार है। उसी का बार बार मनन करना चाहिए ॥ १० ॥ स्थूल देह पहला है और मूलमाया देह आठवां है। आठों देहों का निरसन हो जाने पर विकार कहां रह जाता है? ॥ ११ ॥ वास्तव में यह विकारवान माया बाजीगरी की तरह सच सी जान पड़ती है। इस को कोई तो समझ जाता है और कोई सच मान लेता है ॥ १२ ॥ निर्विकार उत्पत्ति, स्थिति और संहार से अलग है। यही मालूम होने के लिए सारासार का विवेक कहा है ॥ १३ ॥ जब सार-असार दोनों को एक बना दिया तब वहां विवेक कहां रहा? बेसमझ लोग परीक्षा नहीं जानते! ॥ १४ ॥ जो एक सब में फैला हुआ है वही अन्तरात्मा कहलाता है, वह नाना प्रकार के विकारों से विकृत है; अतएव वह निर्विकारी नहीं हो सकता ॥ १५ ॥ प्रगट ही है। अपने अनुभव से देखना चाहिए। अविवेकी पुरुष को यह नहीं जान पड़ता कि, क्या रहता है और क्या जाता है! ॥ १६ जो अखण्ड रीति से उत्पन्न और नाश होता रहता है उसे सब लोग प्रत्यक्ष देखते ही हैं ॥ १७ ॥ एक रोता है, एक तड़फड़ाता है, एक दूसरे की नारी धरता है और एक दूसरे पर इस प्रकार टूटे पड़ते हैं

जैसे अकाल के मारे क्षुधातुर हों ॥१८॥ न्याय नहीं है, नीति नहीं है। इस प्रकार ये लोग बर्तते हैं और विवेकहीन सभी को उत्तम कहते हैं ॥१९॥ एक तरफ तो पत्थर छोड़ कर सोना ले लेते हैं, मिट्टी छोड़ कर अन्न खा लेते हैं, और दूसरी तरफ मूर्खता से सभी को उत्तम बतलाते हैं! ॥ २० ॥ इस लिए इसका विचार करना चाहिए; सत्य मार्ग ही का अनुसरण करना चाहिए और विवेक का लाभ जान लेना चाहिए ॥ २१ ॥ जब हीरा और पत्थर को एक ही समान समझ लिया तब वहां परीक्षा कहां रही? अतएव, चतुरों को परीक्षा करनी चाहिए ॥२२॥ जहां परीक्षा का अभाव होता है वहां कष्ट ही होता है। "सब धान बाईस पंसेरी" करना लंठपन है! ॥ २३ ॥ जो ग्राह्य हो वही लेना चाहिए और जो अग्राह्य हो उसे छोड़ देना चाहिए। ऊंच-नीच पहचानने का ही नाम ज्ञान है ॥ २४ ॥ लोग (नरदेह की पूंजी लेकर) संसार के बाजार में आते हैं। उन से कोई तो (अपनी इस पूंजी का अच्छा उपयोग करके) लाभ पाकर श्रीमान हो जाते हैं और कोई कोई ठगा कर (दुरुपयोग करके) अपनी पूंजी भी गँवा बैठते हैं! ॥ २५ ॥ परन्तु ज्ञाता पुरुष को ऐसा न करना चाहिए—(अर्थात् यह नर-देहरूप अपनी पूंजी भी न खो बैठना चाहिए) सार ढूँढ़ लेना चाहिए और असार वमन की तरह छोड़ देना चाहिए ॥ २६ ॥ उस वमन का सेवन करना कुत्ते का स्वभाव है। उसके लिए पवित्र ब्राह्मण क्या करेगा? ॥ २७ ॥ जो जैसा सञ्चित करता है उसको वैसा मिलता है। जो आदत पड़ जाती है वह तो नहीं छूटती! ॥ २८ ॥ कोई दिव्य पदार्थों का भोजन करते हैं और कोई विष्ठा बटोरते हैं; परन्तु अपने पुरखों की बातें सभी मानते हैं ॥ २९ ॥ अस्तु। विवेक बिना जितना कथन है सब व्यर्थ है। श्रवण और मनन सब को बार बार करना चाहिए ॥ ३० ॥

पांचवाँ समास-राजनैतिक दाँव-पेंच।

॥ श्रीराम ॥

कर्म किया हुआ ही करना चाहिए, ध्यान धरा हुआ ही धरना चाहिए और विवरण किए हुए निरूपण का ही फिर से विवरण करना चाहिए ॥ १ ॥ यही बात हम से हुई है। बोला हुआ ही फिर से बोलना पड़ा है। ऐसा इस लिए करना पड़ा है कि, जिस से बिगड़ा हुआ समाधान अच्छी

तरह स्थापित हो जाय ॥ २ ॥ उपाय का मुख्य अभिप्राय यह है कि, जिस से समुदाय में अनन्यता रहे और अन्य लोगों को भी उसके विषय में भक्ति उत्पन्न हो ॥ ३ ॥ हरिकथा और अध्यात्म-निरूपण मुख्य हैं; इसके बाद राजनीति का विषय है; और फिर तीसरा काम सब के विषय में सावधान रहना है ॥ ४ ॥ इसके बाद, अत्यन्त उद्योग करना चौथा कर्तव्य है। अनेक आक्षेपों को दूर करना चाहिए तथा छोटे-बड़े अपराधों को भी क्षमा करते रहना चाहिए ॥ ५ ॥ दूसरे के हृदय की बात जानना चाहिए, सदैव उदासीनता रहनी चाहिए और नीतिन्याय में अन्तर न पड़ने देना चाहिए ॥ ६ ॥ चतुरता से लोगों के मन अपनी ओर आकर्षित कर लेना चाहिए। एक एक करके सब को बोध करना चाहिए और यथाशक्ति 'प्रपञ्च' को भी सम्हालना चाहिए ॥ ७ ॥ 'प्रपञ्च' का मौका देखना चाहिए, बहुत धैर्य रखना चाहिए। किसी से बहुत सम्बन्ध न रखना चाहिए ॥ ८ ॥ व्यवसाय को व्यापक करना चाहिए; परन्तु उसकी उपाधि में न फँसना चाहिए। नीचता और मूर्खता पहले ही से अपने सिर न ले लेना चाहिए ॥ ९ ॥ दूसरों के दोष छिपाना चाहिए; सदा किसी के अवगुण न बतलाते रहना चाहिए और दुर्जनों को अपने पंजे में लाकर, उनके साथ भलाई करके, फिर उन्हें छोड़ देना चाहिए ॥ १० ॥ किसी बात पर बहुत हठ न करना चाहिए। नाना प्रकार के उपाय खोज निकालना चाहिए और जो कार्य न होता हो उसीको अपने दीर्घ प्रयत्न से सिद्ध करना चाहिए ॥ ११ ॥ समुदाय में फूट न पड़ने देना चाहिए-कोई संकट का प्रसंग आ पड़े तो उसे सम्हालना चाहिए और बहुत वाद-विवाद किसीसे न करना चाहिए ॥ १२ ॥ दूसरे का अभीष्ट जानना चाहिए, बहुतों का बहुत सहना चाहिए और न सहा जाय तो वहां न रहना चाहिए ॥१३॥ दूसरे का दुःख जानना चाहिए और उसे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए तथा समुदाय की बुराई-भलाई सहने के लिए तैयार रहना चाहिए ॥ १४ ॥ अनेक गद्यपद्यमय वचन याद रहना चाहिए, विचार पास ही रहना चाहिए और सदा सर्वदा परोपकार में तत्पर रहना चाहिए ॥ १५ ॥ अपने में शान्ति लाकर औरों में शान्ति स्थापित करना चाहिए; अपनी हठ छोड़ कर दूसरे को हठ छुड़ाना चाहिए और स्वयं कार्य करके औरों से कार्य करवाना चाहिए ॥ १६ ॥ यदि किसी के साथ अपाय (विघ्न) करना हो तो उसे पहले ही से न कह डालना चाहिए; किन्तु अलग ही अलग उसे उस (विघ्न) का प्रत्यय (अनुभव) करा देना चाहिए ॥ १७ ॥ जो बहुतों की नहीं सहता उसे बहुत लोग नहीं मिलते; पर बहुत सहने से भी अपना महत्त्व नहीं रहता* ॥ १८ ॥ राज-

* यह सच है कि, बहुतों की सहने पर बहुत लोग मिलते हैं; पर बहुत सहनशीलता

नैतिक दाँव-पेंच बहुत करना चाहिए, पर सब गुप्त रखना चाहिए और दूसरों को कष्ट पहुँचाने की इच्छा न रखना चाहिए ॥ १६ ॥ लोगों को परख लेना चाहिए और राजनैतिक दांव-पेंचों से उनका अभिमान गलित कर देना चाहिए तथा किसी दूसरे ही सूत्र से (बाला बाला) उन्हें फिर मिला लेना चाहिए ॥ २० ॥ कच्चे आदमी को दूर रखना चाहिए, बदमाश से बात ही न करना चाहिए और यदि सम्बन्ध पड़ जाय तो बचकर निकल जाना चाहिए ॥ २१ ॥ अस्तु । इस प्रकार राजनैतिक दाँव-पेंच यदि बतलाये जायँ तो बहुत हैं। स्थिरचित्त रहने से राजनैतिक दाँव-पेंच अच्छी तरह मालूम होते हैं ॥ २२ ॥ डरनेवाले को दिलासा देना चाहिए और सिर उठानेवाले को ललकारना चाहिए। इस प्रकार के अनेक राजनैतिक दाँव-पेंच हैं जो बतलाये नहीं जा सकते ॥ २३ ॥ खोजने से तो पकड़ में नहीं आता और कीर्ति तो अपनी चारों ओर फैलाये बिना मानता नहीं। सम्पत्ति और वैभव उसके पास आते हैं; पर वह उन्हें स्वीकार नहीं करता ! ! ॥२४॥ किसीकी तो सहायता करना और किसीको देख भी न सकना चातुर्य का लक्षण नहीं है (अर्थात् सब का मन रखना चाहिए) ॥ २५ ॥ न्याय की बात मानता नहीं और हित की बात मन में नहीं आती, उसे त्याग देने के अतिरिक्त अन्य उपाय ही नहीं है ॥ २६ ॥ श्रोताओं के मन के अनुसार यह विषय बतलाया गया। न्यूनाधिक के लिए क्षमा करना चाहिए ॥२७॥

छठवाँ समास—महन्त के लक्षण।

॥ श्रीराम ॥

शुद्ध और सुन्दर लिखना चाहिए, लिखकर शुद्ध रीति से शुद्ध करना चाहिए; और शुद्ध करके शुद्ध रीति से पढ़ना चाहिए-भूलना न चाहिए ॥ १ ॥ बिगड़े हुए अक्षर सम्हालना चाहिए, विषय को दृढ़तापूर्वक मन में रखकर सरस कथाओं का वर्णन करना चाहिए ॥ २ ॥ जानने की बात कही नहीं जा सकती, कहने की बात थोड़े में, परन्तु निश्चयात्मक नहीं

दिखाने से भी, कभी कभी अपना महत्व कम हो जाने का डर रहता है; इस लिए प्रसंग देख कर चलना चाहिए।

हो सकती और बिना समझे कोई भी बात नहीं आती ॥ ३ ॥ हरिकथा, अध्यात्म-निरूपण, निश्चयात्मक 'राजनैतिक दाँव-पेंच' और व्यावहारिक ज्ञान, इत्यादि बातें भी होनी चाहिए ॥ ४ ॥ पूछना जानता हो, बतलाना जानता हो, अनेक प्रकार से अर्थ करना जानता हो और सब का समाधान रखना जानता हो ॥ ५ ॥ पते की बात पहले मालूम हो जाती हो, सावधानी के साथ अकाट्य तर्क करता हो और जान जानकर यथायोग्य चुनाव करता हो ॥ ६ ॥ इस प्रकार जो सब जानता हो वही बुद्धिमान महंत है। इसके अतिरिक्त सब यों ही हैं ॥ ७ ॥ महन्त पुरुष को ताल का अवसर, तान-मान, प्रबन्ध, कविता, सुभाषित-श्लोक, इत्यादि अनेक सभा-चातुर्य की बातें मालूम होती है ॥ ८ ॥ वह एकान्त-विचार में तत्पर रहता है; अनेक गद्यपद्यमय वचन याद करता है अथवा किसी गहन ग्रन्थ का मार्मिक अर्थ ढूँढ़ता रहता है ॥ ९ ॥ इस प्रकार, जो पहले स्वयं सीख कर फिर अन्य लोगों को सिखाता है वही श्रेष्ठ (महन्त) की पदवी पाता है। वह अपने विवेक के बल से फँसे हुए लोगों को उबारता है ॥ १० ॥ लिखना-पढ़ना, बोलना-चालना सब उसका सुन्दर होता है; भक्ति; ज्ञान, वैराग्य में वह पूर्ण दक्ष होता है ॥ ११ ॥ प्रयत्न करना उसे बहुत अच्छा लगता है; नाना प्रसंगों में वह प्रवेश करता है, साहस के साथ आगे बढ़ता है-पीछे कभी नहीं हटता ! ॥ १२ ॥ वह संकट में निर्वाह करना जानता है; उपाधि में मिलना जानता है; परन्तु उससे वह अपने को आलिप्त रखना भी जानता है ॥ १३ ॥ रहता तो वह सब जगह है; पर ढूँढ़ने पर कहीं नहीं मिलता ! वह अन्तरात्मा की तरह सब जगह रह कर भी गुप्त रहता है ! ॥ १४ ॥ ऐसा तो कुछ नहीं है जिसमें अन्तरात्मा न हो; परन्तु देख नहीं पड़ता; और न दिखते हुए ही प्राणिमात्र का व्यापार वह चला रहा है ! ॥ १५ ॥ बस; इसी तरह महन्त भी नाना प्रकार से अनेक लोगों को चतुर बनाया करता है। छोटे-बड़े सब प्रकार के लोगों में अनेक विद्याओं का प्रचार किया करता है ॥ १६ ॥ जो अपने ही प्रयत्न से दक्ष बनता है वह स्वाभाविक ही प्रयत्न का अवलम्ब करता है, और यही सच्चे महन्त का लक्षण है ॥ १७ ॥ वह नीति न्याय की रक्षा करना जानता है। अन्याय न स्वयं करता है न किसीसे कराता है और कठिन प्रसंग आ पड़ने पर उपाय करना जानता है ॥ १८ ॥ ऐसी (उपर्युक्त) धारणाशक्ति का जो पुरुष होता है वही अनेक लोगों का आधार होता है। 'रामदास' कहता है कि ऐसे ही महन्त के गुण ग्रहण करना चाहिए ॥ १९ ॥

सातवाँ समास—मायारूपी चंचल नदी।

॥ श्रीराम ॥

चंचल (माया) गुप्त गंगा नदी है। इसका विवरण करने से यह जगत् को पावन करती है। प्रत्यक्ष प्रतीति कर लो; इसमें कुछ भी मिथ्या नहीं है ॥ १ ॥ यह अचल (जैसे नदी अचल-पर्वत-से वैसे ही माया अचल ब्रह्म) से निर्माण होती है और जोर से नीचे की ओर बही चली जाती है। यह अखंड बह रही है; पर कोई इसे देख नहीं सकता ॥ २ ॥ इसमें जगह जगह झुकाव, टेढ़ाव, भँवर, उफनाहट, तरंग, सोता, लहरें, दलदल, कतराव, आदि हैं ॥ ३ ॥ शुष्क (गुप्त) जल बह रहा है; धारा है; प्रपात है; खलबल है; चपल पानी उछलता हुआ भर-भर-भर-भर दौड़ता है ॥४॥ फेना उठता है; बुलबुले और हिलोड़े उठती हैं। पानी स्वच्छन्दता के साथ दौड़ता है। बून्द, फूहे और अणु-रेणु कहां तक गिने जायँ ॥ ५ ॥ बाढ़ में बहुत सा कूड़ा-कचरा बहता आता है, ऊंचे से पानी गिरता है, छोटे-बड़े पत्थर, कंकड़, चट्टाने बीच में पड़ती हैं और भँवर उठते हैं ॥ ६ ॥ कोमल धरती कट गई है, कठोर वैसी ही बनी है। यही हाल जगह जगह स्पष्ट में देखा जा रहा है ॥ ७ ॥ कोई इसमें बहते ही चले जाते हैं, कोई भँवर में अटके पड़े हैं और कोई औंधे मुख होकर खंदक में अटक रहे हैं ॥८॥ कोई गिरते-पड़ते चले जाते हैं, कोई कुचल-कुचल कर मर जाते हैं और कोई पानी भर जाने के कारण फूल गये हैं ॥ ९ ॥ जो बलवान् हैं वे तैरते हुए उद्गम (ब्रह्म) तक पहुँच जाते हैं और उसका दर्शन करके स्वयं पवित्र बन कर तीर्थस्वरूप हो जाते हैं ॥ १० ॥ वहां (उद्गम में), ब्रह्मा आदि देवताओं के भवन हैं, ब्रह्मांड के देवताओं के स्थान हैं—जो लोग उलटी गंगा पैर कर जाते हैं वे सब वहां मिलते हैं ॥ ११ ॥ इस जल के समान कुछ निर्मल नहीं है, उसके समान कोई चंचल भी नहीं है—उसे केवल 'आपो-नारायण' कहते हैं ॥ १२ ॥ वह नदी बड़ी भारी है; परन्तु गुप्त है, सर्वकाल प्रत्यक्ष बहती है और देखो, स्वर्ग-मृत्यु-लोग और पाताल में भी फैली हुई है ॥ १३ ॥ नीचे-ऊपर आठों दिशा में उसका पानी घूम रहा है। ज्ञाता लोग उसे जगदीश के समान ही जानते हैं ॥ १४ ॥ सारे मनुष्य, जो पात्र हैं, माया नदी के पानी से भरे हुए हैं। किसी किसी का पानी टपक जाता है (जैसे साधुओं का) और कोई कोई अपना पानी संसार में खर्च कर देते हैं (जैसे बद्ध मनुष्य) ॥१५॥ किसीके साथ में वह कटु हो जाती है, किसीके साथ में मीठी और किसीके साथ में तीखी, कसैली या नम-

लीन हो जाती है ॥१६॥ जिस जिस पदार्थ से वह मिलती है उसमें उसीका रूप होकर मिलती है। गहरी पृथ्वी में वह गहराई के साथ प्रविष्ट होती है ॥ १७ ॥ वह विष में विषमयी हो जाती है, अमृत में मिल जाती है, वह सुगंध में सुगंध और दुर्गंध में दुर्गंध ही हो जाती है ॥ १८ ॥ गुण-अवगुण में मिल जाती है; जिसके साथ मिलती है वैसी ही हो जाती है। ज्ञान के बिना उस उदक की महिमा नहीं मालूम होती ॥ १९ ॥ अपरम्पार पानी बह रहा है। यह नहीं जान पड़ता कि नदी है या झील। कितने ही लोग जलवास कर रहे हैं-(उसी माया में डूबे हैं) ॥ २० ॥ उद्गम के उस पार जाने पर जब फिर कर देखते हैं तब वह पानी ही खतम हो जाता है- कुछ नहीं रहता* ॥ २१ ॥ योगीश्वर वृत्तिशून्य होते हैं, इस बात का विचार करना चाहिए। 'दास' कहता है कि बार बार कहां तक बतलाऊं! ॥ २२ ॥

आठवाँ समास—अन्तरात्मा का निरूपण।

॥ श्रीराम ॥

पहले सकलकर्ता की वन्दना करता हूं। वह सब देवों का स्वामी है। अरे भाई, कोई तो उसके भजन में प्रवृत्त हो! ॥ १ ॥ उसके बिना काम नहीं चलता; एक पत्ता भी उसके बिना नहीं हिलता, उसीके द्वारा तीनों लोकों का व्यापार चल रहा है ॥ २ ॥ वह सब का अंतरात्मा है; देव-दानव और मानव जातियों का तथा चार खानियों, चार वाणियों का प्रवर्तक है ॥ ३ ॥ वह अकेला ही सब घटों में, भिन्नरूप होकर, व्यवहार करता है। सारी सृष्टि की बात कहां तक बताई जाय ? ॥ ४ ॥ ऐसा जो गुप्त ईश्वर है उसीको 'ईश्वर' कहना चाहिए। उसीके द्वारा सब लोग बड़े बड़े ऐश्वर्य भोगते हैं ॥ ५ ॥ उसे जो कोई पहचान लेता है वह विश्वंभर ही हो जाता है। उसके आगे समाधि और सहजस्थिति को कौन पूँछता है ? ॥ ६ ॥ जब तीनों लोक का विवरण किया जाय तब

*मायारूप नदी में उद्गम की ओर तैर कर जब माया का उद्गम परब्रह्मस्वरूप पा लेते हैं तब यदि पीछे फिर लौट कर देखते है तो मालूम होता है कि जिस नदी से अभी तैर कर आये हैं वह तो है ही नहीं। तब उन्हें मालूम होता है कि माया मिथ्या है, तब उन्हें जान पड़ता है कि नदी-वदी कुछ नहीं है—अर्थात् वे वृत्तिशून्य बन जाते हैं।

जाकर कहीं मुख्य मर्म प्राप्त होता है। उस परम 'निधान' के प्राप्त हो जाने पर, फिर कोई परिश्रम बाकी नहीं रहता ॥ ७ ॥ वास्तव में ऐसा कौन है जो अन्तरात्मा का विवरण कर के देखता हो? जिसे देखो वही थोड़ा-बहुत मालूम करके समाधान मान लेता है ॥ ८ ॥ अरे, यह देखा हुआ ही देखना चाहिए, विवरण किये हुए का ही फिर फिर विवरण करना चाहिए, और पढ़ा हुआ ही बार बार पढ़ना चाहिए! ॥ ९ ॥ अन्तरात्मा कितना बड़ा है; कैसा है, उसका विचार करनेवाले की दशा कैसी होती है, इत्यादि अनेक देखी और सुनी हुई बातें विवेक बतला देता है ॥ १० ॥ तथापि चाहे जितना देखा सुना जाय; पर वह अन्तरात्मा के लिए बस नहीं है। जीव, जो एक क्षुद्र देहधारी है, (उस सर्वव्यापी अन्तरात्मा को) क्या जान सकता है? ॥ ११ ॥ उस पूर्ण (अन्तरात्मा) को यह अपूर्ण (जीव) क्यों नहीं जान सकता? इसी लिए कि यह (जीव) उसका अखंड रीति से विवरण नहीं करता-यदि यह अखंड रीति से विवरण करे तो फिर यह उससे पृथक् नहीं बचता ('यह' भी 'वही' हो जाता है) ॥ १२ ॥ और विभक्त होकर न रहनेवाला ही (अनन्य होकर रहनेवाला ही) 'भक्त' कहला सकता है; अन्यथा व्यर्थ खटाटोप करके परिश्रम उठाना है ॥ १३ ॥ योंही घर को देखे हुए चला आता है; पर घर के मालिक को नहीं पहचानता! अथवा राज्य ही से होकर चला आता है और राजा को नहीं पहचानता! ॥ १४ ॥ बड़े अचरज की बात है कि, देह के साथ में विषय-भोग तो करते हैं, और देह के योग से सुखी होते हैं, पर जो देह को धारण करनेवाला है उस (अन्तरात्मा) को भूले रहते हैं! ॥ १५ ॥ इस प्रकार लोग प्रत्यक्ष अविवेकी बने हुए हैं; पर वे कहते क्या हैं कि, हम विवेकी हैं! अच्छा भाई, जैसी जिसकी योग्यता हो वैसा करो! ॥ १६ ॥ अज्ञान लोग किसी का मन रखना नहीं जानते; इसी लिए ज्ञानी की जरूरत होती है; परन्तु ये ज्ञानी ही मूर्ख बने हुए हैं ॥ १७ ॥ जैसे कोई अपना गड़ा हुआ धन भूल जाय और इधर उधर भटकता फिरे; वैसे ही अज्ञान जीव ईश्वर के पास रहते हुए भी, इधर उधर ढूँढ़ते फिरते हैं ॥ १८ ॥ सृष्टि में ऐसा कौन है जो इस अन्तरात्मा का ध्यान कर सके? वृत्ति एकदेशीय होती है-वह इस सर्वव्यापी का आकलन कैसे कर सकती है? ॥ १९ ॥ ब्रह्मांड में; अनन्त रूपों से अनन्त प्रकार के, प्राणी भरे हुए हैं, यहां तक कि भूगर्भ और पाषाणों के भीतर भी अनेक जीव भरे हैं ॥ २० ॥ उन सब में-अनेकों में-वह एक ही बरत रहा है-वह कहीं गुप्त है तो कहीं प्रकट है ॥ २१ ॥ परन्तु जो चञ्चल है वह निश्चल नहीं हो सकता—यह

अनुभव की बात है-और जो चञ्चल नहीं है वही निश्चल परब्रह्म है ॥ २१॥ इस शरीर के सब तत्त्व, जब एक एक करके चले जाते हैं तब उन्हींके साथ देहाभिमान भी उड़ जाता है-और चारों ओर निर्मल, निश्चल, निरंजन रह जाता है!॥ २२॥ वस्तुतः विवेक का मार्ग यह है कि, 'हम' कौन हैं, कहां है, कहां के हैं (यह सोचना चाहिए); परन्तु प्राणी, जो स्वयं अपूर्ण है उसे, यह जान नहीं पड़ता ! ॥२४॥ अतएव, भले आदमी को विवेक धारण करना चाहिए और उसके द्वारा यह दुस्तर संसार तरना चाहिए; तथा हरिभक्ति करके अपने सारे वंश का भी उद्धार करना चाहिए ॥ २५ ॥

नववाँ समास–ज्ञानोपदेश।

॥ श्रीराम ॥

प्रथमतः मनुष्य को विधिपूर्वक कर्म करना चाहिए। इसमें यदि गड़बड़ हो जाता है तो दोष लगता है॥ १ ॥ इस लिए कर्म का आरम्भ करना चाहिए। जितना कुछ ठीक ठीक बन पड़े उतना अच्छा है और यदि अन्तर पड़ जाय तो वहां हरिस्मरण करना चाहिए ॥ २ ॥ (खाली 'स्मरण' ही न करना चाहिए) किन्तु यह विचार भी करना चाहिए कि, वह हरि कैसा है। संध्या के पूर्व उस जगदीश का चौबीस नामों से स्मरण करना चाहिए ॥ ३ ॥ वह चौबीसनामी; सहस्रनामी; अनन्तनामी-और अनामी-कैसा है, सो विवेक से अन्तःकरण में जानना चाहिए।' ४ ॥ ब्राह्मण स्नानसंध्या करके आता है और फिर वह देवतार्चन के लिए बैठता है, तथा विधिपूर्वक प्रतिमा-पूजन करता है। इस प्रकार अनेक देवताओं की मूर्तियां लोग प्रेमपूर्वक पूजते हैं; परन्तु जिसकी वे मूर्तियां हैं वह परमात्मा कैसा है-सो भी तो पहचानना चाहिए! पहचान करके भजन करना चाहिए। जैसे साहब को, पहचानने के बाद, बन्दगी करते हैं वैसे ही उस परमात्मा-परमेश्वर को अच्छी तरह पहचानना चाहिए, तभी इस भ्रमसागर-भवसागर-का पार मिल सकता है ॥ ५-८ ॥ अवतारी पुरुष तो निजधाम को चल जाते हैं; परन्तु, उनकी मूर्तियों के द्वारा वह पूजा अन्तरात्मा को प्राप्त होती है ॥ ६ ॥ तथापि वे अवतारी भी निजरूप में रहते हैं। वह निजरूप 'जगज्ज्योति' है-यही सत्वगुण है और इसीको चेतनाशक्ति कहते हैं

॥ १० ॥ उस शक्ति के पेट में करोड़ों देवता रहते हैं—ये अनुभव की बातें प्रत्यय से जानना चाहिए ॥ ११ ॥ देहरूपी नगरी में जो ईश रहता है उसे पुरुष कहते हैं और सम्पूर्ण जगत् में जो व्याप्त है उसे जगदीश कहते हैं ॥ १२ ॥ सम्पूर्ण संसार के शरीरों को चेतना ही चलाती है और इसी चेतना का अन्तःकरण या विष्णु जानना चाहिए ॥१३॥ वह विष्णु सम्पूर्ण जगत् के अन्तःकरण में है और वही हमारे अन्तःकरण में भी है। चतुर पुरुष उसी अन्तरात्मा को कर्त्ता-भोक्ता जानें ॥ १४ ॥ वही सुनता, देखता, सूँघता और चखता है। बुद्धि से विचार करके वही सब कुछ पहचानता है और अपना-पराया वही जानता है ॥ १५ ॥ वास्तव में सम्पूर्ण जगत् का अन्तरात्मा वह एक ही है; परन्तु शारीरिक मोह बीच में आ पड़ा है, शरीर ही के योग से वह भिन्न होकर अभिमान धारण करता है ॥ १६ ॥ वह उपजता है, बढ़ता है, मरता है, और जिस प्रकार समुद्र के योग से लहरों पर लहरें उठती जाती हैं उसी प्रकार इस अन्तरात्मा के योग से त्रैलोक्य होता जाता है ॥ १७ ॥ तीनों लोकों को चलानेवाला वह एक ही है, इसी लिए उसे त्रैलोक्य नायक कहते हैं—यह अनुभव की बात प्रत्यक्ष देख लेना चाहिए ॥ १८ ॥

ऐसा अन्तरात्मा कहा है; परन्तु इसकी भी तत्वों में ही गणना है। इसके बाद महावाक्य का विचार करना चाहिए ॥ १९ ॥ प्रथम अपनी देह के अन्तरात्मा को देखना चाहिए; फिर उसीको सम्पूर्ण जगत् में व्यापक जानना चाहिए; इसके बाद परब्रह्म का विचार आता है ॥ २० ॥ परब्रह्म का विचार करने से सारासार का निर्णय हो जाता है। यह निश्चय है कि, चंचल का नाश होगा ही ॥ २१ ॥ निरंजन 'वस्तु' उत्पत्ति, स्थिति और संहार से परे है। वहाँ ज्ञान का विज्ञान हो जाता है! ॥ २२ ॥ जब आठों देहों का, तथा नाम-रूप आदि का, विवेक के द्वारा निरसन हो जाता है तब निरंजन विमल ब्रह्म की प्राप्ति होती है ॥ २३ ॥ विचार ही से अनन्य होना चाहिये; देखनेवाले के बिना—दृष्टापन के बिना—अनुभव (प्रत्यय) आना चाहिये; परन्तु (प्रत्यय आना) यह भी वृत्ति है। इस वृत्ति की भी निवृत्ति होनी चाहिये। अच्छी तरह विचार करो ॥ २४ ॥ बस, इतने पर 'वाच्यांश' छूट जाता है; 'लक्ष्यांश' भी विवेक से देख कर छोड़ दिया जाता है; तथा 'लक्ष्यांश' के साथ ही वृत्तिभावना भी चली जाती है ॥२५॥

दसवाँ समास—निस्पृह का बर्ताव।

॥ श्रीराम ॥

मूर्ख एकदेशीय (संकुचित विचारवाला) होता है; और चतुर, जिस प्रकार अन्तरात्मा सर्वव्यापक होकर नाना सुख भोगता है उसी प्रकार, सर्वत्र देखता है ॥ १ ॥ महन्त भी वही अन्तरात्मा है; वह संकुचित विचारवाला कैसे हो सकता है ? वह तो व्यापक, सर्वज्ञ और विख्यात योगी होता है ॥ २ ॥ वास्तव में कर्ता और भोक्ता वही है; भूमंडल में सब सत्ता उसीकी है। उसके बिना उसे देखनेवाला (जाननेवाला) ज्ञाता और कौन हो सकता है ! ॥ ३ ॥ ऐसा ही महंत होना चाहिए— उसे सब सार ढूँढ लेना चाहिए और यदि कोई उसका खोज करे तो एकाएक पकड़ में न आना चाहिए ! ॥ ४ ॥ सच्चा निस्पृह महन्त कीर्ति-रूप से तो जगत् में बहुत विख्यात होता है—यहां तक कि छोटे-बड़े सब उसे जानते हैं—परन्तु वह किसी एक भेष में नहीं देखा जाता ॥ ५ ॥ उसकी अटल कीर्ति प्रत्यक्ष संसार में छाई रहती है; पर वह स्वयं लोगों को मालूम नहीं होता; लोग जब उसे ढूँढते हैं तो उसका पता ही नहीं चलता ! ॥ ६ ॥ भेष की सुन्दरता को वह दूषण समझता है और कीर्ति की बड़ाई को वह भूषण समझता है; तथा अखण्डरूप से उसके मन में विचार-स्फूर्तियां उठा करती हैं ॥ ७ ॥ पहचान के लोगों को छोड़ता जाता है—सदा—सर्वदा नित्य-नूतन परिचय करता रहता है। लोग उसके मन की थाह पाना चाहते हैं; पर कुछ भी उसकी इच्छा मालूम नहीं होती ॥ ८ ॥ वह पूरा पूरा किसीकी ओर देखता नहीं; पूरा पूरा किसीसे बोलता नहीं; पूरा पूरा एक जगह रहता नहीं—उठ कर चल देता है ! ॥ ९ ॥ जहां जाना है वह जगह बतलाता नहीं; और जहां के लिए बतलाता है वहां तो जाता नहीं—सारांश, अपनी दशा किसीके अनुमान में नहीं आने देता ! ॥ १० ॥ लोग जो कुछ उसके साथ करना चाहते हैं उससे वह बच कर निकल जाता है; लोग उसके विषय में जो तर्क करते हैं उसे वह झूठ बना देता है; और लोग जो कुछ उसके विषय में तर्क करते हैं उसे वह निष्फल कर देता है ॥ ११ ॥ लोग उसका दर्शन करना चाहते हैं; उसको गरज नहीं। लोग सेवा में हाजिर हैं, उसको इच्छा नहीं ॥ १२ ॥ एवं वह योगेश्वर (महन्त, निस्पृह) कल्पना में नहीं आता; तर्क उसके सामने नहीं चलता; और कदापि उसकी भावना नहीं की जा सकती ॥ १३ ॥ इस प्रकार उसका मन नहीं मिलता। उसका शरीर

एक जगह नहीं रहता; और एक क्षणभर भी वह 'कथा-कीर्तन' नहीं भूलता ॥ १४ ॥ लोग उसके विषय में जो संकल्प-विकल्प करते हैं वे सब निष्फल हो जाते हैं। वह योगेश्वर, लोगों को स्वयं उनकी ही वृत्ति से लजा देता है! ॥ १५ ॥ जब बहुत लोग परीक्षा कर लें-जब बहुतों के मन में स्थान पा जाय-तब कहीं जानना चाहिए कि, अब हमारा बड़ा भारी काम होगया ॥ १६ ॥ अखंड रीति से एकान्त का सेवन करना चाहिए; अभ्यास ही करते रहना चाहिए, तथा अन्य लोगों को भी साथ लेकर, अपना समय सार्थक करते रहना चाहिए ॥ १७ ॥ जितने कुछ उत्तम गुण हों उन सब को पहले स्वयं ग्रहण करना चाहिए; इसके बाद वही गुण फिर दूसरे लोगों को सिखलाना चाहिए। बहुत बड़ा समुदाय एकत्र करना चाहिए; परन्तु गुप्त-रूप से! ॥ १८ ॥ उन सब को अखण्ड रीति से काम में लगाये रहना चाहिए; सम्पूर्ण संसार को उपासना में लगाना चाहिए; लोग जब जान लेते हैं कि, यह सच्चा निस्पृह महन्त है तब कहीं वे उसकी आज्ञा पाने की इच्छा करते हैं ॥ १९ ॥ जब पहले कष्ट सहोगे तब कहीं फल मिलेगा। जहां कष्ट ही नहीं वहां फल कहां का? बिना उद्योग या प्रयत्न के सब व्यर्थ ही है ॥ २० ॥ अनेक लोगों को ढूंढ़ ढूंढ़ कर अपने हाथ में लेना चाहिए; उनकी योग्यता जानना चाहिए; और फिर, योग्यता के अनुसार, किसी को पास और किसीको दूर रखना चाहिए ॥ २१ ॥ योग्यता के अनुसार कार्य होता है। जब योग्यता ही नहीं है तब वह आदमी किस काम का? सब के मन की अच्छी तरह परीक्षा कर लेनी चाहिए ॥ २२ ॥ योग्यता देख कर काम बतलाना चाहिए; और कार्य-शक्ति देख कर विश्वास रखना चाहिए; तथा अपना विचार कुछ और ही रखना चाहिए ॥ २३ ॥ ये अनुभव के बोल हैं-पहले किये गये हैं; पीछे बतलाये गये हैं; यदि अच्छे लगें तो कोई ग्रहण करे*! ॥ २४ ॥ महन्त को चाहिए कि, वह अन्य अनेक महन्त उत्पन्न करे और उन्हें 'युक्ति' तथा 'बुद्धि' से पूर्ण करके, ज्ञाता बनाकर, अनेक देशों में फैलावे ॥ २५ ॥

---

* यह समास बड़े महत्त्व का है-इसमें जो बातें कहीं गई हैं वे अनुभवपूर्ण हैं। श्रीसमर्थ रामदास स्वामी कहते हैं कि ये सब बातें उन्हों ने पहले की हैं तब पीछे से सिखाई हैं-इनमें कच्चापन नहीं है। यह समास मानो उनका आत्मचरित्र ही है।

बारहवाँ दशक ।



पहला समास-विमल लक्षण ।

॥ श्रीराम ॥

पहले 'प्रपंच' (गार्हस्थ्य धर्म) का अच्छी तरह आचरण करना चाहिए, फिर परमार्थ का विचार ग्रहण करना चाहिए । हे विवेकी पुरुषों ! इसमें आलस न करना चाहिए ॥ १ ॥ यदि 'प्रपंच' छोड़ कर परमार्थ करोगे तो इससे तुम दुःखी होंगे। तुम विवेकी तभी कहाओगे जब प्रपञ्च और परमार्थ दोनों की रक्षा करोगे ॥ २ ॥ यदि 'प्रपञ्च' छोड़ कर कोई 'परमार्थ' करेगा तो उसे पहले अन्न ही खाने को न मिलेगा; फिर उस अभागी के लिए परमार्थ का तो नाम ही न लो ! ॥ ३ ॥ तथा यदि कोई 'परमार्थ' छोड़ कर 'प्रपञ्च' करेगा तो भी वह यम-यातना भोगेगा और उससे अन्त में परम कष्ट होगा ॥ ४ ॥ यह बात तो लोग देखते ही हैं कि, जब कोई 'साहब' के काम पर न जा कर घर ही में सुख से बैठा रहता है तब 'साहब' उसको कूटता है: और लोग तमाशा देखते हैं ! ॥ ५ ॥ ऐसी दशा में उसका महत्त्व ही चला जाता है-वह दुर्जनों के हास्य का पात्र बनता है और स्वयं बहुत दुःख भोगता है ॥ ६ ॥ यही हाल अन्त में होनेवाला है-इस लिए भगवान् का भजन करना चाहिए और परमार्थ का प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहिए ॥ ७ ॥ जो संसार में रहते हुए ही, उससे मुक्त (अलिप्त) रहता है उसीको सच्चा भक्त जानना चाहिए। वह अखण्ड रीति से युक्तायुक्त का विचार किया करता है ॥ ८ ॥ 'प्रपञ्च' में जो सावधान है, समझ लो कि, वह परमार्थ भी करेगा और जो प्रपञ्च ही में ठीक नहीं है वह परमार्थ क्या करेगा ? ॥ ९ ॥ इस लिए सावधानी के साथ 'प्रपञ्च और परमार्थ' चलाना चाहिए। ऐसा न करने से नाना दुख भोगने पड़ते हैं ॥ १० ॥ वनस्पतियों पर के कीड़े (लम्बे और हरे छोटे छोटे कीड़े) भी आगे देख कर अपना शरीर उठाते हैं (चलते हैं)-अर्थात् जीवजन्तु भी, इस प्रकार, विवेक से चलते हैं-परन्तु जो पुरुष होकर भी भ्रम में पड़े हुए हैं उन्हें क्या कहा जाय ! ॥ ११ ॥ अतएव, दूरदर्शिता का स्वीकार करना चाहिए, अखण्ड रीति से विचार करते रहना चाहिए और आगे होनेवाली बातें-भविष्यत्‌की घट-

गाएं—पहले ही से जान लेना चाहिए ॥ १२ ॥ यह तो सभी जानते हैं कि, खबरदारी रखनेवाला (सावधान पुरुष) सुखी रहता है और बेखबर (गाफिल या असावधान) दुःखी रहता है ॥ १३ ॥ अतएव, जो सब प्रकार से सावधान है वह धन्य है; वही बहुत लोगों को सन्तुष्ट रख सकता है ॥ १४ ॥ पहले से तो सावधान रहने में आलस किया और बीच में अचानक हमला होगया; अब सम्हलने का मौका कहां है? ॥ १५ ॥ इस लिए जो दूरदर्शी पुरुष हैं उनके विचार का अनुकरण करना चाहिए; क्योंकि एक दूसरे का आदर्श देख कर ही लोग चतुर बनते हैं ॥ १६ ॥ इस लिए चतुर और गुणवान् लोगों को पहचान कर उनके गुणों को ग्रहण करना चाहिए और अवगुणों की परीक्षा करके उन्हें छोड़ देना चाहिए ॥ १७ ॥ विवेकी पुरुष सब की परीक्षा तो करता ही है; परन्तु मन किसीका नहीं तोड़ता; वह मनुष्यमात्र को अपने अनुमान में लाकर परखता है ॥ १८ ॥ यों तो वह सब को समान देख पड़ता है; पर वास्तव में वह बड़ा अच्छा विवेकी होता है—वह कम्मे-निकम्मे (उद्योगी और आलसी) लोगों को अच्छी तरह पहचानता है ॥ १९ ॥ सब से बड़ी अपूर्वता उसमें यही होती है कि, जानबूझ कर वह सब प्रकार के लोगों का अंगीकार करता है और जिसको जैसा चाहिए उसको वैसा ही गौरव देता है ॥ २० ॥

दूसरा समास—संसार का अनुभव।

॥ श्रीराम ॥

हे संसार में आये हुए स्त्री-पुरुष और निस्पृह लोगों! मैं जो कुछ कहता हूं उसे ध्यानपूर्वक सुनो ॥ १ ॥ वासना क्या कहती है? कल्पना किस बात की कल्पना करती है? देखना चाहिए। क्यों मन में नाना प्रकार की तरंगें उठती हैं? ॥ २ ॥ इच्छा तो यह होती है कि, अच्छा खायँ, अच्छा पियें, अच्छे गहने और अच्छे कपड़े पहनें, तथा सब बातें मन के अनुकूल हों; परन्तु इनमें से होती एक बात भी नहीं है—भलाई करते हुए अकस्मात् बुराई हो जाती है ॥ ३ ॥ ४ ॥ संसार में प्रत्यक्ष कोई सुखी और कोई दुःखी देख पड़ते हैं और प्रायः लोग घबड़ा कर अन्त में

भाग्य पर आ गिरते हैं! ॥ ५ ॥ अचूक यत्न कर नहीं सकते, इसी लिए जो कुछ करते हैं वह ठीक नहीं होता, और चाहे सो करो, अपना अवगुण जान नहीं पड़ता ॥ ६ ॥ जो आप अपना ही नहीं जानता वह दूसरे का क्या जानेगा? ऊपर जो सिद्धान्त बतलाया उसके अनुसार न चलने से स्वाभाविक ही दरिद्रता आती है ॥ ७ ॥ सच तो यह है कि, लोग आपस में एक दूसरे के मन की बात जान नहीं सकते; और इसी कारण उनमें समान बर्ताव नहीं होता; तथा अज्ञान के कारण, नाना प्रकार के झगड़े उपस्थित होते हैं ॥ ८ ॥ वही झगड़े फिर बढ़ते जाते हैं; अतएव, सभी कष्ट पाते हैं। प्रयत्न तो एक ओर रह जाता है; व्यर्थ श्रम ही होता है ॥ ९ ॥ परन्तु वास्तव में यह बर्ताव विहित नहीं है। नाना प्रकार के लोगों की परीक्षा करनी चाहिए और जो जैसा हो उसे वैसा समझना चाहिए ॥ १० ॥ वचनों की और मन की परीक्षा दक्ष पुरुष को थोड़ी बहुत मालूम होती है; मूर्ख पुरुष को ये बातें कैसे मालूम हो सकती हैं? ॥ ११ ॥ संसार में प्रायः यही देखा जाता है कि, लोग अपना पक्षपात और दूसरे की निन्दा करना जानते हैं ॥ १२ ॥ परन्तु अपनी प्रतिष्ठा रखने के लिए भले आदमी को वह निन्दा भी सहनी पड़ती है; न सहने से हँसी होना स्वाभाविक बात है ॥ १३ ॥ जहां अपने को अच्छा नहीं लगता वहां रहना कदापि सुहाता नहीं और किसीकी मुरौवत तोड़ कर जाना भी अच्छा नहीं लगता ॥ १४ ॥ परन्तु, जो सत्य बोलता है, और सत्य ही आचरण करता है, उसे छोटे बड़े सभी चाहते हैं। न्याय और अन्याय की बात आपस में सहज ही मालूम हो जाती है ॥१५॥ जब तक कोई मनुष्य, दूसरों के अपराधों का, विवेकपूर्वक, क्षमा नहीं करता तब तक उस पर लोगों की भक्ति नहीं होती और लोग उसे एक मामूली मनुष्य समझते हैं ॥ १६ ॥ जब तक चन्दन घिसता नहीं तब तक सुगंध प्रकट नहीं होती और अन्य वृक्षों की तरह वह भी समझा जाता है ॥ १७ ॥ जब तक लोगों को किसीके उत्तम गुण नहीं मालूम होते तब तक उन्हें उसकी परीक्षा कैसे हो सकती है? उत्तम गुण देख कर संसार प्रसन्न हो जाता है ॥ १८ ॥ और संसार के प्रसन्न होते ही संसार से मित्रता हो जाती है तथा सम्पूर्ण लोग प्रसन्न हो जाते हैं ॥ १९ ॥ और जब जगत्रूपी जनार्दन (ईश्वर) ही उस पर प्रसन्न हो गया तब फिर उसके लिए क्या कमी है? परन्तु सब को राजी रखना कठिन है! ॥ २० ॥ बोया हुआ उगता है; दिया हुआ बायन लौट कर मिलता है। मर्म की बात कह देने से दूसरे का मन दुःखी होता है ॥२१॥ लोगों के साथ भलाई करने से सुख बढ़ता है। शब्द के अनुसार ही प्रतिशब्द आता है ॥ २२ ॥ यह सब अपने ही अधीन की बात

है—दूसरों का इसमें कोई दोष नहीं-अपने मन को क्षण क्षण पर सिखाते रहना चाहिए ॥ २३ ॥ यदि कहीं दुर्जन या दुष्ट मिल जाय और अपने से क्षमा न करते बने तो साधक को वहां से तुरंत ही चुपके से चल देना चाहिए ॥ २४ ॥ लोग नाना प्रकार की परीक्षाएं तो जानते हैं; परन्तु दूसरे का मन परखना नहीं जानते; इसी कारण ये लोग दुःख पाते हैं; इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ २५ ॥ अपने को एक दिन मरना है; इस लिए भलमंसी से चलना चाहिए ॥ विवेक का लक्षण कठिन है ॥ २६ ॥ छोटे हों, बड़े हों, बराबर वाले हों, अपने हों, पराये हों, कोई हों; सब से घनी मित्रता रखनी चाहिए ॥ २७ ॥ यह तो सभी जानते हैं कि, अच्छे का नतीजा अच्छा होता है; अब और अधिक क्या बतलाना है? ॥ २८ ॥ हरि-कथा तथा अध्यात्म-निरूपण करना चाहिए और महत्त्वपूर्ण राजनैतिक विषयों की ओर भी ध्यान देना चाहिए; परन्तु बिना प्रसंग देखे कुछ भी ठीक नहीं है ॥ २९ ॥ कोई बहुत विद्या सीखा हुआ है; पर अवसर नहीं जानता, तो फिर ऐसी विद्या को कौन पूछता है? ॥ ३० ॥

तीसरा समास—ईश्वर और भक्त।

॥ श्रीराम ॥

पृथ्वी के सम्पूर्ण लोगों को विवेक से चलना चाहिए और इहलोक तथा परलोक, दोनों का अच्छी तरह विचार करना चाहिए ॥ १ ॥ इहलोक साधने के लिए ज्ञाता की संगति करना चाहिए और परलोक साधने के लिए सद्गुरु चाहिए ॥ २ ॥ सद्गुरु तो चाहिए; परन्तु पहले यही नहीं मालूम होता कि, उससे पूछा, क्या जाय? अच्छा, वास्तव में पहले अनन्य भाव से उससे दो बातें पूछना चाहिए ॥ ३ ॥ वे दो बातें कौन हैं? वे ये हैं कि, 'ईश्वर' कौन है और 'हम' कौन हैं-इन दो बातों का किया हुआ ही विवरण बार बार करना चाहिए ॥ ४ ॥ पहले यह देखना चाहिए कि, मुख्य ईश्वर कौन है; फिर यह देखना चाहिए कि, 'हम' जो भक्त हैं सो कौन हैं। पंचीकरण और महावाक्य का विवरण बार बार करना चाहिए ॥ ५ ॥ सब कुछ करने का तात्पर्य यही है कि, निश्चल और शाश्वत को पहचाने और इस बात का केवल विचार करे कि,

'हम' कौन हैं ॥ ६ ॥ सारासार का विचार करने से जान पड़ता है कि, किसी भी 'पद' में शाश्वतता नहीं है। अतएव, पहले सब का कारण जो भगवान् है उसे पहचानना चाहिए ॥ ७ ॥ निश्चल, चञ्चल और जड़ यह सारा माया का पवाड़ा है; पर इन सब में 'वस्तु' ही सार है: उसका नाश नहीं है ॥ ८ ॥ उस परब्रह्म को ढूंढ़ना चाहिए, विवेक से तीनों लोक में घूमना फिरना चाहिए और मायिक का विचार से खण्डन कर डालना चाहिए ॥ ९ ॥ खोटा छोड़ कर खरा लेना चाहिए। परीक्षावान् को परीक्षा करना चाहिए और माया का सारा रूप मायिक या मिथ्या जानना चाहिए ॥ १० ॥ यह माया पंचभौतिक है। जितना कुछ मायिक है सब लय हो जायगा। पिण्ड-ब्रह्माण्ड और आठों देह नाशवंत हैं ॥ ११ ॥ जितना कुछ दिखेगा उतना सब नाश होगा; जितना कुछ उपजेगा उतना सब मरेगा और जितना माया का रूप बनेगा उतना सब बिगड़ेगा ॥ १२ ॥ जितना कुछ बढ़ेगा उतना सब घटेगा, जितना कुछ आवेगा उतना सब जायगा और कल्पान्त-काल में भूतों को भूत खायगा! ॥ १३ ॥ जितने देहधारी हैं उतने सब नाश होंगे। यह बात तो प्रत्यक्ष ही है। मनुष्य बिना वीर्योत्पत्ति कैसे हो सकती है? ॥ १४ ॥ अन्न न होने से वीर्य कहां से होगा? औषधि न होने से अन्न कैसे होगा? और पृथ्वी न होने से औषधि कैसे रहेगी? ॥ १५ ॥ आप न होने से पृथ्वी नहीं हो सकती; तेज न होने से आप नहीं हो सकता; और वायु न होने से तेज नहीं हो सकता ॥ १६ ॥ अन्तरात्मा न होने से वायु कैसे होगी? विकार न होने से अन्तरात्मा कहां से आवेगा? और देखो तो भला कि निर्विकार में विकार कहां से आया? ॥ १७ ॥ निर्विकार, पृथ्वी, आप, तेज, वायु, अन्तरात्मा, इत्यादि कोई विकार नहीं है ॥ १८ ॥ जो निर्विकार-निर्गुण है वही शाश्वत का लक्षण है और सम्पूर्ण अष्टधा प्रकृति नाशवंत है ॥ १९ ॥ जितना कुछ नाशवन्त है उतना सब यदि विवेक से देख लिया जाता है तो वह रहते हुए ही नाश-सा हो जाता है और सारासार-विचार से समाधान प्राप्त होता है ॥ २० ॥ इस प्रकार विवेकपूर्वक देखने से सारासार का विचार मन में बैठ जाता है ॥ २१ ॥

अच्छा, यह तो मालूम हो चुका कि, जो शाश्वत और निर्गुण है वही मुख्य देवता है, अब यह मालूम होना चाहिए कि, 'मैं' कौन है ॥ २२ ॥ मैं कौन है, सो मालूम होना चाहिए। देह के सम्पूर्ण तत्त्वों को ढूंढ़ने से मालूम होता है कि, "मैं-तू-पन" मनोवृत्ति में रहता है ॥ २३ ॥ सारे शरीर को ढूंढ़ने से—तत्त्वविचार करने से—"मैं-तू-पन" का कहीं पता नहीं चलता। वास्तव में 'मैं-तू-पन' तत्त्वों में ही लीन रहता है ॥ २४ ॥ जब

दृश्य पदार्थ ही का निरसन हो जाता है और तत्त्वों में तत्त्वों का लय हो जाता है तब 'मैं-तू-पन' कहां बचता है? उस समय तो वास्तव में केवल 'वस्तु' ही बच रहती है ॥ २५ ॥ पञ्चीकरण, तत्त्वविवरण और महावाक्य से सिद्ध हो जाता है कि, 'मैं' ही 'वस्तु' हूं; (पर यों कहने से कोई 'वस्तु'–ब्रह्म–नहीं हो सकता;) निस्संगता के साथ निवेदन (आत्मनिवेदन) करना चाहिए ॥ २६ ॥ ईश्वर और भक्त का मूल खोजने पर निरुपाधि और केवल आत्मा की प्राप्ति होती है ॥ २७ ॥ मैं-पन डूब जाता है, विवेक से भिन्नत्व चला जाता है, और निवृत्तिपद या उन्मनी पद मिल जाता है ॥ २८ ॥ ज्ञान विज्ञान में लीन हो जाता है, ध्यान ध्येय में चला जाता है और कार्य–कारण आदि सब का विवेक हो जाता है ॥ २६ ॥ जन्ममरण की खटपट मिट जाती है, सारे पाप डूब जाते हैं और यमयातना का नाश हो जाता है ॥ ३० ॥ सारा बन्धन टूट जाता है, विचार से मोक्ष प्राप्त होता है, सारे जन्म की सार्थकता होती है ॥ ३१ ॥ नाना सन्देहों का निवारण हो जाता है, सारे धोखे टूट जाते हैं और ज्ञान के विवेक से अनेक लोग पवित्र होते हैं ॥ ३२ ॥ और बहुतों के मन में यह प्रतीति आ जाती है कि, पतिपावन के दास (पतितपावन राम–के दास "रामदास") जगत् को पावन करते हैं ॥ ३३ ॥

चौथा समास--विवेक-वैराग्य ।

॥ श्रीराम ॥

यदि किसीको राज्य प्राप्त हो जाय; और वह उसका भोग करना न जाने तो उसकी क्या दशा होगी? यही दशा बिना विवेक के वैराग्य-वाले की होती है ॥ १ ॥ गृहस्थी की नाना प्रकार की झंझटों से ऊब कर तथा दुःखित होकर वैराग्य आ जाता है और मनुष्य घर छोड़ कर निकल जाता है ॥ २ ॥ ३ ॥ वह चिन्ता से छूटता है, पराधीनता से अलग होता है और सांसारिक दुःखों से मुक्त होकर किसी रोगी की तरह चंगा होता है ॥ ४ ॥ परन्तु पशुओं की तरह स्वच्छन्द फिर कर उसे नष्ट-भ्रष्ट न होना चाहिए ॥ ५ ॥ बिना विवेक के जो वैराग्य लेता है वह अविवेक से अनर्थ में पड़ता है और उसका दोनों ओर से सत्यानाश

होता है ॥ ६ ॥ उसका न तो प्रपञ्च बनता है और न परमार्थ; सारा जीवन व्यर्थ जाता है। अविवेक से अनर्थ होता है ॥ ७ ॥ बिना वैराग्य-योग के व्यर्थ ज्ञान बकना ऐसा है जैसे कारागृह में बन्दी बना हुआ पुरुष पुरुषार्थ की बातें करता हो ॥ ८ ॥ वैराग्य बिना ज्ञान की बातें करना व्यर्थ अभिमान दिखलाना है। ऐसे आदमी को मोह और दम्भ के कारण कष्ट उठाना पड़ता है ॥ ९ ॥ कुत्ता बाँधने पर भी भूँकता है; इसी तरह वह भी स्वार्थ से बड़बड़ाता है और अभिमान के कारण दूसरे का उत्कर्ष नहीं देख सकता ॥ १० ॥ विवेक के बिना वैराग्य, अथवा वैराग्य के बिना विवेक—दोनों अवस्थाओं में शोक ही होता है। अब विवेक और वैराग्य दोनों का योग जिसमें होता है उसके लक्षण सुनिये:— ॥ ११ ॥

ऐसा पुरुष विवेक के द्वारा तो भीतर से विरक्त होता है और वैराग्य के द्वारा 'प्रपंच' से अलग होता है—इस प्रकार वह अन्तर्बाह्य मुक्त होकर निस्संग योगी बन जाता है ॥ १२ ॥ जैसा मुख से ज्ञान बतलाता है वैसा ही आचरण भी करता है। उसका उपदेश सुन कर बड़े बड़े पवित्र पुरुष भी चकित होते हैं ॥ १३ ॥ वह त्रैलोक्य-राज्य की भी परवा नहीं करता है; उस में वैराग्य की स्थिति समा जाती है और यत्न, विवेक तथा धारणा-शक्ति की उसमें सीमा नहीं रहती ॥ १४ ॥ वह हृदयपूर्वक सुन्दर रसाल हरिकीर्तन करता है, तालस्वर के साथ प्रेमपूर्वक भक्तिपूर्ण भजन गाता है ॥ १५ ॥ उसके हृदय में ऐसा विवेक जागृत रहता है कि, जिसके द्वारा वह अनेक लोगों को तत्काल ही सन्मार्ग में लगा सकता है। उसकी वक्तृता में अनुभव का साहित्य नहीं छूटने पाता ॥ १६ ॥

सन्मार्ग-प्रचार करता हुआ, अपनी व्यापकता से जो जगत् में-सम्पूर्ण लोगों में-मिल जाता है उस पर जगदीश प्रसन्न होता है। अस्तु। सच तो यह है कि, मौका देखना चाहिए ॥ १७ ॥ प्रखर वैराग्य, उदासीनता, अनुभवजन्य ब्रह्मज्ञान, स्नान-संध्या, भगवद्भजन और पुण्यमार्ग का आचरण होना चाहिए ॥ १८ ॥ वास्तव में विवेकयुक्त वैराग्य ही पक्का वैराग्य है—केवल वैराग्य या सिर्फ शब्दज्ञान से काम नहीं चलता ॥ १९ ॥ अतएव, विवेक और वैराग्य दोनों ही का होना महाभाग्य है। 'रामदास' कहता है कि, यह बात योग्य साधु ही जानते हैं ॥ २० ॥

—

पाँचवाँ समास—त्रिविध आत्मनिवेदन !

॥ श्रीराम ॥

लकीरों के मोड़ से अक्षर बनते हैं, अक्षरों से शब्द बनते हैं; और शब्दों से गद्य-पद्य मय प्रबन्ध होते हैं ॥१॥ इसी प्रकार वेद, शास्त्र, पुराण, अनेक काव्य, इत्यादि अगणित ग्रन्थों का निरूपण होता है ॥ २ ॥ अनेक ऋषि, उनके अनेक मत; तथा भाषा और लिपि भी अनन्त हैं ॥ ३ ॥ वर्ग, ऋचा, श्रुति, स्मृति, अध्याय, सर्ग, स्तबक, जाते, प्रसंग, मान, समास, पोथी आदि अनेक नाम हैं ॥ ४ ॥ पद, श्लोक, बीर, कड़खा, साखी, दोहा इत्यादि अनेक नाम हैं ॥ ५ ॥ डफगान; मुरजगान, वीणागान, कथागान, इत्यादि नाना प्रकार के गान हैं। ऐसे ही अनेक खेल भी हैं ॥ ६ ॥ ध्वनि, घोष, या नाद, चारों वाणियों में है। इसका भेद सुनियेः—॥ ७ ॥ उन्मेष, अर्थात् स्फुरण, परा से; ध्वनि पश्यन्ति से; नाद मध्यमा से और शब्द चौथी वाणी या वैखरी से उत्पन्न होता है। वैखरी नाना शब्दरत्नों को प्रगट करती है ॥ ८ ॥ अकार, उकार, मकार, तथा आधी मात्रा, इस प्रकार 'ॐ' की कुल साढ़े तीन मात्राओं से ही सम्पूर्ण वर्णों की उत्पत्ति हुई है ॥ ९ ॥ इसके बाद फिर, राग-ज्ञान, नृत्यभेद, तान-मान, अर्थभेद, तत्त्वज्ञान, इत्यादि की सृष्टि हुई है ॥ १० ॥ शुद्ध सतोगुण ही सम्पूर्ण तत्त्वों में मुख्य तत्त्व है। ॐ की अर्धमात्रा ही शुद्ध सतोगुण—महत्तत्त्व या मूलमाया—है* ॥ ११ ॥ अनेक छोटे बड़े तत्त्व मिल कर आठों शरीर बने हैं। अष्टधा प्रकृति नाशवान् है। ॥ १२ ॥ परब्रह्म हवा से रहित आकाश की तरह सघन है। अष्ट देहों का निरसन करके उसे देखना चाहिए ॥ १३ ॥ ब्रह्माण्ड से पिण्ड तक तक उत्पत्ति, और पिण्ड से ब्रह्माण्ड तक संहार—इन दोनों से अलग जो शुद्ध सार है वही विमल ब्रह्म है ॥१४॥ दृश्य प्रकृति जड़ है; आत्मा चञ्चल है; और विमल ब्रह्म निश्चल है। उसीका विवेक करके उसीमें तद्रूप होना चाहिए ॥ १५ ॥ यह समझना, कि तन, मन, वचन और पदार्थमात्र के सहित मैं परमात्मा का हूं, जड़ आत्मनिवेदन है ॥ १६ ॥ यह समझना कि—सम्पूर्ण सृष्टि का कर्ता जो वह जगदीश है उसीका प्राणिमात्र अंश है, जो कुछ है सब उसीका है 'हम' कुछ नहीं है; वही कर्ता है, चंचल आत्मनिवेदन है ॥ १७ ॥ १८ ॥ अब निश्चल आत्मनिवेदन यह है कि, चञ्चल माया तो स्वप्न की तरह नश्वर है

---

* 'ॐ' में से अकार तमोगुण का, उकार रजोगुण का, और मकार सत्त्वगुण दर्शक है और आधी मात्रा (बिन्दु) शुद्ध सत्त्वगुण या मूलमाया या महत्तत्त्व की दर्शक है।

और परमात्मा निश्चल तथा निराकार है । इसके सिवाय जब चञ्चल माया वास्तव में कुछ है ही नहीं तब 'हम' की कल्पना ही मिथ्या है* ॥ १९ ॥ २९ ॥ उपर्युक्त तीनों प्रकार से विचार करने पर "हम" कुछ नहीं है-दूजापन है ही नहीं-और जब 'हम' ही नहीं है तब 'मैंपन' कहां हो सकता है ? ॥ २१ ॥ सोचते सोचते सब अनुमान में आ जाता है, मालूम होते होते सब मालूम हो जाता है, और पूर्ण अनुभव आ जाने पर बोलना शान्त हो जाता है ॥ २२ ॥

छठवाँ समास—उत्पत्ति का क्रम ।

॥ श्रीराम ॥

परब्रह्म निर्मल, निश्चल, शाश्वत, सार, अमल, विमल तथा आकाश की तरह सर्वव्यापक है ॥ १ ॥ उसमें करना-धरना, जन्मना-मरना, जानना न जानना, इत्यादि कुछ नहीं है-वह शून्य से भी अतीत है ॥ २ ॥ वह न बनता है न बिगड़ता है, न होता है न जाता है-वह मायातीत, निरंजन है-उसका पार नहीं है ॥ ३ ॥ आगे जो संकल्प उठता है उसे षड्गुणेश्वर और अर्धनारीनटेश्वर कहते हैं ॥ ४ ॥ उसे सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, साक्षी, द्रष्टा, ज्ञानघन, परेश, परमात्मा, जगजीवन और मूलपुरुष कहते हैं ॥ ५ ॥ उसीको मूलमाया भी कहते हैं; वह बहुगुणी होता है । उसमें जब सृष्टि बनाने की इच्छा होती है तब उसीको गुणक्षोभिणी कहते हैं; त्रिगुण उसीसे उत्पन्न होते हैं ॥ ६ ॥ फिर चेतनारूपी तथा सत्वगुणरूपी विष्णु उत्पन्न होता है । यह तीनों लोक का पालन करता है ॥ ७ ॥ इसके बाद ज्ञान-अज्ञान-मिश्रित रजोगुणरूपी ब्रह्मा होता है । इससे तीनों लोक की उत्पत्ति होती है ॥ ८ ॥ फिर सकलसंहार का कारण तमोरूपी रुद्र उत्पन्न होता है । बस, यहां से कर्तृत्व समाप्त है ॥ ९ ॥

---

* आत्मनिवेदन के तीन प्रकार हैं:—जड़, चंचल और निश्चल । 'मैं' और 'मेरा,' जो कुछ है, सब ईश्वर का है—यह बुद्धि होना जड़ आत्मनिवेदन है; यह मालूम होना चंचल आत्मनिवेदन है कि, जो कुछ है सब ईश्वरस्वरूप है—अर्थात् कुछ है और वह ईश्वर-स्वरूप है—यह मालूम होना चंचल आत्मनिवेदन है; पर निश्चल आत्मनिवेदन वह है कि जिसमें यह निश्चय हो जावे कि, परब्रह्मस्वरूप के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं ।

वहां से फिर पञ्चभूत स्पष्ट दशा को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार अष्टधा प्रकृति का स्वरूप मूलमाया ही में होता है ॥ १० ॥ निश्चल में जो चलन होता है वही वायु का लक्षण है। पञ्चभूत और निर्गुण मिल कर अष्टधा सूक्ष्म प्रकृति होती है ॥ ११ ॥ आकाश अन्तरात्मा ही की तरह होता है; उसकी महिमा अनुभव से जानना चाहिए। उसीसे वायु का जन्म होता है ॥ १२ ॥ उस वायु के दो प्रकार होते हैं, एक शीतल और दूसरा उष्ण। शीतल वायु से तारागण और चन्द्र होता है; तथा उष्ण से सूर्य, अग्नि और बिजली इत्यादि होते हैं। शीतल और उष्ण दोनों मिल कर 'तेज' कहलाता है ॥ १३ ॥ १४ ॥ उस तेज से आप होता है, आप २ से पृथ्वी का रूप होता है। इसके बाद अनन्त औषधियां उत्पन्न होती हैं ॥ १५ ॥ औषधियों से अनेक प्रकार के बीज तथा अन्नादि के रस उत्पन्न होते हैं तथा उन्हींसे भूमण्डल में चौरासी लाख योनियों का विस्तार होता है ॥ १६ ॥

इस प्रकार सृष्टि-रचना होती है। इसका विचार मन में लाना चाहिए। प्रतीति के बिना संशय का पात्र बनना पड़ता है ॥ १७ ॥ इस प्रकार उत्पत्ति होती है और इसी प्रकार संहार भी होता है। इसका विचार करना ही 'सारासार-विचार' कहलाता है ॥ १८ ॥ जो जो जहां २ से पैदा होता है वह वह वहीं लीन हो जाता है-इस प्रकार महा—प्रलय में सब का संहार होता है ॥ १९ ॥ जो आदि, मध्य और अन्त में शाश्वत तथा निरंजन है उसीका ज्ञाता पुरुष को अनुसंधान लगाना चाहिए ॥ २० ॥ नाना प्रकार की रचना होती जाती है; पर वह कुछ भी टिकती नहीं-इस कारण सार-असार के विचार की जरूरत है ॥ २१ ॥ अन्तरात्मा को द्रष्टा और साक्षी कह कर-सब लोग महिमा गाते हैं, पर इस सर्वसाक्षिणी अवस्था का प्रत्यय करना चाहिए ॥ २२ ॥ आदि से लेकर अन्त तक सब माया का ही विस्तार है और उसमें नाना विद्याएं तथा कला-कौशल हैं ॥ २३ ॥ जो उपाधि का अन्त पावेगा उसे मालूम होगा कि, यह सब भ्रम है; और जो उपाधि में फँस जायगा उसे कौन निकाल सकता है? ॥ २४ ॥ विवेक और अनुभव के काम सन्देह और भ्रम से कैसे हो सकते हैं? सारासार-विचार के योग से ही ब्रह्म पा सकते हैं ॥ २५ ॥ वास्तव में मूलमाया ब्रह्मांड का महाकारण देह है; परन्तु विवेकहीन पुरुष इसी अपूर्ण को पूर्ण ब्रह्म कहते हैं ॥ २६ ॥ सृष्टि में बहुत प्रकार के लोग हैं; कोई राज्य भोगते हैं और कोई विष्ठा ढोते हैं: अब प्रत्यक्ष देख लो ! ॥ २७ ॥ ऐसे बहुत लोग होते हैं और सब अपने को बड़ा कहते हैं; पर विवेकी पुरुष सब कुछ जानते हैं ॥ २८ ॥ ऐसी

दशा है; इस लिए विचार चाहिए। बहुतों के कहने से इस संसार का बिगाड़ न करना चाहिए ॥ २९ ॥ यदि पुस्तक-ज्ञान निश्चय हो जाय तो फिर गुरु करने की आवश्यकता ही क्या रह गई? अतएव अपने अनुभव से विवरण करना चाहिए ॥ ३० ॥ जो बहुतों के कहने में लगा, समझ लो कि, वह अवश्य डूबेगा। एक मालिक न होने पर तनखाह किससे माँगे? ॥ ३१ ॥

सातवाँ समास विषय-त्याग।

॥ श्रीराम ॥

न्याय के कारण निष्ठुर बोलना बहुतों को बुरा लगता है। जी मचलाते समय भोजन करना अच्छा नहीं है ॥ १ ॥ बहुत लोग विषयों की निन्दा करते हैं; परन्तु वही स्वयं उनका सेवन करते हैं। क्योंकि विषय-त्याग से शरीर की रक्षा होना असम्भव है ॥ २ ॥ कहना कुछ और करना कुछ—इसका नाम है विवेकहीनता। इससे संसार में हँसी होती है ॥ ३ ॥ अच्छी तरह देखो, ठौर ठौर में ऐसा कहा है कि, बिना विषय-त्याग के परलोक प्राप्त नहीं हो सकता ॥ ४ ॥ प्रपंची खाते-पीते हैं तो परमार्थी क्या उपवास करते हैं? नहीं। विषयों के विषय में दोनों समान ही दिखते हैं ॥ ५ ॥ अतएव, हे देव, कृपा करके मुझे यह बतलाइये कि, देह रहते हुए संसार में विषयों को कौन त्याग सकता है? ॥ ६ ॥ यह बात तो विचित्र मालूम होती है कि सम्पूर्ण विषय छोड़ दिये जायँ; तभी परमार्थ किया जाय ॥ ७ ॥ ऊपर श्रोता का कथन हुआ; अब वक्ता इस पर उत्तर देता है:—॥ ८ ॥

वैराग्य से जब त्याग किया जाता है तभी परमार्थ का योग होता है। प्रपंच के त्यागने से सांगोपांग परमार्थ बनता है ॥ ९ ॥ प्राचीन समय में बहुत ज्ञानी इस आर्यावर्त में हो गये। उन्होंने भी जब पहले बहुत कष्ट सहा है तभी भूमंडल में विख्यात हुए हैं॥ १० ॥ बाकी लोग मत्सर करते करते ही चले गये—अन्न अन्न करते मर गये और कितने ही पेट के लिए भ्रष्ट हो गये ॥ ११ ॥ जिन लोगों में आदि से ही वैराग्य नहीं है, प्रत्यय का ज्ञान नहीं है, शुचि आचार भी नहीं है और भजन का नाम भी नहीं जानते, इस प्रकार के आदमी अपने को सज्जन कहते हैं। पर वास्तव में वे भ्रम में पड़े हुए हैं ॥१२॥१३॥ अपने पूर्वकृत कर्मों पर पश्चात्ताप न होना ही बड़ा भारी पाप है। ऐसा बद्ध पुरुष परोत्कर्ष देख कर

हीं क्षण क्षण में दुःखी होता रहता है ॥ १४ ॥ यह तो त्याग जानते ही हैं कि, यहां ऐसे लोग हैं, जो कहते हैं कि, हमारे पास नहीं है, इस लिए तुम्हारे पास होना भी अच्छा नहीं लगता । खाते-पीते पुरुष को दरिद्र पुरुष देख ही नहीं सकते ॥ १५ ॥ दिवालिये लोग बड़े बड़े भाग्य-वानों की निन्दा करते हैं और साहु को देख कर चोर तड़फड़ाते हैं ॥१६॥

(यह सब हाल देख कर जान पड़ता है कि,) वैराग्य के समान और कोई भाग्य नहीं है । जहां वैराग्य नहीं है वहां अभाग्य है और बिना वैराग्य के परमार्थ करना भी योग्य नहीं है ॥ १७ ॥ जो प्रत्ययज्ञानी और वीतरागी है, जो विवेकबल से सकल-त्यागी है, उसीको महायोगी, ईश्वरी पुरुष समझना चाहिए ॥ १८ ॥ जो महादेव आठों सिद्धियों की उपेक्षा करके योगदीक्षा लेकर घर घर भिक्षा मांगते फिरते हैं ॥ १९ ॥ उनकी बराबरी कोई वेषधारी पुरुष कैसे कर सकता है ? इस लिए सब बराबर नहीं हो सकते ॥ २० ॥ उदासी और विवेकी को सब लोग ढूँढते हैं; परन्तु लालची, मूर्ख, दरिद्री और दुर्बल को कोई नहीं पूछता ॥ २१ ॥ जो विचार से च्युत होते हैं, आचार से भ्रष्ट होते हैं और विषयलोभी बन कर वैराग्य करना भूल जाते हैं ॥२२॥ जिन्हें भजन अच्छा नहीं लगता; शुभ पुरश्चरण कभी जिनसे होता नहीं, ऐसे लोगों से भलों की पटती नहीं ॥ २३ ॥ वैराग्यशील होने पर भी जो आचार से भ्रष्ट नहीं होते; ज्ञानी होकर भी जो भजन नहीं छोड़ते और व्युत्पन्न होकर भी जो वित-ण्डावाद में नहीं पड़ते, ऐसे लोग बहुत थोड़े हैं ॥ २४ ॥ परिश्रम का कष्ट सहने से खेत में अन्न तैयार होता है; अच्छी वस्तु, तत्काल बिक जाती है, ज्ञानी पुरुष की सेवा के लिए सब लोग कौतुक से दौड़ते हैं ॥२५॥ परन्तु जो दुराशा रखते हैं उनका महत्व नहीं रहता और ज्ञान भ्रष्ट हो जाता है ॥२६॥ निरर्थक विषयों का त्याग करके केवल आवश्यक विषयों को ही ग्रहण करना विषयत्याग का मुख्य लक्षण है ॥ २७ ॥ परमात्मा सर्वकर्ता है; माया कुछ नहीं है; यह विवेकी लोगों की सम्मति है ॥ २८ ॥ शूरता में जो प्रखर होता है उसे छोटे बड़े सब मानते हैं। निकम्मा और उद्योगी एक कैसे हो सकते हैं ? ॥ २९ ॥ जो त्याग, अत्याग और तर्क-विषय जानता है, कहने के अनुसार चलना जानता है, पिण्ड-ब्रह्मांड आदि सब यथायोग्य जानता है उस उत्तमलक्षणी और सर्वज्ञाता पुरुष का समागम करने से सहज ही सार्थकता होती है ॥३०॥३१॥

आठवाँ समास–काल का रूप।

॥ श्रीराम ॥

मूलमाया ही जगदीश्वर है। उसीसे सृष्टिक्रम के अनुसार अष्टधा प्रकृति का आकार फैला है ॥ १ ॥ जब यह कुछ नहीं था तब एक निराकार, आकाश की तरह, विस्तारमात्र था और काल, इत्यादि की कल्पना भी न थी ॥ २ ॥ जब से उपाधि का विस्तार हुआ तभी से काल देखने में आया, अन्यथा काल के लिए स्थान ही नहीं है ॥ ३ ॥ एक चञ्चल है और एक निश्चल है; इनके अतिरिक्त और काल कहां है ? जब तक चञ्चल है तभी तक काल कह लो ! ॥ ४ ॥ आकाश अवकाश को कहते हैं, अवकाश विलम्ब को कहते हैं–उस विलम्बरूप काल को जान लेना चाहिए ॥ ५ ॥ वह विलम्ब सूर्य के कारण मालूम होता है, इसीसे सब की गणना लगती है और पल से युग तक गिनती की जाती है ॥ ६ ॥ सूर्य ही के कारण पल, घड़ी, पहर, दिन, सन्ध्या, पखवाडा, महीना, छमासा, वर्ष और युगों की सृष्टि हुई है ॥ ७ ॥ सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग आदि की संख्या भूमण्डल में सूर्य ही के योग से चली है और शास्त्रों में देवताओं की जो बड़ी बड़ी अवस्थाएं कही हैं वे भी सब सूर्य ही के कारण उत्पन्न हुई हैं ! ॥ ८ ॥ त्रिगुणात्मक ब्रह्मा-विष्णु-महेश की खटपट (उत्पत्ति, स्थिति, संहार) सूक्ष्मरूप से और विशेष लगाव के साथ, सब पिण्डों में हो रही है, परन्तु लोग संप्रदाय या रीति छोड़ते हैं, और इसी कारण उन्हें चटपट लगती है ॥ ९ ॥ मिश्रित त्रिगुण अलग अलग नहीं हो सकते और उन्हींसे, आदि से अन्त तक, सृष्टि की रचना है। यह कैसे कहा जाय कि, कौन बड़ा है और कौन छोटा है ? ॥ १० ॥ अस्तु। ये ज्ञाता के काम हैं, अज्ञाता व्यर्थ के लिए भ्रम में फँसता है। अनुभव के द्वारा मुख्य तत्व जानना चाहिए ॥ ११ ॥ उत्पन्नकाल, सृष्टिकाल, स्थितिकाल, संहार–काल, आदि–अन्त का सब काल, विलम्बरूपी है ॥ १२ ॥ प्रसंग के अनुसार काल का नाम पड़ जाता है। यह बात अगर अनुमान से अच्छी तरह ध्यान में न आती हो तो आगे और सुनोः—

वर्षाकाल, शीतकाल, उष्णकाल, सन्तोषकाल, सुखदुःख या आनन्दकाल प्रसंगानुसार मालूम होते हैं ॥ १४ ॥ प्रातःकाल, मध्यान्हकाल, सायंकाल, वसंतकाल, पर्वकाल, कठिनकाल इत्यादि सब प्रसंगानुसार जान पड़ते हैं ॥ १५ ॥ जन्मकाल, बालकाल, तरुणकाल, वृद्धकाल, अन्तकाल और विषमकाल आदि समय के रूप हैं ॥ १६ ॥ सुकाल, दुष्काल,

प्रदोषकाल और पुण्यकाल आदि सब समय मिल कर काल कहलाता है ॥ १७ ॥ होता कुछ है और मालूम होता कुछ है-इसका नाम है विवेक-हीनता। नाना प्रकार की प्रवृत्ति के लोग प्रवृत्ति ही जानते हैं ॥ १८ ॥ प्रवृत्ति अधोमुख चलती है, निवृत्ति उच्चमुख चलती है। उच्चमुख चलने से नाना सुख होते हैं; उन्हें विवेकी ही जानते हैं ॥ १९ ॥ जहां से ब्रह्माण्ड-रचना हुई है वहां तक विवेकी दृष्टि डालता है और विवरण करते करते पूर्वापर (मूल) स्थिति को प्राप्त होता है ॥ २० ॥ जो 'प्रपञ्च' में रह कर 'परमार्थ' करता है और प्रारब्धयोग से लोगों में रहता है वह भी उसी स्थिति को प्राप्त होता है ॥ २१ ॥ सब का मूल एक ही है; पर उन्हींमें से कोई, ज्ञाता हैं कोई मूर्ख हैं। विवेक से तत्काल परलोक साधना चाहिए ॥ २२ ॥ इसीसे जन्मसार्थक होता है और दोनों तरह के लोग उसे अच्छा कहते हैं । वास्तव में मुख्य तत्व का विवेक करना चाहिए ॥ २३ ॥ जो लोग विवेकहीन हैं उन्हें पशु-समान जानो। उनका भाषण सुनने से परलोक कैसे मिल सकता है? ॥ २४ ॥ अच्छा, इससे हमारा क्या जाता है! जैसा करते हैं वैसा फल पाते हैं। जो बोते हैं वही उगता है और वही भोगते हैं! ॥ २५ ॥ आगे भी जो जैसा करेगा वह वैसा पावेगा। भक्ति योग से भगवान् मिलता है और भगवान् तथा भक्त का मेल हो जाने से अपूर्व समाधान प्राप्त होता है ॥ २६ ॥ जो मरने पर अपनी कीर्ति नहीं छोड़ जाते वे यों ही संसार में आते हैं और चले जाते हैं-चतुर होकर भूल जाते हैं-क्या बतलावें! ॥ २७ ॥ जान तो ऐसा पड़ता है कि, सभी यहां का यहीं रह जाता है; पर क्यों भाई, बतलाते क्यों नहीं हो; कौन क्या ले जाता है? ॥ २८ ॥ सांसारिक पदार्थों के विषय में उदासीनता रखना चाहिए और निश्चिन्त होकर विवेक का साधन करना चाहिए। ऐसा करने से जगदीश, जो अलभ्य है, मिलता है ॥ २९ ॥ और जगदीश लाभ के समान और कोई लाभ नहीं है: आवश्यतानुसार सब कुछ करते हुए और गृहकर्म करते हुए भी समा-धान प्राप्त होता है ॥ ३० ॥

प्राचीन समय में जनक आदि अनेक राजा, राज्य करते हुए भी, भगवान् को प्राप्त करते थे-अब भी कितने ही पुण्यश्लोक ऐसे हैं! ॥ ३१ ॥ राजा की यदि मृत्यु आवे और राजा यदि लाख करोड़ रुपये भी उसे देने कहे तो भी मृत्यु कुछ उसे छोड़ नहीं सकती ॥ ३२ ॥ ऐसा यह पराधीन जीवन है! इससे नाना दुःख, कष्ट, उद्वेग और चिन्ता आदि में कहां तक फँस रहें? ॥ ३३ ॥ अतएव, संसार की हाट लगी है इसमें ईश्वर की नफा कर लो, तभी इन कष्टों का बदला मिलेगा ॥ ३४ ॥

नववाँ समास—प्रयत्न का उपदेश।

॥ श्रीराम ॥

दुर्बल, लाचार, दरिद्री, आलसी, बहुत खानेवाला, ऋणियां, मूर्खता के कारण सब व्यस्त हैं, और कुछ भी नहीं है ॥ १ ॥ खाने को नहीं, पीने को नहीं, पहनने को नहीं; बिछाने को नहीं, ओढ़ने को नहीं, और झोंपड़ी भी नहीं; अभागी है ॥ २ ॥ सहायक नहीं, कुटुम्बी नहीं, इष्ट नहीं, मित्र नहीं, कहीं पहचानवाले भी नहीं दिखते, आश्रयरहित है और परदेशी है ॥ ३ ॥ ऐसा पुरुष क्या करे ? किसका सहारा पकड़े ? बचे या मरे ? किस प्रकार रहे ? ॥ ४ ॥ ऐसा कोई प्रश्न करता है, इसका कोई उत्तर देता है; श्रोताओं को अब सावधान होकर सुनना चाहिए:—॥ ५ ॥

छोटा बड़ा कोई भी काम हो, किये बिना नहीं होता। इस लिए हे अभागी पुरुष ! प्रयत्न कर, जिससे तू भी भाग्यवान् हो । ॥ ६ ॥ जब चित्त ही सावधान नहीं रहता और यत्न भी पूरा पूरा किये नहीं होता तब सुखसंतोष कैसे मिल सकता है ? ॥ ७ ॥ इस लिए आलस छोड़ना चाहिए, परिश्रम के साथ यत्न करना चाहिए और दुश्चित्तता को निकाल बाहर करना चाहिए ॥ ८ ॥ प्रातःकाल उठना चाहिए, प्रातःस्मरण करना चाहिए और नित्य-नियमानुसार कुछ सुभाषित भी याद करना चाहिए ॥ ९ ॥ पीछे का उधरना (Revision या मुताला) चाहिए; आगे का पाठ करना चाहिए; नियम से चलना चाहिए; और व्यर्थ बक बक न करना चाहिए ॥ १० ॥ दिशा के लिए दूर जाना चाहिए, पवित्र होकर आना चाहिए और लौटते समय कुछ न कुछ लाना चाहिए, खाली हाथ आना अच्छा नहीं है ॥ ११ ॥ धौतवस्त्र निचोड़ कर डाल देना चाहिए, पैर धोना चाहिए और फिर यथाविधि देवदर्शन और देवतार्चन करना चाहिए ॥ १२ ॥ इसके बाद कुछ फलाहार करके अपना व्यवसाय करना चाहिए और गैर-लोगों को भी अपना समझना चाहिए ॥ १३ ॥ सुन्दर अक्षर लिखना चाहिए, स्पष्ट और ठीक पढ़ना चाहिए और मनन करके मार्मिक अर्थ जानना चाहिए ॥ १४ ॥ ठीक ठीक और सुन्दर रीति से पूछना चाहिए, स्पष्ट कर के बतलाना चाहिये और अनुभव बिना न बोलना चाहिये; क्योंकि ऐसा बोलना पाप है ॥ १५ ॥ सावधानी रखनी चाहिये; नीति मर्यादा रखनी चाहिये और क्रियासिद्धि ऐसी करनी चाहिये जो लोगों को पसन्द हो ॥ १६ ॥ आये हुए का समाधान, हरिकथा, अध्यात्म-निरूपण और सदा प्रसंग देख कर बर्ताव करना चाहिये ॥ १७ ॥ ताल, घाटी, मुद्रा, अर्थ, प्रमेय, अन्वय, इत्यादि शुद्ध होने चाहिये और

गद्यपद्य आदि के दृष्टान्त शुद्ध तथा क्रमानुसार होने चाहिए ॥ १८ ॥ गाना, बजाना, नाचना, हावभाव दिखाना, सभारंजक वचन कहना, उपकथा, छन्द-प्रबन्ध, आदि ठीक होना चाहिए ॥ १९ ॥ बहुतों का समाधान रखना चाहिए, जो बहुतों को अच्छा लगे वही बोलना चाहिए और कथा में त्रुटि न पड़ने देना चाहिए ॥ २० ॥ लोगों को बहुत चिढ़ाना न चाहिए, लोगों का हृदय खोल देना चाहिए, ऐसा करने से सहज ही यश फैलता है ॥ २१ ॥ भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, योग, नाना साधनों के प्रयोग, जिनके मननमात्र से ही भवरोग दूर होता है, बताना चाहिए ॥ २२ ॥ जैसे वचन बोलना चाहिए वैसी ही चाल चलना चाहिए, इससे स्वाभाविक ही महन्तपन प्राप्त होता है ॥ २३ ॥ युक्ति-रहित चाहे जैसा अच्छा योग हो वह दुराशा का रोग है। उससे साथ में रहनेवाले लोगों को कष्ट होता है ॥ २४ ॥ अतएव, ऐसा कभी न करना चाहिए। लोगों को कष्ट न देना चाहिए और हृदय में समर्थ रघुनाथजी का चिन्तन करना चाहिए ॥ २५ ॥ उदासवृत्ति लोगों को पसन्द होती है। इसके सिवाय कथानिरूपण भी करना चाहिए और रामकथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में फैला देना चाहिए ॥ २६ ॥ जो महन्त सांगोपांग लक्षणों से युक्त है, सुन्दर लोकप्रिय गाना जानता है, उसके पास वैभव की क्या कमी है? जैसे आकाश में तारागण एकत्र रहते हैं वैसे ही, ऐसे महन्त के यहां, लोग जमा रहते हैं ॥ २७ ॥ जहां बुद्धि नहीं है वहां सारी अव्यवस्था ही रहती है। एक बुद्धि के बिना सब व्यर्थ है ॥ २८ ॥ बुद्धि का विस्तार करके ब्रह्मांड से भी बड़ा हो जाना चाहिए, ऐसी दशा में नीच अभाग्य कहां से आवेगा? ॥ २९ ॥ इतने से आशंका मिट जाती है; यत्न में बुद्धि का प्रवेश हो जाता है और अन्तःकरण में कुछ आशा भी बढ़ जाती है ॥ ३० ॥

दसवाँ समास—उत्तम पुरुष ।

॥ श्रीराम ॥

पेट भर भोजन करके बाकी अन्न बाँट देना चाहिए; व्यर्थ फेंक देना धर्म नहीं है ॥ १ ॥ उसी प्रकार ज्ञान से पहले स्वयं तृप्त हो लेना चाहिए; फिर वही ज्ञान लोगों को बताना चाहिए। तैरैया को चाहिए कि वह डूबनेवाले को डूबने न दे ॥ २ ॥ पहले स्वयं उत्तम गुण ग्रहण करना

चाहिए; और फिर वही बहुतों को बतलाना चाहिए; बिना बर्ते जो बोला जाता है वह मिथ्या है ॥ ४ ॥ स्नान-संध्या और देवार्चन करके एकान्त में जपध्यान करना चाहिए और हरिकथा तथा अध्यात्म-निरूपण करना चाहिए ॥ ४ ॥ शरीर परोपकार में लगाना चाहिए, बहुतों के काम आना चाहिए और किसी की हानि न होने देना चाहिए ॥ ५ ॥ दुःखी और पीड़ित को जानना चाहिए, यथा-शक्ति उसके काम आना चाहिए और सब से मीठे वचन बोलना चाहिए ॥ ६ ॥ दूसरे के दुःख से दुःखी और दूसरे के सुख से सुखी होना चाहिए और मृदु वचनों से प्राणिमात्र को मिला लेना चाहिए ॥ ७ ॥ बहुतों के अन्याय क्षमा करना चाहिए, बहुतों का काम करना चाहिए और गैर-लोगों को अपनाना चाहिए ॥ ८ ॥ दूसरे के मन की बात जानना चाहिए और उसी के अनुसार बर्ताव करना चाहिए तथा लोगों को नाना प्रकार से परखते रहना चाहिए ॥ ९ ॥ मित-भाषण करना चाहिए, तत्काल ही उत्तर देना चाहिए और कभी क्रोध में न आना चाहिए; क्षमारूप रहना चाहिए ॥ १० ॥ सब आलस छोड़ देना चाहिए, बहुत यत्न करना चाहिए और किसी का मत्सर न करना चाहिए ॥ ११ ॥ उत्तम पदार्थ दूसरे को देना चाहिए, शब्द सोच कर बोलना चाहिए और सावधानी के साथ अपनी गृहस्थी सम्हालना चाहिए ॥ १२ ॥ मरण का स्मरण रखना चाहिए, हरिभक्ति में तत्पर रहना चाहिए और इस प्रकार; मरने के बाद भी, अपनी कीर्ति बनी रखनी चाहिए ॥ १३ ॥ जिसका बर्ताव अच्छा होता है वह बहुतों को मालूम हो जाता है। जो सब से विनीत-भाव रखता है उसके लिए किसी बात की कमी नहीं ॥ १४ ॥ ऐसे उत्तम गुण जिसमें होते हैं वही वास्तव में पुरुष है। उसके भजन से परमात्मा तृप्त होता है ॥ १५ ॥ चाहे जितना कोई धिक्कार कर बोलता हो तो भी अपनी शांतिभंग न होने देना चाहिए। उन साधुओं को धन्य है जो दुर्जन में भी मिल कर रहते हैं; अर्थात् उसे भी अपनासा कर लेते हैं ॥ १६ ॥ जो ज्ञान, वैराग्य, आदि उत्तम गुणों से सुशोभित है उसी एक को भूमण्डल में भला जानना चाहिए ॥ १७ ॥ स्वयं कष्ट कर बहुतों का उपकार करना चाहिए और इस प्रकार अपना शरीर परोपकार में लगा कर कीर्तिरूप से संसार में अमर रहना चाहिए ॥ १८ ॥ कीर्ति की ओर देखने से सुख नहीं है और सुख की ओर देखने से कीर्ति नहीं मिलती। बिना विचार के कहीं भी समाधान नहीं है ॥ १९ ॥ दूसरे के हृदय में धक्का न लगाना चाहिए, भूल कभी न पड़ने देना चाहिए, जो क्षमाशील है उसकी प्रतिष्ठा को कभी हानि नहीं पहुँचती ॥ २० ॥ अपना हो, चाहे पराया हो—काम सब

करना चाहिए। मौके पर काम के लिए घबरा जाना अच्छा नहीं ॥ २१ ॥ यह तो प्रत्यक्ष जान पड़ता है कि, अच्छी तरह बोलने से सुख होता है। पराये को भी आत्मवत् मानना चाहिए ॥ २२ ॥ यह तो जान ही पड़ता है कि, कठिन शब्द से बुरा मालूम होता है; तिस पर भी यदि बुरा बोलें तो किस लिए? ॥ २३ ॥ अपने चिमटा लेने से कष्ट होता ही है-इसी तरह सब को समझना चाहिए ॥ २४ ॥ जिस वाणी से दूसरे को दुःख पहुँचता हो वह वाणी अपवित्र है-वह किसी समय अपना भी घात कर बैठेगी ॥ २५ ॥ जो बोया जाता है, वही उगता है, जैसा बोला जाता है वैसा ही उत्तर मिलता है, तो फिर कर्कश क्यों बोलना चाहिए? ॥२६ ॥ अपने पुरुषार्थ और वैभव से बहुतों को सुखी करना ठीक है; परन्तु किसी को कष्ट देना राक्षसी काम है ॥ २७ ॥ भगवद्गीता में १६ वें अध्याय के चौथे श्लोक में कहा है कि, दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध और कठिन वचन अज्ञान का लक्षण है ॥ २८ ॥ जो उत्तम गुणों से सुशोभित है वही महा-सज्जन है; और उसी को कितने ही आदमी ढूँढ़ते फिरते हैं ॥ २९ ॥ क्रिया बिना जो केवल शब्दज्ञान ही है वह कुत्ते का वमन है । भले आदमी उसकी तरफ कभी देखते तक नहीं हैं ॥ ३० ॥ जो पुरुष मन से भक्ति करता है और उत्तम गुणों को अवश्य ग्रहण करता है उस महापुरुष को सब लोग ढूँढ़ते चले आते हैं ॥ ३१ ॥ ऐसे महानुभाव पुरुष को समुदाय एकत्र करना चाहिए और भक्तियोग से उस देवाधिदेव परमात्मा को अपना बनाना चाहिए ॥ ३२ ॥ अपने को तो एक दिन अकस्मात मर जाना है; फिर भजन कौन करेगा, ऐसा समझ कर और भी बहुत से लोगों को भजन में लगाना चाहिए ॥ ३३ ॥ हमारी तो यह प्रतिज्ञा है कि, शिष्यों से और कुछ न मांगे; सिर्फ इतना मांगे कि, भाई, हमारे मरने पर तुम लोग जगदीश का भजन करते रहना! ॥ ३४ ॥ अतएव, बड़े उत्साह के साथ समुदाय एकत्र करना चाहिए और हाथोंहाथ देवाधिदेव को प्रसन्न कर लेना चाहिए ॥ ३५ ॥ अब समुदाय के लिए दो बातों की आवश्यकता है; श्रोता लोग सावधानी के साथ इस जगह मन लगावें! ॥ ३६ ॥ जिस युक्ति से बहुतों में भक्ति आती है वह प्रत्यक्ष प्रबोधशक्ति (समझाने को ताकत) है। बहुतों का मन अपने हाथ में लेना चाहिए ॥ ३७ ॥ पीछे जो उत्तम गुण बतलाये गये वे तो होना ही चाहिए; पर प्रबोधशक्ति (उपदेश देने का बल) उन सब से अधिक आवश्यक है ॥ ३८ ॥ दूसरी बात यह है कि, जो बोलने के अनुसार चलता है, और पहले स्वयं करके फिर बतलाता है, उसकी बातें सभी लोग सत्य मानते हैं ॥ ३९ ॥ जो बातें लोगों को पसन्द नहीं हैं वे बातें लोग मानते ही

नहीं-और अकेला आदमी कर ही क्या सकता है? ॥ ४० ॥ इस लिए साथी होने चाहिए, थोड़ा थोड़ा उन्हें सिखाना चाहिए और धीरे धीरे विवेक से पार लगाना चाहिए ॥ ४१ ॥ परन्तु ये विवेक के काम हैं-इनको विवेकी ही ठीक ठीक कर सकता है, अन्य लोग तो विचारे भ्रम से झगड़ने ही लगते हैं ॥ ४२ ॥ बिना सेना के बहुतों से अकेला लड़ना कैसे हो सकता है? इस कारण बहुतों को राजी रखना चाहिए ॥ ४३ ॥

तेरहवाँ दशक !



पहला समास—आत्मानात्म-विवेक ।

॥ श्रीराम ॥

आत्मा और अनात्मा का विवेक करना चाहिए, करके अच्छी तरह मनन करना चाहिए; और मनन कर के दृढ़तापूर्वक जी में धरना चाहिए ॥ १ ॥ आत्मा कौन है और अनात्मा कौन है, इसका निरूपण अब साव-धान होकर सुनोः—॥ २ ॥ पुराणों के कथनानुसार चार खानि, चार वाणी, और चौरासी लाख जीव संसार में बरत रहे हैं ॥ ३ ॥ इस सृष्टि में अपार, नाना प्रकार के, शरीर दिखते हैं। अब, यह निश्चय करना चाहिए कि उनमें आत्मा कौन है ॥ ४ ॥ वह प्रत्यक्ष दृष्टि से देखता है, श्रवण में सुनता है, रसना में स्वाद लेता है ॥ ५ ॥ घ्राण में वास लेता है, सर्वांग में छूता है और वाचा में शब्द का ज्ञान करता है ॥ ६ ॥ वह सावधान रह कर चञ्चल है और अकेला ही, इन्द्रियों-द्वारा, चारों ओर, सारी हलचल मचा रहा है ॥ ७ ॥ जो पैर चलाता है, हाथ हिलाता है, भौंह सिकोड़ता है, आंख फिराता है और संकेत-लक्षण बतलाता है, वही आत्मा है ॥ ८ ॥ जो ढिठाई करता है, लजाता है, खुजलाता है, खाँसता है, ओंकता है, थूँकता है और भोजन करता तथा पानी पीता है वही आत्मा है ॥ ९ ॥ जो मलमूत्र त्याग करता है, सम्पूर्ण शरीर को सम्हा-लता है और प्रवृत्ति-निवृत्ति का विचार करता है वही आत्मा है ॥ १० ॥ जो सुनता है, देखता है, सूंघता है, चखता है, नाना प्रकार से पहचानता है, सन्तोष पाता है और डरता है वही आत्मा है ॥ ११ ॥ जो आनन्द, विनोद, उद्वेग, चिन्ता, काया, छाया, माया, ममता और जीवन-समय में नाना व्यथा पाता है वही आत्मा है ॥ १२ ॥ जो पदार्थ की आस्था रखता है, लोगों में बुरा-भला करता है, अपनों को रखता है और परायों को मारता है वही आत्मा है ॥ १३ ॥ युद्ध के समय में दोनों दलों के अनेक शरीरों में जो छाया रहता है और जो परस्पर में मरता, गिरता और मार गिराता है वही आत्मा है ॥ १४ ॥ वह आता है, जाता है, देह में बर्तता है, हँसता है, रोता है, पछ-ताता है, उद्योग के अनुसार धनवान् और गरीब होता है ॥ १५ ॥

जो डरपोंक होता है, बलवान् होता है, विद्यावान् होता है, मूढ़ होता है, न्यायवन्त होता है और उद्धट होता है वही आत्मा है ॥ १६ ॥ जो धीर, उदार, कृपण, पागल, विचक्षण, उच्छृंखल, सहनशील होता है वही आत्मा है ॥ १७ ॥ जो विद्या-कुविद्या दोनों में आनन्दरूप से छाया रहता है; जहां देखो वहां, सब ओर, जो दिखता है वही आत्मा है ॥ १८ ॥ जो सोता है, उठता है, बैठता है, चलता है, दौड़ता है, डोलता है, निहुरता है; और साथी-सलाही बनाता है वही आत्मा है ॥ १९ ॥ जो पोथी पढता है, अर्थ बतलाता है, ताल धरता है, गाने लगता है, वादविवाद करता है वही आत्मा है ॥ २० ॥ जब देह में आत्मा नहीं रहता तब वह मुर्दा हो जाती है। आत्मा देह के साथ से सब कुछ करती है ॥ २१ ॥ एक के बिना एक बेकाम है; शरीर और आत्मा दोनों के संयोग से सब व्यापार चलता है ॥२२॥ देह अनित्य है, आत्मा नित्य है-वही नित्य-अनित्य का विवेक है। उस सूक्ष्म का सम्पूर्ण वृत्तान्त ज्ञानी जानते हैं ॥ २३ ॥ पिंड में देहधर्ता या देही जीव है; ब्रह्मांड में देही शिव है और ईश्वर तनुचतुष्टय में देही ईश्वर है ॥ २४ ॥ त्रिगुण से परे जो "अर्धनारी-नटेश्वर" ईश्वर है उसीसे सारी सृष्टि का विस्तार हुआ है ॥ २५ ॥ अच्छी तरह से विचार करने से जान पड़ता है कि, वहां स्त्री पुरुष कुछ नहीं है; कुछ थोड़ा चंचलरूप सा जान पडता है ॥ २६ ॥ आदि से लेकर अन्त तक-ब्रह्मा-विष्णु-महेश से लेकर चींटी तक--सब देहधारी ही हैं। यह नित्यानित्य का विवेक चतुरों को जानना चाहिए ॥ २७ ॥ जितना कुछ जड़ है सब अनित्य है; और जितना कुछ सूक्ष्म है सब नित्य है—इसमें भी जो नित्य-अनित्य है वह आगे कहा है ॥ २८ ॥ विवेक से इस स्थूल और सूक्ष्म दोनों को लांघ जाते हैं; कारण-महाकारण को भी छोड़ देते हैं; और विराट् तथा हिरण्यगर्भ तक का खण्डन कर डालते हैं ॥ २९ ॥ इसके बाद अव्याकृत और मूलप्रकृति में जाकर वृत्ति बैठती है; अब इस वृत्ति की भी निवृत्ति होने के लिए अध्यात्म-निरूपण सुनना चाहिए ॥ ३० ॥ यहां जो आत्म-अनात्म-विवेक बतलाया गया उससे चंचल आत्मा प्रत्यय में आ जाती है। अब अगले समास में सार-असार-विचार बतलाया गया है ॥ ३१ ॥

दूसरा समास—सारासार-विचार।

॥ श्रीराम ॥

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का जो आड़म्बर देख पड़ता है उसमें कौन सार है और कौन असार है—सो पहचानना चाहिए ॥ १ ॥ जो कुछ देख पड़ता है वह नाश होता है और जो आता है वह जाता है; अब सार उसीको जानना चाहिए जो सदा बना ही रहता है ॥ २ ॥ पिछले समास में जो आत्मानात्म–विवेक बतलाया गया उसमें अनात्मा को पहचान कर छोड़ दिया; और आत्मा को जानने से मूल का पता लग गया ॥ ३ ॥ परन्तु उस मूल में जो वृत्ति रह जाती है उसकी भी निवृत्ति होनी चाहिए; इसके लिए श्रोताओं को सारासार का विचार अच्छी तरह करना चाहिए ॥ ४ ॥ नित्यानित्य–विवेक किया और आत्मा को नित्य ठहराया; परन्तु उस निराकार में भी निवृत्तिरूप से हेतु (निवृत्त होने की भावना) बना रहता है ॥ ५ ॥ यह 'हेतु' भी चंचल है; वास्तव में निश्चल निर्गुण है। सारासार के विचार से इस चंचल (आत्मभावना) का भी निरसन हो जाता है ॥ ६ ॥ यह नश्वर है; इसी लिए चंचल है। वह शाश्वत है; इसी लिए निश्चल है। निश्चल के तईं चंचल अवश्य ही उड़ जाता है ॥ ७ ॥ ज्ञान और उपासना दोनों को एक ही समझो। उपासना से लोगों का, जगत् का, उद्धार होता है ॥ ८ ॥ द्रष्टा, साक्षी, ज्ञाता, ज्ञानघन, चैतन्य और जिसकी सब पर सत्ता है वह, सब ज्ञानस्वरूप परब्रह्म ही है। अच्छी तरह विचार करो ॥ ९ ॥ परन्तु उस ज्ञान का भी विज्ञान हो जाता है। अनेकों मतों का अच्छी तरह विचार करो। जितना कुछ चंचल है वह सब नाश हो जाता है ॥ १० ॥ जिसके मन में अभी तक यह सन्देह बना हुआ है कि, नाशवंत नाश होगा या नहीं, वह पुरुष सहसा ज्ञान का अधिकारी नहीं हो सकता ॥ ११ ॥ नित्य का निश्चय हो जाने पर भी यदि संदेह बना रहा तो समझ लो कि, वह महा मृगजल में बह रहा है ! ॥ १२ ॥ परब्रह्म का क्षय नहीं है वह अक्षय्य है, वह सर्वव्यापी है, उस निर्विकार में 'हेतु' या संदेह कुछ नहीं है ॥ १३ ॥ वह बहुत बड़ा और सघन है; आदि मध्य और अन्त में भी वह अचल, अटल, पूर्ण और जैसा का तैसा बना रहता है ॥ १४ ॥ देखने में वह गगन का सा है; गगन से भी अधिक सघन है। उसमें अंजन (मल, तम या अनित्यता) नहीं है—वह निरंजन है और सदा एकसा प्रकाशित रहता है ॥ १५ ॥ चर्मचक्षु और ज्ञानचक्षु आदि तो सभी पूर्व-पक्ष हैं। निर्गुण वास्तव में अलक्ष है-लखा नहीं जा सकता ॥ १६ ॥ सर्व-

संग-परित्याग के बिना कुछ परब्रह्म नहीं हो सकते। मौन्यगर्भ (ब्रह्म) को संगत्याग करके देखना चाहिए ॥ १७ ॥ निरसन करने से सारा निकल जाता है—जितना कुछ चंचल है सब निकल जाता है-निश्चल परब्रह्म रह जाता है; वही सार है ॥ १८ ॥ आठवें देह (मूलमाया) तक का निरसन हो जाता है। साधु लोग कृपापूर्वक मुक्ति का उपाय बतलाते हैं ॥ १९ ॥ "सोऽहं हंसः" (वह परब्रह्म मैं हूं) "तत्त्वमसि" (वह तू है)—यह स्थिति, विवेक से सहज ही प्राप्त होती है ॥ २० ॥ ऐसा पुरुष ऊपर ऊपर से तो साधकसा देख पड़ता है; परन्तु भीतर से परब्रह्म हो जाता है, इससे वृत्ति भी नहीं रहती। सारासार-विचार का यही फल है ॥ २१ ॥ वह परब्रह्म न तपता है, न सिराता है, न उजला होता है, न काला होता है और न मैला होता है, न साफ होता है ॥ २२ ॥ वह न भींगता है, न सूखता है, न बुझता है, न जलता है और उसे कोई ले जा नहीं सकता ॥ २३ ॥ वह न दिखता है, न भासता है, न उपजता है, न नष्ट होता है, न आता है, न जाता है ॥ २४ ॥ वह सन्मुख ही है; चारों ओर है, उसके तई दृश्यभास नहीं रहता—ऐसे निर्विकार ब्रह्म में जो लीन होता है वह साधु धन्य है ! ॥ २५ ॥ जो निर्विकल्प, अर्थात् कल्पनातीत है वही सत्-स्वरूप है, और बाकी सब असत् या भ्रमरूप हैं ॥ २६ ॥ जो खोटा छोड़ कर खरा लेता है वही परीक्षावंत कहाता है। असार छोड़ कर सार को, उस परब्रह्म को, लेना चाहिए ॥ २७ ॥ जानते जानते जानपन लीन हो जाता है और अपनी भी वृत्ति तद्रूप हो जाती है—इसीका नाम है आत्म-निवेदिनी भक्ति ॥ २८ ॥ वाच्यांश से भक्ति-मुक्ति बोलना चाहिए, लक्ष्यांश से तद्रूता का अनुभव करना चाहिए। मनन करते करते जब 'हेतु' न रहे उसी अवस्था को तद्रूपता कहते हैं ॥ २९ ॥ सद्रूप, चिद्रूप, तद्रूप, और स्वस्वरूप—स्वस्वरूप अर्थात् अपना रूप, और अपना रूप अर्थात् अरूप यही दशा तत्त्व-निरसन के बाद होती है ॥ ३० ॥

तीसरा समास—उत्पत्ति निरूपण।

॥ श्रीराम ॥

ब्रह्म घना और निराकार है। आकाश से भी अधिक विशाल, निर्मल, निश्चल और निर्विकारी है ॥ १ ॥ बहुत समय तक ऐसा ही रहने के बाद वहां से भूगोल का आरम्भ होता है। अब उस भूगोल का मूल

सावधान होकर सुनोः—॥ २ ॥ निश्चल परब्रह्म में चञ्चल संकल्प उठता है; उसीको आदिनारायण, जगदीश्वर, मूलमाया, तथा षड्गुणैश्वर्यसम्पन्न भगवान् कहते हैं। अष्टधा प्रकृति उसीमें रहती है ॥ ३ ॥ ४ ॥ उसके बाद गुणक्षोभिणी होती है, वहीं त्रिगुण जन्म लेते हैं, वहां से ओंकार की उत्पत्ति होती है ॥ ५ ॥ अकार, उकार और मकार तीनों मिल कर ओंकार होता है। इसके बाद पंचभूतों का विस्तार होता है ॥ ६ ॥ अन्तरात्मा को आकाश कहते हैं, उससे वायु का जन्म होता है और वायु से तेज का जन्म होता है ॥ ७ ॥ वायु की रगड़ से अग्नि की उत्पत्ति होती है। उसमें फिर सूर्यबिम्ब प्रकट होता है ॥ ८ ॥ शीतल वायु से जल उत्पन्न होता है, जल जम कर पृथ्वी होती है ॥ ९ ॥ पृथ्वी में अनन्त कोटि बीजों की जातियां होती हैं; पृथ्वी और पानी का मेल होने पर उन बीजों से अंकुर निकलते हैं ॥ १० ॥ अनेक प्रकार की बेलें होती हैं; पत्र-पुष्प होते हैं, अनेक प्रकार के स्वादिष्ट फल होते हैं ॥ ११ ॥ नाना रंग के रसीले पत्र, पुष्प, फल, मूल, धान्य, अन्न, इत्यादि होते हैं ॥ १२ ॥ अन्न से रेत (वीर्य) होता है, रेत से प्राणी उत्पन्न होते हैं—सो प्रत्यक्ष सब को मालूम ही है ॥ १३ ॥ अण्डज, जारज, स्वेदज, उद्भिज सब का बीज पृथ्वी और पानी है; यही सृष्टिरचना का अद्भुत चमत्कार है ॥ १४ ॥

इस प्रकार चार खानि, चार वाणी, चौरासी लाख जीवयोनि, तीन लोक, पिण्ड, ब्रह्माण्ड सब निर्मित होते हैं ॥ १५ ॥ यों तो सम्पूर्ण अष्टधा प्रकृति मूलमाया ही में होती है; परन्तु पानी का पृथ्वी से संयोग होने पर सब जड़ और चेतन जीव प्रकट होते हैं। यदि पानी न हो तो सब प्राणी मर जायँ ॥ १६ ॥ इस कथन में कोई सन्देह नहीं। वेद, शास्त्र और पुराणों से इसका विश्वास कर लेना चाहिए ॥ १७ ॥ जिस पर विश्वास न आवे उस सन्देहयुक्त बात का ग्रहण न करना चाहिए। विश्वास के बिना कोई व्यवहार नहीं होता ॥१८॥ प्रवृत्ति हो, चाहे निवृत्ति हो—दोनों के व्यवहार में प्रतीति चाहिए। प्रतीति के बिना जो सन्देह में पड़े रहते हैं वे विवेकहीन हैं। १९ ॥

इस प्रकार यह सृष्टिरचना का विस्तार संक्षेप से बतलाया; अब इस विस्तार का संहार सुनो ॥ २० ॥ आदि से लेकर अन्त तक जो कुछ होता है सब आत्माराम ही करता है और वही यथायोग्य इसकी व्यवस्था भी करता है ॥ २१ ॥ अब आगे प्रलय का निरूपण सुनना चाहिए। यहां पर यह समास पूर्ण होता है ॥ २२ ॥

चौथा समास प्रलय-निरुपण !

॥ श्रीराम ॥

शास्त्रों में कहा है कि, पृथ्वी का अन्त हो जाता है और सम्पूर्ण भूत नष्ट हो जाते हैं॥ १ ॥ सौ वर्ष तक अनावृष्टि रहती है, इससे सम्पूर्ण सृष्टि जल जाती है और पृथ्वी में ऐसी दरारें पड़ जाती हैं कि, उनमें पर्वत तक समा जाते हैं॥ २ बारह कलाओं करके सूर्यमण्डल तपता है; किरणों से ज्वालाएं निकलती हैं; सौ वर्ष तक सम्पूर्ण भूगोल जलता रहता है ॥ ३ ॥ वसुंधरा सिन्दूरवर्ण हो जाती है, शेषनाग ज्वालाओं से जल कर वेग से विष वमन करता है ॥ ४ ॥ उस विष की जो लपटें छूटती हैं उनसे सातों पाताल जलते हैं। इस प्रकार पाताल लोक भी महापावक में भस्म होते हैं ॥ ५ ॥ इसके बाद महाभूत सन्तप्त होते हैं; प्रलय-वात छूटते हैं और चारों ओर प्रलयाग्नि बढ़ता है ॥ ६ ॥ ग्यारह रुद्र कुपित होते हैं, बारह सूर्य कड़कड़ा कर फटते हैं और प्रलयकाल में जितने अग्नि हैं, सब एकत्र होते हैं॥ ७ ॥ वायु और बिजलियों की चोट से सारी पृथ्वी फट जाती है और उसकी सघनता चारों ओर छिन्न-भिन्न हो जाती है ॥ ८ ॥ वहां मेरु की क्या गिनती है? कौन किसको सँभालता है? चन्द्रसूर्य और तारागणों की थकिया बंध जाती है! ॥ ९ ॥ पृथ्वी अपना वीर्य (काठिन्य) छोड़ देती है; सारी पृथ्वी दगदगाने लगती है और इस प्रकार यह ब्रह्माण्ड-भट्ठी एकदम जल जाती है ॥ १० ॥

इसके बाद खूब वृष्टि होती है और पृथ्वी जल में लय हो जाती है ॥ ११ ॥ जैसे भुना हुआ चूना जल में गल जाता है उसी प्रकार पृथ्वी भी फिर नहीं ठहरती। अपनी कठिनता छोड़ कर तुरन्त ही जल में मिल जाती है ॥ १२ ॥ शेष, कूर्म, वाराह के नष्ट हो जाने से पृथ्वी का आधार चला जाता है और वह अपना सत्त्व छोड़ कर जल में मिल जाती है ॥ १३ ॥ प्रलयमेघ उमड़ते हैं; बड़ी घोर आवाज से गर्जते हैं, बिजलियां अखण्ड रीति से कड़कड़ाती हैं; कोलाहल मच जाता है! ॥ १४ ॥ पर्वत के से ओले गिरते हैं, पर्वत उड़ा देनेवाली हवा चलती है, ऐसा निबिड़ अन्धकार छा जाता है कि, जिसकी उपमा ही नहीं ॥ १५ ॥ सम्पूर्ण नदियां और समुद्र एक हो जाते हैं· मानो आकाश से ही नदियां गिर रही हैं; सम्पूर्ण धाराएं मिल जाती हैं; अन्तर नहीं रहता; पानी ही पानी हो जाता है! ॥ १६ ॥ उसमें पर्वत के समान मच्छ, कूर्म और सर्प गिरते हैं, गर्जना होते ही जल में जल मिल जाता है ॥ १७ ॥ सातों समुद्र 'आवरण' में मिल जाते हैं; 'आवरण' का घेरा टूट जाता है, सब जल-

मय होने बाद प्रलयपावक प्रबल होता है ॥ १८ ॥ ब्रह्माण्ड के समान तप्त लोहा जैसे जल के समूह को सोख ले वैसा हो हाल उस जल का होता है ॥ १९ ॥ अर्थात् सम्पूर्ण पानी सूख जाता है और उसके बाद फिर अग्नि ही अग्नि छा जाता है; उस अग्नि को प्रलयःवात मारता है ॥ २० ॥ जैसे अञ्चल डुलाने से दीपक बुझ जाता है वैसे ही प्रलयपावक भी बुझ जाता है! इसके बाद असम्भवनीय वायु प्रबल होती है ॥ २१ ॥ परन्तु बहुत विस्तृत पोलेपन में वह वायु भी लय हो जाती है और इस प्रकार यह सम्पूर्ण पञ्चभूतात्मक पसारा समाप्त हो जाता है ॥ २२ ॥ मूलमाया, जो महद्भूत है, वह भी अपने में ही भूल कर लय हो जाती है! इस प्रकार सम्पूर्ण पदार्थमात्र के रहने को ठौर नहीं रहता ॥ २३ ॥ सम्पूर्ण दृश्य जगत् को प्रलय खा जाता है। जड़ और चञ्चल सब का लय हो जाता है और शाश्वत परब्रह्म रह जाता है ॥ २४ ॥

पाँचवाँ समास—सृष्टि की कहानी।

॥ श्रीराम ॥

कोई दो उदासी साधु पृथ्वी पर्यटन करते थे। उन्होंने मनोरंजन के लिए एक कहानी छेड़ दी ॥ १ ॥ उन दो में से एक श्रोता हुआ; दूसरा वक्ता बना। श्रोता वक्ता से कहता है कि, "भाई, कोई अच्छी सी कहानी तो सुनाओ"। वक्ता कहता है, "अच्छा, सावधान होकर सुनोः—॥ २ ॥ 'कोई एक स्त्री-पुरुष (प्रकृति-पुरुष) थे; दोनों में बड़ा प्रेम था। वे सदा एक साथ रहते और कभी अलग न होते थे ॥ ३ ॥ इस प्रकार कुछ समय के बाद उनके एक लड़का[1] हुआ। वह लड़का अच्छा कार्यकर्ता और सब विषयों में चतुर था ॥ ४ ॥ कुछ दिनों के बाद उसके भी पुत्र[2] हुआ, वह पिता से भी अधिक उद्योगी निकला। व्यापकता में वह अपने पिता से आधा चतुर[3] हुआ ॥ ५ ॥ उसने बहुत बड़ा व्यवसाय फैलाया—बहुत कन्या-पुत्र (तमाम सृष्टि) पैदा किये और नाना प्रकार से बहुत लोग इकट्ठे

---

१ सत्त्वगुणात्मक चेतनरूप प्रतिपालक विष्णु। २ रजोगुणी चेतन अचेतन-मिश्रित उत्पत्ति-कर्ता ब्रह्मा। ३ 'आधा चतुर' इस लिए कि ब्रह्मा में आधा भाग चेतन का और आधा अचेतन का है। ४ तमोगुणी अचेतनरूप संहारक महेश।

किये ॥ ६ ॥ उसका जेठा लड़का अज्ञान और क्रोधी हुआ; जरा सा भूलने से खूब करने संहार लगा ॥ ७ ॥ पिता (मूलपुरुष) चुप ही बैठा रहा, लड़के (विष्णु) ने बहुत व्यवसाय किया; यह जेठा पुत्र सर्वज्ञ, चतुर और बहुत अच्छा हुआ ॥ ८ ॥ नाती (ब्रह्मा) उस का आधा जानता है, पनती (शंकर) कुछ भी नहीं जानता है, भूलने पर संहार करता है और महा क्रोधी है ॥ ९ ॥ लड़का सब का पालन करता है, नाती बराबर वृद्धि करता है और पनती अकस्मात्, भूलने पर, संहार करता है ॥१०॥ इस प्रकार वंश बढ़ता है, बहुत ही विस्तार होता है और आनन्द के साथ बहुत समय व्यतीत होता है ॥ ११ ॥ अनन्त विस्तार बढ़ता है, बड़ों को कोई नहीं मानता, आपस में विरोध बढ़ता है ॥ १२ ॥ घर ही घर में बड़ा भारी झगड़ा मचता है; इससे बहुत संहार होता है, बड़ों बड़ों में बैर होता है, सब निरंकुश हो जाते हैं ! ॥ १३ ॥ इसके बाद, जैसे उन्मतत्ता के कारण यादवों का नाश हुआ वैसे ही अज्ञानता के कारण उन सब का नाश हो जाता है ॥ १४ ॥ सब का सत्यानाश हो जाता है—कन्या, पुत्र, इत्यादि किसी का नाम-निशान भी नहीं बचता ' ! ॥ १५ ॥ इस कहानी का जो मनन करता है वह जन्म-मृत्यु से मुक्त हो जाता है; इसकी प्रतीति से श्रोता वक्ता दोनों धन्य होते हैं ॥ १६ ॥ ऐसी विचित्र कहानी बहुत बार होती जाती है—इतना कह कर वे गोस्वामी चुप हो जाते हैं ॥ १७ ॥

यह कहानी सब को अपने हृदय में रख कर बार बार मनन करना चाहिए ॥ १८ ॥ भूलते-बिसरते, संक्षिप्त रीति से, इतना बतलाया गया; न्यूनाधिक के लिए श्रोताओं को क्षमा करना चाहिए ॥ १९ ॥ जो पुरुष ऐसी कहानी विवेक से सदा सुनते हैं, 'दास कहता है' कि, वे ही पुरुष जगत् का उद्धार करते हैं ॥ २० ॥ उस जगदुद्धार के लक्षणों का विवरण करना चाहिए। सार वस्तु ढूंढ़ कर लोगों के सन्मुख रख देना ही निरूपण है ॥ २१ ॥ निरूपण का श्रद्धापूर्वक विचार करना चाहिए; अनेक गुप्त तत्त्वों को समझना चाहिए और समझते समझते निस्सन्देह बनना चाहिए ॥ २२ ॥ आठों देहों का विवरण करके देखने से सहज ही निस्सन्देहता प्राप्त होती है और अखंड निरूपण से समाधान होता है ॥ २३ ॥ जहां तत्त्वों का गड़बड़ है वहां शांति कहां से मिल सकती है? इस कारण सब को इस गड़बड़ से दूर रहना चाहिए ॥ २४ ॥ इस सूक्ष्म संवाद को बार बार मनन करना चाहिए। अब, अगले समास में सावधान होकर लघुबोध सुनो ॥ २५ ॥

छठवाँ समास—लघुबोध* ।

॥ श्रीराम ॥

पहले पञ्चतत्त्वों के नामों का अभ्यास करना चाहिए; फिर, अपने अनुभव से उनका रूप जानना चाहिए ॥ १ ॥ इसके बाद इस बात का निश्चय करना चाहिए कि, शाश्वत क्या है और अशाश्वत क्या है ॥ २ ॥ पञ्चभूतों का विचार, उनके नामरूप और सारासार का निश्चय यहां बतलाया जाता है सो सावधान होकर सुनोः—॥ ३ ॥ पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाश नाम के पाँच भूत हैं। अब इनका रूप सुनना चाहिए ॥ ४ ॥ पृथ्वी कहते हैं धरती को, आप कहते हैं पानी को और अग्नि, सूर्य, तथा अन्य जो सतेज पदार्थ हैं, उन्हें तेज कहते हैं ॥ ५ ॥ वायु हवा को कहते हैं; और इस सारे पोलेपन को आकाश कहते हैं। अब इनमें जो शाश्वत हो उसे अपने मन में विचारो ॥ ६ ॥ जैसे भात का एक सीत टटोलने से सब का मर्म मालूम हो जाता है वैसे ही थोड़े अनुभव से बहुत जानना चाहिए ॥ ७ ॥ यह तो प्रत्यक्ष मालूम है कि, पृथ्वी बनती और बिगड़ती है; सृष्टि में नाना प्रकार की रचना होती जाती है ॥ ८ ॥ और जो बनता है वह बिगड़ता है; आप (जल) का भी नाश हो जाता है, तेज भी प्रगट होकर बुझ जाता है और वायु भी नहीं रहता ॥ ९ ॥ अवकाश (आकाश) नाममात्र के लिए है; सो भी, विचार करने से, नहीं रहता। पञ्चभौतिक कभी नहीं रह सकता ॥ १० ॥ ऐसा पांच भूतों का विस्तार है; यह निश्चयपूर्वक नाशवंत है। निराकार आत्मा को सत्य और शाश्वत जानना चाहिए ॥ ११ ॥ वह आत्मा किसीको मालूम नहीं होती; बिना ज्ञान के उसका आकलन नहीं होता; इस लिए उसे संतजनों से पूँछना चाहिए ॥ १२ ॥ सज्जनों से पूँछने पर वे कहते हैं कि, वह अविनाशी है। आत्मा के लिए जन्म-मृत्यु का नाम ही न लेना चाहिए ॥ १३ ॥ निराकार में आकार भासता है और आकार में निराकार भासता है—निराकार और आकार विवेक से पहचानना चाहिए ॥ १४ ॥ निराकार को नित्य और आकार को अनित्य जानना चाहिए; इसीको नित्य-अनित्य का विचार कहते हैं ॥ १५ ॥ सार में असार भासता है और असार में सार भासता है—सारासार का विचार खोज कर देखना चाहिए ॥ १६ ॥ पञ्चभौतिक मायिक है; पर अनेक रूपों से भासता है और आत्मा

* कहते हैं कि श्रीसमर्थ रामदास स्वामी ने श्रीमान् छत्रपति शिवाजी महाराज को शिंगणवाड़ी में यह लघुबोध किया।

एक सर्वव्यापी है ॥ १७ ॥ चारों भूतों में जैसे आकाश व्याप्त है वैसे ही गगन में भी सघन (परब्रह्म) व्याप्त है। विचारपूर्वक देखने से आकाश और 'वस्तु' (परब्रह्म) अभिन्न दिखते हैं ॥ १८ ॥ उपाधि के योग से ही आकाश है, यदि उपाधि न हो तो आकाश क्या है? वह निराभास है--और निराभास ही अविनाशी है-वैसा ही आकाश है ॥ १९ ॥

अस्तु। अब यह विवेचना बस करो। परन्तु जिसका नाश न देख पड़ता हो वही विवेक से अनुमान में लाना चाहिए ॥ २० ॥ यह विचार मुख्य जानना चाहिए कि, परमात्मा निराकार है। अब यह विचार करना चाहिए कि, 'हम' कौन हैं ॥ २१ ॥ देहान्त के समय वास्तव में वायु चली जाती है। अगर इसे झूठ समझो तो अभी श्वासोश्वास रोक कर देख लो! ॥ २२ ॥ श्वास रोकने से देहपात होता है; देहपात होते ही मुरदा हो जाता है। मुरदे से कर्तृत्व कभी नहीं हो सकता ॥ २३ ॥ देह बिना वायु के कुछ नहीं कर सकती, वायु बिना देह कुछ नहीं कर सकती। विचार करने से जान पड़ता है कि, एक के बिना एक कुछ नहीं कर सकता ॥ २४ ॥ यों ही देखने पर मनुष्य दिखता है, विचार करने से कुछ भी नहीं है-है वही 'वस्तु'-इस प्रकार अभेद भक्ति का लक्षण पहचानना चाहिए ॥ २५ ॥ यदि हम अपने को कर्ता कहते हैं तो हमारी इच्छा ही के अनुसार सब होना चाहिए; पर ऐसा नहीं होता; अतएव अपने को कर्ता कहना व्यर्थ है ॥ २६ ॥ और जब हम कर्ता ही नहीं हैं तब भोक्ता कैसे हो सकते हैं? यह विचार की बात अविचार से नहीं मालूम हो सकती ॥ २७ ॥ अविचार और विचार ऐसे हैं जैसे प्रकाश और अंधकार! विकार और निर्विकार एक नहीं हो सकते ॥ २८ ॥ जहां विचार नहीं है वहां कुछ भी नहीं चलता--सच बात ही कदापि अनुमान में नहीं आती ॥ २९ ॥ अनुभव को न्याय और बे-अनुभव को अन्याय कहते हैं। जन्मान्ध पुरुष रत्नों की परीक्षा कैसे कर सकता है? ॥ ३० ॥ इस लिए ऐसे ज्ञाता को धन्य कहना चाहिए, जो निर्गुण में अनन्य रहता है। वह परमपुरुष, आत्मनिवेदन के कारण, सब को मान्य होता है ॥३१॥

सातवाँ समास—अनुभव का विचार।

॥ श्रीराम ॥

वह निर्मल, निश्चल और निराभास है। उसे आकाश का दृष्टान्त दिया जाता है। जो यह अवकाश या पोलापन फैला हुआ है उसीको आकाश कहते हैं ॥ १ ॥ पहले अवकाश है फिर उसमें सब पदार्थ हैं—(पहले आकाश, फिर उसमें या—उससे—बाकी चार भूत हैं।) अनुभव से देखने पर यह यथार्थ है; पर बिना अनुभव के सब कुछ व्यर्थ है ॥ २ ॥ ब्रह्म निश्चल है और आत्मा चंचल है। आत्मा को वायु का दृष्टान्त दिया जा सकता है ॥ ३ ॥ घटाकाश ब्रह्म का दृष्टान्त है, घटबिंब (आकाश में) आत्मा का दृष्टान्त है। विवरण करने से दोनों का अर्थ अलग अलग है ॥ ४ ॥ जितना होता है उसे भूत कहते हैं—और जितना होता है वह सब नाश होता है। चंचल आता है और चला जाता है; यह जानना चाहिए ॥ ५ ॥ अविद्या जड़ है, आत्मा चंचल है। जड़ (अविद्या) कपूर है और आत्मा अनल (अग्नि) है—दोनों जल कर तत्काल बुझ जाते हैं ॥ ६ ॥ ब्रह्म और आकाश निश्चल जाति के हैं, आत्मा और वायु चंचल जाति के हैं—खरे खोटे की पहचान परीक्षावान् करते हैं ॥ ७ ॥ जड़ अनेक है, आत्मा एक है—यही आत्म-अनात्म का विवेक है। जो जगत् का व्यापार चलाता है उसे जगन्नायक कहते हैं ॥ ८ ॥ जड़ अनात्मा है, चेतन आत्मा है और सब में जो वर्तता है वह सर्वात्मा है—सब मिल कर चंचलात्मा है—यह निश्चल नहीं है ॥ ९ ॥ परब्रह्म निश्चल है—वहां दृश्य भ्रम नहीं है। विमल ब्रह्म निर्भ्रम है—अचल है ॥ १० ॥ पहले आत्मा—अनात्मा का विवेक मुख्य है, फिर, इसके बाद, सारासार—विचार करना चाहिए। सारासार-विचार से प्रकृति का संहार हो जाता है ॥ ११ ॥ विचार से प्रकृति का संहार हो जाता है—दृश्य रहते हुए भी नष्ट हो जाता है और अध्यात्म-श्रवण से अन्तरात्मा निर्गुण में संचार करता है ॥ १२ ॥ चढ़ता हुआ अर्थ लगाने से अन्तरात्मा चढ़ते ही जाता है और उतरे हुए अर्थ से भूमंडल में उतर आता है ॥१३॥ अर्थ के अनुसार आत्मा हो जाता है; जिधर ले जाओ उधर जाता है। अनुमान से वह कभी कभी संदेह में भी पड़ता है ॥ १४॥ यदि निस्सन्देह अर्थ चलता है तो आत्मा भी निस्संदेह हो जाता है और अनुमान-अर्थ से अनुमानरूप हो जाता है ॥१५॥ नवरसिक अर्थ होने से श्रोता नवरसिक हो हो जाते हैं और कुअर्थ होने से सब श्रोता भी कुअर्थी हो जाते हैं ॥ १६ ॥ जैसा जैसा संग होता है वैसा ही वैसा गिर्दान का रंग भी बदलता जाता है। इस लिए उत्तम मार्ग देख कर चलना चाहिए ॥ १७ ॥

उत्तम भोजनों का बखान करने से मन भी भोजनाकार ही हो जाता है। वनिता के लावण्य का वर्णन सुनने से मन उसी में जा लगता है ॥ १८ ॥ सब पदार्थ--वर्णन कहां तक बतलाया जाय? इतने ही से समझ लेना चाहिए कि, ऐसा होता है या नहीं ॥ १९ ॥ जो जो देखा और सुना जाता है वह सब मन में दृढता से बैठ जाता है, परीक्षावंत पुरुष उसमें से हित-अनहित की परीक्षा करता है ॥ २० ॥

सब छोड़ कर केवल ईश्वर को ढूंढना चाहिए; तभी कुछ मर्म मिलता है ॥ २१ ॥ ये नाना प्रकार के सुख ईश्वर ही ने बनाये हैं, परन्तु लोग उसको भूले हुए हैं, और जन्म भर भूले ही रहते हैं ॥ २२ ॥ स्वयं परमात्मा ही ने कहा है कि, सब छोड़ कर मुझे ढूंढो* परन्तु लोगों ने भगवान् की बात नहीं मानी! ॥ २३ ॥ इसी लिए तो नाना दुःख भोगते हैं--सदा कष्टी होते हैं; मन में सुख चाहते हैं; पर कहां ठिकाना है? ॥ ३० ॥ जिससे अनेक सुख मिलते हैं उसको ये पागल भूले हुए हैं। सुख सुख कहते ही, दुःख भोगते हुए, मर जाते हैं ॥ २५ ॥ चतुर मनुष्य को ऐसा न करना चाहिए, जिससे सुख हो वही करना चाहिए और ब्रह्माण्ड से बाहर तक ईश्वर को ढूंढ़ते जाना चाहिए! ॥ २६ ॥ जब मुख्य ईश्वर ही प्राप्त होगया तब फिर उसे कमी क्या रही? लोग पागल हैं जो विवेक को छोड़ देते हैं ॥ २७ ॥ विवेक का फल सुख है और अविवेक का फल दुःख है—अब इन दो में से जो अच्छा लगे उसे अवश्य करना चाहिए ॥ २८ ॥ कर्ता को पहचानना चाहिए, और इसीको विवेक कहते हैं—विवेक छोड़ने से परम दुःखी होना पड़ता है ॥ २९ ॥ अस्तु। अब यह कथन बस करो। कर्ता को पहचानना चाहिए। चतुर पुरुष को अपना हित न भूलना चाहिए ॥ ३० ॥

आठवाँ समास—कर्ता कौन है?

श्रीराम

श्रोता पूछता है कि, निश्चय करके कर्ता कौन है और सब सृष्टि या ब्रह्मांड को किसने बनाया है? ॥ १ ॥ यह सुन कर जो एक से एक अच्छे सभापंडित थे उन्होंने बोलना शुरू किया। उनके बोलने का कौतुक अब

---

* सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।—(भगवद्गीता १८।६६)।

श्रोता लोगों को सावधान होकर सुनना चाहिए:—॥ २ ॥ कोई कहता है कि, कर्ता ईश्वर है; कोई कहता है कि, ईश्वर कौन है? इस प्रकार अपना अपना अभिप्राय सब बतलाने लगे ॥ ३ ॥ उत्तम, मध्यम, कनिष्ट—जिसका जैसा भाव है वह वैसा स्पष्ट बतलाते हैं। अपनी अपनी उपासना को लोग श्रेष्ठ मानते हैं ॥ ४ ॥ कोई कहता है कि, कर्ता मंगलमूर्ति गणेश है, कोई कहता है कि, सरस्वती सब करती है ॥५॥ कोई कहता है कि, कर्ता भैरव है, कोई कहता है कि, खण्डेराव है, कोई कहता है कि, बीरदेव कर्ता है और कोई कहता है कि, भगवती है ॥ ६ ॥ कोई कहता है कि, नरहरी, कोई कहता है, वनशंकरी और कोई कहता है कि, सर्व-कर्ता नारायण ही है ॥ ७ ॥ कोई कहता है, श्रीराम कर्ता है, कोई कहता है, श्रीकृष्ण कर्ता है और कोई कहता है कि, भगवान् केशवराज कर्ता हैं ॥ ८ ॥ कोई कहता है कि, पांडुरंग कर्ता है, कोई कहता है कि, श्रीरंग कर्ता है और कोई कहता है कि, झोटिंग सब करता है ॥ ९ ॥ कोई कहता है कि, 'मुंज्या' कर्ता है, कोई कहता है कि, सूर्य कर्ता है और कोई कहता है कि, अग्निदेव सब कुछ करता है ॥ १० ॥ कोई कहता है; लक्ष्मी करती है, कोई कहता है; मारुती करता है और कोई कहता है कि, धरती सब कुछ करती है ॥ ११ ॥ कोई कहता है; 'तुकाई,' कोई कहता है; 'यमाई,' और कोई कहता है कि, 'सटवाई' सब करती है ॥ १२ ॥ कोई कहता है कि, भार्गव कर्ता है, कोई कहता है कि, वामन कर्ता है और और कोई कहता है कि, केवल परमात्मा ही कर्ता है ॥१३॥ कोई 'विरंणा' को, कोई 'वस्वंणा' को और कोई 'रेवंणा' को सब का कर्ता बतलाते हैं ॥ १४ ॥ कोई कहता है कि, 'खलया' कर्ता है, कोई कहता है, कार्तिक स्वामी कर्ता है और कोई कहता है कि, वेंकटेश सब कुछ करता है ॥ १५ ॥ कोई कहता है कि, गुरु कर्ता है, कोई कहता है कि, दत्तात्रेय कर्ता है और कोई कहता है कि, मुख्य कर्ता जगन्नाथ है ॥ १६ ॥ कोई कहता है कि, ब्रह्मा कर्ता है, कोई कहता है; विष्णु कर्ता है और कोई कहता है कि, निश्चय करके महेश कर्ता है ॥ १७ ॥ कोई कहता है कि, पर्जन्य कर्ता है, कोई कहता है; वायु कर्ता है और कोई कहता है कि, निर्गुण देव करके भी अकर्ता है ॥ १८ ॥ कोई कहता है कि, माया करती है, कोई कहता है; जीव करता है और कोई कहता है कि, प्रारब्ध-योग सब करता है ॥ १९ ॥ कोई कहता है कि, प्रयत्न करता है, कोई कहता है; स्वभाव कर्ता है और कोई कहता है; कौन जाने कि, कौन करता है! ॥ २० ॥

इस प्रकार कर्ता का प्रश्न उठते ही बाजार-सा लग जाता है। अब

किसका उत्तर सही माना जाय? ॥ २१ ॥ जो जिस देवता को मानता है वह उसीको कर्ता बतलाता है। यह लोगों का गड़बड़ बन्द नहीं होता ॥ २२ ॥ अपने अपने अभिमान से सबों ने मन में निश्चय ही कर लिया है—इसका विचार हो ही नहीं सकता ॥ २३ ॥ अस्तु; बहुत लोगों के बहुत विचार हैं, परन्तु यह सब बाजार रहने दो; वास्तव में इसका विचार ऐसा है:—॥ २४ ॥ श्रोताओं को सावधान हो जाना चाहिए, निश्चय से अनुमान का खण्डन करना चाहिए। ज्ञाता पुरुष को अनुभव सत्य जानना चाहिए ॥ २५ ॥ जो कुछ कर्ता करता है वह सब उसके बाद होता है। वह कर्ता के पहले न होना चाहिए ॥ २६ ॥ जो कुछ बनाया गया है वह पंचभौतिक है और ब्रह्मादि देव भी पंचभौतिक ही हैं; इस लिए यह तो हो नहीं सकता कि, उक्त पंचभूतात्मक देवों ने ही पंचभौतिक जगत् बनाया हो! ॥ २७ ॥ पंचभूतों को अलग करके कर्ता को पहचानना चाहिए। क्योंकि पंचभूतिक तो स्वभाव ही से कार्य में आ जाता है ॥ २८ ॥ पंचभूतों से अलग निर्गुण है—उसमें कर्तापन नहीं है। निर्विकार में विकार कौन लगा सकता है? ॥ २९ ॥ निर्गुण से कर्तव्य नहीं हो सकता और सगुण कार्य में आ जाता है; अतएव अब यह अच्छी तरह देखना चाहिए कि, कर्तव्यता आती किस पर है! ॥३०॥ परन्तु जो वास्तव में कुछ है ही नहीं उसके लिए यह पूछना कि, इसका कर्ता कौन है, बिलकुल व्यर्थ है; अतएव यही ठीक है कि, यह सब स्वभाव ही से हुआ है! ॥ ३१ ॥ एक सगुण है और एक निर्गुण है; अब कर्तापन किस में लगाऊं? इस अर्थ का अच्छी तरह विचार करो ॥ ३२ ॥ यदि कहा जाय कि, सगुण ने सगुण बनाया तो वह तो पहले हो हो चुका है, बनावेगा क्या? और इधर निर्गुण में कर्तव्यता कभी लगाई नहीं जा सकती ॥ ३३ ॥ यहां कर्ता ही नहीं दिखता! अनुभव से समझना चाहिए; क्योंकि दृश्य सत्य नहीं है ॥ ३४ ॥ जो कुछ किया गया वह सभी मिथ्या है; तब फिर कर्ता का नाम ही लेना व्यर्थ है! वक्ता कहता है कि अरे! विवेक से अच्छी तरह देखो ॥ ३५ ॥ अच्छी तरह विचार करने से प्रतीति हो जाती है और जब अपने अन्तःकरण में प्रतीति होगई तब फिर बड़बड़ क्यों करना चाहिए? ॥ ३६ ॥ अस्तु। यह कथन बस करो। जो विवेकी है वही यह बात जानता है। पूर्वपक्ष उड़ाना पड़ता है, अन्यथा यह अनिर्वाच्य है ॥ ३७ ॥ तब श्रोता प्रश्न करता है कि, देह में सुख-दुःख भोगनेवाला कौन है? अच्छा, अब आगे यही बतलाया जाता है ॥ ३८ ॥

नववाँ समास—आत्मा का सुख-दुःख-भोग।

॥ श्रीराम ॥

आत्मा को, शरीर के योग से उद्वेग और चिन्ता, करनी पड़ती है। यह तो प्रगट ही है कि, आत्मा शरीर के योग से जागृत रहता है॥१॥ देह यदि अन्न ही न खाय तो भी आत्मा नहीं जी सकता, और आत्मा के बिना देह में चेतना भी नहीं रह सकती ॥ २ ॥ एक दूसरे के बिना कुछ नहीं कर सकता। कोई भी काम हो, दोनों के संयोग से होता है ॥ ३ ॥ देह में तो चेतना नहीं है और इधर आत्मा पदार्थ को उठा नहीं सकता; अब कैसे काम चले? स्वप्न-भोजन से कहीं पेट भरता है? ॥४ ॥ यह चमत्कार तो देखो कि, आत्मा स्वप्नावस्था में जाता है, पर देह में भी रहता है, क्योंकि उस अवस्था में वह खुजलाता भी तो है! ॥ ५ ॥ अन्नरस से शरीर बढ़ता है, शरीर के अनुसार विचार बढ़ता है और वृद्धपन में शरीर और विचार दोनों कम हो जाते हैं ॥ ६ ॥ मादक पदार्थ तो शरीर खाता है; परन्तु उसके योग से आत्मा भ्रम में पड़ता है और विस्मरण के कारण उसका सब होश उड़ जाता है ॥ ७ ॥ विष तो शरीर खाता है; परन्तु आत्मा चला जाता है। अतएव बढ़ना और घटना आत्मा के तईं अवश्य है ॥ ८ ॥ बढ़ना-घटना, जाना-आना, सुख-दुःख, आदि नाना प्रकार के भोग देह के योग से आत्मा को भोगने पड़ते हैं ॥ ९ ॥ चींटियों या दीमकों के घर की तरह यह शरीर भी पोला बना हुआ है ॥ १० ॥ सम्पूर्ण शरीर में छोटी-बड़ी अनेक नाड़ियां भरी हुई हैं। उन नाड़ियों के भीतर ही भीतर पोले मार्ग बने हैं ॥ ११ ॥ प्राणी जो अन्न-पानी खाता है उसका अन्नरस होता है और उस अन्न-रस को वायु श्वासोच्छ्वास से शरीर भर में दौड़ता है ॥ १२ ॥ नाड़ियों के द्वारा पानी दौड़ता है, पानी में हवा खेलती है, और हवा के साथ आत्मा भी फिरती है ॥ १३ ॥ तृषा से शरीर के कुम्हलाने का विचार जब आत्मा को मालूम होता है तब वह शरीर को उठा कर पानी की तरफ चलाता है ॥ १४ ॥ पानी माँगता है, शब्द बुलाता है, मार्ग देख कर शरीर चलाता है और मौका आ पड़ने पर सारा शरीर हिलाता है ॥ १५ ॥ जब आत्मा जानता है कि, भूख लगी है तब वह देह को उठाता है और घरवालों को वाच्य-कुवाक्य बुलवाता है ॥ १६ ॥ स्त्रियों में आत्मा कहती है कि, "होगया होगया" -देह को नहला कर ले आता है और पैरों में भर कर जल्दी जल्दी चलवाता है ॥ १७ ॥ भोजन करनेवाले को पात्र (थाली आदि) पर लाकर बैठाता है, नेत्रों में आकर पात्र को देखता है और हाथ से आचमन

करता है ॥ १८ ॥ इसके बाद फिर हाथ से कौर उठवाता है, मुख में जाकर मुख पसराता है और दातों से अच्छी तरह कौर चबवाता है ॥१९॥ स्वयं जिव्हा में रह कर सरस पदार्थों का स्वाद लेता है और यदि बाल या कंकड़ पड़ जाता है तो उसी वक्त थूँक देता है! ॥ २० ॥ अलोना मालूम होने से नमक माँगता है, स्त्री को "अरी! क्यों री!" बकता है और आखें लाल करके गुस्से के साथ देखता है! ॥ २१ ॥ भोजन अच्छा लगने से आनन्दित होता है और न अच्छा लगने से बहुत खेद करता है। तथा कुवचन कह कर आत्मा को दुखाता है ॥ २२ ॥ नाना प्रकार के अन्नों की मिठास और नाना रसों का स्वाद पहचानता है। कड़ुआ लगने पर मस्तक हिलाता है और खाँसता है ॥ २३ ॥ तथा क्रोध में आकर इस प्रकार कटु वचन कहता है-"बहुत मिरच ड़ाल दी! क्या बनाती है? पत्थर!" ॥ २४ ॥ यदि कभी बहुत घी खा जाता है तो भोजन के बाद तुरन्त ही लोटा उठा कर खूब पानी पीने लगता है ॥ २५ ॥

इस प्रकार देह में सुखदुःख भोगनेवाला केवल आत्मा ही है। आत्मा के बिना देह व्यर्थ है-मुर्दा है ॥ २६ ॥ मन की अनन्त वृत्तियों को ही आत्मस्थिति जानना चाहिए। तीनों लोक में जितनी व्यक्तियां हैं सब में आत्मा है ॥ २७ ॥ जग में जगदात्मा है, विश्व में विश्वात्मा है और जो नाना रूप से सब का व्यापार चलाता है वह सर्वात्मा है ॥ २८ ॥ वह सूँघता है, चखता है, सुनता है, देखता है, कोमल-कठिन पहचानता है और ठंढ़ा या गर्म तुरंत ही जान लेता है ॥२९॥ सावधानी के साथ लीला करता है, बहुत धरा-उठाई करता है; इस धूर्त (चतुर) को धूर्त ही पहचान सकता है! ॥ ३० ॥ वायु के साथ अच्छा (परिमल) बुरा (धुल) सब कुछ आता है, पर वायु स्वयं निर्मल रहती है ॥ ३१ ॥ शीत, उष्ण, सुवास, कुवास, सब वायु के साथ रहते हैं; पर वे उसमें मिल कर नहीं रह सकते ॥ ३२ ॥ वायु के साथ रोग आते हैं, भूत दौड़ते हैं और उसीके साथ धुल और कुहरा आता है । ३३ ॥ परन्तु यह कुछ भी वायु के साथ ठहरता नहीं, इसी प्रकार आत्मा के साथ वायु भी नहीं टिकती। आत्मा की चपलता वायु से अधिक है ॥ ३४ ॥ वायु कठिन पदार्थ में अड़ जाती है; पर आत्मा उसमें भी भिद जाती है। तथापि उस कठिन पदार्थ में छेद नहीं होता! ॥ ३५ ॥ वायु के चलते समय एक प्रकार का शब्द होता है; पर आत्मा का शब्द आदि कुछ नहीं होता। मनन करने से भीतर ही भीतर उसका चुपके से ज्ञान हो जाता है ॥ ३६ ॥ शरीर के साथ जो भलाई की जाती है वह आत्मा तक पहुँचती है। इस प्रकार शरीरयोग से उसे समाधान होता है ॥ ३७ ॥ देह को छोड़ कर चाहे जो किया जाय; पर आत्मा

तक नहीं पहुँच सकता। देह ही के योग से वासना तृप्त होती है॥ ३८॥ देह और आत्मा के ऐसे ही अनेक कौतुक हैं; पर बिना देह के आत्मा को अड़चन पड़ती है॥ ३९॥ देह और आत्मा दोनों के एकत्र होने से बहुत कुछ हो सकता है; परन्तु अलग अलग रहने से कुछ भी नहीं हो सकता। देह और आत्मा के योग से, विवेकद्वारा, तीनों लोगों का ज्ञान हो सकता है!॥ ४०॥

दसवाँ समास--उपदेश-निरूपण!

॥ श्रीराम ॥

पत्र, पुष्प, फल, बीज, पाषाण और कौड़ियों की मालाएं सूत से गुँथी जाती हैं॥ १॥ स्फटिक, 'जहर-मुहरा,' काष्ठ, चन्दन, धातु, रत्न, आदि की मालाएं, जालियां, चन्दोवे आदि सूत से ही गुँथे जाते हैं॥ २॥ सूत यदि न हो तो काम नहीं चल सकता। (इसी प्रकार आत्मा से सम्पूर्ण जगत् गुँथा हुआ है) परन्तु यहां, आत्मा के लिए सूत का दृष्टान्त पूरा पूरा नहीं लगता॥ ३॥ क्योंकि सूत तो गुरिया के बीच में ही रहता है और आत्मा सर्वांग में समानरूप से व्याप्त रहता है॥ ४॥ इसके सिवाय आत्मा स्वाभाविक ही चपल है; और सूत जड़ एवं निश्चल है! अतएव यह उपमा नहीं लगती॥ ५॥ अस्तु। अनेक बेलियों में जल का भाग भरा रहता है, ईखों में भी रस भरा होता है; परन्तु रस और उनका बकला कुछ एक नहीं है॥ ६॥ इसी प्रकार देही (आत्मा) और देह (अनात्मा) दोनों भिन्न भिन्न हैं-और इन दोनों से भिन्न निरञ्जन और निरुपम परमात्मा है॥ ७॥ राजा से लेकर रंक तक सब मनुष्य ही हैं; पर सब को एक ही समान कैसे कह सकते हैं? देव, दानव, मानव, नीचयोनि, हीन जीव, पापी, सुकृती आदि बहुत से हैं॥ ८॥ एक ही अंश से जगत् चलता है; पर सामर्थ्य सब की अलग अलग है। एक के साथ से मुक्ति मिलती है, एक के साथ से रौरव नरक मिलता है!॥ १०॥ शक्कर और मिट्टी दोनों पृथ्वी के अंश हैं; पर मिट्टी नहीं खाई जा सकती; विष क्या जल नहीं है? पर वह बुरी चीज है॥ ११॥ 'पुण्यात्मा' और 'पापात्मा' दोनों में "आत्मा" लगी है-इसी तरह कोई साधु है, कोई भोंदू है; पर सब

की मर्यादा अलग अलग है; वह छूट नहीं सकती है ॥ १३ ॥ यह बात सच है कि, सब का अंतरात्मा एक ही है, पर डोम को साथ में नहीं लिया जा सकता। पंडित और 'लौंडे' एक कैसे हो सकते हैं? ॥ १४ ॥ मनुष्य और गधे; राजहंस और मुर्गे; राजा लोग और बन्दर एक कैसे हो सकते हैं? ॥ १४ ॥ भागीरथी का जल भी आप है, मोरी और गढ़े का पानी भी आप है; परन्तु मैला पानी थोड़ा भी नहीं पिया जा सकता ॥ १५ ॥ इस कारण पहले तो आचारशुद्ध, फिर विचार-शुद्ध, वीतरागी और सुबुद्ध होना चाहिए ॥ १६ ॥ शूरों को छोड़ कर यदि डरपोंको की भरती की जाय तो युद्ध के अवसर पर अवश्य हार होगी। श्रीमान् को छोड़ कर दरिद्री की सेवा करने से क्या हाल होगा? ॥ १७ ॥ यह सच है कि, एक ही पानी से सब हुआ है; पर देख कर सेवन करना चाहिए; एक तरफ से सभी सेवन करना मूर्खता है ॥ १८ ॥ पानी से ही अन्न हुआ है और अन्न का वमन होता है। पर वमन का भोजन नहीं किया जा सकता ॥ १९ ॥ इसी प्रकार निन्दनीय बात छोड़ देना चाहिए और प्रशंसनीय बात हृदय में रखना चाहिए, तथा सत्कीर्ति से भूमंडल को भर देना चाहिए ॥२०॥ उत्तम को उत्तम अच्छा लगता है, निकृष्ट को वह अच्छा नहीं लगता-इसी लिए ईश्वर ने उसको अभागी बना रखा है ॥२१॥ सारा अभागीपन छोड़ देना चाहिए; उत्तम लक्षण ग्रहण करना चाहिए; हरिकथा, पुराण-श्रवण, नीति, न्याय, आदि का स्वीकार करना चाहिए ॥ २२ ॥ विवेकपूर्वक चलना चाहिए; सब लोगों को राजी रखना चाहिए और धीरे धीरे सब को पुण्यात्मा बनाते रहना चाहिए ॥ २३ ॥ जैसे बालक के साथ, उसकी ही चाल से चलना पड़ता है और जैसा उसको रुचता है वैसा ही बोलना पड़ता है वैसे ही धीरे धीरे लोगों को सिखला कर चतुर बनाना चाहिए ॥ २४ ॥ सच तो यह है कि, सब का मन रखना चाहिए। यही सब चतुरता के लक्षण हैं। जो चतुर है वह चतुरों के अन्य अंग जानता है; अन्य लोग पागल हैं ॥ २५ ॥ परन्तु पागल को 'पागल' भी न कहना चाहिए, मर्म की बात कभी न बोलना चाहिए, तभी निस्पृह पुरुष दिग्विजय कर सकता है ॥ २६ ॥ अनेक स्थलों में, अनेक अवसरों को जान कर यथोचित बर्ताव करना चाहिए और प्राणिमात्र का अंतरंग (अभिन्नहृदय मित्र) हो जाना चाहिए ॥ २७ ॥ एक दूसरे को राजी न रखने से सभी को तकलीफ होती है। एक दूसरे का मन तोड़ने से कुशल नहीं होती ॥ २८ ॥ अतएव जो सब का मन प्रसन्न रखता है वही सच्चा महन्त है-और उसीकी ओर सब लोग आकर्षित होते हैं ॥ २९ ॥

चौदहवाँ दशक !



पहला समास—निस्पृह-लक्षण ।

॥ श्रीराम ॥

निस्पृह की युक्ति, बुद्धि और चतुराई का उपदेश सुनो। इससे सदा समाधान रहता है ॥ १ ॥ जैसे मन्त्र सहज और फलदायक हों, औषधियां साधारण और गुणदायक हों, वैसे ही मेरे वचन सादे और अनुभवयुक्त हैं ॥ २ ॥ इनसे अवगुण तत्काल ही चले जाते हैं और उत्तम गुण प्राप्त होते हैं; इस लिए ये तीव्र औषधिरूपी वचन श्रोताओं को ध्यानपूर्वक सेवन करना चाहिए ॥ ३ ॥ पहले तो निस्पृहता रखना ही न चाहिए और यदि रख ही ली तो छोड़ना न चाहिए और यदि छोड़ दी हो तो पहचानवालों में घूमना न चाहिए ॥ ४ ॥ कांता को दृष्टि में न रखना चाहिए, कांता-विषय का स्वाद मन को न चखना चाहिए और यदि धैर्य का भंग हो जाय तो लोगों में फिर अपना मुख न दिखाना चाहिए ॥ ५ ॥ एक स्थल में न रहना चाहिए, संकोच न रखना चाहिए और मोह में फँस कर द्रव्य या दारा की तरफ न देखना चाहिये ॥ ६ ॥ आचार भ्रष्ट न होना चाहिये, यदि कोई द्रव्य दे तो न लेना चाहिये और अपने उपर कोई दोष न आने देना चाहिये ॥ ७ ॥ भिक्षा माँगने में लज्जा न करनी चाहिये, बहुत भिक्षा न लेना चाहिये और पूछने पर भी अपनी पहचान न देना चाहिये ॥ ८ ॥ सजा हुआ और मलीन वस्त्र न पहनना चाहिये, मिष्टान्न न खाना चाहिये, दुराग्रह न करना चाहिये और मौका देख कर चलना चाहिये ॥ ९ ॥ भोग में मन न रखना चाहिये, देहदुःख से घबड़ाना न चाहिये और आगे जीवन की आशा न रखनी चाहिये ॥ १० ॥ विरक्ति न छूटने देना चाहिये, धैर्य्य भंग न होने देना चाहिये और विवेकबल से ज्ञान मलीन न होने देना चाहिये ॥ ११ ॥ करुणा-कीर्तन छोड़ना न चाहिये, अन्तर-ध्यान मोड़ना न चाहिये और सगुण मूर्ति का प्रेमतन्तु तोड़ना न चाहिये ॥ १२ ॥ मन में चिन्ता न रखना चाहिये, कष्ट में खेद न मानना चाहिये और कुछ भी हो; समय पर धैर्य न छोड़ना चाहिये ॥ १३ ॥ अपमान होने से बुरा न मानना चाहिये;

कोई ताना मारे तो दुःख न करना चाहिये और कुछ भी हो, धिक्कारने पर, खेद न करना चाहिये ॥ १४ ॥ विरक्त पुरुष को लोकलाज न रखना चाहिये, लज्जित काम करने से लजाना न चाहिये और खिझाने से खिझना न चाहिये ॥५॥ शुद्ध मार्ग न छोड़ना चाहिये, दुर्जन से वाद न करना चाहिये, और चांडाल से सम्बन्ध न पड़ने देना चाहिये ॥ १६ ॥ शीघ्रकोपी न होना चाहिये, झगड़ालु से झगड़ना न चाहिये और अपनी निजस्थिति उड़ने न देना चाहिये ॥ १७ ॥ हँसाने से हँसना न चाहिये, बुलाने से बोलना न चाहिये और क्षण क्षण में चलाने से चलना न चाहिये ॥ १८ ॥ एक वेष न रखना चाहिये, एक ही साज से न रहना चाहिये और एक-देशीय न होकर, सर्वत्र भ्रमण करते रहना चाहिये ॥ १९ ॥ किसी का दृढ़ संसर्ग न होने देना चाहिये, दान न लेना चाहिये और सभा में सब समय न बैठना चाहिये ॥ २० ॥ शरीर के साथ कोई नेम न लगा लेना चाहिये, किसी को भरोसा न देना चाहिये और किसी निश्चित बात का अंगीकार न करना चाहिये ॥ २१ ॥ नित्यनेम न छोड़ना चाहिये, अभ्यास न डूबने देना चाहिये और कुछ भी हो, परतन्त्र न होना चाहिये ॥ २२ ॥ स्वतन्त्रता मोड़ना न चाहिये, निरपेक्षता तोड़ना न चाहिये और क्षण क्षण में परापेक्ष न होना चाहिये ॥ २३ ॥ वैभव दृष्टि से देखना न चाहिये, उपाधिसुख में रहना न चाहिये और स्वरूपस्थिति का ध्यान न मोड़ने देना चाहिये ॥ २४ ॥ अनर्गलता (स्वेच्छाचार) न करना चाहिये, लोकलाज न रखना चाहिये और कभी कहीं आसक्त न होना चाहिये ॥ २५ ॥ परम्परा न तोड़ना चाहिये, उपासनामार्ग की उपाधि न मोड़ने देना चाहिये और ज्ञानमार्ग कभी न छोड़ना चाहिये ॥ २२ ॥ कर्ममार्ग न छोड़ना चाहिये, वैराग्य न मोड़ने देना चाहिये और साधन तथा भजन का कभी खण्डन न करना चाहिये ॥२६॥ बहुत वाद-विवाद न करना चाहिये, अनित्य बात मन में न रखना चाहिये और व्यर्थ क्रोध से हठ न करना चाहिये ॥ २८ ॥ जो न माने उसे बतलाना न चाहिये, घबड़ाहट लानेवाली बातें न करना चाहिये और एक जगह बहुत दिन न रहना चाहिये ॥ २९ ॥ कुछ उपाधि न फैलाना चाहिये, यदि फैलाई हो तो रखना न चाहिये और यदि रखी हो तो उसमें फँसना न चाहिये ॥ ३० ॥ बड़प्पन से न रहना चाहिये, महत्व रख कर न बैठना चाहिये और कहीं भी कुछ मन की इच्छा न करना चाहिये ॥ ३१ ॥ सादापन (सादगी) न छोड़ना चाहिये, छोटापन न मोड़ना चाहिये और बलात् अपने शरीर में अभिमान न लाना चाहिये ॥ ३२ अधिकार बिना न बोलना चाहिये, डाँट कर उपदेश न देना चाहिये और परमार्थ को कभी संकुचित न

रखना चाहिए ॥ ३३ ॥ कठिन वैराग्य न छोड़ना चाहिए, कठिन अभ्यास न छोड़ना चाहिए और किसीके विषय में कठिनता न रखनी चाहिए ॥ ३४ ॥ कठोर वचन न बोलना चाहिए, कठिन आज्ञा न करनी चाहिए, और कुछ भी हो, कठिन धैर्य न छोड़ना चाहिए ॥ ३५ ॥ स्वयं आसक्त न होना चाहिए, किये बिना कहना न चाहिए और शिष्यवर्गों से बहुत कुछ माँगना न चाहिए ॥ ३६ ॥ उद्धत शब्द न बोलना चाहिए, इन्द्रियों का स्मरण न करना चाहिए और स्वच्छन्दता से शाक्त या वाममार्ग में न चलना चाहिए ॥ ३७ ॥ नीच कृति में लजाना चाहिए, वैभव में मस्त न हो जाना चाहिए और जानबूझ कर क्रोध में न आना चाहिए ॥ ३८ ॥ बड़-प्पन में भूलना न चाहिए, न्यायनीति छोड़ना न चाहिए और कुछ भी हो, अप्रामाणिक बर्ताव न करना चाहिए ॥ ३९ ॥ बिना जाने कहना न चाहिए, अनुमान से निश्चय न करना चाहिए और मूर्खता से कहने का बुरा न मानना चाहिए ॥ ४० ॥ सावधानी न छोड़ना चाहिए, व्यापकता न छोड़ना चाहिए और आलस में सुख न मानना चाहिए ॥ ४१ ॥ मन में विकल्प न रखना चाहिए, स्वार्थ की आज्ञा न देना चाहिए और यदि दी हो तो अपने को आगे न करना चाहिए ॥ ४२ ॥ प्रसंग बिना बोलना न चाहिए, क्रम छोड़ कर जाना न चाहिए और बिना विचारे, अविचारपन्थ में, न जाना चाहिए ॥ ४३ ॥ परोपकार न छोड़ना चाहिए, परपीड़ा न करनी चाहिए और किसीके विषय में मन मैला न करना चाहिए ॥ ४४ ॥ भोलापन न छोड़ना चाहिए, महंती न छोड़ना चाहिए और द्रव्य के लिए 'कीर्तन' करते हुए न घूमना चाहिए ॥ ४५ ॥ संशयात्मक न बोलना चाहिए, बहुत निश्चय न करना चाहिए और ग्रन्थ समझे बिना उसे दूसरे को समझाने के लिए हाथ में न लेना चाहिए ॥ ४६ ॥ जानबूझ कर पूछना न चाहिए अहंभाव प्रगट न करना चाहिए और किसीसे यह न कहना चाहिए कि बताऊंगा ॥ ४७ ॥ ज्ञानगर्व न रखना चाहिए, सहसा किसीको कष्ट न देना चाहिए और किसीसे कहीं वाद न करना चाहिए ॥ ४८ ॥ स्वार्थबुद्धि न रखना चाहिए, कारोबार में न पड़ना चाहिए और राजद्वार में कार्यकर्ता न बनना चाहिए ॥ ४९ ॥ किसीको भरोसा न देना चाहिए; जो भिक्षा न दी जा सके वह न माँगना चाहिए और भिक्षा के लिए अपनी परम्परा न बतलाना चाहिए ॥ ५० ॥ ब्याह-शादी के काम में और मध्यस्थी के काम में न पड़ना चाहिए। 'प्रपंच' की उपाधि शरीर के साथ न लगाना चाहिए ॥ ५१ ॥ प्रपंच के झगड़े में न पड़ना चाहिए, बुरा अन्न न खाना चाहिए और मेहमान के समान निमंत्रण न लेना चाहिए ॥ ५२ ॥ श्राद्ध-पक्ष, छठी, छमछी (छमासी), रोग आदि की शान्ति, बर्सी, मानगन, व्रत, उद्यापन,

आदि में निस्पृह को न जाना चाहिए-वहां का अन्न न खाना चाहिए और अपने को दीन न बनाना चाहिए ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ लग्न-प्रसंग में न जाना चाहिए, पेट के लिए न गाना चाहिए और धन लेकर कहीं भी कीर्तन न करना चाहिए ॥ ५५ ॥ अपनी भिक्षा न छोड़ना चाहिए, पारी पारी से अन्न न खाना चाहिए और निस्पृह को मूल्य लेकर कोई सुकृत न करना चाहिए, तनखाह लेकर पुजारी न बनना चाहिए और इनाम या जागीर यदि कोई देता भी हो, तो भी निस्पृह को न लेना चाहिए ॥ ५७ ॥ कहीं मठ बनाना न चाहिए, यदि बनाया हो तो उसे पकड़ कर रहना न चाहिए, निस्पृह पुरुष को मठाधिपति बन कर न बैठना चाहिए ॥ ५८ ॥

मुख्य बात यह है कि, निस्पृह को सब कुछ करना चाहिए; पर स्वयं उसमें फँसना न चाहिए और अलग रह कर ही भक्तिमार्ग को स्थापित करना चाहिए ॥ ५९ ॥ प्रयत्न बिना न रहना चाहिए, आलस दृष्टि में भी न लाना चाहिए और देह रहते हुए उपासना का वियोग न सहना चाहिए ॥ ६० ॥ उपाधि में पड़ना न चाहिए, उपाधि शरीर में लगाना न चाहिए और अव्यवस्थित होकर भजनमार्ग मोड़ना न चाहिए ॥ ६१ ॥ बहुत उपाधि न करना चाहिए, पर उपाधि बिना भी काम नहीं चलता। सगुण-भक्ति छोड़ना न चाहिए; परन्तु ईश्वर से विभक्त होकर रहना भी अच्छा नहीं ॥६२॥ बहुत दौड़ना न चाहिए, पर एक जगह भी बहुत न रहना चाहिए, बहुत कष्ट न सहना चाहिए; पर बहुत आलस में रहना भी अच्छा नहीं ॥ ६३ ॥ बहुत बोलना न चाहिए; पर बिना बोले भी काम नहीं चलता। बहुत अन्न न खाना चाहिए; पर उपवास भी अच्छा नहीं ॥ ६४ ॥ बहुत सोना न चाहिए; पर बहुत निद्रा मोड़ना भी न चाहिए। बहुत नेम न रखना चाहिए; और न बिलकुल अनियमित ही रहना चाहिए ॥ ६५ ॥ बहुत लोगों में न रहना चाहिए; बहुत वनवास भी न करना चाहिए। देह को बहुत न पालना चाहिए; पर आत्महत्या कर लेना भी बुरा है ॥ ६६ ॥ बहुत संग न करना चाहिए; परन्तु संतसंग न छोड़ना चाहिए। कर्मठपन से काम नहीं चलता; पर अनाचार भी अच्छा नहीं है ॥ ६७ ॥ लोकाचार बहुत न छोड़ना चाहिए; परन्तु लोगों के अधीन होकर भी न रहना चाहिए, बहुत प्रीति न करना चाहिए; पर निष्ठुरता रखना भी अच्छा नहीं ॥ ६८ ॥ बहुत संशय न रखना चाहिए; परन्तु बहुत स्वच्छन्द भी न रहना चाहिए, बहुत साधनों में न पड़ना चाहिए; पर बिना साधन रहना भी अच्छी बात नहीं है ॥ ६९ ॥ बहुत विषय न भोगना चाहिए; पर बिलकुल विषय-त्याग किया नहीं जा सकता। देह से मोह न रखना चाहिए; पर बहुत कष्ट भी न सहना चाहिए ॥ ७० ॥ अलग रह कर

अनुभव न लेना चाहिए; पर बिना अनुभव लिए रहना न चाहिए। आत्म-स्थिति बतलाना न चाहिए; पर बिलकुल स्तब्धता भी अच्छी नहीं ॥ ७१ ॥ मन न रहने देना चाहिए—उन्मन होना चाहिए, पर बिना मन के काम नहीं चलता। अलक्ष 'वस्तु' लक्ष में नहीं आती; पर उसे लखे बिना रहना भी अच्छा नहीं ॥ ७२ ॥ वह मन-बुद्धि से अगोचर है; पर मन-बुद्धि के बिना उसका ज्ञान भी नहीं होता। जानपन भूलना चाहिए; परन्तु अजानपन भी अच्छा नहीं ॥ ७३ ॥ ज्ञातापन न रखना चाहिए, पर ज्ञान बिना काम नहीं चलता। अतर्क्य वस्तु तर्क में नहीं आती; पर तर्क बिना रहना अच्छा नहीं ॥ ७४ ॥ दृश्य का स्मरण करना अच्छा नहीं; पर विस्मरण भी न होने देना चाहिए। कुछ चर्चा न करना चाहिए; पर बिना चर्चा किए भी काम नहीं चलता ॥ ७५ ॥ लोगों में भेद न मानना चाहिए; पर वर्णसंकर भी न करना चाहिए। अपना धर्म न छोड़ना चाहिए; पर धर्माभिमान भी अच्छा नहीं ॥ ७६ ॥ आशाबद्ध बात न बोलना चाहिए, विवेक बिना न चलना चाहिए और कुछ भी हो, शान्तिभंग न होने देना चाहिए ॥ ७७ ॥ अव्यवस्थित पोथी न लिखना चाहिए; पर बिना पोथी के भी काम नहीं चलता। अव्यवस्थित न पढ़ना चाहिए, पर बिना पढ़े रहना भी अच्छा नहीं ॥ ७८ ॥ निस्पृह को वक्तृत्व न छोड़ना चाहिए; परन्तु शंका निकालने पर विवाद भी न करना चाहिए और श्रोताओं की बात का बुरा न मानना चाहिए ॥ ७९ ॥ यह उपदेश मन में रखने से सब सुख मिलते हैं और महन्तपन के लक्षण आप ही आप आ जाते हैं ॥ ८० ॥

दूसरा समास—भिक्षा-निरूपण।

॥ श्रीराम ॥

ब्राह्मण की मुख्य दीक्षा यह है कि, भिक्षा माँगना चाहिए और "ओं-भवति-पक्ष" की रक्षा करना चाहिए ॥१॥ भिक्षा माँग कर जो खाता है वह निराहारी कहलाता है और वह भिक्षा माँगने के कारण प्रतिग्रह (के दोष) से बच जाता है ॥ २ ॥ सज्जन हो, चाहे असज्जन हो—उसके यहां जो पुरुष रूखा अन्न माँग कर भोजन करता है वह मानो रोज अमृत-पान करता है:—॥ ३ ॥

भिक्षाहारी निराहारी, भिक्षा नैव प्रतिग्रहः ।
असंतो वापि संतो वा, सोमपानं दिने दिने ॥

ऐसी भिक्षा की महिमा है। भिक्षा माँगना सर्वोत्तम ईश्वर को भी पसन्द है। बड़े बड़े सिद्ध योगी तक भिक्षा माँगते हैं ॥ ४ ॥ दत्तात्रेय, गोरखनाथ आदि सिद्ध पुरुषों ने भी लोगों में भिक्षा माँगी है। भिक्षा से निस्पृहता प्रगट होती है ॥ ५ ॥ कोई कोई वार लगा कर भिक्षा ग्रहण करते हैं; परन्तु यह पराधीनता की बात हुई; तथा रोज एक ही घर से भिक्षा ग्रहण करने में भी स्वतंत्रता नहीं रहती ॥ ६ ॥ आठ आठ दिन के लिए अन्न जमा कर रखना भी अच्छा नहीं है। ऐसा करने से नित्य नूतनता का आनन्द नहीं मिलता ॥ ७ ॥ नित्य नूतन नूतन स्थानों में घूमना चाहिए, खूब देशाटन करना चाहिए–तभी भिक्षा माँगने में शोभा है और तभी प्रशंसा होती है ॥ ८ ॥ जिसे भिक्षा माँगने का अखण्ड अभ्यास है उसे परदेश कहीं नहीं जान पड़ता; जहाँ देखो वहाँ, तीनों लोक, उसके लिए स्वदेश ही हैं ॥ ९ ॥ भिक्षा माँगने में खिझना न चाहिए, लजाना न चाहिए, थकना न चाहिए–परिभ्रमण करना चाहिए ॥ १० ॥ जो पुरुष अनेकों चमत्कार करता है, सदा भगवान् की कीर्तिका वर्णन करता है, ऐसे पुरुष को, निस्पृहता के साथ, भिक्षा माँगते हुए देख कर छोटे-बड़े सब लोक चकित होते हैं ॥ ११ ॥ भिक्षा कामधेनु है। उससे सदा फल मिलता है। वह कोई सामान्य बात नहीं है। जो भिक्षा को अमान्य करता है वह जोगी अभागी है ॥ १२ ॥ भिक्षा से पहचान होती है, भिक्षा से भ्रम मिटता है और साधारण भिक्षा सब स्वीकार कर लेते हैं ॥ १३ ॥ भिक्षा एक प्रकार की निर्भयस्थिति है, भिक्षा से महंती प्रगट होती है। भिक्षा के द्वारा स्वतंत्रता मिलती है और ईश्वरप्राप्ति होती है ॥ १४ ॥ भिक्षा में किसी प्रकार की रोक-टोक या बाधा नहीं है, भिक्षाहारी सदा स्वतंत्र रहता है। भिक्षा के द्वारा समय को सार्थक कर सकते हैं ॥ १५ ॥ भिक्षा अमरबेलि है। यह फल-फूल से लदी हुई है। यह कुसमय आ पड़ने पर निर्लज्ज पुरुष को फलदायक होती है ॥ १६ ॥ पृथ्वी में अनेक देश हैं, घूमने से कोई भूखों नहीं मर सकता—वह कहीं भी लोगों को खल नहीं सकता ॥ १७ ॥ गोरज्य (गायें रखना), वाणिज्य और कृषि से भी अधिक भिक्षा की प्रतिष्ठा है। झोली को कभी न छोड़ना चाहिए ॥ १८ ॥ भिक्षा के समान अन्य वैराग्य नहीं है और वैराग्य के समान अन्य सौभाग्य नहीं है। वैराग्य न होने से, एकदेशीय होने के कारण, अभाग्य बना रहता है ॥ १९ ॥ यह पूछने पर कि ' कुछ भिक्षा है ?" यदि कोई बहुत भिक्षा देने लगे तो, अल्पसंतोषी रह कर, सिर्फ एक मुट्ठी

लें लेना चाहिए ॥ २० ॥ आनन्द-पूर्वक भिक्षा माँगना चाहिए। यही निस्पृहता के लक्षण हैं। मधुर वचन से सब को सुख होता है ॥ २१ ॥ ऐसी भिक्षा की यह अल्प स्थिति यथामति बतला दी। भिक्षा समय-कुसमय आनेवाली विपत्ति को बचा देती है ॥ २२ ॥

तीसरा समास—काव्य-कला।

॥ श्रीराम ॥

शब्द-सुमन-मालारूप कविता के सुन्दर सुगन्धित परिमलरूप अर्थ से सन्तजनरूप भ्रमर समूह को आनन्द प्राप्त होता है ॥ १ ॥ ऐसी माला अन्तःकरण में गूँथ कर राम-चरणों की पूजा करो। ओंकार-तन्तु अखण्डित रखना चाहिए—उसका कभी खण्डन न करना चाहिए ॥ २ ॥ परोपकार के लिए कविता करना आवश्यक है। ऐसी कविता के लक्षण बतलाते हैं ॥ ३ ॥ पहले ऐसी कविता का अभ्यास बढ़ाना चाहिए कि, जिसके द्वारा भगवद्भक्ति और विरक्ति उत्पन्न हो ॥ ४ ॥ परन्तु आचरण के बिना कोरे शब्दज्ञान को सज्जन पुरुष कभी पसन्द नहीं करते; अतएव (कविता का अभ्यास करने के पहले) अनुताप के द्वारा-करुणार्द्र हृदय से-परमात्मा को प्रसन्न कर लेना चाहिए ॥५॥ क्योंकि परमात्मा की प्रसन्नता से-ईश्वरीय स्फूर्ति से-जितना कुछ मुख से निकलता है वही श्लाघनीय है-और उसीको प्रासादिक कह सकते हैं ॥ ६ ॥

लोगों की सम्मति से तीन प्रकार की कविता कही हैः—(१) ढीठ (धृष्ट); (२) पाठ; और (३) प्रासादिक। अब इन तीनों का क्रमशः विचार किया जाता है ॥ ७ ॥ कोई कोई, ढिठाई से जो कुछ मन में आता है उसी पर बलात् कविता बनाते हैं; उसे 'ढीठ-कविता' कहते हैं ॥ ८ ॥ किसी किसीको अनेक काव्य-ग्रन्थों के पढ़ने से बहुत सी कविता पाठ हो जाती है और उसीको अदल बदल कर वे अपनी कविता बना लेते हैं; ऐसी कविता को "पाठ-कविता" कहते हैं ॥ ९ ॥ कुछ लोग शीघ्र ही कविता करने लगते हैं; जो कुछ सामने आ जाता है उसीका वर्णन करने लगते हैं; भक्तिरहित तुकबन्दी जोड़ते हैं; ऐसी कविता को ढीठ-पाठ कविता कहना चाहिए ॥ १० ॥ कामिक, रसिक, शृंगारिक, वीर, हास्य, प्रास्ताविक, कौतुक और विनोद आदि विषयों की कविता ढीठ-पाठ कहलाती है ॥ ११ ॥ जब मन कामातुर हो जाता है तब उद्गार भी वैसे ही निकलते

हैं; परन्तु इस ढ़ीठ-पाठ-कविता से जन्म सफल नहीं हो सकता ॥ १२ ॥ उदरशान्ति होने के लिए नरस्तुति करनी पड़ती है। ऐसी नरस्तुति में जो काव्यकौशल दिखाया जाता है उसे ढ़ीठ-पाठ कहते हैं ॥ १३ ॥ परन्तु कवित्व ढ़ीठ-पाठ न होना चाहिए, कवित्व में खटपट न होनी चाहिए और पाखंड-मत-पूर्ण या उद्धट कविता भी न होनी चाहिए ॥ १४ ॥ कविता वादपूर्ण, रसहीन, कर्कश और दृष्टान्तहीन न होनी चाहिए ॥ १५ ॥ कविता में अनावश्यक विस्तार और सारहीन विषय न होना चाहिए। कुटिल को सम्बोधन करके भी कविता न लिखनी चाहिए ॥ १६ ॥ कविता हीन न होनी चाहिए, कहा हुआ ही फिर न कहना चाहिए, छन्दोभंग न करना चाहिए और कविता लक्षणरहित न होनी चाहिए ॥ १७ ॥ व्युत्पत्तिहीन, तर्कहीन, कलाहीन, शब्दहीन, भक्ति-ज्ञान-वैराग्य-हीन कविता न होनी चाहिए ॥ १८ ॥ भक्तिहीन कविता को सिर्फ ढ़ोंग समझना चाहिए। नीरस वक्तृता घबड़ाहट उत्पन्न करती है ॥ १९ ॥ भक्ति बिना जो कुछ बोला जाता है वह एक प्रकार का स्वांग है। प्रीति के बिना कहीं संवाद हो सकता है? ॥ २० ॥ अस्तु। ढ़ीठ और पाठ कविता करना सिर्फ मिथ्या अहंता का पागलपन है। अब प्रासादिक काव्य के लक्षण बतलाते हैं:—॥ २१ ॥

जिसे स्त्री और धन आदि से घृणा हो जाती है और अन्तःकरण में परमात्मा का ध्यान लग जाता है ॥ २२ ॥ जो निरन्तर भगवत्प्रेम में रँगा रहता है और भगवद्भजन का उत्साह जिसका "दिन दूना रात चौगुना" बढ़ता जाता है ॥ २३ ॥ जो भगवद्भजन बिना एक क्षण भी नहीं जाने देता और जिसका अन्तःकरण सदा भक्तिरंग में रँगा रहता है ॥ २४ ॥ और जिसके अन्तःकरण में अचल और शान्त-स्वरूप भगवान् वास करता है—ऐसा पुरुष स्वाभाविक ही जो कुछ बोलता है वह ब्रह्मनिरूपण ही है ॥ २५ ॥ हृदय में गोविन्द का निवास होने के कारण उसे भक्ति का चसका लग जाता है और भक्ति को छोड़ कर वह अन्य कुछ बोलता ही नहीं ॥ २६ ॥ जिस विषय में हृदय से प्रीति होती है वही उसकी वाणी बोलती है। वह भक्तिभाव से करुणा-कीर्तन करता है और प्रेम में आकर नाचता है ॥ २७ ॥ मन भगवान् में लग जाता है, इससे देहभान में नहीं रहता; तथा शंका और लज्जा भी दूर भग जाती है ॥ २८ ॥ वह प्रेमरंग में रँग जाता है; भक्तिमद में मतवाला हो जाता है और अहंभाव को पैरों के नीचे डाल देता है ॥ २९ ॥ निश्शंक होकर गाता और नाचता है। उसे लोग कहां देख पड़ते हैं? उसकी दृष्टि में तो वह त्रैलोक्यनायक वास करने लगता है? ॥ ३० ॥ ऐसा जो भगवान् में रंग जाता है उसे

और किसी बात की आवश्यकता नहीं रहती। वह स्व-इच्छा से भगवान् के रूप, कीर्ति और प्रताप का वर्णन करने लगता है ॥ ३१ ॥ वह भगवान् के नाना रूप, मूर्ति, प्रताप और अनन्त कीर्ति का वर्णन करता है। नर-स्तुति उसे तृण के समान तुच्छ जान पड़ती है ॥ ३२ ॥ अस्तु; ऐसा भगवद्भक्त जो विरक्त होकर संसार में रहता है उसे साधुजन मुक्त मानते हैं ॥ ३३ ॥ वह अपनी भक्ति का रसाल वर्णन करता है उसीको 'प्रासादिक कविता' कहते हैं। वह साधारण ही जो कुछ बोलता है उसमें विवेक भरा रहता है ॥ ३४ ॥

अस्तु। अब साधारण तौर पर कविता का लक्षण फिर से बतलाते हैं; सुनिये। इससे श्रोताओं का हृदय सन्तुष्ट होगाः—॥ ३५ ॥ कविता निर्मल, सरल, स्पष्ट, और क्रमानुसार होनी चाहिये ॥ ३६ ॥ कविता भक्तिबलयुक्त, अर्थप्रचुर और अहन्ता-रहित होनी चाहिये ॥ ३७ ॥ कविता कीर्ति से भरी हुई, रम्य, मधुर और विस्तृत प्रतापवाली होनी चाहिये ॥ ३८ ॥ कविता सरल, संक्षिप्त और सुलभ पद्यात्मक होनी चाहिये ॥ ३९ ॥ कविता मृदु, मंजुल, कोमल, भव्य, अद्भुत, विशाल, सुहावनी, मधुर और भक्तिरस से रसाल होनी चाहिए ॥ ४० ॥ अक्षरबन्ध, पदबन्ध, नाना चातुर्य के प्रबन्ध, नाना प्रकार के कौशल, छन्दबन्ध, धाटी, मुद्रा, आदि अनेक बातें काव्य में होनी चाहिए ॥ ४१ ॥ नाना प्रकार की युक्ति, बुद्धि, कला, सिद्धि और अन्वय आदि का निर्वाह करके, नाना प्रकार की कविता बनानी चाहिए ॥ ४२ ॥ कविता में नाना प्रकार के साहित्य-विषयक दृष्टान्त, तर्क, युक्ति, उक्ति, सम्मति, सिद्धान्त, पूर्वपक्ष (शंका) सहित, होना चाहिए ॥ ४३ ॥ नाना प्रकार की गति, विद्वत्ता, मति, स्फूर्ति, धारणा, धृति आदि कविता में होना चाहिए ॥ ४४ ॥ कविता में शास्त्राधार से शंका-समाधान की बातें भी होनी चाहिए, ताकि निश्चय हो जाय और संशय मिट जाय ॥ ४५ ॥ जिसमें नाना प्रकार के प्रसंग, विचार, योगाविवरण और तत्वचर्चा का सार हो उसे काव्य कहते हैं ॥ ४६ ॥ जिसमें नाना साधन, पुरश्चरण, तप, तीर्थाटन, आदि का वर्णन हो और नाना प्रकार के सन्देह मिटाये गये हों उसका नाम कवित्व है ॥४७॥ जिससे पश्चात्ताप उपजे, और लौकिक विषय लज्जित हों तथा जिससे ज्ञान का बोध हो उसका नाम कवित्व है ॥ ४८ ॥ जिससे ज्ञान प्रबल हो, वृत्ति का अन्त हो और भक्तिमार्ग मालूम हो वही कविता है ॥ ४९ ॥ जिससे देहाभिमान नष्ट हो, भवसागर सूख जाय और भगवान् हृदय में प्रगट हो वही कविता है ॥ ५० ॥ जिससे सद्बुद्धि प्राप्त हो, पाखण्ड का नाश हो और विवेक जागृत हो वही सच्चा काव्य है ॥ ५१ जिससे

सद्वस्तु का भास हो; जिससे भास का निरसन हो और जिससे भिन्नत्व का नाश हो वही कवित्व है ॥ ५२ ॥ जिससे समाधान हो, जिससे संसार-बन्धन टूटे और जिसे सज्जन मानते हों वही कवित्व है ॥५३॥ इस प्रकार काव्य के लक्षण यदि बतलाये जायँ तो बहुत हैं पर यहां साधारण तौर पर जान लेने लिए थोड़े से बतला दिये गये हैं ॥ ५४ ॥

चौथा समास—कीर्तन लक्षण ।

॥ श्रीराम ॥

कलियुग में ' कीर्तन ' करना चाहिए और भगवान् के गुण मधुर शब्दों में बड़ी कुशलता के साथ, गाना चाहिये। परन्तु कीर्तन में कठिन और कर्कश वचन न निकलना चाहिए ॥ १ ॥ कीर्तन के द्वारा संसार की सारी खटपट मिटा देना चाहिये; दुष्टों से झगड़ा न करना चाहिये और सच-झूठ से अपनी शान्ति भंग न होने देना चाहिए ॥ २ ॥ गर्वगीत न गाना चाहिये, गाते गाते थकना न चाहिये और गौप्य या गुह्य प्रकट न करना चाहिये; भगवान् के गुण गाना चाहिए ॥ ३ ॥ कीर्तन करने में बहुत हिलना-डोलना या खांसना न चाहिये ॥ ४ ॥ भगवान् के अनन्त नाम, सगुण ईश्वर के अनेक ध्यान और भगवत्कीर्ति के अनेक अद्भुत चमत्कार कीर्तन में प्रकट करना चाहिये ॥ ५ ॥ कीर्तन में कोई अच्छी बात छोड़ना न चाहिए और बुरी बात छेड़ना न चाहिये। तथा ऐसी बात न करना चाहिये कि, जिससे किसीका मन खिन्न हो ॥ ६ ॥ कीर्तन के द्वारा किसी के साथ छल न करना चाहिये; परन्तु यदि अपने साथ कोई छल करे तो सहन करना चाहिये ॥ ७ ॥ कीर्तन करते समय किसीकी व्यर्थ प्रशंसा न करना चाहिये; जो लोग जागृत रहते हैं वे पवित्र होते हैं। बड़े डौल के साथ जनतारूप जनार्दन को-श्रोतागणरूपी ईश्वर को-सन्तुष्ट करना चाहिये ॥ ८ ॥ जिस प्रकार प्यासा मनुष्य शीतल झरने के पांस स्वयं जाता है वैसे ही प्रेमी श्रोता भगवत्कीर्तन में आते हैं ॥ ९ ॥ ऐसे श्रोताओं को बुलाने या उनके आने के लिए प्रयत्न करने, इत्यादि की आवश्यकता नहीं पड़ती ॥ १० ॥ कीर्तन करने में टालाटूली या बहाना न करना चाहिये और न लज्जित ही होना चाहिये ॥ ११ ॥ कीर्तन में विघ्न डालनेवाले दुष्टों को पास न आने देना चाहिये। बीच में झगड़ा न होने देना चाहिये; क्योंकि इससे ध्यान भंग हो जाने का भय रहता है ॥ १२ ॥

कीर्तन करते समय अभिमान में आकर भूल न जाना चाहिये ॥ १३ ॥ कीर्तन करते हुए, धीरे धीरे डोलते हुए, परमात्मा के प्रेम में नाचना चाहिये; बिलकुल स्तब्ध न रहना चाहिये ॥१४॥ सुन्दर रीति से नम्रता-पूर्वक मधुर स्वर से गाना चाहिये ॥ १५ ॥ करताल, तम्बूरा, तानमान, तालबद्ध तंतुगान, आदि सुन कर बुद्धिमान लोग तत्काल तन-मन से तल्लीन हो जाते हैं ॥ १६ ॥ प्रेमी भक्तों का थिरक थिरक कर नाचना देख कर और उनका सुस्वर गान सुन कर सब लोग प्रसन्न होते हैं ॥ १७ ॥ दक्ष कीर्तनकार का कौशलयुक्त कथा-प्रबन्ध सुन कर श्रोतागणों का अन्तःकरण करुणा से भर आता है ॥१८॥ उसका कीर्तन सुनने के लिए चतुर पुरुष तुरन्त ही दौड़ आते हैं और उसकी बुद्धिविलक्षणता देख कर वे लोग दंग रह जाते हैं। इस प्रकार जमते जमते कीर्तन का रंग जम जाता है ॥ १९ ॥ नाना प्रकार के विद्वत्तापूर्ण हाव-भाव और कौतुक कीर्तन में बतलाना चाहिये ॥ २० ॥ कीर्तन ऐसा करना चाहिए कि, जिसके द्वारा पाप नाश हो जाय और पुण्य का प्रकाश हो; तथा श्रोता लोग बराबर उसका बखान करते रहें ॥ २१ ॥ कीर्तन में व्यर्थ न बोलना चाहिए और न किसी की निन्दा करना चाहिए ॥ २२ ॥ उत्तम भक्तिपूर्ण कथा सुनने के लिए सभी लोग उत्साह से दौड़ते हैं ॥ २३ ॥ जो भक्त परोपकार के व्रत से भूषित होता है उसको सब प्रशंसा करते हैं ॥ २४ ॥ कीर्तनकार का उत्तम उपदेश मानना चाहिये, मोह में मत्त न होना चाहिए। अभिमान करने से हानि होती है ॥ २५ ॥ शिक्षापूर्ण वक्तृता सुनने के लिए आप ही आप लोग जमा हो जाते हैं-बुलाना नहीं पड़ता ॥ २६ ॥ राग-रंग-युक्त, रसाल और सुन्दर रँगीले संगीत से श्रोताओं का अन्तःकरण रँग जाता है। जिस प्रकार रत्नपरीक्षक लोग रत्न के पीछे दौड़ते हैं, उसी प्रकार उत्तम कीर्तन के परीक्षक उस कीर्तन को सुनने के लिए दौड़ते हैं ॥ २७ ॥ भक्तिपूर्ण कीर्तन सुन कर लोगों में ईश्वर-प्रेम बढ़ता है; मन निर्मल होता है और भूतदया का संचार होता है ॥ २८ ॥ कीर्तन में व्यर्थ वचन नहीं बोलना चाहिए, व्यर्थ विवरण न करना चाहिए और विनीत होकर वक्तृत्व से लोगों को संतुष्ट करना चाहिए ॥ २९ ॥ समस्त लोगों को सारासार का विचार सिखलाना चाहिए। साहित्य और संगीत, सज्जन पुरुष को, अच्छा मालूम होता है ॥ ३० ॥ सच-झूठ में से सच बात मालूम हो जाने पर लोगों का मन सन्तुष्ट हो जाता है। खोटी बात कोई नहीं मानता ॥ ३१ ॥ जिसके वचन वेद, शास्त्र और विद्वानों के अनुकूल नहीं होते उसके वचन कोई नहीं मानता ॥३२॥ जो आनन्द में आकर फूल जाता है; हँसी दिल्लगी में पड़ा रहता

है उसका हित नहीं होता ॥ ३३ ॥ अलक्ष (ब्रह्म) की ओर लक्ष लगा कर उसे लखना चाहिए। लोचन, जो स्वयं द्रष्टा हैं, उनको भी, देखना चाहिए; ऐसा करने से एकदम अलक्ष में लक्ष लग जाता है ॥३४॥ क्षेत्रज्ञ (आत्मा) क्षेत्र (देह) को क्षुब्ध करता है और क्षमा से क्षमा करके उसको शान्त भी करता है; उस सर्वव्यापी क्षेत्रज्ञ (आत्मा) में क्षमा और क्षोभ दोनों हैं ॥ ३५ ॥

पाँचवाँ समास–हरिकथा की रीति।

॥ श्रीराम ॥

अब बुद्धिमान् श्रोता लोगों को हरिकथा की रीति सावधान होकर सुनना चाहिए ॥ १ ॥ हरिकथा किस प्रकार कहना चाहिए–उसमें रंग कैसे लाना चाहिए कि, जिससे रघुनाथ–कृपा की पदवी मिले ? ॥ २ ॥ यदि सोने में सुगंध और ईख में सुन्दर, मधुर, रसाल फल हों तो कितनी अपूर्वता की बात है ! ॥ ३ ॥ उसी प्रकार हरिदास और फिर विरक्त, ज्ञाता और प्रेमल भक्त, तथा व्युत्पन्न होकर भी वादरहित, होना अपूर्वता ही है ॥ ४ ॥ इतना होकर भी यदि कहीं वह रागज्ञानी, ताल-ज्ञानी, सकलकलायुक्त, ब्रह्म-ज्ञानी और निरभिमान होकर लोगों में बर्ताव करता है तो फिर क्या कहना है ? ॥ ५ ॥ जिसके पास मत्सर नहीं है, जो सज्जनों को अत्यन्त प्रिय है, जो चतुरों के सब अंग जानता है और आत्म-निष्ठ है वही उत्तम हरिदास है ॥ ६ ॥ जयंतियां आदि नाना पर्व, अपूर्व तीर्थक्षेत्र, जहां देवाधिदेव सामर्थ्यरूप से रहता है, जो लोग नहीं मानते और सिर्फ अपने शब्दज्ञान से उन्हें मिथ्या बतलाते हैं उन पामरों को भला श्रीपति भगवान् कैसे मिल सकता है ? ॥ ७ ॥ ८ ॥ सन्देह के कारण निर्गुण में उनका मन नहीं लगता, और ब्रह्म-ज्ञान के अभिमान के कारण सगुण भी नहीं भाता; इस प्रकार वे दोनों ओर से नष्ट होते हैं ॥ ९ ॥ आगे सगुण मूर्ति के रहते हुए जो निर्गुण की कथा कहते हैं और निर्गुण का प्रतिपादन करके सगुण का उच्छेदन करते हैं वह पठित-मूर्ख हैं ॥ १० ॥ वास्तव में ऐसी हरिकथा न करना चाहिए कि, जिससे दोनों पंथ (सगुण और निर्गुण) हाथ से चले जायँ। अस्तु ; अब हरिकथा के लक्षण सुनोः—॥ ११ ॥

सगुण मूर्ति के सन्मुख भावपूर्वक करुणा-कीर्तन करना चाहिए और ईश्वर के प्रताप और कीर्ति से युक्त नाना ध्यानों का वर्णन करना चाहिए ॥ १२ ॥ इस प्रकार गान करन से सहज ही रसाल कथा मुख से निकलती आती है और सब के अन्तःकरण में प्रेमसुख हिलोड़ने लगता है ॥ १३ ॥ कथा रचने की युक्ति यह है कि, सगुण में निर्गुण न लाना चाहिए और दूसरों के (या श्रोताओं के) दोष-गुण न कहना चाहिए ॥ १४ ॥ भगवान् के वैभव और महत्व का नाना प्रकार से वर्णन करना चाहिए-सगुण में श्रद्धा रख कर कथा कहना चाहिए ॥ १६ ॥ लोक-लाज छोड़ कर, धन की आस्था छोड़ कर, नित्य नूतन, कीर्तन से प्रेम रखना चाहिए ॥ १६ ॥ देवमन्दिर के राजांगण में निश्शंक होकर लोटना चाहिए, करताली बजा कर, नाचते हुए, नामघोष करना चाहिए ॥ १७ ॥ एक देवता की कीर्ति दूसरे देवता के सामने वर्णन करना अच्छा नहीं लगता, अतएव जिसकी कीर्ति हो, उसीके सन्मुख वह कहना चाहिए ॥ १८ ॥ यदि सामने सगुण मूर्ति न हो, और साधुजन श्रोता हों, तो फिर अद्वैतनिरूपण अवश्य करना चाहिए ॥ १९ ॥ जहां मूर्ति न हो और सज्जन (साधु) भी न हों; भाविक जन श्रोता हों, वहां पश्चात्तापयुक्त (करुणापूर्ण) वैराग्य का कीर्तन करना चाहिए ॥ २० ॥ शृंगारादिक नवरसिक वर्णन में से एक शृंगार-विषय छोड़ देना चाहिए; स्त्री आदि का कौतुक वर्णन नहीं करना चाहिए ॥ २१ ॥ स्त्रियों के लावण्य का वर्णन सुन कर, सहज ही, मन में विकार आ जाता है और तत्काल श्रोताओं का धैर्य भंग हो जाता है ॥ २२ ॥ इस लिए उस वर्णन को ही छोड़ देना चाहिए। वह सहज ही साधकों के लिए बाधक है। ऐसे वर्णन को ग्रहण करने से अंतःकरण में स्त्रियों का ध्यान बैठता है ॥ २३ ॥ स्त्रियों का लावण्य ध्यान में आने से मन कामाकार हो जाता है और ईश्वर का ध्यानस्मरण नहीं हो सकता ॥ २४ ॥ जो स्त्री का वर्णन करने से सुखी होता है और स्त्रीलावण्य के आनन्द में मग्न रहता है, वह ईश्वर से वंचित रहता है ॥ २६ ॥ एक पलभर भी यदि परमात्मा ध्यान में आ जाता है तो कथा में बहुत मन लगता है ॥ २६ ॥ ईश्वर के ध्यान में मन लग जाने पर फिर संसार की याद कैसे आ सकती है ? निश्शंक और निर्लज्ज होकर कीर्तन करने से आनन्द आता है ॥ २७ ॥ कथा कहनेवाले को रागज्ञान, तालज्ञान और स्वरज्ञान में व्युत्पन्न होना चाहिए तथा उपदेशपूर्ण कीर्तन करना चाहिए ॥ २८ ॥ छप्पन भाषा, नाना कला और कोकिला की सी कंठमधुरता, आदि गौण विषय हैं; भक्तिमार्ग इससे अलग है, उसे भक्त ही जानते हैं ॥ २९ ॥ भक्तों को ईश्वर ही का ध्यान रहता है, ईश्वर को छोड़ कर दूसरे को वे जानते ही नहीं और

कलावन्तों का मन कला में ही लगा रहता है ॥ ३० ॥ श्रीहरि के बिना जितनी कलाएं हैं, सब व्यर्थ हैं। भक्तिरहित कलाओं में मग्न हुआ पुरुष ईश्वर से प्रत्यक्ष वंचित रहता है ॥३१॥ जिस प्रकार सर्पों से घिरे रहने के कारण चंदन दुर्लभ होता है, और जैसे भूतप्रेत के डर से द्रव्य का भांडार दुष्प्राप्य रहता है वैसे ही नाना प्रकार की कलाओं के कारण ईश्वर भी दुर्लभ हो जाता है ॥ ३२ ॥ सर्वज्ञ परमात्मा को छोड़ कर नाद में मग्न होना, मानो प्रत्यक्ष बीच में विघ्न उपस्थित करना है ॥ ३३ ॥ मन तो स्वर में फँसा हुआ है; फिर श्रीहरि का चिंतन कौन करे? यह तो वैसा ही हाल हुआ जैसे कोई चोर किसीको जबरदस्तीसे पकड़ कर उससे सेवा कराता हो! ॥ ३४ ॥ परमात्मा की प्राप्ति में रागज्ञान विघ्न डालता है और मन को पकड़ कर स्वर के पीछे ले जाता है ॥ ३५ ॥ राजा की भेंट करने के लिए जाने से जैसे जबरदस्ती कोई बेगारी पकड़ ले वैसा ही हाल कला से कलावंत का हो जाता है ॥ ३६ ॥ ईश्वर मे मन रख कर जो कोई हरि-कथा कहता है उसीको इस संसार में धन्य जानो ॥ ३७ ॥ जिसे हरिकथा से प्रीति है, और नित्य नई प्रीति बढती जाती है, उसे भगवान् की प्राप्ति होगी ॥ ३८ ॥ जहां हरिकथा हो रही हो वहां के लिए सब छोड़ कर जो दौड़ता है और आलस्य, निद्रा तथा स्वार्थ को छोड़ कर जो हरिकथा में तत्पर होता है ॥ ३९ ॥ और जो हरिभक्त के घर में नीच कृत्य का भी अंगीकार करता है और सब प्रकार से स्वयं यत्नपूर्वक साह्यभूत होता है ॥ ४० ॥ तथा नामस्मरण में जिसका विश्वास होता है उसको हरिदास कहते हैं; यहां से यह समास पूर्ण होता है ॥ ४१ ॥

छठवाँ समास—चातुर्य लक्षण।

॥ श्रीराम ॥

रूप और लावण्य का अभ्यास नहीं किया जा सकता; स्वाभाविक गुणों के लिए कोई उपाय नहीं चलता; अतएव आगन्तुक गुणों के लिए कुछ न कुछ उपाय करना चाहिए ॥ १ ॥ काला मनुष्य गोरा नहीं हो सकता; खुधरे मनुष्य के लिए कोई उपाय नहीं है, मूक पुरुष के वाचा डिठियार (दीठिवार=दृष्टिवाला) नहीं हो सकती; बधिर सुन नहीं

सकता और पँगु फिर पैर नहीं पा सकता; ये स्वाभाविक बातें हैं ॥३॥ कुरूपता के लक्षण कहाँ तक बतलाये जायँ? सारांश, स्वाभाविक होने के कारण ये बदले नहीं जा सकते ॥ ४ ॥ परन्तु अवगुण छोड़ने से चले जाते हैं. अभ्यास करने से उत्तम गुण आ जाते हैं; इस लिए चतुर लोग कुविद्या छोड़ कर सुविद्या सीखते हैं ॥ ५ ॥ मूर्खपन छोड़ने से चला जाता है; चतुरता सीखने से आ जाती है; उद्योग करने से सब कुछ समझ में आ जाता है ॥ ६ ॥ प्रतिष्ठा पाना यदि पसन्द है तो फिर उसकी अपेक्षा क्यों करना चाहिए? बिना चतुरता के ऊंची पदवी कदापि नहीं मिल सकती ॥ ७ ॥ यदि इस बात पर प्रतीति होती है तो फिर स्वहित क्यों नहीं करते? सन्मार्ग पर चलनेवाले लोगों को सज्जन मानते हैं ॥ ८ ॥ देह का चाहे जितना शृंगार किया जाय; परन्तु यदि चतुरता नहीं है तो सब व्यर्थ है। गुण के बिना ऊपर से रूप बनाने में कोई लाभ नहीं ॥ ९ ॥ अंतर्कला (अन्तःकरण) का शृंगार करना चाहिए, नाना प्रकार से ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और संपदा प्राप्त करके सुख से भोगना चाहिए ॥ १० ॥ जो प्रयत्न नहीं करता, सीखता नहीं, शरीर से श्रम भी नहीं करता, उत्तम गुण नहीं लेता और सदा क्रोध करता है उसे सुख नहीं मिलता ॥ ११ ॥ हम दूसरे के साथ जैसा करेंगे वैसा ही उसका बदला हम को तुरंत मिलेगा। लोगों को कष्ट देने से हमको भी बहुत कष्ट उठाना पड़ेगा ॥ १२ ॥ जो न्याय से चलता है वह चतुर है और जो अन्यायी है वह नीच है। नाना चतुराइयों के चिन्ह चतुर ही जानता है ॥ १३ ॥ सर्वसामान्य बात को सभी ग्रहण करते हैं; और निन्दनीय बात को कोई पसन्द नहीं करता ॥ १४ ॥ लोग तुम्हारे ऊपर प्रसन्न रहें या सभी लोग तुम्हारे ऊपर टूट पड़ें? (इन दो बातों में से तुम को कौन पसंद है?) जिससे तुमको समाधान मिले वह बात करना चाहिए ॥ १५ ॥ समाधान से समाधान बढ़ता है, मैत्री से मैत्री जुड़ती है ॥ १६॥ और नाश करने से क्षण भर ही में भलाई का नाश हो जाता है ॥ १६॥ 'अहो' का उत्तर 'क्यों हो' और 'अरे' का उत्तर 'क्यों रे' रोज सुनते हो या नहीं? यह बात मालूम होते हुए भी, फिर निकम्मापन क्यों? ॥ १७ ॥ चातुर्य से हृदय की शोभा होती है और वस्त्र से शरीर की शोभा बनती है; अब भला देखो तो कि, इन दोनों में श्रेष्ठ शृंगार कौन है? (भीतर का शृंगार श्रेष्ठ है या बाह्य शृंगार?) ॥ १८ ॥ बाहरी शृंगार से लोगों को क्या लाभ है? चातुर्य से तो बहुतों की नाना प्रकार से, रक्षा होती है ॥ १९ ॥ अच्छा खाना, अच्छा पीना अच्छा पहनना और सब में अच्छा कहाना सब चाहते हैं ॥ २० ॥ परन्तु

जब तक तन-मन से परिश्रम नहीं करते तब तक कोई प्रशंसा नहीं करता। व्यर्थ संकल्प-विकल्प में पड़ने से कष्ट ही होता है ॥ २१ ॥ लोगों का रुका हुआ कार्य जिसके द्वारा होता है उसके पास लोग स्वाभाविक अपने काम के लिए जाते ही हैं ॥ २२ ॥ इस लिए दूसरे को सुखी करके उससे स्वयं भी सुखी होना चाहिए। दूसरे को दुःख देने से अपने को भी कष्ट उठाना पड़ता है ॥ २३ ॥ यह बात है तो प्रगट ही; पर विचार किये बिना काम नहीं चलता। प्राणिमात्र के लिए 'समझना' ही एक उपाय है ॥ २४ ॥ जो समझ-बूझ कर बर्ताव करते हैं वेही पुरुष भाग्यवान् कहलाते हैं; उन्हें छोड़ कर बाकी सब अभागी हैं ॥ २५ ॥ जैसा व्यापार किया जाता है वैसा ही वैभव मिलता है और जैसा वैभव मिलता है वैसा ही सुख मिलता है। उपाय प्रगट ही है, समझना चाहिए ॥ २६ ॥ आलस से कार्य का नाश होता है, प्रयत्न धीरे धीरे होता है। जिसे प्रत्यक्ष बात नहीं जान पड़ती वह कैसा सयाना है? ॥ २७ ॥ मित्रता करने से काम बनता है और बैर करने से मौत होती है। यह बात सत्य है या असत्य-सो पहचानना चाहिए ॥२८॥ जो अपने आप को चतुर बनाना नहीं जानते, जो स्वयं अपना हित नहीं जानते और जो लोगों से मित्रता रखना नहीं जानते; किन्तु बैर करते हैं, उन्हींको अज्ञान कहते हैं। ऐसे लोगों के पास कौन समाधान पा सकता है? ॥२९॥३०॥ यदि कोई यकायक अकेला संसार से लड़ने के लिए तैयार हो तो बहुतों के सामने उस अकेले पुरुष को विजय कैसे मिल सकती है? ॥३१॥ बहुतों के मुख में रहना चाहिए; बहुतों के अन्तःकरण में बैठ जाना चाहिए और प्राणिमात्र को उत्तम गुण सिखाते रहना चाहिए ॥ ३२ ॥ लोगों को चतुर बनाना चाहिए, पतितों को पावन करना चाहिए और सृष्टि में भगवद्भजन बढ़ाना चाहिए ॥ ३३ ॥

सातवाँ समास—कलियुग का धर्म।

॥ श्रीराम ॥

नाना वेष और नाना आश्रम आदि सबों का मूल गृहस्थाश्रम है। इस आश्रम में सब प्रकार के लोग विश्राम पाते हैं ॥ १ ॥ देव, ऋषि, मुनि, योगी, नाना तापसी, वीतरागी, पितृ आदि अधिकारी, अतिथि-अभ्यागत,

इत्यादि सब गृहस्थाश्रम में उत्पन्न होते हैं। यद्यपि ये लोग अपना आश्रम छोड़ जाते हैं, तथापि कीर्तिरूप से वे गृहस्थ के घर में सदा घूमते रहते हैं ॥ २ ॥ ३ ॥ इस कारण गृहस्थाश्रम सब से श्रेष्ठ है; परन्तु स्वधर्म और भूतदया की आवश्यकता है-(अर्थात् ये दो गुण गृहस्थ में अवश्य होना चाहिए, तभी गृहस्थाश्रम की शोभा है) ॥ ४ ॥ वेदविहित कर्मों का आचरण करना चाहिए और सब से मधुर वचन बोलना चाहिए ॥ ५ ॥ सब प्रकार से उचित बर्ताव करना चाहिए; सब काम शास्त्रानुसार करना चाहिए, और भक्तिमार्ग से चलना चाहिए ॥ ६ ॥ जो पुरश्चरणी और कायाक्लेशी है, दृढव्रती और परम उद्योगी है और जिसके लिए जगदीश को छोड़ कर और कोई बड़ा नहीं है ॥ ७ ॥ जो काया, वाचा, जीव और प्राण से भगवान् के लिए कष्ट करता है और मन से भजनमार्ग में दृढ़ होता है ॥८॥ वही सच्चा भगवद्भक्त है। वह विशेष करके भीतर से विरक्त होता है और संसार की चिन्ता छोड़ कर, ईश्वर के लिए, मुक्त बन जाता है ॥ ९ ॥ वास्तव में जिसमें भीतर से वैराग्य है वही महा भाग्यशाली है। आसक्ति के समान और अभाग्य नहीं है ॥ १० ॥ बहुत से राजा लोग राज्य छोड़ कर भगवान् के लिए इधर उधर घूमते रहे और भूमंडल में कीर्ति से पावन हुए ॥ ११ ॥ ऐसे ही (उपर्युक्त) योगीश्वर अनुभवी होते हैं और अपने सदुपदेश से वे सम्पूर्ण मनुष्यों को पवित्र करते हैं ॥१२॥ उन उदासीन वृत्तिवाले आत्मज्ञानियों के दर्शनमात्र से मनुष्य पावन होते हैं ॥ १३ ॥ उनसे मनुष्यमात्र का कल्याण ही होता है; उनसे किसीकी बुराई नहीं होती और उनका हृदय, अखंड रीति से, भगवान् में लगा रहता है॥१४॥ ऐसा योगी, लोगों को तो दुश्चित्त सा देख पड़ता है सही; पर वास्तव में है वह सावधानचित्त; क्योंकि उसका चित्त निरंतर परमेश्वर में लगा रहता है ॥ १५ ॥ उसका चित्त उपास्य मूर्ति के ध्यान में मग्न रहता है, अथवा आत्मानुसंधान में लगा रहता है, अथवा सदा श्रवण-मनन में उसका चित्त लगा रहता है ॥ १६ ॥ जब पूर्वजों के करोड़ों पुण्यों का संग्रह होता है तभी लोगों को ऐसे पुरुष की भेंट होती है ॥ १७ ॥

प्रतीतिरहित जो ज्ञान है वह प्रायः सभी अनुमानमात्र है; उसके द्वारा मनुष्यों को मुक्ति नहीं मिल सकती ॥ १८ ॥ इस कारण प्रतीति मुख्य है, बिना प्रतीति के काम नहीं चलता । चतुर लोग 'उपाय' और 'अपाय' दोनों जानते हैं ॥ १९ ॥ कोई कोई पागल सुख के लिए गृहस्थी छोड़ जाते हैं; पर तौ भी वे दुःख ही दुःख में मर जाते हैं और इहलोक तथा परलोक दोनों से वञ्चित रहते हैं ॥ २० ॥ जो क्रोध करके घर से निकल जाता है वह झगड़ते ही झगड़ते मर जाता है; बहुत लोगों को दुःखी करता है

और स्वयं भी दुःखी होता है ॥२१॥ बैरागी होकर वह निकल तो जाता है; पर अज्ञान उसमें बना ही रहता है; लोग चेला बन कर उसीके साथ लगते हैं; परन्तु गुरु-शिष्य दोनों समान ही अज्ञानरूप बने रहते हैं॥२२॥इस प्रकार का आशाबद्ध और अनाचारी यदि गृहस्थी छोड़ कर निकल जाता है तो वह लोगों में अनाचार ही फैलाता है ॥२४॥ घर में भूख के मारे कष्ट पाकर जो बैरागी हो जाते हैं उन्हें ठौर ठौर में, चोरी करते हुए पाकर, लोग मारते हैं ॥ २५ ॥ परन्तु जो संसार को मिथ्या जान कर ज्ञान प्राप्त करके निकल जाता है वह अपने समान लोगों को भी पावन करता है ॥ २५ ॥ एक की संगति से लोग तिर जाते हैं और एक की संगति से डूब जाते हैं इस लिए (संगति करने के पहले) उसकी जाँच अच्छी तरह कर लेना चाहिए ॥ २६ ॥ जो स्वयं विवेकवान् नहीं है वह दूसरे को उपदेश क्या देगा? ऐसे अविवेकी को तो भिक्षा भी माँगे नहीं मिलती ॥ २७ ॥ परन्तु जो दूसरे के हृदय की बात जानता है; देश, काल और प्रसंग जानता है, उसे जगत् में किस बात की कमी है ? ॥ २८ ॥

जहां नीच प्राणी गुरुत्व पाता है वहां आचार ही डूब जाता है; ऐसी दशा में वेद, शास्त्र और ब्राह्मण को कौन पूँछता है ? ॥ २९ ॥ ब्रह्म-ज्ञान के विचार का अधिकार ब्राह्मण ही को है; ऐसा कहा भी है कि, " वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः '-अर्थात् सब वर्णों का गुरु ब्राह्मण है ॥ ३० ॥ परन्तु ब्राह्मण बुद्धिच्युत हो गये हैं, आचार-भ्रष्ट होगये हैं और गुरुत्व छोड़ कर शिष्यों के भी शिष्य बन गये हैं ! ॥ ३१ ॥ कितने ही पीर को भजते हैं और कितने ही अपनी इच्छा से ' तुरुक ' हो जाते हैं ॥२२॥ यही कलियुग के आचार का हाल है; विचार का कहीं पता नहीं है; अब इसके आगे तो वर्णसंकर ही होनेवाला है ! ॥ ३३ ॥ नीच जाति को गुरुत्व प्राप्त हुआ है, कुछ थोड़ी महंती बढ़ा कर शूद्र लोग ब्राह्मणों का आचार डूबो रहे हैं ! ॥ ३४ ॥ ब्राह्मणों को यह मालूम नहीं होता, उनकी वृत्ति ही नहीं झुकती और उनका मूर्खता का मिथ्या अभिमान नहीं मिटता ! ॥ ३५ ॥ राज्य म्लेच्छों के घर में चला गया; गुरुत्व कुपात्रों में चला गया; हम न अत्र में रहे न परत्र में; कुछ भी नहीं रहा ! ॥ ३६ ॥ ब्राह्मणों को ग्रामण्य ने डूबो दिया, जिन विष्णु ने भृगुलता को आदरपूर्वक धारण किया उन्हीं विष्णु ने परशुराम होकर ब्राह्मणों को शाप दिया ! ॥ ३७ ॥ हम भी वही ब्राह्मण हैं; दुःख के साथ कहना पड़ता है कि, पुरखा लोग हमारे पीछे ग्रामण्य लगा गये ! ॥ ३८ ॥ अब के ब्राह्मणों ने क्या किया ? ऐसे हुए कि, जिन्हें अन्न भी नहीं मिलता ! यह बात तुम सभी लोग जान सकते हो ! ॥ ३९ ॥ अच्छा, पुरखों को क्या करें ? ब्राह्मणों का भाग्य ही ऐसा जानना चाहिए

प्रसंग आ पड़ने पर, साधारण तौर पर, इतना कह दिया; क्षमा करना चाहिए! ॥ ४० ॥

आठवाँ समास–अखण्ड ध्यान !

॥ श्रीराम ॥

अच्छा, जो हुआ सो तो होगया; अब तो ब्राह्मणों को जगना चाहिए! ॥ १ ॥ विमल हस्त से परमात्मा की पूजा करना चाहिए, इससे सब वैभव मिलता है। मूर्ख, अभक्त और व्यस्त लोग दरिद्रता भोगते हैं ॥ २ ॥ पहले ईश्वर को पहचानना चाहिए; फिर अनन्य भाव से उसका भजन करना चाहिए। उस सर्वोत्तम का अखण्डरूप से ध्यान रखना चाहिए ॥ ३ ॥ सब में जो उत्तम है उसका नाम है 'सर्वोत्तम'। आत्मानात्म–विवेक करके उसका मर्म जानना चाहिए ॥ ४ ॥ आत्मा जानपन से देह की रक्षा करता है, वह द्रष्टा और अन्तर्साक्षी है, वह जानपन से पदार्थमात्र की परीक्षा करता है ॥ ५ ॥ वह सब देहों में बर्तता है, इंद्रियगण को चेष्टा देता है और अनुभव से प्राणिमात्र के प्रत्यय में जाता है ॥ ६ ॥ प्राणिमात्र के अन्तःकरण में परमेश्वर है; इस लिए सब के अन्तःकरणों को सन्तुष्ट रखना चाहिए। वही एक दाता और भोक्ता सब कुछ है ॥ ७ ॥ सम्पूर्ण जगत् के अन्तःकरण में परमात्मा बर्तता है—वही हमारे अन्तःकरण में भी विराजमान है। वही तीनों लोक के प्राणिमात्र में है, अच्छी तरह देखो! ॥ ८ ॥ वास्तव में देखनेवाला वह एक ही है, परन्तु वह सब ठौर फैला हुआ है। वह देहप्रकृति से भिन्न भिन्न हो जाता है ॥ ९ ॥ देह की उपाधि के कारण भिन्न भासता है; परन्तु वस्तुतः सम्पूर्ण जगत् के अन्तःकरण में वह एक ही व्याप्त है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, बोलना-चालना आदि सब उसीके द्वारा होता है ॥ १० ॥ अपनेपराये सब लोग; पक्षी, श्वापद, पशु आदि; कीड़ा, चींटी आदि सब देहधारी प्राणी; खेचर, भूचर, वनचर, नाना प्रकार के जलचर—चार खानियों का विस्तार कहाँ तब बतलावें–सब प्राणी चेतनाशक्ति से बर्तते हैं। इसकी प्रत्यक्ष प्रतीति यही देख लो कि, उस चेतनाशक्ति की और हमारी संगति अखण्ड बनी रहती है ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ जगत् के अन्तःकरण में जो परमात्मा व्याप्त है उसके प्रसन्न हो जाने पर (अर्थात् सब मनुष्यों के प्रसन्न हो जाने पर)

अनन्त मनुष्य हमारे पास एकत्र हो सकते हैं; और उस जगद्रूप परमात्मा को प्रसन्न करने का उपाय हमारे ही पास है ॥ १४ ॥ वास्तव में सब को राजी रखना चाहिए, क्योंकि देह के साथ भलाई करने से वह आत्मा को प्राप्त होती है ॥ १५ ॥ दुर्जन प्राणी में जो ईश्वरांश होता है उसका स्वभाव भी वैसा ही होता है। इस लिए ऐसा आदमी यदि क्रोध में आ जाय तो उससे झगड़ा न करना चाहिए ॥ १६ ॥ उससे बरका ही जाना चाहिए; बाद को उस पर विचार करना चाहिए। विवेक से सब लोगों को सज्जन बनना चाहिए ॥ १७ ॥ जैसे औषधिभेद से एक ही जल में नाना प्रकार का स्वाद आ जाता है वैसे ही देहसम्बन्ध से आत्मत्व में भी भेद हो जाता है ॥ १८ ॥ चाहे विष हो, चाहे अमृत हो; पर उसका आपपन नहीं जाता। इसी प्रकार साक्षित्व से आत्मा को पहचानना चाहिए ॥ १९ ॥ जो अन्तर्निष्ठ पुरुष है वह अन्तर्निष्ठा के कारण श्रेष्ठ है, जगत् में जो जगदीश है उसे वह पहचानता है ॥ २० ॥ जैसे कोई आंख से ही आंख को देखे या मन से ही मन को ढूँढ़े वैसा ही भगवान को घट घट में व्यापक जानना चाहिए* ॥ २१ ॥ उसके बिना कार्य रुका रहता है, सब कुछ उसीसे हो सकता है और उसीके योग से प्राणी को विवेक प्राप्त होता है ॥ २२ ॥ जागृति में जो व्यापार होता है उसका सम्बन्ध उसीसे रहता है और इसी प्रकार स्वप्न में भी जो कुछ होता है सो सब उसीके सम्बन्ध से होता है ॥ २३ ॥ इस बात का विचार करने से अखण्ड ध्यान का लक्षण मालूम हो जाता है और परमात्मा का अखण्ड स्मरण सहज ही होने लगता है ॥ २४ ॥ लोगों में जो दोष देखा जाता है वह यही है कि, वे सहज छोड़ कर कठिन पकड़ते हैं–वे आत्मा छोड़ कर अनात्मा का ध्यान करते हैं ॥ २५ ॥ पर वह (अनात्मा का ध्यान) हो ही नहीं सकता— नाना व्यक्तियां ध्यान में आती हैं। व्यर्थ के लिए तकलीफ उठाते हैं! ॥ २६ ॥ प्रयत्न करके मूर्ति का ध्यान करने से वहां कुछ और का और ही देख पड़ता है; जिसका भास न होना चाहिए–ऐसा ही कुछ विलक्षण भासने लगता है ॥ २७ ॥ पहले स्वयं इस बात का अच्छी तरह विचार करना चाहिए कि, ध्यान देव का करना चाहिए या देवालय का? ॥ २८ ॥ देह देवालय है; उसमें आत्मा देव है; इन दो में से तुम किसमें भक्ति रखना चाहते हो? देव को पहचान कर उसीमें मन लगाना चाहिए ॥ २९ ॥ सच्चा ध्यान यही है और जनरूढ़ि का ध्यान अन्य है। सच तो यह है कि, अनु-

---

* जैसे सब प्राणिमात्र में परमेश्वर है वैसे ही वह हम मे भी है। इससे दूसरों का अन्तःकरण जानना, मानो सर्वघटव्यापक भगवान् को भगवान् के द्वारा ही देखना है।

भव बिना सब व्यर्थ है ॥ ३० ॥ सन्देह ही बढ़ता है। ऐसी दशा में जो ध्यान किया जाता है वह तुरन्त ही भंग हो जाता है। व्यर्थ के लिए बिचारे स्थूल ध्यान में कष्ट सहते हैं ॥ ३१ ॥ परमात्मा को देहधारी मानते हैं, इस लिए उनके मन में नाना विकल्प उठते हैं। भोग, त्याग आदि विपत्तियां देह के योग से ही होती हैं ॥ ३२ ॥ नाना प्रकार की बातें मन में आती हैं, उनका विचार करना बहुत कठिन है। जो दिखाव कभी स्वप्न में भी नहीं दिख पड़ते वही, नाना प्रकार से, दिख पड़ते हैं ॥ ३३ ॥ दिखता है सो बतलाया नहीं जा सकता--और जबरदस्ती उसमें विश्वास रखा नहीं जा सकता; इस कारण साधक अन्तःकरण में घबड़ाता है ॥ ३४ ॥ ध्यान के सांगोपांग बन पड़ने का गवाह (साक्षी) अपना मन है। मन में विकल्प का दर्शन नहीं होने देना चाहिए ॥ ३५ ॥ चञ्चल मन स्थिर करके अखंडित ध्यान करने से कौन फल मिल सकता है? देखते क्यों नहीं? ॥ ३६ ॥ अखण्ड ध्यान से यदि किसीका हित न हो तो फिर उसे पतित जानना चाहिए; इस बात को सुचित्त होकर अच्छी तरह विचारना चाहिए ॥ ३७ ॥ ध्यान धरता है सो कौन है और ध्यान में आता है सो कौन है--दोनों में अनन्य लक्षण होना चाहिए ॥ ३८ ॥ वास्तव में अनन्य तो स्वाभाविक ही है; पर अड़चन यह है कि, साधक खोज कर देखता नहीं, और जो ज्ञानी पुरुष है वह उसका मनन करके समाधान में मग्न रहता है ॥ ३९ ॥ अस्तु। ये अनुभव के काम हैं; अनुभव के बिना भ्रम से बाधा में पड़ते हैं। साधारण लोग जनरूढ़ि के अनुसार चलते हैं ॥ ४० ॥ जो अवलक्षणी--अभागी--हैं वे जनरूढ़िवाले ध्यान का लक्षण ही पकड़े रहते हैं। बाजारू लोग (साधारण जन) सत्यासत्य नहीं जानते ॥ ४१ ॥ ऐसे लोग गप्प उड़ा कर व्यर्थ ही हुल्लड़ मचाते हैं; पर मन में सोचने पर, अन्त में, सभी मिथ्या जान पड़ता है ॥ ४२ ॥ कोई एक मनुष्य (स्थूल मूर्ति ध्यान में लाकर) मानस पूजा कर रहा था। (मुकुट के कारण फूलों की माला मूर्ति के गले में न जाती थी;) कोई एक दूसरा मनुष्य, (अन्तःसाक्षित्वशक्ति से यह बात जान कर) उससे कहता है कि, "मुकुट उतार कर माला डालो तब ठीक होगा" ॥ ४३ ॥ अरे भाई, मन में क्या अकाल था जो ओछी माला कल्पित की? (ऐसी दशा में ओछी माला की कल्पना करनेवाला और मुकुट उतार कर माला डालने की युक्ति बतानेवाला) दोनों को निपट मूर्ख जानना चाहिए ॥ ४४ ॥ प्रत्यक्ष कुछ कष्ट उठाना नहीं पड़ता, डोरेसे फूल गूँथने नहीं पड़ते; फिर भी कल्पना की माला ओछी क्यों बनाते हैं! ॥ ४५ ॥ जितने बुद्धि-विहीन प्राणी हैं वे सभी मूर्ख हैं; उनसे कौन खटपट करे! ॥ ४६ ॥ जो जैसा परमार्थ करता है उसकी वैसी

ही रीति पृथ्वी पर फैल जाती है और सात पांच का अभिमान बढ़ जाता है ॥ ४७ ॥ प्रत्यय के बिना अभिमान करना ऐसा है जैसे धोखा देकर रोगी को मारना। वहां सभी अनुमान है; ज्ञान का कहां ठिकाना है? ॥ ४८ ॥ अतएव सम्पूर्ण अभिमान छोड़ देना चाहिए, प्रतीति-पूर्वक विवेक प्राप्त करना चाहिए और मायारूप पूर्वपक्ष का विवेकबल से खण्डन करना चाहिए ॥ ४९ ॥

नववाँ समास–शाश्वत–निरूपण।

॥ श्रीराम ॥

पीछे पिंड का कौतुक देखा गया और आत्मानात्म का विवेक भी किया गया; उससे यह मालूम हो गया कि, पिंड अनात्मा है और आत्मा, जो सब का कर्त्ता है, उससे अलग है ॥ १ ॥ इसके सिवाय यह भी मालूम हो गया कि, उस आत्मा के तईं अनन्य रहना चाहिए। अब, ब्रह्मांड-रचना का विचार करना चाहिए ॥ २ ॥ आत्मा और अनात्मा का विवेक पिंड में है और सार-असार का विवेक ब्रह्मांड में है–दोनों का विवरण कर कर के उसकी मजा लेनी चाहिए ॥ ३ ॥ पिंड कार्य का ब्रह्मांड (पंचभूत) कारण है, इसका विवरण किस प्रकार करना चाहिए सो आगे बतलाया है ॥ ४ ॥ असार नाशवंत को कहते हैं और सार शाश्वत को कहते हैं। जिसका कल्पांत में नाश हो जाता है वह सार नहीं है ॥ ५ ॥ पृथ्वी जल से हुई है और आगे वह जल में ही लय होती है। जल की उत्पत्ति तेज से हुई है ॥ ६ ॥ उस जल को तेज सुखा डालता है--अर्थात् महत्तेज से जलका लय हो जाता है; इसके बाद तेज ही बच रहता है ॥ ७ ॥ तेज वायु से होता है, इस लिए वायु ही उसको लय करता है, इस प्रकार तेज के लय हो जाने पर फिर वायु ही बच रहती है ॥ ८ ॥ वायु गगन से होता है, इस लिए अन्त में उसीमें वह लय भी हो जाती है। यह कल्पान्त का वर्णन वेदान्तशास्त्र में है ॥ ९ ॥ गुणमाया और मूलमाया भी, अन्त में परब्रह्म में लय हो जाती हैं। अब, उस परब्रह्म का विवरण करने के लिए विवेक चाहिए ॥ १० ॥ जो सब उपाधियों का अन्त है, जहां दृश्य की खटपट नहीं है, ऐसा वह निर्गुण परब्रह्म सब में व्याप्त है ॥ ११ ॥ चाहे जितने कल्पान्त हुआ करें; पर तौभी उसका नाश नहीं है। माया त्याग कर शाश्वत को पहचानना चाहिए ॥ १२ ॥ ईश्वररूप अन्तरात्मा सगुण है,

इसी सगुण से निर्गुण मिलता है और निर्गुण के ज्ञान से विज्ञान (अनुभवात्मक ज्ञान) होता है ॥ १३ ॥ जो कल्पनातीत निर्मल है वहां माया-मल कहां से आया? मिथ्यात्व से, अर्थात् माया से, यह सारा दृश्य होता जाता है ॥ १४ ॥ जो होता है और यकदम चला जाता है वह तो प्रत्यक्ष देख ही पड़ता है; पर जिसमें होना या जाना नहीं है उसे (उस परब्रह्म को) विवेक से पहचानना चाहिए ॥ १५ ॥ एक ज्ञान है, एक अज्ञान है और एक विपरीतज्ञान है—इस त्रिपुटी का लय होना ही विज्ञान (या अद्वैतानुभवज्ञान) है ॥ १६ ॥ वेदांत, सिद्धान्त और 'धादांत' (स्वानुभव) की प्रतीति प्राप्त करना चाहिए। वह निर्विकार परब्रह्म सर्वत्र सदा प्रकाशित रहता है ॥ १७ ॥ उसे (उस सदोदित निर्विकार परब्रह्म को) ज्ञान-दृष्टि से देखना चाहिए और देख कर उसीमें अनन्य (या लीन) रहना चाहिए; इसीको मुख्य आत्मनिवेदन कहते हैं ॥ १८ ॥ दृष्टि को दृश्य देख पड़ता है, मन को भास भासता है; पर अविनाशी परब्रह्म दृश्य और भास दोनों से परे है* ॥ १९ ॥ विचार करने से जान पड़ता है कि, परब्रह्म अत्यंत दूर है; पर वास्तव में वह भीतर-बाहर, सब जगह, व्याप्त है-उसका अन्त ही नहीं है-अनन्त है-उपमा किसकी दें? ॥ २० ॥ चंचल स्थिर नहीं होता और निश्चल कभी चलता नहीं। बादल आते जाते रहते हैं; पर आकाश अचल रहता है ॥ २१ ॥ जो विकार से बढ़ता है, घटता है उसमें शाश्वतता कहां से हो सकती है? सब कुछ कल्पांत में लय हो जाता है ॥ २२ ॥ जो अन्तःकरण में ही भ्रमित है, जो मायासंभ्रम से सम्भ्रमित है, उसे इस अपार चक्र का बोध कैसे हो सकता है? ॥ २३ ॥ संकोच से व्यवहार नहीं होता, संकोच से सिद्धान्त नहीं मालूम होता और संकोच से अन्तःकरण में परमात्मा का आकलन नहीं होता ॥ २४ ॥ यदि वैद्य की प्रतीति न आती हो और संकोच भी न छोड़ता हो तो फिर जान लेना चाहिए कि, यह रोगी नहीं बचेगा ॥ २५ ॥ जिसने राजा को पहचान लिया है वह किसी ऐसे-वैसे को राव नहीं कह सकता-जिसने परमात्मा को पहचान लिया है उसे परमात्मरूप ही समझो; (क्योंकि बिना परमात्मरूप हुए परमात्मा को कोई पहचान ही नहीं सकता) ॥ २६ ॥ जिसे मायिक का

---

* दृष्टि से, अर्थात् चर्मचक्षु से, वह परब्रह्म नहीं दिख सकता है; क्योंकि वह दृश्य से परे है-इसी तरह भास से, अर्थात् मन से, वह परब्रह्म नहीं भासता; क्योंकि वह भास से भी परे है; इस लिए दृश्यात्मक चक्षु या भासात्मक मन, ये दोनों, जहाँ नहीं रहते—जब दृश्य अदृश्य हो जाता है; मन उन्मन हो जाता है और अनन्यता आ जाती है तभी—उसी अनिर्वाच्य दशा में-परब्रह्म...... ।

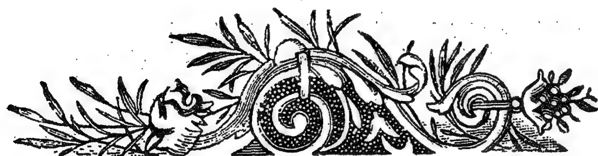
ड़र है वह नीच क्या बतलावेगा? विचार करके देखने से सब कुछ स्पष्ट है ॥ २७ ॥ संकोच माया के इस ओर है और परब्रह्म उस ओर है—वह इधर उधर, दोनों ओर सदोदित है ॥ २८ ॥ मिथ्या का संकोच करना, और भ्रम से और का और ही करना, विवेक के लक्षण नहीं हैं ॥ २९ ॥ जितना कुछ खोटा है सब छोड़ देना चाहिए; और खरे को प्रत्यय से पहचानना चाहिए। माया को त्याग करके परब्रह्म को जानना चाहिए ॥ ३० ॥ उसी माया का लक्षण आगे बतलाया गया है। सुचित्तता के साथ उसका विचार करना चाहिए ॥ ३१ ॥

दसवाँ समास-माया मिथ्या है।

॥ श्रीराम ॥

माया दिखती है; पर नाश होती है, 'वस्तु' न दिखती है और न नाश होती है। माया सत्य जान पड़ती है; पर वह बिलकुल मिथ्या है॥१॥ जैसे अभागी मनुष्य औंधा पड़ कर नाना प्रकार की कल्पना करता है; पर उसकी इच्छा के अनुसार कुछ नहीं होता; यही हाल माया का है ॥२॥ जैसे द्रव्यद्वारा मिलनेवाला स्वप्नवैभव और नाना प्रकार के विलासयुक्त हावभाव क्षणभर के लिए जान पड़ते हैं; पर वास्तव में हैं वे मिथ्या—वैसी ही माया है ॥ ३ ॥ जैसे आकाश में नाना प्रकार के गंधर्वनगर (बादल इत्यादि के मिथ्या दृश्य) दिखते हैं उसी प्रकार यह माया नाना रूपों से और नाना विकारों से दिख पड़ती है ॥ ४ ॥ बहुरूपी का वैभव जिस प्रकार सच्चा मालूम होता है; पर है वह मिथ्या, उसी प्रकार माया है ॥ ५ ॥ दशहरा के शमीपत्रों की भेंट को लोग सोना कहते हैं; पर हैं वे पत्ते, और सब जगह इसकी चाल है; वैसी ही माया है ॥ ६ ॥ जैसे मृत पुरुष का महोत्सव करना, सती की कीर्ति बढ़ाना और श्मशान में जाकर रोना मिथ्या है वैसी ही माया मिथ्या है ॥ ७ ॥ जैसे राख को लक्ष्मी (भभूत=विभूति=लक्ष्मी) कहते हैं, दूसरी एक और लक्ष्मी होती है (जो मंत्रित तागे के रूप में स्त्रियां गर्भरक्षा के लिए कमर में बांधे रहती हैं) और तीसरी नाममात्र की लक्ष्मी-वैसी ही माया है ॥ ८ ॥ जैसे बालविधवा स्त्री का नाम हो जन्मसावित्री और घर घर में घूमनेवाला को कुबेर कहें, वैसी ही माया है ॥ ९ ॥ जैसे नाटक में द्रौपदी का

स्वांग लेनेवाले पुरुष को जीर्ण वस्त्र की तृष्णा उत्पन्न हो, अथवा किसी नदी का नाम पयोष्णी हो वैसी ही माया है ॥ १० ॥ जैसे बहुरूपी राम बन कर ग्रामीणों को तमाशा दिखलाता हो, और 'महाराज' कह कर लघुत्व प्रगट करता हो; वैसी ही माया है ॥ ११ ॥ जैसे अन्नपूर्णा तो नाम है और घर में अन्न ही न मिलता हो, नाम तो सरस्वती है; पर पढ़ती नहीं, गोबर थापती है! ॥ १२ ॥ जैसे कुत्ते का 'व्याघ्र' नाम हो, पुत्र को 'इन्द्र' नाम से पुकारते हों, और कुरूप होने पर भी 'सुन्दर' कह कर पुकारते हों! ॥ १३ ॥ जैसे मूर्ख का नाम 'सकलकला' हो, गधी का नाम 'कोकिला' हो और फूटी आंखवाले को जैसे 'आँखवाला-नयनसुख' कहते हों ॥१४॥ जैसे धनकुन का नाम तुलसी (विष्णुप्रिया) हो, चमारिन का नाम काशी हो और अति शूद्रिणी को जैसे भागीरथी कहते हों! ॥ १५ ॥ और जैसी अंधकार की छाया; वैसे ही माया है ॥ १६ ॥ जैसे कान, अँगुलियां, संधियां, करतल आदि शरीर के कोई कोई भाग रविरश्मियों के कारण रम्य-लाल रंग के चमकते हुए अंगार से देख पड़ते हैं वैसी ही माया है ॥ १७ ॥ जैसे भगवे रंग का वस्त्र देखने से जान पड़ता है कि, आग सी लगी है; पर विचार से निश्चय हो जाता है, वैसी ही माया है ॥ १८ ॥ जैसे जल में हाथ पैर और अँगुलियां बहुत सी, छोटी, बड़ी और टेढ़ी देख पड़ती हैं वैसी माया है ॥ १९ ॥ लट्टू के जैसे पृथ्वी औंधी या घूमती हुई मालूम होती है, पांडुरोग होने से सारे पदार्थ पीले जान पड़ते हैं और सन्निपातवाले को जैसे सब पदार्थ उलट-पलट अनुभव में आते हैं, वैसी ही माया है ॥ २० ॥ जैसे कोई कोई पदार्थ-विकार योंही भासमात्र दिखता है, और का और ही देख पड़ता है वैसी ही माया है! ॥ २१ ॥



पन्द्रहवाँ दशक।



पहला समास—चतुर का बर्ताव।

॥ श्रीराम ॥

इन अस्थिमांस के शरीरों में जीवात्मा रहता है और वह नाना प्रकार के विकारों में प्रवृत्त भी होता है ॥ १ ॥ जीव विचार करके यह सब जानता है कि, वास्तव में क्या ठोस है और क्या पोला है, अथवा क्या चाहिए और क्या न चाहिए ॥ २ ॥ कोई मांग मांग कर पाता है और किसीको बिना मांगे ही देते हैं। प्रतीति से सुलक्षणों को पहचानना चाहिए ॥ ३ ॥ अपने जीव को अन्य जीवों के जीव में डालना चाहिए, आत्मा को आत्मा में मिलाना चाहिए और दूसरों के अन्तःकरण में प्रवेश करके उनके भीतर का भाव जानना चाहिए ॥ ४ ॥ जैसे जनेऊ ढीला रहने से उलझ जाता है और ठीक रहने से अच्छा लगता है वैसे ही वह मन भी ढीला रखने से उलझ जाता है और विवेक से ठीक रहता है। इस मन को दूसरे के मन से मिलाना चाहिए ॥ ५ ॥ ६ ॥ सन्देह से सन्देह ही बढ़ता है, संकोच से कार्य नाश होता है; अतएव, पहले प्रतीति कर लेना चाहिए ॥ ७ ॥ दूसरे के मन की बात मालूम नहीं कर सकते, दूसरे का अन्तःकरण जान नहीं सकते; फिर नाना प्रकार के लोग बस में कैसे हों? ॥ ८ ॥ बुद्धि के बिना लोग दूसरे को वशीकरण करते हैं, पर पीछे से, जब उनका प्रयोग अपूर्ण रह जाता है, तब वे सब लोगों की दृष्टि से उतर जाते हैं ॥ ९ ॥ सम्पूर्ण जगत् में जगदीश व्याप्त है; फिर चेटकों का प्रयोग किस पर करें? जो कोई विवेक से विचार करता है वही श्रेष्ठ है ॥ १० ॥ श्रेष्ठ पुरुष श्रेष्ठ काम करता है और जो कृत्रिम (बनावटी) काम करता है वह कनिष्ठ है। कर्म के अनुसार मनुष्य बुरे और भले होते हैं ॥ ११ ॥ राजा राजपथ से जाते हैं, चोर चोरपथ से जाते हैं। मूर्खता और अल्पस्वार्थ के कारण पागल ठगे जाते हैं ॥ १२ ॥ मूर्ख जानता है कि, मैं बड़ा सयाना हूं; पर वास्तव में वह पागल और दीन है। नाना चातुर्यों के चिन्ह चतुर जानता है ॥ १३ ॥ जो जगत् के अन्तःकरण से मिल जाता है वह जगत् का अन्तःकरण ही हो जाता है और उसे इस लोक या परलोक में किसी बात की कमी नहीं रहती ॥ १४ ॥ बुद्धि भगवान् की सखावत है,

बुद्धि बिना मनुष्य कच्चा है। बुद्धि-विहीन पुरुष अनमोल राज्य छोड़ कर भीख माँगता है॥ १५॥ जो जहां उत्पन्न होता है उसे वहीं अच्छा लगता है। अभिमान के कारण लोग ठौर ठौर में धोखा खाते हैं॥ १६॥ जगत् में सभी कहते हैं कि, हम बड़े हैं, सभी कहते हैं कि, हम सुन्दर हैं और सभी कहते हैं कि, हम चतुर हैं॥ १७॥ इस दृष्टि से तो कोई छोटा नहीं है; परन्तु ज्ञाता पुरुष सब जानते हैं॥ १८॥ अपने अपने अभिमान से लोग अनुमान करके चल रहे हैं; परन्तु इस बात का विवेक से विचार करना चाहिए॥ १९॥ मिथ्या का अभिमान रखना और सत्य को बिलकुल छोड़ देना मूर्खता के लक्षण हैं॥ २०॥ सत्य के अभिमानी को ही निरभिमानी जानना चाहिए। न्याय और अन्याय एक समान कभी नहीं हो सकते॥ २१॥ न्याय उसे कहते हैं जो शाश्वत है और अन्याय उसे कहते हैं जो अशाश्वत है। मूर्ख और सज्जन एक कैसे हो सकते हैं? ॥ २२॥ कोई निश्चिंत सुख-भोग करते हैं, कोई चोर भगे जाते हैं। बहुतों की महंती प्रशंसनीय है, और बहुतों की निन्दनीय है॥ २३॥ आचार विचार के बिना जो कुछ किया जाता है वह निष्फल है। इस बात का विचार वही लोग करते हैं जो चतुर और विचक्षण हैं॥ २४॥ सर्वसाधारण लोगों को चतुर पुरुष बस में रख सकता है; चतुर के सामने उन लोगों की कुछ भी नहीं चलती॥ २५॥ इस लिए मुखियों से मित्रता करनी चाहिए। ऐसा करने से असंख्य लोग आ मिलते हैं॥ २६॥ चतुर को चतुर ही अच्छा लगता है, चतुर चतुरों से ही मिलते हैं और यों तो पागल लोग बिना काम घूमते रहते हैं॥ २७॥ चतुर को जिसकी चतुरता मालूम हो जाती है उसके मन से उस चतुर का मन मिल जाता है; पर यह सब गुप्तरूप से करना चाहिए!॥ २८॥ सामर्थ्यवान् पुरुष का मन रख लेने से—या उसकी इच्छा के अनुसार चलने से—बहुत लोग आ मिलते हैं और सर्वसाधारण जन तथा सज्जन, सब लोग, बिनती करते हैं॥ २९॥ पहचान से पहचान खोलना चाहिए, बुद्धि से बुद्धि का विकास करना चाहिए और नीति-न्याय से पाखण्ड का मार्ग रोकना चाहिए॥ ३०॥ ऊपर ऊपर से बावला वेष धरना चाहिए; पर हृदय में नाना प्रकार की कलाएं करनी चाहिए और किसी का मन न तोड़ना चाहिए॥ ३१॥ निस्पृह होकर नित नई नई जगहों में घूमनेवाला, प्रत्ययात्मक ब्रह्मज्ञान रखनेवाला, और प्रकट ज्ञाता सज्जन, जग में दुर्लभ है॥ ३२॥ अनेक प्रकार के सुभाषित वचनों से सब के मन प्रसन्न होते हैं। अतएव चारों ओर भ्रमण करके सब को अपनी ओर आकर्षित करना चाहिए॥ ३३॥ एक जगह बैठे रहने से तो फिर काम ही नहीं चलता, इस लिए साव-

धानी क साथ सब से मिलते रहना चाहिए! ॥ ३४ ॥ लोगों से मिल मिल कर उन्हें सन्तुष्ट रखना और फिर कर मिलने के लिए उत्सुक रहना, चातुर्य के लक्षण हैं। उत्तम गुणों से सब मनुष्य समाधान पाते हैं ॥ ३५ ॥

दूसरा समास—निस्पृह का काम।

॥ श्रीराम ॥

पृथ्वी में छोटे बड़े बहुत से मानवी शरीर भरे पड़े हैं, और वे क्षण क्षण में अपने मनोविकार बदलते रहते हैं ॥ १ ॥ जितनी मूर्तियां हैं उतने ही स्वभाव हैं—वे कभी एकसा नहीं रहते। नेम ही नहीं है; कहां तक और क्या देखें? ॥ २ ॥ कितने ही म्लेच्छ होगये, कितने ही फिरंगियों में मिल गये और कितने ही देशभाषा के कारण रुके पड़े हैं[1] ॥ ३ ॥ इस प्रकार 'महाराष्ट्रीय' लोग बहुत थोड़े रह गये हैं, और जो रह भी गये हैं वे राजकीय विषयों में फँसे हैं—उन्हें भोजन के लिए भी अवकाश नहीं है। अनेक काम लगे हैं! ॥ ४ ॥ कितने ही युद्ध-प्रसंग में गुँथे रहने के कारण उन्मत्त होगये हैं और रात दिन युद्ध ही की चर्चा करने लगे हैं! ॥ ५ ॥ उद्यमी लोग अपने व्यापार ही में फँसे हैं; उन्हें भी अवकाश नहीं है। सदा अपने ही पेट के धन्धे में लगे रहते हैं ॥ ६ ॥ षड्दर्शन, नाना मत और पाखण्ड बहुत बढ़ गये हैं, जहां देखो वहां लोग इन्हीं विषयों का उपदेश करते फिरते हैं ॥ ७ ॥ इतने पर भी जो लोग बच-बचा गये हैं उन सबों को स्मार्त और वैष्णवों ने अपने में मिला लिया है। इस प्रकार खूब गड़बड़ मच गया है! ॥ ८ ॥ कितने ही कामना के भक्त ठौर ठौर में आसक्त हो रहे हैं। युक्त-अयुक्त का विचार कौन करता है? ॥ ९ ॥ इस गड़बड़ में जो कोई दूसरा गड़बड बढ़ाते हैं उन्हें वैदिक लोग देख नहीं सकते—वे उनकी आंखों में कांटे से चुभते हैं! ॥ १० ॥ उसमें भी हरि-कीर्तन की ओर बहुत से लोगों का मन लगा है। प्रत्ययात्मक ब्रह्मज्ञान कौन देखता है[2]? ॥ ११ ॥

अस्तु। ज्ञान बहुत दुर्लभ है; यह अलभ्य लाभ पुण्य से होता है। परन्तु

---

१ अर्थात् सम्पूर्ण देश की भाषा एक न होने के कारण आपस में मिल नहीं सकते।
२ इस वर्णन से उस समय के इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

विचारवान् पुरुषों के लिए सब कुछ सुलभ है ॥ १२ ॥ मालूम होनेवाला विचार बतलाते नहीं बनता; बहुत से विघ्न आते हैं और उपाय करने से बहुत विघ्न उपस्थित होते हैं ॥ १३ ॥ परन्तु जो तीक्ष्ण कार्यकर्ता है वह क्षणभर भी व्यर्थ नहीं जाने देता। ऐसा चतुर, तार्किक और विचक्षण पुरुष सब को मान्य होता है॥१४॥ उसे नाना प्रकार के बहुत से चुटकुले कंठाग्र होते हैं, उन्हें वह लोगों के सामने कहने लगता है और अपनी सामर्थ्य के बल से नीति-मार्ग को स्वच्छ और प्रशस्त कर देता है ॥ १५ ॥ वह प्रबोधशक्ति के अनन्त मार्ग जानता है; सब के अन्तःकरण की बात जानता है। इस लिए उसके निरूपण को सब लोग रुचि से सुनते हैं ॥ १६ ॥ अनुभवयुक्त वचनों से सारे मतमतान्तर सपाट कर देता है; लोक-रीति की परवाह न करते हुए लोगों का मन अपनी तरफ आकर्षित कर लेता है ॥ १७ ॥ प्रसंगानुसार नीतिपूर्ण; परन्तु प्रभावशाली वचन कहता है, और उदास वृत्ति के अभिमान में उठ कर चल देता है! ॥ १८ ॥ अनुभव की बातें बतला कर चला जाता है, इस कारण पीछे से लोगों को उससे मिलने की तीव्र इच्छा होती है और वे नाना मार्ग छोड़ कर उसीकी शरण में जाते हैं ॥ १९ ॥ पर वह कहीं मिलता ही नहीं है, किसी स्थल में देख ही नहीं पड़ता। वेष देखने से हीन दीन के समान दिखता है! ॥ २० ॥ भिखारी का सा स्वरूप करके गुप्तरूप से बहुत कुछ करता है! अतएव उस पुरुष का यश-कीर्ति और प्रताप असीम बढ़ता है ॥ २१ ॥ ठौर ठौर में भजन बढ़ाता है और स्वयं वहां से चला जाता है। मत्सरयुक्त मतों का गड़बड़ नहीं होने देता है ॥ २२ ॥ दुर्गम स्थलों में-(पहाड़ी गुफा-कन्दराओं में)-जाकर रहता है-वहां उसे कोई नहीं देखता और वहीं से वह सब की सदा चिन्ता रखता है-(अर्थात् वहीं रह कर लोगों के उद्धार का प्रयत्न करता है) ॥ २३ ॥ दुर्गम स्थल में कि जहां लोगों का दर्शन कठिन है, सावधानी से रहता है। जगत् के लोग उसके पास ढूँढ़ते हुए आते हैं ॥ २४ ॥ परन्तु वहां किसीकी नहीं चलती-वहां अणुमात्र भी किसीका अनुमान नहीं चलता-वह संघशक्ति बढ़ा कर लोगों को 'राजकारण' (राजकीय विषयों) में लगाता है ॥२५॥ वे लोग फिर और लोगों को अपने समुदाय में मिलाते हैं; इस प्रकार अमर्यादित समुदाय बढ़ता है और गुप्तरूप से सारे भूमण्डल में उस निस्पृह की सत्ता फैल जाती है ॥२६॥ जगह जगह में उसके अनेक संघ बन जाते हैं, मनुष्यमात्र उसकी ओर आकर्षित हो आते हैं और इस प्रकार चारों ओर परमार्थ-बुद्धि का खूब प्रचार होता है ॥२७॥ ठौर ठौर में (भक्तों का समुदाय एकत्र करके) उपासना बढ़ाता है और अपने अनुभव से प्राणिमात्र का उद्धार करता है

॥ २८ ॥ इस प्रकार वह बहुत सी युक्तियां जानता है। उसके द्वारा दूसरे लोग चतुर बनते हैं और जगह जगह प्राणिमात्र को अनुभव प्राप्त होता है ॥ २९ ॥ इस प्रकार जो अपनी कीर्ति संसार में कर जाता है उसीका जन्म लेना सार्थक है। ' दास कहता है कि, यह विषय स्वाभाविक ही संक्षेप से बतला दिया ॥ ३० ॥

तीसरा समास—ज्ञान की श्रेष्ठता।

॥ श्रीराम ॥

मूलमाया से लेकर जो सारा पसारा अनर्गल रूप से फैला हुआ है—वह पंचभूतात्मक है। इसमें जो साक्षित्व का तंतु लगा है वह भी तत्त्व-रूप (पंचभूतात्मक) है ॥ १ ॥ ऊंचे सिंहासन पर राजा विराजमान है और दुतर्फा उसके मुसाहिब गण, या फौज के लोग, डँटे हुए हैं—इसका विचार अपने मन में समझो[1] ॥ २ ॥ देहमात्र अस्थिमांस के हैं—वैसे ही राजा की भी देह अस्थिमांस ही की है। अर्थात् मूलमाया से लेकर यह सृष्टि सब पंचभूतात्मक ही है[2] ॥ ३ ॥ राजा की सत्ता से सब चलता है; परन्तु है सब पंचभूत ही, अन्तर केवल इतना ही है कि, मूलमाया में ज्ञातृत्वशक्ति अधिक है ॥ ४ ॥ विवेक से बहुत व्यापक होने के कारण ही अवतारी कहलाते हैं। चक्रवर्ती मनु इत्यादि इसी कारण अवतारी कहलाये ॥ ५ ॥ जिसमें जितनी अधिक ज्ञातृत्वशक्ति है उसमें उतनी ही अधिक सदेवता है। ज्ञातृत्वशक्ति की न्यूनता ही के कारण तो लोग निर्दैव या अभागी होते हैं ॥ ६ ॥ जो उद्यम रोजगार करते हैं, धक्के चपेटे सहते हैं वेही प्राणी देखते देखते भाग्यवान् बनते हैं ॥ ७ ॥ ऐसा यह आज सरासर हो रहा है; पर (दुःख की बात है) मूर्ख लोगों को यह नहीं मालूम होता कि, विवेकी पुरुष सब कुछ समझते हैं ॥ ८ ॥ लोगों को यह बात बिलकुल नहीं जान पड़ती कि, छोटा-बड़ा सब बुद्धि के कारण है। (परन्तु लोग,

---

१ यह पद्य पहले पद्य का दृष्टान्त है। जैसे दोनों ओर फौज (या मुसाहिब लोग) और बीच में उंचे सिंहासन पर राजा बैठता है उसी प्रकार जगद्रूपी फौज का पसारा फैला हुआ है और बीच में साक्षी या ज्ञातृत्वशक्ति राजा के समान विराजती है। २ जिस प्रकार फौज और राजा दोनों के शरीर अस्थिमांस के हैं उसी प्रकार सारा जगत् और साक्षी ये सब तत्त्वरूप हैं।

अज्ञानता के कारण,) जो पहले पैदा होता है उसीको बड़ा कहते हैं[1] ॥९॥ राजा चाहे वयस में छोटा हो; पर वृद्ध लोग उसे नमस्कार करते हैं (इसका कारण क्या है?) विवेक की गति विचित्र है! पर (लोगों को) मालूम होनी चाहिए ॥ १० ॥ साधारण लोगों का ज्ञान प्रायः सभी अनुमानरूप है–वह लोकरूढ़ि का लक्षण है ॥ ११ ॥ किसको किसको रोकें? साधारण लोगों को क्या मालूम? किसको किसको और कहां तक कहें? ॥ १२ ॥ छोटा जब कभी भाग्यवान् बन जाता है तब भी लोग उसे तुच्छ कहते हैं; इस लिए इन ढीठ लोगों को दूर ही रखना चाहिए ॥ १३ ॥ ठीक ठीक किसीकी बात समझ नहीं सकते, उचित रीति से राजनैतिक विषयों को नहीं जानते–परन्तु व्यर्थ ही मूर्खता के कारण, बड़प्पन दिखाते हैं ॥ १४ ॥ निश्चयात्मक कोई बात नहीं मालूम है, वास्तव में उन्हें कोई मानता भी नहीं है। केवल वय से प्राप्त हुई बड़ाई को कौन पूछता है? ॥ १५ ॥ जो लोग कहते हैं कि, बड़ों में बड़प्पन नहीं है और छोटों में छोटापन नहीं है[2] उनमें चतुरता नहीं है, या यों कहिये कि, वे मूर्ख हैं ॥ १६ ॥ बिना गुण के बड़प्पन व्यर्थ है; बड़प्पन का अनुभव ठीक है (और उसीकी कदर है) ॥ १७ ॥ तथापि यदि वही बड़ों को मानता है तो बड़ों को अपना बड़प्पन भी जानना चाहिए; ऐसा न करने से आगे, बड़प्पन के अभिमान से, कष्ट उठाना पड़ेगा ॥ १८ ॥ अतएव यह बतलाने की जरूरत नहीं कि, जिस पुरुष में वह सब से बड़ा अन्तरात्मा प्रकाशित है उसीकी महिमा है ॥ १९ ॥ इस लिए विवेक से सब लोगों को चतुरता सीखना चाहिए। विवेक का अभ्यास न करने से प्रतिष्ठा नहीं रहती ॥२०॥ और यदि प्रतिष्ठा चली गई तो समझ लो कि, सब चला गया। जन्म पाकर क्या किया? और उलटे जानबूझ कर अपना अपमान करा लिया! ॥२१॥ ऐसे पुरुष को सब स्त्रियां तक गालीयां देती हैं; लोग कहते हैं कि, देखो' कैसा फँस गया है! इस प्रकार उसकी मूर्खता प्रकट हो जाती है ॥२२॥ ऐसा किसीको न करना चाहिए, सब को अपना जीवन सार्थक करना चाहिए। (यदि जीवन सार्थक करने का उपाय) न समझ पड़े तो ग्रन्थ पढ़ कर मनन करना चाहिए (ऐसा करने से, सहज ही जीवन सार्थक होने का

---

१ एक कहावत भी है; " अक्किल बड़ी या भैंस ? " २ जब छोटा, पर ज्ञानवान, बालक किसी बुढ़े से कोई ज्ञान की बात बतलाता है तब अकसर ये बूढे लोग कह बैठते हैं कि " चलो, अब कालियुग आगया और बड़ों का बड़प्पन और का छोटोंका छोटापन नहीं रहा–ये कल के छोकरे छोटे मुँह बड़ी बातें करने लगे; " पर ऐसा कहनेवाले बूढ़ों को मूर्ख समझना चाहिए–ऐसा रामदास स्वामी कहते हैं।

उपाय मिल जाने की सम्भावना है) ॥ २३ ॥ चतुर मनुष्य को सब लोग मानत ही हैं, पर मूर्ख को सभी मनुष्य डाँट देते हैं। अगर जी में संपत्ति (वैभव, संपदा) पाने की इच्छा हो तो चतुर बनना चाहिए ॥ २४ ॥ अहो! चतुरता प्राप्त करने के लिए चाहे जितने कष्ट उठाने पड़ें; पर उसे अवश्य सीखना चाहिए; कष्ट-पूर्वक बहुतों की सेवा करके भी चतुरता सीखना बहुत अच्छी बात है ॥ २५ ॥ चतुर उसीको जानना चाहिए जिसे बहुत लोग मानते हों। चतुर मनुष्य के लिए दुनियां में क्या कमी है? ॥ २६ ॥ इस संसार में जो अपना हित नहीं करता उसे आत्मघातकी समझो; उस मूर्ख के समान और कोई पापी नहीं है ॥ २७ ॥ जो चतुर है वह ऐसा कभी नहीं कर सकता कि, स्वयं वह संसार में कष्ट उठावे और दूसरों का क्रोध भी सहे ॥ २८ ॥ सहज स्वभाव से, साधकों को यह सिखा दिया है; अच्छा लगे तो खुशी से ग्रहण करें और न अच्छा लगे तो एक तरफ छोड़ दें ॥ २९ ॥ तुम श्रोता लोग परम दक्ष हो, अलक्ष की ओर लक्ष लगाते हो, यह तो प्रत्यक्ष सामान्य बात है; जानते ही हो! ॥ ३० ॥

चौथा समास—ब्रह्मनिरूपण।

॥ श्रीराम ॥

पृथ्वी से पेड़ होते हैं, पेड़ों से लकड़ियां होती हैं और लकड़ियां भस्म होकर फिर पृथ्वी ही होती है ॥ १ ॥ पृथ्वी से बेल होती है, वह नाना प्रकार से फैलती है; पर अन्त में सड़ गल कर पृथ्वी ही होती है ॥ २ ॥ नाना प्रकार के धान्यों के अनेक तरह के भोजन बना कर मनुष्य खाते हैं; फिर वही नाना प्रकार का मल और वमन होकर पृथ्वी ही होता है ॥३॥ अनेक पशुपक्षी जो कुछ खाते हैं उसका भी वही हाल होता है। उनका मल भी सूख कर खाक हो जाता है और पृथ्वी में मिल जाता है ॥ ४ ॥ मनुष्य आदि प्राणी भी मर कर पृथ्वी ही हो जाते हैं ॥ ५ ॥ अनेक प्रकार के तृण और पदार्थ भी सड़ कर मिट्टी हो जाते हैं। अनेक कीड़े मर कर पृथ्वी में मिल जाते हैं ॥ ६ ॥ अनन्त पदार्थ भरे हैं—उनका विस्तार कहां तक बताया जाय? पर उन सब के लिए इस पृथ्वी को छोड़ कर और कहां ठिकाना है? ॥ ७ ॥ पेड़-पत्ते और तृण पशुओं के खाने के बाद गोबर हो जाते हैं और खाद, मूत तथा भस्म बन कर फिर उन्हींकी पृथ्वी होती

है ॥ ८ ॥ उत्पत्ति, स्थिति और संहार के चक्कर में आनेवाले सब पृथ्वी में मिल जाते हैं । जितना कुछ होता है और जाता है वह सब फिर पृथ्वी ही होती है ॥ ९ ॥ नाना प्रकार के धान्यों की राशियां बढ़ कर आकाश में जा लगती हैं; पर अन्त में सब पृथ्वी में मिल जाती हैं ॥ १० ॥ लोग नाना प्रकार की धातुओं को गाड़ रखते हैं, परन्तु बहुत दिनों के बाद वे मिट्टी हो जाती हैं; सोने और पत्थर की भी यही गति होती है ॥ ११ ॥ मिट्टी का सुवर्ण होता है और मिट्टी ही के पत्थर होते हैं; परन्तु प्रखर अग्नि में भस्म होकर फिर उनकी पृथ्वी ही होती है ॥ १२ ॥ सोने का ज़र बनाया जाता है, ज़र अन्त में सड़ जाता है, रस होकर फैल जाता है, उसकी फिर पृथ्वी ही होती है ॥ १३ ॥ पृथ्वी से धातुएं उपजती हैं—वे अग्नि से गल कर रस होती हैं, फिर, इसके बाद, उस रस का कठिनरूप होकर पृथ्वी होती है ॥ १४ ॥ नाना प्रकार के जल से गंध छूट कर पृथ्वी का रूप प्रगट होता है, दिनों दिन जल सूखता जाता है, फिर वही पृथ्वी की पृथ्वी ही रह जाती है ॥ १५ ॥ पत्र, पुष्प, फल आते हैं; उन्हें अनेक जीव खा जाते हैं; उन जीवों के मरने पर फिर वही पृथ्वी हो जाती है ॥ १६ ॥ जितना कुछ आकार है उतने सब को पृथ्वी का आधार है। प्राणिमात्र होते, जाते हैं—अन्त में पृथ्वी ही है ॥ १७ ॥ यह कहां तक बतावें ? विवेक से सब जान लेना चाहिए और उत्पत्ति तथा संहार का मूल समझना चाहिए ॥ १८ ॥ आप सूख कर पृथ्वी होती है; और फिर वह आप ही में लय हो जाती है; क्योंकि अग्नि के योग से भस्म होती है ॥ १९ ॥ आप तेज से होता है; फिर तेज ही उसे सोख लेता है; वह तेज वायु से होता है, जिसे फिर वायु ही लय कर डालती है ॥ २० ॥ वायु गगन में निर्माण होती है; फिर गगन में ही लय हो जाती है इस प्रकार उत्पत्ति और लय को अच्छी तरह विचारो ॥ २१ ॥ जो जहां पैदा होता है वह वहीं लय हो जाता है; इस प्रकार पञ्चभूत नाश हो जाते हैं ॥ २२ ॥ जो निर्माण होता है वही भूत है—वही फिर पीछे से लय होता है, इसके बाद वही शाश्वत परब्रह्म रह जाता है ॥ २३ ॥ वह परब्रह्म जब तक नहीं मालूम होता है तब तक जन्म-मृत्यु नहीं मिटती । चार खानियों में, नाना जीवों के रूप में, जन्म लेना पड़ता है ॥ २४ ॥ यह बात अच्छी तरह समझ लो कि, जड़ का मूल चंचल है और चंचल का मूल निश्चल है; पर निश्चल का मूल ही नहीं है ॥ २५ ॥ पूर्वपक्ष उसे कहते हैं जो होता है, सिद्धान्त उसे कहते हैं जो लय होता है और जो (दोनों पक्षों से भिन्न) पक्षातीत ठहरा हुआ है वह परब्रह्म है ॥ २६ ॥ यह अनुभव से जानना चाहिए । विचार से पहचानना चाहिए । बिना विचारे

व्यर्थ परिश्रम करना मूर्खता है ॥ २७ ॥ जो ज्ञानी लाज या संकोच से घिरा रहता है, उसे निश्चल परब्रह्म कैसे मिल सकता है? वह व्यर्थके लिए माया में गड़बड़ किया करता है ॥ २८ माया का बिलकुल नाश हो जाने पर फिर कैसी स्थिति रह जाती है? उसका विचार विचक्षण पुरुषों को स्वयं करना चाहिए ॥ २९ ॥ माया का बिलकुल निरसन हो जाने पर आत्मनिवेदन हो जाता है—ऐसी स्थिति में वाच्यांश नहीं रहता—वह विज्ञान किस तरह जाना जाय? ॥ ३० ॥ जो लोगों के कहने में लगता है वह सन्देह ही से डूबता है, इस कारण अनुभव को बार बार देखना चाहिए ॥ ३१ ॥

पाँचवाँ समास—चंचल के लक्षण।

॥ श्रीराम ॥

दो (प्रकृति पुरुष) के अनुसार तीन (त्रिगुण) चलते हैं, निर्गुण (परब्रह्म) में अष्टधा प्रकृति उत्पन्न होती है और ऊपर नीचे छोड़ कर (अंतरिक्ष में) इंद्रधनुष की तरह बर्तती है ॥ १ ॥ परवाजा (अग्नि) पनती (देह) को खा जाता है, लड़का (प्रत्येक तत्व [1]) बड़ी चतुराई के साथ, बाप को (जिस तत्व से पैदा हुआ है उस तत्व को) मार डालता है[2] और चारों जनों का (चारों तत्वों का) राजा (आकाश) भूला हुआ है (अदृश्य या लापता है) ॥ २ ॥ देव (आत्मा) देवालय (शरीर) में छिपा बैठा है। देवालय को पूजने से (देह को भोग देने से) उसको (आत्मा को) मिलता है (संतोष होता है), सृष्टि के सभी देहधारियों का यही नियम है ॥ ३ ॥ 'प्रकृति' और 'पुरुष' दो नाम लोगों ने मान लिये हैं; पर वास्तव में हैं वे दोनों एक ही। यह बात विवेक और अनुभव से देखने पर मालूम हो जाती है ॥ ४ ॥ वहां न पुरुष है न स्त्री है; वास्तव में यह लोगों की कल्पना मात्र है। अच्छी तरह से खोजने पर कुछ भी नहीं है ॥५॥ सब लोग नदी को स्त्री और नाले को पुरुष कहते हैं; पर विचार करने से स्पष्ट है

---

१ पंचभूतों की उत्पत्ति के क्रमानुसार अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से देह की उत्पत्ति हुई है। इस लिए देह का अग्नि परवाजा और अग्नि का पनती हुआ। २ जैसे पृथ्वी जल को सोख लेती है, जल अग्नि को बुझा डालता है और अग्नि वायु को प्रलयकाल में लय कर देता है और फिर स्वयं भी लय हो जाता है। आकाश, अर्थात् अन्तरात्मा रह कर भी भूल जाता है या यों कहिए कि, वह परब्रह्म में लीन हो जाता है।

कि, वहां स्त्री-पुरुष किसी की देह नहीं है, केवल पानी दोनों में बहता है ॥ ६ ॥ अपना अपने को जान नहीं पड़ता, देखने से आकलन नहीं होता। बहुत होने पर भी किसी को कुछ नहीं मिलता ॥ ७ ॥ अकेला होकर भी बहुत हुआ है और बहुत होकर भी अकेला ही रह गया है। अपना गड़बड़ अपने ही से नहीं सहा जाता* ॥ ८ ॥ वह विचित्र चेतनाशक्ति एक होकर भी बिखरी हुई है और बिखरी होकर भी एक ही है-वह प्राणीमात्र में व्याप्त है ॥ ९ ॥ बोलि में जल, न दिखते हुए, संचार किया करता है। कुछ भी किया जाय वह बिना गीलेपन के नहीं ठहर सकती ॥ १० ॥ पेड़ों में यद्यपि थाले बांधे जाते हैं; पर तौ भी पेड़ अपनी इच्छा के अनुसार बढ़ते हैं; कोई कोई पेड़ तो आकाश में उड़ जाते हैं! ॥ ११ ॥ यद्यपि ये वृक्ष भूमि से अलग रहते हैं; पर तौ भी वे सूखते नहीं। जहां रहते हैं वहीं वे खूब बढ़ते हैं ॥ १२ ॥ अंतरात्मा के द्वारा वृक्ष बर्तते हैं; अंतरात्मा न रहने से वही वृक्ष जड़ लक्कड़ हो जाते हैं, यह बात प्रत्यक्ष ही है; इसमें कुछ गूढ़ रहस्य नहीं ॥१३॥ कभी कभी तो वृक्षों से भी वृक्ष होते हैं और वे भी आकाश की ओर जाते हैं। उनकी जड़ पृथ्वी में कभी नहीं रहती ॥१४॥ वृक्षों को वृक्षों का ही खादपानी देकर प्रति दिन उनका पालन किया जाता है। बोलनेवाले वृक्ष शब्दसंघर्षण से विचार करते हैं ॥१५॥ होना था सो पहले ही हो चुका है; इसके बाद कल्पना कर करके लोग अपनी इच्छानुसार बोलते रहते हैं; पर जो ज्ञाता पुरुष हैं वे सब कुछ जानते हैं ॥ १६ ॥ यदि समझ गया तो उमगता नहीं और यदि उमग गया तो समझता नहीं-अनुभव के बिना कोई बात अनुमान में नहीं आती ॥ १७ ॥ पहले पहल यही विचार करना चाहिए कि, सब का उत्पत्तिकर्ता कौन है। इतना जान लेने पर-उस जगदांतरात्मा को जान लेने से-अपने को अपना मिल जाता है ॥ १८ ॥ अन्तर्निष्ठों का दर्जा बहुत ऊंचा है और बहिर्मुख (अर्थात् ऊपर ऊपर का विचार करनेवाले या अन्तरात्मा का विचार न करनेवाले) लोगों की संगति खोटी है; यह बात चतुर लोग ही जान सकते हैं; मूर्ख क्या जानें? ॥ १९ ॥ सब का मन राजी रखने से न जाने कौन किसको सहायता देने लगता है; परन्तु सब का मन राजी न रखने से भाजी के समान क्षुद्र पदार्थ भी नहीं मिल सकता ॥ २० ॥ ऐसा प्रत्यक्ष हो रहा है (जैसा ऊपर कहा है), अलक्ष में लक्ष लगाना चाहिए; दक्ष से भेंट करने में दक्ष को समाधान होता है ॥ २१ ॥ मन से मन मिल जाने

---

*परब्रह्म एक होकर भी सर्वव्यापी है और सर्वव्यापी होकर भी एक है। माया की उपाधि इसी की है; तिस पर भी माया उसे सहन नहीं होती।

पर-अनन्य होने पर-परब्रह्म को देख सकते हैं और मायारूप चञ्चल चक्र को पार कर जाते हैं ॥ २२ ॥ एक बार वहां तक पहुँच कर जब ज्ञानचक्षु से उसे देख आते हैं तब तो फिर वह सदा सर्वत्र आसपास देख पड़ता है (उससे रहित कोई स्थल देख ही नहीं पड़ता;) परन्तु चर्मचक्षु से उसे नहीं देख सकते ॥ २३ ॥ यह चञ्चल (माया) सब शरीरों में निरन्तर हलचल किया करती है; परन्तु परब्रह्म सदा सब ठौर निश्चल है ॥२४॥ चञ्चल जब एक ओर को दौड़ने लगता है तब दूसरी ओर कुछ नहीं रहता। यह कभी नहीं हो सकता कि, चञ्चल सब ओर बना रहे, या सम्पूर्ण रहे ॥ २५ ॥ चञ्चल से तो चञ्चल का ही काम नहीं चलता-चञ्चल से सारे चञ्चल का ही विचार नहीं हो सकता; फिर जो निश्चल और अपार परब्रह्म है वह चञ्चल से कैसे अनुमान में आ सकता है ? * ॥ २६ ॥ मान लो. अग्नेय बाण आकाश में चला जा रहा है, पर क्या कभी वह आकाश का अन्त या पार पा सकता है ? कभी नहीं; बीच में बुझ जाना उसका स्वभाव ही है ॥ २७ ॥ मनोधर्म एकदेशीय होने पर 'वस्तु' का आकलन कैसे हो सकता है ? ऐसा अपयशी पुरुष (एकदेशीय मनोधर्मवाला) निर्गुण छोड़ कर सर्वब्रह्म कहता है ॥ २८ ॥ जहां सारासार-विचार नहीं है वहां सारा अन्धकार ही समझो। बेसमझ छोकरा (अबोध बालक) सत्य छोड़ कर मिथ्या ग्रहण करता है ॥ २९ ॥ ब्रह्मांड के महाकारण, अर्थात् मूलमाया, से यह पञ्चमहाभूतों का समुदाय उत्पन्न हुआ है; परन्तु महावाक्य का विवरण अलग ही है ॥ ३० ॥ महत्तत्व ही को महद्भूत कहते हैं और उसी को भगवंत जानना चाहिए। वहां उपासना का अन्त हो जाता है§ ॥ ३१ ॥ 'कर्म,' 'उपासना' और 'ज्ञान' का त्रिकांड वेद में कहा है। पर परब्रह्म के तईं ज्ञान का विज्ञान हो जाता है-(या यों कहिये कि ज्ञान का भी लय हो जाता है) ॥ ३२ ॥

---

* मन चंचल रख कर माया का ही विवरण नहीं कर सकते; फिर निश्चल और अपार परब्रह्म का अनुमान कैसे किया जा सकता है।

§ "एको विष्णुर्महद्भूतम्" ऐसा कहा है। उपासना (अर्थात् द्वैत रख कर भगवद्भजन) यहीं तक है। महद्भूत के उस तरफ द्वैत नहीं रहता-वहां अनन्य हो जाना पड़ता है।

छठवाँ समास-विशिष्ट चातुर्य ।

॥ श्रीराम ॥

पीत अर्थात् दीपक, से कृष्ण, अर्थात् काजल, उत्पन्न हुआ है और वही काजल अक्षरों के रूप में सम्पूर्ण भूमंडल पर फैला हुआ है । उसके बिना ज्ञान होना असम्भव है[1] ॥ १ ॥ देखने में तो काजल स्वल्पलक्षण-युक्त जान पड़ता है; पर वास्तव में उसमें सब कुछ है-अधम और उत्तम गुण उसी में रहते हैं ॥ २ ॥ महीसुत (पृथ्वी से पैदा होनेवाला सैंठा या किलक) निकाल कर उसकी कलम बना कर बीच से चीरते हैं। दोनों से, (कलम और काजल मिल कर) काम चलता है ॥ ३ ॥ श्वेत-अश्वेत (श्वेत कागज़, अश्वेत किलक की कलम) की भेंट होने से और बीच में कृष्ण (काजल की स्याही) के मिलने से इस लोक की सार्थकता होती है[2] ॥ ४ ॥ इसका विचार करने से मूर्ख भी चतुर होते हैं। तत्काल प्रतीति आती है और परलोक का साक्षात्कार होता है ॥ ५ ॥ जो परब्रह्म सब को मान्य है उसीको लोग सामान्य समझ कर उसमें वे अनन्य नहीं होते ॥ ६ ॥ उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ ये तीन प्रकार की हस्तरेखाएं और ललाट की अदृष्ट रेखाएं होती हैं; परन्तु इन चारों का अनुभव एक नहीं हो सकता ॥ ७ ॥ जो लोग चौदह पीढ़ियों का गाना गाते बैठते हैं उन्हें हम क्या कहें? पागल या चतुर? सुननेवाले को इस बात का विचार करना चाहिए कि, हम से कुछ होता है या नहीं? ॥ ८ ॥ जब यह बात प्रत्यक्ष मालूम है कि, सारी रेखाएं मिटाई जा सकती हैं तब फिर भाग्य के भरोसे क्यों रहना चाहिए? ॥ ९ ॥ जो बहुतों की बातों में लगते हैं वे सन्देह में डूबते हैं और अनुभवात्मक मुख्य निश्चय को भूल जाते हैं ॥१०॥ बहुतों की बहुत सी बातें सुनना चाहिए; पर उन सब का अनुभव से विचार करना चाहिए और फिर सच झूठ का निपटेरा अपने मन में करना चाहिए ॥११॥ किसी से इन्कार न करना चाहिए, उपाय या अपाय समझ कर अनुभव लेना चाहिए। बहुत बोलने से (बक बक करने से) क्या लाभ? ॥ १२ ॥ चाहे हठी-दुराग्रही और कच्चा मनुष्य ही क्यों न हो; पर उसकी भी बात मानना चाहिए। इस प्रकार (अपने बर्ताव से) सब का मन प्रसन्न रखना चाहिए ॥ १३ ॥ जिसके मन में ऐंठ, द्वेष या मैल है, और वह उन्हीं को बहुत बढ़ाता भी है, उसे चतुर कैसे कह सकते हैं? ऐसा मनुष्य दूसरों

---

१ काजल की स्याही बन कर उसी से वेद, शास्त्र और पुराण आदि लिखे गये हैं, जिनके द्वारा सब को ज्ञान प्राप्त होता है ! २ लिख पढ कर विद्वान् होने से इहलोक सार्थक होता है।

को सन्तुष्ट रखना नहीं जानता ॥१४॥ जो मूर्खों को चतुर बनाता है उसीका जीना सार्थक है। व्यर्थ के लिए वाद बढाना मूर्खता है ॥ १५ ॥ लोगों में मिल कर उनको मिलाना चाहिए (उनको अपने विचार के अनुकूल करना चाहिए), पड़ कर उलटाना चाहिए और विवेक-बल से अपने मन का भेद नहीं मालूम होने देना चाहिए ॥ १६ ॥ दूसरे की चाल के अनुसार चलना चाहिए, दूसरे के बोलने के अनुसार बोलना चाहिए और दूसरे के मनोगत में मिल जाना चाहिए ! ॥ १७ ॥ जो दूसरों का हित चाहता है वह उनके विरुद्ध कुछ भी नहीं करता—वह राजी-राजी से दूसरों का मन अपने अनुकूल कर लेता है ॥१८॥ पहले उनका मन अपने हाथ में लाना चाहिए; फिर धीरे धीरे अपना उद्देश उनके मन में भरना चाहिए; इस प्रकार नाना उपायों से दूसरे लोगों को अपने हाथ में लाना चाहिए ॥ १९ ॥ हठी को हठी मिलने से गड़बड़ मचता है और फिर कलह उठने पर चातुर्य को स्थान कहां मिल सकता है? ॥ २० ॥ व्यर्थ बड़बड़ करते हैं, पर कर दिखाना कठिन है। दूसरे का मन अपने अनुकूल करना बहुत कठिन बात है ॥ २१ ॥ धक्के और चपेटे (कष्ट) सहना चाहिए; नीच शब्द सहते रहना चाहिए, (इतना सहने के बाद) पछता कर, दूसरे (लोग) अपने हो जाते हैं ॥ २२ ॥ प्रसंग देख कर बोलना चाहिए, ज्ञातापन (का अभिमान अपनी ओर) बिलकुल न लेना चाहिए और जहां जाय वहां मिलाप रख कर, प्रेमपूर्वक, जाना चाहिए ॥ २३ ॥ कुग्राम (दुर्गम वासस्थल) अथवा नगर, और घरों के भीतर के भी घर, छोटे बड़े सब, भिक्षा के मिस से, छान डालना चाहिए ॥ २४ ॥ (घूमने से) बहुतों में कुछ न कुछ मिल ही जाता है—विचक्षण लोगों से मित्रता होती है; पर खाली बैठे रहने से, घूमना या ज्ञान प्राप्त करना, कुछ भी, नहीं होता ॥ २५ ॥ सावधानी के साथ सब कुछ जानना चाहिए, सब प्रकार की खबरें पहले ही लेते रहना चाहिए और जहां जाते बने वहां विवेक-पूर्वक जाना चाहिए ॥२६॥ नाना प्रकार के चुटकले मालूम होने से मनुष्य सब का मन प्रसन्न कर सकता है। और यदि वे चुटकले दूसरे को लिख दे तो फिर क्या कहना है? फिर तो लोगों पर उसका असीम उपकार होजाता है! ॥२७॥ जैसा जिसको चाहिए वैसा उसको देने से पुरुष सर्वमान्य और श्रेष्ठ होता है ॥ २८ ॥ जो भूमंडल में सर्वमान्य है उसे सामान्य पुरुष न समझो— उस पुरुष के पास कितने ही लोग, अनन्य होकर रहते हैं—सर्वमान्य पुरुष लोकसंग्रह अच्छा कर सकता है ॥२९॥ ऐसे चातुर्य के लक्षण हैं, चातुर्य से दिग्विजय करनेवाले पुरुष के पास क्या कमी रह सकती है? जहां जाता है वहीं उसके लिए सब कुछ है! ॥ ३० ॥

सातवाँ समास—अधोर्ध्व-लक्षण।

॥ श्रीराम ॥

जो नाना विकारों का मूल है वही मूलमाया है; वह सूक्ष्मरूप से अचंचल में (परब्रह्म) चञ्चलरूप रहती है ॥ १ ॥ मूलमाया ज्ञातृत्वरूप है—वह परब्रह्म का प्रथम स्फुरण है—(वह संकल्परूप है)—इसीको षड्गुणेश्वर भगवान् जानना चाहिए ॥ २ ॥ इसीको प्रकृति-पुरुष, शिवशक्ति और अर्द्धनारीनटेश्वर कहते हैं; पर वह सारी जगज्जोति ही इन सब का मूल है ॥ ३ ॥ संकल्प का जो चलन है वही वायु (माया) का लक्षण है। वायु में त्रिगुण और पञ्चभूत हैं ॥ ४ ॥ चाहे जिस बेल को देखिये उसका मूल गहराई तक चला जाता है और पत्र, पुष्प तथा फल भी मूल ही में रहते हैं ॥ ५ ॥ इसके अतिरिक्त और भी नाना प्रकार के रंग, आकार-विकार, तरंग, स्वाद, इत्यादि भीतर मूल ही में रहते हैं ॥६॥ वही मूल पहले फोड़ कर देखने से उसमें कुछ भी नहीं मालूम होता; पर फिर आगे बढ़ते बढ़ते उससे सब कुछ दिखने लगता है ॥७॥ किसी टीले पर जो बेल उगती है वह नीचे की ओर जोर से बढ़ती है और फिर भूतल पर छैल जाती है ॥ ८ ॥ बस, यही हाल मूलमाया का जानो; अनुभवद्वारा यह सत्य बात जानना चाहिए कि, पञ्चभूत और त्रिगुण मूलमाया में पहले ही से हैं ॥ ९ ॥ बेल बराबर छैलती जाती है, नाना विकारों से शोभती है और उन विकारों से अन्य विकार भी खूब बढ़ते जाते हैं ॥ १० ॥ नाना शाखाएं फूटती हैं, नाना झाड़ियां बढ़ती हैं; और पृथ्वी पर अनन्त बेलें इसी तरह बढ़ती जाती हैं ॥ ११ ॥ कितने ही फल गल पड़ते हैं, तुरंत ही दूसरे लगते हैं; इसी प्रकार सदा होते और जाते हैं ॥ १२ ॥ कोई बेलें ही सूख जाती हैं, फिर वहीं दूसरी उगती हैं—इस प्रकार न जाने कितने बेलें आईं और गईं! ॥ १३ ॥ पत्ते झड़ते हैं और लगते हैं; फलफूलों का भी ऐसा ही हाल होता है—इन फलफूलों और पत्तों में नाना प्रकार के जीव भी बने रहते हैं ॥१४ ॥ कभी कभी तो सारी बेल ही सूख जाती है और मूल से फिर उगती है-इसी प्रकार यह सब विचार प्रत्यक्ष अनुभव से जान लेना चाहिए ॥ १५ ॥ मूल जब खोद कर निकाल डाला जाता है—प्रत्ययज्ञान से जब निर्मूल किया जाता है-तब सब प्रकार का बढ़ना रुक जाता है ॥ १६ ॥ मूल में (आदि में) बीज रहता है, अन्त में भी बीज रहता है और बीच में जलरूप बीज रहता है-इसी प्रकार यह सब स्वाभाविक ही फैला हुआ है ॥ १७ ॥ यह सब बीजसृष्टि, (अर्थात् बीज से उत्पन्न हुए फलफूलपत्र आदि सारा पसारा,) वे सब बातें प्रगट करती हैं जो मूल में हैं। बाद को, जिसका

जो अंश होता है वह उसमें स्वाभाविक ही लय हो जाता है ॥१८॥ जाता है, आता है, फिर जाता है--इस प्रकार प्रत्यावृत्ति करता है; परन्तु जो आत्मज्ञानी है उसे यह प्रत्यावृत्ति का कष्ट नहीं होता ॥ १९ ॥ यद्यपि ऐसा कहते हैं कि, उसे कष्ट नहीं होता, तौ भी उसे कुछ न कुछ जानना ही पड़ता है। आत्मा यद्यपि अपने हृदय में ही है; पर वह सब को कहां मालूम हो सकती है? ॥ २० ॥ उसी (आत्मा ही) के द्वारा कार्य करते हैं; पर उसे नहीं जानते। वह दिखती ही नहीं, तब फिर बिचारे लोग क्या करें! ॥ २१ ॥ विषयभोग भी उसीके द्वारा होता है, उसके बिना कुछ भी नहीं हो सकता। वास्तव में स्थूल को छोड़ कर सूक्ष्म में प्रवेश करना चाहिए ॥ २२ ॥ अपना और जगत् का अन्तःकरण एक ही है; सिर्फ शरीरभेद के विकार और और हैं ॥ २३ ॥ एक उँगली की वेदना दूसरी उँगली को नहीं मालूम होती, यही हाल हाथ पैर आदि अवयवों का भी है ॥ २४ ॥ जब एक ही शरीर का एक अवयव दूसरे अवयव की पीड़ा नहीं जानता तब फिर दूसरे की क्या जाने? अतएव, दूसरे का अन्तःकरण जान नहीं पड़ता ॥ २५ ॥ एक ही जल से सकल वनस्पतियां होती हैं; पर उन में नाना प्रकार के भेद दिखते हैं। जितनी टूट जाती हैं उतनी ही सूखती हैं, बाकी सब ड़हड़ही बनी रहती है ॥ २६ ॥ इसी तरह भेद हो गया है; पर एक का भेद दूसरे को नहीं मालूम होता। परंतु ज्ञात हो जाने पर यह आत्मा का भेद नहीं रहता (ज्ञानी पुरुष सारे जगत् में एक ही आत्मा देखता है) ॥ २७ ॥ यद्यपि देहप्रकृति के कारण आत्मत्व में भेद भासता है, तथापि यह बात बहुत लोग जानते हैं (कि, वस्तुतः भेद नहीं है) ॥ २८ ॥ देख सुन कर जान लेते हैं, चतुर लोग मन परखते हैं, विचक्षण लोग गुप्तरूप से (सूक्ष्मता से) सभी कुछ समझ लेते हैं ॥ २९ ॥ जो बहुतों का पालन करता है वह बहुतों का अन्तःकरण जानता है और विचक्षणता के साथ सब कुछ मालूम कर लेता है! ॥ ३० ॥ पहले मन परख लेते हैं, तब विश्वास करते हैं-इसी रीति से प्राणिमात्र बर्तते हैं ॥३१॥ यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात, और ठीक, है कि, स्मरण के बाद विस्मरण होता है। अपना ही रखा हुआ पदार्थ मनुष्य स्वयं भूलता है ॥ ३२ ॥ अपना ही अपने को याद नहीं आता, जो कुछ कह चुके हैं उसीका स्मरण नहीं आता। अनन्त कल्पनाएं उठती हैं-कहां तक ध्यान में रखी जायँ? ॥३३॥ ऐसा यह चञ्चल-चक्र है, कुछ ठीक है; कुछ टेढ़ा है। चाहे कोई पुरुष रंक हो और चाहे प्रत्यक्ष इन्द्र क्यों न हो-सब के पीछे स्मरण-अस्मरण लगा ही है ॥ ३४ ॥ स्मरण (चैतन्य) कहते हैं देव को और विस्मरण (मूढ़ता) कहते हैं दानव को, और मनुष्य स्मरण-विस्मरण दोनों से बर्तते हैं ॥ ३५ ॥

इसी लिए दैवी और दानवी ये दो सम्पदा हैं—इस बात की प्रतीति, विवेक-सहित, मन में लाना चाहिए ॥ ३६ ॥ जैसे दर्पण में नेत्र ही से नेत्र देखा जाता है वैसे ही विवेक से विवेक जानना चाहिए, और आत्मा से आत्मा पहचानना चाहिए ॥ ३७ ॥ जैसे स्थूल से स्थूल को खुजलाते हैं वैसे ही सूक्ष्म से सूक्ष्म को समझना चाहिए और संकेत से संकेत को मन में लाना चाहिए ॥ ३८ ॥ विचार से विचार जानना चाहिए, अन्तरात्मा से अन्तरात्मा जानना चाहिए और दूसरे के अंतःकरण में प्रवेश करके उसका अंतःकरण भी जानना चाहिए ॥ ३९ ॥ स्मरण में विस्मरण होना ही भेद का लक्षण है । चाहे जो हो, यदि वह एकदेशीय (संकुचित) होता है तो वह परिपूर्ण नहीं हो सकता ॥ ४० ॥ आगे सीखता है, पीछे भूलता है; आगे उजेला है, पीछे अंधेरा है; सब कुछ पहले याद आता है, पीछे भूल जाता है ॥ ४१ ॥ तुर्या को स्मरण जानना चाहिए; सुषुप्ति को विस्मरण जानना चाहिए—ये दोनों बराबर शरीर में बर्तती रहती हैं ॥ ४२ ॥

आठवाँ समास—सूक्ष्म-जीव-निरूपण !

॥ श्रीराम ॥

कोई कोई कीड़े रेणु से भी सूक्ष्म होते हैं, उनकी आयु भी बहुत ही कम होती है और उसी तरह युक्ति-बुद्धि भी उनमें कम ही होती है ॥ १ ॥ ऐसे नाना प्रकार के जीव होते हैं, वे देखने से नहीं दिखते; पर उनमें भी अन्तःकरण-पञ्चक की स्थिति है ॥२॥ उनके भर के लिए उनका ज्ञान पर्याप्त है, उनके विषय और उनकी इन्द्रियां भी उनके पास हैं; उनके सूक्ष्म शरीरों को विचार कर कौन देखता है ? ॥ ३ ॥ इन सूक्ष्मातिसूक्ष्म कीड़ों के लिए चींटी ही बहुत बड़ा हाथी है ! लोग कहते भी हैं कि, "चींटी के लिए मूत ही अथाह है !" ॥ ४ ॥ सारांश, चींटियों की तरह अनन्त छोटे-बड़े शरीर हैं । उन सब में भी जीवेश्वर वास करता है ॥ ५ ॥ इस प्रकार के अनन्त कीड़े पृथ्वी पर भरे हुए हैं । अत्यन्त उद्योगी पुरुष ही इन सब का विचार करके देखता है ॥ ६ ॥ अनेक नक्षत्रों में नाना प्रकार के जीव तक उद्योगी पुरुषों को पर्वत के समान (सूक्ष्मदर्शक यंत्र से ?) भासते हैं । वे लोग उन जीवों की बड़ी बड़ी अवस्थाओं तक का पता लगा लेते हैं ! ॥७॥ पक्षियों का सा कोई छोटा नहीं है और पक्षियों के बराबर कोई बड़ा भी नहीं है—सर्प और मछलियों का भी यही हाल जानो ॥ ८ ॥ चींटी से लेकर

हाथी तक बड़े बड़े शरीर हैं, उनका विचार करने से उनके भीतर के तत्त्व का निश्चय हो जाता है ॥ ९ ॥ उनमें नाना जातियां और नाना रंग हैं; अनेक जीवों के अनेक रूप हैं; कोई सुरंग हैं, कोई बदरंग हैं–कहां तक बतलाया जाय? ॥ १० ॥ किसीको जगदीश्वर ने सुकुमार बनाया है, किसीको कठोर बनाया है और किसी किसीके शरीर सुवर्ण के समान दैदीप्यमान बनाये हैं ॥ ११ ॥ इस प्रकार उन जीवों में शरीरभेद, आहारभेद, वाचाभेद और गुणभेद पाये जाते हैं, पर अन्तःकरण सब का अभेद और एकरूप है—आत्मा सब की एक ही है ॥ १२ ॥ उन जीवों में से कोई कष्टदायक हैं; और कोई घातक हैं। इस प्रकार विचार करने पर इस सृष्टि में कितने ही अनमोल कौतुक देख पड़ते हैं ॥ १३ ॥ इस प्रकार सबों का विचार कर देखनेवाला इस जगत् में कौन प्राणी है ? अपने अपने मतलब–भर के लिए, किंचित् मात्र, सभी जान लेते हैं ॥ १४ ॥ वसुंधरा नवखंडों में विभक्त है, इसके चारों ओर सप्तसागरों का घेरा है, ब्रह्मांड के बाहर भी पानी घिरा है, पर बात को देखता कौन है ? ॥ १५ ॥ उस पानी में अनन्त जीव वास करते हैं–इन असंख्य जीवों की स्थिति कौन जानता है ? ॥ १६ ॥ जहां जीवन (जल) है वहां जीव हैं–यह उत्पति का स्वभाव है। विचार करने से उसका अभिप्राय बहुत विस्तृत जान पड़ता है ॥१७॥ भूगर्भ में नाना प्रकार का नीर है, उस नीर में शरीर हैं–नाना प्रकार के छोटे-बड़े जीव हैं–उनको कौन जानता है ? ॥ १८ ॥ कोई कोई प्राणी आकाश में रहते हैं–उन्होंने कभी पृथ्वी को देखा तक नहीं है।पंख निकलने पर भी वे ऊपर ही ऊपर उड़ जाते हैं ॥ १९ ॥ नाना प्रकार के खेचर, भूचर, वनचर और जलचर आदि चौरासी लक्ष जीवयोनियों को कौन जानता है ? ॥ २० ॥ उष्ण तेज को छोड़ कर सब जगह जीवों का वास है। कल्पना से प्राणी होते हैं; इन सब को कौन जानता है? ॥ २१ ॥ कोई नाना प्रकार की सामर्थ्यों से बनते हैं, कोई इच्छामात्र से उत्पन्न होते हैं और कोई वचन निकलते ही शाप देह पा जाते हैं ॥ २२ ॥ कोई बाजीगरी के देह होते हैं; कोई गारुड़ी के होते हैं और कोई देवताओं के देह होते हैं–ऐसे नाना प्रकार के देह होते हैं ॥ २३ ॥ कोई क्रोध से होते हैं, कोई तप से जन्मते हैं और कोई उःशाप से पूर्वदेह पाते हैं ॥ २४ ॥ ऐसी भगवान् की करनी है–कहां तक बतलाई जाय? विचित्र माया के कारण यह सब होता जाता है ॥२५॥ यह माया (प्रकृति) नाना प्रकार के ऐसे ऐसे कठिन काम कर डालती है कि, जिनको न कभी किसीने देखा है और न सुना है। उसकी सारी विचित्र कला समझना चाहिए ॥ २६ ॥ लोग थोड़ा बहुत समझ लेते हैं, पेट भर ने के लिए विद्या सीख लेते हैं, और इतने ही से व्यर्थ के लिए ज्ञाता-

पन का गर्व करके नष्ट होते हैं ॥ २७ ॥ जो अन्तरात्मा सब में है वही एक सर्वात्मा ज्ञानी है। उसकी महिमा जानने के लिए बुद्धि कहां तक चल सकती है! ॥ २८ ॥ सप्तकंचुक ब्रह्मांड है, उसमें सप्तकंचुक पिंड है; उस पिंड में भी न जाने कितने प्राणी वास करते हैं! ॥ २९ ॥ जब अपनी देह ही का हाल अपने को नहीं मालूम होता तब फिर सब कुछ कैसे मालूम हो सकता है? पर लोग अल्पज्ञता ही से उतावले हो जाते हैं ॥ ३० ॥ अणुरेणु के समान जो छोटे छोटे जन्तु हैं उनके तो हम विराट्पुरुष हैं! उनके हिसाब से तो हमारी आयु बहुत बड़ी है! ॥ ३१ ॥ उनके बर्ताव करने के अनेक रीति-रवाज होते हैं; ऐसा कौन है जो ये सब कौतुक जानता हो? ॥ ३२ ॥ परमेश्वर की करनी धन्य है; अन्तःकरण में उसका अनुमान भी नहीं होता; पर यह पापिनी अहन्ता व्यर्थ के लिए घेरती है ॥ ३३ ॥ अहन्ता छोड़ कर परमेश्वर की अगाध करनी का विचार करना चाहिए; पर इस काम को देखते हुए मनुष्य का जीवन बहुत थोड़ा है—वह इस काम के लिए पर्याप्त नहीं है ॥ ४० ॥ यद्यपि जीवन अल्प है, देह क्षणभंगुर है और शरीर-पतन होते देर नहीं लगती, तथापि लोग व्यर्थ के लिए गर्व करते हैं! ॥ ३५ ॥ यह देह मलीन ठौर में जन्मी है और मलीन ही रस से बढ़ी है; तब फिर लोग इसे बड़ी किस हिसाब से कहते हैं? ॥ ३६ ॥ यह मलीन और क्षणभंगुर है, इसमें व्यथा लगी ही रहती है, सदा चिन्ता लगी रहती है; तिस पर भी लोग अपने अविचार से इसे व्यर्थ के लिए बड़ी कहते हैं ॥ ३७ ॥ यह शरीर और सम्पत्ति दो दिन के लिए है, जीवन में आदि से लेकर अन्त तक अनेक झगड़े लगे रहते हैं; तिस पर भी लोग टीमटाम (ढोंग) करके व्यर्थ के लिए बड़प्पन दिखाते हैं ॥ ३८ ॥ चाहे जैसा ढोंग रचा जाय; पर अन्त में खुल जाता है, और खुल जाने पर चारों ओर दुर्गंध उड़ती है—बदनामी होती है—इस लिए जो पुरुष विवेक से किसी काम में लगता है वही धन्य है ॥ ३९ ॥ व्यर्थ के लिए ढोंग क्यों करना चाहिए? अहन्ता का गड़बड़ बस करो! विवेक से परमेश्वर को ढूँढ़ना सब से अच्छा है ॥ ४० ॥

नववा समास—पिंड की उत्पत्ति !

॥ श्रीराम ॥

चारों खानियों के सारे प्राणी पानी से ही बढते हैं; ऐसे असंख्य होते और जाते हैं ॥ १ ॥ पञ्च-तत्त्वों का शरीर बनता है आत्मा के साथ रह कर बर्ताव करता है; पर वास्तव में इसका मूल यदि ढूँढा जाय तो जलरूप है ॥ २ ॥ स्त्री-पुरुषों के शरीर से जलरूप वीर्य निकल कर आपस में मिलते हैं ॥ ३ ॥ फिर अन्नरस, देहरस, रक्त और शुक्र से उनकी थकिया बँधती है, इसके बाद वह दोनों रसों की थकिया खूब बढ़ने लगती है ॥४॥ गर्भ बढ़ते बढ़ते बढ़ जाता है, कोमल से कठिन हो जाता है और फिर, इसके बाद, सारे अवयवों में जल प्रविष्ट होता है ॥ ५ ॥ गर्भ सम्पूर्ण होने पर बाहर निकलता है, भूमि पर गिरते ही रोने लगता है। बस, सब का सारा शरीर इसी तरह बनता है ॥ ६ ॥ देह बढ़ती है, कुबुद्धि बढ़ती है, प्रारम्भ से लेकर अन्त तक सब ही कुछ होता है; और देखते देखते वह सारा बढ़ता और नष्ट होता है ॥ ७ ॥ इस प्रकार ज्यों ज्यों सब का शरीर दिन दिन बड़ा होता जाता है त्यों त्यों कुछ कुछ विचार सूझने लगता है ॥ ८ ॥ जैसे फल में बीज आता है उसी तरह मनुष्य के देखते सुनते सब कुछ समझ में आने लगता है ॥ ९ ॥ जल से बीज अँकुराते हैं, जल न होने से नष्ट हो जाते हैं। मिट्टी और जल एक जगह होने से काम चलता है ॥१०॥ दोनों में बीज होने से भींग कर सहज ही में अंकुर निकल आता है। बढ़ते बढ़ते फिर आगे और भी आनन्द मिलता है ॥ ११ ॥ इधर नीचे मूल दौड़ते हैं, उधर चोटी छैल रही है। मूल और चोटी दोनों बीज से होते हैं ॥ १२ ॥ मूल पाताल की ओर चलते हैं, चोटियां अन्तराल की ओर दौड़ती हैं। इसी तरह नाना प्रकार के पत्र, पुष्प और फलों से वृक्ष लद जाते हैं ॥ १३ ॥ फलों के जनक (कारण) फूल हैं; फूलों के जनक पत्ते हैं और पत्तों की पैदा करनेवाली पेड़ियां हैं ॥ १४ ॥ पेड़ियों के जनक महीन मूल हैं, मूलों का जनक उदक है और उदक सूख जाने पर पृथ्वी रह जाती है! ॥ १५ ॥ यही अनुभव है। अतएव, पृथ्वी सब की जननी है, पृथ्वी का जनक 'आपोनारायण' की मूर्ति है ॥ १६ ॥ उसका बाप अग्निदेव है, अग्नि का बाप वायुदेव है, वायुदेव का बाप स्वाभाविक ही अन्तरात्मा है ॥१७॥ इस प्रकार सब की जनक अन्तरात्मा है, उसे जो नहीं जानता वह दुरात्मा है-अर्थात् आत्मा से वह दूर रहता है! ॥ १८ ॥ (ऐसा पुरुष) पास रहते हुए भी आत्मा को भूला रहता है, अनुभव नहीं प्राप्त करता। अन्तरात्मा ही के कारण आता है और योंही चला जाता है ॥ १९ ॥ इस लिए

सब का जनक जो परमात्मा है उससे अनन्यभाव रखने पर फिर यह प्रकृति का स्वभाव बदलने लगता है ॥ २० ॥ (स्वभाव बदलने पर) अपना व्यासंग करता है, ध्यानभंग कभी नहीं होता और बोलने चालने में व्यंग (insinuation) नहीं आने देता ॥२१॥ जो कुछ पिता ने निर्माण किया है उसे देखना चाहिए । क्या क्या पिता ने बनाया है और कितना देखें ? ॥ २२ ॥ जिस पुरुष में वह परम पिता (अन्तरात्मा) प्रकाशित हो जाता है वही भाग्यवान् है । जिसमें अल्प प्रकाशित होता है वह अल्प भाग्यवान् है ॥ २३ ॥ उस नारायण का, मन में ध्यान रख कर, अखण्ड स्मरण करना चाहिए । इतना करने पर, फिर, लक्ष्मी उसके पास से कहां जायगी ? ॥ २४ ॥ नारायण विश्व में व्याप्त है-उसकी पूजा करते रहना चाहिए । अर्थात् सब को सन्तुष्ट करना चाहिए-सब को सन्तुष्ट रखना मानो नारायण का सन्तुष्ट रखना है ॥ २५ ॥ जब हम उपासना का विचार करते हैं तब जान पड़ता है कि, वह विश्वपालिनी है। उसकी लीला अगम्य है । उसकी कोई परीक्षा नहीं कर सकता* ॥ २६ ॥ परमात्मा की लीला परमात्मा के बिना और दूसरा कौन जान सकता है ? हम जितना कुछ देखते हैं उतना सब हमें परमात्मा ही देख पड़ता है ॥२७॥ उपासना सब ठौर है; आत्माराम कहां नहीं है ? ठौर ठौर में राम भरा हुआ है-उपासना; आत्माराम और राम तीनों एक ही हैं, और सर्वव्यापी हैं ॥ २८ ॥ ऐसी मेरी उपासना है ! वह अनुमान में नहीं लाई जा सकती, वह निरंजन के भी उस पार ले जाती है ! ॥ २९ ॥ अन्तरात्मा के योग से कर्म होते हैं; अंतरात्मा के योग से उपासक बनते हैं और अन्तरात्मा ही के योग से कितने ही लोग ज्ञानी बनते हैं ॥ ३० ॥ नाना शास्त्र, नाना मत, ये सब परमेश्वर ने कहे हैं । नेमक-अनेमक या व्यस्त-अव्यस्त कर्म के अनुसार होते हैं ॥ ३१ ॥ परमेश्वर को सब कुछ करना पड़ता है, उसमें से जितना ले सकें उतना लेना चाहिए । अधिकार के अनुसार चलना अच्छा है ॥ ३२ ॥ उपासना में आवाहन करने और विसर्जन करने का ही विधान बताया गया है (अर्थात् माया के उद्भव और संहार का ही विचार किया जाता है)-इतना पूर्वपक्ष हुआ-उत्तरपक्ष या सिद्धान्त इसके आगे है ॥३३॥ वेदान्त, सिद्धान्त और 'धादांत' (शास्त्र-प्रतीति, गुरु-प्रतीति, आत्म-प्रतीति) इन तीनों में आत्मप्रतीति का प्रमाण मुख्य है ।

---

* इस लिए परमात्मा की सेवा और विश्व या जगत् की सेवा करना, एक ही बात है। परमात्मा की सेवा को ही उपासना कहते हैं, इस लिए उपासना विश्वपालिनी हुई ।

पंचीकरण छोड़ कर महावाक्य, जो हितकारक है, उसके अर्थ का विचार करना चाहिए॥ ३४॥

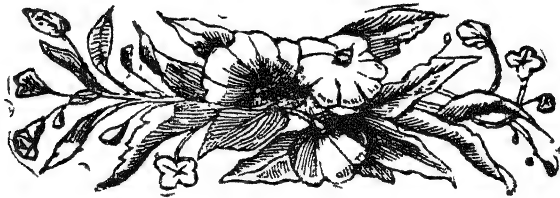
दसवाँ समास–सिद्धान्त-निरूपण।

॥ श्रीराम ॥

आकाश में सब कुछ होता है और जाता है; पर जो कुछ होता जाता है वह आकाश की तरह ठहरता नहीं। उसी तरह निश्चल (परब्रह्म) में चंचल (माया) नाना प्रकार से होती जाती है; पर वह परब्रह्म की तरह निश्चल नहीं है॥ १॥ घना अंधकार घिर आने पर आकाश काला जान पड़ता है और रवि की किरणें फैल जाने पर वह पीला जान पड़ता है ॥ २॥ जब बहुत ठँढ होती है तब आकाश ठँढा मालूम होता है। और गरम हवा से आकाश सूखा मालूम होता है॥ ३॥ परन्तु ऐसा जो कुछ जान पड़ता है वह होता है और चला जाता है। वह तो कभी नहीं हो सकता कि वह भी आकाश की तरह निश्चल रहे॥ ४॥ उत्तम ज्ञातृत्व की बात अच्छी तरह समझ कर देखना चाहिए, आकाश निराभास है और भास मिथ्या है॥ ५॥ उदक फैलता है, वायु फैलती है और आत्मा तो अत्यंत ही फैलती है–सारे तत्त्व फैलते हैं॥ ६॥ चंचल और निश्चल सब अन्तःकरण को मालूम होता है। विचार करने से ही प्राणिमात्र को सब कुछ मालूम होता है॥७॥ विचार करते करते (मनन करते रहने से) अन्त में निवृत्तिपद में लीन हो जाते हैं और फिर वियोग नहीं होता॥ ८॥ वहां (निवृत्तिपद में) ज्ञान का विज्ञान हो जाता है, मन उन्मन हो जाता है। इस प्रकार विवेक से तत्त्व-निरसन करने पर अनन्य हो जाते हैं॥ ९॥ पिता (अंतरात्मा) को खोज कर देखने से चंचल का निश्चल हो जाता है उस ठौर में देव-भक्त-पन चला जाता है–अनन्यता होती है॥ १०॥ वहां ठौर ठिकाना आदि पदार्थ कुछ नहीं है–पदार्थमात्र बिलकुल हैं ही नहीं। सब के जानने के लिए कुछ तो भी बतलाते हैं!॥ ११॥ जब अज्ञानशक्ति का निरसन हो जाता है, ज्ञानशक्ति भी लय हो जाती है तब, देखो कि, वृत्तिशून्य हो जाने पर, कैसी स्थिति होती है॥ १२॥ मुख्य निर्विकल्प समाधि उसे कहते हैं जब चंचल (माया) का गड़बड़ ही न रहे, माया का भ्रमनाश हो जाने पर वह शान्त (पुरुष) निर्विकारी शान्त (परब्रह्म)

में लीन हो जाता है ॥ १३ ॥ चंचल (माया) वास्तव में विकारी है; परन्तु यह चंचल वहां रहता ही नहीं । निश्चल के तईं चंचल मिल कर नहीं रह सकता ॥ १४ ॥ महावाक्य का विचार करने के लिए संन्यासी ही अधिकारी है; पर जिस पुरुष पर दैवीकृपा है वह भी उसका विचार करता है ॥ १५ ॥ संन्यासी, सम्यक् प्रकार से त्याग करनेवाले को कहते हैं-सब विचारवान् पुरुष संन्यासी हैं । अपनी करनी निश्चय करके अपने ही पास है ॥ १६ ॥ जगदीश के प्रसन्न होने पर सन्देह कहां रह सकता है? अस्तु ! ये विचार विचारी पुरुष जानते हैं ॥ १७ ॥ जो विचारी पुरुष समझ जाते हैं वे निस्संग हो जाते हैं । और जो देहाभिमानी रह जाते हैं वे देहाभिमान की ही रक्षा करते हैं ॥ १८ ॥ अलक्ष (ब्रह्म) ध्यान में बैठ जाने से पूर्वपक्ष (सन्देह) उड़ जाता है और हेतुरूप अन्तर्साक्षी आत्मा भी परमात्मा में लय हो जाती है ॥ १९ ॥ आकाश और पाताल दोनों अन्तराल के नाम हैं । दृश्य, अर्थात् पृथ्वी का परदा बीच से खींच लेने पर दोनों मिल कर एक हो जाते हैं ॥ २० ॥ वे दोनों (आकाश-पाताल) एक ही हैं, परन्तु मन उपाधि की ओर ध्यान रख कर देखता है । उपाधि का निरसन कर डालने पर भेद कैसे रह सकता है ? ॥ २१ ॥ वह शब्द से परे है, कल्पना से परे है, और मन-बुद्धि से अगोचर है । विचारपूर्वक मन में इसका बोध करना चाहिए ॥ २२ ॥ विचार करते करते मालूम हो जाता है । परन्तु जितना कुछ मालूम होता है उतना सब व्यर्थ जाता है ("मालूम हुआ"-यह ज्ञान रहते हुए मालूम होना व्यर्थ है) कैसा कठिनतम विषय है-उसे बतलावें तो किस प्रकार ? ॥ २३ ॥ महावाक्य के वाच्यांश का विचार करने पर जो लक्ष्यांश निकलता है वह भी अलक्ष (परब्रह्म) में लीन हो जाता है और उसके आगे बोलना बन्द हो जाता है ॥ २४ ॥ जो शाश्वत को खोजता जाता है वह सच्चा ज्ञानी होता है और विकार छोड़ कर निर्विकार (परब्रह्म) में मिल जाता है ॥ २५ ॥ सुप्तावस्था में बहुत से दुःस्वप्न देख पड़ते हैं, पर जग उठने पर वे मिथ्या हो जाते हैं; फिर चाहे उनकी याद आवे तो भी वे मिथ्या ही हैं ॥ २६ ॥ (एक बार ज्ञान हो जाने पर फिर देह का महत्त्व नहीं रहता) प्रारब्धयोग के अनुसार फिर देह रहे चाहे न रहे-अन्तःकरण का विचार अवश्य अचल अटल रहता है ॥ २७ ॥ जैसे बीज अग्नि से भुँज जाने पर उसका बढ़ना बन्द हो जाता है, वैसे ही ज्ञाता का वासनारूप बीज भी, ज्ञानाग्नि से, दग्ध हो जाता है ॥२८॥ विचार से बुद्धि निश्चल हो जाती है और बुद्धि से ही कार्यसिद्धि होती है । बड़ों की बुद्धि का विचार करने से जान पड़ता है कि, उनकी बुद्धि भी निश्चलता तक पहुँची हुई होती है ॥ २९ ॥ जो निश्चल का ध्यान

करता है वह निश्चल होता है, जो चंचल का ध्यान करता है वह चंचल होता है और भूतों का ध्यान करता है वह भूत होता है ॥ ३० ॥ जो अन्त पा चुका है (जिसे ब्रह्मप्राप्ति हो चुकी है) उसका माया कुछ भी नहीं कर सकती। अन्तर्निष्ठों के लिए माया एक प्रकार की बाजीगरी है ॥३१॥ जब यह बात मालूम हो जाती है कि, माया मिथ्या है–और जब उसके मिथ्यात्व की भावना विचार से दृढ़ हो जाती है–तब अकस्मात् सारा भय ही दूर हो जाता है ॥ ३२॥ अस्तु। हमको उपासना का कृतज्ञ होना चाहिए, भक्ति का प्रचार करना चाहिए और विवेक से अन्तःकरण में सब कुछ समझ लेना चाहिए ॥ ३३ ॥



सोलहवाँ दशक ।



पहला समास--वाल्मीकि-स्तुति ।

॥ श्रीराम ॥

उस वाल्मीकि को धन्य है। वह ऋषियों में पुण्यश्लोक था और उसके द्वारा यह त्रैलोक्य पावन हुआ है ॥ १ ॥ यह तो कभी दृष्टि से देखा नहीं गया कि, किसीने भविष्य कहा हो और फिर शतकोटि ! चाहे सारी सृष्टि छान डाली जाय; पर तौ भी ऐसी बात सुनने को भी नहीं मिल सकती ॥ २ ॥ भविष्य का एक वचन भी यदि कभी सत्य हो जाता है तो तमाम पृथ्वीमंडल के लोग उस पर आश्चर्य करते हैं ॥ ३ ॥ जब रघुनाथ का अवतार भी न हुआ था तभी उसने, शास्त्राधार लिए बिना, रामकथा का विस्तार कर दिया ! ॥ ४ ॥ उसके वाग्विलास को सुन कर महेश भी सन्तुष्ट हो गया; फिर उसने शतकोटि रामायण त्रैलोक्य में बांट दी ॥५॥ उसका कवित्व शंकर ने देखा, दूसरे से उसके कवित्व का अनुमान भी नहीं हो सका। उससे रामोपासकों को परम समाधान हुआ ॥ ६ ॥ बड़े बड़े ऋषि हो गये, बहुतों ने कवित्व किया है; पर वाल्मीकि के समान कवीश्वर न हुआ है, न होगा ॥ ७ ॥ पहले दुष्ट कर्म किये; पर फिर राम-नाम से पावन हुआ। दृढ़ नियमपूर्वक नाम जपने से उसे असीम पुण्य प्राप्त हुआ ॥ ८ ॥ उलटा नाम जपने से पाप के पर्वत चूर हो गये और पुण्य के ध्वज ब्रह्मांड पर फड़क उठे ॥ ९ ॥ वाल्मीकि ने जहां तप किया वह वन पुण्य से पावन होगया और उसके तपोबल से सूखे काठ में भी अंकुर फूटे ! ॥१०॥ पहले वाल्मीकि भूमंडल में विख्यात जीवघातकी 'वाल्हा' नाम का कोल था। परन्तु अब उसीको बड़े बड़े विबुध और ऋषीश्वर वन्दन करते हैं ॥ ११ ॥ जिस पुरुष में उपरति और अनुताप आता है उसमें पाप कैसे रह सकता है ? देह का अन्त होने तक तप करने से वाल्मीकि का पुण्यरूप दूसरा जन्म हुआ ॥ १२ ॥ अनुताप में आकर ऐसा आसन लगाया कि, देह की बाँबी बन गई; इसी लिए आगे वही 'वाल्मीकि' नाम पड़ा ॥ १३ ॥ बांबी को संस्कृत में 'वाल्मीकि' कहते हैं, इसी लिए 'वाल्मीकि' नाम पड़ा। उसके तीव्र तप को सुन कर बड़े बड़े तपस्वियों का भी हृदय कांप उठता है ॥ १४ ॥ वह तपस्वियों में श्रेष्ठ है, वह कविश्वरों में श्रेष्ठ है

और उसका कथन स्पष्ट और निश्चयात्मक है ॥ १५ ॥ वह निष्ठावंतों का मंडन है; रघुनाथभक्ति का भूषण है, उसकी धारणाशक्ति असाधारण है। वह साधकों को मदद करता है ॥ १६ ॥ "श्रीरघुवीर समर्थ" के कवीश्वर वाल्मीकि को धन्य है। उसको मेरा साष्टांगभाव से नमस्कार है ॥ १७ ॥ यदि वाल्मीकि ऋषि ने न बतलाई होती तो रामकथा हमें कैसे मालूम होती? हम ऐसे समर्थ महात्मा का कहां तक वर्णन करें! ॥ १८ ॥ उसने रघुनाथ की कीर्ति प्रगट की, इस कारण उसकी भी महिमा बढ़ी और रामकथा के श्रवण मात्र से भक्तमंडली सुखी हुई ॥१६॥ उसने अपना काल सार्थक किया, रघुनाथकीर्ति में मग्न हुआ और उसके द्वारा भूमंडल में बहुत लोगों का उद्धार भी हुआ ॥ २० ॥ ऐसे बड़े बड़े रघुनाथभक्त होगये, उनकी महिमा अपार है। "रामदास" कहता है कि मैं उन सब का किंकर हूं ॥ २१ ॥

दूसरा समास--सूर्य-स्तुति।

॥ श्रीराम ॥

इस सूर्यवंश को धन्य है, धन्य है। यह सब वंशों में श्रेष्ठ है। मार्तण्ड-मण्ड़ल का प्रकाश सारे भूमंडल में फैला हुआ है ॥ १ ॥ सोम के शरीर में लांछन है, वह एक पक्ष में क्षीण होता जाता है और रविकिरणों के फैलते ही वह कला-हीन हो जाता है ॥ २ ॥ इस कारण सूर्य की बराबरी वह भी नहीं कर सकता। सूर्य ही के प्रकाश से प्राणिमात्र को उजेला मिलता है ॥ ३ ॥ इस सृष्टि में नाना प्रकार के उत्तम, मध्यम, अधम और सुगम, दुर्गम, धर्म, कर्म, नित्य-नियम, इत्यादि सब सूर्य ही से होते रहते हैं ॥ ४ ॥ वेद, शास्त्र, पुराण, मंत्र, यंत्र, नाना साधन, संध्या, स्नान, पूजा, विधि-विधान, आदि कोई कर्म-धर्म सूर्य बिना नहीं हो सकते ॥५॥ असंख्य प्रकार के नाना योग, नाना मत, सूर्य के उदय होने पर अपने अपने पंथ से जाते हैं ॥ ६ ॥ प्रापंचिक अथवा पारमार्थिक--कोई भी काम हो--दिन के बिना निरर्थक है--सार्थक नहीं होता ॥ ७ ॥ सूर्य का अधिष्ठान नेत्र हैं, नेत्र न होने से सब अन्धे हैं; अतएव, सूर्य के बिना कोई काम नहीं चलता ॥८॥ यदि कहोगे कि, अन्धे तो कबिता करते हैं, तो यह भी सूर्य का ही कारण है; क्योंकि मति ठंढी हो जाने पर फिर मति-प्रकाश कहां रहता है? ॥६॥

उष्ण प्रकाश सूर्य का है और शीत प्रकाश चन्द्र का है, उष्णत्व न रहने पर देहपात हो जाता है ॥१०॥ इस कारण सूर्य के बिना सहसा काम नहीं चलता, आप लोग विचक्षण श्रोता हैं-सोच देखो ॥ ११ ॥ हरि और हर के अनेक अवतारों तथा शिवशक्ति की अनन्त व्यक्तियों के पहले भी सूर्य था और अब भी है ॥ १२ ॥ जितने संसार में आते हैं सब सूर्य के नीचे बर्ताव करते हैं और अन्त में सूर्य के आगे ही देहत्याग करके चल जाते हैं ॥१३॥ चन्द्र-सूर्य के बहुत पीछे हुआ है, क्षीरसागर से मथ कर निकाला गया है। चौदह रत्नों में से यह भी एक है-लक्ष्मी का बन्धु है ॥ १४ ॥ यह सब छोटे बड़े जानते हैं कि, यह भास्कर विश्वचक्षु है; इस कारण दिवाकर श्रेष्ठों से भी श्रेष्ठ है ॥ १५ ॥ समर्थ (ईश्वर) ने सूर्य को लोकोपकार के लिए अपार नभमार्ग क्रमण करने और इसी तरह रोज आने जाने की आज्ञा दी है ॥ १६ ॥ दिन न रहने पर अन्धकार हो जाता है, किसी को सारासार नहीं जान पड़ता; दिन के बिना चोरों का और उल्लुओं का काम चलता रहता है ॥ १७ ॥ सूर्य के आगे और दूसरा कौन बराबरी के लिए लाया जाय? यह तेजोराशि अवश्य उपमारहित है ॥ १८ ॥ यह सूर्य रघुनाथ का पूर्वज होने के कारण हमारा सब का भी यही पूर्वज है-इसकी महिमा अगाध है-उसे मानवी वाचा क्या वर्णन करे? ॥ १९ ॥ रघुनाथ-वंश में पूर्वापर एक से भी एक बड़े हो गये। यह विचार मुझ मतिमंद को कैसे मालूम हो? ॥ २० ॥ रघुनाथ के समुदाय में मेरा अन्तःकरण फँसा हुआ है, इस लिए उसका महत्व वर्णन करने में मैं वागदुर्बल, या असमर्थ हूं ॥ २१ ॥ सूर्य को नमस्कार करने से सारे दोषों का परिहार हो जाता है और निरन्तर सूर्यदर्शन करने से स्फूर्ति बढ़ती है ॥ २२ ॥

तीसरा समास-पृथ्वी-स्तुति ।

॥ श्रीराम ॥

इस वसुमती को धन्य है, धन्य है। इसकी महिमा कहां तक गावें? प्राणिमात्र इसी के आधार से रहते हैं ॥ १ ॥ अन्तरिक्ष में जो जीव रहते हैं वे भी पृथ्वी ही के कारण से रहते हैं क्योंकि जड़ देह न होने से जीव

कैसे रह सकता है? (और जड़ता पृथ्वी का लक्षण है) ॥ २ ॥ पृथ्वी को लोग जलाते हैं, भूनते हैं, टोंचते हैं, जोतते हैं, छीलते हैं, खोदते हैं और उस पर मलमूत्र तथा वमन छोड़ते हैं ॥ ३ ॥ सड़-गले और जर्जर पदार्थों के लिए पृथ्वी को छोड़ कर और कहां सहारा है? देहान्तकाल में शरीर भी उसी पर पड़ता है ॥ ४ ॥ बुरा, भला, जो कुछ है, सब के लिये पृथ्वी को छोड़ कर और कहीं सहारा नहीं है। नाना प्रकार की धातु और द्रव्य भी पृथ्वी ही के पेट में रहते हैं ॥ ५ ॥ इस पृथ्वी पर ही रह कर प्राणी एक दूसरे का संहार करते हैं—वे भूमि को छोड़कर और जा कहां सकते हैं? ॥ ६ ॥ गढ़, कोट, पुर, पट्टन, नाना देश आदि स्थान पर्यटन करने से मालूम होते हैं। देव, दानव और मानव सब पृथ्वी ही पर रहते हैं ॥ ७ ॥ नाना रत्न, हीरे, पारस, नाना धातु और द्रव्य पृथ्वी के बिना गुप्त या प्रगट नहीं हो सकते ॥ ८ ॥ मेरु, मंदार, हिमाचल, आदि नाना अष्ट-कुल-अचल और पक्षी, मच्छ तथा सर्प आदि जीव भूमंडल ही में रहते हैं ॥ ९ ॥ नाना समुद्रों के उस पार, जहां चारों ओर आवर्णोदक घेरे हुए हैं, भूमण्डल की अद्भुत पहाड़ियां फटी हुई हैं ॥ १० ॥ उनमें अपार, छोटे बड़े विवर हैं, जहां निबिड़ अन्धकार छाया हुआ है ॥ ११ ॥ अवर्णोदक का पारावार कौन जान सकता है? अद्भुत और बड़े अनन्त जलचर उसमें भरे पड़े हैं ॥ १२ ॥ उस पानी को पवन का आधार है—वह निबिड़, डँटा हुआ और घना जीवन (पानी) किसी ओर से फूट नहीं सकता ॥ १३ ॥ कठिनत्व-रूप अहंकार उस प्रभंजन का आधार है, इस प्रकार के विचित्र भूगोल का पार कौन पा सकता है? ॥ १४ ॥ नाना पदार्थों की खानियां, धातु-रत्नों का जमाव, कल्पतरु, चिन्तामणि, अमृतकुंड, नाना द्वीप, नाना खण्ड, बहुत से नगर और ऊसर हैं जहां कि, नाना प्रकार के जीवन निराले ही रहे हैं ॥१५॥ १६ ॥ मेरु के आसपास पहाड़ियां फटी हुई हैं, अद्भुत अँधेरा छाया हुआ है और नाना प्रकार के वृक्ष लगे हुए हैं ॥१७॥ उसी के पास लोकालोक पर्वत है, जहां सूर्य का चक्र फिरता रहता है। चन्द्राद्रि, द्रोणाद्रि और मैनाक नाम के महागिरी भी वहीं हैं ॥ १८ ॥ अनेक देशों के नाना पाषाणभेद, नाना प्रकार के मृत्तिकाभेद, नाना गुप्त विधान और विभूतियां तथा नाना खानियां सब इसी पृथ्वी पर हैं ॥ १९ ॥ वसुंधरा बहुरत्नमयी है, पृथ्वी के समान और दूसरा कौन पदार्थ है? यह चारों ओर अमर्याद फैली हुई है ॥ २० ॥ ऐसा कौन प्राणी है जो सारी धरती घूम सके? धरनी के साथ और किसी की तुलना नहीं की जा सकती ॥ २१ ॥ अनेक देशों की नाना बेलें, नाना फसलें, जो अनुपम हैं, सब इसी पृथ्वी पर होती हैं ॥२२॥ स्वर्ग, मृत्यु और पाताल ये तीन अद्भुत लोक रचे गये हैं। पाताल लोक में

बड़े बड़े नाग रहते हैं ॥ २३ ॥ यह विशाल धरनी ही नाना बेलों और बीजों की खानि है । उस कर्ता की करनी बड़ी विचित्र है ! ॥ २४ ॥ मनोहर गढ़, कोट, अनेक नगर, पुर, पत्तन, आदि सब स्थानों में जगदीश्वर रहता है ॥ २५ ॥ बड़े बड़े बली होगये और उन्होंने पृथ्वी पर बहुत क्रोध किया; पर वे अपनी सामर्थ्य के द्वारा पृथ्वी से अलग नहीं रह सके ॥२६॥ यह पृथ्वी बहुत विस्तृत है, अनेक जाति के जीव इस पर रहते हैं । इस भूमण्डल पर अवतारों के नाना भेद हैं ॥ २७ ॥ इस समय भी यह बात प्रत्यक्ष देख पड़ती है, अनुमान करने की आवश्यकता नहीं है, नाना प्रकार के जीवन पृथ्वी ही के आधार से रहते हैं ॥ २८ ॥ कितने ही लोग ऐसा कहते हैं कि, भूमि मेरी है; पर अन्त में वे स्वयं ही मर जाते हैं । परन्तु पृथ्वी अनन्त काल से जैसी की तैसी ही बनी हुई है ॥ २९ ॥ ऐसी पृथ्वी की महिमा है; इसके साथ दूसरी कौनसी उपमा दें ? ब्रह्मादि देवताओं से लेकर हम मनुष्यों तक, सब को इसका आश्रय है ॥ ३० ॥

चौथा समास—जल-स्तुति ।

॥ श्रीराम ॥

अब, जो सबों का जन्मस्थान तथा जो सब जीवों का जीवन है और जिसे 'आपोनारायण' कहते हैं उसका निरूपण करते हैं ॥ १ ॥ पृथ्वी को आवर्णोदक का आधार है । सात समुद्रों का समुद्र-जल और नाना मेघों का मेघोदक पृथ्वी में बहता रहता है ॥ २ ॥ अनेक देशों में अनेक नदियां बह कर समुद्र से जा मिलती हैं । कोई छोटी हैं, कोई बड़ी हैं, कोई पवित्र हैं; उनकी महिमा अगाध है ॥ ३ ॥ नदियां पहाड़ों से निकल कर नाना दरी—खोरियों में बहती हुई "हहर हहर" या "खड़ खड़" शब्द करती हुई बहुत दूर तक चली जाती हैं ॥४॥ कुआं, बावड़ी, झील, बड़े बड़े तालाब, आदि अनेक जलस्थान नाना देशों में हैं । उनमें निर्मल नीर उमड़ रहा है ॥५॥ फौवारे ऊपर की ओर जोर से उठते हैं, अनेक नाले बहते हैं और झर-नों से पानी झरता है ॥६॥ कहीं कुओं से पानी झरता है, कहीं पर्वतों को फोड़ कर पानी बहता है—इस प्रकार भूमंडल में उदक के अनेक भेद हैं ॥ ७ ॥ अनेक पहाड़ों से पानी की अनेक भयंकर धाराएं फटी पड़ती हैं । उन्हीं से झरने, नदी, नाले भी उभड़ कर निकलते हैं ॥ ८ ॥ भूमंडल का जल कहां तक बत-लावें ? नाना प्रकार के फौवारों में भी पानी बांध कर लाया जाता है

॥ ६ ॥ दहों, गढ़ों, कुंडियों, कुंडों और नाना गिरिकंदराओं में भी जल भार होता है। अनेक लोगों में नाना प्रकार का जल है ॥ १० ॥ एक से एक बढ कर महा पवित्र और पुण्यदायक तीर्थ हैं। शास्त्रकार उनकी अगाध महिमा कह गये हैं ॥ ११ ॥ नाना तीर्थों के पुण्योदक, नाना स्थलों के शीतलोदक और उसी तरह नाना उष्णोदक (खौलते हुए सोते) ठौर ठौर में भरे हैं ॥ १२ ॥ नाना प्रकार की बेलों में पानी है, अनेक फलों-फूलों में पानी है और नाना कंदमूलों में भी पानी है—ये सब पानी गुणकारक हैं! ॥ १३ ॥ क्षारोदक, सिंधु-उदक, विषोदक और पीयूषोदक आदि नाना स्थलों में नाना गुणों से युक्त पानी हैं ॥ १४ ॥ नाना ईखों के रस, नाना फलों के नाना रस, नाना प्रकार के गोरस, मद, पारा और गुड़ के रस आदि सब उदक हैं ॥ १५ ॥ नाना मुक्ताफलों का पानी, नाना रत्नों का चमकता हुआ पानी और नाना शस्त्रों का पानी—ये सब पानी नाना गुण-युक्त होते हैं ॥ १६ ॥ वीर्य, रक्त, लार, मूत्र, स्वेद आदि उदकों के नाना भेद हैं, विचार कर-देखने से स्पष्ट मालूम हो जाते हैं ॥ १७ ॥ देह भी उदक ही की है, उदक का ही भूमंडल है, चन्द्रमंडल और सूर्यमंडल भी उदक ही से हैं ॥ १८ ॥ क्षारसिंधु, क्षीरसिंधु, सुरासिंधु, घृतसिंधु, दधिसिंधु, इक्षुरससिंधु और शुद्धोदकसिंधु के रूप में भी जल विस्तृत हुआ है ॥ १९ ॥ इस प्रकार आदि से लेकर अन्त तक पानी फैला हुआ है, और बीच में कहीं कहीं प्रगट है और कहीं कहीं गुप्त है ॥ २० ॥ पानी जिन बीजों में मिश्रित हुआ है उन्हींका स्वाद लेकर प्रगट हुआ है। जैसे ईख में परम सुन्दर, मीठा स्वाद लेकर प्रगट हुआ है ॥ २१ ॥ यह शरीर उदक से ही बना है और सदा इसे उदक ही चाहिए। उदक की उत्पत्ति का विस्तार कहां तक बतावें? ॥ २२ ॥ उदक तारक है, उदक मारक है, उदक नाना सुखों का दायक है। विचार करने से वह अलौकिक जान पड़ता है ॥ २३ ॥ नाना पृथ्वीतल पर दौड़ता रहता है। उससे नाना प्रकार की सुन्दर ध्वनि निकलती है। बड़ी बड़ी धाराएं 'हहर हहर' गिरती हैं ॥ २४ ॥ ठौर ठौर में दह उमड़ते रहते हैं, बडे बड़े तालाब भरे रहते हैं और नदी-नाले थबथबाते हुए बहते रहते हैं ॥ २५ ॥ कहीं गुप्त गंगा बहती हैं; सब जगह पानी मौजूद है। कहीं कहीं भूगर्भ में खड़खड़ाते हुए झरने बहते हैं ॥ २६ ॥ भूगर्भ में दह भरे हुए हैं, उन्हें न किसी ने देखा है न सुना है। कहीं कहीं विद्युल्लता के गिरने से झरने बन गये हैं! ॥ २७ ॥ पृथ्वीतल पर पानी भरा है, पृथ्वी के भीतर पानी खेलता है और पृथ्वी के ऊपर भी (बाष्परूप में) बहुत सा पानी फैला हुआ है ॥ २८ ॥ स्वर्ग, मृत्यु और पाताल तीनों में एक नदी है और मेघोदक आकाश से बरस

करता है ॥ २९ ॥ पृथ्वी का मूल जीवन है, जीवन का मूल अग्नि है और अग्नि का मूल पवन है। वह बड़ों से भी बड़ा है ॥ ३० ॥ उससे भी बड़ा परमेश्वर है। वहीं से महद्भूतों का विचार उत्पन्न हुआ है। उससे भी बड़ा—सब से बड़ा—परात्पर परब्रह्म है ॥ ३१ ॥

पाँचवाँ समास—अग्नि-स्तुति ।

॥ श्रीराम ॥

इस वैश्वानर (अग्नि) को धन्य है; यह रघुनाथ का श्वसुर है, विश्वव्यापक और विश्वम्भर है, जानकी का पिता है ॥१॥ इसीके मुख से भगवान् भोजन करता है, यह ऋषियों का फलदाता है, यह अंधकार, शीत और रोग का हरनेवाला तथा जगत् के लोगों का भरणपोषण करनेवाला है ॥२॥ लोगों में नाना वर्ण और नाना भेद हैं; पर अग्नि जीवमात्र के लिए अभेद है (एक समान है) और ब्रह्मादिकों के लिए भी वह अभेद तथा परम शुद्ध है ॥ ३ ॥ अग्नि से सृष्टि चलती है, अग्नि ही के कारण लोग अघाते हैं और अग्नि ही से सब छोटे बड़े जीते हैं ॥ ४ ॥ अग्नि से लोगों के रहने के लिए भूमंडल बना है और जगह जगह दीप-दीपिकाएं और नाना प्रकार की ज्वालाएं प्रकट हुई हैं ॥ ५ ॥ पेट में जो जठराग्नि रहता है, उससे लोगों को भूख लगती है। अग्नि ही से भोजन में रुचि आती है ॥ ६ ॥ अग्नि सर्व अंग में व्यापक है, उष्णता से सब जीते हैं, उष्णता न रहने से सब लोग मर जाते हैं ॥ ७ ॥ यह तो सभी लोग जानते हैं कि अग्नि मन्द हो जाने के कारण प्राणी मर जाता है ॥ ८ ॥ अग्नि का बल होने से तत्काल शत्रु को जीत लेते हैं। जब तक अग्नि है तब तक जीवन है ॥ ९ ॥ नाना प्रकार के रस अग्नि ही के द्वारा निर्माण किए जाते हैं कि, जिनसे पलमात्र में महारोगी भी आरोग्य होते हैं ॥ १० ॥ सूर्य सब से बड़ा है; पर अग्नि-प्रकाश की महिमा सूर्य से भी अधिक है। देखो न, रात में लोग अग्नि ही से सहायता लेते हैं ॥ ११ ॥ शूद्र के भी घर का अग्नि लाने में दोष नहीं कहा है; अग्नि सब के घर का पवित्र ही है ॥ १२ ॥ नाना याग और अग्निहोत्र विधिपूर्वक अग्नि ही से होते हैं। अग्नि, तृप्त होने पर, सुप्रसन्न होता है (और वरदान देता है) ॥ १३ ॥ देव, दानव और मानव सब अग्नि से ही वर्तते हैं। अग्नि सब लोगों के लिए सहारा है ॥१४॥ बड़े बड़े लोग विवाह में नाना प्रकार के अग्नि-कौतुक ले जाते हैं। पृथ्वी पर

बड़ी बड़ी यात्राएं (जुलूस) अग्निक्रीड़ा से शोभती हैं ॥ १५ ॥ रोगी लोग उष्ण औषधों का सेवन करके अग्नि से आराम पाते हैं ॥ १६ ॥ ब्राह्मण के मुख्य पूजनीय सूर्यदेव और हुताशन ही हैं इसमें कुछ भी सन्देह नहीं ॥ १७ ॥ लोगों में जठरानल है, सागर में बड़वानल है, भूगोल के चारों ओर आवर्णानल है। और इसके सिवा शिवनेत्र और विद्युल्लता में भी अनल है ॥ १८ ॥ कांच की बोतल से अग्नि होता है, आग्नेय दर्पण से अग्नि निकलता है और काठ रगड़ने से चकमकी के साथ अग्नि प्रगट होता है ॥ १९ ॥ अग्नि सब ठौर है, कठिनता के साथ रगड़ने से प्रगट होता है। अगियासपों से गिरिकन्दराएं तक भस्म हो जाती हैं ॥२०॥ अग्नि से नाना उपाय किए जाते हैं, अग्नि से नाना प्रकार की हानि भी होती है। विवेक बिना सब निरर्थक है ॥ २१ ॥ भूमंडल पर छोटे बड़े सब को अग्नि का आधार है। अग्निमुख से परमेश्वर संतुष्ट होता है ॥ २२ ॥ ऐसी अग्नि की महिमा है। वह जितनी कही जाय उतनी थोड़ी ही है। अग्निपुरुष की महिमा उत्तरोत्तर अगाध है ॥ २३ ॥ अग्नि जीवित काल में सुख देता है और मरने पर शव को भस्म करता है-वह सर्वभक्षक है-उसकी बड़ाई कहां तक की जाय? ॥ २४ ॥ अग्नि प्रलय काल में सारी सृष्टि का संहार करता है। अग्नि से कोई भी पदार्थ नहीं बचता ॥ २५ ॥ बहुत लोग नाना प्रकार के होम करते हैं, घर घर में बलिवैश्वदेव होते हैं और नाना क्षेत्रों में देवताओं के पास दीप जलाते हैं ॥ २६ ॥ दीपाराधन और नीरांजन से लोग भगवान् की आरती करती हैं। कड़ाही के जलते हुए तेल में हाथ डालकर सच झूठ जाना जाता है ॥ २७ ॥ अष्टधा प्रकृति और तीनों लोक-सब में अग्नि व्याप्त है। अग्नि की अगाध महिमा मुख से कहां तक वर्णन की जाय? ॥ २८ ॥ अग्नि के चार शृंग, तीन पैर, दो शिर और सात हाथ जो शास्त्र में कहे हैं सो क्या बिना अनुभव के ही कहे गये हैं? ॥२९॥ ऐसा जो उष्णमूर्ति अग्नि है उसका मैंने यथामति वर्णन किया। न्यूनाधिक के लिए श्रोता लोग क्षमा करें! ॥ ३० ॥

छठवाँ समास वायु-स्तुति !

॥ श्रीराम ॥

इस वायुदेव को धन्य है, धन्य है। इसका स्वभाव विचित्र है। वायु से ही सारे जीव जगत् में बर्तते हैं ॥ १ ॥ वायु से श्वासोच्छ्वास होता है, नाना विद्याओं का अभ्यास होता है और वायु से ही शरीर में चलन (चेतन) आता है ॥ २ ॥ चलन, वलन, प्रसारण, निरोधन, आकुंचन, प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय आदि वायु के अनेक स्वभाव हैं ॥३॥४॥ पहले वायु ब्रह्मांड में प्रगट हुआ; फिर ब्रह्मांड और देवताओं में भरकर, नाना गुणों से युक्त, पिंड में प्रगट हुआ ॥ ५ ॥ स्वर्गलोक के सब देवता, पुरुषार्थी दानव, और मृत्युलोक के मानव तथा विख्यात राजा, आदि नरदेह के नाना भेद, अनंत प्रकार के श्वापद, वनचर और जलचर आदि आनन्द से वायु के द्वारा क्रीड़ा करते हैं ॥ ६ ॥ ७ ॥ उन सब में वायु खेलता है, सारे पक्षी भी वायु से ही उड़ते हैं और वायु से ही अग्नि की ज्वाला उठती है ॥ ८ ॥ आकाश में मेघों को वायु एकत्र करती है, और फिर तुरंत ही अलग अलग करके हटा देती है। वायु के समान और दूसरा कारबारी नहीं ॥९॥ वायु आत्मा की सत्ता है, वह शरीर में बर्तती है। व्यापकता में वायु के सामर्थ्य की बराबरी कोई नहीं कर सकता ॥ १० ॥ वायु के बस से ही पर्वतों पर से मेघों की घनी फौजें लोकहित करने के लिए उठती हैं और वायुबल से ही बिजली गर्जना करके कड़कड़ाती है ॥ ११ ॥ इस ब्रह्मांड में चन्द्र, सूर्य, नक्षत्रमाला, ग्रहमंडल, मेघमाला और नाना कलाएं सब वायु से ही हैं ॥ १२ ॥ जैसे कई मिली हुई चीजें अलग अलग नहीं की जा सकती; भुने हुए पदार्थ फिर भिन्न भिन्न नहीं हो सकते, उसी प्रकार यह (पञ्चभौतिक) गड़बड़ कैसे मालूम हो सकता है? ॥ १३ ॥ वायु " सरसर सरसर " चलती है, बहुत ओले गिरते हैं और पानी के साथ में बहुत से जीव भी गिरते हैं ॥ १४ ॥ वायुरूप कमलकला (?) ही जल के लिए आधार है और जल के आधार से शेष पृथ्वी को धारण किए है ॥ १५ ॥ शेष पवन का आहार करता है, आहार से सब उसका शरीर फूल जाता है तब वह भूमंडल का भार अपने ऊपर लेता है; ॥ १६ ॥ महाकूर्म का बड़ा शरीर ऐसा जान पड़ता है जैसे ब्रह्मांड औंधा हुआ हो—इतना बड़ा उसका शरीर, वह भी वायु ही के योग से रहता है! ॥ १७ ॥ वराह ने अपने दांत पर जो पृथ्वी को धारण कर लिया सो वह शक्ति भी वायु ही के कारण उसे मिली ॥ १८ ॥ ब्रह्मा, विष्णु, महेश और स्वयं जगदीश्वर भी, वायु के ही स्वरूप

में हैं—यह विचार विवेकी जानते हैं ॥ १९ ॥ तेंतीस कोटि देवता, अट्ठासी सहस्र ऋषि और असंख्यों सिद्धयोगी आदि सब वायु से ही हैं ॥ २० ॥ नव कोटि कात्यायिनी, छप्पन कोटि चामुंडा और साढ़े तीन कोटि भूत-खानि—सब वायु के रूप में हैं ॥ २१ ॥ भूत, दैवत और नाना शक्तियों की व्यक्तियां वायुरूप हैं, और भूमंडल के न जाने कितने, नाना प्रकार के, जीव भी वायु से ही हैं ॥ २२ ॥ वायु पिंड और ब्रह्मांड में पूरित है—वह ब्रह्मांड के बाहर भी फैली हुई है। यह समर्थ वायु सब ठौर परिपूर्ण है ॥ २३ ॥ यह पवन बड़ा समर्थ है; हनुमन्त इसीका पुत्र है कि, जिसने अपना तन-मन रघुनाथ के स्मरण में लगा दिया ॥ २४ ॥ हनुमान वायु का प्रसिद्ध पुत्र है, पिता-पुत्र में भेद नहीं है, दोनों (वायु और हनुमान) का पुरुषार्थ एक ही सा है ॥२५॥ हनुमान को प्राणनाथ कहते हैं; परन्तु वायु ही के कारण वह समर्थ है। उसके न रहने पर सब व्यर्थ हो जाता है ॥ २६ ॥ प्राचीन काल में जब हनुमान की मृत्यु आई तब वायु ही रुद्ध हो गया, अतएव सारे देवताओं की प्राणान्त-अवस्था आ गई ॥ २७ ॥ जब सब देवों ने मिलकर वायु का स्तवन किया तब वायु ने प्रसन्न होकर सब को बचाया ॥ २८ ॥ इस लिए महा प्रतापी हनुमान ईश्वरी अवतार है। इसका पुरुषार्थ देवगण देखते ही रहते हैं ॥ २९ ॥ हनुमान ने, देवों को अचानक कारागृह में देख कर, लंका के आसपास संहार मचा कर, राक्षसों की दुर्दशा कर डाली ॥ ३० ॥ देवों का बदला राक्षसों से लिया; राक्षसों को जड़ से नाश किया। उस पुच्छकेतु की लीला देख कर आश्चर्य होता है ॥ ३१ ॥ रावण जहां सिंहासन पर बैठा था वहां जाकर उसकी निन्दा की। लंका जाते समय उसे समुद्र तक नहीं रोक सका ॥ ३२ ॥ वह देवों को आधार सा जान पड़ा, उसके महान् पराक्रम को जब देवों ने देखा तब उन्होंने रघुनाथ की स्तुति की ॥ ३३ ॥ उसने सारे दैत्यों का संहार किया, तत्काल देवों का उद्धार किया। जिससे तीनों लोक के प्राणिमात्र सुखी हुए ॥ ३४ ॥

सातवाँ समास—महद्भूत-निरूपण।

॥ श्रीराम ॥

पृथ्वी का मूल जीवन है, जीवन का मूल अग्नि है और अग्नि का मूल पवन है। इन सब का वर्णन पीछे किया गया ॥ १ ॥ अब, पवन का मूल

जो अन्तरात्मा है; और जो सब में अत्यन्त चञ्चल है, उसका वर्णन सुनो ॥ २ ॥ वह आते आते दिख नहीं पड़ता, स्थिर होकर बैठता नहीं और उसके रूप का अनुमान वेदश्रुति भी नहीं कर सकते ॥ ३ ॥ ब्रह्म में पहले पहल जो स्फुरण होता है वही अन्तरात्मा का लक्षण है, वही जगदीश्वर है, उससे त्रिगुण हैं ॥४॥ त्रिगुण से पञ्चभूत हुए और (पीछे से वे सृष्टि के रूप में विस्तृत या) प्रकट हुए। उन भूतों का स्वरूप विवेक से पहचानना चाहिए ॥ ५ ॥ उनमें मुख्य आकाश है जो कि चारों भूतों से श्रेष्ठ है। इसीके प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित है ॥ ६ ॥ विष्णु ही एक महद्भूत है। वही भूतों का रहस्य है; पर इसका अनुभव करना चाहिए ॥ ७ ॥ ये सब भूत विस्तारपूर्वक बतला दिये; इन भूतों में जो व्यापक है वह विचारपूर्वक देखने से अनुभव में आता है ॥ ८ ॥ आत्मा की चपलता के आगे वायु बिचारी क्या चीज है? आत्मा की चपलता प्रत्यक्ष विचार करके देखना चाहिए ॥ ९ ॥ आत्मा के बिना काम नहीं चलता, आत्मा न दिखता है और न मिलता है। वह गुप्तरूप से नाना विचार देख डालता है ॥ १० ॥ वह पिंड और ब्रह्मांड में व्याप्त है, नाना प्रकार के शरीरों में विलसता है, वह जगत् के सब प्राणियों के अन्तःकरण में है, यह बात विवेकी लोग जानते हैं ॥ ११ ॥ यह तो कल्पान्त में भी नहीं हो सकता कि आत्मा के बिना देह बर्ताव करता रहे। (आत्मा के ही योग से) अष्टधा प्रकृति की व्यक्तियां रूप को प्राप्त हुई हैं ॥ १२ ॥ आदि से लेकर अन्त तक, सब कुछ आत्मा ही करता है। आत्मा के बाद निर्विकारी परब्रह्म है ॥ १३ ॥ आत्मा शरीर में बर्तता है, इन्द्रियगण को चेष्टा देता है और देहरूप उपाधि के योग से सुख दुःख के नाना भोग भोगता है ॥ १४ ॥ सप्तकंचुक यह ब्रह्मांड है, उसमें फिर सप्तकंचुक पिंड है, उस पिंड में आत्मा को दृढ़ विवेक से पहचानना चाहिए ॥ १५ ॥ आत्मा, शब्द सुन कर समझता है, समझ कर प्रत्युत्तर देता है और त्वचा-द्वारा कठिन, नर्म, शीत, उष्ण जानता है ॥ १६ ॥ नेत्रों में भर कर वह पदार्थ देखता है, नाना पदार्थों की परीक्षा करता है और मन में ऊंच नीच समझता है ॥ १७ ॥ यह क्रूर-दृष्टि, कपट-दृष्टि, कृपा-दृष्टि आदि नाना प्रकार की दृष्टियों का भेद जानता है ॥ १८ ॥ वह जिह्वा में नाना प्रकार के स्वाद लेकर उनका भेदाभेद करना जानता है और जो जो जानता है सो सो स्पष्ट करके बतलाता है ॥ १९ ॥ उत्तम भोजनों के परिमल, नाना सुगंधों के परिमल और नाना फलों के परिमल वह घ्राणेंद्रिय से जानता है ॥ २० ॥ जिह्वा से स्वाद लेना और बोलना, हस्तेन्द्रिय से लेना और पादेन्द्रिय से आना जाना आदि क्रियाएं सदा वह करता रहता है ॥ २१ ॥ शिश्नेन्द्रिय से सुरत-भोग, गुदेन्द्रिय से मलोत्सर्ग और

मन से सब की अच्छी तरह कल्पना किया करता है ॥ २१ ॥ इस प्रकार के अनेक व्यापार वह अकेला ही तीनों लोक में किया करता है। उसकी बड़ाई कौन कर सकता है? ॥ २३ ॥ उसके बिना और दूसरा ऐसा कौन है जो उसकी महिमा गा सके? आत्मा का सा व्यापार और विस्तार न हुआ है, न होगा ॥ २४ ॥ चौदह विद्या, चौंसठ कला, चतुरता की नाना कला, वेद, शास्त्र, पुराण और अन्तःकरण उसके बिना कहां हैं? ॥ २५ ॥ इस लोक का आचार और परलोक का सारासार-विचार, दोनों लोकों का निर्धार, आत्मा ही करता है ॥ २६ ॥ नाना मत, नाना संवाद-विवाद, नाना निश्चय और भदाभेद आत्मा ही करता है ॥ २७ ॥ मुख्य तत्त्व फैला हुआ है, उसने सब पदार्थों को रूप दिया है—आत्मा के योग से सब कुछ सार्थक हुआ है ॥ २८ ॥ लिखना, पढ़ना, याद करना, पूछना, बताना, अर्थ करना गाना, बजाना, नाचना आत्मा ही से होता है ॥ २९ ॥ वह नाना सुखों से आनन्दित होता है, नाना दुःखों से दुःखी होता है और नाना प्रकार से देह धरता है, और त्याग करता है ॥३०॥ वह अकेला ही नाना देह धरता है, अकेला ही नाना प्रकार से नटता है। नट—नाट्य, कला—कौशल उसके बिना नहीं हो सकते ॥ ३१ ॥ वह अकेला ही बहुरूपी हो जाता है। बहुत प्रकार से महान् उद्योगी और नाना प्रकार से महाप्रतापी और डरपोंक भी वही बनता है ॥ ३२ ॥ वह अकेला ही कैसा विस्तृत हो गया है! वह बहुत प्रकार से तमाशा देखता है और देखो न, बिना दंपत्ति के ही वह कैसा फैल गया है ॥३३॥ स्त्रियों को पुरुष चाहिए, पुरुष को स्त्री चाहिए—ऐसा होने से परस्पर में मनचाहा संतोष होता है ॥ ३४ ॥ स्थूल (पदार्थ भेद) का मूल (कारण) लिंग (स्त्रीलिंग—पुल्लिंगादि) है और लिंग में यह सब व्यवहार है। इसी प्रकार जगत् प्रत्यक्ष चल रहा है ॥ ३५ ॥ लिंगभेद के अनुसार पुरुषों के जीव को 'जीव' और स्त्रियों के जीव को 'जीवी' कहने का झगड़ा पैदा होता है; पर इस सूक्ष्म पहेली को समझना चाहिए ॥ ३६ ॥ स्थूल के योग से भेद जान पड़ता है; पर वास्तव में सूक्ष्म में सारा अभेद ही है यह कथन निश्चित और अनुभव युक्त है ॥ ३७ ॥ ऐसा कभी नहीं हुआ कि, स्त्री ने स्त्री के साथ संभोग किया हो, स्त्री को अन्तःकरण में पुरुष ही का ध्यान रहता है ॥ ३८ ॥ स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री—ऐसा यह सम्बन्ध है; और सूक्ष्म में भी है ॥ ३९ ॥ पुरुष की इच्छा में प्रकृति और प्रकृति की इच्छा में पुरुष रहता है, इसी कारण उन्हें 'प्रकृतिपुरुष' कहते हैं ॥ ४० ॥ पिंड से ब्रह्मांड का विचार करना चाहिए, प्रतीति प्राप्त करना चाहिए। यदि न समझ पड़े तो बारबार विचार करके समझना चाहिए ॥ ४१ ॥ द्वैतेच्छा आदि ही से थी, तभी तो वह भूमंडल में आई।

भूमंडल और आदिस्थान (मूल माया) का मिलान करने के देखना चाहिए ॥ ४२ ॥ अस्तु; यह एक बड़े महत्त्व का काम हो गया कि, जो श्रोताओं का आक्षेप मिट गया और प्रकृतिपुरुष का रूप निश्चित हो गया ! ॥ ४३ ॥

आठवाँ समास—आत्माराम-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

जिसकी कृपा से मति की स्फूर्ति होती है उस मंगलमूर्ति गणपति को नमन करता हूं। लोग आत्मा का ही भजन और स्तवन करते हैं। (आत्मा से भी मति की स्फूर्ति होती है और गणपति से भी होती है, इस लिए गणपति ही आत्मा है) ॥१॥ जो अंतःकरण में प्रकाश देती है और जो नाना प्रकार की विद्याओं का पूर्णरूप से विवरण करती है उस वागीश्वरी वैखरी (वाणी, सरस्वती) को नमस्कार करता हूं ॥२॥ राम नाम सर्वोत्तम है। इसीके योग से शंकर का कष्ट दूर हुआ और उन्हें विश्राम मिला ॥ ३ ॥ नाम की महिमा बड़ी है, उस परात्पर, परमेश्वर, त्रैलोक्यधर्ता के नाम का रूप उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है ॥४॥ आत्माराम चारों ओर भरा हुआ है—उसीके योग से लोग इधर उधर फिरते हैं। बिना आत्मा के देह–पात हो जाता है और मृत्यु हो जाती है ॥५॥ वह जीवात्मा, शिवात्मा, परमात्मा, जगदात्मा, विश्वात्मा, गुप्तात्मा, आत्मा, अन्तरात्मा और सूक्ष्मात्मा, सब देव–दानव–मानव–जातियों में भरा हुआ है ॥६॥ आत्मा ही के योग से सब चलते-बोलते और व्यवहार करते हैं, अवतार उसीसे होते हैं और ब्रह्मादि देव भी उसीके योग से होते जाते हैं ॥ ७ ॥ उसे नादरूप, ज्योतिरूप, साक्षरूप, सत्तारूप, चैतन्यरूप, सत्स्वरूप और द्रष्टारूप जानना चाहिए ॥ ८ ॥ वह नरोत्तम, वीरोत्तम, पुरुषोत्तम, रघूत्तम, सर्वोत्तम, उत्तमोत्तम और त्रैलोक्यवासी है ॥ ९ ॥ नाना प्रकार की खटपटें और चटपटें, नाना प्रकार की लटपटें और झटपटें आत्मा ही के योग से होती रहती हैं। आत्मा यदि न हो तो चारों ओर सब चौपट हो जाय ॥ १० ॥ आत्मा के बिना शरीर व्यर्थ है, आत्मा बिना शरीर बिचारा मृत हो जायगा और आत्मा बिना शरीर को प्रत्यक्ष प्रेत ही समझिये ॥ ११ ॥ यह बात आत्मज्ञानी मन में समझता है—वह मनुष्यमात्र में आत्मा की व्यापकता देखता है। आत्मा बिना भुवन और त्रिभुवन सब उजड़ हैं ॥ १२ ॥ (आत्मा ही के योग से) पुरुष परम

सुन्दर और चतुर बन कर सब सार–असार जानता है। आत्मा बिना इह-लोक और परलोक दोनों में अंधकार समझो ॥ १३ ॥ सब प्रकार से सिद्ध, सावधान, नाना भेद, नाना वेध, नाना खेद और आनन्द, सब एक उस आत्मा ही से होते हैं ॥१४॥ रंक हो, चाहे ब्रह्मादि देव हों, सब को चलाने-वाली वह एक ही है। नित्यानित्य का विवेक सब को करना चाहिए ॥ १५ ॥ चाहे जैसी पद्मिनी स्त्री हो, मनुष्य उस पर तभी तक प्रीति रखता है जब तक उसमें आत्मा है। आत्मा के चले जाने पर, फिर शरीर में तेज कहां रहता है? आत्मा के साथ ही शरीर–सौन्दर्य भी चला जाता है ॥ १६ ॥ आत्मा न दिखता है, न भासता है, बाहर से उसका अनुमान भी नहीं कर सकते। मन की नाना कल्पनाएं आत्मा ही के योग से उठती हैं ॥ १७ ॥ आत्मा शरीर में रहती है; वह सारे ब्रह्मांड का पूर्ण विवरण करती है। नाना प्रकार की वासनाएं और भावनाएं कहां तक बतलाई जाय? ॥ १८ ॥ मन की अनंत वृत्तियां हैं, अनंत प्राणी अनंत प्रकार की कल्प-नाएं किया करते हैं। उनके अन्तःकरण का कहां तक वर्णन करूं? ॥१९॥ अनन्त प्रकार के राजनैतिक दाँव–पेंच करना, कुबुद्धि या सुबुद्धि से विवरण करना और मालूम न होने देना, या प्राणिमात्र को भुलाना आत्मा ही के योग से होता है ॥ २० ॥ एक दूसरे को ताकते रहते हैं, एक दूसरे के लिए मरते हैं, छिपते हैं। चारों ओर शत्रुता की स्थिति और गति बरत रही है ॥ २१ ॥ पृथ्वी में परस्पर एक दूसरे को फँसाते हैं और कितने ही भक्त आपस में उपकार भी करते हैं ॥ २२ ॥ आत्मा एक है; पर भेद अनंत हैं; सब देह के अनुसार स्वाद लेती हैं। वास्तव में आत्मा अभेद है; पर यह भेद को भी धारण करती है ॥ २३ ॥ पुरुष को स्त्री चाहिए और स्त्री को भी पुरुष चाहिए। यह कभी नहीं हो सकता कि, स्त्री को स्त्री की आव-श्यकता हो ॥ २४॥ आत्मा के तई यह गड़बड़ नहीं है कि, पुरुष के आत्मा को 'जीव' और स्त्री के आत्मा को 'जीवी' कहते हों। जहां विषय-सुख का गड़बड़ होता है वहीं भेद होता है ॥ २५ ॥ जिस प्राणी के लिए जो आहार है वह प्राणी उसीको चाहता है। पशु के आहार में मनुष्य अप्रीति दिखलाता है ॥ २६ ॥ जिस प्रकार आहार और देह आदि के अनेक गुप्त तथा प्रगट भेद हैं उसी प्रकार आनन्द भी अलग अलग हैं ॥ २७ ॥ सिंधु और भूगर्भ के जलों में भी शरीर हैं। आवर्णोदक के जलचर बहुत बड़े हैं ॥ २८ ॥ सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर जान पड़ता है कि, शरीर का तो अन्त मिलता ही नहीं; फिर अन्तरात्मा किस प्रकार अनुभव में आ सकती है? ॥ २९ ॥ देह और आत्मा के योग का विचार करने से कुछ न कुछ अनुमान में आ जाता है; पर स्थूल और सूक्ष्म का गड़बड़ एक प्रकार का

गोरखधंधा है ॥ ३० ॥ यह गोरखधंधा सुरझाने के लिए नाना प्रकार के निरूपण किये गये हैं-अन्तरात्मा ने कृपा करके अनेक मुखों से बतलाया है ॥ ३१ ॥

नववाँ समास—उपासना निरूपण।

॥ श्रीराम ॥

पृथ्वी में नाना प्रकार के लोग हैं। उनके लिए नाना प्रकार की उपासनाएं भी हैं। ठौर ठौर में अपनी अपनी भावना के अनुसार, लोग भजन में लगे हैं ॥ १ ॥ अपने देवता को भजते हैं, नाना स्तुतियां और स्तवन करते हैं। परन्तु जिसे देखो वही उपासना को निर्गुण बतलाता है ॥ २ ॥ इसका अभिप्राय मुझे बतलाइये। (उत्तरः-) अरे, यह स्तुति का स्वभाव है ॥ ३ ॥ निर्गुण का अर्थ है:बहुगुणी और बहुगुणी तो अन्तरात्मा है। यह बिलकुल सच है कि, सब उसके अंश हैं। प्रतीति कर लो ॥ ४ ॥ सारे लोगों का मान करने से वह एक अन्तरात्मा को प्राप्त होता है, पर अधिकार देख कर मान करना चाहिए ॥ ५ ॥ श्रोता कहता है कि, यह ठीक नहीं है। प्रत्यक्ष अनुभव तो यह है कि, केवल मूल में पानी सींचने से वह सारे पत्तों को मिल जाता है ॥ ६ ॥ वक्ता कहता है कि, तुलसी के वृक्ष पर लोटा भर पानी डालने से ऊपर तो पल भर भी नहीं ठहरता; किन्तु भूमि में ही भिद जाता है ॥ ७ ॥ (इस पर श्रोता कहता है कि,) बड़े वृक्ष के लिए कैसा करें? चोटी पर पात्र कैसे ले जायँ? हे देव, इसका अभिप्राय भी मुझे बतलाइये ॥ ८ ॥ उ०:-मेह का जितना पानी गिरता है वह सारा मूल की ही ओर आता है। वहां हाथ ही नहीं पहुँचता; क्या किया जाय? ॥ ९ ॥ इतना पुण्य कहां से हो सकता है कि, सब को मूल मिल जाय? विवेक से साधुओं का मन वहां तक पहुँचता है ॥ १० ॥ तथापि जिस प्रकार वृक्ष पर पानी डालने से वह मूल तक पहुँच ही जाता है, उसी प्रकार सब जगत् की सेवा करने से वह परमात्मा को प्राप्त हो जाती है ॥ ११ ॥

श्रोता कहता है कि पिछली शंका मिट गई। अब यह बतलाइये कि सगुण को निर्गुण कैसे कह सकते हैं? ॥१२॥ क्योंकि जितना कुछ चञ्चलता से विकारयुक्त है वह सगुण है और बाकी गुणातीत या निर्गुण है ॥ १३ ॥

वक्ता कहता है कि, यह बात जानने के लिए सारासार का विचार करना चाहिए। अन्तःकरण में निर्धार हो जाने पर फिर नाम भी नहीं रहता ॥ १४ ॥ मान लो कि, एक विवेकवान् पुरुष, जो मुख्य राजा के समान है, और दूसरा एक सेवक है जिसका नाम मात्र 'राजा' है-अब दोनों का अन्तर समझो। विवाद करना व्यर्थ है ॥ १५ ॥ कल्पान्तप्रलय में जो बच रहता है उसी को 'निर्गुण' कहते हैं और बाकी सभी माया में आ जाता है ॥ १६ ॥ सेना, शहर, बाजार और नाना प्रकार की छोटी बड़ी यात्राओं में अपार शब्द उठते हैं; पर उन्हें अलग अलग कैसे कर सकते हैं? ॥१७॥ वर्षाऋतु में ठीक आधी रात होने पर नाना जीव बोलते हैं;पर उन सब का शब्द अलग अलग कैसे जाना जाय? ॥ १८ ॥ भूमंडल में असंख्य, नाना प्रकार के देश, भाषा और मत हैं, बहुत ऋषियों के भी बहुत मत हैं, वे सब कैसे जाने जायँ? ॥ १९ ॥ वृष्टि होते ही सृष्टि में अपार अंकुर निकलते हैं; उनके अनेक छोटे-बड़े वृक्ष कैसे अलग अलग किये जायँ? ॥२०॥ खेचरों, भूचरों और जलचरों के नाना प्रकार के शरीर नाना रंगों के और चित्रविचित्र होते हैं वे सब कैसे जाने जायँ? ॥ २१ ॥ दृश्य किस प्रकार प्रकट हुआ है, नाना प्रकार से कैसे विकृत हुआ है, अनन्त कैसे फैला हुआ है-यह सब कैसे जाना जाय? ॥ २२ ॥ आकाश में गंधर्वनगर हैं, उनमें नाना रंग की छोटी बड़ी बहुत सी व्यक्तियां, बहुत प्रकार से, रहती हैं उन्हें कैसे जानें? ॥ २३ ॥ रात दिन के भेद, चांदनी-प्रकाश और अन्धकार, विचार और अविचार कैसे जाने जायँ? ॥ २४ ॥ स्मरण और विस्मरण, व्यस्तता और अव्यस्तता, प्रतीति और अनुमान का भी यही हाल है ॥२५॥ न्याय और अन्याय, हां और नहीं-ये सब विवेक के बिना कैसे मालूम हो सकते हैं? ॥ २६ ॥ कार्यकर्ता और निकम्मा, शूर और डरपोक, धर्मी और अधर्मी मालूम होना चाहिए ॥२७॥ धनाढ्य और दिवालिया, साव और चोर, सच और झूठ मालूम होना चाहिए ॥२८॥ श्रेष्ठ और कनिष्ठ, भ्रष्ट और अन्तर्निष्ठ तथा सारासार-विचार स्पष्ट मालूम होना चाहिए ॥ २९ ॥

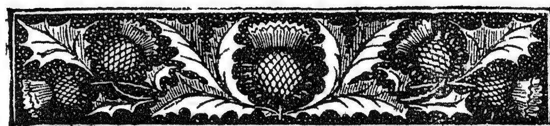
दसवाँ समास--त्रिगुण और पञ्चभूत।

श्रीराम

पञ्चभूतों से जगत् चलता है, यह सारा पञ्चभूतों का पसारा है। पञ्चभूतों के चले जाने पर फिर शेष क्या रह जाता है? ॥१॥ श्रोता वक्ता से कहता

है कि भूतों की तो इतनी महिमा बढ़ा दी, पर हे स्वामी, यह तो बतलाइये कि, त्रिगुण कहां गये? ॥ २ ॥ उत्तरः—अन्तरात्मा पांचवाँ भूत है, त्रिगुण उसके अंगभूत हैं। इस बात का विचार, सावधानचित्त से, अच्छी तरह करो ॥ ३ ॥ जितना कुछ हुआ है उसे भूत कहते हैं, उसी हुए में त्रिगुण भी आ गये। इतने ही से आशंका की जड़ कट जाती है ॥ ४ ॥ भूतों से भिन्न कुछ नहीं है, यह सब कुछ भूतों से ही उत्पन्न है। एक के बिना एक कभी नहीं हो सकता ॥ ५ ॥ कहते हैं कि आत्मा से पवन होता है, पवन से अग्नि होता है और अग्नि से जीवन (जल) होता है ॥ ६ ॥ जल सूर्य के द्वारा जम कर, अग्नि और वायु के योग से, भूमंडल बन जाता है ॥ ७ ॥ अग्नि, वायु और रवि यदि न होते तो बहुत शीतलता रहती। परन्तु शीतलता में भी उष्णता रहती है ॥८॥ परमात्मा ने यह सब विचित्र संसार रचा है। सम्पूर्ण देहधारी उसी से हुए हैं ॥ ९ यदि कहीं सब शीतल ही शीतल होता तो भी सारे प्राणी मर जाते। अथवा सारी उष्णता ही होने से भी सब संसार सूख जाता ॥ १० ॥ अस्तु। जब भूमंडल सूर्य के किरणों से जम गया तब परमात्मा ने और-और उपाय रचे ॥ ११ ॥ अर्थात् वर्षा-ऋतु बनाई, जिससे भूमंडल ठंढ़ा हुआ। इसके बाद कुछ उष्ण और कुछ शीतल शीतकाल की रचना हुई ॥ १२ ॥ जब शीतकाल में लोग कष्टी होने लगे और वृक्ष आदि सूखने लगे तब फिर उष्णकाल की रचना हुई ॥१३॥ उसमें भी प्रातःकाल, मध्याह्नकाल, सायंकाल, शीतकाल और उष्णकाल निर्माण किये गये ॥ १४ ॥ इस तरह एक के पीछे एक बनाया जाता है, क्रम से सब के नियम बांधे जाते हैं, जिससे प्राणिमात्र का जीवन स्थिर होता है ॥ १५ ॥ नाना प्रकार के जब कठिन रोग होने लगे तब औषधियां बनाई गईं (यह सब तो हुआ); पर सृष्टि का विवरण भी मालूम होना चाहिए ॥ १६ ॥ देह का मूल रक्त और रेत है (जो एक प्रकार का जल है) उसी जल के दांत बनते हैं; इसी प्रकार भूमंडल में नाना रत्नों की रचना भी होती है ॥१७॥ सब का मूल पानी जानो, पानी से सारा धंधा चलता है, पानी बिना 'हरि गोबिन्द'—अर्थात् सब शून्य—जानो; उसके बिना प्राणी ही कहां से होंगे? ॥ १८ ॥ मुक्ताफल, शुक्र के समान चमकीले हीरे, माणिक और इन्द्रनील, इत्यादि सब जल से होते हैं ॥ १९ ॥ किसकी महिमा बतलावें? सारा मिश्रण ही हो गया है। अलग अलग किस प्रकार करें? ॥ २० ॥ परन्तु मन में विवेक आने के लिए कुछ थोड़ा बतलाया है। जगत् में जो विवेकी पुरुष हैं वे सब समझते हैं ॥ २१ ॥ सब कुछ समझ लेना असम्भव है, शास्त्रों-शास्त्रों का मेल नहीं मिलता और अनुमान से कुछ भी निश्चय नहीं होता ॥ २२ ॥ भगवान् के गुण अगाध हैं, शेष भी

अपनी वाचा से वर्णन नहीं कर सकता। परमात्मा के बिना वेदविधि भी कच्ची ही जानो ॥२३॥ आत्माराम सब को पालता है, वह सारे त्रैलोक्य को सँभालता है। उस एक के बिना सब मिट्टी में मिल जाते हैं ॥ २४ ॥ जहां आत्माराम नही है वहां कुछ नहीं रह सकता, ऐसे स्थान में त्रैलोक्य के सारे प्राणी मृततुल्य हैं ॥२५॥ आत्मा न रहने से मरण हो जाता है आत्मा बिना कोई कैसे जी सकता है? अन्तःकरण में अच्छी तरह विवेक करना चाहिए ॥२६॥ विवेकपूर्वक समझना भी आत्मा के बिना नही हो सकता! सब को जगदीश का भजन करना चाहिए ॥ २७ ॥ उपासना के प्रगट होने से ही यह विचार मालूम हुआ है, इस लिए परमात्मा की उपासना करना चाहिए ॥२८॥ उपासना का बड़ा भारी आश्रय है, उपासना के बिना काम नहीं चल सकता—चाहे जितना उपाय किया जाय; पर सफलता नहीं हो सकती ॥ २९ ॥ जिसे समर्थ का आश्रय नहीं होता उसे चाहे जो कूट डालता है! इस लिए उठते-बैठते सदा भजन करते रहना चाहिए ॥ ३० ॥ भजन, साधन और अभ्यास से परलोक मिलता है। 'दास' कहता है कि, यह विश्वास रखना चाहिए ॥ ३१ ॥



सत्रहवाँ दशक !



पहला समास—अन्तरात्मा की सेवा ।

॥ श्रीराम ॥

निश्चल ब्रह्म में चञ्चल आत्मा है। सब से परे जो परमात्मा है वही चैतन्य, साक्षी, ज्ञानात्मा और षड्गुणेश्वर है ॥ १ ॥ वह सारे जगत् का ईश्वर है, इसी लिए उसे जगदीश्वर कहते हैं—उसी से यह विस्तार हुआ है ॥ २ ॥ शिवशक्ति, जगदीश्वरी, प्रकृतिपुरुष, परमेश्वरी, मूलमाया, गुणेश्वरी और गुणक्षोभिणी वही है ॥ ३ ॥ क्षेत्रज्ञ, द्रष्टा, कूटस्थ, साक्षी, अन्तरात्मा, सब को देखनेवाला, शुद्ध सत्त्व, महत्तत्त्व, परीक्षा करनेवाला और ज्ञाता साधु वही है ॥ ४ ॥ ब्रह्मा, विष्णु, महेश, नाना पिंडों का जीवेश्वर, आदि सब छोटे बड़े प्राणिमात्र उसे भासते हैं ॥ ५ ॥ वह (अन्तरात्मा) देहरूप देवालय में बैठा है; भजन न करने पर देह को मारता है; इसी लिए उसके भय से उसे लोग भजते हैं ॥ ६ ॥ जो समय पर भजन भूल जाता है उसे वह उसी समय पछाड़ देता है, इसी से सारे लोग उसे प्रेमपूर्वक भजन लगे हैं ॥ ७ ॥ वह जब जिस बात की अपेक्षा करता है तभी वह उसे लोग देते हैं, इसी प्रकार सब लोग उसका भजन करते हैं ॥ ८ ॥ पाचों विषयों का नैवेद्य, जब उसे चाहिए हो तभी, ठीक रखना पड़ता है, ऐसा न करने से उसी दम रोग होते हैं ॥ ९ ॥ जिस समय नैवेद्य नहीं पाता उसी समय देव (अन्तरात्मा) नहीं रहता—वह नाना प्रकार के सौभाग्य, वैभव और पदार्थ छोड़ कर चला जाता है ॥ १० ॥ आते समय यह किसी को मालूम भी नहीं होने देता—किसीको उसकी खबर ही नहीं लगती। उसके बिना कोई भी उसका अनुमान नहीं कर सकता ॥ ११ ॥ देव को देखने के लिए देवालय ढूँढ़ने पड़ते हैं। देव कहीं न कहीं देवालय के गुण से प्रगट होता है ॥ १२ ॥ नाना शरीर ही देवालय हैं—इन्हीं में जीवेश्वर रहता है। नाना प्रकार के नाना शरीर हैं—उनके अनंत भेद हैं ॥ १३ ॥ इन चलते बोलते देवालयों में 'आप' (देव) रहता है। जितने देवालय हैं उतने सब मालूम होने चाहिए ॥ १४ ॥ मत्स्य, कूर्म या बहुत काल तक भूगोल धारण करने वाला वाराह, आदि अनेक कराल, विकराल और निर्मल देवालय हो गये ॥ १५ ॥ अनेक देवालयों में वह सुख पाता है, समुद्र की तरह सुख से भरा पूरा हो जाता है; पर वह सुख सदा नहीं रहता; सुख अशाश्वत है।

(वह सुख से अलिप्त है) ॥ १६ ॥ अशाश्वत का शिरोमणि, जिसकी करणी अगाध है, यदि वह दिखता नहीं तो क्या हुआ; धनी वास्तव में उसीको कहते है ॥ १७ ॥ उसकी ओर लक्ष्य रखने से अभेदत्व आता है उससे विमुख रहने से खेद होता है ॥ १८ ॥ वह सबों का मूल है; पर दिखता नहीं। भव्य और भारी है; पर भासता नहीं और एक पल भर भी एक जगह नहीं रहता ॥ १९ ॥ ऐसा वह परमात्मा अगाध है, उसकी महिमा कौन जान सकता है? हे सर्वोत्तम! तेरी लीला तू ही जानता है! ॥२०॥ जिस पुरुष मे नित्यानित्य का विवेक है, संसार में उसीका आना सार्थक है। ऐसा पुरुष इहलोग और परलोक दोनों साधता है ॥ २१ ॥ मननशील लोगों के पास परमात्मा अखंड रीति से रात दिन बना रहता है। विचार करने से जान पडता है कि, ऐसे पुरुषों का पूर्वसंचित पुण्य अनुपम है ॥ २२ ॥ (ऐसे पुरुष से परमात्मा का) अखंड योग रहता है, इसी लिए वे योगी कहलाते है। (परमात्मा का जिससे) योग नही रहता वह वियोगी (दुःखी) है; पर जो वियोगी है वह भी (परमात्मा के) योग के बल से योगी हो जाता है ॥ २३ भलों की महिमा ऐसी है कि, वे लोगों को सन्मार्ग में लगाते हैं। तैरनेवाला मौजूद हो तो उसे चाहिए कि, वह डूबनेवाले को डूबने न दे ॥२४॥ भूमंडल में ऐसे बहुत थोड़े पुरुष हैं जो सूक्ष्म और स्थूल तत्त्वों का विवरण तथा पिंड-ब्रह्मांड का ज्ञान करके अनुभव प्राप्त करते हों ॥ २५ ॥ वेदान्त के पंचीकरण का अखण्ड विवरण करना चाहिए और महावाक्य से अन्तःकरण का रहस्य देखना चाहिए ॥ २६ ॥ पृथ्वी में जो विवेकी पुरुष हैं उनकी संगति धन्य है। उनके उपदेश का श्रवण करके प्राणिमात्र गति पाते हैं ॥ २७ ॥ सत्संग और सच्छास्त्र-श्रवण का जहां अखंड विवरण होता रहता है वहीं सत्संग और परोपकार के उत्तम गुण मिलते हैं ॥ २८ ॥ जो सत्कीर्तिवान् पुरुष हैं वेही परमेश्वर के अंश हैं, धर्मस्थापना का उत्साह उन्हीं में पाया जाता है ॥ २९ ॥ सारासार विचार श्रेष्ठ है, उससे जगत् का उद्धार होता है। संगत्याग से अनेक पुरुष अनन्य हो चूके हैं ॥ ३० ॥

दूसरा समास—शिवशक्ति-निरूपण।

॥ श्रीराम ॥

ब्रह्म, आकाश की तरह निर्मल और निश्चल है। वह निराकार, केवल और निर्विकार है ॥ १ ॥ उसका अन्त ही नहीं है—अनन्त है, शाश्वत और सदोदित है, वह अशान्त नहीं है—सदा शान्त रहता है ॥ २ ॥ परब्रह्म अवि-

नाशी है, वह आकाश की तरह व्याप्त है, न टूटता है, न फूटता है, निरन्तर जैसा का तैसा बना रहता है ॥ ३ ॥ वहां न ज्ञान है न अज्ञान है, न स्मरण है न विस्मरण है, वह अखंड निर्गुण और निरावलम्ब है ॥४॥ वहां चन्द्र, सूर्य, अग्नि, अँधेरा, उजेला आदि कुछ नहीं है। उपाधि से अलग एक निरुपाधि ब्रह्म ही है ॥ ५ ॥ निश्चल में जो स्मरण जागृत होता है उसे चैतन्य मान लेते हैं और गुण की समानता के कारण उसे गुणसाम्य कहते हैं ॥ ६ ॥ जैसे आकाश में बादल की छाया आ जाती है उसी तरह (परब्रह्म में) मूलमाया जानो। (जिस प्रकार आकाश में बादल के आने जाने में देर नहीं लगती उसी प्रकार) मूलमाया के उद्भव और लय में देर नहीं लगती ॥ ७ ॥ निर्गुण में जो गुण का विकार है वही षड्गुणेश्वर है और उसीको ' अर्धनारी-नटेश्वर ' कहते हैं ॥ ८ ॥ उसीको आदिशक्ति और शिवशक्ति कहते हैं; वही सब की मूलशक्ति है। उसीसे नाना व्यक्तियां निर्माण हुई हैं ॥ ९ ॥ उसीसे शुद्ध सत्त्व और रज-तम की उत्पत्ति होती है, जिन्हें महत्तत्व और गुणक्षोभिणी माया कहते हैं ॥ १० ॥ इस पर शंका हो सकती है कि, मूल में जब व्यक्ति ही नहीं रहती तब वहां शिवशक्ति कहां से आवेगी ? अच्छा, सावधानचित्त होकर इसका समाधान सुनो ॥ ११ ॥ ब्रह्मांड से पिंड का अथवा पिंड से ब्रह्मांड का विचार करने पर इसका निश्चय हो जाता है ॥ १२ ॥ बीज फोड़ कर देखने से उसमें फल नहीं देख पड़ता; पर बीज से वृक्ष के बढ़ने पर उसमें अनेक फल आते हैं ॥ १३ ॥ फल फोड़ने से उसमें बीज दिखते हैं, बीज फोड़ने से उसमें फल नहीं दिखते—यही हाल पिंड-ब्रह्मांड का है ॥१४॥ पिंड में नरनारी दोनों भेद स्पष्ट दिख पड़ते हैं, यदि मूल में न होते तो आगे फिर स्पष्ट कैसे हो सकते ? अर्थात् नरनारी दोनों मूलमाया ही में, प्रकृतिपुरुष के रूप में रहते हैं ॥ १५ ॥ कल्पनाएं, जो नाना बीजरूप हैं, उनमें क्या नहीं होता ? सब कुछ होता है, पर सूक्ष्मरूप से होता है; इसी लिए एकाएक भासता नहीं ॥ १६ ॥ स्थूल का मूल वासना है, वह वासना पहले तो दिखती ही नहीं है। स्थूल के बिना किसीका भी अनुमान नहीं हो सकता ॥ १७ ॥ वेदशास्त्र कहते हैं कि, कल्पना से सृष्टि बनी है। पर (कल्पना) दिख नहीं पड़ती, इस कारण उसे मिथ्या न कहना चाहिए ॥ १८ ॥ जब एक एक जन्म का पड़दा पड़ गया है (अर्थात् जितने जन्म मिले हैं उतने ही पड़दे पड़ गये हैं) तब फिर सत्य-विचार कैसे मालूम हो सकता है ? निश्चित बातें ऐसी ही गूढ़ होती हैं—और गूढ़त्व ही निश्चय का ठौर है ॥ १९ ॥ सम्पूर्ण पुरुषों और स्त्रियों के जीव, सब एक ही हैं; परन्तु देह-स्वभाव अलग अलग है ॥२०॥ इसी लिए स्त्री को स्त्री की आवश्यकता

नहीं होती। अस्तु। पिंड से ब्रह्मांड-बीज का निश्चय करना चाहिए ॥२१॥ स्त्री का मन पुरुष पर और पुरुष का मन स्त्री पर जाता है। यह वासना का हाल मूल ही से चला आता है ॥ २२ ॥ वासना आदि ही से अभेद है, देह-सम्बन्ध से भेद हो जाता है और देह का सम्बन्ध टूट जाने पर भेद भी चला जाता है ॥ २३ ॥ नरनारी का मूल शिवशक्ति में है। जन्म लेने से यह बात अच्छी तरह मालूम हो जाती है ॥ २४ ॥ नाना प्रीति की वासनाएं एक की दूसरे को नहीं मालूम होतीं। तीक्ष्ण दृष्टि से कुछ थोड़ी अनुमान में आती हैं। २५ ॥ बालक को उसकी मा पालती-पोसती है, यह काम पुरुष से नहीं हो सकता। उपाधि वनिता से ही बढ़ती है ॥२६॥ (माता को बालक के पालने में) घृणा, श्रम, आलस और थकावट नहीं आती। माता को छोड़ कर (बालक पर) इतना मोह और किसीका नहीं होता ॥ २७ ॥ नाना प्रकार की उपाधि बढ़ाना वह जानती है, नाना प्रकार के मोह से फँसाना वह जानती है और नाना प्रकार के प्रपंच की नाना प्रकार की प्रीति लगाना भी वही जानती है ॥ २८ ॥ पुरुष को स्त्री का विश्वास होता है और स्त्री को पुरुष से सन्तोष होता है-दोनों को परस्पर वासना ने बाँध डाला है ॥ २९ ॥ ईश्वर ने एक ऐसा बड़ा जाल बना रखा है कि, जिसमें मनुष्यमात्र फँसे हुए हैं और मोह का ऐसा गूँथ बना रखा है कि, जो किसीसे छूटता नहीं ॥ ३० ॥ इस प्रकार स्त्री-पुरुष में परस्पर महा प्रीति होती है। यह (प्रीति) सनातन से (मूलमाया से), आदि ही से, चली आती है। विवेक से प्रत्यक्ष देखना चाहिए ॥ ३१ ॥ आदि में सूक्ष्म उत्पन्न होता है फिर, इसके बाद, वह (सूक्ष्म) स्पष्ट दिखने लगता है। दोनों के द्वारा उत्पत्ति का काम चलता है ॥ ३२ ॥ वास्तव में शिव-शक्ति ही मूल में थी, आगे वधू-वर हुए; जो चौरासी लाख योनियों के विस्तार में फैले हैं ॥ ३३ ॥ यहां जो यह शिवभक्ति का रूप प्रत्यक्ष बतलाया उसे श्रोताओं को मन में लाना चाहिए। बिना विचार किये कही हुई बात व्यर्थ जानना चाहिए ॥ ३४ ॥

तीसरा समास-अध्यात्म-श्रवण।

॥ श्रीराम ॥

ठहरो, ठहरो! सुनो, सुनो! पहले ही ग्रन्थ मत छोड़ दो! जो कुछ बतलावें सो सावधानी से सुनो! ॥ १ ॥ सब श्रवणों में मुख्य यह

अध्यात्म–निरूपण का श्रवण है। इस लिए इस विषय का विचार सुचित्त अन्तःकरण से करना चाहिए ॥ २ ॥ श्रवण–मनन का विचार करने पर निदिध्यास से, निश्चय करके, मोक्ष का साक्षात्कार होता है–वह उधार नहीं रहता–उधार का नाम ही न लो ॥ ३ ॥ नाना रत्नों की परीक्षा करते समय, अथवा (पदार्थों को) तोलते समय, या उत्तम सोना आँच में तपाते समय सावधान रहना चाहिए ॥ ४ ॥ नाना प्रकार के सिक्के गिनने में, नाना प्रकार की परीक्षाएं करने में और विवेकी पुरुष से बात–चीत करने में सावधानी रखनी चाहिए ॥५॥ जैसे 'लखाहर' (शिवपूजाविशेष) का धान्य छांट छांट कर चढ़ाने से देवता को मान्य होता है; पर एक तरफ से बुरा–भला सब चढ़ाने से देवता को अमान्य होता है और वह क्षोभ करता है ॥६॥ एकान्त में, जब किसी 'नाजुक कारबार' का विचार होता हो तब, बहुत होशियार रहना चाहिए; पर अध्यात्मग्रन्थ के विचार में उससे कोटि गुण अधिक सावधान रहना चाहिए ॥ ७ ॥ कहानियां, कथा, वार्ता, पवाड़े और अनेक बड़े बड़े अवतारचरित्रों से भी कठिन आध्यात्मविद्या है ॥८॥ गई हुई बात (कथा) को सुन लेने से क्या हाथ आता है? लोग कहते हैं कि, पुण्य प्राप्त होता है; पर वह कुछ दिखता नहीं ! ॥ ९ ॥ अध्यात्म-निरूपण का यह हाल नहीं है, इसका विचार प्रतीतिपूर्ण है। उसके मालूम होने से सन्देह मिट जाता है ॥ १० ॥ बड़े बड़े होगये, सब आत्मा ही के द्वारा बर्ताव करते रहे; पर ऐसा कौन हुआ (या है) जो उसकी महिमा बतला सका हो (या बतला सकता हो)? ॥ ११ ॥ युगानुयुगों से जो अकेला ही तीनों लोकों को चला रहा है उस आत्मा का विचार बार बार करना चाहिए ॥ १२ ॥ अनेक प्राणी जन्म लेकर आते हैं और मर कर चले जाते हैं और अपने कार्यों का इच्छानुसार वर्णन करते हैं ॥ १३ ॥ परन्तु जिसमें आत्मा अखंडरूप से प्रकाशित नहीं है वहां सारा सपाट है। आत्मा के बिना बिचारा काष्ठरूप (देह) क्या जान सकता है? ॥ १४ ॥ ऐसा आत्मज्ञान श्रेष्ठ है, इसके समान और कुछ नहीं है। जगत् में जो विवेकी सज्जन पुरुष हैं वे ही इसे जानते हैं ॥ १५ ॥ पृथ्वी, आप और तेज का विचार इस पृथ्वी में ही मिल जाता है; पर अन्तरात्मा, जो सब तत्त्वों का बीज है, अलग ही रहता है ॥ १६ ॥ जो कोई वायु के आगे भी विवेक करेगा उस पुरुष को आत्मा निकट ही मिलेगी ॥ १७ ॥ परन्तु वायु, आकाश, गुण-माया, प्रकृति-पुरुष और मूलमाया, इन सब का क्रमशः, सूक्ष्म रूप से विचार करके प्रतीति प्राप्त करना कठिन है ॥ १८ ॥ मायादेवी के गड़बड़ में पड़ कर फिर सूक्ष्म में कौन मन लगाता है? पर जो (सूक्ष्म में मन लगा कर) समझता है उसकी सन्देहवृत्ति मिट जाती है ॥१९॥ मूलमाया (ब्रह्मांड की)

चौथी देह है, वह विदेह होनी चाहिए। जो देहातीत होकर रहता है वही साधु धन्य है ॥ २० ॥ विचार से जो ऊंचे पर चढ़ते हैं उन्हींको ऊर्ध्व-गति (मोक्ष) प्राप्त होती है; बाकी लोगों को, जो पदार्थज्ञान में ही पड़े रहते हैं,, अधोगति मिलती है ॥ २१ ॥ पदार्थ देखने में तो अच्छे दिखते हैं; पर वे क्षणभर ही में नाश हो जाते हैं, इस कारण लोग दोनों ओर से भ्रष्ट होते हैं ॥२२॥ इस लिए पदार्थज्ञान और नाना जिनसों का अनुमान (भ्रष्ट) आदि सब छोड़ कर निरंजन (परब्रह्म) का खोज कर रहना चाहिए ॥२३॥ अष्टांग योग, पिंड़ज्ञान, उससे भी बड़ा तत्त्वज्ञान और उससे भी श्रेष्ठ आत्मज्ञान, का विचार करना चाहिए ॥ २४ ॥ मूलमाया के भी उस तरफ, जहां मूल में (आदि में) हरि-संकल्प (अहंब्रह्मास्मि का स्फुरण) उठता है वहां, उपासना के योग से पहुँचना चाहिए ॥ २५ ॥ फिर, उसके बाद, निखिल और निर्गुण ब्रह्म है। वह निर्मल तथा निश्चल है। उसकी उपमा आकाश से दी जा सकती है ॥ २६ ॥ वह यहां से लेकर वहां तक भरा हुआ है और प्राणिमात्र से मिला हुआ है, पदार्थमात्र से लगा हुआ है और सब में व्याप्त है ॥ २७ ॥ उसके समान और कुछ बड़ा नहीं है, उसका विचार ऐसा सूक्ष्मातिसूक्ष्म है कि, जो पिंड़ और ब्रह्मांड़ का संहार होने पर मालूम होता है ॥ २८ ॥ अथवा पिण्ड़-ब्रह्मांड़ के रहते हुए भी, यदि विवेकप्रलय देखा जाय तो भी, यह बात मालूम हो सकती है, कि वास्तव में शाश्वत क्या है ॥ २९ ॥ सारा तत्त्व-विवेचन करके, और सार-असार का विचार करके, फिर, सावधानी के साथ, सुखपूर्वक ग्रन्थ छोड़ देने में कोई हानि नहीं ॥ ३९ ॥

चौथा समास–संशय मिटाओ।

॥ श्रीराम ॥

जो उपाय बहुत लोगों के लिए उपयोगी है वह यदि वक्ता से पूँछा जाय तो उसे क्षोभ न करना चाहिए और बतलाते बतलाते क्रम न छोड़ना चाहिए ॥१॥ श्रोता ने जो आशंका की हो उसे तत्काल मिटाना चाहिए। ऐसा न करना चाहिए कि, अपनी ही कही हुई बात से अपनी ही बात का खण्ड़न हो जाय ॥ २ ॥ ऐसा न करना चाहिए कि, आगे का खयाल रखने से पीछे फँस जाय और पीछे ध्यान रखने पर आगे की बात उड़ जाय –और इसी तरह जगह जगह फँसते जाय ॥३॥ जो तैराक स्वयं ही गोता खाता है वह दूसरों को कैसे निकाल सकता है? इस तरह लोगों की शंका जगह जगह रह जाती है ॥ ४ ॥ यदि हमने संहार का वर्णन किया

है तो हमें सब का सार भी बतलाना चाहिए और माया का दुस्तर पार भी दिखाना चाहिए ॥ ५ ॥ जितने सूक्ष्म नाम लेना चाहिए उन सब का रूप प्रकट करके दिखला देना चाहिए, तभी विचारवन्त वक्ता कहला सकते हैं ॥६॥ ब्रह्म कैसा है, मूलमाया कैसी है, अष्टधा प्रकृति और शिव-शक्ति कैसे हैं तथा षड्गुणेश्वर और गुणसाम्य (गुणमाया) की स्थिति कैसी है? ॥ ७ ॥ अर्धनारी-नटेश्वर, प्रकृतिपुरुष का विचार, गुणक्षोभिणी और उसके बाद त्रिगुण कैसे हैं? ॥८॥ पूर्वपक्ष कहां से कहां तक है? वाच्यांश और लक्ष्यांश में क्या भेद है? इत्यादि, इत्यादि नाना सूक्ष्म विचार जो करता हैं वही साधु धन्य है ॥६॥ वह नाना प्रकार के व्यर्थ विस्तार में नहीं पड़ता, बोला हो हुआ फिर नहीं बोलता और मौन्यगर्भ (परमेश्वर) को मन में ले आता है ॥१०॥ जो एक बार कहता है कि, परब्रह्म शुद्ध एक है, दूसरी बार कहता है कि, नहीं सारा जगत् परब्रह्म ही है, तथा तीसरी बार कहता है कि जो द्रष्टा साक्षी है और सब पर जिसकी सत्ता है वही परब्रह्म है, वह वक्ता ठीक नहीं ॥ ११ ॥ वह निश्चल को चञ्चल और चञ्चल को निश्चल परब्रह्म कहता है, इसी प्रकार के झगड़े लगाये रहता है। एक निश्चल नहीं करता ॥ १२ ॥ वह चञ्चल और निश्चल-सब को केवल चैतन्य ही बत-लाता है; किन्तु अलग अलग रूप स्पष्ट करके बतला नहीं सकता ॥ १३ ॥ इस प्रकार जो स्वयं व्यर्थ के लिए मायाजाल में पड़ा रहता है वह दूसरों को कैसे बोध कर सकता है? नाना प्रकार के निश्चय करने से-अस्थिर निश्चय करने से-व्यर्थ के झगड़े बढ़ते जाते हैं ॥ १४ ॥ भ्रम को वह परब्रह्म और परब्रह्म को भ्रम बतलाता है। इस प्रकार वह अपने ज्ञातापन का ढोंग प्रकट करता है! ॥ १५ ॥ शास्त्रों का आधार बतलाता है, बिना अनुभव के निरूपण करता है; पूछने पर व्यर्थ के लिए बहुत नाराज होता है ॥ १६ जो ज्ञाता होकर पदार्थ की अपेक्षा करता है-निस्पृह नहीं है-वह विचारा क्या बतलायेगा? सारासार का निश्चय होना चाहिए ॥ १७ ॥ वैद्य मात्रा की प्रशंसा तो करता है; पर मात्रा गुण कुछ भी नहीं दिखलाती-यह हाल, प्रतीति बिना ज्ञान का है ॥ १८ ॥ जहां सारासार का विचार नहीं है वहां सारा अंधकार ही है, वहां नाना प्रकार की परीक्षाओं का विचार नहीं हो सकता ॥ १६ ॥ वह पाप-पुण्य, स्वर्ग-नर्क, विवेक-अवि-वेक सब को 'सर्वब्रह्म' कहता है! ॥ २० ॥ वह पतित और पावन तथा निश्चय और अनुमान को भी ब्रह्मरूप मानता है! ॥ २१ ॥ जहां सारा ब्रह्म रूप ही है वहां उससे अलग क्या निकालें? जहां सारी शक्कर है वहां अलग क्या निकालें! ॥२२ इसी प्रकार जहां सार और असार का एकाकार

हो जाता है वहां अविचार प्रबल होता है और विचार का नाम भी नहीं रहता ॥ २३ ॥ जहां वंद्य और निंद्य एक हो जाता है वहां क्या हाथ आता है? जो नशे की चीज सेवन करके पागल बन बैठता है वह ऊलजलूज बकता ही है ॥ २४ ॥ इसी प्रकार वह अज्ञानरूप भ्रम से भूला हुआ है 'सर्वब्रह्म' कह कर ही निश्चिन्त बैठा है और महापापी तथा सत्पुरुष दोनों को एक ही सा मानता है! ॥ २५ ॥ सर्वसंग-परित्याग और मनमाना विषयभोग-ये दोनों यदि एक ही माने जायँ तो फिर बच क्या रहा? ॥ २६ ॥ भेद तो ईश्वर ही ने कर रखा है-अब वह उसके (उपर्युक्त अज्ञानी के) बाप से भी मिटाया नहीं जा सकता। ईश्वर-नियम के विरुद्ध कोई कर कैसे सकता है? मुख में ड़ालने का कौर अपानद्वार में ड़ालो! ॥ २७ ॥ जिन इन्द्रियों के लिए जो भोग कहा है वह सांगोपांग भोगती हैं-यह सारा जगत् ईश्वर रचित है-उसके नियम मोड़े नहीं जा सकते॥२७॥ ये सारी भ्रान्ति की भूलभुलैयां हैं, बिना प्रतीति के सारी बात मिथ्या है। जिस पर पागलपन सवार होता है वह ऊटपटांग बकता ही है ॥ २६ ॥ इस लिए जो सावधान और अनुभवी ज्ञाता है उसका निरूपण सुनना चाहिए। ऐसा करने से आत्मसाक्षात्कार की पहचान तुरंत मिल जाती है ॥ ३० ॥ उलटा और सीधा जानना चाहिए, अन्धे को पैरों से ही पहचानना चाहिए और व्यर्थ बोलने को वमन-प्राय जान कर त्याग करना चाहिए ॥ ३१ ॥

पाँचवाँ समास—अजपा-निरूपण।

॥ श्रीराम ॥

अजपा-जप की संख्या इक्कीस सहस्र, छै सौ नियत की गई है। विचार करने से सब कुछ सहज है ॥ १ ॥ मुख और नासिका में प्राण रह कर अखंड़ आता रहता है। इसका विचार सूक्ष्म दृष्टि से करना चाहिए ॥२॥ पहले तो देखने से मालूम होता है कि, स्वर एक ही है; पर वास्तव में उस स्वर के तीन भेद हैं:—(१) तार=निषाद; (२) मंद्र=मध्यम;(३) घोर=खर्ज; अब इस घोर से भी सूक्ष्म विचार अजपा का है ॥ ३ ॥ 'स-रि-ग-म-प-ध-नि-इन सारे अक्षरों को कह कर देखो-इन सप्तस्वरों में से किसी एक को मूल मान कर क्रमशः ऊपर को चलो ॥ ४ ॥ परा वाचा के ऊपर और पश्यंती के नीचे-अर्थात् नाभि और हृदय के बीच में-स्वर का

जन्मस्थान है; वहीं से उसका 'उल्लेख' (स्फुरण) होता है ॥ ५ ॥ एकान्त में स्वस्थ होकर बैठना चाहिए, वहां यह सब समझ लेना चाहिए-प्रयोग करना चाहिए-प्रभंजन (पवन) को अखंडरूप से खींचना चाहिए और छोड़ना चाहिए ॥ ६ ॥ एकान्त में मौन साध कर बैठना चाहिए, सावधान या सुस्थ होकर देखने से जान पड़ता है कि, ऊपर को श्वास खींचते समय 'सो' और बाहर छोड़ते समय 'हं'-इस प्रकार निरन्तर "सोऽहं सोऽहं" शब्द होता रहता है ॥ ७ ॥ उच्चार के बिना जो शब्द होते हैं उन्हें नैसर्गिक शब्द समझना चाहिए; वे अनुभव में आते हैं; पर उनका नाम कुछ भी नहीं होता ॥८॥ उन शब्दों को भी जो छोड़ बैठता है उसे महान् मौनी कहना चाहिए-योगाभ्यास का सारा 'गड़बड़' ऐसा ही है ॥ ९ ॥ एकान्त में मौन धारण करके बैठने पर जब यह विचार किया जायगा कि, कौन शब्द हुआ तब अन्तर में 'सोऽहं' शब्द का सा भास होता है ॥ १० ॥ श्वास लेते समय 'सो' और छोड़ते समय 'हं'-इस प्रकार अखंड रीति से "सोऽहं सोऽहं" होता रहता है-इसका विचार बहुत विस्तृत है ॥ ११ ॥ सब देहधारी प्राणी, स्वेदज और उद्भिज आदि योनियां-जितने प्राणी हैं; बिना श्वासोच्छ्वास के वे सब कैसे जी सकते हैं? ॥ १२ ॥ इस प्रकार की यह अजपा सब के पास है; पर ज्ञाता पुरुष को मालूम हो जाती है; (अज्ञानी को नहीं मालूम होती) सहज-नैसर्गिक-को छोड़ कर बनावटी बात में न पड़ना चाहिए ॥ १३ ॥ सहज (नैसर्गिक) देव बना ही रहता है-वह अविनाशी है-बनावटी देव (मूर्ति इत्यादि) फूटता है, नाश होता है-इस लिए ऐसा कौन है जो नाशवंत देव पर विश्वास करे? ॥ १४ ॥ जगदन्तर-(जगत् का अन्तरात्माराम)-के दर्शन से स्वयं सहज ही अखण्ड ध्यान लग जाता है-सारे लोग उसी आत्माराम की इच्छा से बर्तते हैं ॥ १५ ॥ आत्माराम को जिस तरह समाधान होता है वैसा ही उसको भोजन मिलता है; छोड़ा हुआ, नाश हुआ, आदि सब उसी को समर्पण हो जाता है ॥ १६ ॥ अग्नि देवता उदर में बसते हैं, उन्हें भी प्राणी अन्नदान देते हैं-इस प्रकार सारे प्राणी आत्माराम की आज्ञा में चलते हैं ॥ १७ ॥ इस प्रकार परमात्मा का जप, ध्यान, स्तुति, स्तवन आदि स्वाभाविक ही हो रहा है और वह उन्हें स्वीकार भी कर रहा है (पर यह बात समझना चाहिए) ॥ १८ ॥ इसी नैसर्गिक बात को समझने के लिये नाना प्रकार के हठयोग किये जाते हैं; पर तो भी यह बात एकाएक नहीं समझ पड़ती ॥ १९ ॥ गड़ा हुआ द्रव्य भूल जाने पर दरिद्र आता है; कभी कभी तो ऐसा होता है कि, नीचे लक्ष्मी है और पुरुष ऊपर बर्तता है, पर बिचारा प्राणी क्या करे? उसे मालूम ही नहीं है! ॥ २० ॥ तहखाने में

अनन्त द्रव्य रहता है, दीवाल में द्रव्य रखा रहता है और खम्भों में या मयालों में द्रव्य रखा रहता है और आप उसी के बीच में निवास करता है! ॥ २१ ॥ इस प्रकार लक्ष्मी के बीच में अभागी खेलता रहता है; परन्तु उसका दरिद्र और भी बढ़ता जाता है! उस परमानन्द परमपुरुष का यह अचरज तो देखिये! ॥ २२ ॥ एक बैठे देखते हैं-यह विवेक की गति है! यही हाल प्रवृत्ति और निवृत्ति का भी है ॥ २३ ॥ जब अन्तःकरण में नारायण बसते हैं तब लक्ष्मी के लिए क्या कमी है? जिसकी लक्ष्मी है उसको-उस लक्ष्मीधर (परमात्मा) को-खूब मजबूती के साथ पकड़ना चाहिए! ॥ २४ ॥

छठवाँ समास-देही और देह।

॥ श्रीराम ॥

देही (आत्मा) देह में रहता है; नाना सुख-दुःखों का भोग करता है और अन्त में एकाएक शरीर छोड़ जाता है ॥ १ ॥ युवावस्था में, शरीर होने के कारण, प्राणी नाना सुख-भोग करता है और बुढ़ापे में अशक्त होने पर दुःख-भोग करता है ॥ २ ॥ चाहता तो है कि, न मरूं; परन्तु अन्त में हाथ-पैर फटफटा कर प्राण छोड़ता है और वृद्धपन में नाना कठिन दुःख सहता है ॥ ३ ॥ देह और आत्मा की संगति से कुछ थोड़ा सुख वे भोगते हैं और देहान्तकाल में तड़फड़ा-तड़फड़ा कर चले जाते हैं ॥ ४ ॥ ऐसी आत्मा दुःखदायक है। संसार में एक दूसरे के प्राण ले लेते हैं, और अन्त में कोई मतलब नहीं निकलता ॥ ५ ॥ इस प्रकार यह दो दिन का भ्रम है, उसे लोग परब्रह्म कहते हैं-नाना दुःखों का गड़बड़ इसी में है; परन्तु लोगों ने सुख मान लिया है ॥ ६ ॥ दुःखी होकर तड़फड़ाने में क्या समाधान रखा है? कभी थोड़ा बहुत सुख यदि मिल भी गया तो तुरन्त ही फिर दुःख मौजूद है ॥ ७ ॥ जन्म से लेकर सब दुःखों का स्मरण करना चाहिए, तब सब मालूम हो जाता है-अनेक दुःख भरे पड़े हैं; कहाँ तक गिनती की जाय? ॥ ८ ॥ आत्माओं की संगति का यह हाल है; नाना दुःख मिलते हैं-सारे प्राणी परेशान हो जाते हैं ॥ ९ ॥ जन्मभर में कुछ आनन्द रहता है तो कुछ खेद भी रहता है; साथ ही साथ नाना प्रकार की विरुद्धता उत्पन्न होकर अनेक दुःख प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥ निद्राकाल में खटमल और मच्छड़ आदि नाना प्रकार से सताते हैं और यदि उनका

कोई उपाय किया जाय तो उन्हें दुःख होता है ॥ ११ ॥ भोजन काल में मक्खियां आती हैं, नाना पदार्थ चूहे ले जाते हैं फिर पीछे से बिल्लियाँ उनकी भी दुर्दशा करती हैं! ॥ १२ ॥ जुआं, किलौनी, बर्र, कानसेराई, आदि अनेक जन्तु एक दूसरे को कष्ट देते हैं और स्वयं कष्ट उठाते हैं ॥ १३ ॥ बिच्छू, सर्प, बाघ, रीछ, मगर, भेड़िया और स्वयं मनुष्य को मनुष्य—ये सब आपस में एक दूसरे को दुःख देते हैं; सब दुःखी हैं; सुख तथा संतोष किसी को नहीं है ॥ १४ ॥ चौरासी लाख जीव-योनियां, सब एक दूसरे का भक्षण करती हैं—नाना पीड़ा और दुःख हैं—कहां तक बतलावें? ॥ १५ ॥ ऐसी अन्तरात्मा की करनी है। इस धरती पर नाना जीव भरे पड़े हैं और एक दूसरे का परस्पर संहार करते हैं ॥ १६ ॥ सब सदा-सर्वदा रोते हैं, तड़फड़ाते हैं, बिलबिला बिलाबिला कर प्राण छोड़ते हैं-ऐसी आत्मा को मूर्ख प्राणी परब्रह्म कहते हैं ॥१७॥ परब्रह्म जा नहीं सकता; किसी को दुःख नहीं दे सकता; परब्रह्म में स्तुति और निन्दा, दो में से कुछ नहीं है ॥ १८ ॥ चाहे जितनी गालियां दो वे सब अन्तरात्मा को लगती हैं। विचार करने से सब यथातथ्य प्रत्यय में आजाता है ॥ १९ ॥ अनेक प्रकार की गालियां हैं; कहां तक बतलाई जायँ? ॥ २० ॥ पर वे परब्रह्म में लग नहीं सकती; वहां कल्पना ही नहीं चलती। असम्बद्ध ज्ञान किसी को मान्य नहीं होता ॥ २१ ॥ सृष्टि में अनन्त जीव हैं। सब के पास वैभव कहां से आया? इस प्रकार ईश्वर ने योग्यता के अनुसार वैभव बाँट दिया है ॥ २२ ॥ सर्वसाधारण लोग तो बहुत हैं; परन्तु उनमें उत्तम बातें भाग्यवान् पुरुष ही पाते हैं ॥ २३ ॥ इसी प्रकार 'भोजन, पात्र, देवतार्चन और ब्रह्मज्ञान भी प्रारब्ध के अनुसार मिलता है ॥ २४ ॥ यों तो सारे लोग सुखी रहते हैं—संसार को सुखपूर्ण मान लेते हैं परन्तु महाराजा लोग जिस वैभव का भोग करते हैं वह अभागी पुरुष को कैसे मिल सकता है? ॥ २५ ॥ परन्तु अन्त में सब को नाना दुःख होते हैं—उस समय राजा-रंक सब समान हो जाते हैं। परन्तु जो लोग पहले से नाना सुखों का भोग करते हैं उन्हें अन्त में दुःख सहन नहीं होता! ॥ २६ ॥ कठिन दुःख सहा नहीं जाता; प्राण शरीर को जलदी छोड़ते नहीं—इस प्रकार मृत्यु-दुःख सब लोगों को पीड़ित करता है ॥ २७ ॥ अनेक लोगों को अवयव-हीन होकर बर्ताव करना पड़ता है—इस प्रकार अन्तकाल में दुःखी होकर प्राणी चला जाता है ॥२८॥ सारा रूप लावण्य चला जाता है; सब शारीरिक सामर्थ्य भी एक तरफ रह जाती है और यदि कोई आसपास न हुआ तो प्राणी और भी दुर्दशा या आपदा सह कर मरता है ॥ २९ ॥ अन्तकाल का दुःख सब को एक-समान होता है—ऐसा (यह आत्मा) चंचल, अवलक्षण और दुःखकारी

है ॥ ३० ॥ इस पर भी लोग इसे (आत्मा को) "भोग कर भी अभोक्ता" कहते हैं यह तो सारी फजीहत है; लोग बिना विचारे योंही कह बैठते हैं! ॥ ३१ ॥ अन्तकाल बहुत कठिन है; प्राण शरीर को छोडते ही नहीं और इधर आशा, तृष्णा भी खूब घेर लेती है ॥ ३२ ॥

सातवाँ समास—संसार की गति।

॥ श्रीराम ॥

आदि में जल निर्मल होता है; परन्तु जब वह नाना वल्लियों में प्रविष्ट होता है तब संगदोष से आम्ल, तीक्ष्ण और कटु आदि हो जाता है ॥१॥ आत्मा आत्मापन से रहता है, देहसंग से विकृत होता है और अभिमान से मनमाना रूप बनता है ॥ २ ॥ यदि अच्छी संगति मिल गई तो ऐसा हाल होता है कि, जैसे ईख में मधुरता आजाती है (और बुरी संगति से)। प्राणी का घात करनेवाली विषवल्ली का सा हाल होता है ॥ ३ ॥ अठारह प्रकार की वनस्पतियां हैं—उनके गुण अलग अलग कहां तक बतलाये जायँ? यही हाल नाना देहों के साथ आत्मा का होता है ॥ ४ ॥ उनमें जो अच्छे हैं वे संतसंगत से पार होते हैं और विवेकबल से देहाभिमान छोड़ देते हैं ॥ ५ ॥ उदक का नाश ही हो जाता है; पर आत्मा विवेक से पार हो जाता है—ऐसा इस आत्मा का प्रत्यय है; विवेक से देखो ॥ ६ ॥ जिसे स्वहित ही करना है उसे कहां तक बतलाया जाय? यह सब कुछ प्रत्येक को अपने तई समझना चाहिए ॥ ७ ॥ जो अपनी आप ही रक्षा करे उसे अपना मित्र जानना चाहिए और जो अपना स्वयं ही नाश करे उसे बैरी समझना चाहिए ॥ ८ ॥ जो अपना आप ही अनहित करना चाहता है उसे कौन रोक सकता है? ऐसा पुरुष एकान्त में जाकर अपने ही जीव को मारता है ॥ ९ ॥ जो स्वयं अपना ही घातकी है वह आत्महत्यारा पातकी है। जो पुरुष विवेकी है वही साधु धन्य है ॥ १० ॥ सत्संगति से पुण्यवन्त और असत्संगति से पापिष्ट बनते हैं, गति और दुर्गति संगति के योग से होती है ॥ ११ ॥ इस लिए उत्तम संगति करना चाहिए, अपनी चिन्ता स्वयं करनी चाहिए और ज्ञाता की बुद्धि का अन्तःकरण में अच्छी तरह मनन करना चाहिए ॥ १२ ॥ ज्ञाता को इहलोक और परलोक सुखदायक होता है और अज्ञानी को अविवेक के कारण दुःखदायक होता है ॥ १३ ॥ ज्ञाता देव का अंश है और अज्ञाता राक्षस है, अब दोनों में जो बड़ा हो उसे जान लेना चाहिए ॥ १४ ॥ ज्ञाता सर्वमान्य होता है और अज्ञानी

अमान्य होता है। अब दो में से जिसके द्वारा अपने को धन्यता प्राप्त हो उसी को ग्रहण करना चाहिए ॥ १५ ॥ उद्योगी और चतुर की संगति करने से उद्योगी व चतुर होते हैं, तथा आलसी और मूर्ख की संगति से आलसी और मूर्ख बनते हैं ॥ १६ ॥ उत्तम संगति का फल सुख है और अधम संगति का फल दुःख है। आनन्द छोड़ कर दुःख कौन लेगा? ॥ १७ ॥ बात तो स्पष्ट है, संसार में इसका अनुभव भी आता है; क्योंकि मनुष्यमात्र इन्हीं दो संगतियों में बर्तते हैं ॥ १८ ॥ एक (सत्संगति) के योग से सारे सुख मिलते हैं और दूसरी (असत्संगति) के योग से सारे दुःख मिलते हैं। सम्पूर्ण कार्य विवेक से करना चाहिए ॥ १६ ॥ अचानक किसी संकट में फँस जाने पर वहां से निकलने का प्रयत्न करना चाहिए। निकल आने पर परम सावधान होता है ॥ २० ॥ नाना प्रकार के दुर्जनों के संग से क्षण क्षण में मनोभंग होता है। अस्तु। अपना कुछ महत्त्व रख जाना चाहिए ॥ २१ ॥ चतुर पुरुष को, उसके यत्न के कारण, किसी बात की कमी नहीं रहती, वह सुख संतोष का भोग करता है और नाना प्रकार से उसकी प्रशंसा होती है ॥ २२ ॥ अब (बात यह है कि,) लोगों में इस प्रकार (का हाल) है; (और प्रत्यक्ष) सृष्टि में बर्तता है; परन्तु जो कोई (इसे) समझ कर देखता है उससे (यह) हो सकता है ॥ २३ ॥ यह वसुंधरा (पृथ्वी) बहुरत्ना (अनेक रत्नों की खानि) है, जान जान-कर विचार करो, क्योंकि समझने से अन्तःकरण में प्रत्यय आता है ॥२४॥ दुर्बल और सम्पन्न अथवा पागल और व्युत्पन्न होना अखंड रीति से (सृष्टि के आदि से) चला ही आया है ॥ २५ ॥ एक भाग्यवान् पुरुष बिगड़ते हैं तो दूसरे नये भाग्यवान् बनते हैं-इसी प्रकार विद्या और व्युत्पत्ति भी होती जाती है ॥ २६ ॥ एक भरता है, एक रीता होता है; रीता फिर भरता है; भरा हुआ भी फिर कालान्तर में-कुछ समय बाद-रीता होता है ॥ २७ ॥ यह संसार की गति है; संपत्ति दोपहर की छाया है और इधर उम्र भी धीरे धीरे खतम होने आई! ॥ २८ ॥ बाल, तारुण्य और वृद्धाप्य आदि की दशा स्वयं जानते ही हैं; इस लिए सब को अपने जीवन का सार्थक करना चाहिए ॥ २६ ॥ देह जैसी की जाय वैसी होती है और यत्न करने से कार्य भी सिद्ध होता है-तो फिर दुःखी क्यों होना चाहिए? ॥ ३० ॥

आठवाँ समास-पंचीकरण और देह-चतुष्टय।

॥ श्रीराम ॥

नाभि से, स्फुरणरूप जिस वाणी का उत्थान होता है वह 'परा' और ध्वनिरूप 'पश्यंति' वाणी हृदय में रहती है ॥ १ ॥ कंठ से नाद होता है। उसे 'मध्यमा' वाचा कहते हैं। अक्षर का उच्चार होने पर 'वैखरी' कहते हैं ॥ २ ॥ नाभिस्थान, जहां परा वाचा है, वहीं अन्तःकरण का ठौर है। अब अन्तःकरणपंचक का निश्चय सुनियेः—॥ ३ ॥ निर्विकल्प-अवस्था में (अर्थात् शून्याकार वृत्ति होने पर) जो स्फुरण उठता है-जो एक प्रकार का स्मरण रहता है-उसी को 'अन्तःकरण' या चेतनाशक्ति जानना चाहिए ॥ ४ ॥ अन्तःकरण का लक्षण स्मरण है। इसके बाद जो यह भावना आती है कि, 'हो या न हो,' अथवा 'करूं या न करूं' वही 'मन' है ॥ ५ ॥ अर्थात् संकल्प-विकल्प उठना ही मन का धर्म है-यही मन की पहचान है-इसी मन से अनुमान (सन्देह) उत्पन्न होता है; फिर, अन्त में, जो निश्चय होता है वही 'बुद्धि' का रूप है-अर्थात् निश्चय करना बुद्धि का धर्म है ॥ ६ ॥ करूं ही गा अथवा न करूं गा-इस प्रकार का निश्चय करना ही 'बुद्धि' है-यह बात विवेक से अन्तर में जान लेना चाहिए ॥ ७ ॥ निश्चय की हुई वस्तु का चिन्तन करना 'चित्त' का लक्षण है। इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ ८ ॥ फिर कार्य का यह अभिमान रखना कि, यह कार्य अवश्य करना है, अथवा ऐसे कार्य में प्रवृत्त होना ही 'अहंकार' है ॥ ९ ॥ यही 'अन्तःकरणपंचक' है। पाँच वृत्तियां मिलकर एक हैं। कार्यभाग से पाँच प्रकार अलग अलग हो गये हैं ॥ १० ॥ जैसे पांचों प्राण कार्यभाग से अलग अलग हैं; अन्यथा वायु का रूप तो एक ही है ॥ ११ ॥ सर्वांग में 'व्यान,' नाभि में 'समान,' कंठ में 'उदान,' गुदा में 'अपान' और मुख तथा नासिका में 'प्राण' रहता है-यह निश्चय जानना चाहिए ॥ १२ ॥

यह 'प्राणपंचक' बतला दिया, अब 'ज्ञानेन्द्रियपंचक' सुनो। श्रोत्र (कान), त्वचा (खाल), चक्षु (आखें), जिह्वा (जीभ), नासिका (नाक), ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं ॥ १३ ॥ वाचा (वाणी), पाणि (हाथ), पाद (पैर), शिश्न और गुद ये पाँच कर्मेन्द्रियां प्रसिद्ध हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये पाँच (पांच ज्ञानेन्द्रियों को) विषय हैं ॥ १४ ॥ अन्तः-करणपंचक, प्राणपंचक, ज्ञानेन्द्रियपंचक, कर्मेन्द्रियपञ्चक और पाँचवां विषयपंचक-इस प्रकार ये पाँच पंचक हैं ॥ १५ ॥ इस प्रकार ये पच्चीस गुण मिल कर सूक्ष्म देह बनती है. इसका कर्दम भी कहा है। सुनियेः—

॥ १६ ॥ अन्तःकरण, व्यान, श्रवण, वाचा और शब्दविषय, आकाश का रूप है। अब आगे वायु का विस्तार कहा है ॥ १७ ॥ मन, समान, त्वचा, पाणि और स्पर्श, पवन का रूप है। यह सब कोष्टक बनाकर समझ लेना चाहिए ॥ १८ ॥ बुद्धि, उदान, नयन, चरण और रूपविषय, अग्नि का रूप है। यह सब हम संकेत से बतलाते हैं। मन लगाकर विचार करना चाहिए ॥ १९ ॥ चित्त, अपान, जिह्वा, शिश्न, रसविषय, जल का रूप है। अब आगे पृथ्वी का रूप सावधान होकर सुनो ॥ २० ॥ अहंकार, प्राण, घ्राण, गुद, गंधविषय, पृथ्वी का रूप है। वह शास्त्रमत से निरूपण किया ॥ २१ ॥ ऐसी यह 'सूक्ष्मदेह' है, इसका मनन करने से निस्सन्देह होते हैं। परन्तु जो कोई इसे मन लगाकर समझता है उसी को यह समझ पड़ता है ॥ २२ ॥

ऐसी यह सूक्ष्मदेह बतलाई। अब आगे स्थूलदेह का वर्णन किया जाता है। पंचगुणों से आकाश स्थूलदेह में किस प्रकार बर्तता है, सो सुनिये ॥ २३ काम, क्रोध, शोक, मोह, भय, ये पांच भेद आकाश के हैं। अब आगे पंचविध वायु बतलाई है ॥ २४ ॥ चलन, वलन, प्रसरण, निरोधन और आकुंचन, ये पाँच लक्षण वायु के हैं ॥२५॥ क्षुधा, तृषा, आलस्य निद्रा, मैथुन, ये पाँच तेज के गुण हैं। अब आगे आप के लक्षण सुनिये ॥२६॥ वीर्य, रक्त, लार, मूत्र, स्वेद, ये पाँच आप के भेद हैं। अब आगे पृथ्वी के लक्षण बतलाते हैं ॥ २८ ॥ अस्थि, मांस, त्वचा, नाड़ी और रोम, ये पाँच पृथ्वी के धर्म हैं, इस प्रकार 'स्थूलदेह' का मर्म कहा है ॥ २८ ॥ पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश, इन पांचों के पच्चीस तत्त्व मिलकर 'स्थूलदेह' बनती है ॥ २९ ॥

तीसरी देह 'कारण' अज्ञान है, चौथी देह 'महाकारण' ज्ञान है—इन चारों देहों का निरसन हो जाने पर विज्ञानरूप परब्रह्म रह जाता है ॥ ३० ॥ विचार से चारों देह अलग करने से मैंपन तत्त्वों के साथ चला जाता है और इस प्रकार परब्रह्म में अनन्य आत्मनिवेदन हो जाता है ॥ ३१ ॥ विवेक से प्राणी जन्म-मृत्यु से मुक्त हो जाता है, नरदेह में महत्कृत्य साध लेता है और भक्तियोग से कृतकृत्य और सार्थक हो जाता है ॥ ३२ ॥ यह पंचीकरण का वर्णन हो चुका। इसका विचार बराबर करना चाहिए। पारस के योग से लोहे का सोना हो जाता है ॥३३॥ यह दृष्टान्त ठीक नहीं है। पारसपत्थर पारस नहीं बना सकता; परन्तु साधु की शरण में जाने से स्वयं साधु ही हो जाते हैं ॥ ३४ ॥

नववाँ समास—तनु चतुष्टय।

॥ श्रीराम ॥

स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण, ये चार देह हैं। जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या ये चार अवस्थाएं हैं ॥ १ ॥ विश्व, तैजस्, प्राज्ञ, प्रत्यगात्मा, ये चार अभिमान हैं और नेत्रस्थान, कंठस्थान, हृदयस्थान और मूर्धा ये चार स्थान हैं ॥ २ ॥ स्थूलभोग, प्रविविक्तभोग, आनन्दभोग, आनन्दावभास भोग–ये चार भोग चारों देहों के हैं ॥ ३ ॥ अकार, उकार मकार और अर्धमात्रा ये चार मात्राएं चारों देहों की हैं ॥ ४ ॥ तम, रज, सत्त्व शुद्ध सत्त्व, ये चार गुण चारों देहों के हैं ॥ ५ ॥ क्रियाशक्ति, द्रव्यशक्ति इच्छाशक्ति ज्ञानशक्ति,–ये चार शक्तियां चारों देहों की हैं ॥ ६ ॥ ऐसे ये बत्तीस तत्त्व;सूक्ष्म और स्थूल देहों के मिलकर पचास तत्त्व, सब मिल कर बयासी तत्त्व हुए। इनके सिवा अज्ञान (कारणदेह) और ज्ञान (महाकारणदेह) हैं ॥ ७ ॥ इस प्रकार से ये सब तत्त्व जान कर उन्हें मायिक समझना चाहिए और अपने को साक्षी मान कर इस रीति से उनका निरसन करना चाहिए ॥ ८ ॥ साक्षी ज्ञान को कहते हैं। ज्ञान से अज्ञान को पहचानना चाहिए और देह के साथ ज्ञानाज्ञान का निरसन कर देना चाहिए ॥ ९ ॥ ब्रह्मांड में जिन देहों की कल्पना की गई है उन्हें विराट् और हिरण्यगर्भ कहते हैं। आत्मज्ञान और विवेक से उनका भी निरसन हो जाता है ॥ १० ॥ आत्मानात्म-विवेक और सारासार-विचार करने से, पंचभूतों की मायिक वार्ता मालूम हो जाती है ॥ ११ ॥ अस्थि, मांस, त्वचा, नाड़ी और रोम, ये पांचों पृथ्वी के गुणधर्म हैं। प्रत्यक्ष अपने शरीर में ही इन सब को खोज कर देख लेना चाहिए ॥ १२ ॥ शुक्र, शोणित, लार, मूत्र और स्वेद, ये आप के पाँच भेद हैं। तत्त्वों को समझ कर इनको स्पष्ट कर लेना चाहिए ॥ १३ ॥ क्षुधा, तृषा, आलस्य, निद्रा, मैथुन, ये पांचों तेज के गुण हैं। इन तत्त्वों का निरूपण बारबार करना चाहिए ॥ १४ ॥ चलन, वलन, प्रसरण, निरोधन और आकुंचन-ये पांचों गुण वायु के हैं, सो श्रोता लोगों को जान लेना चाहिए ॥ १५ ॥ काम, क्रोध, शोक, मोह, और भय, आकाश के गुण हैं। बिना विवरण किये यह कुछ समझ में नहीं आता ॥ १६ ॥

अस्तु। ऐसा यह स्थूल शरीर पच्चीस तत्त्वों का विस्तार है। अब सूक्ष्म-देह का विचार बतलावेंगे॥ १७ ॥ अन्तःकरण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, ये पांच भेद आकाश के हैं। अब आगे सावधान होकर वायु के भेद सुनो ॥ १८ ॥ व्यान, समान, उदान, प्राण, अपान–ये पांचो भेद वायु-

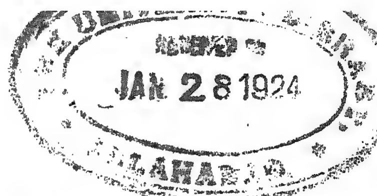
तत्त्व के हैं ॥ १६ ॥ श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण-ये पांचों तेज के भेद हैं। अब सावधान होकर आप के भेद सुनो ॥ २० ॥ वाचा, पाणि, पाद, शिश्न, गुद, ये आप के भेद हैं। अब पृथ्वी के भेद बतलाते हैं ॥ २१ ॥ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये पृथ्वी के भेद हैं। इस प्रकार ये पच्चीस तत्त्व भेद सूक्ष्मदेह के हैं ॥ २२ ॥

दसवाँ समास-साधु और मूर्ख ।

॥ श्रीराम ॥

पृथ्वी के आसपास आवरणोदक में हाटकेश्वर नामक पातालालिंग की महिमा बहुत बड़ी है। इसे नमस्कार करना चाहिए ॥ १ ॥ परंतु वहां जा नहीं सकते. शरीर से उसका दर्शन हो नहीं सकता, इस लिए उस ईश्वर को विवेक से अनुमान में लाना चाहिए ॥ १ ॥ सात समुद्रों का घेरा है, बीच में अत्यन्त विस्तृत पृथ्वी है-उन समुद्रों के पास भूमंडल की पहाड़ियां टूटी हैं ॥ ३ ॥ सात समुद्रों को लाँघ कर वहां जाना कैसे सम्भव है? इस लिए साधुजन को विवेकी होना चाहिए ॥ ४ ॥ जो अपने को न मालूम हो वह ज्ञाता पुरुष से पूछना चाहिए। यह तो हो नहीं सकता कि, मनोवेग के अनुसार शरीर से चलें ॥ ५ ॥ जो चर्म-दृष्टि से न जान पड़े उसे ज्ञानदृष्टि से देखना चाहिए और ब्रह्मांड का मनन करके मन में समाधान रखना चाहिए ॥ ६ ॥ बीच में पृथ्वी का परदा है, इसी लिए आकाश और पाताल हैं और यदि यह पड़दा न हो तो (पाताल का नाम मिट जाय और) चारों ओर आकाश ही आकाश हो जाय ॥ ७ ॥ जो स्वाभाविक ही उपाधि-रहित है उसको परब्रह्म कहते हैं, उसके तई दृश्यमाया के नाम शून्याकार है-अर्थात् दृश्य वहां नहीं है ॥ ८ ॥ दृष्टि से जो दिखता है वह दृश्य है, मन से जो दिखता है वह भास है और मन से परे जो निराभास है उसे विवेकदृष्टि से देखना चाहिए ॥ ९ ॥ जहां 'दृश्य' और 'भास' के लिए ठौर नहीं है वहां विवेक प्रवेश कर सकता है। परन्तु इस भूमंडल में सूक्ष्म दृष्टिवाले ज्ञाता थोड़े हैं ॥ १० ॥ वाच्यांश वाचा से बोला जाता है परन्तु जो न बोला जा सके उसे लक्ष्यांश जानना चाहिए और गुण के ही योग से निर्गुण को अनुभव में लाना चाहिए ॥ ११ ॥ गुणों का नाश है; पर निर्गुण अवि-नाशी है। सूक्ष्म के देखने में स्थूल के देखने से विशेषता है ॥ १२ ॥ जो

दृष्टि से न देख पड़े उसे सुनकर जानना चाहिए। श्रवण-मनन से सब कुछ मालूम हो जाता है ॥ १३ ॥ अष्टधा प्रकृति के नाना दृश्य पदार्थ हैं; सब मालूम नहीं हो सकते। कोई भी नहीं जान सकता ॥ १४ ॥ यदि सब एकसमान स्थिति हो जाय तो सब परीक्षा डूब जाय और वही हाल हो जाय जैसे स्वाद न जाननेवाला पुरुष सब भोजन एक में मिला लेता है ! ॥ १५ ॥ मूढ़ मनुष्य गुणग्राहक नहीं हो सकता, मूर्ख को विवेक नहीं मालूम हो सकता-वे लोग विवेक और अविवेक को एक ही बतलाते हैं ॥ १६ ॥ जिसे ऊंच नीच नहीं जान पड़ता उसका अभ्यास ही डूब जाता है और बिना अभ्यास के गति नहीं है ॥ १७ ॥ जो पागल या सिड़ी हो जाता है उसे सब एक ही समान जान पड़ता है; पर ऐसे मनुष्य को मूर्ख और अविवेकी जानना चाहिए ॥ १८ ॥ जिसका अखंड रीति से नाश होता है उसीको वे लोग अविनाशी कहते हैं-ऐसे बकवादियों को क्या कहें ? ॥ १९ ॥ ईश्वर ने नाना भेद किये हैं, भेद से सारी सृष्टि बर्तती है। जहां अंधे परीक्षक मिलते हैं वहां परीक्षा कहां की ? ॥ २० ॥ और जहां परीक्षा का अभाव है वह समुदाय ढ़ोंगी है। जहां गुण ही नहीं है वहां गौरव कहां से आयगा ? ॥ २१ ॥ जब खरा-खोटा एक ही बना दिया तब वहां विवेक कहां रहा ? साधु लोग असार छोड़ कर सार ग्रहण करते हैं ॥२२॥ दरिद्री पुरुष उत्तम वस्तु की परीक्षा कैसे कर सकता है ? दीक्षाहीन के पास दीक्षा कहां से आवेगी ? ॥ २३ ॥ अपने ही मैलेपन से दिशा जाकर शौच करना न जानता हो तो वेदशास्त्र और पुराण उसके लिए क्या करेंगे ? ॥ २४ ॥ पहले आचार की रक्षा करनी चाहिए; फिर विचार की ओर झुकना चाहिए। आचार-विचार से (भवसागर का) पारावार पा जाते हैं ॥ २५ ॥ जो बात नेमक पुरुष को नहीं मालूम होती वह बेवकूफ को कैसे मालूम हो सकती है ? जहां दृष्टिवाले ही धोखा खाते हैं वहां अंधे किस काम के ? ॥ २६ ॥ यदि पाप-पुण्य और स्वर्ग-नर्क सारे एक ही समान मान लिये जायँ तो फिर विवेक और अविवेक की क्या आवश्यकता है ? ॥ २७ ॥ चाहे अमृत और विष को एक कहिये, परन्तु विष ग्रहण करने से प्राण जाते हैं। कुकर्म से निन्दा होती है और सत्कर्म से कीर्ति बढ़ती है ॥ २८ ॥ इहलोक और परलोक का जहां पूर्ण विचार नहीं है वहां सब निरर्थक है ॥ २९ ॥ इस लिए संतसंग करना चाहिए, सत् शास्त्र का ही श्रवण करना चाहिए और नाना प्रयत्नों से उत्तम गुणों का अभ्यास करना चाहिए ॥ ३० ॥



अठारहवाँ दशक ।



पहला समास–विविध देवता ।

॥ श्रीराम ॥

हे गजवदन ! तुझे नमस्कार करता हूं, तेरी महिमा कोई नहीं जानता ! तू सब छोटों-बड़ों को विद्या-बुद्धि देता है ॥ १ ॥ हे माता सरस्वती ! तुझे नमस्कार करता हूं, चारों वाणी तेरी ही स्फूर्ति हैं। ऐसे पुरुष थोड़े हैं जो तेरा मुख्य स्वरूप जानते हों ॥ २ ॥ हे चतुरानन ! तुझे धन्य है, धन्य है; तूने सृष्टिरचना की है और वेद, शास्त्र, तथा नाना भेद प्रकट किये हैं ॥३॥ हे विष्णु ! तुझे धन्य है ! तू पालन करता है और एक अंश से, जान जान कर, सब जीवों को बढ़ाता और उनसे बर्ताव कराता है ॥ ४ ॥ हे भोलाशंकर ! तुझको धन्य है, धन्य है ! तेरी दया का पार नहीं है, तू सदा राम नाम जपता है ॥ ५ ॥ हे इन्द्रदेव ! तुझे धन्य है, धन्य है । तू सब देवों का भी देव है । इन्द्रलोक का वैभव कहां तक बतलावें ? ॥ ६ ॥ हे धर्मराज यम ! तुझे धन्य है; धन्य है । तू सब धर्माधर्म को जानता है; और प्राणिमात्र के मर्म का तू पता लगा लेता है ॥ ७ ॥ हे वेंकटेश ! तेरी महिमा अपार है ! भले भले आदमी खड़े होकर तेरे स्थान पर भोजन करते हैं, बड़े-मुंगौड़े आदि अनेक पक्वान्नों का स्वाद लेते हैं ॥ ८ ॥ हे बनशंकरी ! तुझे धन्य है, तू अनेक शाकों को आहार करती है। इस धरती पर तेरे सिवाय और ऐसा कौन है जो चुन चुन कर भोजन करता हो ॥ ९ ॥ हे बलभीम हनुमान् ! तुझे धन्य है ! कोरे बड़ों की अनेक मालाएं तू डालता है ! दहीबड़े खाने से सब को आनन्द मिलता है ! ॥ १० ॥ हे खंडेरावजी ! तुझे भी धन्य है ! तेरा शरीर हलदी से पीला रहता है, तेरे यहां प्याज भरे हुए मुंगौड़े (!) खाने के लिए सब लोक तैयार रहते हैं ! ॥ ११ ॥ हे तुलजा भवानी ! तुझे धन्य है, तू भक्तों पर सदा प्रसन्न रहती है। जगत् में ऐसा कौन है जो तेरे गुणवैभव की गणना करे ? ॥१२॥ हे पांडुरंग ! तुझे धन्य है, धन्य है ! तेरे यहां अखंड रीति से कथा की धूम मची रहती है । और नाना प्रकार से तानमान-रागरंग छाया रहता है ॥ १३ ॥ हे क्षेत्रपाल ! तुझे धन्य है ! तूने अनेक लोगों को भक्तिमार्ग में लगाया है । भावपूर्वक तेरी भक्ति करने से फल मिलने में देर नहीं लगती ॥ १४ ॥

अब, राम-कृष्णादि अवतारों की महिमा का तो पारावार ही नहीं है उन्हींके कारण बहुत लोक उपासना में तत्पर हुए हैं ॥ १५ ॥ परन्तु इन सब देवों का मूल केवल यह अन्तरात्मा है ! इसीको भूमंडल में सब भोग मिलते हैं ॥ १६ ॥ यही नाना प्रकार के देवों का रूप बन बैठा है, यही नाना शक्तिरूपों से प्रकट हुआ है और यही सारे वैभव का भोक्ता है ॥१७॥ इस अन्तरात्मा का विचार करने से मालूम होता है कि, इसका विस्तार बहुत बड़ा है। अनेकों देव और मनुष्य यही स्वयं बनना जाता है ॥ १८ ॥ यश, अपयश, अतिनिन्दा और अतिप्रशंसा-सब की भोगप्राप्ति अन्तरात्मा ही को होती है ॥ १९ ॥ किस देह में रह कर क्या करता है, किस देह में रह कर क्या भोगता है-कौन जाने ? भोगी, त्यागी, वीतरागी सब कुछ यही एक आत्मा है ॥ २० ॥ प्राणी अपने ही अभिमान में भूले रहते हैं-देह ही की ओर देखते रहते हैं और भीतर रहते हुए भी मुख्य आत्मा को नहीं पाते ॥ २१ ॥ अरे; इस भूमंडल में ऐसा कौन है जो इस आत्मा की हलचल का पूरा पूरा विचार कर सके ? जब अगाध पुण्य होता है तब कहीं इसका कुछ थोड़ा अनुसंधान लगता है ॥ २२ ॥ और उस आत्मानुसन्धान के साथ ही किल्बिष (पाप) जल जाते हैं, यह बात अन्तर्निष्ठ ज्ञानी लोग मनन करके देखते हैं ॥ २३ ॥ अन्तर्निष्ठ होते हैं वही तिरते हैं और सब अन्तर्भ्रष्ट डूब जाते हैं, क्योंकि वे बिचारे बाहर बाहर लोकाचार ही में भूले रहते हैं ॥ २४ ॥

दूसरा समास-ज्ञाता का समागम।

॥ श्रीराम ॥

अनजानपन से जो होगया सो होगया; अब, नियमपूर्वक. जानपन के साथ, बर्ताव करना चाहिए ॥ १ ॥ ज्ञाता की संगति करनी चाहिए, ज्ञाता की सेवा करनी चाहिए, और धीरे धीरे ज्ञाता की सुबुद्धि का स्वयं भी ग्रहण करना चाहिए ॥ २ ॥ ज्ञाता के पास लिखना; पढना, सीखना चाहिए और सब बातें पूछनी चाहिए ॥ ३ ॥ ज्ञाता के साथ उपकार करना चाहिए, ज्ञाता लिए अपना शरीर खर्च करना चाहिए और यह देखना चाहिए कि, उसका विचार कैसा है ॥ ४ ॥ ज्ञाता की संगति में रह कर भजन करना चाहिए. उसकी संगति से कष्ट सहना

चाहिए और उसीकी संगति से मनन कर करके रीझना चाहिए ॥ ५ ॥ ज्ञाता के पास गीत गाना चाहिए, उसके पास वाद्य बजाना चाहिए, और नाना प्रकार के आलाप उससे सीखने चाहिए ॥ ६ ॥ ज्ञाता का सहारा रखना चाहिए, ज्ञाता की औषधि लेना चाहिए और ज्ञाता जो बतलावे वही पथ्य पहले करना चाहिए ॥ ७ ॥ ज्ञाता से परीक्षा सीखना चाहिए, ज्ञाता के पास कसरत करनी चाहिए और उसीके सामने तैरने का अभ्यास करना चाहिए ॥ ८ ॥ जैसा ज्ञाता कहे वैसा बोलना चाहिए, जैसे वह कहे वैसे चलना चाहिए और नाना प्रकार से जैसा वह ध्यान करे वैसा ध्यान धरना चाहिए ॥ ९ ॥ ज्ञाता की कथाएं सीखनी चाहिए, ज्ञाता की युक्तियां समझनी चाहिए और उसीकी प्रत्येक बात का मनन करना चाहिए ॥ १० ॥ ज्ञाता के पेंच जानने चाहिए; ज्ञाता की युक्ति समझना चाहिए और जिस प्रकार वह अन्य लोगों को राजी रखे उसी प्रकार स्वयं भी सब को राजी रखना चाहिए ॥ ११ ॥ ज्ञाता के प्रसंग जानने चाहिए, ज्ञाता के रंग लेने चाहिए और ज्ञाता की स्फूर्ति की तरंगों का अभ्यास करना चाहिए ॥ १२ ॥ ज्ञाता का उद्योग ग्रहण करना चाहिए, ज्ञाता का तर्क जानना चाहिए और ज्ञाता के बिना बोले ही उसका संकेत समझ लेना चाहिए ॥ १३ ॥ ज्ञाता की चाणाक्षता (विशिष्ट प्रकार का चातुर्य), ज्ञाता की राजनीति और ज्ञाता का निरूपण सुनते रहना चाहिए ॥ १४ ॥ ज्ञाता की कविताएं सीखनी चाहिए, गद्य-पद्य पहचानने चाहिए और उसके माधुर्य-वचनों का अन्तःकरण में विचार करना चाहिए ॥ १५ ॥ ज्ञाता के प्रबन्ध देखने चाहिए, और उसके वचनभेदों तथा नाना प्रकार के सस्वादों का अच्छी तरह विचार करना चाहिए ॥ १६ ॥ ज्ञाता की तीक्ष्णता, सहिष्णुता और उदारता समझ लेनी चाहिए ॥ १७ ॥ ज्ञाता की नाना प्रकार की कल्पनाएं; उसकी दूरदर्शिता और विवंचना भी समझ लेनी चाहिए ॥ १८ ॥ ज्ञाता के काल-सार्थक की रीति, ज्ञाता का अध्यात्मविवेक और उसके अनेक गुण, सभी ले लेना चाहिए ॥ १९ ॥ ज्ञाता का भक्तिमार्ग, वैराग्ययोग और उसके सारे प्रसंग समझ लेना चाहिए ॥२०॥ ज्ञाता का ज्ञान देखना चाहिए; ज्ञाता का ध्यान सीखना चाहिए, और ज्ञाता के सूक्ष्म चिन्ह समझ लेने चाहिए ॥ २१ ॥ ज्ञाता की अलिप्तता, विदेह-लक्षण और ब्रह्म-विवरण समझ लेना चाहिए ॥ २२ ॥ ज्ञाता भी एक अन्तरात्मा है, उसकी महिमा कहां तक बतलाई जाय? उसकी विद्या, कला और गुण की सीमा कौन निश्चित करे? ॥ २३ ॥ परमेश्वर के गुणानुवाद करके अखंड संवाद करना चाहिए। ऐसा करने से अत्यन्त आनन्द मिलता है

॥ २४ ॥ परमेश्वर ने जो कुछ निर्माण किया है वह सब अखंड रीति से दृष्टि के सामने रहता है। परन्तु विवेकी लोगों को चाहिए कि, वे बार बार विचार करके उसे समझ लें ॥ २५ ॥ जितना कुछ निर्माण हुआ है, सब जगदीश्वर ने निर्मित किया है। पहले निर्माण—दृश्य पदार्थ—अलग करना चाहिए (और फिर ईश्वर-स्वरूप को देखना चाहिए) ॥ २६ ॥ वह सब को निर्मित करता है; पर स्वयं वह, देखने से दिखता नहीं, इस लिए उसे विवेकबल से देखते रहना चाहिए ॥ २७ ॥ उसका अखंड ध्यान लगने से, वह कृपा करके दर्शन देता है। सदा उसीके अंश से सम्भाषण करना चाहिए ॥ २८ ॥ जो ध्यान नहीं धरता वह अभक्त है, जो ध्यान धरता है वह भक्त है। वह (परमात्माराम) भक्तों को संसार से मुक्त करता है ॥ २९ ॥ उपासना समाप्त होने पर देव-भक्त की अखंड भेंट बनी रहती है—यह अनुभव की बात अनुभवी ही जान सकता है ॥ ३० ॥

तीसरा समास—सदुपदेश।

॥ श्रीराम ॥

दुर्लभ नरशरीर में पूर्ण आयु और भी दुर्लभ है, इस लिए इसका व्यर्थ नाश न करना चाहिए। "दास" कहता है कि, अच्छी तरह विवेक का अभ्यास करना चाहिए ॥ १ ॥ उत्तम रीति से विवेक का अभ्यास न करने से सारा अविवेक का ही बर्ताव होता है और प्राणी दरिद्री सा देख पड़ता है ॥ २ ॥ यह अपना आप ही करता है। आलस लोगों को दरिद्री बना देता है और बुरी संगति, देखते ही देखते डुबा देती है ॥ ३ ॥ मूर्खता का अभ्यास होने से बेवकूफी सवार होती है और तरुणाई में चांडाल काम उठता है। ४ ॥ तरुण होकर यदि मूर्ख और आलसी हुआ तो वह सब प्रकार से दुःख-दरिद्र भोगता है, उसे कुछ नहीं मिलता, ऐसी दशा में किसीको क्या कहा जाय! ॥ ५ ॥ उसके पास आवश्यकता की चीजें नहीं होती, अन्नवस्त्र भी नहीं होते और न अन्तःकरण में कोई उत्तम गुण ही होते हैं ॥ ६ ॥ बोलना नहीं आता, बैठना नहीं आता, प्रसंग (अवसर) जरा भी मालूम नहीं होता और अभ्यास की ओर शरीर या मन नहीं लगता ॥ ७ ॥ लिखना-पढ़ना, पूछना-बताना वह नहीं जानता और बेवकूफी के कारण उससे निश्चयता का अभ्यास

भी नहीं होता ॥ ८ ॥ उसे स्वयं तो कुछ आता नहीं और दूसरों का उपदेश भी नहीं मानता! स्वयं तो पागल है ही; सज्जनों की भी निन्दा करता है ॥ ९ ॥ भीतर कुछ और है और बाहर कुछ और है, ऐसा जिसका विवेक है, उस पुरुष से परलोक का सार्थक कैसे हो सकता है? ॥ १० ॥ ऐसे पुरुष की गृहस्थी नाश हो जाती है और फिर वह मन में पछताता है, इस लिए विवेक का अभ्यास करना चाहिए ॥ ११ ॥ मन एकाग्र करके, दृढ़ता के साथ, साधन करना चाहिए और यत्न करने में जरा भी आलस न आने देना चाहिए ॥ १२ ॥ सारे अवगुण छोड़ देना चाहिए, उत्तम गुणों का अभ्यास करना चाहिए और गहन अर्थोंवाले प्रबन्ध पाठ करते रहना चाहिए ॥ १३ ॥ पदप्रबन्ध, श्लोकप्रबन्ध, नाना प्रकार की कविताएं, मुद्रा, छन्द, पाठ होने चाहिए; क्योंकि नाना प्रसंगों के ज्ञान ही से आनन्द होता है ॥ १४ ॥ यह बात समझ लेनी चाहिए कि, किस प्रसंग पर क्या कहना उचित है। व्यर्थ के लिए यों ही क्यों कष्ट उठाना चाहिए? ॥ १५ ॥ दूसरे का मन जानना चाहिए, रुचि देख कर (कोई बात) कहना चाहिए। जो याद आ जावे वही गा बैठना मूर्खता है ॥ १६ ॥ जिसकी जैसी उपासना हो उसीके अनुसार गाना चाहिए; भूलना न चाहिए। और रागज्ञान तथा तालज्ञान का अभ्यास करते रहना चाहिए ॥१७॥ साहित्य, संगीत के साथ, प्रसंगानुसार, कथा ही की धूम मचा देना चाहिए और श्रवण-मनन से अर्थान्तर (गुह्यार्थ) निकालते रहना चाहिए ॥ १८ ॥ खूब पाठ होना चाहिए, सदा सर्वदा उधरते रहना चाहिए और बतलाई हुई बात याद रखना चाहिए ॥ १९ ॥ अखंड रीति से एकान्त का सेवन करना चाहिए, सारे ग्रन्थ ढ़ंढोल डालना चाहिए और जिस अर्थ पर अपना मन जम जाय वही लेना चाहिए ॥ २० ॥

चौथा समास—नर-देह का महत्त्व ।

॥ श्रीराम ॥

देह से ही गणेशपूजन और शारदावंदन होता है। देह से ही गुरु, सज्जन, संत और श्रोताओं का काम चलता है ॥ १ ॥ देह से ही कविता रची जाती है, अध्ययन होता है और उसीके द्वारा नाना विद्याओं का

अभ्यास करते हैं ॥ २ ॥ ग्रन्थलेखन, नाना प्रकार की लिपियों की पह-चान, नाना पदार्थों की खोज देह से ही होती है ॥ ३ ॥ महाज्ञानी, सिद्ध, साधु, ऋषि, मुनि आदि देह से ही होते हैं और देह से ही प्राणी तीर्थाटन करते हैं ॥ ४ ॥ देह से ही श्रवण और मनन में पुरुष लगता है और देह से ही मुख्य परमात्मा की प्राप्ति होती है ॥ ५ ॥ कर्ममार्ग, उपा-सनामार्ग और ज्ञानमार्ग आदि सब देह ही होते हैं ॥ ६ ॥ योगी, वीत-रागी, तापसी, आदि लोग नाना प्रकार के प्रयास देह के ही द्वारा करते हैं और देह के ही कारण से आत्मा प्रकट होती है ॥ ७ ॥ इहलोक, पर-लोक, आदि सब देह से ही बनते हैं—देहबिना सब निरर्थक है ॥ ८ ॥ पुरश्चरण, अनुष्ठान, गोरांजन, धूम्रपान, शीतोष्ण, पंचाग्निसाधन देह से ही होते हैं ॥ ९ ॥ पुण्यात्मा, पापात्मा, स्वेच्छाचारी, पवित्र देह से ही होते हैं ॥ १० ॥ अवतारी और वेषधारी भी देह से ही होते हैं। नाना प्रकार के बलंब और पाखंड देह ही से होते हैं ॥ ११ ॥ विषय-भोग और सर्वत्याग देह ही से होते हैं और देह ही के कारण नाना रोग होते और जाते हैं ॥ १२ ॥ नव प्रकार की भक्ति, चार प्रकार की मुक्ति, और नाना प्रकार की युक्ति और नाना मत, सब देह ही से होते हैं ॥ १३ ॥ देह से ही दानधर्म होते हैं, देह से ही नाना रहस्य प्रकट होते हैं और लोग कहते हैं कि, देह ही के कारण पूर्वकर्म का फल मिलता है ॥ १४ ॥ नाना स्वार्थ, नाना अर्थ-व्यर्थ और धन्यता देह ही के कारण से होती है ॥ १५ ॥ नाना कलाएं, न्यूनाधिकता और भक्तिमार्ग का प्रेम देह से ही होता है ॥ १६ नाना प्रकार का सन्मार्गसाधन देह से ही होता है, देह से ही बन्धन टूटता है और आत्मनिवेदन होकर मोक्ष मिलता है ॥ १७ ॥ देह सब में उत्तम है, देह में आत्माराम रहता है, पुरुषोत्तम सब घरों में है—विवेकी जानते हैं ॥ १८ ॥ देह से ही नाना प्रकार की कीर्ति मिलती है, अथवा नाना प्रकार की अपकीर्ति होती है और देह ही के कारण से अवतार-मालिकाएं होती जाती हैं ॥ १९ ॥ नाना प्रकार के भ्रम-सम्भ्रम देह से ही होते हैं और देह ही के द्वारा लोग उत्तमोत्तम पद भोगते हैं ॥ २० ॥ देह ही से सब कुछ है-देह के बिना कुछ नहीं है। देह के बिना आत्मा का होना न होना बराबर है ॥ २१ ॥ देह परलोक की नौका है, नाना गुणों का आगर है। नाना रत्नों का विचार देह ही के द्वारा होता है ॥ २२ ॥ देह ही से गायनकला और संगीतकला जानी जाती हैं। देह ही के योग से अंतर्कला प्राप्त हो जाती है ॥ २३ ॥ देह ब्रह्मांड का फल है, वह बहुत दुर्लभ है; परन्तु इसको शुद्ध बोध देना चाहिए ॥ २४ ॥ देह ही के द्वारा छोटे बड़े सब लोग अपना अपना व्यापार करते हैं। इसी

के कारण लोग छोटे या बड़े होते हैं ॥ २५ ॥ जितने जीव देह धर कर आते हैं वे कुछ न कुछ कर ही जाते हैं। हरिभजन से कितने ही पावन हो चुके हैं ॥ २६ ॥ अष्टधा प्रकृति का मूल केवल संकल्प-रूप ही है। नाना संकल्प ही देहरूप फल लेकर प्रकट हुए हैं ॥ २७ ॥ हरिसंकल्प आदि ही से था, उसीको अब फल के रूप में देखना चाहिए। वास्तव में वह नाना देहों में ढूँढ़ने से मालूम होता है ॥ २८ ॥ बेल के मूल में बीज होता है, सम्पूर्ण बेल उदकरूप होती है, फिर आगे फल में भी मूल के अंश से बीज रहता है ॥ २९ ॥ मूल के कारण फल आता है, फल के कारण मूल होता है, यही हाल सम्पूर्ण ब्रह्मांड का है ॥ ३० ॥ अस्तु। कोई भी काम हो, बिना देह के कैसे हो सकता है? देह सार्थक करना अच्छा है ॥ ३१ ॥ आत्मा के कारण देह हुई है और देह के कारण आत्मा बर्त रही है--दोनों के योग से सम्पूर्ण कार्य चलता है ॥ ३२ ॥ छिपकर, गुप्तरूप से जो कुछ किया जाता है वह सब आत्मा को मालूम हो जाता है। क्योंकि सब कर्तृत्व आत्मा ही से है ॥ ३३ ॥ देह में आत्मा रहती है। देह पूजने से आत्मा संतुष्ट होती है और देह को पीड़ा देने से आत्मा क्षोभित होती है। यह बात प्रत्यक्ष है ॥ ३४ ॥ देह बिना पूजा मिलती नहीं, देह बिना पूजा लगती नहीं; जनों (लोगों) में ही जनार्दन (परमेश्वर) रहता है; इस लिए लोगों को संतुष्ट करना चाहिए ॥ ३५ ॥ जो अत्यन्त विवेकवान् होता है उसी के द्वारा धर्मस्थापना हो सकती है और वही पुण्यशरीर पूजनीय है ॥ ३६ ॥ सब की बराबर ही पूजा करना मूर्खता है। गधे की पूजा करने से क्या फल है? ॥ ३७ ॥ इस लिए जो वास्तव में पूजनीय हो उसीकी पूजा करनी चाहिए; तथापि अन्य लोगों को भी, साधारण तौर पर, प्रसन्न ही रखना चाहिए; क्योंकि किसीका दिल न दुखाना चाहिए ॥ ३८ ॥ सारे जगत् के हृदय का देव (अर्थात् सम्पूर्ण जनसमाज) क्षुब्ध होने से रहने को स्थान कहां मिल सकता है? लोगों को छोड़ कर लोगों के लिए अन्य गति ही नहीं है ॥ ३९ ॥ परमेश्वर के अनन्त गुण हैं। मनुष्य बेचारा उनकी पहचान कहां तक बतला सकता है? परन्तु आध्यात्म-ग्रन्थों का श्रवण होने से सब समझ पड़ने लगता है ॥ ४० ॥

पाँचवाँ समास—समाधान की युक्ति।

॥ श्रीराम ॥

कोई पदार्थ किसी माप से मापिये; पर वह माप पदार्थ नहीं खाता, इसी प्रकार बहुधा लोग अनेक ग्रन्थ पढ़ जाते हैं; परन्तु उनके हृदय में उन ग्रन्थों का एक भी विचार नहीं रहता ॥ १ ॥ पाठ तो धाराप्रवाही बोलते जाते हैं; पर यदि पूछिये तो बतलाते कुछ नहीं—अनुभव की बात पूछने पर वे लोग चक्कर में आ जाते हैं ॥ २ ॥ (परन्तु ऐसा नहीं चाहिए) शब्दरत्नों की परीक्षा करनी चाहिए; अनुभवात्मक शब्दों का ग्रहण करना चाहिए; और अन्य सटर-फटर एक तरफ छोड़ देना चाहिए ॥ ३ ॥ नाम-रूप सब छोड़ देना चाहिए, फिर अनुभव प्राप्त करना चाहिए, सार-असार दोनों एक ही करना मूर्खता है ॥ ४ ॥ इस बात का विचार करो कि, पढ़ने वाले को पुस्तक यों ही पढ़ते जाना चाहिए या समझ कर पढ़ना चाहिए? ॥ ५ ॥ सच तो यह है कि जहां समझ नहीं है वहां सारा गडबड़ रहता है। बे-समझ वक्ता कोई बात पूछने पर उसका ठीक समाधान नहीं कर सकता और उलटा क्रोध करता है ॥ ६ ॥ बिना समझे-बूझे यदि बहुत सा शब्दज्ञान कर लिया जाता है, तो किसी सभा-समाज में, शास्त्रार्थ का प्रसंग आ जाने पर, उसका कुछ उपयोग नहीं होता ॥ ७ ॥ चक्की में जल्दी जल्दी अनाज की मुट्ठी डाल कर पीसने से बारीक आटा कैसे निकल सकता है? ॥ ८ ॥ मुँह में एक के पीछे एक, जल्दी जल्दी से कौर डालते गये; चबाने को अवकाश नहीं मिला; और सारा मुँह भर गया; फिराये नहीं फिरता! अब कैसा हो? ॥ ९॥ अस्तु; अब यह सुनो कि, सभा में व्याख्याता का क्या कर्तव्य है। व्याख्याता को एक क्षण भर भी श्रोताओं का विरस न करना चाहिए, सब का अन्तःकरण सम्हालते रहना चाहिए ॥ १० ॥ सूक्ष्म बातें अवश्य प्रकट करना चाहिए; परन्तु उन्हें स्वयं समझना चाहिए और समझ कर फिर श्रोताओं को समझाना चाहिए ॥ ११ ॥ सभा में वक्ता जब बड़े बड़े कठिन प्रश्न हल कर देता है तब श्रोताओं को बड़ा आनन्द होता है और वे बारबार वक्ता की प्रशंसा करते हैं ॥ १२ ॥ कठिन समस्या हल कर देने पर वे प्रशंसा करते हैं; परन्तु यदि उस प्रसंग पर वक्ता समस्या हल नहीं कर सकता (घबड़ाता है) तो श्रोता लोग निन्दा भी करते हैं। अब, यदि वक्ता श्रोताओं पर नाराज हो तो क्यों? ॥ १३ ॥ जैसे कसौटी पर कस कर और तपा कर शुद्ध सोना लिया जाता है, वैसे ही श्रवण-मनन से मुख्य अनुभव जान

लेना चाहिए ॥ १४ ॥ वैद्य पर विश्वास आता नहीं और व्यथा दूर होती नहीं—तो फिर लोगों पर क्रोध क्यों करना चाहिए ? ॥ १५ ॥ झुठाई नहीं चलती और न वह किसीको पसन्दही आती है; इस लिए सत्य का ग्रहण करना चाहिए ॥ १६ ॥ लिखना-पढ़ना न जान कर व्यापार करने से थोड़े दिन चलता है; जहां कोई हिसाबी मिल गया कि, बस तुरन्त ही झुठाई खुल जाती है ॥ १७ ॥ प्रमाण और साक्षी-सहित सब हिसाब साफ रखना चाहिए, इतने पर हिसावी कुछ नहीं कर सकता ॥ १८ ॥ जो स्वयं ही फँस जाता है वह अन्य लोगों को कैसे समझा सकता है ? कोई भी हो, अज्ञानता से संकट में पड़ता ही है ॥ १९ ॥ बल नहीं है और युद्ध में गया है; फिर उसकी हार होगी ही-इसमें दोष किसका है ? ॥ २० ॥ जो सच बात अनुभव में आजाय उसको आदरपूर्वक ग्रहण करना चाहिए । बिना अनुभव की बात भूसा की तरह जानना चाहिए ॥ २० ॥ सिखाने से क्रोध आता है; परन्तु पीछे से पश्चात्ताप होता है, क्योंकि, मिथ्या निश्चय तत्काल उड़ जाता है ॥ २२ ॥ सत्य छोड़ कर मिथ्या ग्रहण करने से हानि होती है । परमात्मा के न्याय के अनुसार चलना चाहिए ॥ २३ ॥ न्याय छोड़ने से सारा संसार निन्दा करता है। किससे किससे झगड़ कर कष्ट सहा जाय ? ॥ २४ ॥ अन्याय से कभी किसीका भला नहीं हुआ । असत्य का अभिमान रखना पागलपन है ॥ २५ ॥ असत्य पाप है और सत्य परमात्मा का स्वरूप है । अब सोचिए कि, इन दोनों में से कौन ग्राह्य है ॥ २६ ॥ सारा बोलना-चालना माया में है; माया के बिना बोलना असम्भव है, अतएव निःशब्द को खोजना चाहिए ॥ २७ ॥ वाच्यांश जान कर छोड़ देना चाहिए, लक्ष्यांश का विवरण करके उसे ग्रहण करना चाहिए । ऐसा करने से निःशब्द का पता लग जाता है ॥ २८ ॥ अष्टधा प्रकृति, जो पूर्वपक्ष है, उसको छोड़ कर अलक्ष में लक्ष लगाना चाहिए । यह बात वही जानता है जो मननशील और परम दक्ष है ॥ २९ ॥ नाना प्रकार का भूसट और कण (दाना) एक ही बतलाना झूठ है । रस और बकला दोनों को एक समझ कर कौन चतुर बकले का सेवन करेगा ? ॥ ३० ॥ पिंड में नित्य-अनित्य-विवेक और ब्रह्मांड में अनेक प्रकार से सारासार का विचार करके—सब ढूँढ़ कर—सिर्फ सार ग्रहण करना चाहिए ॥ ३१ ॥ अन्वय और व्यतिरेक आदि सब माया के कारण से हैं; यदि माया न हो तो विवेक कैसे किया जाय ? ॥ ३२ ॥ सम्पूर्ण तत्त्वों का खोज करना चाहिए और महावाक्य में प्रवेश करके, आत्मनिवेदन के द्वारा, समाधान प्राप्त करना चाहिए ॥ ३३ ॥

*छठवाँ समास-दिव्य गुणों का उपदेश ।

॥ श्रीराम ॥

नाना प्रकार के वस्त्राभूषणों से जैसे शरीर का शृंगार किया जाता है वैसे ही विवेक, विचार तथा राजनीति से अन्तःकरण को भूषित करना चाहिए ॥ १ ॥ शरीर चाहे जैसा सुन्दर, सतेज और वस्त्राभूषण से सज्ज हो; पर यदि अन्तःकरण में चातुर्य-बीज नहीं है तो वह कदापि शोभा नहीं पा सकता ॥ २ ॥ जो मुँहजोर, नीच, कठोरवचनी, सदा अभिमान में फँसे हुए होते हैं, और न्याय-नीति का ग्रहण नहीं करते ॥ ३ ॥ जो दुष्ट सदा शीघ्रकोपी होते हैं, कभी मर्यादा में नहीं रहते और राजनैतिक विषयों की मसलहत में शामिल होना नहीं जानते ॥ ४ ॥ ऐसे उद्दंड, बेईमान कि, जिनके वचनों में कभी सत्य छू भी नहीं जाता, पापी और मूढ़ हैं-उन्हें राक्षस जानना चाहिए ॥ ५ ॥ सदा एक ही प्रकार का अवसर नहीं आता; नेम भी सहसा काम नहीं देता । नेम रखने से राजनैतिक दाँव-पेचों में धोखा हो जाता है ॥ ६ ॥ (इस लिए बहुत नेमी भी न बनना चाहिए) अति सब बात की रोकना चाहिए (अति सर्वत्र वर्जयेत्), देख कर चलना चाहिए और विवेकी पुरुष को दुराग्रह में न पड़ना चाहिए ॥ ७ ॥ बहुत हठ करने से मामला खराब हो जाता है ॥ ८ ॥ अस्तु; ईश्वर अपने भक्तों का अभिमान रखता है और 'तुलजा-भवानी' की भी अपने ऊपर कृपा है; परन्तु काम विचार कर करना चाहिए ॥ ९ ॥ अखण्ड सावधान रहना चाहिए, इससे अधिक और क्या सूचना की जाय, परन्तु सब बातें समझना चाहिए ॥ १० ॥ समर्थ पुरुष के पास बहुत लोग रहते हैं, उन सब का अभिमान रखना चाहिए। ऐसा करने से वे लोग निश्चल मन करके रहते हैं ॥ ११ ॥ दुष्ट अब यहां बहुत बढ़ गये हैं, बहुत दिनों से उनका उपद्रव मचा है, इस लिए अखण्ड रीति से सावधान रहना चाहिए ॥ १२ ॥ वह ईश्वर सर्वकर्ता है । उसने जिसे अपना लिया है, उस पुरुष का विचार विरला ही जान सकता है ॥ १३ ॥ न्याय, नीति, विवेक, विचार, नाना प्रकार के प्रसंग और दूसरे का मन परखना ईश्वर का देना है ॥ १४ ॥ महायत्न, सावधानी, समय आ पड़ने पर धैर्य धरना, अद्भुत ही कार्य करना, ईश्वर की बक्षीस है ॥ १५ ॥ यश, कीर्ति, प्रताप, महिमा, असीम उत्तम गुण और अनुपमता ईश्वर की बक्षीस है ॥ १६ ॥ देव-ब्राह्मण पर श्रद्धा रखना, आचार-विचार से चलना,

* छत्रपति शिवाजी महाराज जब अफजलखां का वध करके आये तब श्रीसमर्थ ने उन्हें इस समास का उपदेश किया।

कितने ही लोगों को आश्रय देना और हाथ से सदा परोकार होना, ये ईश्वर-दत्त बातें हैं ॥१७॥ इहलोक, और परलोक सम्हालना, अखण्ड सावधान रहना, बहुत लोगों की सराहना, ईश्वर की देनगी है ॥ १८ ॥ परमात्मा का पक्ष ग्रहण करना, ब्राह्मण की चिन्ता रखना और बहुत लोगों को पालना, ईश्वर के देने से होता है ॥ १९ ॥ धर्मस्थापना करनेवाले नर ईश्वर के अवतार हैं। ऐसे मनुष्य हुए हैं और आगे होंगे। देना ईश्वर का है ॥ २० ॥ उत्तम गुणग्राहकता, तीक्ष्ण तर्क और विवेक, धर्मवासना और पुण्यश्लोकता ईश्वर का देना है ॥ २१ ॥ सदा तजवीजें सोचते रहना चाहिए और विवेक से चलना चाहिए। यही सब गुणों का सार है, इससे इहलोक, परलोक दोनों सधते हैं ॥ २२ ॥

सातवाँ समास—लोगों का स्वभाव ।

॥ श्रीराम ॥

लोगों का स्वभाव लालची होता है, आरम्भ ही में कहते हैं "देव"—अर्थात् उनकी ऐसी वासना रहती है कि, हमें कुछ दो! ॥ १ ॥ बिना भक्ति किए ही (ईश्वर की) प्रसन्नता की इच्छा रखते हैं, जैसे स्वामी की कुछ भी सेवा न करके (वेतन) मांगते हों ॥ २ ॥ कष्ट बिना फल नहीं मिलता; कष्ट बिना राज्य नहीं मिलता और (प्रयत्न) किए बिना जगत् में कोई साध्य नहीं पूर्ण होता ॥ ३ ॥ यह तो प्रत्यक्ष है कि, आलस से कार्यनाश होता है; परन्तु तिस पर भी हीन लोग परिश्रम करने से मुँह चुराते हैं ॥ ४ ॥ जो पहले परिश्रम का दुःख सहते हैं वे ही फिर सुख का फल भोगते हैं और जो पहले आलस में आकर बैठे रहते हैं उन्हें आगे दुःख उठाना पड़ता है ॥ ५ ॥ चाहे इहलोक (स्वार्थ) हो, चाहे परलोक (परमार्थ) हो; प्रयत्न दोनों के लिए करना पड़ता है । दूरदर्शिता की बड़ी आवश्यकता है ॥ ६ ॥ जो मनुष्य, जितना कमाते हैं उतना सब खा डालते हैं, वे कठिन प्रसंग आ पड़ने पर भूखों मर जाते हैं। इस लिए जो दूरदर्शिता से बर्तते हैं वही सुखी रहते हैं ॥ ७ ॥ इहलोक के लिए धन और परलोक के लिए परमार्थ संचित किए बिना सब व्यर्थ है। जिन मनुष्यों ने ऐसा नहीं किया वे जीते हुए मृततुल्य हैं ॥ ८ ॥ एक ही बार मरने से छूट नहीं सकता, किन्तु अनेक जन्मों की

यातना भोगनी पड़ती है, इस प्रकार जो अपने को बारबार मारता है--बचाता नहीं--वह आत्महत्यारा है ॥ ९ ॥ प्रति जन्म में आत्मघात होता है। उन जन्मों की गणना कौन करे? इस प्रकार जन्म-मृत्यु कब बन्द हो सकती है? ॥ १० ॥ यह बात तो प्राणिमात्र कहते हैं कि, ईश्वर सब कुछ करता है। परन्तु उसकी भेंट का लाभ बहुत कम (विरले ही को) होता है ॥ ११ ॥ विवेक के लाभ से परमात्मा मिलता है और विवेक विवेकी पुरुषों को मिलता है ॥ १२ ॥ परमात्मा एक है; पर वह बनाता अनेक है, उस अनेक (दृश्य) को एक (परमात्मा) न कहना चाहिए ॥ १३ ॥ देव का कर्तृत्व और देव, दोनों का अभिप्राय मालूम होना चाहिए। कितने ही लोग बिना जाने ही व्यर्थ बक बक किया करते हैं ॥ १४ ॥ मूर्खता से व्यर्थ बोलते हैं, और कुछ नहीं; ऐसे लोग चतुरता दिखाने के लिए बोलते हैं; परन्तु वास्तव में सच्चे चातुर्य के प्रकट करने की जरूरत ही नहीं पड़ती--वह स्वयं प्रकट हो जाता है ॥ १५ ॥ जो बहुत कष्ट सह कर उपाय करता है वह भाग्यवान् होकर सुख पाता है और अभागी लोग बोलते ही रहते हैं ॥ १६ ॥ अभागी का अभाग्य-लक्षण विचक्षण पुरुष समझ जाते हैं; परन्तु भले आदमी के उत्तम लक्षण अभागी को नहीं मालूम होते ॥ १७ ॥ उसकी कुबुद्धि बढ जाती है; उसे होश कहां रहता है? उसे कुबुद्धि ही सुबुद्धिसी जान पड़ती है ॥ १८ ॥ बेहोश मनुष्य की कौन सी बात सच मानी जाय? उसके पास विचार के नाम पर तो शून्य है ॥ १९ ॥ विचार से इहलोक परलोक दोनों बनते हैं, जन्म सार्थक होता है, इस लिए विचार से नित्य-अनित्य का विवेक करना चाहिए ॥ २० ॥

आठवाँ समास--अन्तर्देव-निरूपण।

॥ श्रीराम ॥

ब्रह्म निराकार और निश्चल है, आत्मा विकारी और चंचल है; पर सब लोग उसे देव कहते हैं ॥ १ ॥ देव का पता ही नहीं लगता। एक देव का निश्चय नहीं मालूम होता। बहुत देवों में एक देव अनुमान में नहीं आता ॥ २ ॥ इस लिए विचार करने की आवश्यकता है, विचार ही से देव की खोज करनी चाहिए। बहुत देवों का गड़बड़ पड़ने ही न देना चाहिए ॥ ३ ॥ तीर्थक्षेत्र में देव की प्रतिमा देख कर लोग उसीके

समान धातु की देवप्रतिमाएं बनाने लगे और इसी प्रकार पृथ्वी में यह चाल चल गई ॥ ४ ॥ केवल क्षेत्रदेव ही नाना प्रकार के प्रतिमादेवों का मूल है। इस भूमंडल में नाना क्षेत्रों को खोज कर देखना चाहिए ॥ ५ ॥ क्षेत्रदेव पाषाण का होता है। उसका यदि विचार किया जाय तो जान पड़ता है कि उसका मूलतंतु अवतार की ओर है ॥ ६ ॥ अवतार लेकर—देह धारण करके—देव बर्ताव करते हैं और अन्त में उनका अवतार समाप्त हो जाता है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश उनमें भी बड़े गिने जाते हैं ॥ ७ ॥ परन्तु इन तीनों देवों पर जिसकी सत्ता है वह अन्तरात्मा ही है। वास्तव में कर्ता भोक्ता प्रत्यक्ष वही है ॥ ८ ॥ अनेक युगों तक तीनों लोक का व्यापार वही एक चलाता है। यह निश्चय का विवेक वेदशास्त्र में देखना चाहिए ॥ ९ ॥ अन्तरात्मा ही चेतनारूप से, विवेकद्वारा, सारे शरीरों का व्यापार चलाता है ॥ १० ॥ वह अन्तर्देव (भीतर का देव) लोग भूल जाते हैं और दौड़ कर तीर्थों को जाते हैं—इस प्रकार बिचारे प्राणी, देव को न पहचान कर, कष्ट उठाते हैं ! ॥ ११ ॥ फिर मन में विचारते हैं कि, जहां देखो वहीं (तीर्थों में) पानी और पत्थर हैं; व्यर्थ वन वन घूमने से क्या होता है? ॥ १२ ॥ ऐसा विचार जिसको मालूम हो जाता है वह सत्संग करता है। सत्संग से बहुत लोगों को देव मिल चुका है ॥ १३ ॥ ऐसी ये विवेक की बातें विवेकी पुरुष निश्चय करके जान सकते हैं। अविवेकी लोग भ्रम में भूले रहते हैं; उन्हें ऐसी बातें मालूम नहीं होती ॥ १४ ॥ भीतर (अन्तःकरण में) प्रवेश करनेवाला ही पुरुष भीतर का हाल जान सकता है, और केवल बाहर बाहर का स्वरूप देखनेवाला कुछ नहीं जान सकता, इस लिए विवेकी और चतुर मनुष्य अन्तःकरण की खोज करते हैं ॥ १५ ॥ विवेक के बिना जो भक्ति है उसका होना न होने के बराबर है। कहते भी हैं कि, प्रतिमा-देव मूर्ख के लिए हैं ॥ १६ ॥ विचार करते हुए और समझते हुए जो अपना जीवन व्यतीत करता है वही उत्तम विवेकी है और वही बस्तों को (स्थूल दृश्य) छोड़ कर निरंजन-परब्रह्म-को प्राप्त करता है ॥ १७ ॥ जितना कुछ आकार को प्राप्त होता है वह सब नाश हो जाता है। वास्तव में जो सब गड़बड़ से अलग है उसे परब्रह्म जानना चाहिए ॥ १८ ॥ देव चंचल है और ब्रह्म निश्चल है, परब्रह्म में भ्रम नहीं है, प्रत्यय ज्ञान (अनुभवजन्य ज्ञान) से भ्रम दूर हो जाता है ॥ १९ ॥ प्रतीति बिना जो कुछ किया जाता है वह सब व्यर्थ जाता है और प्राणी कष्ट ही कष्ट में रह कर, कर्म-कचाटे में पड़ कर, मर जाते हैं ॥ २० ॥ यदि कर्म से अलग नहीं होना है (यदि उसके फल ही इच्छा करना है)

तो फिर ईश्वर का भजन करना ही क्यों चाहिए? यह बात विवेकी पुरुष स्वभाव से ही जानते हैं--मूर्ख नहीं जानते ॥ २१ ॥ कुछ विचार करने पर मालूम हो जाता है कि, जगत् के अन्तर (भीतर) में परमेश्वर है । सगुण से ही, निश्चय करके, निर्गुण मिलता है ॥२२॥ सगुण का विचार करते हुए, उसके मूल तक जाने पर, सहज ही निर्गुण मिल जाता है और संगत्याग से स्वयं ब्रह्मरूप होकर प्राणी मुक्त हो जाता है ॥ २३ ॥ परमेश्वर का अनुसन्धान लगाने से पावन होते हैं । मुख्य ज्ञान से ही ' विज्ञान '--मोक्ष--मिलता है ॥ २४ ॥ इन विवेक की बातों का सुचित अन्तःकरण से विचार करना चाहिए । नित्य-अनित्य-विवेक के श्रवण से जगत् का उद्धार होता है ॥ २५ ॥

नववाँ समास—निद्रा-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

आदिपुरुष की वन्दना करके निद्राविलास (सुखनींद) का वर्णन करता हूं । गहरी निद्रा आ जाने पर जा नहीं सकती ॥ १ ॥ जब निद्रा शरीर में व्याप्त होती है तब आलस, जमुहाई और पेंड़ाई आती है । उनके कारण फिर बैठ नहीं सकते ॥ २ ॥ जल्दी जल्दी जमुहाइयां आती हैं; उन पर लोग चटचट चुटकियां बजाते हैं और झुक झुक कर खूब ऊंघते हैं ॥ ३ ॥ कोई आखें मुँदते हैं, किसीकी आखें लगती हैं और कोई चौंक कर चारों ओर देखते हैं ॥ ४ ॥ कोई उलट कर गिर पड़ते हैं--ब्रह्मवीणा फोड़ डालते हैं-डमरू के टुकड़े टुकड़े होते हैं तब भी उन्हें होश नहीं आता ! ॥ ५ ॥ कोई टेंक कर बैठते हैं और वहीं घर्रा बजाने लगते हैं, कोई खूब उताने होकर पसर जाते हैं ॥ ६ ॥ कोई घुसमुड़ा जाते हैं, कोई करवट लेकर सोते हैं और कोई चारों ओर चक्र की तरह फिरते हैं ॥ ७ ॥ कोई हाथ हिलाते हैं, कोई पैर हिलाते हैं और कोई कर्र-कर्र दांत किर्राते हैं ॥ ८ ॥ कोई वस्त्र निकल जाने के कारण नंगे ही लोटने लगते हैं और किसीकी पगड़ियां चारों ओर फैली रहती हैं ॥ ९ ॥ कोई अस्ताव्यस्त पड़े रहते हैं, कोई मुर्दा से दिखते हैं और किसीके दांत पसर जाने से, वे भूत से बुरे दिखते हैं ॥ १० ॥ कोई बर्राते हुए उठते हैं, कोई अँधेरे में भटकने लगते हैं और कोई ओंक पर जाकर

सो रहते हैं ॥ ११ ॥ कोई मटके उठाते हैं, कोई धरती ही टटोलने लगते हैं और कोई उठ कर मनमानी ओर चल देते हैं ॥ १२ ॥ कोई प्राणी बर्राते हैं, कोई हुसक हुसक कर रोते हैं और कोई मजे से खिल्ल खिल्ल हँसते हैं ! ॥ १३ ॥ कोई पुकारने लगते हैं; कोई चिल्लाते हैं और कोई चौंक कर अपनी ही जगह पर रह जाते हैं ॥१४॥ कोई क्षण क्षण में खरोंचते हैं, कोई सिर खुजालते हैं और खूब कांखने लगते हैं ॥ १५ ॥ किसीके लार बहती है, कोई पीक छोड़ता है और कोई मजे से लघुशंका कर देते हैं ॥ १६ ॥ कोई अपानवायु छोड़ते हैं, कोई खट्टी डकार डकारते हैं और कोई खँखार कर मनमानी जगह में थूक देते हैं ॥ १७ ॥ कोई हगते हैं, कोई ओंकते हैं, कोई खांसते हैं, कोई छींकते हैं और कोई उस नींदे स्वर से पानी मांगते हैं ॥ १८ ॥ कोई स्वप्न से व्याकुल हैं, कोई अच्छे स्वप्नों से संतुष्ट हैं और कोई सुषुप्ति के कारण गाढ़ बेहोशी में पड़े हैं ॥ १९ ॥ इधर भोर हो गया, कोई पढ़ना शुरू करता है और कोई प्रातःस्मरण या हरिकीर्तन का प्रारम्भ करता है ॥२०॥ कोई ध्यानमूर्ति का स्मरण करते हैं;कोई एकान्त में जप करते हैं और कोई नाना प्रकार से अपना गोखा हुआ पाठ याद करते हैं ॥ २१ ॥ अपनी अपनी नाना विद्याएं और नाना कलाएं सब सीखते हैं, कोई तानमान से गायनकला का अभ्यास करते हुए गाते हैं ॥ २२ ॥ पिछली निद्रा समाप्त होती है और जागृति प्राप्त होती है। इस लिए लोग अपने अपने व्यवसाय में लगते हैं ॥२३॥ इधर ज्ञाता तत्व (दृश्य) को लांघ जाता है, तुर्या के उस तरफ चला जाता है और आत्मनिवेदन से ब्रह्मरूप हो जाता है ॥ २४ ॥

दसवाँ समास–श्रवण-विक्षेप ।

॥ श्रीराम ॥

किसी कार्य के उद्योग में लगने से बीच में कुछ न कुछ विघ्न आ जाता है। परन्तु यदि समय की सहायता हुई–यदि समय अनुकूल हुआ–तो वह कार्य आप ही आप होते जाता है ॥ १ ॥ जब कार्य होने लगता है तब मनुष्य सुखी होता है और दिन पर दिन विचार सूझने लगता है ॥ २ ॥ जब कोई प्राणी अवतीर्ण होता है तब उसे कुछ न कुछ समय अनुकूल होता ही है और परमेश्वर कृपा करके दुःख के बाद सुख देता ही है ॥ ३ ॥ सम्पूर्ण काल यदि अनुकूल ही बना रहे तो सब ही लोग

राजा हो जायँ। बात तो यह है कि, कुछ काल अनुकूल रहता है और कुछ नहीं रहता ॥ ४ ॥ इहलोक या परलोक दो में से कोई भी बात साधने के लिए स्वाभाविक और अद्भुत विवेक होना ईश्वर की बख्शीस है ॥ ५ ॥ यह बात पृथ्वी पर न कभी देखी गई और न सुनी गई कि, किसीको सुने बिना कुछ मालूम हुआ हो या सिखाये बिना कोई चतुरता प्राप्त हुई हो ॥ ६ ॥ सुनने से सब कुछ मालूम होता है, मालूम होते होते वृत्ति शुद्ध होती है और सार-असार का निश्चय मन में बैठ जाता है ॥ ७ ॥ श्रवण कहते हैं सुनने को, मनन कहते हैं सुनी हुई बात बार बार विचार करने को-इन्हीं दोनों उपायों से तीनों लोक का व्यापार चलता है ॥ ८ ॥ श्रवण में जो अनेक प्रकार के विघ्न आते हैं, उन्हें कहां तक गिनावें ? परन्तु सावधान रहने से सब कुछ अनुभव में आ जाता है ॥ ९ ॥ श्रवण में जो लोग (पहले से) बैठते हैं वे व्याख्याता के बोलते बोलते एकाग्र हो जाते हैं; परन्तु पीछे से जो नये लोग आते हैं वे एकाग्र नहीं होते ॥ १० ॥ जो मनुष्य बाहर घूम आता है वह नाना प्रकार की बातें सुन आता है। इस लिए वह कुछ न कुछ हलचल किया ही करता है। चुप नहीं बैठता ॥ ११ ॥ मौका देख कर चलनेवाले मनुष्य बहुत कम होते हैं। अस्तु। अब श्रवण में जो विघ्न आते हैं वे सुनोः—॥१२॥

श्रवण में बैठने पर पहले तो पेंड़ाई आने लगती है और निद्रा के कारण जल्दी जल्दी जमुहाई आने लगती है ॥ १३ ॥ कोई सुचित्त हो कर बैठते हैं, परन्तु उनका मन ही नहीं लगता। वे पीछे सुनी हुई बातों को ही मन में रखे रहते हैं ॥ १४ ॥ शरीर को तो सुनने के लिए तत्पर करते हैं; पर मन में दूसरे ही विचार आते हैं। मन में जो कल्पनाएं आती हैं उनका विस्तार कहां तक बतलाया जाय? ॥ १५ ॥ सुनी हुई बातों का जब मनन किया जाता है तभी कुछ मतलब निकलता है ॥ १६ ॥ मन दिखता थोड़े ही है जो उसे पकड़ लें! इस लिए प्रत्येक को अपना अपना मन रोकना चाहिए और रोक कर विवेक से उसे अर्थ में प्रविष्ट करना चाहिए ॥ ७ ॥ निरुपण में बहुत भोजन करके जो बैठता है वह बैठते ही प्यास से व्याकुल होता है ॥ १८ ॥ ऐसा पुरुष तुरंत ही पानी माँगता है और " घट-घट-घट-घट " बहुत सा पी लेता है। इस कारण जी मचलाता है और वह उठ जाता है ॥ १९ ॥ खट्टी ड़कारें और हुचकियां आती हैं और यदि कहीं वायु सर गई तो फिर कुछ पूछिये ही नहीं! अनेक लोगों को बार बार लघुशंका के लिए उठना पड़ता है ॥ २० ॥ कोई दिशा के कारण घबड़ा जाता है और सब छोड़

कर निरूपण के समय भग खड़ा होता है ॥ २१ ॥ किसी किसी का मन दृष्टान्त की किसी अपूर्व बात ही में लगा रहता है और आगे की बातें वह सुन ही नहीं पाता ॥ २२ ॥ कोई ज्यों ही निरूपण में आकर बैठता है त्यों ही उसके बिच्छू टोंच देता है। ऐसी दशा में कहां का निरूपण? वह बिचारा व्याकुल हो जाता है ॥ २३ ॥ किसी के पेट में पीड़ा उठती है, पीठ में चिक जाती है अथवा दाद, खाज, फोड़ा आदि रोगों के कारण बैठा नहीं जाता ॥ २४ ॥ कोई पिस्सू के काटने से दुश्चित्त हो जाता है और कोई किसी बड़बड़ को सुन कर वहीं दौड़ा जाता है ॥२५ ॥ कोई कोई विषयी लोग कथा सुनते समय स्त्रियों ही की ओर देखा करते हैं। चोर लोग पादत्राण चुरा ले जाते हैं ॥ २६ ॥ कभी कभी 'हां' 'नहीं' का वादविवाद आ पड़ने पर भी बहुत खेद होता है ॥ २७ ॥ कोई कोई निरूपण में बैठ कर खूब बातें किया करते हैं। हरिदास (कीर्तनकार) लोग पेट के लिए 'रें रें' करते हैं ॥ २८ ॥ बहुत ज्ञाता यदि जमा हो जाते हैं तो एक के बाद एक बोलने लगता है। वहां श्रोता लोगों का आशय एक ही ओर रह जाता है ॥ २९ ॥ "मेरा है, तेरा नहीं" ऐसा कहने की जिसे सदा आदत है वह न्याय-नीति को छोड़ कर अन्याय की ओर दौड़ता है ॥ ३० ॥ कोई अपने बड़प्पन के लिए वाच्य-अवाच्य बोलने लगता है। जिसमें न्याय नहीं है उसे अन्त में परम अन्यायी कहें ही गे ॥ ३१ ॥ हम नहीं कह सकते कि, जो श्रोता लोग अभिमान में आकर संतप्त हो जाते हैं उन्हें सच्चे कहें या झूंठे? ॥३२॥ अतएव जो विचक्षण और बुद्धिमान् होते हैं वे पहले ही अनजानपन अपनी ओर ले लेते हैं। वे कहते हैं कि, हम तो भाई मूर्ख हैं, निरक्षर हैं, कुछ नहीं जानते ॥ ३३ ॥ जो परमात्मा को अपने से बड़ा समझता है वह संसार के सब लोगों सन्तुष्ट रखता है; क्योंकि सम्पूर्ण संसार में परमात्मा भरा हुआ है ॥ ३४ यदि सभा में कलह उठती है तो लोग ज्ञाता ही को दोष देते हैं। (वे कहते हैं कि), लोगों का मन नहीं रख सकता—यह कैसा योगी है? ॥ ३५ ॥ बैर करने से बैर ही बढ़ता है, अपने को दुःख सहना पड़ता है। इस लिए चतुर पुरुष के गूढ़ विचार मालूम होने चाहिए ॥ ३६ ॥ उत्तम पुरुष सदा सम्हाल सम्हाल कर चलते हैं; अपने ऊपर किसी प्रकार का दोष नहीं आने देते। वे क्षमा और शांति का व्यवहार अवश्य करते हैं ॥ ३७ ॥ अवगुणी के अवगुण गुणी पुरुष तुरन्त जान लेते हैं। विवेकी पुरुष अपने सब काम विवेक से करते हैं ॥ ३८ ॥ जो विवेक-बल से अनेक प्रकार क उपाय और दीर्घ प्रयत्न करता रहता है उसकी महिमा वही जान सकता है ॥ ३९ ॥ जिसके पास

विवेक नहीं होता उसे दुर्जन लोग फाँस लेते हैं और बेवकूफ लोग भी उसे खूब ही बना लेते हैं! ॥ ४० ॥ न्याय, 'पर्याय' और उपाय की अनेक युक्तियां मूर्ख को कैसे मालूम हो सकती हैं? ४१ ॥ परन्तु उस बिगडे हुए रंग को भी चतुर पुरुष फिर ठीक कर लेते हैं। वे स्वयं आत्मयज्ञ करते हैं और दूसरे से कराते हैं, तथा स्वयं प्रयत्न करते हैं और दूसरे से कराते हैं ॥ ४२ ॥ यों तो जगत् में तमाम मनुष्य ही मनुष्य भरे पड़े हैं; परन्तु उनमें सिर्फ वही सज्जन धन्य हैं कि, जिनके करण मनुष्य मात्र को समाधान मिले ॥ ४३ ॥ ऐसा सज्जन पुरुष लोगों की इच्छाओं को नाना प्रकार से परखता है; मान, प्रसंग, समय जानता है और सन्तप्त लोगों को अनेक भांति से शांत करना जानता है ॥ ४४ ॥ इसी प्रकार वह सम्पूर्ण संसार की बातें जानता है: वह विवेक से सब कुछ करने में समर्थ होता है। वह कैसे-क्या करता है, सो कुछ लोगों को मालूम ही नहीं होता! ॥ ४५ ॥ बहुत लोगों को कार्य में लगाये रहता है, नाना मंड़लों (समुदायों) की हलचल अपने हाथ में रखता है" ऐसा ही पुरुष विवेक से समर्थ* की पदवी पाता है ॥४६॥ परन्तु विवेक एकान्त में करना चाहिए-अपनी धारणाशक्ति से परमात्मा को धारण करना चाहिए और मनुष्यमात्र को अपना समझना चाहिए ॥ ४७ ॥ एकान्त में विवेक सूझता है; एकान्त में यत्न मिल जाता है, और एकान्त में तर्कनाशक्ति तमाम ब्रह्मांड पर मँड़राती है ॥ ४८ ॥ एकान्त में स्मरण करने से भूला हुआ खजाना भी मिल जाता है। एकान्त में बैठ कर अन्तरात्मा के साथ कुछ न कुछ विचार करना चाहिए ॥ ४९ ॥ जिसे एकान्त पसन्द आ गया उस का कार्य सब से पहले सिद्ध हो जाता है। बिना एकान्त के महत्त्व नहीं मिल सकता ॥ ५० ॥

* इस पद्य को श्रीसमर्थ रामदास स्वामी का आत्मचरित्र ही समझना चाहिए।

उन्नीसवाँ दशक।



पहला समास--लेखन-कौशल

॥ श्रीराम ॥

ब्राह्मणों को बालबोध (नागरी) अक्षरों का अभ्यास करके उन्हें इस प्रकार सुन्दर लिखना चाहिए कि, उसको देख कर ही चतुर पुरुषों को सन्तोष हो ॥ १ ॥ गोल, सरल, अलग अलग, चटकीली स्याही से, मुक्तामाला की तरह, अक्षरों की पंक्तियां लिखना चाहिए ॥ २ ॥ प्रत्येक अक्षर स्पष्ट होना चाहिए; बीच की जगह, कानामात्रा, रेफ, बेलांटी, इत्यादि, अक्षर के सम्पूर्ण अंग, ठीक होने चाहिए ॥ ३ ॥ पहला अक्षर जैसा हो वैसे ही सम्पूर्ण ग्रन्थ के अक्षर हों-'अथ' से 'इति' तक ग्रन्थ एक ही 'टाँक' से लिखा हुआ जान पड़ता हो ! ॥ ४ ॥ अक्षरों का कालापन, टाँक की मुटाई तथा मोड़ इत्यादि सब बराबर होना चाहिए ॥ ५ ॥ पंक्ति में पंक्ति न भिड़ जाना चाहिए; मात्रा, रेफ और बिन्दु इत्यादि एक में न मिल जाना चाहिए; तथा ऐसे लम्बे अक्षर न लिखना चाहिए कि, एक दूसरे से जा लगें ॥ ६ ॥ कागज के पत्रों पर शीश से लकीरें खींच कर ठीक ठीक लिखना चाहिए। पंक्तियों का अन्तर पास-दूर न होना चाहिए-बराबर बराबर होना चाहिए ॥ ७ ॥ इस प्रकार लिखना चाहिए कि फिर लिखे हुए को शोधने की आवश्यकता न हो, भूल ढूँढ़ने पर भी न मिले; और न लेखक से फिर कोई बात पूछनी ही पड़े ॥८॥ नूतन वयवाले (बालक) को सम्हाल सम्हाल कर लिखना चाहिए; ताकि उसकी लिखावट को देख कर सब लोग मोह जायँ ॥ ९ ॥ बहुत से लोग युवावस्था में बहुत बारीक अक्षर लिख देते हैं; पर बुढ़ापे में वे अपना ही लिखा नहीं पढ़ सकते; अतएव न बहुत बारीक और न बहुत मोटे-किन्तु मध्यम दरजे के अक्षर लिखना चाहिए ॥ १० ॥ पत्रे के आस-पास जगह (हाशिया) छोड़ देना चाहिए; और बीच में सुन्दर तथा स्पष्ट लिखना चाहिए; कागज चाहे घिसते घिसते घिस जाय पर अक्षर वैसे ही रहना चाहिए ॥ ११ ॥ इस प्रकार ग्रन्थ बना बना कर लिखना चाहिए कि; जिसे देख कर मनुष्यमात्र को वैसा ही लिखने की इच्छा हो और लोग यह कहने लगें कि, "भाई, इस लेखक को देखना चाहिए।"

॥ १२ ॥ शरीर से खूब परिश्रम करना चाहिए, अपनी उत्कट कीर्ति संसार में छोड़ जाना चाहिए और कोई न कोई विशिष्ट गुण दिखला कर लोगों को मोहित कर लेना चाहिए ॥ १३ ॥ मोटा कागज लाकर उसे सावधानी के साथ घोंटना चाहिए और लिखने का सामान भी भांति भांति का होना चाहिए ॥ १४ ॥ चाकू, कैंची, लकीर खींचने का यंत्र, शीशे, घोंटा, अनेक प्रकार के सुरंग, सब सामान होना चाहिए ॥ १५ ॥ देश-देशान्तर की चिकनी, बारीक, सीधी और अनेक रंगों की किलके एकत्र करना चाहिए ॥ १६ ॥ टाँक बनाने का यंत्र, लकीरें खींचने का यंत्र और शीशे की गोलियां, इत्यादि अनेक सामान चित्रविचित्र होना चाहिए ॥ १७ ॥ सूखा और गीला ईंगुर का रंग रखना चाहिए। इसके सिवाय नाना प्रकार के रंगों को अलग अलग रुई में भिगो कर रख लेना चाहिए। यह मसि-संग्रह की रीति है ॥ १८ ॥ ग्रन्थ की 'इति श्री' नाना प्रकार के सुन्दर चित्रों से चित्रित करना चाहिए। चित्र खींचने का सामान भी देशदेशान्तरों का होना चाहिए ॥ १९ ॥ नाना प्रकार की निवार, वेष्ठन, लाल रंग के मोमजामे, पेटिकाएं, ताले इत्यादि अनेक समान पुस्तकों को सुरक्षित रखने के लिए चाहिए* ॥ २० ॥

दूसरा समास—चतुरता का बर्ताव।

॥ श्रीराम ॥

पिछले समास में लिखने की रीति बतलाई गई; अब अनेक प्रकार के अर्थों के जानने की रीति सुनो। सब प्रकार की बातें समझ लेना चाहिए ॥ १ ॥ शब्दभेद, अर्थभेद, मुद्राभेद, प्रबंधभेद और नाना ध्वनियों के ध्वनि-भेद जान लेना चाहिए ॥ २ ॥ नाना आशंका, उत्तर-प्रत्युत्तर, प्रतीति, साक्षात्कार, आदि जान लेना चाहिए; क्योंकि इन बातों से लोगों का अन्तःकरण प्रसन्न होता है ॥ ३ ॥ नाना प्रकार के पूर्वपक्ष, सिद्धान्त और अनुभव अच्छी तरह जानना चाहिए। सन्देहपूर्ण अस्ताव्यस्त बातें न बोलना चाहिए ॥ ४ ॥ प्रवृत्ति हो, चाहे निवृत्ति हो, बिना प्रतीति (अनुभव) के सारी भ्रांति ही है। बिना अनुभव के मनुष्य ऐसा ही है जैसे मिट्टी

* इस समास से उस समय की लेखनप्रणाली पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

की कुलड़ी ! उसकी जगज्ज्योति (अनुभव बिना) कैसे चेत सकती है ? ॥ ५ ॥ हेतु समझ कर उत्तर देना चाहिए । दूसरे के जी की बात समझनी चाहिए । यही मुख्य चातुर्य के लक्षण हैं ॥ ५ ॥ चतुरता के बिना कोई प्रयत्न काम नहीं दे सकता; चातुर्य के बिना सारी विद्या व्यर्थ है । बिना चतुरता के समाजों में बड़ी कठिनाई आ पड़ती है—लोगों का समाधान ही नहीं होता ॥७॥ दूसरे की बहुत बातें चुप होकर सुनते रहना चाहिए; स्वयं कुछ न बोलना चाहिए; परन्तु सब के मन का भाव अपनी चतुराई से, थोड़े ही में समझ लेना चाहिए ॥ ८ ॥ बेवकूफों में बैठना न चाहिए, उद्धट मनुष्य से बहुत बात न करना चाहिए और अपने लिये किसीका समाधान भंग न करना चाहिए ॥ ९ ॥ अनजानपन (दीनता) छोड़ना न चाहिए, जानपन से फूलना (गर्व करना) न चाहिए और सब लोगों का हृदय मृदु शब्दों से प्रसन्न रखना चाहिए ॥ १० ॥ प्रसंग अच्छी तरह परखना चाहिए, बहुतों की अप्रसन्नता न लेनी चाहिए, सत्य कह कर भी सभा का मनोभंग न करना चाहिए ॥ ११ ॥ पता लगाने में आलस्य न करना चाहिए, भ्रष्ट लोगों में बैठना न चाहिए। और यदि बैठे तो मिथ्या दोष न कहना चाहिए ॥ १२ ॥ आर्त मनुष्य का अन्तर (अन्तःकरण) परखना चाहिए। पढ़े चाहे थोड़ा ही, पर समझना बहुत चाहिए। भले आदमी को अपने गुणों से मोह लेना चाहिए ॥ १३ ॥ मजलिस में न बैठना चाहिए, भोजन-प्रसंग में न जाना चाहिए । क्योंकि वहां जाने से अपनी हीनता होती है ॥ १४ ॥ उत्तम गुण प्रकट करते हुए सब से बोलने में आनन्द आता है । भले आदमी देख कर—अच्छी तरह खोज कर—तब उन्हें अपना मित्र बनाना चाहिए ॥ १५ ॥ उपासना के अनुसार बोलना चाहिए, सब लोगों को सन्तुष्ट रखना चाहिए और सब की सब प्रकार से प्रतिष्ठा रखना चाहिए ॥ १६ ॥ पहले जगह जगह सब बातों का पता लगा कर फिर ग्राम में प्रवेश करना चाहिए और मनुष्यमात्र से भाई का सा प्रेम रख कर बोलना चाहिए ॥ १७ ॥ ऊंचा-नीचा किसी को न कहना चाहिए, सब का हृदय शीतल करना चाहिए । सूर्यास्त के समय कहीं न जाना चाहिए ॥ १८ ॥ मनुष्य में वाणी एक ऐसी चीज है कि जिसके कारण संसार मित्र बन सकता है। सर्वत्र सत्पात्र पुरुषों को खोजना चाहिए ॥ १९ ॥ जहां कथा वार्ता होती हो वहां जाना चाहिए और सब से दूर दीन की तरह, बैठना चाहिए; तथा वहीं से उसका सब अभिप्राय जान लेना चाहिए ॥ २० ॥ वहां सज्जन पुरुष मिलते हैं, बड़े बड़े प्रभावशाली लोग भी मालूम हो जाते हैं, इस प्रकार सब जान बूझ कर, फिर, धीरे धीरे उनमें मिलने का प्रयत्न करना चाहिए

॥ २१ ॥ सब में श्रेष्ठ श्रवण है, श्रवण से भी बड़ा मनन है। मनन से बहुत लोगों का समाधान होता है। ॥ २२ ॥ धुर्तता (विशिष्ट चातुर्य) के साथ सब जान लेना चाहिए, भीतर ही भीतर मन में सब कुछ खचित कर लेना चाहिए। बिना समझे तकलीफ क्यों उठाना चाहिए ॥ २३ ॥

तीसरा समास–अभागी के लक्षण।

॥ श्रीराम ॥

अन्तःकरण सुचित्त करके अभागी के लक्षण सुनो। इन्हें त्यागने से भाग्यवान् के लक्षण आ जाते हैं ॥ १ ॥ पाप से दरिद्र मिलता है, दरिद्र से पाप संचित होता है–सदा ऐसा ही हुआ करता है ॥ २ ॥ इस कारण अभागी के लक्षण सुन कर उनका त्याग ही करना चाहिए। ऐसा करने से कुछ भाग्यवान् के लक्षण प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥ अभागी को आलस अच्छा लगता है, यत्न कभी नहीं सुहाता और उसकी वासना सदा अधर्म में लगी रहती है, ॥ ४ ॥ वह सदा भ्रमिष्ट और उसनींदा रहता है, यों ही अट्ट–सट्ट बोलता है जो किसीको पसन्द नहीं आता ॥ ५ ॥ वह लिखना–पढ़ना नहीं जानता, सौदा–सुल्प नहीं कर सकता, हिसाब-किताब नहीं रख सकता और उसमें धारणाशक्ति भी नहीं होती ॥ ६ ॥ वह खोता है, छोड़ता है, गिराता है, फोड़ता है, भूलता है, चूकता है; उसमें नाना अवगुण होते हैं। उसे भले की संगति कभी नहीं अच्छी लगती ॥ ७ ॥ बदमाश साथी जोड़ता है, कुकर्मी को मित्र बनाता है, चोर पापी और नटखटों को इकट्ठा करता है ॥ ८ ॥ जिससे देखो उसीसे कलह करता है, सदा चोरी करता है, परघात करने में बड़ा प्रवीण होता है, रास्ते में लूटता है ॥ ९ ॥ उसमें दूरदर्शिता नहीं होती, उसे न्याय, नीति नहीं रुचती और सदा दूसरे की वस्तु लेने की अभिलाषा रखता है ॥ १० ॥ आलस से कुछ दिन शरीर पलता है, परन्तु पेट को जब नहीं होता तब काम नहीं चलता, पहरने ओढ़ने को चींथड़े भी नहीं मिलते ॥ ११ ॥ आलस से देह पोसता है, सदा कोख खुजलाता है और दिनरात सोया करता है ! ॥ १२ ॥ लोगों से मित्रता नहीं करता; कठोर वचन बोलता है और मूर्खता के कारण किसीका रोका नहीं मानता ॥ १३ ॥ पवित्र लोगों से मिलने में संकोच करता है, मैले–कुचैले लोगों में निःशंक दौड़ कर जाता है, और जिस बात की लोग निन्दा करते हैं

वही उसे सदा अच्छी लगती है ॥ १४ ॥ परोपकार का तो वह नाम भी नहीं जानता; अनेकों का संहार करता है; वह सब प्रकार से निरंकुश, पापी, अनर्थी और मूर्ख होता है ॥ १५ ॥ शब्द सँभाल कर नहीं बोलता, रोकने से मानता नहीं, और उसका बोलना किसीको पसन्द नहीं आता ॥ १६ ॥ किसीका विश्वास नहीं है, किसीसे मैत्री नहीं है, विद्या-वैभव कुछ भी नहीं है, योंही अकड़ता है ! ॥ १७ ॥ यदि कोई उससे कहता है कि, "जब बहुत लोगों का मन प्रसन्न रखा जाता है तब कहीं सौभाग्य प्राप्त होता है;" तो ऐसी विवेक की बातें वह सुनता नहीं ॥ १८ ॥ स्वयं अपने को मालूम नहीं है; सिखाने से सुनता नहीं है-ऐसे पुरुष के लिए नाना उपाय क्या कर सकते हैं ? ॥ १९ ॥ बहुत कुछ सोचता है; मनोराज्य करता है; परन्तु प्राप्त कुछ भी नहीं होता-इस प्रकार वह सदा संदेह में पड़ा रहता है ॥ २० ॥ वह पुण्यमार्ग छोड़ देता है; फिर उसके पाप दूर हों तो किस तरह ? निश्चय कुछ भी नहीं करता; सन्देह में पड़े पड़े सत्यानाश करता है ॥ २१ ॥ अच्छी तरह कोई बात जानता नहीं है; पर तो भी सभा में बिना बोले नहीं रहा जाता ! सभा में बोलने के कुछ न जानने के कारण, वह लोगों के सम्मुख बेवकूफ और लबाड़ बन बैठता है ॥ २२ ॥ जिसका कुछ निश्चय बहुत लोगों को मालूम हो जाता है वही मनुष्य संसार में मान्य होता है ॥ २३ ॥ बिना कष्ट सहे कीर्ति कहां मिल सकती है ? मुफ्त में मान नहीं मिलता। अवलक्षणों से तो चारों ओर शिकायत होती है ॥ २४ ॥ जो भले की संगती नहीं करता और अपने को चतुर नहीं बनाता वह अपना आप ही बैरी है-वह स्वहित नहीं जानता ॥ २५ ॥ लोगों के साथ जो भलाई की जाती है, उसका बदला तुरंत ही अपने को मिलता है। यह बात उस अभागी के जी में नहीं आती ॥ २६ ॥ उत्तम गुण न होना अभागीपन का लक्षण है। जो बहुतों को पसन्द नहीं है वह स्वाभाविक ही अवलक्षण है ॥ २७ ॥ कोई भी काम को, किये बिना नहीं होता। जो निकम्मा होता है वह दुःखप्रवाह में बहता ही चला जाता है ॥ २८ ॥ जो पुरुष बहुतों को मान्य नहीं है उसके बराबर पातकी दूसरा नहीं है। ऐसा पुरुष सब जगह निराश्रय रह कर दीनरूप रहता है ॥ २९ ॥ इस कारण अवगुण त्यागने चाहिए, उत्तम गुण समझ कर ग्रहण करने चाहिए। ऐसा करने से सब बातें अपने अनुकूल होती हैं ॥ ३० ॥

चौथा समास—भाग्यवान् के लक्षण।

॥ श्रीराम ॥

पीछे अभागी के लक्षण बतलाए; उन सब को, विवेक से जान कर; छोड देना चाहिए। अब भाग्यवान् के लक्षण, जो परम सुखदायक हैं, सुनो ॥ १ ॥ भाग्यवान् पुरुष स्वाभाविक ही गुणवान् होता है, वह नाना प्रकार से परोपकार करता है और सदा सब को प्यारा होता है ॥२॥ वह सुन्दर अक्षर लिखना जानता है, तेजी के साथ और शुद्ध पढ़ना जानता है, और अनेक प्रकार के अर्थ आदि सब कुछ बतलाना जानता है ॥ ३ ॥ किसीका मन नहीं तोड़ता, भलों की संगति नहीं छोड़ता और अन्य भाग्यवानों के लक्षण अपने विचार में ले आता है ॥ ४ ॥ वह सब जनों को प्यारा होता है, जहां जाता है वहीं वह लोगों को नित्य नया मालूम होता है-मूर्खता के कारण, सन्देह के जाल में वह कभी नही पड़ता ॥ ५ ॥ जिन पुरुषों में नाना उत्तम गुण होते हैं—जो सत्पात्र हैं—वे ही मनुष्य जगत् के मित्र हैं। ऐसे पुरुषों की कीर्ति प्रकट होती है—वे सदा स्वतंत्र रहते हैं—पराधीन नहीं रहते ॥ ६ ॥ भाग्यवान् पुरुष सब का अन्तःकरण संतुष्ट रखता है, बहुत ग्रन्थों का अवलोकन करता है और अपना निश्चय कभी नही छोड़ता ॥ ७ ॥ नम्रता के साथ पूछना जानता है, ठीक अर्थ बतलाना जानता है, कहने के अनुसार, उत्तम क्रिया का आचरण करना जानता है ॥ ८ ॥ जो बहुत लोगों को प्यारा है उससे कोई चूं नहीं कर सकता। वह महापुरुष दैदीप्यमान् पुण्यराशि होता है ॥ ९ ॥ वह परोपकार करता ही रहता है, उसकी सब को जरूरत बनी रहती है, ऐसी दशा में उसे भूमंड़ल में किस बात की कमी रह सकती है? ॥ १० ॥ बहुत लोक उसकी प्रतीक्षा किया करते हैं-वह सब के पास तत्काल, समय पर, पहुँच कर जा खड़ा रहता है। उसे किसीकी हीनता पसन्द नहीं आती ॥ ११ ॥ चौदह विद्या, चौसठ कला, संगीत-गायन कला वह जानता है और आत्मविद्या की शक्ति भी उसमें बहुत होती है ॥ १२ ॥ सब से नम्रता के साथ बोलता है, सब का मन रख कर चलता है और किसीकी किसी प्रकार हीनता नहीं होने देता ॥ १३ ॥ न्याय-नीति, भजन और मर्यादा से चल कर सदा समय सार्थक करता है। उसके पास दरिद्रता की आपदा आ ही कैसे सकती है? ॥ १४ ॥ वह उत्तम गुणों से भूषित रहता है, बहुतों में शोभित होता है और प्रगट प्रताप से मार्तण्ड़ की तरह, उदित रहता है ॥ १५ ॥ जहां जानकार पुरुष होगा वहां कलह कैसे उठ सकती है? ॥ १६ ॥ भाग्यवान् पुरुष सांसारिक सुखों के लिए राजनैतिक दावँ-पेंच (राजकारण) जानता है

और परमार्थ प्राप्त करने के लिये अध्यात्म-विवरण जानता है, वह सब में जो उत्तम गुण हैं, उनका भोक्ता होता है ॥ १७ ॥ उसकी यह चाल कदापि नहीं रहती कि, आगे और कुछ कहता हो तथा पीछे और कुछ रहता हो। उस पुरुष की सब को आवश्यकता ही रहती है ॥ १८ ॥ वह ऐसा बर्ताव नहीं करता कि, जिससे किसी के हृदय को चोट पहुँचे, किन्तु वह सब प्रकार से विवेक प्रगट करता है ॥ १९ ॥ उसके पास से कर्मविधि, उपासनाविधि, ज्ञानविधि, वैराग्यविधि, और विशाल ज्ञातृत्व की बुद्धि टल कैसे सकती है? ॥२०॥ उसके पास उत्तम ही उत्तम गुण होते हैं; फिर उसे बुरा कोई कैसे कह सकता है? वह आत्मा की तरह सब घटों में सम्पूर्ण व्यापक रहता है ॥ २१ ॥ जिस प्रकार छोटे-बड़े सब लोग अपने कार्य में तत्पर रहते हैं उसी प्रकार वह मन से सब का उपकार करता रहता है ॥ २२ ॥ दूसरे के दुःख से दुःखी और दूसरे के सुख से सुखी होकर वह सदा यही इच्छा रखता है कि, सभी सुखी रहें ॥ २३ ॥ छोटे-बड़े, सब लड़कों पर जिस प्रकार पिता का मन एकसमान ही लगा रहता है उसी प्रकार वह महापुरुष सब की बराबर चिन्ता रखता है ॥ २४ ॥ जो किसी का दुःख नहीं देख सकता, सदा निस्पृह रहता है, धिक्कारने पर भी बुरा नहीं मानता वही महापुरुष है ॥ २५ ॥ मिथ्या शरीर की यदि किसी ने निन्दा भी की तो इससे उसका क्या गया? ज्ञाता को कहीं देहबुद्धि जीत सकती है? ॥ २६ ॥ यह नहीं हो सकता; ज्ञाता देह से भिन्न है। अस्तु। कुछ न कुछ उत्तम गुण संसार में दिखाना चाहिए ॥ २७ ॥ उत्तम गुण की ओर मनुष्य आकर्षित होता है, बुरे गुण से मनुष्य को खेद होता है। मामूली लोग यह तीक्ष्ण बुद्धि की बात क्या जानें? ॥ २८ ॥ जब लोगों को यह प्रतीति आ जाती है कि, यह लोगों को अत्यन्त क्षमा करता है तब वे लोग उस पुरुष की, नाना प्रकार से, सहायता करते हैं ॥ २९ ॥ बहुत लोग अपने को बड़ा समझते हैं; पर अपने समझने से क्या हुआ; जब तक कि उसको सब लोग बड़ा न समझें। महापुरुष धीर, उदार और गम्भीर होता है ॥३०॥ जितने उत्तम गुण हैं वे सब समर्थ के लक्षण हैं। तथा अवगुणों को अभागी के लक्षण समझना ही चाहिए ॥ ३१ ॥

पाँचवाँ समास--देह की उपयोगिता !

॥ श्रीराम ॥

मिट्टी, पत्थर, सोना, रूपा, कांसा; पीतल तांबा, आदि अनेक धातुओं के देव और चित्रलेप पूजे जाते हैं ॥ १ ॥ रुई की लकड़ी के देव; प्रवाल (मूंगा) के देव, बाण, तांदले, नर्मदेश्वर, शालिग्राम, काश्मीरी देव, सूर्यकांत और सोमकांत भी पूजे जाते हैं ॥ २ ॥ कोई देवतार्चन में ताम्र और हेम के सिक्के पूजते हैं और चक्रांकित चक्रतीर्थ से ले आते हैं ॥ ३ ॥ उपासना के अनेक भेद हैं; कहां तक विस्तार किया जाय? अपनी श्रद्धा के अनुसार सभी उपासना करते हैं ॥ ४ ॥ पर पहले उन सब का कारण जो 'स्मरण' है उसका विचार करना चाहिए। सब देवता उसी के अंश हैं ॥ ५ ॥ आदि में द्रष्टा देव एक ही है। उसी के अनेक हो गये हैं। विवेक से यह बात ध्यान में आ जाती है ॥ ६ ॥ देह के बिना भक्ति नहीं हो सकती और न परमेश्वर प्रसन्न हो सकता है। इस लिए भजन का मूल देह ही है ॥ ७ ॥ यदि देह पहले ही से व्यर्थ मान लिया जाय, तो भजन कैसे हो सकता है? सारांश, देह और आत्मा के ही योग से भजन हो सकता है ॥ ८ ॥ देह के बिना ईश्वर का भजन-पूजन, महोत्सव इत्यादि बातें कैसे हो सकती हैं? ॥ ९ ॥ अतर, चन्दन, पत्र, पुष्प, फल, तांबूल, धूप, दीप, नैवेद्य आदि से देह के बिना, पूजा किस प्रकार हो सकती है? ॥ १० ॥ देव का तीर्थ लेना, उसके चन्दन लगाना, उस पर पुष्प चढ़ाना, इत्यादि बातें देह बिना कैसे हो सकती हैं? ॥ ११ ॥ सारांश, देह के बिना कोई काम नहीं हो सकता; देह से ही भजन हो सकता है ॥ १२ ॥ देव, देवता, भूत (प्राणिमात्र), दैवत, इत्यादि सब में परमात्मा भरा हुआ है; अतएव योग्यता के अनुसार सब को प्रसन्न रखना चाहिए ॥ १३ ॥ सब का जो सन्मान किया जाता है वह मूल (परमात्मा) को प्राप्त होता है ॥ १४ ॥ मायावल्ली फैली हुई है, नाना प्रकार के देहफलों से लदी हुई है, फलों में मूल की चेतना मालूम हो जाती है ॥ १५ ॥ इस लिए उदासीनता न दिखलाना चाहिए। जो देखना हो वह यहीं देख लेना चाहिए और विश्वास हो जाने पर समाधान से रहना चाहिए ॥ १६ ॥ अनेक प्राणी संसार छोड़ कर देव को ढूँढते फिरते हैं, परन्तु वे जहां जाते हैं वहां नाना प्रकार के संदेहों में पडते हैं ॥ १७ ॥ सर्वसाधारण लोगों में से कोई तो घर में ही देवतार्चन करते हैं और कोई इधर उधर भ्रमण करके क्षेत्रों के देवताओं का दर्शन करते हैं ॥ १८ ॥ अथवा नाना अवतारों की ही कथा सुन कर अपना निश्चय करते हैं; परन्तु उसका विस्तार बड़ा है ॥ १९ ॥ कोई

ब्रह्मा, विष्णु, महेश की कथा सुन कर उन्हीं को बड़ा मानते हैं; परन्तु सबसे पहले उस गुणातीत जगदीश को देखना चाहिए ॥२०॥ परन्तु उस जगदीश्वर का तो कहीं ठौर ठिकाना ही नहीं है; भजन किया जाय तो कहां? यह बड़े संदेह की बात है ॥ २१ ॥ जब उस परमात्मा का दर्शन ही नहीं कर सकते तब पवित्र कैसे होंगे? अतएव साधु लोग, जो सब जानते हैं, उन्हें धन्य है ॥ २२ ॥ पृथ्वीमण्डल में अनेक देवता हैं; उन पर अविश्वास किया नहीं जा सकता और इधर मुख्य देवता, (परमात्मा) अनेक प्रयत्न करने पर भी, मालूम नहीं होता ॥ २३ ॥ तो, कार्य (माया, दृश्य) को अलग करके, तब उस परमात्मा को देखना चाहिए; तभी कुछ गौप्य या गुह्य मालूम हो सकता है ॥ २४ ॥ वह न दिखता है न भासता है, वह कल्पान्त में भी नाश नहीं होता और सुकृत के बिना उस पर मन विश्वास नहीं करता ॥ २५ ॥ कल्पना बहुत तर्कना करती है, वासना बहुत इच्छा करती है और अन्तःकरण में नाना तरंगें उठती हैं ॥ २६ ॥ इस लिए जो कल्पना-रहित है वही वस्तु शाश्वत है, उसका अन्त नहीं है, इसी लिए उसे अनंत कहते हैं ॥ २७ ॥ उसे ज्ञान-दृष्टि से देखना चाहिए, देख कर वहीं रहना चाहिए, निदिध्यास तथा संगत्याग से तद्रूप होना चाहिए ॥ २८ ॥ उसकी अनन्त लीलाएं और अनेक विचित्रताएं यह बिचारा क्षुद्र जीव क्या जान सकता है? परन्तु सन्तसमागम से, स्वानुभव होने पर, वह स्थिति प्राप्त होती है ॥ २९ ॥ और उस स्थिति के प्राप्त होने पर अधोगति मिट जाती है। इस प्रकार सद्गुरु की सेवा से तत्काल सद्गति मिलती है ॥ ३० ॥

छठवाँ समास—बुद्धिवाद।

॥ श्रीराम ॥

परमार्थी और विवेकी पुरुष का कार्य सब को पसन्द आता है; क्योंकि वह सब काम विचारपूर्वक करता है और भूल नहीं पड़ने देता ॥ १ ॥ जो बात लोगों को पसन्द नहीं आती वह बात उक्त पुरुष कभी करता ही नहीं। वह आदि से अन्त तक, सब बातें समझ लेता है ॥ २ ॥ जो स्वयं निस्पृहता का आचरण नहीं करता उसका कहना भी कोई नहीं मानता। बात तो यह है, कि इस जगद्रूप परमात्मा को राजी

रखना कठिन है ॥ ३ ॥ कोई जबरदस्ती मंत्र देकर गुरु बनना चाहते हैं। कोई किसीको मध्यस्थ नियत करके गुरु बनने का प्रयत्न करते हैं; पर ऐसे मनुष्य, लालच के कारण, स्वाभाविक ही लोगों की दृष्टि से उतर जाते हैं ॥ ४ ॥ जिसे विवेक बतलाना है वही यदि प्रतिकूल हुआ तो फिर आगे का 'कारबार' कैसे बन सकता है? ॥ ५ ॥ कभी कभी क्या देखा गया है कि, भाई का गुरु भाई ही बन बैठता है; पर इससे आगे चल कर बड़ी बुराई पैदा हो जाती है; अतएव पहचान के लोगों में महन्तपन न फैलाना चाहिए ॥ ६ ॥ ऐसा करते हुए पहले तो अच्छा लगता है; पर पीछे से गड़बड़ मचता है। विवेकी पुरुष ऐसी बात को कैसे पसन्द कर सकते हैं? हां, अविचारी लोग भले ही जमा हो जायँ! ॥ ७ ॥ पति शिष्य और पत्नी गुरु-यह भी एक विचित्र ही बात है! नाना प्रकार के भ्रष्टाकारों में यह भी एक है ॥ ८ ॥ विवेक प्रकट करके, लोगों से बतलाता नहीं-गुप्त रखता है और मुख्य निश्चय अनुमान में आने ही नहीं देता ॥ ९ ॥ अभिमान में आ जाता है, कोई विवेक बतलाता है तो उसे ग्रहण नहीं करता। ऐसे पुरुष दूरदर्शी साधु नहीं हो सकते ॥ १० ॥ मेरी राय तो यह है कि, किसीसे कुछ भी न माँगते हुए भगवद्भजन बढ़ाना चाहिए और विवेक-बल से लोगों को भजन में लगाना चाहिए ॥ ११ ॥ विवेक के साथ, दूसरे का मन रख कर, अपनी इच्छा स्वधर्म और लोकाचार के अनुसार (अर्थात् इन तीनों को सम्हालकर) काम करना बहुत कठिन है ॥ १२ ॥ यदि स्वयं किसी म्लेंछ को गुरु करके चमारों को शिष्य बनाते फिरे तो इससे समुदाय भ्रष्ट हो जायगा ॥ १३ ॥ अतएव ऐसा न करके ब्राह्मणमंडलियां एकत्र करनी चाहिए, भक्तमंडलियों का मान करना चाहिए ॥ १४ ॥ जो बात उत्कट और भव्य हो वही ग्रहण करना चाहिए, सभी संशयित बातों का त्याग करना चाहिए और निस्पृहता से भूमंडल में विख्यात होना चाहिए ॥ १५ ॥ लिखाना, पढ़ना, अर्थ कहना, गाना, नाचना और पाठ करना आदि सभी बातें अच्छी होनी चाहिए ॥ १६ ॥ दीक्षा और मैत्री अच्छी होनी चाहिए; 'राजकारण' (राजनीति-) विषयक तीक्ष्ण बुद्धि भी चाहिए पर अपने को नाना प्रकार से अलिप्त रखना चाहिए ॥ १७ ॥ हरिकथा से सदा सर्वदा प्रेम रहना चाहिए ताकि सम्पूर्ण लोगों को भी नामस्मरण से प्रीति हो। सूर्य की तरह प्रभावशाली उपदेश करना चाहिए ॥ १८ ॥ दुर्जनों को सँभालना, सज्जनों को प्रसन्न करना और सब के मन की बात जैसी की तैसी, जानना चाहिए ॥ १९ ॥ ऐसे साधु पुरुष की संगति से लोग सदाचरणी बनते हैं-उनमें उत्तम गुणों का तत्काल ही उत्थान होता है और सारा समुदाय, अखंड रीति से, अभ्यास में जुटता है ॥ २० ॥ वह पुरुष

जहां जाता है वहीं नित्य नया लगता है, लोगों का मन चाहता है कि यह यहीं बना रहे। परन्तु वह स्वयं लालच नहीं आने देता ॥ २१ ॥ उत्कट भक्ति, उत्कट ज्ञान, उत्कट चातुर्य, उत्कट भजन और उत्कट योगअनुष्ठान आदि सभी उत्कट गुणों का वह जगह जगह प्रचार करता रहता है ॥ २२ ॥ जो उत्कट निस्पृहता धारण करता है उसकी कीर्ति दिक्दिगंतर में फैलती है और उत्कट भक्ति से सारे देश का जन-समूह शान्ति प्राप्त करता है ॥ २३ ॥ कुछ न कुछ उत्कट बात जब तक मनुष्य में न होगी तब तक कीर्ति कदापि नहीं फैल सकती। व्यर्थ वन वन घूमने से क्या होता है? ॥ २४ ॥ देह का कुछ भरोसा नहीं है, न जाने कब उम्र व्यतीत हो जाय; कौन जानता है कि आगे कैसा प्रसंग (इस शरीर पर) आ पड़ेगा? ॥ २५ ॥ इस कारण सावधान रहना चाहिए, जितना अपने से हो सके उतना जीव जान तोड़ कर, परोपकार करना चाहिए और भगवत्कीर्ति से भूमंडल भर देना चाहिए ॥२६॥ अपने को जो कुछ अनुकूल हो, वह सब तत्काल–उसी दम–करना चाहिए और जो बात अपने से न हो सके उसे विमल विवेक से सोचना चाहिए ॥ २७ ॥ क्योंकि ऐसी तो कोई बात नहीं है जो विवेक में न आ सकती हो–एकान्त में विवेक प्रत्येक बात को अनुमान में ले ही आता है ॥ २८ ॥ जहां अखंड रीति से अनेक 'तजबीजें' और 'चेष्टायें' होती रहती हैं वहां कमी किस बात की? बिना एकान्त के मनुष्य की बुद्धि उपयोग में कैसे आ सकती है? ॥ २९ ॥ अतएव, एकान्त में विवेक करना चाहिए, आत्माराम को पहचानना चाहिए—यहां से वहां तक किसी प्रकार का गड़बड़ नहीं है ॥ ३० ॥

सातवाँ समास–प्रयत्नवाद!

॥ श्रीराम ॥

हरिकथा की धूम लोगों में मचा देना चाहिए, और आध्यात्म–निरूपण का व्याख्यान करना चाहिए। किसी विषय में न्यूनता न होने देना चाहिए ॥ १ ॥ उपदेशक यदि भूल जाता है तो यह बात उपदेशक ही जान सकता है, अन्य अज्ञान लोग टुकुर–टुकुर देखते रह जाते हैं ॥ २ ॥ किसी बात का समाधान करने में यदि वक्ता को देर लग जाती है तो श्रोता लोगों में उसका महत्त्व नहीं रहता ॥ ३ ॥ व्यर्थ बहुत न बक कर

थोड़े ही में समाधान कर देना चाहिए। यदि श्रोताओं पर क्रोध किया हो तो फिर उनका मन भी समझा देना चाहिए; सम्पूर्ण मनुष्यों का मन हरण कर लेना चाहिए ॥ ४ ॥ जिसमें सहनशीलता नहीं होती, व्यर्थ क्रोध दिखलाता है, उसकी तामस वृत्ति लोगों में प्रकट हो जाती है और श्रोता लोगों का प्रेम उस पर नहीं रहता ॥ ५ ॥ किन किन लोगों को राजी रखा और किनका किनका मनोभंग किया, इसकी क्षण क्षण पर परीक्षा करते रहना चाहिए ॥ ६ ॥ शिष्य तो विकल्प के कारण कुमार्ग से जाता है और गुरु भी लालच से उसके पीछे पीछे चलता है— यह सारा विकल्प ही समझिए ॥ ७ ॥ जो आशाबद्ध और क्रियाहीन है, जिसमें चातुर्य का लक्षण नहीं है, ऐसे महन्त की महंती की बड़ी दुर्दशा होती है ॥ ८ ॥ ऐसे गोस्वामियों का वजन (गौरव) नहीं रहता, वे ठौर ठौर में कष्टी होते हैं। इस प्रकार जब वेही स्वयं कष्ट उठाते हैं तब उनके साथ के लोग सुख कहां से पावेंगे ? ॥ ९ ॥ लोगों को राजी रख कर सब कार्य इस रीति से करना चाहिए कि, जिससे चारों ओर कीर्ति फैले और सब लोगों में उत्कंठा पैदा हो ॥ १० ॥ परकीय लोगों में रहते हुए, अलिप्त रह कर, समुदाय पर दृष्टि रखना चाहिए और किसी से कुछ न माँगना चाहिए-पूर्ण निस्पृहता चाहिए ॥ ११ ॥ जिस ओर जगत् (बहुमत) होता है उसी ओर जगन्नायक (परमेश्वर) होता है। यह विवेक मालूम होना चाहिए। विवेकी पुरुष रात दिन अनेक लोगों को सँभालते रहते हैं ॥१२॥ यह कैसे हो सकता है कि, स्वयं केवल अच्छा हो और सब लोग खराब हों? ॥१३॥ उजाड़ 'मुलक' में क्या देखें? लोगों को छोड़ कर कहां रहें? वाहियात और मिथ्या छोड़ कर, सत्य का ग्रहण करना चाहिए ॥ १४ ॥ अतएव, जिसे लोगों में बर्ताव करना नहीं आता है, उसे महन्ती से कुछ काम नहीं। ऐसे पुरुष को चाहिए कि, वह परत्रसाधन का उपाय श्रवण करके योंही बना रहे! ॥ १५ ॥ जो स्वयं भली तरह तैरना नहीं जानता उसे दूसरे लोगों को डुबाने से क्या मतलब ? ऐसी दशा में प्रेम-प्रीति तो व्यर्थ जाती है, सारा विकल्प ही रह जाता है ॥ १६ ॥ यदि लोगों को सँभालने का सामर्थ्य हो तो महंत बन कर प्रगट होना चाहिए; अन्यथा चुप ही रहना अच्छा! प्रगट होकर और फिर कार्य बिगाड़ना अच्छा नहीं ॥ १७ ॥ मन्द मन्द चलनेवाला, चपल चालाक को कैसे सम्हाल सकता है? सोचिये तो सही कि, अरबी (घोड़ा) फिरानेवाला कैसा होना चाहिए? (चालाक या मन्द ?) ॥ १८ ॥ ये काम बड़े अटपट हैं! ये तीक्ष्ण बुद्धि के रहस्य भोले—भाले भाव से कैसे जाने जा सकते हैं? ॥ १९ ॥ यदि खेत करके रखाया न जाय, व्यापार करके भ्रमण न किया जाय, और लोग इकट्ठा करके

उन्हें सम्हाल न सके (तो काम कैसे चल सकता है?) ॥ २० ॥ जब 'दिन दूना रात चौगुना' उत्साह बढ़ता है तभी परमार्थ प्राप्त होता है। घिस घिस मचाने से सारा समुदाय बिगड़ जाता है ॥ २१ ॥ अपनी बात यदि लोगों को पसन्द नहीं है, और लोगों की बात यदि अपने को पसन्द नहीं है, तो सारा विकल्प ही समझो। ऐसी दशा में समाधान का ठिकाना कहां? ॥ २२ ॥ जहां सत्यानाशी दीक्षा देनेवाले (गुरु) और ठग लोग (शिष्य) जमा होते हैं वहां विवेक कैसे रह सकता है? और जहां अविवेक का राज्य हो वहां रहना अच्छा नहीं ॥ २३ ॥ कई लोग बहुत दिन श्रम करते हैं; पर अन्त में सब व्यर्थ जाता है—यदि अपने से हो ही नहीं सकता तो फिर उपाधि बढ़ाना ही क्यों चाहिए? ॥ २४ ॥ नियम के साथ यदि चल सका तब तो वह उद्योग ठीक है; नहीं तो सारा संताप ही है। क्षण क्षण में विक्षेप आते हैं, कहां तक बतलाये जायँ? ॥ २५ ॥ मूर्ख लोग संसार में मूर्खता से भटकते हैं और ज्ञाता लोग भी वाद-विवाद करके कलह मचाते हैं; परन्तु ये दोनों निन्दनीय हैं! ॥ २६ ॥ ये लोग 'कारबार तो सम्हाल सकते नहीं; और इधर चुप बैठे भी नहीं रहा जाता। इसमें दूसरों का क्या दोष है? ॥ २७ ॥ सच तो यह है कि, नष्ट उपाधि को छोड़ देना चाहिए और सब जगह परिभ्रमण करते हुए अपना जीवन सार्थक करना चाहिए ॥ २८ ॥ जो परिभ्रमण भी नहीं कर सकता और दूसरे की सह भी नहीं सकता उसे विकल्प की अनेक यातनाएं भोगनी पड़ती हैं ॥ २९ ॥ अस्तु; अपनी भलाई अपने हाथ है। अपने ही मन में सोचना चाहिए और जैसा जान पड़े वैसा बर्ताव करना चाहिए ॥ ३० ॥

आठवाँ समास—उपाधि-निरूपण।

॥ श्रीराम ॥

सृष्टि में बहुत प्रकार के लोग हैं; परिभ्रमण करने से सब कौतुक मालूम हो जाता है और नाना प्रकार के विचार मिलने लगते हैं ॥ १ ॥ कितने ही सांसारिक ऐसे मिलते हैं कि, जिन की वृत्ति अखंड रीति से उदासीन रहती है और सुख-दुःख में जिनका समाधान नहीं ड़िगता ॥ २ ॥ वे स्वाभाविक ही मित बोलते हैं; निश्चयपूर्वक चलते हैं। उनके बोलने की शैली ऐसी अपूर्व होती है कि, उसे सब मानते हैं ॥ ३ ॥ तालज्ञान, राग-

ज्ञान, नीति-न्याय, इत्यादि बातें उन्हें स्वाभाविक ही मालूम होती हैं ॥४॥ एक आध ऐसा शूर पुरुष मिल जाता है कि, जिससे सदा सब लोग राजी रहते हैं और जिसके विषय में प्राणिमात्र की प्रीति नित्य नई होती जाती है ॥ ५ ॥ अकस्मात् बहुत कुछ मिल जाता है, किसी महापुरुष के दर्शन हो जाते हैं और अचानक उसीमें महंत के सब लक्षण जान पड़ने लगते हैं ॥ ६ ॥ ऐसा मनुष्य मिलने पर उसके चमत्कार से गुणग्राहक पुरुष मोह जाते हैं; क्योंकि, उसका आचार और उपदेश अनुभवयुक्त तथा निश्चित होता है ॥ ७ ॥ अपने अवगुण ही गुण मालूम होना, सब अवगुणों से श्रेष्ठ अवगुण है। यह बड़ा भारी पाप है, इससे दरिद्रता नहीं मिट सकती ॥ ८ ॥ बहुत ध्यानपूर्वक करने से जो काम नहीं होता वह सदा नैसर्गिक रीति से हो जाता है। उसमें दाँव-पेंच की आपदा से काम नहीं पड़ता ॥ ९ ॥ किसीको अभ्यास करने से भी नहीं आता और किसीको सहज ही आ जाता है। भगवान् की महिमा कैसी क्या है-सो मालूम नहीं होती ॥१०॥ बड़े बड़े राजनैतिक विषयों में भूल पड़ जाती है, विघ्न उपस्थित होते हैं। इस प्रकार की अनेक भूलों से चारों ओर निन्दा होती है ॥ ११ ॥ अतएव भूलाना न चाहिए। इससे सब उपाय ठीक बन जाते हैं; परन्तु भूलने से उपाय भी 'अपाय' (विघ्न) हो जाते हैं ॥ १२ ॥ क्या भूल हुई, सो मालूम ही नहीं होती, मनुष्य का मन ही नहीं झुकता और अभिमान न छूटने के कारण दोनों लोक में दुर्दशा होती है ॥ १३ ॥ सारी संस्थाएं नाश हो जाती हैं, लोगों के मन टूट जाते हैं; परन्तु यह मालूम ही नहीं होता कि, युक्ति में भूल कहां होती है! ॥ १४ ॥ उद्योग के बिना जो कारबार किया जाता है वह सारा बिगड़ता ही जाता है। इसका कारण यही है कि, दूरदर्शिता से उसमें बुद्धि का बंध नहीं बांधते ॥ १५ ॥ कोई कोई मनुष्य ऐसा मूढ़ होता है कि, उसका काम ही बावले का सा होता है। ऐसा पुरुष नाना विकल्पों का जाल फैला देता है ॥ १६ ॥ वही जाल अपने से सुरझ नहीं सकता, दूसरे को कुछ भी मालूम नहीं होता। विकल्प से कल्पना ठौर ठौर में नाचती है ॥ १७ ॥ वे गुप्त कल्पनाएं किसे मालूम हों? कौन आकर उन्हें सम्हाले? जो कल्पनाओं में फँसा हो उसीको अपनी बुद्धि दृढ़ करनी चाहिए ॥ १८ ॥ जो उपाधि को सम्हाल न सके उसे उपाधि बढ़ानी ही न चाहिए। चित्त सावधान करके समाधान-पूर्वक रहना चाहिए ॥ १९ ॥ दौड़ दौड़ कर उपाधि लपटाता है, स्वयं कष्ट सह कर लोगों को भी कष्टी करता है। ऐसी कुसमुस की बातें काम नहीं आतीं ॥ २० ॥ जनसमुदाय बहुत कष्टी होता है, स्वयं भी अत्यन्त नष्ट होता है। व्यर्थ के लिए क्यों यह गड़बड़ करता है? ॥ २१ ॥ अस्तु।

उपाधि का काम ऐसा है। कुछ अच्छा है, कुछ टेढ़ा है। सब समझ कर बर्ताव करना अच्छा होता है ॥ २२ ॥ सब लोगों में भक्ति नहीं होती, अतएव हमें उन्हें जागृत करना चाहिए। परन्तु अन्त में किसी पर दोष न आने देना चाहिए ॥ २३ ॥ बुरा भला सब अन्तरात्मा करता है, निर्गुण सब से अलिप्त है। सारे गुण-अवगुण चञ्चल (अन्तरात्मा) में होते हैं ॥ २४ ॥ शुद्ध विश्रान्ति का स्थल एक निर्मल निश्चल ही है। वहां सारे विकार ही निर्विकार हो जाते हैं ॥ २५ ॥ वहां सारे उद्वेग नष्ट हो जाते हैं, मन को विश्रान्ति मिलती है—ऐसी दुर्लभ परब्रह्मस्थिति विवेक से प्राप्त करनी चाहिए ॥ २६ ॥ वास्तव में यह समझना चाहिए कि, हमारे तईं उपाधि बिलकुल ही नहीं है-ये सब कर्मयोग से मिले हैं; इनके संयोग-वियोग से कोई हानि नहीं ॥ २७ ॥ जो उपाधि से घबड़ाता है उसे शान्त होकर बैठना चाहिए; जिस बात को संभाल न सके उसका गड़बड़ क्यों करना चाहिए? ॥ २८ ॥ कुछ गड़बड़ में और कुछ शान्ति में समय व्यतीत करते रहना चाहिए, जिससे अपने को समय और विश्रान्ति मिले ॥ २९ ॥ उपाधि कुछ सदा रहती नहीं, समाधान के समान और कुछ श्रेष्ठ नहीं, तथा नरदेह बारबार नहीं मिलती ॥ ३० ॥

नववाँ समास—राजनीति का व्यवहार।

॥ श्रीराम ॥

जो ज्ञानी और उदास है तथा जिसे समुदाय एकत्र करने का उत्साह है, उसे अखंड रीति से एकांत सेवन करना चाहिए ॥ १ ॥ क्योंकि एकान्त में तजवीजें मालूम होती हैं, अखण्ड चेष्टाएं सूझती हैं और प्राणिमात्र की स्थिति तथा गति मालूम हो जाती है ॥ २ ॥ यदि वह चेष्टा ही न करेगा तो कुछ भी न मालूम होगा। हां, जो दिवालिया होता है वह जमा-खर्च अवश्य ही नहीं देखता ॥ ३ ॥ कोई धन-दौलत कमाते हैं और कोई अपने पास का माल भी गँवा बैठते हैं। ये सब उद्योग की बातें हैं ॥ ४ ॥ मन की बात पहले ही समझ लेने से अनिष्ट होने की सम्भावना नहीं रहती ॥ ५ ॥ एक स्थान में बहुत रहने से लोग ढिठाई करने लगते हैं--अति परिचय से अवज्ञा होती है—अतएव एक जगह बहुत रह कर विश्रान्ति न लेते रहना चाहिए ॥ ६ ॥ आलस से सारा 'कारबार' डूब जाता है,

और समुदाय का उद्देश पूरा नहीं होता ॥ ७ ॥ अतएव उपासना के अनेक कार्य, नित्यनियम के साथ, लोगों के पीछे लगा देना चाहिए। ऐसा करने से उन्हें अन्य कृत्रिम कामों के करने का मौका ही न मिलेगा ॥ ८ ॥ जान-बूझ कर चोर को भंडारी बनाना चाहिए, परन्तु दोष देखते ही उसे सँभालना चाहिए और धीरे धीरे उसकी मूर्खता दूर करनी चाहिए ॥ ९ ॥ ये सारी अनुभव की बातें हैं। किसी प्राणी को दुःख न होने पावे; परन्तु राजनीति से सारे लोगों को फाँस लेना चाहिए ॥ १० ॥ नष्ट पुरुष के लिए नष्ट की योजना कर देनी चाहिए और वाचाल से वाचाल को भिड़ा देना चाहिए; पर अपने ऊपर विकल्प का जाल न आने देना चाहिए ॥ ११ ॥ कांटा से कांटा निकालना चाहिए-निकालना चाहिए; पर मालूम न होने देना चाहिए! कलहकर्ता की पदवी न आने देना चाहिए ॥ १२ ॥ गुप्त रीति से-किसी को मालूम न होते हुए—जो काम किया जाता है वह तत्काल सिद्धि को प्राप्त होता है, गचपच में पड़ने से वही काम विशेष खूबी के साथ नहीं होता ॥ १३ ॥ (किसीका यश) सुन कर (उसके विषय में) प्रीति होनी चाहिए; उसे देख कर वह प्रीति और भी दृढ़ होनी चाहिए, तथा अति परिचय होने पर उसकी सेवा करनी चाहिए ॥ १४ ॥ कोई भी काम हो, वह करने से होता है, न करने से पिछल जाता है। इस लिए ढीलेपन से न रहना चाहिए ॥ १५ ॥ जो दूसरे पर विश्वास करता है उसका कारबार डूब जाता है। अतएव, वास्तव में योग्य पुरुष वही है, जो स्वयं कष्ट उठाते हुए, आत्मविश्वास रख कर, अपना काम सम्हालता है ॥ १६ ॥ सब को सब बातें न मालूम होने देना चाहिए; क्योंकि ऐसा होने से उन बातों का महत्त्व नहीं रहता ॥ १७ ॥ मुख्य सूत्र हाथ में लेना चाहिए, जो कुछ करना हो वह सब जनसमुदाय के द्वारा करवाना चाहिए। अनेक राजनैतिक गूढ़ प्रश्नों को हल करना चाहिये ॥ १८ ॥ वाचाल, पहलवान और कलहकर्ताओं को भी अपने हाथ में रखना चाहिये। परन्तु ऐसा न हो जाय कि, सारे दुर्जन ही दुर्जन 'राज-कारण' में भर जायँ ॥१९॥ विरोधियों को भेद से पकड़ में लाना चाहिए और उनको रगड़ कर पीस डालना चाहिये; पर फिर पीछे से उन्हें सँभाल लेना चाहिये; बिलकुल नष्ट न कर देना चाहिये ॥ २० ॥ दुष्ट दुर्जनों से डर जाने पर 'राजकारण' (राजनीति) का महत्त्व नहीं रहता; किन्तु बुरी भली सब बातें खुल जाती हैं ॥ २१ ॥ मनुष्य-समुदाय तो बहुत बड़ा चाहिये ही; परन्तु आक्रमणशक्ति भी दृढ़ चाहिये, परन्तु ध्यान में रहे कि, मठ बना कर--समुदाय एकत्र करके फिर अकड़बाजी न करना चाहिये ॥ २२ ॥ दुर्जन प्राणी अपने मन ही मन में जान लेना चाहिए, पर उनके

विषय में कुछ प्रकट न करना चाहिए। इसके विरुद्ध, उन्हें महत्व देकर सज्जन की तरह उनकी विनती करना चाहिए। और मौका देख कर अपना बदला लेना चाहिए ॥ २३ ॥ लोगों में दुर्जन के प्रकट हो जाने पर बहुत सी खटखटें मचती हैं। इस लिए उस मार्ग ही को नष्ट कर देना चाहिए ॥ २४ ॥ ऐसा परमार्थ का पक्षपाती-धर्मात्मा-राजा चाहिए कि, शत्रुसेना को देखते ही रणशूरों की भुजाएं फड़कने लगें ॥ २५ ॥ उसको देखते ही दुर्जनों की छाती दहल उठती है। वह अनुभव के हथकँडे चलाता है और उसके द्वारा उपद्रव तथा पाखंड सहज ही नाश हो जाते हैं ॥ २६ ॥ ये सब धूर्तपन-चाणाक्षता-के काम हैं। राजनैतिक विषयों में दृढ़ता चाहिए। ढीलेपन के भ्रम में न पड़ना चाहिए ॥ २७ ॥ (जो चतुर राजनैतिक होता है वह) कहीं भी देख नहीं पड़ता; पर ठौर ठौर में उसीकी बातें होती रहती हैं और अपने वाग्विलास से वह सारी सृष्टि को मोहित कर लेता है ॥ २८ ॥ भोंदू के साथ भोंदू लगा देना चाहिए, हूस के साथ हूस को भिड़ाना चाहिए और मूढ़ के सामने दूसरा मूढ़ खड़ा कर देना चाहिए ॥ २९ ॥ लठ्ठ का सामना लठ्ठ ही से करा देना चाहिए, उद्धट के लिए उद्धट चाहिए और नटखट के सामने नटखट की ही आवश्यकता है ॥३०॥ जैसे को तैसा जब मिलता है तभी किसी संस्था की मजा देख पड़ती है। इतना सब हो रहा है; तथापि यह पता न लगना चाहिए कि, धनी-इन सब बातों का कर्ता-कहां है ! ॥ ३१ ॥

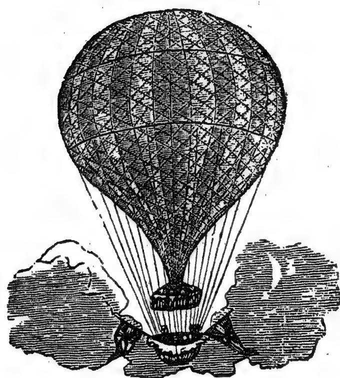
दसवाँ समास--विवेक का बर्ताव ।

श्रीराम

जो अखण्ड रीति से नाना चेष्टाएं किया करता है, जिसकी धारणा-शक्ति अखण्ड होती है और राजनैतिक दाँव-पेंचो को सदा मन में सोचा करता है ॥ १ ॥ वह सारे संसार के उत्तम गुणों का निरूपण करते रहता है और एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोता ॥ २ ॥ वह शास्त्राधार से नाना प्रकार की वक्तृताओं के द्वारा शंका-समाधान किया करता है; सत्य झूठ का निर्णय करता है और सदा चर्चा करता रहता है ॥ ३ ॥ उसे भक्तिमार्ग विशदरूप से मालूम होता है, उपासनामार्ग का वह आकलन करता है, और अन्तःकरण में ज्ञान-विचार का मनन किया करता है ॥ ३ ॥ वैराग्य उसे बहुत अच्छा लगता है, उदासवृत्ति उसे बहुत प्रिय

होती है; वह विस्तृत उपाधि में पड़ता है; पर उससे अलिप्त रहता है ॥ ५ ॥ अनेक प्रबन्ध उसे कंठाग्र रहते हैं, प्रश्नों के उत्तर समर्पक देता है और उचित भाषण से सब के अन्तःकरण शीतल करता है ॥ ६ ॥ लोगों का उस पर बहुत प्रेम होता है; उसके सामने किसी को कुछ भी नहीं चलती। उसके पास अनेक लोग आते हैं पर उसके भीतरी स्वरूप का कोई अनुमान नहीं कर सकता ॥ ७ ॥ उपासना को आगे करके वह सारे देश को व्याप्त कर लेता है और पृथ्वी भर के सब लोग उसे जानते हैं ॥ ८ ॥ जानते तो सब हैं; पर वह मिलता किसीको नहीं ! लोगों को यह भी नहीं मालूम होता कि वह क्या करता है ! अनेक देशों के नाना प्रकार के लोग उसे ढूँढ़ते फिरते हैं ॥ ९ ॥ उन सबों के मन वह अपने हाथ में रखता है, उनके मन को विवेक और विचार से भरता है और अनिश्चित अन्तःकरणों को मनन की ओर लगाता है ॥ १० ॥ यह नहीं मालूम होता कि, उसने कितने लोग इकट्ठा किये हैं—कितना समुदाय उसके पास है—सब लोगों को वह श्रवण–मनन में लगाता है ॥ ११ ॥ अपने समाज को समझाता रहता है, गद्य–पद्य बतलाता रहता है और सदा दूसरों का मन सँभालता है ॥ १२ ॥ इस प्रकार जो अखण्ड रीति से विवेक का बर्ताव करता रहता है और सदा सावधान रहता है, उसका कोई कुछ नहीं कर सकता ॥ १३ ॥ जितना कुछ अपने को मालूम हो उतना सब धीरे धीरे लोगों को सिखला देना चाहिए। इस प्रकार बहुत लोगों को चतुर बना डालना चाहिए ॥१४॥ नाना प्रकार से सिखाना चाहिए, अड़चनों को समझा देना चाहिए और निस्पृहों को चुन चुन कर अपने पास रख लेना चाहिए ॥ १५ ॥ जितना होसके उतना स्वयं करना चाहिए और जो न हो सके वह लोगों से कराना चाहिए। परन्तु साथ ही भगवद्भजन छोड़ देना धर्म नहीं है ॥ १६ ॥ स्वयं करना चाहिए, दूसरों से कराना चाहिए; स्वयं विवरण करना चाहिए, दूसरों से विवरण कराना चाहिए और स्वयं भजनमार्ग को पकड़ना चाहिए और दूसरों को भजन-मार्ग पर लाना चाहिए ॥ १७ ॥ यदि पुराने लोगों में रहते हुए जी उकता जाय तो नूतन प्रान्त को गमन करना चाहिए। जितना कुछ अपने से हो सकता हो उतना करने में आलस न करना चाहिए ॥ १८ ॥ देह का अभ्यास यदि छूट गया तो समझ लेना चाहिए कि, वह महंत बरबाद हो गया। नित्य नये लोगों को, झपाटे के साथ, चतुर बनाते रहना चाहिए ॥ १९ ॥ उपाधि में फँसना न चाहिए; उपाधि से घबड़ाना भी न चाहिए। किसी विषय में भी लापरवाही से काम नहीं चलता ॥ २० ॥ जो काम बिगड़ना होता है वह बिगड़ जाता है, लोग पागल की तरह योंही देखा

करते हैं । जो आलसी और हृदयशून्य है वह काम करना क्या जान सकता है ? ॥ २१ ॥ यह धक्का-धक्की का मामला है; अशक्त (निर्बल) से कैसे हो सकता है ? इसी लिए शक्त (बलवान्) पुरुष को नाना प्रकार की बुद्धि और युक्ति सिखलानी चाहिए ॥ २२ ॥ जब तक अपने से उद्योग हो सके तब तक रहना चाहिए और न हो सकने पर चले जाना चाहिए। इसके बाद आनन्दरूप होकर चाहे जहां फिरना चाहिए ॥ २३ ॥ जो उपाधि से छूट जाता है उसकी निस्पृहता और भी दृढ़ होती है और आनन्दपूर्वक जिधर चाहता है, चला जाता है ॥ २४ ॥ कीर्ति की ओर देखने से सुख नहीं और सुख की ओर देखने से कीर्ति नहीं । और किये बिना कहीं भी कुछ नहीं ॥ २५ ॥ यों तो क्या रहता है ? जो कुछ होना होता है वह होता ही है; हां, मनुष्य केवल अपने ऊपर दुर्बलता का दोष लाद बैठता है ॥ २६ ॥ यदि पहले ही हिम्मत हार जाय-यदि बीच ही में धैर्य छूट जाय-तो फिर इस संसार को पार कैसे हों ? ॥ २७ ॥ संसार तो आदि ही से खराब है; उसे विवेक से अच्छा कर लेना चाहिए । परन्तु अच्छा करने से वह और भी फीका हो जाता है ॥ २८ ॥ विचार करने से ऐसी इस संसार की दशा मन में आ जाती है; परन्तु किसी को धीरज न छोड़ना चाहिए ॥ २९ ॥ क्योंकि धीरज छोड़ने से क्या होता है ? सब कुछ सहना ही पड़ता है, चतुर मनुष्य नाना प्रकार की बुद्धि और नाना मत जानता है ॥ ३० ॥



बीसवाँ दशक।



पहला समास—पूर्ण और अपूर्ण।

॥ श्रीराम ॥

जीव, मन, पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश, त्रिगुण, अन्तरात्मा और मूल माया सब व्यापक हैं ॥ १ ॥ त्रिगुण ब्रह्म भी व्यापक है—इस प्रकार ये सभी व्यापक हैं—तो फिर क्या सब समान ही हैं या कुछ भेद है? ॥ २ ॥ यह भी एक सन्देह की बात है कि, लोग आत्मा को निरंजन कहते हैं। आत्मा सगुण है या निर्गुण? अथवा निरंजन है? ॥ ३ ॥ इस प्रकार श्रोता आशंका करने लगा ॥ ४ ॥ अच्छा, अब आशंका का उत्तर सुनो; सारा गड़बड़ ही न कर डालो! विवेक को प्रकट करके अनुभव प्राप्त करो ॥ ५ ॥ शरीर और सामर्थ्य के अनुसार जीव की व्यापकता होती है; पर मन के समान वह चपल नहीं है ॥ ६ ॥ चपलपन एकदेशीय है—उसमें पूर्ण व्यापकता नहीं है। पृथ्वी की भी मर्यादा है ॥ ७ ॥ उसी प्रकार आप और तेज भी स्वाभाविक ही अपूर्ण दिखते हैं। वायु को भी चपल और एकदेशीय समझो ॥ ८ ॥ हां, आकाश और निराकार परब्रह्म निस्सन्देह पूर्ण व्यापक हैं ॥ ९ ॥ त्रिगुण और माया का भी नाश हो जायगा; अतएव ये भी अपूर्ण तथा एकदेशीय हैं—पूर्ण और व्यापक नहीं है ॥ १० ॥ आत्मा और निरंजन, दोनों अलग अलग हैं। अब इनका भेद ठीक ठीक बतलाते हैं ॥ ११ ॥ आत्मा (अर्थात् मन), अत्यन्त चपल है, इस कारण यह व्यापक नहीं हो सकता। यह बात, अन्तःकरण को विमल और सुचित्त करके, समझानी चाहिए ॥ १२ ॥ वह (आत्मा या मन) यदि आकाश में रहता है तो पातल में नहीं रहता, और यदि पाताल में रहता है तो आकाश में नहीं रहता; अर्थात् चारों ओर पूर्ण नहीं रहता ॥ १४ ॥ उसे यदि आगे रखते हैं तो पीछे नहीं रहता। इससे मन की अपूर्णता का अनुभव हो सकता है ॥ १५ ॥ परब्रह्म के लिए सूर्य का भी दृष्टान्त नहीं दिया जा सकता; क्योंकि सूर्य का उदय और अस्त है; परन्तु परब्रह्म सदोदित और निर्गुण है ॥१६॥ हां, घटाकाश, मठाकाश और महदाकाश का दृष्टान्त अवश्य निर्गुण परब्रह्म के लिए लगता है ॥ १७ ॥ ब्रह्म का अंश आकाश है और आत्मा का अंश मन है; दोनों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए ॥ १८ ॥

अब आकाश और मन दोनों समान कैसे हो सकते हैं ? मननशील महापुरुष सब जानते हैं ॥ १९ ॥ मन यदि आगे मँडराया करता है तो पीछे कुछ भी नहीं रहता—फिर उसकी समता पूर्ण आकाश के साथ कैसे की जा सकती है ? ॥ २० ॥ परब्रह्म को भी अचल कहते हैं और इधर पर्वत को भी अचल ही कहते हैं; पर दोनों को एक कैसे कह सकते हैं? ॥ २१ ॥ ज्ञान; अज्ञान और विपरीत ज्ञान, तीनों एक समान कैसे हो सकते हैं? इसका अनुभव; मनन करके, प्राप्त करना चाहिए ॥ २२ ॥ ज्ञान कहते हैं जानने को, अज्ञान कहते हैं न जानने को और विपरीत ज्ञान कहते हैं कुछ के कुछ जानने को ॥ २३ ॥ जानने और न जानने को अलग करने से स्थूल पञ्चभौतिक रह जाता है, इसीको विपरीत ज्ञान जानना चाहिए* ॥ २४ ॥ द्रष्टा, साक्षी और अन्तरात्मा ही जीवात्मा है। जीवात्मा ही शिवात्मा है। फिर शिवात्मा ही जीवात्मा (होकर) जन्म लेता है ॥ २५ ॥ आत्मत्व में जन्म-मरण लगता है, आत्मत्व में जन्म-मरण भंग नहीं होता। " सम्भवामि युगे युगे "—ऐसा वचन है ॥ २६ ॥ एकदेशीय जीव, विचार से विश्वम्भर हो जाता है। परन्तु विश्वम्भर से संसार छूट ही कैसे सकता है? ॥ २७ ॥ वृत्तिरूप से ज्ञान और अज्ञान दोनों समान हैं—निवृत्तिरूप से विज्ञान होना चाहिए ॥ २८ ॥ ज्ञान ने इतना ब्रह्माण्ड बनाया है, उसीने इसे बढ़ाया भी है। वह नाना प्रकार के विकारों का समूह है ॥ २९ ॥ ब्रह्माण्ड का आठवां देह, अर्थात् मूलमाया; वास्तव में ज्ञान ही है; उससे भी परे जो विज्ञानरूप विदेहावस्था है उसे प्राप्त करना चाहिए ॥ ३० ॥

दूसरा समास—त्रिविधा सृष्टि।

॥ श्रीराम ॥

चञ्चल मूलमाया यदि न हो तो निर्गुण ब्रह्म उसी तरह निश्चल है जैसे गगन या अन्तराल चारों ओर निश्चल है ॥ १ ॥ दृश्य आता है और चला जाता है; पर वह ब्रह्म इस प्रकार निश्चल रहता है जैसे गगन चारों ओर भरा हुआ है ॥ २ ॥ जिधर देखिये उधर ही वह अपार है उसका

---

*यह पंचभौतिक पसारा विपरीत ज्ञान है—यह न तो ज्ञान है और न अज्ञान है—यह केवल भ्रम अर्थात् विपरीत ज्ञान है।

किसी ओर पार नहीं है। वह एक ही प्रकार का और स्वतंत्र है, उसमें द्वैत नहीं है ॥ ३ ॥ ब्रह्मांएड़ के ऊपर बैठ कर—ब्रह्मांएड़ को अदृश्य मान कर आकाश के अवकाश को और उसके शून्याकार को अवलोकन करना चाहिए—उसकी कल्पना करनी चाहिए। ऐसा करने से मालूम होगा कि वहां चञ्चल और व्यापक के नाम पर शून्याकार है ॥ ४ ॥ दृश्य को विवेक से अलग कर देने पर फिर चारों ओर परब्रह्म ही भरा हुआ है; पर वह कभी किसी के 'अनुमान' में नहीं आता ॥ ५ ॥ नीचे ऊपर और चारों ओर निर्गुण ब्रह्म ही सब जगह दिखता है। उसका अन्त पाने के लिए मन किस ओर दौड़ेगा ? ॥ ६ ॥ दृश्य चलता है, ब्रह्म अचल है; दृश्य जान पड़ता है, ब्रह्म जान नहीं पड़ता और दृश्य का कल्पना को आकलन होता है; परन्तु परब्रह्म का नहीं होता ॥ ७ ॥ कल्पना कोई चीज नहीं; परन्तु ब्रह्म सर्वत्र भरा हुआ है। महावाक्य के अर्थ का मनन करते रहना चाहिए ॥ ८ ॥ परब्रह्म के समान और कोई श्रेष्ठ नहीं है, श्रवण को छोड़ कर कोई साधन नहीं है और बिना जाने कुछ भी समाधान नहीं हो सकता ॥ ९ ॥ पिपीलिका—मार्ग से धीरे धीरे मालूम होता है और विहंगम—मार्ग से शीघ्र फल मिलता है। साधक जन मनन में प्रवेश करता है तब कल्याण होता है ॥ १० ॥ परब्रह्म के समान दूसरा कुछ भी सत्य नहीं है। निन्दा और स्तुति की बातें परब्रह्म में नहीं हैं ॥ ११ ॥ इस प्रकार परब्रह्म अनुपम है। उसकी बराबरी कोई नहीं कर सकता। जो महानुभाव और पुण्यराशि हैं उन्हीं का वहां प्रवेश होता है ॥ १२ ॥ चञ्चल से दुःखप्राप्ति होती है। निश्चल के समान और कहीं विश्रान्ति नहीं है। महानुभाव पुरुष निश्चल को अनुभव से देखते हैं ॥ १३ ॥ जो आदि से लेकर अन्त तक विचार किया ही करता है उसको अनुभव का निश्चय प्राप्त होता है ॥ १४ ॥ यह कल्पना की सृष्टि तीन प्रकार से भासती है। तीक्ष्ण बुद्धि से उसे मन में लाना चाहिए ॥ १५ ॥ मूलमाया से त्रिगुण होते हैं। वे सब एकदेशीय हैं। और पञ्चभूतों का स्थूल गुण प्रत्यक्ष दिख रहा है ॥ १६ ॥ पृथ्वी से चारों खानियां होती हैं, उनका चार प्रकार का कृत्य भी अलग अलग है। बस, सारी सृष्टि की चाल यहीं से है ॥ १७ ॥ अब सृष्टि का त्रिविध लक्षण, विशद करके बतलाता हूं। श्रोताओं को अपना अन्तःकरण सावधान करना चाहिए ॥ १८ ॥ चेतनारूप मूलमाया आदि से ही सूक्ष्म कल्पनारूप है। जैसे परा वाचा स्फुरणरूप होती है वैसी ही उसकी भी स्थिति है ॥ १९ ॥ अष्टधा प्रकृति का मूल यह केवल मूलमाया ही है, सब बीज सूक्ष्मरूप से आदि से ही मूलमाया में हैं ॥ २० ॥ वह जड़ पदार्थों को चेतना

देती है, इस लिए उसे चैतन्य कहते हैं । सूक्ष्मरूप से, सब लक्षण समझ लेने चाहिए ॥२१॥ प्रकृतिपुरुष, अर्धनारीनटेश्वर और बहुधा प्रकृति, इत्यादि सब वही है ॥ २२ ॥ त्रिगुण गुप्त रूप से उसीमें रहते हैं, इसी लिए उसे महत्तत्व कहते हैं। शुद्ध सत्त्वगुण भी गुप्तरूप से उसीमें होता है ॥ २३ ॥ जोकि, उससे तीन गुण प्रकट होते हैं, इस लिए उसे गुणक्षोभिणी कहते हैं। उन साधुओं को धन्य है जो त्रिगुणों के रूप समझते हैं ॥ २४ ॥ जो कि; समान गुण रहते हैं, इस लिए उसे गुणसाम्य कहते हैं। यह सूक्ष्म विचार बहुत थोड़े लोग जानते हैं ॥ २५ ॥ इस प्रकार त्रिगुण मूलमाया से हुए हैं; परन्तु वे चञ्चल और एकदेशी हैं। यह बात अनुभव से मालूम हो जाती है ॥ २६ ॥ इसके बाद पंचभूतों का महा विस्तार हुआ है। सप्तद्वीप और नवखंड वसुंधरा सब उसी विस्तार में है ॥ २७ ॥ ऐसे सृष्टि के ये दो प्रकार, अर्थात् त्रिगुण और पञ्चभूत हुए। अब तीसरा प्रकार सुनो ॥ २८ ॥ पृथ्वी नाना पदार्थों का बीज है। अंडज, जारज, स्वेदज और उद्भिज, ये चार खानि और चार वाणी स्वाभाविक इसीसे निर्माण हुई ॥ २९ ॥ चार खानि और चार वाणी होती जाती हैं पर पृथ्वी वैसी ही बनी है। इस प्रकार अनेक प्राणी होते हैं और चले जाते हैं ॥ ३० ॥

तीसरा समास—सूक्ष्म-विचार ।

॥ श्रीराम ॥

आदि से अन्त तक नाना प्रकार का विस्तार कहा है। उसका मनन करते करते फिर वृत्ति को पीछे लौटाना चाहिए ॥ १ ॥ चार वाणी, चार खानि, चौराशी लाख जीवयोनि और नाना प्रकार के प्राणी जन्मते हैं ॥ २ ॥ सब पृथ्वी से होते हैं और पृथ्वी ही में मिल जाते हैं। इस प्रकार अनेक आते जाते हैं; पर पृथ्वी वैसी ही है ॥ ३ ॥ यह तो चोटी की तरफ का भाग हुआ। दूसरा भाग भूतों की गड़बड़ है। तीसरे भाग में अनेक सूक्ष्म नामरूप हैं ॥ ४ ॥ स्थूल सब छोड़ देना चाहिए, सूक्ष्म रूपों को पहचानना चाहिए—त्रिगुण के पहले का सूक्ष्म दृष्टि से बारबार विचार करना चाहिए ॥ ५ ॥ चेतनाचेतन गुणों के रूप हैं, इसका बार बार विचार करना चाहिए। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि का चमत्कार इससे आगे है ॥ ६ ॥ शुद्ध अचेतन तमोगुण है, शुद्ध चेतन सत्त्वगुण है और चेतनाचेतन

मिश्रित होकर रजोगुण का काम चलता है ॥ ७ ॥ येही त्रिगुणों के रूप हैं। त्रिगुण के अगले कर्दम को गुणक्षोभिणी कहते हैं ॥ ८ ॥ रज, तम और सत्व, तीनों का कर्दम जहां गुप्त रहता है उसे महत्तत्त्व कहते हैं ॥ ९ ॥ प्रकृति-पुरुष, शिव-शक्ति और अर्धनारी-नटेश्वर उसीको कहते हैं। वह त्रिगुण का कर्दमरूप है ॥ १० ॥ जिसमें सूक्ष्मरूप से गुण की समानता रहती है उसे गुणसाम्य कहते हैं। तथा चैतन्यरूपी मूलमाया भी सूक्ष्म है ॥ ११ ॥ वह सूक्ष्म कर्दमरूपी मूलमाया ही ब्रह्माण्ड की महाकारण (आठवीं) काया है—इस प्रकार के सूक्ष्म अन्वयों का बार बार विचार करना चाहिए ॥ १२ ॥ चार खानि, पञ्चभूत और चौदह सूक्ष्म संकेतों में सब कुछ आ जाता है ॥ १३ ॥ ऊपर ऊपर देखने से मालूम नहीं होता, प्रयत्न करने पर भी समझ में नहीं आता। नाना प्रकार से लोगों के मन में सन्देह बढ़ता है ॥ १४ ॥ मूलमाया के चौदह नाम और पांच भूत मिल कर उन्नीस हुए। इनमें चार खानियां मिलने से तेईस हुए। इनमें से मूल चौदह बार बार देखना चाहिए ॥ १५ ॥ जो मनन करके समझ लेता है उसके पास सन्देह नहीं रहता। समझे बिना जो गड़बड़ रहता है वह व्यर्थ है ॥ १६ ॥ सब सृष्टि का बीज स्वाभाविक ही मूलमाया में रहता है। यह सब समझने से परमार्थ सिद्ध होता है ॥ १७ ॥ जो मनुष्य समझा हुआ होता है वह व्यर्थ बक-बक नहीं करता: निश्चयी पुरुष सन्देह में नहीं पड़ता और अपने परमार्थ को वह कभी खराब नहीं करता ॥ १८ ॥ जो शब्दातीत, बोला जा सकता है, उसे वाच्यांश कहते हैं और शुद्ध लक्ष्यांश विवेक से लखना चाहिए ॥ १९ ॥ पूर्वपक्ष माया को कहते हैं, वह सिद्धान्त से लय हो जाती है। माया न रहने पर फिर उस स्थिती को क्या कहना चाहिए ? ॥२०॥ अन्वय और व्यतिरेक पूर्वपक्ष का विचार है—माया का विचार है—सिद्धान्त में शुद्ध एक ही रहता है-उसमें दूसरा कुछ नहीं है ॥ २१ ॥ अधोमुख से—माया की ओर दृष्टि डालने से—भेद बढ़ता है और ऊर्ध्वमुख से—परब्रह्म की ओर लक्ष्य रखने से—भेद टूटता है। जो निःसंगता के साथ निर्गुणी है वही महायोगी है ॥ २२ ॥ जब माया का मिथ्यापन मालूम हो गया तब फिर उसका डर क्यों होना चाहिए? उसीके डर से तो स्वरूपास्थिती नहीं मिलती ॥ २३ ॥ मिथ्या माया से डर कर सत्य परब्रह्म को छोड़ना ठीक नहीं। मुख्य निश्चय पाकर भटकना क्यों चाहिए? ॥ २४ ॥ पृथ्वी में बहुत लोग हैं। उनमें बहुत से सज्जन भी होते हैं। परन्तु साधु को छोड़ कर साधु को और कौन पहचान सकता है? ॥ २५ ॥ इस लिए गृहस्थी छोड़ कर फिर साधु का खोज करना चाहिए

और घूम घूम कर साधु को प्राप्त कर लेना चाहिए ॥ २६ ॥ अनेक साधुओं से मिलना चाहिए। उन्हींमें कोई अनुभवी महंत मिल जाता है; क्योंकि, बिना अनुभव के स्वाहित नहीं हो सकता ॥ २७ ॥ प्रपञ्च हो, चाहे परमार्थ हो—अनुभव बिना सब व्यर्थ है। जिसे अनुभव-ज्ञान है वही सब से अधिक समर्थ है ॥ २८ ॥ रात दिन अर्थ का विचार करना चाहिए, जो अर्थ का विचार करता है वही समर्थ है और उसीसे परलोक का सच्चा स्वार्थ हो सकता है ॥ २९ ॥ इस लिए देखा हुआ ही फिर देखना चाहिए और खोज किया हुआ ही फिर खोजना चाहिए। जब सब मालूम हो जायगा तब सहज ही संदेह मिट जायगा ॥ ३० ॥

चौथा समास—आत्मा का निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

सब लोगों से प्रार्थना है कि, योंही मन उदास न करना चाहिए। अनुभव पूर्ण निरूपण को मन में रखना चाहिए ॥ १ ॥ यदि अनुभव को एक ओर रख कर स्वयं मनमानी ओर भगें तो फिर सारासार का विचार कैसे होगा ? ॥ २ ॥ यों तो सृष्टि की ओर देखने से गड़बड़ देख पड़ता है; पर उस राजसत्ता की बात अलग ही है ॥ ३ ॥ पृथ्वी में जितने शरीर हैं उतने सब भगवान् के घर हैं, उन्हीं के द्वारा नाना सुख उसे प्राप्त होते हैं ॥ ४ ॥ उसकी महिमा किसे मालूम हो सकती है? वह कृपालु जगदीश, मातृरूप से, प्रत्यक्ष, जगत् की रक्षा करता है ॥५॥ उसकी सारी सत्ता सम्पूर्ण पृथ्वी में विभाजित है। भगवान् की कला से सृष्टि बर्तती है ॥ ६ ॥ मूल-ज्ञाता-पुरुष, अर्थात् परमात्मा, की सत्ता वास्तव में शरीर में विभाजित है-फैली हुई है—सब कला और चतुरता उसीमें रहती है ॥ ७ ॥ सब पुरों का ईश जो जगदीश है, वह जगत् में व्यापक है। नाना शरीरों में रह कर वही आनन्द से सृष्टि चलाता है ॥ ८ ॥ ऊपर ऊपर देखने से जान पड़ता है कि, सृष्टि की यह सारी रचना एक से नहीं चल सकती; परन्तु वह एक ही नाना देह धर कर इसे चलाता है ॥ ९ ॥ वह इस कार्य में ऊंच-नीच नहीं विचारता, भला-बुरा नहीं देखता। भगवान् को सिर्फ इतना ही खयाल रहता है कि, काम चलाना चाहिए ॥ १० ॥ न जाने उसने अज्ञान की रचना करके लोगों

को अड़चन की है या अभ्यास में डाला है? किस लिए क्या बनाया है-सो उसका उसीको मालूम है! ॥ ११ ॥ जगत् के अन्तर का—सब लोगों के अन्तःकरण का—अच्छी तरह अनुसन्धान करना ही ध्यान है और यह ध्यान तथा ज्ञान एक ही रूप है ॥ १२ ॥ प्राणी संसार में आकर कुछ चतुर होने पर भूमंडल की अनेक बातों का मनन या विचार करने लगता है ॥ १३ ॥ उस राम का झंड़ा प्रगटरूप से फहरा रहा है; वह आत्माराम ज्ञानघन है; वह विश्वम्भर सर्वत्र विद्यमान है; परन्तु बड़े भाग्य से उसकी प्राप्ति होती है ॥ १४ ॥ हम ज्यों ज्यों उपासना की थाह पाना चाहते हैं त्यों त्यों वह और विस्तृत ही विस्तृत होती जाती है। सच है, उसकी महिमा अवर्णनीय है ॥ १५ ॥ द्रष्टा कहते हैं देखनेवाले को और साक्षी कहते हैं जाननेवाले को। उस अनन्तरूपी अनन्त को पहचानना चाहिए ॥ १६ ॥ जब भलों की संगति हो; परमात्मा की कथा और अध्यात्म-निरूपण से प्रीति हो, तब कुछ मन को विश्रान्ति मिल सकती है ॥ १७ ॥ इतना होने पर भी, सन्देह नाश करनेवाला अनुभव-ज्ञान होना ही चाहिए; क्योंकि अनुभव बिना समाधान मिल कैसे सकता है? ॥ १८ ॥ मूल संकल्प ही हरिसंकल्प है और मूलमाया के व्यापार का ही रूप जगत् के अन्तः-करण में दिखता है ॥ १९ ॥ उपासना ज्ञानस्वरूप है, परन्तु ज्ञान के अस्तित्व में चौथे देह का आरोप है, इस कारण सब संकल्प को छोड़ कर, विज्ञानरूप विदेहावस्था प्राप्त करना चाहिए ॥ २० ॥ बस, वही विशाल परब्रह्म है, आकाश की तरह सर्वव्यापक और सघन है, कोमल है—कैसा कहा जाय? ॥ २१ ॥ उपासना ज्ञान को कहते हैं और ज्ञान से परमेश्वर मिलता है, उसीसे योगियों को समाधान होता है ॥ २२ ॥ अच्छी तरह विचार करने पर जान पड़ता है कि, स्वयं ही उपासना है। एक जाता है और एक देह धर कर आता है ॥ २३ ॥ परम्परा से ऐसा ही गोलमाल होता आया है, और अब भी सृष्टि का वही हाल है ॥२४॥ वन पर वनचरों की सत्ता है, जल पर जलचरों की सत्ता है और भूमंडल पर भूपालों की सत्ता है। इसी प्रकार सब का हाल है ॥ २५ ॥ जो हलचल करेगा उसे सामर्थ्य अवश्य ही प्राप्त होगी; परन्तु उसमें भगवान् का अधिष्ठान चाहिए ॥ २६ ॥ यह तो सच है कि, कर्ता जगदीश है; परन्तु उसके कृत्य का विभाग अलग अलग हो गया है, तथापि अहंता के भ्रम में न पड़ना चाहिए ॥ २७ ॥ "हरिर्दाता हरिर्भोक्ता" का सिद्धान्त जगत् में वर्त रहा है-पर इसका विचार करना चाहिए ॥ २८ ॥ सर्वकर्ता परमेश्वर है; 'मैं' कोई चीज नहीं। जैसी उसकी स्फूर्ति हो वैसा बर्ताव, जगत् के अन्तःकरण में मिल कर करना चाहिए ॥ २९ ॥ आत्मा

के समान और कोई चञ्चल नहीं तथा परब्रह्म के समान और कुछ निश्चल नहीं। सोपान—परम्परा से, मूल तक चढ़ कर, अनुभव प्राप्त करना चाहिए ॥ ३० ॥

पाँचवाँ समास–पदार्थ–चतुष्टय।

॥ श्रीराम ॥

यहां से वहां तक देखने पर जान पड़ता है कि, कुल चार पदार्थ हैं। एक, (परब्रह्म) चौदह, (मूलमाया) पांच, (भूत) और चार (खानि) ॥ १ ॥ परन्तु परब्रह्म सब से अलग है, वह सब से श्रेष्ठ तथा नाना कल्पनाओं से भिन्न है ॥ २ ॥ परब्रह्म का विचार नाना कल्पनाओं से परे है—वह निर्मल, निश्चल, निर्विकार और अखण्ड है ॥ ३ ॥ अब, अन्य तीन पदार्थ, नाना कल्पनारूप मूलमाया के अन्तर्गत हैं ॥ ४ मूलमाया नाना प्रकार से सूक्ष्मरूप है। वह सूक्ष्मरूप होकर भी कर्दमरूप है और उस पर मूल के संकल्प ही का आरोप आता है ॥ ५ ॥ मूल का हरि-संकल्प ही सब का आत्माराम है। अब भिन्न भिन्न नामों का विवरण सुनियेः—॥ ६ ॥ निश्चल में चञ्चल का चेत होता है, इस लिए चैतन्य कहलाता है और गुण—समानता के कारण गुणसाम्य कहलाता है ॥ ७ ॥ अर्धनारी-नटेश्वर, षड्गुणेश्वर, प्रकृतिपुरुष, शिवशक्ति भी उसीको कहते हैं ॥ ८ ॥ शुद्ध सत्वगुण, अर्धमात्रा, गुणक्षोभिणी और फिर आगे तीनों गुण प्रकट होते हैं ॥ ९ ॥ मन, माया और अन्तरात्मा तक इन चौदह नामों की गिनती है। सब में ज्ञानात्मा विद्यमान है ॥ १० ॥ पहला परब्रह्म हुआ, दूसरी यह चौदह नामोंवाली मूलमाया हुई। अब तीसरा प्रकार पञ्चभूतों का बतलाते हैंः—॥ ११ ॥ पञ्चमहाभूतों में ज्ञातृत्वशक्ति थोड़ी है। उनका आदि अन्त प्रत्यक्ष है। अब, चौथी किस्म खानियों की है, सो भी बतलाते हैंः—॥ १२ ॥ चार खानियों में अनन्त प्राणी हैं। उन सब में ज्ञातृत्वशक्ति खूब भरी हुई है। इस प्रकार पहला ब्रह्म, दूसरी माया, तीसरे पञ्चभूत और चौथे चार—खानियां, यों चार पदार्थ हुए ॥ १३ ॥

बीज थोड़ा बोया जाता है; पर आगे बहुत पैदा होता है—यही हाल खानियां और वाणियां प्रगट होने से आत्मा का होता है ॥ १४ ॥ इस

प्रकार सत्ता प्रबल हुई है, थोड़ी सत्ता की बहुत हो गई है और मनुष्यवेष से, नाना प्रकार से, सृष्टि का भोग करती है ॥ १५ ॥ श्वापद जन्तु अन्य प्राणियों को मार मार खा जाते हैं, बस, इसके सिवाय, वे कुछ नहीं जानते; परन्तु मनुष्यप्राणी नाना प्रकार के भोग भोगते हैं ॥ १६ ॥ नाना प्रकार के शब्द, स्पर्श, रस, गंध, विशेषरूप से, नरदेह ही जानता है ॥ १७ ॥ अमूल्य रत्न, नाना प्रकार के वस्त्र, यान, शस्त्र, विद्या, कला और शास्त्र नरदेह ही जानता है ॥ १८ ॥ पृथ्वी ईश्वर की सत्ता से व्याप्त है, जगह जगह सत्ता सम्पूर्णरूप से भरी है, और उसीसे नाना विद्या, कला और धारणा इत्यादि उत्पन्न हुई हैं ॥ १९ ॥ नरदेह पाकर, सभी दृश्य देखना चाहिए, स्थानमान सँभालना चाहिए, और सारासार विचारना चाहिए ॥२०॥ इहलोक, परलोक, नाना प्रकार का विवेक और अविवेक मनुष्य ही जानता है ॥ २१ ॥ नाना प्रकार के पिण्ड, ब्रह्माण्ड की रचना, नाना मूलों की अनेक प्रकार की कल्पना और नाना प्रकार की धारणा मनुष्य ही जानता है ॥२२॥ अष्टभोग, नवरस, नाना प्रकार का विलास, वाच्यांश, लक्षांश और सारांश मनुष्य ही जानता है ॥ २३ ॥ मनुष्य सब का आकलन करता है, उस मनुष्य को ईश्वर पालता है—यह सब नरदेह के योगसे मालूम होता है ॥ २४ ॥ नरदेह परम दुर्लभ है, इससे अलभ्य लाभ मिलता है और इसीके योग से दुर्लभ भी सुलभ होता है ॥ २५ ॥ दूसरे देह कूड़ा-करकट हैं, नरदेह एक बड़ा भारी खजाना है; परन्तु (नरदेह पाकर) उत्तम विवेक का ग्रहण करना चाहिए ॥ २६ ॥ जो नरदेह पाकर, विवेकबल से परमात्मा को नहीं पहचानता वह सब प्रकार से डूबता है ॥ २७ ॥ यदि विश्वासपूर्वक श्रवण करे, और सदा मननशील अन्तःकरण रखे, तो नर ही नारायण है ॥ २८ ॥ जो स्वयं तैरना जानता है उसे दूसरे की कमर पकड़ कर सहारा नहीं लेना पड़ता। स्वतंत्रता से सब कुछ खोजना चाहिए ॥ २९ ॥ जो पदार्थमात्र का खोज करता है उसे सन्देह नहीं रहता। इसके बाद-निस्संदेह अवस्था में—वह कैसे रहता है, सो उसका वही जानता है ॥ ३० ॥

छठवाँ समास-आत्मा के गुण।

॥ श्रीराम ॥

इस पृथ्वीमण्डल पर कहीं कहीं बहुत सा जल भरा हुआ है और कहीं

कहीं बड़े बड़े रेतीले मैदान हैं, जिनमें जल का कहीं नाम-निशान नहीं है ॥ १ ॥ बस, इसी प्रकार यह दृश्य फैला हुआ है। इसमें कहीं चेतनाशक्ति जागृत है और कहीं उसका अभाव देख पड़ता है ॥ २ ॥ चार खानियां, चार वाणियां और चौरासी लाख जीव-योनियां हैं—ये सब इस प्रकार शास्त्र में निश्चय करके कही गई हैं:—॥ ३ ॥ चार लाख मनुष्य, बीस लाख पशु, ग्यारह लाख कृमि शास्त्र में कहे हैं ॥ ४ ॥ दस लाख खेचर, नौ लाख जलचर और तीस लाख स्थावर शास्त्रमें कहे हैं ॥ ५ ॥ इस प्रकार चौरासी लाख योनियां हैं। जो प्राणी जिस योनि में है उतना ही वह जानकार है। इन योनियों में अनन्त देह भरे पड़े हैं, उनकी मर्यादा बतलाना कठिन है ॥ ६ ॥ अनंत प्राणी होते जाते हैं। उनका अधिष्ठान पृथ्वी है। पृथ्वी बिना उनकी स्थिति कहां हो सकती है? ॥ ७ ॥ पञ्चभूत जो प्रकट होते हैं उनमें कोई आकृति धारण करते हैं और कोई योंही रहते हैं ॥ ८ ॥ चपलता ही अन्तरात्मा की पहचान है। अब ज्ञातृत्व का अधिष्ठान सावधान होकर सुनो ॥ ९ ॥ सुखदुःख जाननेवाला जीव है, वैसा ही 'शिव' को भी जानो और अन्तःकरणपञ्चक आत्मा का अंश है ॥ १० ॥ स्थूल में जो आकाश के गुण हैं वे आत्मा के अंश हैं और सत्व, रज तथा तमोगुण आत्मा के गुण हैं ॥ ११ ॥ नाना प्रकार की चेष्टा; धृति, नवधा भक्ति, चतुर्धा मुक्ति, अलिप्तता और सहजस्थिति आत्मा के गुण हैं ॥ १२ ॥ द्रष्टा, साक्षी, ज्ञानघन, सत्ता, चैतन्य, पुरातन, श्रवण, मनन, विवरण, आत्मा के गुण हैं ॥१३॥ दृश्य, द्रष्टा, दर्शन; ध्येय, ध्याता, ध्यान; ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान, आत्मा के गुण हैं ॥ १४ ॥ वेदशास्त्र और पुराण का अर्थ, गुप्त चलता हुआ परमार्थ और सर्वज्ञता के साथ सामर्थ्य, आत्मा के गुण हैं ॥ १५ ॥ बद्ध, मुमुक्षु, साधक, सिद्ध, शुद्ध विचार करना, बोध और प्रबोध, आत्मा के गुण हैं ॥ १६ ॥ जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्या, प्रकृतिपुरुष, मूलमाया, पिंड, ब्रह्मांड और अष्टकाया, आत्मा के गुण हैं ॥ १७ ॥ परमात्मा और परमेश्वरी, जगदात्मा और जगदीश्वरी तथा महेश और माहेश्वरी, आत्मा के गुण हैं ॥ १८ ॥ जितना कुछ नामरूप है उतना सब आत्मा का स्वरूप है। उसके अनन्त नाम और चिन्ह हैं ॥ १९ ॥ आदिशक्ति, शिवशक्ति, मुख्य सर्वशक्ति मूलमाया और नाना पदार्थों की उत्पत्ति-स्थिति, सब आत्मा के गुण हैं ॥२०॥ पूर्वपक्ष, सिद्धान्त, गाना, बजाना, संगीत, नाना अद्भुत विद्या, आत्मा के गुण हैं ॥ २१ ॥ ज्ञान, अज्ञान, विपरीत ज्ञान, असद्वृत्ति, सद्वृत्ति, ज्ञप्तिमात्र, अलिप्तपन, आत्मा के गुण हैं ॥ २२ ॥ पिंड, ब्रह्माण्ड, तत्व-विवरण, नाना तत्वों का निश्चय और स्पष्ट विचार करना, आत्मा के गुण हैं ॥ २३ ॥ नाना ध्यान, अनुसन्धान, नाना स्थितियां, नाना ज्ञान और अनन्य आत्मनि-

वेदन, आत्मा के गुण हैं ॥ २४ ॥ तेतीस कोटि देवता, अट्ठासी सहस्त्र ऋषीश्वर और अनन्त प्रकार के प्राणी आदि सब, आत्मा के गुण हैं ॥ २५ ॥ साढे तीन कोटि भूतावली, छप्पन कोटि चामुंड़ा, नव कोटि कात्यायनी, आत्मा के गुण हैं ॥ २६ ॥ चन्द्र, सूर्य, तारामंड़ल, नाना नक्षत्र, ग्रहमंडल, शेष, कूर्म, मेघमंड़ल, आत्मा के गुण हैं ॥ २७ ॥ देव, दानव, मानव, नाना प्रकार के जीव, सब भावाभाव, आत्मा के गुण हैं ॥ २८ ॥ इस प्रकार आत्मा के नाना गुण हैं और ब्रह्म निर्विकार तथा निर्गुण है। एकदेशीय तथा पूर्ण ज्ञान होना भी आत्मा का गुण है ॥ २९ ॥ आत्माराम की उपासना से निरंजन परब्रह्म मिलता है और मनुष्य निसन्देह होता है। संशय नहीं रहता ॥ ३० ॥

सातवाँ समास—आत्म-विवेक।

॥ श्रीराम ॥

चाहे अनिर्वाच्य समाधान हो, तथापि उसे बतलाना चाहिए। क्योंकि यह तो हो नहीं सकता कि, बतलाने से समाधान चला जाय ॥ १ ॥ कुछ छोड़ना नहीं पड़ता, कुछ जोड़ना नहीं पड़ता। सिर्फ विचार से सब मालूम हो जाता है ॥ २ ॥ मुख्य काशी-विश्वेश्वर, सेतुबंध-रामेश्वर, मल्लिकार्ज्जुन, भीमाशंकर, इत्यादि सब आत्मा के गुण हैं ॥ ३ ॥ जैसे मुख्य बारह लिंग हैं, वैसे ही और भी अनंत लिंग हैं। ये सब आत्मा के गुण हैं—इनका अनुभव जगत् जानता है ॥ ४ ॥ भूमंड़ल में अनन्त शक्तियां हैं; नाना साक्षात्कार और चमत्कार होते हैं और नाना देवों की सामर्थ्यमूर्तियां हैं—ये सब आत्मा के गुण हैं ॥ ५ ॥ नाना सिद्धों के सामर्थ्य, मंत्रों के सामर्थ्य और नाना मोहरों तथा वल्लियों के सामर्थ्य, आत्मा के गुण हैं ॥ ६ ॥ नाना तीर्थों के सामर्थ्य, नाना क्षेत्रों के सामर्थ्य और भूमंड़ल के नाना सामर्थ्य, आत्मा के गुण हैं ॥ ७ ॥ जितने कुछ उत्तम गुण हैं उतने सब आत्मा के लक्षण हैं। परन्तु बुरा-भला जो कुछ है सब आत्मा ही के योग से है ॥८॥ शुद्ध आत्मा उत्तम गुणी और शबल (उपाधियुक्त) आत्मा अवलक्षणी होता है। इस प्रकार बुरी-भली सब करनी आत्मा की है ॥ ९ ॥ नाना प्रकार से अभिमान रखना, नाना प्रकार की प्रतिसृष्टि रचना और नाना प्रकार के शाप-उश्शाप देना आत्मा ही के योग से होता है ॥ १० ॥ पिण्ड़ की अच्छी तरह खोज करना चाहिए, तत्त्वों का पिंड़ भी खोजना चाहिए।

तत्त्वों का खोज करने से सब पिण्ड मालूम हो जाता है ॥ ११ ॥ जड़ देह भूतों का है, उसमें चञ्चल गुण आत्मा का है और निश्चल ब्रह्म से रहित कहीं कोई जगह नहीं है ॥ १२ ॥ पिण्ड में निश्चल, चञ्चल और जड़ (ब्रह्म, आत्मा और भूत) का निर्णय करना चाहिए। अनुभव के बिना बोलना दृढ़ नहीं हो सकता ॥ १३ ॥ पिंड से जब आत्मा चला जाता है तब सब निर्णय हो जाता है। देखते ही देखते यह जड़ देह पतन हो जाता है ॥ १४ ॥ जितना कुछ जड़ होता है सब पतन हो जाता है, और जितना कुछ चञ्चल होता है उतना सब ध्यान में आ जाता है ॥ १५ ॥ इसके सिवाय यह तो प्रकट ही है कि वह निश्चल सब जग में व्याप्त है—उसमें गुण या विकार आदि कुछ भी नहीं है ॥ १६ ॥ यह तो स्पष्ट है कि, जैसा पिंड वैसा ही ब्रह्मांड है। जड़ और चञ्चल निकल जाने पर वही श्रेष्ठ परब्रह्म रह जाता है ॥ १७ ॥ महाभूतों की मूर्ति बना कर उसमें आत्मा डाल कर प्राणी बना दिया जाता है और इसी प्रकार सृष्टि का बर्ताव चलता है ॥ १८ ॥ वास्तव में आत्मा और माया दोनों विकार करते हैं परन्तु ब्रह्म पर आरोप लगाया जाता है। इस बात का जो अनुभव और विवरण करता है वही श्रेष्ठ है ॥ १९ ॥ ब्रह्म अखंड व्यापक है। उसके सिवा दूसरे पदार्थों की व्यापकता अखंड नहीं है। खोज कर देखने से सब मालूम हो जाता है ॥२०॥ आकाश को खंड खंड नहीं कर सकते; महाप्रलय से भी आकाश का कौन सा अवयव नाश होगा? ॥ २१ ॥ अब, वास्तव में जिसका संहार हो जाता है उसीको नाशवन्त जानना चाहिए। इस पहेली को ज्ञाता लोग ही हल कर सकते हैं ॥ २२ ॥ न मालूम होने से सब कूटल ही दिखता है। इस लिए एकान्त में निश्चय पूर्वक विचार करना चाहिए ॥ २३ ॥ अनुभवी सन्तों का समागम होना, एकान्त से भी बढ़ कर है। सुचित्त होकर उनके साथ नाना प्रकार की चर्चा करनी चाहिए ॥ २४ ॥ विचार किए बिना मालुम नहीं होता, मालुम होने पर सन्देह नहीं रहता और विवेक करने पर मायाजाल बिलकुल नहीं रहता ॥ २५ ॥ जिस प्रकार आकाश में बादल आकर तुरन्त ही चले जाते हैं उसी प्रकार आत्मा के योग से उत्पन्न हुए दृश्य का भी विवेक से तुरन्त हो नाश हो जाता है ॥२६॥ आदि से लेकर अन्त तक, सब का विवेकी पुरुष विवेक से विवरण करता है। इस कारण उसका निश्चय अचल रहता है ॥ २७ ॥ अन्य लोगों का निश्चय सन्देहयुक्त होता है। अनुमान से कहने में क्या लगता है? परन्तु अनुभवी ज्ञाता पुरुष उस अनुमान को नहीं मानते ॥ २८ ॥ योंही बोलना अनुमान का है। अनुमान की बात किस काम की? ब्रह्म-निरूपण में गोलमाल का विचार काम नहीं देता ॥ २९ ॥ गोलमाल का विचार ही अविचार है, उसे कितने ही लोग एकंकार कहते हैं। एकं-

कार का भ्रष्टाकार न करना चाहिए ॥ ३० ॥ बनावटी सब छोड देना चाहिए और सब शुद्ध ले लेना चाहिए तथा जान कर सारासार का निर्णय करना चाहिए ॥ ३१ ॥

आठवाँ समास—शरीररूपी क्षेत्र ।

॥ श्रीराम ॥

ब्रह्मा का संसाररूप वृक्ष बढता है, बढते बढते विस्तीर्ण होता है और फल लगने पर बहुत प्राणी विश्राम पाते हैं ॥ १ ॥ नाना रसाल फूल लगते हैं, नाना पदार्थों में मिठास आता है और मिठास चखने के लिए नाना शरीर निर्माण किए जाते हैं ॥ २ ॥ उत्तम विषय निर्माण होते हैं; परन्तु शरीर बिना भोगे नहीं जा सकते; इसी लिए नाना शरीर बनाये जाते हैं ॥ ३ ॥ भिन्न भिन्न गुणों वाली ज्ञानेंद्रियां निर्माण की जाती हैं, वे सब एक शरीर में होती हैं; परन्तु हैं अलग अलग ॥ ४ ॥ श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा शब्द का ज्ञान जानने की योजना की गई है ॥ ५ ॥ त्वचेन्द्रिय से शीत-उष्ण भासता है, चक्षु-इंद्रिय से सब कुछ दिखता है—इस प्रकार इंद्रियों में भिन्न भिन्न गुण हैं ॥ ६ ॥ जिह्वा में रस (स्वाद) चखने और घ्राण में गंध लेने का गुण बनाया गया है इस प्रकार सब इंद्रियों में भिन्न भिन्न गुण बनाये गये हैं ॥ ७ ॥ प्राण-पंचक में अन्तःकरणपंचक मिल कर देह भर में निश्शंक फिरता है और सब ज्ञानेंद्रियों तथा कर्मेंद्रियों को आनन्द से देखता रहता है ॥ ८ ॥ कर्मेंद्रियों के द्वारा जीव विषयोपभोग करता है। जगत् में यह उपाय ईश्वर ही ने बना दिया है ॥ ९ ॥ विषय तो अच्छे निर्माण हुए; पर वे शरीर-बिना भोगे कैसे जाय? इसी लिए नाना शरीरों का विस्तार किया गया है ॥ १० ॥ अस्थि-मांस का तो शरीर है। परन्तु गुण उसमें अनेक प्रकार के रचे गये हैं—इस शरीर के समान और कोई यंत्र नहीं है ॥ ११ ॥ छोटे बड़े शरीर उत्पन्न करके विषय-भोग से पाले जाते हैं ॥ १२ ॥ जगदीश्वर ने हाड़-मांस के शरीर बना कर उनमें विवेक और विचार स्थापित किया है ॥ १३ ॥ अस्थि-मांस के पुतले ज्ञान के द्वारा सकल कलाओं में प्रवीण होते हैं परन्तु शरीर-भेद भी अनेक हैं ॥ १४ ॥ कार्य-कारण के लिए यह भेद शरीरों में किया गया है, इस भेद में बहुत गुण हैं। वे सब बिना तीक्ष्ण बुद्धि के कैसे मालूम हों? ॥ १५ ॥ सब कुछ ईश्वर को करना है, इसी लिए भेद निर्माण किया है। ऊर्ध्वमुख होते ही—परब्रह्म की ओर लक्ष लगाते ही—भेद

नहीं रहता ॥ १६ ॥ सृष्टि-रचना में तो अवश्य भेद होता है; परन्तु संहार से सहज ही अभेद हो जाता है-भेद और अभेद का संवाद माया के कारण है ॥ १७ ॥ माया में अन्तरात्मा है। उसकी महिमा नहीं मालूम होती, चाहे चतुर्मुख ब्रह्मा क्यों न हो, वह भी सन्देह में पड़ जाय ॥ १८ ॥ अन्तरात्मा का विवरण करते हुए, घड़ी घड़ी पर मन को बहुत जल्दी पड़ती है और दाँव-पेंच तथा तीक्ष्ण तर्क करते करते मन हैरान हो जाता है ! ॥१९॥ आत्मत्व में सब कुछ लगता है; पर निरंजन में यह कुछ नहीं लगता। एकान्त-काल में यह सब समझ कर देखने से अच्छा होता है ॥ २० ॥ देह-सामर्थ्य के अनुसार जगदीश्वर सब कुछ करता है: जिस देह में सामर्थ्य अधिक हुआ उसीको अवतार कहते हैं ॥ २१ ॥ शेष, कूर्म, वराह इत्यादि अनेक बड़े बड़े शरीरधारी हो गये। इस प्रकार सृष्टिरचना होती रहती है ॥ २२ ॥ ईश्वर अपने विचित्र सूत्र से सूर्य-मंडल को दौड़ाता है और बादलों से पानी धारण कराता है ॥ २३ ॥ पर्वत के से बादल उड़ते हैं और सूर्यमंडल को ढाँप देते हैं; परन्तु तुरंत ही वहां वायु की गति प्रकट होती है ॥ २४ ॥ झिड़क झिड़क कर हवा दौड़ती है, जैसे काल का हरकारा जा रहा हो ! वही बादलों को हटा कर सूर्य को प्रकट करती है ॥ २५ ॥ बिजली की भयानक कडक से प्राणि-मात्र डर जाते है और बादल के गरजने से ऐसा जान पड़ता है कि, मानो आकाश फटा पड़ता है ॥ २६ ॥ एक के लिए दूसरा मर्म बना दिया गया है-जैसे महद्भूत से ही महद्भूत का लय हो जाता है। सब सृष्टि-रचना समभाग से चल रही है ॥ २७ ॥ ऐसे ऐसे अनन्त भेद आत्मा के हैं। सबों का जानने वाला कौन है ? विवरण करते करते मन की धज्जियां उड़ जाती हैं ॥ २८ ॥ ऐसी मेरी उपासना है, यह उपासकों को अपने मन में लाना चाहिए। उसकी अगाध महिमा चतुरानन को भी नहीं मालूम हो सकती है ॥ २९ ॥ आवाहन और विसर्जन ही भजन का लक्षण है। सज्जन सब जानते हैं। मैं क्या बतलाऊं ? ॥ ३० ॥

नववाँ समास—सूक्ष्म निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

मृत्तिकापूजन करके तुरंत ही विसर्जन कर देना, स्वभाव ही से अन्तःकरण को अच्छा नहीं लगता ॥ १ ॥ देवता का पूजन और फिर फेंक

देना, जी को प्रशस्त नहीं जान पडता। इसका विचार अन्तःकरण मे करना चाहिए ॥ २ ॥ देव न बनाने योग्य है और न फेंक देनेके लायक है, इस लिए इसका कुछ विचार करना चाहिए ॥ ३ ॥ देव नाना शरीर धारण करके फिर छोड़ देता है। अब विवेक से पहचानना चाहिए कि, वह देव कैसा है ॥ ४ ॥ नाना साधन और निरूपण उस देव की खोज करने ही के लिए हैं। सब कुछ अपने अन्तःकरण ही मे समझना चाहिए ॥ ५ ॥ ब्रह्म-ज्ञान बिना समझे दूसरे को दिया नहीं जा सकता। क्या वह कोई पदार्थ है जो कह दें कि, यह लो और जाओ! ॥ ६ ॥ सब लोगों के मन का भाव यही है कि मुझे प्रत्यक्ष देव से भेंट हो जाय: परन्तु विवेक का उपाय अलग ही है ॥ ७ ॥ जो विचार से देखने पर तुलता नहीं उसे देव कह नहीं सकते। परन्तु लोग मानते नहीं हैं। क्या किया जाय? ॥ ८ ॥ महापुरुषों के मर जाने पर उनकी मूर्ति बना कर लोग उसीका दर्शन करते हैं। यही उपासना का हाल है ॥ ९ ॥ बडे व्यापार को छोड कर कोई क्षुद्र व्यापार करने से राज्यसंपदा कैसे प्राप्त हो सकती है? ॥ १० ॥ अतएव भोली भक्ति में पड़ा रहना अज्ञान का लक्षण है और अज्ञानता से देवाधिदेव मिल कैसे सकता है? ॥ ११ ॥ अज्ञान को ज्ञान पसन्द नहीं और ज्ञाता को अनुमान पसन्द नहीं: इस लिए सिद्धों के लक्षण ग्रहण करने चाहिए ॥ १२ ॥ माया को छोड़ कर आदि पुरुष की ओर जाना चाहिए, तभी समाधान मिल सकता है। ऐसा न करने से इधर उधर भटकना पड़ता है ॥ १३ ॥ माया को पार करने ही के लिए ईश्वर ने अनेक उपाय बना दिये हैं। प्रतीतिपूर्वक अध्यात्म-श्रवण के पंथ से ही परमात्मा को प्राप्त कर सकते हैं ॥ १४ ॥ ऐसा न करने से लोकों की भूल-चूक होती है। सच-झूठे-दशा पहचाननी चाहिए ॥ १५ ॥ झूठे मार्ग से न जाना चाहिए, झूठे की संगति न करनी चाहिए और खोटा कुछ भी अपने पास न रखना चाहिए ॥ १६ ॥ खोटा खोटा ही है। खरे के सामने खोटा टिक नहीं सकता। अपने अधोमुख (माया की ओर जानेवाले) मन को ऊर्ध्वमुख करना चाहिए ॥ १७ ॥ अध्यात्म-श्रवण करते रहना चाहिए-ऐसा करने से सब कुछ मिलता है। नाना प्रकार के जाल टूट जाते हैं ॥ १८ ॥ जिस प्रकार उरझा हुआ सूत सुरझाया जाता है उसी प्रकार मन को सुरझा कर अनुकूल करना चाहिए और और धीरे धीरे मूलपुरुष परब्रह्म की ओर उसे लगाना चाहिए ॥ १९ ॥ यह सृष्टि सब कर्दमरूप है। वह कर्दम नाना प्रकार के शरीरों में विभाजित है ॥ २० ॥ जो कुछ देखना हो सो इसी शरीर में देखना चाहिए। क्या है, कैसा है, इसी में खोजना चाहिए। और मूलमाया के चौदह नाम इसीमें समझ लेना

चाहिए ॥ २२ ॥ एक निर्गुण और निर्विकारी ही सब ठौर में व्यापक है । देखना चाहिए कि, वह निष्कलंक इस देह में है या नहीं ॥ २२ ॥ संकल्परूप मूलमाया अन्तःकरण का स्वरूप है । चैतन्य का रूप, जो जड़ को चेतना देता है, वह भी शरीर में है ॥२३॥ समान गुण होना (इस शरीर का) गुणसाम्य है और सूक्ष्म का विचार अगम्य है । जो साधु सूक्ष्म जानते हैं उन सब को प्रणाम है ॥ २४ ॥ वामांग और दक्षिणांग, ये दो प्रकार शरीर के हैं-इसी को पिंड में अर्धनारी-नटेश्वर जानना चाहिए ॥२५॥ प्रकृति-पुरुष, शिव-शक्ति तथा षड्गुणैश्वर्यसम्पन्न भगवान् वही है ॥ २६ ॥ उसीको महत्तत्त्व कहते हैं, उसीमें त्रिगुणका गूढ़त्व है, अर्धमात्रा, शुद्धसत्त्व, गुणक्षोभिणी वही है ॥ २७ ॥ यह तो प्रत्यक्ष ही है कि, त्रिगुण से शरीर बर्तता है । बस, मूलमाया का भी शरीर ऐसा ही कर्दमरूप जानना चाहिए ॥ २८ ॥ मन, माया और जीव तो शरीर में स्वाभाविक हैं ही । इस प्रकार चौदह नामों का अभिप्राय इस पिंड में ही समझना चाहिए ॥ २९ ॥ पिण्ड का पतन होने पर सब चला जाता है; परन्तु परब्रह्म रह जाता है । उसीको शाश्वत समझ कर ग्रहण करना चाहिए ॥ ३० ॥

दसवाँ समास—पूर्ण-ब्रह्म-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

परब्रह्म को न पकड़ सकते हैं और न फेंक सकते हैं । वह सर्वत्र पूर्ण भरा हुआ है ॥ १ ॥ जिधर देखिये उधर ही वह है; उससे यदि हम विमुख होना चाहें तो भी वह सन्मुख ही रहता है; आप कुछ भी कीजिए, उसका सन्मुख रहना मिट नहीं सकता ! ॥ २ ॥ बैठा हुआ मनुष्य यदि उठ भी जाता है तो भी वहां आकाश बना ही रहता है । आप किसी ओर देखिये—आकाश सदा सन्मुख ही रहता है ॥ ३ ॥ मनुष्य कहीं भी भग कर जाय, पर आकाश उसके चारों ओर बना ही रहेगा-चाहे जितना बल कीजिए, आकाश के बाहर आप जा नहीं सकते ॥ ४ ॥ आप चाहे जिधर देखिये वह सामने ही रहेगा । आपके मस्तक पर रहेगा; जैसे दोपहर को सूर्य ! ॥ ५ ॥ परन्तु सूर्य एकदेशीय है; परब्रह्म से उसका दृष्टान्त लग नहीं सकता—यहां पर सिर्फ कौतुक के लिए उसका दृष्टान्त दे दिया ! ॥ ६ ॥ अनेक तीर्थ और नाना प्रकार के देश देखने के लिए कष्ट करके

जाना होता है; पर परब्रह्म के लिए इतने कष्ट करने की जरूरत नहीं। वह तो जहां हम बैठे हैं वहीं मौजूद है ॥ ७ ॥ आप चाहे एक जगह बैठे रहें, चाहे दौड़ते फिरें; परन्तु वास्तव में परब्रह्म आप के साथ ही है ॥ ८ ॥ जैसे आकाश में उड़ता हुआ पक्षी जिधर देखता है उसे आकाश ही देख पड़ता है; बस, इसी तरह आप परब्रह्म में हैं ॥९॥ परब्रह्म पोला और सघन भरा हुआ है, वह अन्त का भी अन्त है! वह सदा सब के पास बना रहता है ॥ १० ॥ वह दृश्य के भीतर बाहर व्याप्त है, वह ब्रह्मांड के उदर में भरा है। अरे! उस विमल की किससे उपमा दें! ॥ ११ ॥ वैकुंठ, कैलास, स्वर्गलोक, रुद्रलोक, चौदहलोक और पन्नग आदिकों के पाताल-लोक में भी वह है ॥ १२ ॥ काशी से रामेश्वर तक, सब भारत में, वह अपार भरा है। "इसके उस तरफ," "इसके उस तरफ" आदि चाहे जितने लगाते जाइये; पर उसका पारावार नहीं है ॥ १३ ॥ उस अकेले परब्रह्म ने एकबारगी सब को व्याप्त कर लिया है और सब को सब जगह छू रहा है ॥ १४ ॥ परब्रह्म वर्षा में भीगता नहीं, कीचड़ से भरता नहीं और प्रवाह के साथ रहते हुए भी प्रवाह में वह नहीं जाता! ॥ १५ ॥ आगे पीछे,दाहने-बायें, नीचे-ऊपर, सब ओर, समानरूप से, सब में वह व्याप्त है ॥ १६ ॥ आकाश का जलाशय भरा हुआ है; वह कभी उमड़ता नहीं; चारों ओर अपार फैला हुआ है ॥ १७ ॥ परन्तु आकाश एकदेशीय तथा शून्याकार है; और उस परब्रह्म में तो दृश्यभास है ही नहीं-वह निराभास है ॥१८॥ संत-साधु, महानुभाव, देव, दानव, मानव, सब को ब्रह्मही एक विश्रान्तिस्थल है ॥ १९ ॥ किस ओर उसका अन्त लगाया जाय? किस ओर किस भांति वह देखा जाय? जिसका पारावार ही नहीं है, उसकी मर्यादा कौन सी निश्चित की जाय? ॥ २० ॥ वह स्थूल नहीं है, सूक्ष्म नहीं है, किसी एक से समान नहीं है-ज्ञानदृष्टि के बिना (उसके विषय में) समाधान नहीं है ॥ २१ ॥ पिंड और ब्रह्मांड का निरसन हो जाने पर, फिर उस निराभास ब्रह्म की बात है। यहां से वहां तक अवकाश ही अवकाश फैला हुआ है ॥ २२ ॥ यह तो सच है कि, ब्रह्म व्यापक है; पर ये बातें तभी तक हैं जब तक दृश्य है;यदि दृश्य ही न रहे तो-व्याप्त (दृश्य) बिना-'व्यापक' कैसे कह सकते हैं? ॥ २३ ॥ अतएव ब्रह्म में शब्द लग ही नहीं सकता; कल्पना की वहां तक गति ही नहीं है। उस कल्पनातीत निरंजन परब्रह्म को विवेक से पहचानना चाहिए ॥ २४ ॥

शुद्ध और सार श्रवण करने से, शुद्ध और प्रत्ययात्मक मनन करने से विज्ञापन प्राप्त होते ही, स्वाभाविक ही मन का लय हो जाता है (उन्मनी दशा आ जाती है) ॥ २५ ॥ अस्तु; साधन का फल मिल गया; संसार

सफल हो गया; और निश्चय निर्गुण ब्रह्म अन्तःकरण में छा गया! ॥ २६ ॥ माया का हिसाब-किताब खतम हो गया; पंचमहाभूतों का निपटेरा हो गया; साध्य सिद्ध हो गया; अतएव अब साधन नहीं रहा! ॥ २७ ॥ जो जो कुछ स्वप्न में देखा वह सब जागृति में उड़ गया; अतएव स्वाभाविक ही अनिर्वाच्य दशा आ गई; अब बोला नहीं जा सकता ॥२८॥ यह सब विवेक से जानना चाहिए। उस स्थिति का अनुभव करना चाहिए। इससे जन्ममृत्यु का चक्र मिट जाता है! ॥ २९ ॥

भक्ताभिमानी दाशरथी (राम) ने कृपा की; बस, उसी समर्थ की कृपा के जो वचन-वही यह "दासबोध" है ॥ ३० ॥ इस बीस दशकवाले दासबोध का जो कोई श्रवण-मनन करेगा उसे परमार्थ प्राप्त होगा ॥ ३१ ॥ इसीसे बीस दशक-दो सौ समासों-का साधकों को अच्छी तरह अध्ययन करना चाहिए। बार बार मनन करने से इसकी विशेषता मालूम होने लगती है ॥ ३२ ॥ ग्रन्थ की प्रशंसा की जाती है, परन्तु प्रशंसा करने का कोई प्रयोजन नहीं-यहां तो अनुभव की बात है; अतएव अनुभव ही कर लेना चाहिए ॥ ३३ ॥ देह तो पञ्चभूतों का है; और आत्मा इसमें कर्ता है-फिर ग्रन्थरचना हो मनुष्य की क्यों कर हो सकती है? ॥ ३४ ॥ अतएव, जब सब जगदीश्वर ही करता है तब फिर ग्रन्थरचना को मनुष्य कृत बतलाना मिथ्या है! ॥ ३५ ॥ सम्पूर्ण देह के एक एक तत्त्व को अलग कर दीजिए-कुछ नहीं रहता-तब फिर किस पदार्थ को 'अपना' कहें? ॥ ३६ ॥ अस्तु; ये सारे विवेक के काम हैं; अतएव योंही भ्रम में न भटकना चाहिए-जगदीश्वर ने ही सब रचा है ॥ ३७ ॥
